भावोजी और मेजर टी० सी० जैनी

को

समर्पित

अध्याय १

भारतीय अर्थशास्त्र का अर्थ

अर्थशास्त्र को अध्ययन की सुविधा के लिए दो भागों में बाँटा गया है जिनमें से एक भाग 'सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र' (Theory of economics) और दूसरा भाग 'व्यवहारिक अर्थशास्त्र' (Applied economics) कहा जाता है। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र में हम कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्तों का अध्ययन करते हैं जो आवश्यकताओं (wants) की पूर्ति के सम्बन्ध में मनुष्य के व्यवहार की विवेचना करते हैं जब कि उद्देश्य दिये हों और उनकी पूर्ति के साधन अपर्याप्त हों तथा उनके विभिन्न प्रयोग हों। अर्थशास्त्र में इन आधारभूत सिद्धान्तों को हम उत्पादन, उपभोग विनिमय और वितरण के अन्तर्गत अध्ययन करते हैं। सीमांत उपयोगिता के ह्रास का नियम, उत्पादन के नियम, लगान का सिद्धान्त और रोजगार तथा व्यवसाय चक्र के सिद्धान्त अर्थशास्त्र के इन आधारभूत सिद्धान्तों के ही उदाहरण हैं। हम सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का अध्ययन या तो ऐतिहासिक दृष्टिकोण से कर सकते हैं या विश्लेषणात्मक दृष्टि से। यदि ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अध्ययन किया जाय तो इसका रूप 'अर्थशास्त्र की विचारधारा का इतिहास' जैसा हो जाता है और दूसरी स्थिति में विश्लेषणात्मक अर्थशास्त्र (Analytical Economics) जैसा हो जाता है जिसे संक्षेप में केवल अर्थशास्त्र भी कहते हैं।

व्यवहारिक अर्थशास्त्र सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र से बिल्कुल भिन्न है। इसमें उन समस्याओं का अध्ययन किया जाता है जो मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रयत्नों के बीच पैदा हो जाती हैं, जैसे कृषि और उद्योग की समस्यायें, उत्पादन, आयात और निर्यात, बैंक और मुद्रा व्यवस्था, आर्थिक नियोजन, आदि। सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की भाँति, व्यवहारिक अर्थशास्त्र का अध्ययन हम ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी कर सकते हैं और ऐसी स्थिति में अर्थशास्त्र 'आर्थिक इतिहास', (Economic History) का रूप धारण कर लेता है। यदि विश्लेषण की दृष्टि से अध्ययन किया जाय तो यह 'वर्तमान आर्थिक समस्याओं के अध्ययन' का रूप ले लेता है।

सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र की उत्पत्ति वास्तव में मनुष्य के व्यवहार के कुछ आधारभूत सिद्धान्तों और जनता की आर्थिक स्थिति के आधार पर होती है। उदाहरण के लिये, प्राचीन अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों पर इंगलैंड की १८ वीं शताब्दी की

परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ा। इसके बाद जनता की आर्थिक स्थिति में अनेक परिवर्तन हुए और उन परिवर्तनों के फलस्वरूप आर्थिक सिद्धान्तों में भी संशोधन परिवर्द्धन होते गये। जैसे ही नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हुईं उनकी व्याख्या करने के लिये या तो पहले के आर्थिक सिद्धान्तों का विस्तार किया गया या नये सिद्धान्तों का जन्म हुआ। हम वर्तमान की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिये या आर्थिक इतिहास लिखने के लिए अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का उपयोग करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सैद्धान्तिक और व्यवहारिक अर्थशास्त्र में परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

भारतीय अर्थशास्त्र—भारतीय अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक अङ्ग है। इसके अन्तर्गत वर्तमान समय की विभिन्न आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है, जैसे, चकबन्दी, भूमिहरण, मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली, इत्यादि और साथ ही उनकी उत्पत्ति कारणों का भी विवेचन किया जाता है। इस अर्थ में भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन विश्लेषणात्मक हो जाता है। इसमें यह प्रयत्न किया जाता है कि वर्तमान आर्थिक परिस्थितियों का सही-सही चित्र प्रस्तुत किया जाय, विभिन्न घटनाओं के कारणों को समझाया जाय और यह भी बताया जाय कि जिन घटनाओं के उत्पन्न होने की सम्भावना थी, वह क्यों नहीं हुई। वर्तमान समय की समस्याओं का अध्ययन करने में हमें भावी घटनाओं का कुछ आभास हो जाता है। वर्तमान समय की आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने और इसकी भावी प्रवृत्तियों का पता लगाने में हम सैद्धांतिक अर्थशास्त्र की सहायता लेते हैं। यदि अर्थशास्त्र के सिद्धांत भिन्न-भिन्न हैं तो हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं वह भी अवश्य भिन्न होंगे। इसलिये भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन बहुत कुछ हमारे सैद्धांतिक अर्थशास्त्र के ज्ञान पर निर्भर करता है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं भारत में विभिन्न आर्थिक समस्याओं के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन 'भारत का आर्थिक इतिहास' कहा जाता है आर्थिक इतिहास में घटनायें क्रमानुसार लिखी जाती हैं। भारतीय अर्थशास्त्र की अनेक पाठ्य पुस्तकों में "भारत का आर्थिक इतिहास" और "भारतीय अर्थशास्त्र" को साथ-साथ दिया गया है और पाठक को इन दोनों अंगों का साथ-साथ अध्ययन करना पड़ता है। इससे पाठक के लिये आवश्यक और सम्बन्धित समस्याओं को समझना और वर्तमान समस्याओं पर ध्यान केन्द्रित करना कठिन हो जाता है यह बात निस्सन्देह सही है कि भारत के आर्थिक इतिहास के अध्ययन के आधार पर ही वर्तमान आर्थिक समस्याओं का सही अध्ययन किया जा सकता है, परन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि यदि हम भारत के आर्थिक इतिहास और भारती

अर्थशास्त्र को एक में मिला दें तो वर्तमान आर्थिक समस्याएँ, जिन पर पाठक को ध्यान देना आवश्यक है, भारत के आर्थिक इतिहास के विस्तृत विवेचन में लुप्त हो जाती हैं। इसलिये इस पुस्तक में यह प्रयत्न किया गया है कि भारतीय अर्थशास्त्र की समस्याएँ आर्थिक इतिहास के विस्तृत वर्णन में खो न जायँ। जहाँ आवश्यक प्रतीत हुआ है वहाँ तुलनात्मक अध्ययन के लिये आर्थिक इतिहास का कुछ विस्तृत वर्णन किया गया है। परन्तु विशेष जोर भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं के विवरणात्मक और विश्लेषणात्मक अध्ययन पर दिया गया है।

अन्य परिभाषायें—पूर्व लिखित परिभाषा के अनुसार भारतीय अर्थशास्त्र भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन है। परन्तु भारतीय अर्थशास्त्र की इसके अतिरिक्त तीन और परिभाषायें दी गयी हैं :—

(१) भारत की आर्थिक विचारधारा के विकास के अध्ययन को भारतीय अर्थशास्त्र कहा गया है। प्राचीन भारत में सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा गया था। भारतीय आर्थिक विचारधारा पश्चिमी आर्थिक विचारधारा के साथ-साथ विकास नहीं कर सकी है। आधुनिक युग में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों के क्षेत्र में भारत ने अवश्य कुछ योगदान किया है। यदि इस पर विचार न किया जाय तो भारतीय आर्थिक विचारधारा पूर्णतया प्राचीन भारत की देन है। यदि यह मान भी लिया जाय कि भारतीय आर्थिक विचारधारा आधुनिक सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र के साथ विकास कर सकी है तब भी हम उसे भारतीय अर्थशास्त्र का नाम नहीं दे सकते हैं क्योंकि भारतीय अर्थशास्त्र व्यवहारिक अर्थशास्त्र का एक अंग है जब कि आर्थिक विचारधारा का इतिहास, चाहे वह भारतीय हो या यूरोपीय, 'सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र' के अन्तर्गत आता है।

(२) यह कहा गया है कि भारत की सामाजिक और धार्मिक स्थिति एक विशेष प्रकार की है, उसकी गठन और उसमें निहित विचारधारा अन्य देशों से भिन्न है इसलिये भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल हमें बिल्कुल ही नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों का सृजन करना चाहिए और उसे 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहना चाहिए। न्यायाधीश रानाडे ने इस बात पर जोर दिया कि भारत की स्थिति पश्चिमी देशों से नितान्त भिन्न है, प्रतियोगिता (Competition) से कहीं अधिक प्रभावशाली यहाँ के रीति-रिवाज और राज्य के नियम हैं, साथ ही किसी समझौते की अपेक्षा समाज में सम्मान अधिक प्रभाव रखता है। यहाँ न पूँजी गतिशील है और न श्रम और न इनमें इतना उत्साह (enterprising) और बुद्धि ही है कि गतिशील बनें। मजदूरी और लाभ भी निश्चित हैं; जनसंख्या

अपने नियम के अनुसार बढ़ती जाती है परन्तु बीमारियों और अकाल से उसमें कमी भी होती रहती है, उत्पादन की मात्रा प्रायः स्थिर है, यदि एक वर्ष फसल अच्छी हो गयी तो वह अगले वर्ष के अनिश्चित मौसम से होने वाली हानि की पूर्ति का साधन बन जाती है। इसके आधार पर न्यायाधीश रानाडे इस परिणाम पर पहुँचे कि आधुनिक अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में जिन बातों को निश्चित आधार मान लिया गया है वह भारत में लागू ही नहीं होतीं बल्कि वह वास्तव में गलत दिशा की ओर ले जाती हैं। इससे कुछ लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत की आर्थिक स्थिति को समझने के लिये नये आर्थिक सिद्धान्तों की आवश्यकता है। वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। कोई भी आर्थिक सिद्धान्त, चाहे वह पश्चिमी देशों में विकसित हुआ हो या पूर्वी देशों में, व्यापक रूप से सारे विश्व पर लागू होता है। आर्थिक सिद्धान्त मनुष्य के स्वभाव पर आधारित होता है और मनुष्य का स्वभाव सर्वत्र समान होता है। यदि आर्थिक सिद्धान्त का उचित निरूपण किया गया है तो वह सर्वत्र लागू होगा। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि आर्थिक सिद्धान्त स्थिर सिद्धान्त नहीं होता और न वह अपरिवर्तनशील ही होता है। यदि आर्थिक स्थिति में परिवर्तन हुआ तो आर्थिक सिद्धान्त में भी परिवर्तन होगा। इंगलैंड में प्राचीन सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र का जो विकास हुआ वह इंगलैंड की उस समय की आर्थिक स्थितियों पर आधारित था। वह यदृ-भाव्य नीति (Laissez faire) और स्वतंत्र व्यापार (Free trade) के सिद्धान्तों पर आधारित था। परन्तु बाद में जब विशेष रूप से यूरोपीय देशों में यह पता चला कि स्वतंत्र व्यापार आर्थिक परिस्थिति के प्रतिकूल है तो फ्रेड्रिक लिस्ट तथा अन्य अर्थशास्त्रियों की आलोचना के आधार पर स्वतंत्र व्यापार के सिद्धान्त में आवश्यक संशोधन किया गया और कम विकसित देशों के संरक्षण के लिये तटकरों (Tariffs) तथा अन्य उपायों का महत्व स्वीकार किया गया। सोवियत संघ की परिस्थितियों में परिवर्तन के साथ समाजवाद और आर्थिक नियोजन के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होता गया। इधर कुछ वर्षों से पूर्व तथा दक्षिण पूर्वी एशिया के आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए क्षेत्रों की आर्थिक समस्याओं के कारण आर्थिक सिद्धान्तों में परिवर्तन-परिवर्द्धन हो रहा है। भारत में आध्यात्मिक विचारधारा से प्रभावित 'आवश्यकता' का एक बिल्कुल नया सिद्धान्त विकसित हो रहा है जिसे 'आवश्यकता रहित होने का सिद्धान्त' (Theory ef wantlessness) कहा जाता है। यह पश्चिम के आवश्यकता के सिद्धान्तों से नितान्त भिन्न है। यह संभव है कि विभिन्न देशों की बदलती परिस्थितियों से प्रभावित होकर, जिनमें भारत भी सम्मिलित है, भविष्य में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में और भी संशोधन हो। परन्तु

जातिवाद, संयुक्त-परिवार की प्रथा, श्रम और पूंजी में गतिशीलता का अभाव, इत्यादि इस बात को सिद्ध नहीं करते कि इस देश के लिये नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों की आवश्यकता है। माँग और पूर्ति का सिद्धान्त जितना भारत में लागू होता है उतना ही अन्य देशों में भी लागू होता है। इसलिये हमारी भारत की भिन्न परिस्थितियों के कारण नये प्रकार के आर्थिक सिद्धान्तों का विकास करने की माँग उचित नहीं है, साथ ही इन विशेष सिद्धान्तों और नियमों को जो केवल भारत में लागू होंगे 'भारतीय अर्थशास्त्र' का नाम देना न्यायसंगत नहीं है।

(३) यह भी कहा गया है कि यदि उपभोग, उत्पादन, विनिमय और वितरण के आर्थिक सिद्धान्तों का विवेचन भारतीय उदाहरणों के साथ किया गया हो तो उसे भारतीय अर्थशास्त्र कहा जाना चाहिये। किसी भी सिद्धान्त को स्पष्ट रूप से समझाने के लिये निश्चय ही कुछ उदाहरणों का प्रयोग किया जाता है परन्तु इससे ही वह 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं हो जाता। यदि कोई पाठ्य पुस्तक अंग्रेज विद्यार्थियों के लिये लिखी जाय तो यह स्वाभाविक ही है कि उसमें अंग्रेजी या इंगलैंड के उदाहरण दिये जायँगे। इसी प्रकार यदि कोई पाठ्य पुस्तक भारतीय विद्यार्थियों के लिये लिखी जाय तो उसमें भारत के उदाहरण दिये जायँगे। परन्तु इतने से ही वह 'अंग्रेजी अर्थशास्त्र', या 'भारतीय अर्थशास्त्र' नहीं बन जाते। इन परिस्थितियों में वह केवल सैद्धान्तिक अर्थशास्त्र रहता है चाहे उसमें किसी भी देश के उदाहरण दिये गये हों।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय अर्थशास्त्र भारत की वर्तमान आर्थिक समस्याओं का ठीक वैसा ही अध्ययन है जैसा अन्य देशों में किया जाता है। वर्तमान आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने के लिये अन्य देशों की भाँति ही भारत में भी हम देश की समस्याओं पर उन आर्थिक सिद्धान्तों को लागू करते हैं जो सर्वत्र सत्य सिद्ध हो चुके हैं या उन्हें सभी स्वीकार करते हैं। इसलिये अर्थशास्त्र के आर्थिक सिद्धान्तों को भारत की आर्थिक स्थिति पर लागू कर हम जिन परिणामों पर पहुँचते हैं तथा जिन प्रवृत्तियों का पता लगाते हैं उनको 'भारतीय अर्थशास्त्र' कहते हैं तो यह नितान्त न्यायसंगत है।

भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन की आवश्यकता

(१) यदि हम अपनी आर्थिक परिस्थितियों को सही-सही समझना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करें। इसके अध्ययन से हम यह जान सकते हैं कि हम प्रगति कर रहे हैं या नहीं, यदि कर रहे हैं तो किस सीमा तक और यदि प्रगति नहीं कर रहे हैं तो इसके कारण क्या हैं।

(२) भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से हम अपने देश की अन्य देशों के साथ तुलना कर सकते हैं और इस प्रकार की तुलना से यह जान सकते हैं कि हम किस प्रकार तथा किस दिशा में सक्रिय होकर अपनी कमियों को दूर कर सकते हैं और आर्थिक उन्नति के अभीष्ट स्तर को प्राप्त कर सकते हैं। (३) भारतीय अर्थशास्त्र का अध्ययन करके ही हम भविष्य के लिये अपनी नीति निर्धारित कर सकते हैं। पञ्च-वर्षीय योजना तैयार करने में और योजनाओं को प्रमुखता देने में योजना आयोग को भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन पर ही अपने निर्णयों को आधारित करना पड़ा। भारत के आर्थिक विकास में जो त्रुटियाँ रह गयी है तथा आयोग ने आर्थिक प्रगति की वांछित गति से उन्हें दूर कर देने के सुझाव भारतीय अर्थशास्त्र के अध्ययन के आधार पर ही दिये हैं।

अध्याय २

प्राकृतिक साधन

भौगोलिक स्थिति

किसी देश के निवासियों की आर्थिक स्थिति तथा उनके व्यवसायों पर उस देश की भौगोलिक स्थिति, भूमि की उपजाऊ शक्ति, वर्षा, जलवायु और उसकी वनस्पति तथा उसके वन्य एवम् पालतू पशुओं का विशेष प्रभाव पड़ता है। इसलिये भारत की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन करना आवश्यक है।

भौतिक विशेषताएँ—भारतीय संघ का क्षेत्रफल १२६६६४० वर्ग मील है। उत्तर से दक्षिण तक इस देश की लम्बाई २००० मील और पूर्व से पश्चिम तक १७०० मील है। इसकी भौतिक सीमा ८२०० मील और सामुद्रिक सीमा ३५०० मील है। कर्क रेखा इसको बीचों-बीच से दो भागों में बाँटती है। उत्तरी भाग शीतोष्ण कटिबन्ध में और दक्षिणी उष्ण कटिबंध में स्थित है। जम्मू और काश्मीर तथा अक्टूबर १९५३ में निर्मित आँध्र राज्य सहित भारत संघ में राज्यों के पुनर्संगठन के पूर्व २९ राज्य थे। १ नवम्बर १९५६ में राज्यों का पुनर्संगठन होने के पश्चात् अब भारत संघ में १४ राज्य यथा आँध्र प्रदेश, आसाम, बिहार, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, बम्बई, मैसूर, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पश्चिमी बङ्गाल, जम्मू और काश्मीर, तथा केन्द्रीय प्रशासन के दिल्ली, हिमांचल प्रदेश, मनीपुर, त्रिपुरा, अंडमन-निकोबार द्वीप समूह और लेकदिव, मिनिकाय, अमिन्दिवी द्वीप समूह नामक ६ प्रदेश हैं।

भारत उत्तर में हिमालय, उत्तर-पश्चिम में पाकिस्तान, उत्तर-पूर्व में पर्वत-श्रेणियों, दक्षिण में बंगाल की खाड़ी और हिन्द महासागर और पश्चिम में अरब सागर द्वारा घिरा हुआ है। भारत को चार विभिन्न भौगोलिक भागों में बाँटा जा सकता है (१) हिमालय, (२) गङ्गा का मैदान, (३) दक्षिणी पठार, (४) तटवर्ती प्रदेश। हिमालय की श्रेणियाँ १५०० मील की लम्बाई में और १५० मील से लगा कर २५० मील तक की चौड़ाई में फैली हुई हैं। हिमालय उत्तर की बर्फीली वायु से तथा उत्तरीय विदेशियों के आक्रमण से भारत की सदा से रक्षा करता आया है। इसके कारण उत्तरीय सीमा के मार्गों से व्यापार में भी बाधा पहुँची है। मानसून को रोक कर भारत के उत्तरीय भाग की प्रचुर वर्षा का साधन हिमालय ही रहा है। भारत की अनेकों नदियों का उद्‌गम इसी भाग से हुआ है। यहाँ बहु-

मूल्य वन पाये जाते हैं जिनका पूर्ण प्रयोग होना अभी बाकी है। इसका अधिकांश भाग काश्मीर और जम्मू की घाटियों तथा पूर्वीय चाय के क्षेत्रों को छोड़कर खेती के अयोग्य है।

गङ्गा का मैदान पूर्व से पश्चिम की ओर लगभग १५०० मील लम्बा और उत्तर से दक्षिण की ओर १५० से लगाकर २५० मील तक चौड़ा है। यहाँ अनेकों नदियाँ अपनी सहायक नदियों के साथ बहती हैं। यहाँ की भूमि बहुत उपजाऊ है और इसीलिए यहाँ की जनसंख्या का घनत्व भी सबसे अधिक है। देश के बहुत बड़े-बड़े नगर इसी भाग में स्थित है।

पठारी भाग जो विंध्याचल पर्वत श्रेणी के दक्षिण में स्थित है, दो भागों में बाँटा जा सकता है। (अ) मध्य भारतीय पठार और (ब) दक्षिणी पठार।

पठारी भाग गङ्गा के मैदान के विपरीत अनेकों पर्वत श्रेणियों से भरा हुआ है। इनकी ऊँचाई १५०० से ४४०० फीट तक है। इस भाग के दोनों ओर पूर्वीय और पश्चिमीय घाट की पर्वत श्रेणियाँ हैं। पठार स्वयं पथरीला और ऊँचा-नीचा है। इसका विस्तार पूरे दक्षिण की पहाड़ियों तक है जो कहीं-कहीं पर ४००० फीट ऊँची हैं जैसे नील घाटी और कार्डमाम की पहाड़ियाँ। इस पठार से होकर नर्मदा और ताप्ती नदियाँ बहती हैं जो अरब सागर में गिरती हैं और महानदी, कृष्णा तथा कावेरी जो बंगाल की खाड़ी में गिरती हैं। वनो की इस प्रदेश में कमी है पर खनिज पदार्थ पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। समुद्री तट कटे हुए नहीं हैं। इसलिये स्वाभाविक बन्दरगाह केवल विजगापट्टम, कोचीन और कालीकट हैं। पूर्वी और पश्चिमी तटों की भूमि उपजाऊ है। वहाँ पर्याप्त वर्षा होती है तथा चावल चाय और कहवा पैदा होता है।

जलवायु और वर्षा—भारत की जलवायु मानसूनी तथा उष्ण प्रदेशीय है। यहाँ की तीन प्रमुख ऋतुयें निम्न हैं : (१) मार्च के आरम्भ से जून के अन्त तक गर्मी की ऋतु, (२) जून के अंत से सितम्बर के अंत तक वर्षा ऋतु और (३) अक्टूबर से फरवरी के अंत तक शीत ऋतु। अप्रैल और मई के महीनों में सूर्य की किरणें सीधी लम्बवत पड़ती हैं और ये महीने देश के सब से अधिक गर्म होते हैं। उत्तरी-पूर्वी भारत में मई के महीने का औसत तापक्रम १००° फैरनहाइट होता है और गंगा के डेल्टा में लगभग ८५° फे०। किन्हीं स्थानों पर तापक्रम ११७° ११८° फे० भी हो जाता है। जून के मध्य में मानसूनी हवायें चलने लगती हैं और बिजली की चमक के साथ मूसलाधार वर्षा होती है। अधिकांश वर्षा दक्षिणी-पश्चिमी मानसून के कारण होती है। उत्तरी-पूर्वीय मानसून ट्रावनकोर कोचीन तथा मद्रास के कुछ भागों में वर्षा का कारण होती है। शीतकाल में

जनवरी के महीने में उत्तर से दक्षिण के भागों में तापक्रम बदलता रहता है। दिन गरम और रातें ठंडी होती हैं।

वर्षा के दृष्टिकोण से देश को चार मुख्य भागों में बाँटा जा सकता है। (१) अत्यधिक वर्षा वाला भाग जहाँ ८०" के लगभग वर्षा होती है जैसे आसाम, बंगाल, उत्तरी बिहार, प्रायद्वीप का पश्चिमी तट और कुछ पूर्वीय तट के भाग; (२) साधारण वर्षा वाले भाग जहाँ ४०" से लगाकर ८०" तक वर्षा होती है जैसे उड़ीसा, दक्षिणी बिहार, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश और पश्चिमी घाट की पहाड़ियाँ; (३) बहुत कम वर्षा वाले भाग जहाँ २०" से ४०" तक वर्षा होती है जैसे मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, गुजरात, राजस्थान और पूर्वीय पंजाब और (४) सूखे रेगिस्तानी भाग जहाँ २०" से भी कम वर्षा होती है जैसे राजपूताना का रेगिस्तान, पश्चिमी काश्मीर और पंजाब के भाग। भारतवर्ष में वर्षा की मुख्य विशेषता उसकी अनिश्चितता है। यह ठीक ही कहा गया है कि भारतीय कृषि 'वर्षा का जुआ' है। यदि वर्षा समय से पर्याप्त हो गई तब तो फसल अच्छी होगी, किसान प्रसन्न होंगे और अन्न पर्याप्त होगा। पर यदि वर्षा देर से हुई और अनियमित रूप से हुई, कहीं अत्यधिक और कहीं अतिन्यून, तो सूखा पड़ेगा बाढ़ आयेगी और लोगों की कठिनाइयों की सीमा न रहेगी।

भूमि—भारत की भूमि को निम्न भागों में बाटा गया है (i) काँप मिट्टी (ii) काली मिट्टी (iii) लाल मिट्टी जिसमें लाल चिकनी और पीली मिट्टी मिली होती है (iv) लेटेराइट मिट्टी (v) रेतीली मिट्टी (vi) लवणयुक्त और क्षारिल मिट्टी और (vii) जीर्ण मिट्टी। इनमें से प्रथम चार तो मुख्य हैं और दूसरी चार गौण जो कि कहीं-कहीं पाई जाती हैं। "प्रथम तीन प्रकार की मिट्टियों में पोटाश और चूना पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है पर उनमें फास्फोरिक एसिड, नाइट्रोजन और ह्यूमस बहुत कम हैं। लेटेराइट मिट्टी में ह्यूमस की मात्रा पर्याप्त है पर अन्य रसायनिक गुण कम हैं। काँप मिट्टी सबसे अधिक उपजाऊ और बड़ी आसानी से काम में लाई जाने योग्य है। यह मिट्टी सम्पूर्ण सिंध, गंगा के मैदान में तथा पूर्वी और पश्चिमी तट प्रदेश में पाई जाती है। काली मिट्टी जिसमें नमी को रोक रखने की शक्ति अपार होती है और जो बहुत चिपचिपी होती है दक्षिणी पठार के पश्चिमी भाग में पाई जाती है और लाल मिट्टी इसी भाग के पूर्वी हिस्से में पाई जाती है। लेटेराइट मिट्टी मध्यभारत, आसाम, पूर्वी-पश्चिमी घाट के किनारे पाई जाती है"।

जल और विद्युत के साधन—चूँकि भारत में अनेक नदियाँ और झरने हैं इसलिये यहाँ पानी और विद्युत के साधनों की कमी नहीं है परन्तु खेद है कि इन साधनों का अभी तक उचित रीति से उपयोग नहीं किया जा सका है।

प्रति वर्ष भारत की नदियों से लगभग एक अरब ३५ करोड़ ६० लाख एकड़ फुट पानी बह जाता है परन्तु इसमें से केवल ७ करोड़ ६० लाख एकड़ फुट या कुल का केवल ५.६ प्रतिशत सिंचाई के काम में लाया जाता है। अनुमान लगाया गया है कि ४५ करोड़ एकड़ फुट पानी सिंचाई के काम में लाया जा सकता है। संभव है प्रथम पंचवर्षीय योजना की बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित कर देने से अधिक पानी का उपयोग किया जा सके और तब बिजली का भी अधिक मात्रा में उत्पादन किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त सिंचाई की कुछ छोटी योजनायें भी है जिनसे तालावों, कुओं और नहरों का पानी भी सिंचाई के काम में लाया जा सकेगा। वर्तमान समय में ५ करोड़ १५ लाख एकड़ भूमि पर सिंचाई होती है, जिसमें से २ करोड़ १० लाख एकड़ भूमि नहरों द्वारा सींची जाती है, १ करोड़ ५० लाख से कुछ कम एकड़ भूमि कुओं द्वारा सींची जाती है, ६० लाख एकड़ से कुछ कम भूमि कुओं द्वारा सींची जाती है और लगभग ७० लाख एकड़ अन्य साधनों के द्वारा। कृषि की सबसे बड़ी समस्या सिंचाई के लिये उपलब्ध जल की मात्रा बढ़ाना है। भूमि की उत्पादन शक्ति, खाद्यान्न, दालें, तथा कृषि के अन्य माल की कुल मात्रा, जिनका उत्पादन किसान कर सकता है, बहुत कुछ सिंचाई की सुविधा पर निर्भर करता है। जब तक किसान के पास अपनी खेती में सिंचाई करने के पर्याप्त साधन नहीं है तब तक चाहे वह कितना ही कुशल और साहसी क्यों न हों, अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सकता है।

भारत में शक्ति के मुख्य साधन तेल, कोयला और पानी हैं। भारत में पेट्रोलियम की कमी अवश्य है पर कोयले की खाने बहुत हैं। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि खानों में कुल कोयला लगभग २० अरब टन होगा। इसका एक चौथाई कोयला बहुत अच्छा कोयला है और उसका प्रयोग धातुओं के संबंध में सीमित रहना चाहिये। निम्नकोटि के कोयले का प्रयोग शक्ति उत्पादन के लिये किया जा सकता है। परन्तु भारतीय उद्योगों और कृषि के लिये विद्युत शक्ति का समुचित प्रयोग अत्यन्त आवश्यक है। १९२५ तक विद्युज्जनन और विकास की गति बड़ी धीमी रही है। इस वर्ष तक केवल १६२३४१ किलोवाट विद्युत शक्ति पैदा की गई थी। १९३५ में यह शक्ति पचगुनी बढ़ गई और ९००४०२ किलोवेट हो गई। प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में २३ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति के उत्पादन का प्रबन्ध था। नई योजनाओं के फलस्वरूप यह बढ़ कर ३४ लाख किलोवाट हो गयी। इससे यह सिद्ध होता है कि देश को अधिक विद्युत शक्ति प्रदान करने वाली योजनायें सफल रही हैं। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ३५ लाख किलोवाट शक्ति के बढ़ाने का विचार किया है। जब सब दीर्घकालीन

योजनायें तीन या चार पंचवर्षीय योजनाओं के अन्त तक पूर्ण हो जायँगी तब विद्युत शक्ति लगभग ७० लाख किलोवाट बढ़ जायगी। हमारे देश में समस्या केवल अधिक विद्युत शक्ति के उत्पादन की ही नहीं है वरन् यह भी है कि विद्युत शक्ति पर्याप्त मात्रा में इतने सस्ते मूल्य पर लोगों को प्राप्त हो सके कि किसान, फैक्ट्री वाले और अन्य साधारण कारीगर उसका आसानी से प्रयोग कर सकें।

वनस्पति और जानवर

विशाल क्षेत्रफल, विभिन्न भौगोलिक स्थितियों, विभिन्न जलवायु इत्यादि के कारण भारत में वे सब प्रकार के वन, फलों के बाग, और खेती की उपज जो प्रायः उष्ण, शीत और समशीतोष्ण जलवायु वाले भू-क्षेत्रों में पाये जाते हैं प्राप्त हैं। देश में पालतू तथा वन्य पशु भी अनेक प्रकार के मिलते हैं।

वन—भारत में वनों का क्षेत्रफल लगभग १४ करोड़ ७७ लाख एकड़ है, जिसमें से ४ करोड़ ३५ लाख एकड़ जंगल दक्षिणी भाग में, ३ करोड़ ६७ लाख एकड़ मध्यम भाग में, ३ करोड़ ६४ लाख एकड़ पूर्वी भाग में और ७ करोड़ ६८ लाख ७० हजार एकड़ उत्तरी-पश्चिमी भागों में स्थित हैं। द्वितीय महायुद्ध के समय और अनेक राज्यों में जमींदारी उन्मूलन के पूर्व बहुत बड़ी संख्या में वृक्ष काटे गए, जिसके परिणामस्वरूप देश के वन-प्रदेश का क्षेत्रफल बहुत कम हो गया है। वनों से देश को बहुत अधिक लाभ होते हैं। उनसे ईंधन और इमारती लकड़ी तो प्राप्त होती ही है, इसके अतिरिक्त (१) वे औद्योगिक उपयोग के लिए बाँस, सवाई व अन्य घासें, लाख, गोंद इत्यादि भी प्रदान करते हैं, (२) वे भूमि-क्षरण (Soil erosion) रोकते हैं, भूमि की उर्वरता को सुरक्षित रखते हैं, और (३) पशुओं के लिए चरागाह भी प्रदान करते हैं।

वन राष्ट्रीय-आय के अत्यन्त महत्वपूर्ण साधन हैं। उनसे उद्योगों के लिए अनेक कच्चे माल प्राप्त होते हैं। भारत के वनों से सम्बन्धित महत्वपूर्ण समस्याएँ यह हैं कि : (१) वनों के क्षेत्रफल में वृद्धि की जाय, (२) देश में जितने प्रकार के वृक्ष पाए जाते हैं उनका संरक्षण किया जाय और (३) यथासंभव नई जाति के वृक्ष भी उगाने प्रारम्भ हों। भारत-सरकार ने वन नीति से सम्बन्धित मई १९५२ के प्रस्ताव में भारतीय वनों की सुरक्षा और उनके विकास की आवश्यकता पर ध्यान दिया। उस प्रस्ताव में यह लक्ष्य रखा गया कि देश की कुछ भूमि का एक-तिहाई भाग वनों के रूप में रहे। हिमालय-प्रदेश, दक्षिण और अन्य पर्वतीय क्षेत्रों पर वनों के अन्तर्गत कुल भूमि का ८०%रहेगा, जब कि समतल क्षेत्रों में कुल भूमि २०% पर जंगल उगाए जायेंगे। प्रथम पंचवर्षीय योजना में वनों की विकास-

सम्बन्धी नीति के अन्तर्गत यह व्यवस्था रखी गई थी कि (अ) युद्ध के समय में जो भाग बिल्कुल उजड़ गए थे, उनका नवकरण (renovation) हो, (ब) जहाँ अधिक मात्रा में भूमि-क्षरण हुआ था, वहाँ जंगल लगाए जायँ, (स) वनों में आवागमन के साधनों का विकास किया जाय, (द) ईंधन के अभाव को दूर करने के लिए गाँवों में अधिक बाग लगाए जायँ, और (न) कई प्रकार की ऐसी लकड़ी, जो अब तक इमारती लकड़ी के रूप में काम में नहीं आ रही थी, उसे ठीक ढंग से सिझाने और मसाला लगाकर मजबूत बनाने के बाद अधिकाधिक प्रयोग में लाया जाय। राज्य सरकारों की वन-सम्बन्धी नीति न तो मई १९५२ के वन-नीति से सम्बन्धित प्रस्ताव के बिल्कुल अनुकूल है और न वनों का केन्द्रीय समिति (Central Board of Forests) के अनुरूप है। इस वन केन्द्रीय समिति की बैठक जून १९५३ को देहरादून में हुई थी जिसने कई प्रस्ताव पास किए और जिनका उद्देश्य यह था कि राज्य सरकारें भारत-सरकार की वन-नीति को क्रियात्मक रूप दें। १९५० में भारत-सरकार ने 'वन-महोत्सव आन्दोलन' प्रारंभ किया, जिसका उद्देश्य यह है कि भारत से जंगलों का अभाव दूर किया जाय। किंतु अभाग्यवश इस कार्य-क्रम के अंतर्गत लगाए गए अधिकांश वृक्ष पानी न मिलने और लापरवाही के कारण सूख गए। अधिक वृक्ष लगवाना और जब तक वे काफी बड़े न हो जायँ इनकी देखभाल करते रहना तो आवश्यक है ही, किंतु उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि ईंधन अथवा अन्य किसी उपयोग के लिए खड़े वृक्ष न कटवाए जायँ।

मछली-उद्योग—"भारत के लम्बे समुद्र-तट पर असंख्य मुहाने, नमकीन पानी वाली झीलें और स्थिर जलाशय हैं, जिनसे काफी मछलियाँ प्राप्त होती हैं। नमकीन पानी वाला क्षेत्र लगभग १० करोड़ ६० लाख एकड़ है, जिसमें चिल्का झील भी शामिल है। यह चिल्का झील २,५६,००० एकड़ के विस्तार में फैली हुई है और इससे प्रतिवर्ष ३,००० टन मछली प्राप्त होती है। मछली-उद्योग से भारत की राष्ट्रीय-आय में प्रतिवर्ष १० करोड़ रुपये आते हैं। यह मछली-उद्योग मुख्यतः दो प्रकार का है: (१) देश के अंदर का मछली उद्योग (inland fisheries), (२) समुद्री मछली-उद्योग (marine fisheries)। मछली पकड़ने के आँकड़े भारत में विश्वस्त रूप से प्राप्त नहीं हैं। भारत में प्रतिवर्ष समुद्री मछलियों का उत्पादन लगभग १०० लाख मन है और ताजे पानी की मछलियों का उत्पादन ५० लाख मन से कुछ कम होता है। आयात द्वारा प्राप्त मछलियों को मिलाकर भारत में प्रतिवर्ष २७० लाख मन की कुल पूर्ति होती है, जिसमें से ७०% मुहाने और समुद्र की मछलियाँ और शेष ३०% ताजे पानी की मछलियाँ होती हैं।

इसका अर्थ यह है कि प्रतिवर्ष प्रति व्यक्ति को ३४ पौंड मछली मिलती है, जो निश्चित रूप से अपर्याप्त है। उत्तरप्रदेश और पंजाब की अपेक्षाकृत ट्रावनकोर कोचीन, पश्चिमी बंगाल और बम्बई में प्रति व्यक्ति मछली का उपयोग अधिक है।" यह अनुमान किया जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में मछलियों की कुल उत्पत्ति लगभग १० लाख मीट्रिक टन थी जिसका २०% घरेलू उपयोग के लिये थी और बाकी समुद्री मछली अथवा बेचने के लिये देश के अंदर से प्राप्त मछलियाँ थीं। प्रथम योजना के फलस्वरूप ऐसा अनुमान किया जाता है कि मछलियों की उत्पत्ति १०% बढ़ जायगी। १९५५—५६ में मछलियों की उत्पत्ति ११ लाख लाख मिट्रिक टन से कुछ अधिक थी। दूसरी पंचवर्षीय योजना में मछलियों का उत्पादन लगभग ३३% बढ़ जायगा अर्थात् १४ लाख मीट्रिक टन हो जायगा। वर्तमान समय में प्रति व्यक्ति मछलियों का वार्षिक उपभोग ४ पौण्ड से कम ही है। जनता का भोजन संतुलित करने के लिये यह आवश्यक है कि मछलियों का उपभोग बढ़ाया जाय।

समुद्री मछलियों के उत्पादन को बढ़ाने के लिए मछली पकड़ने में वैज्ञानिक यंत्रों के प्रयोग करने की आवश्यकता है, क्योंकि अभी तक एक सीमित क्षेत्र में ही मछलियों का शिकार किया जाता है। जहाँ तक देश के अंदर मछली पकड़ने का सम्बन्ध है, इस बात की आवश्यकता है कि मछलियों का पोषण करने और उनके शिकार करने का कार्य वैज्ञानिक रीति से किया। "भारत के वर्तमान जलाशयों में प्रमुख रूप से तालाब और झीलें आती हैं। कार्प (Carp) मछलियाँ बहुधा भारतीय समुद्रों में पोषित होती हैं। चूँकि यह बँधे हुये पानी में अंडे नहीं देतीं, इसीलिये उन्हें प्रतिवर्ष पोषित करने की आवश्कता होती है। यदि बँधे हुए पानी में कार्प मछली के कृत्रिम अण्डोत्पादन (artificial spawning) को विकसित किया जाय, तो मछली-उद्योग का भी विकास होगा। मछलियाँ या तो ताजी खाई जाती हैं या उन्हें भविष्य में खाने के लिए धूप में सुखा लिया जाता है या नमक में जमा लेते हैं। शेष ऐसी मछलियाँ जो खाने के योग्य नहीं रह जाती हैं उनकी खाद बना लेते हैं। मछली-उद्योग के द्वारा हमें मछलियाँ तो प्राप्त होती हैं, इसके अतिरिक्त सार्डीन (Sardines), शार्क लिवर तेल (shark liver oil) जैसी अनेक बहुमूल्य वस्तुएँ भी प्राप्त होती हैं।

कृषि उत्पादन—भारतवर्ष में उष्ण कटिबन्ध, अर्ध उष्ण कटिबन्ध और समशीतोष्ण कटिबन्ध में उत्पन्न होने वाली विविध प्रकार की फसलें उगाई जाती हैं। इन फसलों में खाद्यान्न और व्यवसायिक दोनों ही प्रकार की फसलें सम्मिलित हैं, किन्तु प्रमुख रूप से खाद्यान्न ही अधिक उगाए जाते हैं। उक्त कथन इसी बात

से स्पष्ट हो जाता है कि खेती की जाने वाली कुल भूमि के ८५% भाग पर खाद्यान्न का ही उत्पादन किया जाता है।

हमारे यहाँ रबी और खरीफ दो मुख्य फसलें[1] होती हैं। खरीफ फसलों के अन्तर्गत मुख्यतः चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, कपास, गन्ना और मूँगफली बोई जाती है और रबी फसलों में गेहूँ, जौ, चना, मटर, अलसी और सरसों आदि की खेती की जाती है। "चावल की खेती गंगा की घाटी, पंजाब के पहाड़ी जिलों, उत्तर-प्रदेश, बिहार, पश्चिमी बंगाल, आसाम, पश्चिमी घाट और उड़ीसा व मद्रास के समुद्रतटीय भागों में होती है। पंजाब, पेप्सू, उत्तर-प्रदेश व मध्य प्रदेश के अधिकांश भाग पर गेहूँ की खेती की जाती है। गन्ना गंगा के मैदान, मद्रास, मैसूर, उड़ीसा, हैदराबाद और पंजाब में उगाया जाता है। मूंगफली, अलसी, अंडी, तिल्ली, तिलहन आदि मद्रास के उत्तरी भागों में और कपास दक्षिण प्लेटो के उत्तरी-दक्षिणी भागों व पंजाब में उगाई जाती हैं। चाय की खेती विशेष कर दार्जिलिंग, आसाम और नीलगिरि की पहाड़ियों पर होती है। जूट प्रमुख रूप से बंगाल में पैदा होता है। कहवा, चाय, रबड़, काली मिर्च और इलायची के पेड़ अन्नामलाई और कार्डमन (cardamom) की पहाड़ियों पर पाए जाते हैं। मालाबार तट पर उगे नारियल के घने-घने वृक्षों से गरी के गोले और रस्सियाँ बनाने के लिए जटाएँ प्राप्त होती हैं। इन्हीं क्षेत्रों से देश भर के लिए काजू की माँग पूरी की जाती है।"

१६५१ की गणना के अनुसार इस देश का भौगोलिक क्षेत्रफल लगभग ८१ करोड़ २५ लाख एकड़ है, किंतु इसमें से केवल ६२ करोड़ ३५ लाख एकड़ भूमि ही गाँव के पुराने लेखों (record) में दर्ज मिलती है। इस क्षेत्रफल में से लगभग २६ करोड़ ८५ लाख एकड़ भूमि पर खेती की जाती है। यदि हम इस क्षेत्रफल में उन क्षेत्रों के भी अनुमानित आँकड़े जोड़ लें जहाँ से कोई सूचना प्राप्त नहीं होती तो खेती की जाने वाली कुल भूमि लगभग ३४ करोड़ एकड़ हो

---

१. जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ हैं वहाँ खरीफ फसल जून में, नहीं तो फिर बरसात शुरू हो जाने पर जुलाई में बोई जाती है और जाड़े में काटी जाती है। रबी फसल बरसात समाप्त हो जाने पर अक्तूबर-नवम्बर में बोई जाती है और अप्रैल मई में काटी जाती है। गन्ना जनवरी-फरवरी में बोया जाता है और अगले जाड़े में शक्कर के कारखाने में पिराई होने के समय तक तैयार हो जाता। यह पिराई नवम्बर-दिसम्बर से प्रारंभ होता है। यद्यपि गन्ना रबी फसल समाप्त हो जाने पर बोया जाता है, फिर भी इसे खरीफ की फसलों के अन्तर्गत इसलिए शामिल किया जाता है कि इसकी कटाई खरीफ की फसलों के साथ ही होती है।

जायगी। १९५६-५७ में कुल अन्न की उपज ५७३ लाख टन हुई थी, जिसमें से चावल की उपज २८१ लाख टन, गेहूँ ९१ लाख टन, ज्वार और बाजार १०३ लाख टन और अन्य अन्न ९८ लाख टन थी। इसके अतिरिक्त ११४ लाख टन दालें, चना आदि की उत्पत्ति हुई थी। इस प्रकार १९५६-५७ में कुल अन्न की उपज ६८७ लाख टन हुई थी। इतना अन्न भारत की जनता को खिलाने के लिये पर्याप्त नहीं था और इसलिये विदेश के अन्न पर निर्भर रहना पड़ा। पर उचित व्यवस्था से खाद्यान्न के सम्बंध में देश के आत्म निर्भर हो सकने की सम्भावना है। अन्न के अतिरिक्त खेती से अनेक प्रकार के कच्चे माल की भी उपज होती है। १९५६-५७ में गन्ने की उपज ६५ लाख टन, जूट की ४२.५ लाख गाँठ, रूई ४७.५ लाख गाँठ और तिलहन ६० लाख टन हुई थी। देश में जितना इन कच्चे मालों का उत्पादन होता है वह हमारी आवश्यकता के दृष्टिकोण से कम है। इसलिये इस कमी को पूरा करने के लिये काफी समय तक हमें आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा।

पशु पालन—भारत में पशुओं की बहुत अधिकता है। इनकी संख्या संसार के पशुओं की संख्या (रूस के पशुओं को छोड़कर) का ⅓ है। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार भारत में कुल २९ करोड़ २२ लाख ५० हजार पशु हैं जिनमें से १५ करोड़ ५० लाख गाय-बैल, ४ करोड़ ३३½ लाख भैंस-भैंसे, ३ करोड़ ९० लाख भेड़ें, ४ करोड़ ७० लाख बकरे-बकरियाँ, ४५ लाख से कुछ कम सुअर, १५ लाख घोड़े, १२ लाख ५० हजार गधे, ६,२९,००० ऊँट और ६०,००० खच्चर हैं। इसके अतिरिक्त ६ करोड़ ७१ लाख ३० हजार मुर्गे-मुर्गियाँ और ६२ लाख ६० हजार बतखें हैं। किन्तु भारत के पशुओं की नस्ल बहुत खराब है। यहाँ एक गाय औसत से प्रतिवर्ष ४१३ पौंड दूध देती है, जब कि दूसरे देशों की गाएँ प्रतिवर्ष २००० से ७००० पौंड तक दूध देती हैं। भारत में कुछ अच्छी नस्ल के भी पशु हैं, जैसे गुजरात की काँकरेज और सौराष्ट्र की गिरि गाएँ दूध देने और अच्छे बछड़े उत्पन्न करने के लिए संसार की सर्वोत्तम नस्लों में गिनी जाती हैं। किन्तु बेकार व निकम्मे पशुओं की संख्या अपेक्षाकृत बहुत अधिक है जो किसानों के लिए तनिक भी सहायक सिद्ध नहीं होते हैं और उनके लिए भार-स्वरूप बनकर रहते हैं। भारत में विविध प्रकार के जंगली जीव और पक्षी भी पाये जाते हैं, किन्तु अभाग्यवश "हमारे यहाँ के शेर, गेंडा, चीता आदि प्रमुख जंगली जीवों की नस्ल समाप्त हो रही है। भारतीय जीवों को संरक्षण देने, उनकी नस्ल को सुरक्षित रखने और उन्हें प्राकृतिक व मानवीय वातावरण में सन्तुलित रखने के लिए भारत-सरकार ने अप्रैल, १९५२ में जंगली जीवों के लिए एक

केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना की"। पक्षियों व संरक्षण के लिए एक राष्ट्रीय समिति (National Committee for Bird Protection) भी बनाई गई है। यह आशा की जाती है कि इन संस्थाओं से भारतीय पक्षियों और जंगली जीवों का संरक्षण और विकास होगा।

खनिज-पदार्थ

किसी देश के औद्योगिक विकास के लिए उसकी खनिज सम्पत्ति का विशेष महत्व होता है। खनिज सम्पत्ति को निम्नलिखित वर्गों में बाँटा गया है :—(१) अधातु खनिज (non-metallic minerals), (२) धातु खनिज (metallic minerals) और (३) ईंधन (fuels)। अधातु खनिज के अन्तर्गत अग्निमृत्तिका, सीलीमेनाइट, मेगनेसाइट, बालू, चूना और नमक आदि आते हैं। धातु खनिज के अन्तर्गत सोना, चाँदी, जस्ता, राँगा, टिन, ताँबा, आदि आते हैं और ईंधनों के अन्तर्गत कोयला तथा पेट्रोलियम आते हैं।

भारत में कोयले, कच्चे लोहे, मैंगनीज, बौक्साइट और अबरक जैसे खनिज पदार्थों की बहुतायत है; रिफ्रैक्टरीज (refractories), एब्रेसिव (abrasives), चूना और जिप्सम भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं और अबरक, टिटानियम और कच्चा थोरियम भी काफी बड़ी मात्रा में पाया जाता है। परन्तु दुर्भाग्य से ताँबा, टिन, सीसा, जस्ता, गिलट, कोबाल्ट, गंधक और पेट्रोल जैसे महत्त्वपूर्ण खनिजों की बहुत कमी है और इनके अभाव को पूरा करने के लिए हमें अधिकतर आयात पर निर्भर करना पड़ता है।

"खानों की दृष्टि से सबसे अधिक महत्वशाली भाग छोटा नागपुर का पठार है, जिसे गोंडवाना भी कहते हैं, जिसमें दक्षिण बिहार; दक्षिण पश्चिमी बंगाल उत्तरी उड़ीसा आते हैं। कोयला, लोहा, अबरक और ताँबा आदि अधिकांश इसी भाग से प्राप्त होते हैं। कोयला विशेषकर झरिया, रानीगंज के क्षेत्रों से निकाला जाता है पर बभ्रुअंगार (Ligmit) के रूप में दक्षिणी पूर्वी हैदराबाद, दक्षिणी मध्य प्रदेश और दक्षिणी पूर्वी मद्रास के समुद्री तट पर भी पाया जाता है। लोहा मैसूर में और अबरक उत्तरी मद्रास और राजस्थान में पाया जाता है। इल्मेनाइट और मोनेजाइट (Ilmenite and Monazite) जो युद्ध-कालीन महत्ता रखने वाली धातुयें हैं, ट्रावन्कोर के तटीय प्रदेश की बालू में पायी जाती हैं। मेगनेसाइट मद्रास की खड़िया मिट्टी वाली पहाड़ियों पर और सोना मैसूर के कोलार क्षेत्र में पाया जाता है। बौक्साइट स्टीटाइटजिप्सम इमारतों के बनाने में काम आने वाले पत्थर नमक, अग्निमृत्तिका, कोरुन्डम फलर्स अर्थ आदि भी पर्याप्त

मात्रा में यहाँ पाये जाते हैं। संसार भर की अबरक की उत्पत्ति का ६०% भारत में उत्पन्न होता है। मैंगनीज, इल्मेनाइट, मोनेजाइट, लोहा आदि संसार भर में सबसे अधिक भारत में ही मिलते हैं। भारत की धातुओं को पूर्णरूप से काम में नहीं लाया गया है। देश में पेट्रोलियम की कमी है केवल आसाम में ही इसके कुयें हैं। इन कुओं से प्राप्त उत्पत्ति बहुत ही नगण्य है। इसी प्रकार अन्य धातुओं की जैसे राँगा, गन्धक, चाँदी, जस्ता, टिन, पारा आदि की उत्पत्ति देश की आवश्यकता से बहुत कम है।

अध्याय ३

जन संख्या

किसी देश के आर्थिक विकास का वहाँ की जनसंख्या से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। मनुष्यों की संख्या, उनका स्वास्थ्य, अवस्था स्त्री और पुरुष की संख्या क अनुपात, जन्म और मृत्यु दर और देश में प्राप्त खनिज पदार्थों के सम्बन्ध में उनके उद्योग आदि सब उनकी स्थिति आर्थिक निश्चित करते हैं। यह एक बड़े विचा की बात है कि भारतवर्ष जो कि संसार का सबसे अधिक घना बसा देश है सब गरीब भी है। इसलिये यहाँ की समस्या जन संख्या के वृद्धि की दर में कमी औ प्राकृतिक साधनों के उपयोग में वृद्धि करने की है।

भारत की जनसंख्या १८६१ में २३·५६ करोड़ थी; १६२१ में बढ़व २४·८१ करोड़ हुई जो १६३१ में २७·५५ करोड़, १६४१ में ३१·२८ करोड़ औ १६५१ में ३५·६६ करोड़ हो गई। १६२१ तक तो जनसंख्या की वृद्धि में अका और बीमारियों द्वारा कमी होती रही और अन्न की उपज बढ़ती हुई जनसंख्या लिये पूरी पड़ती रही। परन्तु १६२१ के पश्चात जनसंख्या में अन्न की उपज तुलना तीव्रतर गति से वृद्धि हुई है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि दे को अन्न की कमी की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। १६५१ की जनगण रिपोर्ट, १६२१ को महान विभाजक (The Great Divide) के नाम से व्य करती है, क्योंकि (१) इसके पहिले जनसंख्या न्यूनाधिक घटती हुई सी थी पर इस वर्ग के बाद से निरन्तर बढ़ती रही है, और (२) इस वर्ष के पहिले तक भू का प्रयोग भी जनसंख्या की वृद्धि के अनुकूल ही बढ़ता रहा पर इसके बाद से अ की कमी होती गई।

वृद्धि की दर—१६५१ तक के पिछले १० वर्षों में भारत की जनसंख लगभग ४·१४ करोड़ के बढ़ गई है जो १२½% की वृद्धि कही जा सकती है अथ जिसे १¼%प्रतिवर्ष की वृद्धि कह सकते हैं। यह वृद्धि विभिन्न भागों में विभिन्न ग से हुई है। पंजाब, अण्डमान और नीकोबार टापुओं में ०·५ प्रतिशत और ८ प्रतिशत क्रमशः कमी हुई है। अन्य राज्यों में से दिल्ली (६२·१%), कुर्ग (३०·५ त्रिपुरा (२१.६%), मैसूर (२१·२%), त्रिवंकुर कोचीन (२१·२%) और व

* इस संख्या में जम्मू काश्मीर और आसाम के आदिवासियों की सं सम्मिलित नहीं है।

२०.८%) में सबसे अधिक वृद्धि हुई; हिमांचल प्रदेश (३.७%), पेप्सू (२.६%), विन्ध्य प्रदेश (६%), उड़ीसा (६.२%), भोपाल (७.२%), मध्य प्रदेश (७.६%) और बिहार (९.६%) में वृद्धि की गति अपेक्षाकृत कम रही।

जन्म और मृत्यु दर—जन संख्या में वृद्धि और कमी जन्म और मृत्यु दर के अन्तर पर निर्भर होती है। इधर पिछले वर्षों में भारत की जन्म दर और मृत्यु दर दोनों में कमी हुई है। जन्म दर जो कि १९३१ में ३५ प्रति हजार थी घट कर १९४१ में ३२.१ प्रति हजार, और १९५० में २४.८ प्रति हजार हो गई। मृत्यु दर जो कि १९३१ में २५ प्रति हजार थी, घट कर १९४१ में २१.९ प्रति हजार और १९५० में १६ प्रति हजार हो गई। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जन्म दर में मृत्यु दर की अपेक्षा अधिक कमी हुई। चूँकि जन्म और मृत्यु के आँकड़े विश्वस्त नहीं हैं इसलिए १९५१ की जनगणना रिपोर्ट ने यह अनुमान लगाय है कि १९४१-५० के बीच के दस वर्षों में जन्म दर का औसत ४० प्रति हजार और मृत्यु दर का श्रोसत करीब २७ प्रति हजार रहा है। इसलिये १३ प्रति हजार प्रति-वर्ष जनसंखया में वृद्धि हुई है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हमारे देश में विश्वस्त आँकड़े अप्राप्य हैं पर हम यह तो कह सकते हैं कि जनसंख्या की वृद्धि की दर बढ़ती गई है।

जन्म दर में कमी विवाह की अवस्था बढ़ाने, आत्म संयम और गर्भ निरोध के कृत्रिम उपायों के अनुसार सम्भव हो सकती है। परन्तु जल्दी तारुण्य अवस्था को प्राप्त करने तथा आर्थिक अथवा अन्य कारणों से विवाह की अवस्था बढ़ाना सम्भव नहीं है। देर में विवाह करने की प्रथा पढ़े लिखे लोगों में बढ़ रही है इतने पर भी उन लोगों में अभी भी विवाह की अवस्था कम ही है। आत्म-संयम बहुत ही कठिन है। उसके लिये प्रायः हममें आत्मबल की कमी है जिसके कारण उसकी सफलता में सन्देह है। गर्भ निरोधक कृत्रिम उपकरणों का प्रयोग निम्न कारणों से विशेष प्रचलित नहीं हो सका है: (१) उनके विरुद्ध धार्मिक भावना, (२) उनका अधिक मूल्य, (३) जनता में उनके प्रयोग करने के ढंगों के प्रति अनभिज्ञता, (४) इस सम्बन्ध में परामर्श और शिक्षा देने वाले अस्पतालों की कमी। यदि कृत्रिम उपायों का प्रयोग प्रचलित करना है तो इन कठिनाइयों को दूर करने के उपाय करना अत्यन्त आवश्यक होगा।

डा० स्टोन का सुरक्षित काल प्रणाली ('Safe Period method') का प्रयोग भी सस्ता और सफाई की दृष्टि से उपयुक्त होते हुये भी अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है क्योंकि अधिकांश जनता इस प्रणाली का सफलतापूर्वक उपयोग करना नहीं जानती।

यह दुर्भाग्य की बात है कि जन साधारण (बहुत से उच्च शिक्षा प्राप्त लोगों को सम्मिलित करते हुये) परिवार नियोजन की आवश्यकता तथा उसके उपायों से अनभिज्ञ हैं। वे सब बात भाग्य के भरोसे छोड़ देते हैं। इसके कारण परिवार नियोजन का कार्य अपने देश में एक कठिन समस्या के रूप में उपस्थित है। "प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत परिवार नियोजन कार्य के प्रति जनता में सक्रिय सहानुभूति की भावना जगाना और वर्तमान ज्ञान के आधार पर तत्सम्बन्धी परामर्श और सेवा के साधनों के विकास की ओर रहा है। साथ ही साथ इस सम्बन्ध में भैषजिक जैवकीय और सांख्य के अध्ययन का कार्य भी किया गया। राज्यों, स्थानीय संस्थाओ, वैज्ञानिक संस्थाओं को ११५ परिवार नियोजक औषधालयो और १६ सांख्यकीय तथा जैवकीय समस्याओं के प्रति खोज करने वाली योजनाओ को अनुदानों द्वारा सहायता दी गई। दूसरी पंचवर्षीय योजना में इस कार्यक्रम में वृद्धि करने का विचार किया गया है"।

"यह प्रस्ताव किया गया है कि प्रति ५०,००० व्यक्तियों के लिए प्रत्येक नगर और कस्बों में एक औषधालय खोला जाय। छोटे कस्बों और गाँवों में धीरे-धीरे प्रारम्भिक स्वास्थ्य संस्थाओं के सहयोग में औषधालय खोले जायँ। इन औषधालयो का कार्य जनता में इस समस्या के प्रति जागरुकता उत्पन्न करना होगा और उन्हें इस सम्बन्ध में परामर्श और सेवा प्रदान करनी होगी। बंगलौर में एक केन्द्रीय प्रशिक्षण विरुजालय (clinic) का खोला जाना विचाराधीन है। बम्बई में कृत्रिम उपायो का परीक्षालय स्थापित हो रहा है। प्रत्येक भैषजिक विद्यार्थियों और उपचारिकाओ को परिवार नियोजन की शिक्षा देना आवश्यक है प्रत्येक औषधालय में परिवार नियोजन सेवा विभाग स्थापित होना चाहिये। यह भी प्रस्ताव किया गया है कि भैषजिक जैवकीय तथा आँकड़ों से सम्बन्धित अन्वेषण संस्था स्थापित की जाय। ५ करोड़ रु० का प्रबन्ध परिवार नियोजन के कार्यक्रम के लिये निश्चित कर दिया गया है। यह आशा की जाती है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक लगभग ३०० विरुजालय नगरों में और २००० विरुजालय गाँवों में स्थापित कर दिये जायँगे"।

मृत्युसंख्या की दर—मृत्युसंख्या की दर शारीरीक कारणों और वातावरण पर निर्भर करती है। शारीरिक दशा पौष्टिक तत्वों, स्वच्छता, चिकित्सा की सुविधा इत्यादि पर निर्भर करती है। वातावरण की दशा बाढ़, अकाल, युद्ध इत्यादि पर निर्भर करती है। मृत्युसंख्या की दर प्रत्येक वर्ष भिन्न-भिन्न रही है परन्तु प्राप्त आँकड़ों के अनुसार मृत्युसंख्या की दर घटती जा रही है। इसका कारण यह है कि चिकित्सा की सुविधा बढ़ी है और सफाई की ओर अधिक ध्यान

दिया जाने लगा है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में चिकित्सा की सुविधा में वृद्धि होने के साथ-साथ मृत्युसंख्या की दर भी घटती जायगी। बहुमुखी योजनाओं के पूरा हो जाने के बाद अकाल और बाढ़ का जोर कम हो जायगा। भारत में बच्चों की मृत्युसंख्या अधिक होने से मृत्युसंख्या की दर अधिक है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल जितने बच्चे पैदा होते हैं उनमें से १५ प्रतिशत एक वर्ष की आयु होने से पहले ही मर जाते हैं। सरकारी तौर पर की गई गणना के अनुसार यह पता चला है कि इन बच्चों में से ५० प्रतिशत पैदा होने में एक महीने के अन्दर मर जाते हैं और ६० प्रतिशत पहले सप्ताह में ही मर जाते हैं।

भारत में प्रतिवर्ष अनेक बीमारियों जैसे हैजा, चेचक, प्लेग, ज्वर और डिसेन्ट्री इत्यादि से लाखों व्यक्ति मर जाते हैं। हैजा, चेचक और प्लेग महामारियाँ हैं। सभी बीमारियों से कुल जितने लोगों की मृत्यु होती है उसका ५·१ प्रतिशत इन महामारियों के शिकार होते हैं। इससे प्रकट है कि महामारियों के कारण बहुत अधिक मृत्यु नहीं होती है। विभिन्न बीमारियों से होने वाली मृत्युओं के ५७·५ प्रतिशत का कारण अनेक प्रकार के ज्वर होते हैं। अस्पतालों की सुविधा बढ़ा कर, स्वास्थ्य-सुधार की योजना लागू कर, लोगों की बीमारियों के आक्रमण से बचने की शक्ति बढ़ाकर साथ ही लोगों को आत्मविश्वासी और भाग्य पर कम निर्भर बनाकर मृत्युसंख्या की ऊँची दर के कारणों को दूर किया जा सकता है।

स्त्री-पुरुषों का अनुपात—भारत में पुरुषों की संख्या स्त्रियों से अधिक है परन्तु मद्रास, उड़ीसा, त्रिवांकुर कोचीन और कच्छ में यह स्थिति विपरीत है। इन राज्यों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से अधिक है। १९५१ की जन-गणना के अनुसार कच्छ में सबसे अधिक स्त्रियाँ हैं। यहाँ प्रति हजार पुरुषों के पीछे १०७९ स्त्रियाँ हैं। कुर्ग में स्त्रियों की संख्या अन्य सब राज्यों से कम है। यहाँ प्रति हजार पुरुषों के पीछे ८३० स्त्रियाँ हैं। इस स्थिति के अनेक सामाजिक, धार्मिक और (Biolgical). कारण हैं। प्रायः सभी वर्ग की जनता और विशेषकर हिन्दू समुदाय लड़की की अपेक्षा लड़के को अधिक चाहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि लड़कियों की उचित देख-रेख नहीं की जाती है और उनकी प्रायः मृत्यु हो जाती है। धार्मिक भावना के अतिरिक्त इसका एक कारण यह है कि समाज में शिक्षा का प्रसार कम है और लोग समाज में स्त्री के महत्व को ठीक-ठीक नहीं समझ पाते हैं। इससे प्रायः लड़कियों की विशेष देख-भाल नहीं की जाती है। प्रसव के समय अनेक स्त्रियों की मृत्यु हो जाने से भी स्त्रियों की संख्या कम है।

अवस्था—भारत में बच्चे और नवयुवकों की जनसंख्या में प्रधानता है। १९५१ में १४ वर्ष तक के लोग ३८·३%, १५ से ३४ वर्ष तक के लोग ३३%, ३५ से ५४ वर्ष तक के लोग २०·४% और ५५ वर्ष के ऊपर के लोग केवल ८·२% थे। अन्य देशों में, जैसे फ्रान्स, इङ्गलैण्ड, जर्मनी, उत्तरी अमरीका आदि में, स्थिति इसके विपरीत है। इन देशों में ५५ वर्ष और इसके ऊपर की अवस्था वाले व्यक्ति कुल जनसंख्या के क्रमशः २१·४%, २१·१%, १९·१% और १६·९% हैं।

घनत्व और वितरण—भारत में औसत जनसंख्या का घनत्व ३१२ प्रति वर्ग मील है। घनत्व की मात्रा एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में बदलती हुई है। एक ओर दिल्ली में ३०१७, ट्रावन्कोर कोचीन में १०१५ प्रति वर्ग मील है तो दूसरी ओर अण्डमान निकोबार में १०, और कच्छ में ३४ प्रति वर्ग मील है। इस बदलते हुये घनत्व का कारण प्राकृतिक बनावट, भूमि तथा वर्षा है। इन कारणों पर ही भूमि के उचित प्रयोग की मात्रा निर्भर है। इसीलिये घनत्व की समस्या का अध्ययन प्राकृतिक भागों के आधार पर अधिक युक्तिसंगत होगा। इस दृष्टिकोण सिन्धगंगा के मैदान के निचले भाग में घनत्व ८३२ और ऊपर के भाग में घनत्व ६८१, मालाबार कोकन में ६३८, दक्षिणी मद्रास में ५५४, उत्तरी मद्रास और उड़ीसा के समुद्री तट पर ४६१ है। ये भाग बहुत अधिक घनत्व वाले कहे जा सकते हैं। दक्षिणी भाग में, उत्तरी भाग में, गुजरात काठियावाड़ में, जहाँ पर जनसंख्या का घनत्व साधारण कोटि का है, प्रतिवर्ग मील में क्रमशः ३३२, २४७, २४६ और २२६ व्यक्ति निवास करते हैं। दक्षिणी पठार के उत्तरी पूर्वी भाग में, उत्तरी केन्द्रीय पहाड़ियों में, पूर्वी पठार में, उत्तरी पश्चिमी पहाड़ियों में, हिमालय, पश्चिमी हिमालय और रेगिस्तानी भागों में जनसंख्या का घनत्व क्रमशः १९२, १६४, १६३, ११८ ६८ और ६१ व्यक्ति प्रतिवर्ग मील है। जनसंख्या के इस असमान वितरण के कारण प्रत्येक स्थान पर प्राप्त प्राकृतिक सुविधाओं का समुचित प्रयोग नहीं हो पाया है।

भूमि के प्रयोग सम्बन्धी आँकड़ों पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (अ) योरुप जहाँ संसार भर में जनसंख्या का घनत्व सबसे अधिक है भारत की तुलना में अधिक आगे नहीं है। औसत भारतीय अपनी भूमि का ४३% खेती के काम लाता है जब कि औसत योरुपीय केवल ६० प्रतिशत ही काम में लाता है। (ब) संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस के व्यक्तियों के पास योरुप निवासियों और भारतीयों की अपेक्षा अधिक भूमि है। भारत में भूमि पर जनसंख्या के भार का कुछ अनुमान इस बात से लगता है कि बोये हुये खेतों में जनसंख्या के प्रति व्यक्ति का औसत ०.८२ एकड़ है।

यदि कटिबन्धों के दृष्टिकोण से जनसंख्या के वितरण पर विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि उत्तरी भारत में केवल उत्तर प्रदेश की जनसंख्या ६·३२ करोड़ अथवा कुल जनसंख्या का १८% है। पूर्वी भारत की (जिसमें बिहार, उड़ीसा, पच्छिमी बंगाल, आसाम, मनीपुर, त्रिपुरा और सिकिम आते हैं) जनसंख्या ९ करोड़ या कुल जनसंख्या का २५% है। दक्षिणी भारत (जिससे मद्रास, मैसूर, ट्रावनकोर कोचीन और कुर्ग आते हैं) की जनसंख्या ७·५६ करोड़ या कुल जनसंख्या की २१% है। पच्छिमी भारत की जनसंख्या जिसमें बम्बई, सौराष्ट्र और कच्छ आते हैं ४.०७ करोड़ या ११% है। मध्यभारत की जनसंख्या जिसके अन्तर्गत मध्यभारत, हैदराबाद, भोपाल और विन्ध्य प्रदेश आते हैं ५·२३ करोड़ या १५% है। उत्तरी पश्चिमी भारत की जनसंख्या जिसके अन्तर्गत राजस्थान, पंजाब, पेप्सू, जम्मू और काश्मीर (आंकड़े सम्मिलित नहीं हैं), अजमेर' दिल्ली, बिलासपुर, और हिमालय प्रदेश आते हैं, ३·५ करोड़ या १०% है। यदि भूभागों के दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि उत्तरी मैदान की जनसंख्या३९·१%, प्रायद्वीप पहाड़ियों और दक्षिणी पठार की जनसंख्या ३०·४%, पूर्वी घाट और समुद्री तट की जनसंख्या १४·५%, पश्चिमी घाट और समुद्री तट की जनसंख्या ११·२%, हिमालय के भूभाग की जनसंख्या ४·८% है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि देश के उपजाऊ मैदानों में अधिकांश जनसंख्या बसी हुई है।

मध्यप्रदेश का क्षेत्रफल सबसे अधिक है, अर्थात् १३०२७२ वर्ग मील, तथा इसके पश्चात् राजस्थान है जिसका क्षेत्रफल १३०२०७ वर्ग मील है, जबकि जनसंख्या उत्तर प्रदेश की सबसे अधिक अर्थात् ६·३ करोड़ है और इसके पश्चात् मद्रास, बिहार, और बम्बई हैं जिनकी जनसंख्या क्रमशः ५.७, ४ तथा ३.५९ करोड़ है। विंध्य प्रदेश तथा दिल्ली के अतिरिक्त जिनकी जनसंख्या क्रमशः ३५.७ लाख तथा १७.४ लाख है—किसी भी स और द राज्य की जनसंख्या १० लाख से अधिक नहीं है। सबसे कम जनसंख्या वाला प्रदेश अण्डमन और निकोबार द्वीप है जिसकी जनसंख्या केवल ३०९७१ है। भारत की अधिकतर जनता गांवों में निवास करती है। ३५·७ करोड़ की कुल जनसंख्या में से केवल ६·२ करोड़ अथवा १७.३% नगरों और कस्बों में (जिनकी संख्या ३०१८ है) रहती है और शेष २९.५ करोड़ या ८२.७% जनसंख्या गाँवों में रहती है जिनकी संख्या ५५८०८९ है। देश के औद्योगीकरण के परिणाम स्वरूप गाँवों की जनसंख्या निरन्तर नगरों की ओर बढ़ती जा रही है। १९२१ में ८८.७% जनसंख्या गाँवों में निवास करती थी और ११.२% नगरों में। १९४१ में ८६.१% गाँवों में और १३.९% नगरों में निवास करने लगी और १९५१ में, जैसा कि ऊपर बताया जा

चुका है, ८२·७% गाँवों में और १७·३% नगरों में रहने लगी। दिल्ली और अजमेर के छोटे राज्यों को छोड़कर जहाँ कि शहर की आबादी क्रमशः ८३% और ४३% है, बड़े राज्यों में बम्बई और सौराष्ट्र के राज्य सबसे आधुनिक हैं जहाँ ३४% और ३१% जनसंख्या नगरों में रहती है।

भारत के ७३ शहरों की आबादी एक लाख के ऊपर है। आसाम और पेप्सू में ऐसा कोइ नगर नहीं है। 'स' राज्यों के सात भागों केवल नई दिल्ली अजमेर और भूपाल ऐसे नगर हैं। देश के सबसे बड़े नगरों में बम्बई की जनसंख्या २८·३५ लाख, है, कलकत्ता की २५·४९ लाख, मद्रास की १४·१६ लाख, हैदराबाद की १०·८६ लाख, दिल्ली की ९·१५ लाख, अहमदाबाद की ७·८८ लाख, और बंगलौर की ७.७९ लाख है।

धर्म और विवाह— भारत में अनेक धर्मों के मानने वाले रहते हैं पर हिन्दुओं की संख्या प्रधान है। १९५१ में ३५·७ करोड़ की आबादी में से ३०·३ करोड़ हिन्दू थे, ३·५ करोड़ मुसलमान,८२ लाख ईसाई, ६२ लाख सिक्ख, १६ लाख जैन, २ लाख बौद्ध १ लाख जोराष्ट्रियन (पारसी), १७ लाख अधिवासियों के धर्मावलम्बी तथा १ लाख अन्य धर्मों के पालन करने वाले थे।

भारत में प्रति १०, ००० व्यक्तियों (शरणार्थियों को छोड़ कर) में ५१३३ पुरुष तथा ४८६७ स्त्री हैं। इनमें २५२१ पुरुष व १८८६ स्त्रियाँ अविवाहित हैं अर्थात् स्त्रियों और पुरुषों को मिलाकर कुल जनसंख्या ४४·१% अविवाहित हैं। बाल विवाह रोक कानून के होते हुए भी देश में अत्यधिक बाल-विवाह होते हैं। १९५१ की जन गणना के अनुसार लगभग २८३३००० पुरुष' ६११८००० विवाहित स्त्रियाँ, ६६००० विधुर और १३४००० विधवायें ५ और १४ वर्ष की अवस्था के बीच की थीं। इसी रिपोर्ट के अनुसार लगभग ६२००००००विवाह बाल विवाह निरोधक नियम के प्रतिकूल हुये थे।

व्यवसाय—देश भर के ७०% व्यक्ति कृषि पर और ३०% अन्य व्यवसायों पर निर्भर रहते हैं। सौराष्ट्र, कच्छ, अजमेर दिल्ली अन्डमान, नीकोबार में खेती करने वालों की संख्या की तुलना में अन्यप्रकार के व्यवसायियों की संख्या अधिक है। पश्चिमी बंगाल और बम्बई प्रदेशों में जो सबसे अधिक औद्योगिक प्रदेश हैं वहाँभी खेती करने वालों की संख्या व्यवसायियों से बढ़ी हुई है। हिमाञ्चल प्रदेश और सिकिम में कृषि करने वालों की संख्या कुल आबादी की ९०% है। प्रत्येक १०० भारतवासियों में ४७ तो ऐसे किसान हैं जिनके पास अपने खेत हैं, ९ आसामी हैं, १३ बिना भूमि के श्रमिक हैं, १जमीन्दार है अथवा लगान पर आश्रित है और १० उद्योगों में लगे हुए हैं अथवा कृषि के अतिरिक्त अन्य कार्य करते हैं,

६ व्यापार करते हैं, २ यातायात में लगे हैं और १२ विभिन्न प्रकार की नौकरियों में लगे हैं। १९५१ की जनगणना के अनुसार ३५.७ व्यक्तियों में से २४.९ करोड़ किसान और १०.८ करोड़ खेती के अतिरिक्त अन्य कार्य करने वाले लोग थे। २४.९% करोड़ किसानों में से १६.७३ करोड़ अपने निजी खेतों पर खेती करने वाले थे। ३.१६ करोड़ ऐसे किसान थे जो दूसरों के खेत करने वाले थे, ४.८४ करोड़ कृषि कार्य करने वाले मजदूर थे और ०.५३ करोड़ खेती करने वाले जमींदार या लगान पर आश्रित व्यक्ति थे। १०.८ करोड़ अन्य कार्यों में लगे व्यक्तियों में से ३.७ करोड़ कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पत्ति के कार्य में लगे थे, २.१३ करोड़ व्यापार में लगे थे, ०.५६ करोड़ यातायात में लगे थे और ४.३ करोड़ विभिन्न नौकरियों में लगे थे।

अध्याय ४

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ

सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाओं का जनता के आर्थिक जीवन पर भारी प्रभाव पड़ता है। यह भौतिक सुख-समृद्धि और सम्पत्ति के संग्रह के प्रति जनता के दृष्टिकोण को, साथ ही इन उद्देश्यों की पुर्ति के लिए जनता के प्रयत्नों को निर्धारित करती हैं। यह व्यवस्थाएँ औद्योगिक और वाणिज्य संगठनों को प्रभावित करती हैं साथ ही व्यापार और उद्योग का किस प्रकार संगठन किया जाना चाहिये इस पर भी इन व्यवस्थाओं का प्रभाव पड़ता है। भारत में जाति प्रणाली और संयुक्त परिवार की प्रथाओं का भी देश के आर्थिक संगठन पर काफी प्रभाव पड़ा है; पर्दा-प्रथा, अहिंसा पर विश्वास और धर्म के प्रति सामान्य जनता के दृष्टिकोण ने उनकी आर्थिक-गतिविधि को निर्धारित एवम् संचालित किया है। पर्दा-प्रथा के कारण उच्च-जाति की महिलाएँ देश के आर्थिक-कार्य में भाग नहीं लेती हैं और इस प्रकार जनता को निर्धन रखने में यह प्रथा सहायक सिद्ध होती है। अहिंसा के दृष्टिकोण और इस धार्मिक भावना से कि बन्दर और नील-गाय (जो वास्तव में गाय नहीं है) पवित्र हैं इनको नष्ट नहीं किया जा सकता। इससे फसल तथा अन्य मूल्यवान सम्पत्ति की भारी क्षति होती है। धार्मिक संस्थाओं को जैसे मन्दिरों, मठों और अखाड़ों को जनता जो दान देती है उससे इन संस्थाओं ने बहुत अधिक मात्रा में सम्पत्ति का संग्रह कर लिया है जिसका परिणाम यह होता कि (१) इन संस्थाओं को चलाने वाले पुजारी' पाण्डे तथा अन्य लोग आलसी हो जाते हैं और बेकार पड़े रहते हैं और इस प्रकार देश उनके श्रम का लाभ उठाने से वंचित रह जाता है; (२) इस प्रकार जो धन इकट्ठा होता है वह तिजोरियों में बन्द रखा जाता है और देश के आर्थिक विकास के कार्य में इसका उपयोग नहीं होता है। विश्व के अन्य उन्नत देशों में जनता द्वारा की गई बचत काफी पहिले देश के औद्योगिक तथा कृषि विकास के लिए उपलब्ध हो गई और पूंजी-निर्माण की प्रतिक्रिया को प्रोतसाहन मिला। परन्तु भारत में धार्मिक संगठनों के प्रभुत्व और शास्त्रों के इस आदेश से कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी कमाई का कुछ अंश इन संस्थाओं को दान देना चाहिए और साथ ही मन्दिरों और मठों के प्रति जनता की गहरी श्रद्धा होने से देश में पूंजी-निर्माण का कार्य बहुत शिथिल पड़ गया। देश के उत्तराधिकार कानूनों से भूमि तथा अन्य प्रकार की सम्पत्ति का अनुचित रूप में छोटे-छोटे हिस्सों में विभाजन होता गया है। यदि भारत में सामाजिक और धार्मिक व्यवस्थाएँ भिन्न प्रकार होतीं तो देश की आर्थिक प्रगति भी भिन्न प्रकार की होती।

जातिप्रथा—जाति प्रथा हमारे देश की प्राचीनतम प्रथाओं में से है। एक परिभाषा के अनुसार जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक ऐसा संग्रह है जिसका एक नाम है, जो उसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों के व्यवसाय-सम्बन्धित होता है और इस नाम से ही उसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों का व्यवसाय से मालूम हो जाता है। इसके साथ ही यह दावा किया जाता है कि किसी पौराणिक मानव या देवता से इसका वंश चला है; इसके अन्तर्गत आनेवाले लोगों का एक पेशा है, और राय प्रकट करने के अधिकारी व्यक्ति इसे एक ही समुदाय समझते हैं जिसमें समानता है। हमें यह मालूम नहीं है कि जाति प्रणाली का विकास कैसे हुआ। जाति प्रथा संभवतः श्रम-विभाजन और विशेषज्ञता के सिद्धांत पर आधारित रही होगी। प्राचीनकाल में हिन्दू समाज चार भागों में विभक्त था, अर्थात ब्राह्मण जो आध्यामिक नेता, विद्वान और पुजारी होते थे, क्षत्रिय जो योद्धा और प्रशासक थे, वैश्य जो व्यापारी और सौदागर थे, और शुद्र जो निम्नकोटि के कार्य करते थे, अन्य लोगों की सेवा करते थे—इन अन्य लोगों में अधिकार प्रथम तीनों वर्ग के लोग ही होते थे। इस चार जातियों की प्रणाली में हमें कार्य का विभाजन स्पष्ट मालूम होता है। साथ ही यह प्रयत्न भी प्रकट होता है कि विभिन्न लोग विभिन्न कार्यों में दक्षता प्राप्त करें। आरंभ में जाति प्रणाली वंशगत या पुश्तैनी नहीं थी और एक जाति का व्यक्ति अपने प्रयत्नों के बल पर अपनी जाति से उच्च जाति में प्रवेश पा सकता था। परन्तु बाद में जाति प्रथा अत्यन्त कट्टर रूप धारण कर गई और निश्चित रूप वंशगत हो गई। इसके अतिरिक्त अनेक उपजातियाँ और इन उपजातियों के भी अनेक निम्न-रूपों को जन्म दिया गया जिससे यह सारी व्यवस्था अत्यन्त जटिल हो गई।

आरम्भ में जाति-प्रणाली से कुछ लाभ थे : (१) इस व्यवस्था से किसी कार्य में और ज्ञान में विशेष योग्यता प्राप्त की जा सकती थी जिससे जो कुछ कार्य किया जाता था उसके गुण में बहुत सुधार होता जाता था। प्रायः बेटा वही व्यवसाय अपनाता था जो उसका बाप करता था और इस व्यवसाय के लिए बाप उसे उचित शिक्षा दे देता था। इस प्रकार एक विशेष प्रकार का कार्य और तत्सम्बन्धी ज्ञान एक परिवार में वंशगत रूप से चला आता था और बेटा बाप से उस व्यवसाय की योग्यता प्राप्त कर कार्य आगे बढ़ाता था। पण्डितों की सुप्रसिद्ध विद्वत्ता, भारतीय योद्धाओं की अपूर्व सफलताएँ और उच्चकोटि की भारतीय दस्तकारी सभी आंशिक रूप से इस विशेष योग्यता के ही फल थे जो स्वयं इसी जाति-प्रणाली का परिणाम था; (२) जाति-प्रणाली से उन कष्टमय तथा परेशानियों के दिनों में जब कि भारत पर विजातियों ने हमले किये थे हिन्दू-जाति की शुद्धता को

बनाये रखने में बहुत सहायता मिली। जाति-प्रणाली की कट्टरता के फलस्वरूप ही विजेताओं और विजितों के बीच आवश्यकता से अधिक रक्त-सम्बन्ध नहीं हो पाया इसमें काफी रूकावट पड़ी; और (३) जाति-प्रणाली ने आरम्भ से ही हिन्दुओं को अन्य लोगों के विश्वासों और धर्मों के प्रति सहिष्णु बने रहने का पाठ सिखाया है। इसी कारण विभिन्न जातियों और धर्मों के लोग भारत में शांति और भाई चारे के साथ रहते आये हैं इसमें तनिक भी असत्य नहीं है कि आरम्भ में भारत में जाति प्रणाली ने प्रायः उसी उद्देश्य की पूर्ति की जिसकी यूरोप में गिल्ड-प्रणाली (Guild System) ने की जिसके अन्तर्गत गिल्ड के सदस्यों को टैक्निकल शिक्षा दी जाती थी और उनके अन्य हितों की देखभाल की जाती थी।

परन्तु आधुनिक काल में जाति प्रणाली अत्यन्त जटिल और अपरिवर्तन-शील हो गई है; उसमें एक प्रकार की कट्टरता आ गई है और फलस्वरूप इससे देश की आर्थिक प्रगति में सहायता मिलने की अपेक्षा हानि ही अधिक हुई है। जाति प्रणाली के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि : (१) यह आवश्यक नहीं है कि वैश्य का पुत्र अच्छा व्यापारी हो और ब्राह्मण का पुत्र अच्छा पुजारी हो। यह बिल्कुल सभव है कि ब्राह्मण या वैश्य के पुत्र में ऐसी योग्यता है कि वह अत्यन्त कुशल मोची बन सके। परन्तु जाति प्रथा उच्च जाति के लोगों को ऐसे कार्य करने से रोकती है जो कार्य छोटी जातियो को सौंपे गये हैं। इसी प्रकार यदि कोई शूद्र बहुत शिक्षित और विद्वान भले हो परन्तु वह किसी मन्दिर का पुजारी नहीं बन सकता। यह जाति प्रथा ही उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बन जाती है। इस प्रकार जाति प्रथा किसी व्यक्तिको ऐसे उत्तम कार्य करने से रोकती है जिसकी उसमें पर्याप्त क्षमता और योग्यता हो। (२) अस्पृश्यता और इससे उदभुत अन्य कठिनाइयों के कारण जाति-प्रथा जनता के सरल-स्वाभाविक प्रवाह में बाधक बन जाती है। किसी देश के आर्थिक विकास के लिए पूंजी और श्रम की निर्बाध गति-शीलता अत्यन्त आवश्यक होती है। जाति प्रथा ने इसको रोक रखा है और इस सीमा तक हमारे देश में औद्योगिक तथा कृषि क्रांतियों का अभाव रहा है। (३) कट्टर जाति प्रथा के कारण हम श्रम-सम्मान (dignity of labour) को भूल गये हैं और इससे अन्य लोगो के विश्वासों, धर्मों और दृष्टिकोणों के प्रति हमारी सहिष्णुता की भावना भी कम हो गई है। इसीलिए इससे गतिरोध उत्पन्न हो गया है, हमारा समाज अस्थिर हो गया है और हममें स्वयं आगे बढ़कर पथ प्रदर्शन करने तथा साहस की भावना लुप्त हो गई है।

सौभाग्य से गत कुछ वर्षों से जाति-प्रथा टूट रही है। भारत में रेलों के निर्माण, इसके प्रसार, यात्रा की सुविधाओं में वृद्धि, रेल, बस या हवाई जहाज की

यात्रा में विभिन्न जाति के लोगों से होने वाले अनिवार्य जन-सम्पर्क के फलस्वरूप जाति-प्रणाली की कट्टरता कम हो गई। अंग्रेजी शिक्षा प्रणाली और अंग्रेजी कानून के अन्तर्गत सभी जातियों के साथ समानता का व्यवहार किया गया और सभी जातियों के लोगों को कोई भी व्यवसाय अपनाने की छूट दे दी गई। पेशा अपनाने में जाति-प्रथा की बाधा नहीं रही। शूद्र जाति के व्यक्ति अध्यापक, मजिस्ट्रेट और उच्च सैन्याधिकारी बने और उच्च जाति के लोग जिन्हें अपना कार्य सिद्ध करना होता था इन अधिकारियों के सम्पर्क में आये और जाति प्रथा की कट्टरता का पालन नहीं कर सके। जाति-प्रथा के कारण ही अनेक हिन्दुओं ने अन्य धर्मों को स्वीकार कर लिया। इसकी स्वयं हिन्दू-समुदाय में प्रतिक्रिया हुई और अर्य-समाज जैसे सुधारवादी आन्दोलन हुए जिन्होंने जाति-प्रथा को तोड़ने में बहुत बड़ा कार्य किया है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस इसके विरुद्ध संघर्ष करती रही हैं और भारतीय संविधान में अस्पृश्यता को भारी अपराध माना गया है और सबको बराबार अवसर प्रदान किया गया है। केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारें अब परिगणित जाति के विद्यार्थियों को विशेष छात्रवृत्ति देने की नीति अपना रही हैं। इन सब प्रयत्नों से जाति-प्रथा की कट्टरता कम हो गई है और भारत के आधुनिक नौजवान इसकी अधिक परवाह नहीं करते हैं। कुछ लोग या वह लोग जो अभी अपने गाँवों या कस्बों की सीमा से अपने को मुक्त नहीं कर सके हैं और जिनका दृष्टिकोण अभी भी संकुचित बना हुआ है, अब भी इस जाति-प्रथा की कट्टरता की भावना से ग्रस्त हैं परन्तु इनकी संख्या धीरे-धीरे घटती जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि जाति-प्रथा समाप्त होती जा रही है परन्तु इससे इन्कार नहीं किया जा सकता है कि अब भी जाति-प्रथा का जोर है और भारतीय आर्थिक प्रणाली को उससे बराबर क्षति हो रही है।

संयुक्त परिवार की प्रथा (Joint Family System)—संयुक्त परिवार प्रथा भारत की प्राचीनतम प्रथाओं में से एक है। देश में सामान्यतः आर्थिक इकाई एक व्यक्ति नहीं बल्कि संयुक्त परिवार है। बहुत से व्यक्तियों ने संयुक्त परिवार से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है और वह अलग रहने लगे है परन्तु फिर भी परिवार संगठन में संयुक्त-परिवार प्रथा की पूर्ण प्रधानता है। संयुक्त परिवार में सामान्यतया पिता परिवार का प्रधान होता है और परिवार के अन्य पुरुष तथा स्त्रियाँ उसके आधीन होते हैं। वह साथ रहते हैं साथ खाते-पीते हैं और पूजा-पाठ करते हैं, साथ ही समाज में सबके समान सम्बन्ध होते हैं। यह ठीक कहा गया है कि छोटे पैमाने में संयुक्त-परिवार साम्यवाद का उदाहरण है। यदि संयुक्त परिवार का उचित संगठन किया जाय

तो वहाँ यह सिद्धान्त लागू होता है कि "प्रत्येक सदस्य सब के लिए और सारा परिवार प्रत्येक के लिए" (each for all and all for each) अर्थात प्रत्येक व्यक्ति पूरे समूह के लिए उत्तरदायी है और पूरा समूह प्रत्येक व्यक्ति के लिए उत्तरदायी है। संयुक्त-परिवार प्रथा के कुछ आर्थिक लाभ हैं—(१) इससे रहन-सहन का व्यय घट जाता है क्योंकि खाना साथ पकाया जाता है, नौकर चाकर समान होते हैं और अन्य सभी सुविधाओं का संयुक्त रूप से उपभोग किया जाता है। बड़े पैमाने पर किये जाने वाले कार्य की सभी सुविधाएँ इसमें निहित हैं। यदि लोग अलग-अलग रहते हैं तो रहन-सहन का कुल व्यय परिवार के व्यय से बहुत अधिक होगा; (२) इससे सम्पत्ति और भूमि का छोटे-छोटे भागों में विभाजन नहीं होता, भूमि पर मिलकर खेती की जाती है जिससे आर्थिक क्षेत्र में अनेक लाभ होते हैं और अन्य रूपों में भी काफी लाभ होता है। संयुक्त परिवार की पूँजी बिखरी हुई नहीं होती बल्कि एक साथ जमा रहती है और उसको अन्य उत्पादन कार्यों में या आगामी उत्पादन कार्य का प्रसार करने में प्रयुक्त किया जा सकता है। परन्तु यदि संयुक्त परिवार टूट जाय और लोग अलग-अलग रहने लगे तो यह संभव है कि उनके पास पर्याप्त पूँजी न हो; और (३) संयुक्त परिवार प्रथा बीमारी, मृत्यु या अन्य दुर्भाग्यपूर्ण घटनाओं के अवसर पर एक प्रकार से बीमा का कार्य करती है। विधवाओं, अनाथों और वृद्धों का संयुक्त परिवार में अन्य सदस्यों की तरह ही पालन-पोषण होता है। गत कुछ वर्षों से पश्चिमी देशों में वृद्ध व्यक्तियों को, जो कार्य नहीं कर सकते और निर्धन हैं, उनकी सन्तानों ने उन्हें बिना किसी सहारे के छोड़ देने की प्रकृति हो गई है। संयुक्त पिरवार प्रथा के अन्तर्गत ऐसा संभव नहीं है।

परन्तु संयुक्त परिवार-प्रणाली की अनेक हानियाँ भी हैं : (१) चूंकि प्रत्येक व्यक्ति को भोजन, कपड़े, रहने आदि की पूरी सुविधा उपलब्ध है इसलिए उन लोगों में जो चरित्र की दृष्टि से अच्छे नहीं कहे जा सकते हैं और जिनमें दूर दृष्टि का अभाव होता है आलस्य पैदा हो जाता है। इन प्रथा से उनके आलसी स्वभाव को बल प्राप्त होता है। साम्यवाद के अन्तर्गत चूंकि भुगतान कार्य के आधार पर नहीं बल्कि आवश्यकता के आधार पर किया जायगा अतएव तब यह कठिनाई उत्पन्न हो जायगी कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुकूल उत्तम कार्य कैसे कराया जाय। इसी प्रकार संयुक्त-परिवार-प्रणाली में व्यक्ति की सभी आवश्यकताओं की उसके द्वारा किये गये कार्य की गणना किये बिना ही पूर्ति हो जाती है इससे कुछ लोगों में निठल्ले बैठे रहने और आलसी बन जाने की प्रकृति पैदा हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि रुपये का मूल्य वही व्यक्ति अच्छी प्रकार सम-

फता है जो रुपया कमाता है। इसलिए संयुक्त परिवार में आलसी और निठल्ले लोगों के फिजूल-खर्च बनने की पूरी संभावना रहती है; (२) संयुक्त परिवार प्रणाली के अन्तर्गत लोगों की गतिशीलता का ह्रास हो जाता है और परिणाम स्वरूप उनमें आगे बढ़कर कोई कार्य करने की प्रवृत्ति का भी ह्रास हो जाता है। लोगों को घर में बैठे रहने की आदत पड़ जाती है और फलस्वरूप साहसपूर्ण कार्य करने की प्रवृत्ति से हाथ धो बैठते हैं, उनमें वह स्फूर्ति, सक्रियता और साहस नहीं रहता जो देश की आर्थिक उन्नति के लिये आवश्यक होता है; और (३) संयुक्त परिवार में छोटे-छोटे झगड़े पैदा होते रहते हैं, ईर्ष्या-द्वेष बढ़ता है और इसके फलस्वरूप मुकदमेबाजी भी हो जाती है जो कि अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होती है।

इधर कुछ वर्षों से संयुक्त परिवार प्रथा विशृंखलित हो रही है। यद्यपि अभी भी यह परिवार-संगठन का प्रधान रूप है फिर भी संयुक्त परिवार त्याग कर अलग रहने वालों की संख्या बढ़ रही है। (१) शिक्षा प्राप्त कर लेने के पश्चात युवक शहरी जीवन का अभ्यस्त हो जाता है और किसी कारखाने में नौकरी कर लेता है या है शहर में व्यापार कार्य में लग जाता है और उसे संयुक्त परिवार से पृथक होकर रहना पड़ता है; (२) जीवन-संघर्ष में वृद्धि होने से और जीवन-निर्वाह के साधनों को जुटाने की कठिनाइयों से व्यक्ति संयुक्त-परिवार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है। अपनी पत्नी और बच्चों का पालन पोषण करने के लिए पर्याप्त रुपया कमा लेना संयुक्त-परिवार के पालन पोषण के लिए पर्याप्त रुपया कमा लेने से कहीं अधिक सरल होता है; (३) जहाँ तक धनवान व्यक्तियों का प्रश्न है आय कर कानून और हाल ही में सम्पत्ति कर (estate duty) कानून बन जाने से संयुक्त-परिवार प्रथा टूटने लगी है। यदि संयुक्त-परिवार के कमाने वाले सदस्यों की आय आयकर के लिये निर्धारित न्यूनतम आय से कम है तो वह संयुक्त-परिवार से अलग होकर आयकर के बोझ से बच सकते हैं परन्तु यदि साथ रहें तो सभी की आय जोड़ कर इतनी हो सकती है कि आयकर से मुक्ति न मिल सके। उदाहरण के लिये यदि एक परिवार में चार पुरुष हैं और वह कुल ९ हजार रुपया प्रति वर्ष कमाते हैं तो उनको आय-कर देना पड़ेगा क्योंकि कानून के अनुसार हिन्दू-संयुक्त परिवार की ८४०० रुपया वार्षिक आय से अधिक आय पर आय-कर देना पड़ता है। परन्तु यदि चारों व्यक्ति संयुक्त-परिवार से सम्बन्ध विच्छेदकर लें और अलग-अलग रहने लगें तो प्रत्येक चार हजार रुपया वार्षिक कमा सकता है और उसे आय-कर भी नहीं देना पड़ेगा क्योंकि कानून के अनुसार व्यक्तिगत आय ४२०० रुपया वार्षिक होने पर ही आय-कर लगेगा। इसी प्रकार सम्पत्ति-कर कानून के अन्तर्गत व्यक्ति गत रूप से एक लाख की सम्पत्ति

पर आय-कर की छूट प्राप्त है परन्तु संयुक्त-परिवार में प्रत्येक पुरुष सदस्य को केवल ५० हजार रुपये की सम्पत्ति पर ही सम्पत्ति-कर से छूट प्राप्त है, इससे अधिक की सम्पत्ति होने पर कर चुकाना पड़ेगा परन्तु यदि वह संयुक्त-परिवार से अलग हो जायँ तो एक लाख रुपये की सम्पत्ति पर उसे कोई कर नहीं देना पड़ेगा। इसके अतिरिक्त किसी की मृत्यु हो जाने पर यह संभव है कि संयुक्त-परिवार को सम्पत्ति कर चुकाना पड़े जब कि पृथक रहने पर ऐसा होना इतना अधिक सम्भव नहीं है। कर-सम्बन्धी यह कानून धनवान वर्ग की संयुक्त-परिवार प्रथा को तोड़ रहे हैं।

पंचायत (Panchayat)—प्राचीन भारत में पंचायत अत्यन्त महत्वपूर्ण संस्था थी जिसे प्रशासन, न्याय और राजस्व सभी अधिकार प्राप्त थे। परन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया आर्थिक परिस्थितियों में परिवर्तन होने से तथा प्रशासन और न्याय के केन्द्रीकरण से पंचायतों का महत्व घट गया और क्रमशः वह नगण्य हो गयीं। देश के कुछ भागों में पंचायतें स्थापित रहीं परन्तु केवल एक सामाजिक संस्था के रूप में जहाँ लोग आपस में मिल सकते, गप्प कर सकते और हुक्का पी सकते थे और कभी-कभी छोटे-मोटे झगड़े भी तय कर लिये जाते थे। परन्तु पचायत ने प्रशासन और न्याय के क्षेत्र में अपना प्रभावशाली रूप खो दिया।

परन्तु इधर कुछ वर्षों से महात्मा गांधी और राष्ट्रीय कांग्रेस के द्वारा इस व्यवस्था के प्रति विशेष रुचि दिखायी जाने के कारण पंचायत-प्रणाली को पुनः जीवन प्रदान किया गया है और पंचायतों को कानूनी मान्यता और कुछ प्रशासन तथा न्याय अधिकार प्रदान करने के लिए कुछ राज्यों ने आवश्यक कानून भी बनाये हैं। परन्तु अब तक पंचायतें सन्तापजनक कार्य नहीं कर पायी हैं क्योंकि जिन लोगों को पंचायतों का कार्य सौंपा गया है वह निरक्षर हैं और प्रशासन तथा अदालत की कार्य-प्रणाली की उनको आवश्यक जानकारी नहीं है, साथ ही उनके पास धन का भी अभाव है।

पंचायतों का कार्यक्षेत्र बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है और उन्हें आर्थिक नियोजन का प्रभावशाली साधन बनाने का प्रयत्न हो रहा है। संविधान के ४० वें अनुच्छेद में कहा गया है कि राज्य ग्राम पञ्चायतों की स्थापना करने और उन्हें स्वशासन की इकाई बनाने के लिए आवश्यक अधिकार दिलाने के सम्बन्ध में कार्रवाई करेगा। राज्य सरकारों द्वारा पञ्चायतों को कुछ अधिकार प्रदान किये गये हैं परन्तु यह उतने नहीं हैं जितने की संविधान में व्यवस्था की गई है।

जून १९५४ में शिमला में स्वायत्त-शासन मंत्रियों का सम्मेलन हुआ था जिसमें यह सिफारिश की गई कि पंचायतों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए अधिक व्यापक आर्थिक, प्रशासकीय और न्याय अधिकार दिये जाने चाहियें।

यह सुझाव दिया गया कि द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में 'नीचे से ऊपर की ओर' योजना बनायी जाने की व्यवस्था की जानी चाहिए और ग्राम को ही नियोजन की इकाई बनाना चाहिए। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जुलाई १६५४ में अपने अजमेर अधिवेशन में इस बात पर विचार किया और अनुमान है कि उसने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। योजना में यह व्यवस्था की गई है कि पञ्चायतों को स्वशासन की प्रभावशाली आधारभूत इकाई और नीचे से योजना बनाये जाने के लिए आधारभूत एजेन्सी बनाया जायगा। एक गाँव सभा का निर्माण सारा गाँव करेगा और निर्वाचन के आधार पर ग्राम पंचायत बनायेगा जो गाँव सभा की कार्यकारिणी होगी। पंचायत को जो कार्य सौंपे जायँगे उनमें लगान वसूली, भूमि सम्बन्धी कागजात रखने (इन्दराज), समान उप-योगिता की सरकारी जमीन का प्रबन्ध, काश्त के लिए लगान पर जमीन देना, बहुधन्धो ग्राम सहकारी समितियो का विकास करना और अपने अधिकार क्षेत्र के अन्दर सार्व-जनिक उपयोग के कार्यों के लिए सब से अनिवार्यतः कार्य करना आदि काय सम्मिलित हैं। ग्राम के विकास की नीति पंचायत निर्धारित करेगी, और भूमिसंर-रण, वनों के विकास, इंधन के सुरक्षित सुरक्षित जमा करने, बाँध और जलाशय बनाने, वयस्क शिक्षा, अच्छे बीजों की पूर्ति, और काश्त के नये और सुधरे हुए उपायों को लागू करने की समस्याओं पर भी पंचायत विचार करेगी और इस दिशा में आवश्यक कार्रवाई करेगो।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना नीचे से ऊपर की ओर बनाई गई है। राज्य सरकारों ने एक-एक गाँव के अथवा गाँवों के समूहों के लिये जैसे तहसील, तालुका, विकास-पीली की इकाइयों के आधार पर योजना बनवाई है। इस कार्य में पंचायतों ने बहुत महत्वशाली सहयोग दिया है पर यह कहना कठिन है कि स्थानीय योजनाओं के बनाने में वे यथार्थ में कार्यशील रही हैं और ये स्थानीय योजनायें इस योग्य रही हैं कि उनको राज्य द्वारा बनाई योजना में सम्मिलित कर लिया जाता। जो कुछ भी हो पंचायत के सदस्यों को यह ज्ञान हो गया है कि द्वितीय योजना की सफलता के लिये उनके सहयोग की आवश्यकता है। इससे स्थानीय लोगों का उत्साह अवश्य बढ़ा है और वे योजना के प्रति जागरूक हो गये हैं।

सरकार की नीति यह है कि "प्रत्येक गाँव में और विशेषकर उन क्षेत्रों में जो राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं और सामुदायिक विकास योजनाओं के लिए चुने गये हैं एक कानून के आधार पर पंचायत की स्थापना की जाय। प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में पंचायतों की संख्या ८३०८७ से बढ़ कर ११७५६३ हो गई। द्वितीय योजना के कार्यक्रम के अनुसार १६६०-६१ तक ग्राम पंचायतों की संख्या

बढ़ कर २४४५६४ हो जायगी"। यह सोचना युक्तिसंगत है कि भविष्य में पंचायतों को अधिकाधिक महत्ता दी जायगी और वे योजना को कार्य रूप में परिणित करने का एक प्रभावशाली साधन हो जायँगी। परन्तु अभी तक तो ग्राम पंचायतों का कार्य बहुत ही असंतोषजनक रहा है। इसके अनेक कारण हैं जैसे (१) "ग्राम पंचायतों के प्रभावशाली न हो सकने का सबसे बड़ा कारण उनके पास साधन का अभाव रहा है। बहुत सी पंचायतों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय २ आ० या ३ आ० रही है"। टेक्जेशन इन्क्वायरी कमीशन (१६५३-५४) ने अपनी रिपोर्ट में इस बात की ओर ध्यान आकर्षित किया था कि प्रादेशिक सरकारें "पंचायतों को कुछ करों के लगाने का अधिकार दे कर उन्हें अपने आप अपनी सहायता करने के लिये छोड़ देती हैं। इसका परिणाम यह होता है कि प्रायः पंचायतें आरम्भ होते ही करों के आरम्भ करने के कारण जनता की कोपभाजन बन जाती हैं और यदि करों का आरम्भ न करें तो निष्क्रिय हो कर जनता की दृष्टि में नीचे गिर जाती हैं"। इसलिये पंचायतों के कार्य को सफल बनाने के लिये सबसे अधिक आवश्यक बात यह है कि उन्हें पर्याप्त वित्त प्रदान किया जाय। (२) दूसरी कठिनाई यह है कि पंचायतों के ऊपर उनके साधनों और शक्ति की अपेक्षा अत्यधिक कार्य भार डाल दिया गया है। प्रादेशिक सरकारें जिन्होंने पंचायतों को अनेक उत्तरदायित्व सौंप रक्खे हैं पंचायतों से आवश्यकता से अधिक आशा करती हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पंचायतों के हित भी आपस में टकराते हैं क्योंकि दोनों के कार्य क्षेत्र एक दूसरे की सीमा का अतिक्रमण करते हैं। इस सम्बन्ध में टेक्जेशन इनक्वायरी कमीशन ने यह सिफारिश की है कि आर्थिक क्षेत्र और उत्पादन सम्बन्धी कार्य जो सहकारी समितियों द्वारा अधिक अच्छी तरह किये जा सकते हैं। उन्हें नियमित रूप से पंचायतों के अन्तर्गत आये हुए कार्यों से अलग कर देना चाहिये। हम इसे भी आवश्यक समझते हैं कि पंचायतों के लिये नियमावली में दिये गये असंख्य कार्यों के स्थान पर थोड़े से चुने हुये कार्य ही दिये जावें ताकि उनका ज़िला बोर्ड तथा अन्य स्थानीय ग्राम बोर्ड के कार्यों से सामंजस्य सम्भव हो सके। (३) पंचायतों के मेम्बरों को उन कार्यों की कोई शिक्षा नहीं मिली है जो उनको दिये गये हैं। उनके विचार प्राचीन हैं, उधर उनके मन में स्थानीय कारणों से उत्पन्न द्वेष भावना भरी है, इसलिये जो समस्यायें उनके सामने अज्ञान अशिक्षा और जाति द्वेष के कारण उपस्थित हैं उनको दूर करने के लिये उनके विचार में वे ही पुराने ढंग आते हैं जिससे वे अपना कर्त्तव्य संतोषजनक ढंग से पूरा नहीं कर पाते।

अध्याय ५

कृषि उत्पादन और नीति

भारत कृषि प्रधान देश है। भारत का कुल क्षेत्रफल अन्तिम गणना के अनुसार लगभग ८१ करोड़ २० लाख ५० हजार एकड़ है, परन्तु आधे से बहुत कम भूमि कृषि के काम आ रही है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा बनाने के पहिले ही योजना आयोग ने कुछ प्रदेशों में पिछले ४० वर्षों में विभिन्न फसलों के उगाने में लगी हुई भूमि की जाँच की। इससे यह पता लगा कि (१) खेती की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल उत्तर-प्रदेश को छोड़कर कहीं भी विशेष मात्रा में नहीं बढ़ा। एक से अधिक फसलें उगाने वाले क्षेत्र में २०% की वृद्धि हुई, परन्तु यह वृद्धि बढ़ती हुई जनसंख्या की तुलना में नगण्य थी, (२) सिंचाई का क्षेत्रफल १०% बढ़ा जो कि मुख्यतः नहरों के विस्तार का परिणाम था, (३) परती छोड़ी हुई भूमि का क्षेत्रफल १९२०-४० तक के ही स्तर पर रहा। उसके बाद कुछ वृद्धि रुई का उत्पादन करने वाले क्षेत्रों में हुई क्योंकि यकायक रुई उत्पादन क्षेत्र में कमी आ गई और खेत परती छोड़ दिये गये। किस प्रकार की फसलें उगाने की प्रवृति प्रायः लोगों की रही, इसका योजना आयोग ने अध्ययन किया और इस परिणाम पर पहुँचे कि (१) पिछले १० वर्षों में यद्यपि दुहरी फसल उत्पन्न करने के कारण फसलों के अन्तर्गत कुल क्षेत्र में वृद्धि हुई पर कोई भी नया भूमि का भाग खेती के कार्य में नहीं लाया गया, (२) मूल्यों में परिवर्तन के कारण फसलों की किस्म में परिवर्तन आ गया यद्यपि अधिकांश ये फसलें छोटे-छोटे खेतों में उत्पन्न की जाती थीं, (३) खाद्यान्न तथा व्यवसायिक फसलों के बीच अदला-बदला किसी विशेष ढंग पर नहीं हुई वरन् मौसम फसलों के हेर-फेर, मूल्य परिवर्तन और किसान की आर्थिक शक्ति पर निर्भर रही।

खाद्यान और कच्चे माल में कमी—यह आश्चर्य की बात है कि कृषि-प्रधान देश होते हुए भी भारत में खाद्यान्न की कमी है और उद्योगों के लिए कच्चे माल का अभाव है। इन अभावों के मुख्यतः तीन कारण हैं : (१) १९३६ में बर्मा को भारत से अलग कर देने के कारण देश के अन्दर ही प्राप्त हो जाने वाली खाद्यान्न की मात्रा में १३ लाख टन की कमी हो गई; (२) १९४७ में देश-विभाजन हो जाने के कारण उस मात्रा में ७·५ लाख टन की और कमी हो गई; (३) देश

की जनसंख्या प्रतिवर्ष १½ प्रतिशत की दर से बढ़ रही है, परन्तु खाद्यान्न की मात्रा में इसी दर से वृद्धि नहीं हुई है जिसके परिणाम स्वरूप खाद्यान्न का अभाव हो गया। सन् १६४६-५० में देश को ४६० लाख टन अन्न की उत्पत्ति और सरकारी गोदाम तथा विदेशों से मँगाये अन्न को मिलाकर प्रति वयस्क १३·७१ औंस अन्न प्रतिदिन पड़ता था। यदि जनसंख्या अधिक होती तो प्रति व्यक्ति अन्न का भाग और भी कम होता। पौष्टिक पदार्थ सलाहकार समिति के विचारानुसार प्रति स्वस्थ व्यक्ति (वयस्क) १४ औंस अन्न प्रतिदिन आवश्यक है। इसलिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ने ७६ लाख टन अन्न की उपज बढ़ाने का निश्चय किया था।

पौष्टिक पदार्थ सलाहकार समिति के सुझाव के अनुसार सन्तुलित भोजन के लिये प्रत्येक व्यक्ति को ३ औंस दाल प्रतिदिन खानी चाहिये। १६५०-५१ में ८३ लाख टन दाल पैदा हुई, जिसमें से सरकारी स्टाक, बीज इत्यादि के लिये २० प्रतिशत निकाल देने के पश्चात् प्रति वयस्क को प्रतिदिन २·१ औंस दाल मिली। इस प्रकार प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के अन्तर्गत बढ़ी हुई जनसंख्या के अतिरिक्त आवश्यकता ५ लाख टन की और ३ औंस प्रति व्यक्ति के हिसाब से ४० लाख टन की अनुमानित की गई थी।

१६५०-५१ में ५१ लाख टन तिलहन की उपज हुई जिसमें से लगभग १६ लाख ६० हजार टन तेल प्राप्त हुआ। साबुन, रंग तथा वार्निश बनाने के काम में प्रयुक्त तेल को अलग करने के पश्चात् शेष १६ लाख टन तेल घरेलू कार्यों के लिए बचा। इसके अनुसार प्रति वयस्क को प्रतिदिन ०·५ औंस तेल मिला, जो आवश्यकता से बहुत कम था और इसलिए उसकी मात्रा बढ़ानी आवश्यक समझी गई। जहाँ तक कपास का प्रश्न है, १६५०-५१ में २६ लाख ७० हजार गाँठों का उत्पादन हुआ (प्रत्येक गांठ का वजन ३६२ पौंड) जब कि खपत ४० लाख ७० हजार गाँठों की थी। उत्पादन और खपत के इस अन्तर को प्रतिवर्ष लगभग ८३० हजार गाँठों का आयात करके पूरा किया गया। अनुमान लगाया गया है कि १६५६ में ५४ लाख गांठों की आवश्यकता होगी। जूट के उत्पादन के विषय में सरकारी तार पर यह अनुमान लगाया गया है कि १६५१-५२ में ३३ लाख कच्चे जूट की गाँठों का उत्पादन किया गया। और मेस्टा (Mesta) की ६ लाख गाँठें पैदा की गई, जो जूट से घटिया किस्म की उपज है और जिसका उपयोग जूट न मिलने पर किया जाता है। अनुमान है कि १६५६ में ७२ लाख गाँठों की आवश्यकता होगी। इस प्रकार माँग और पूर्ति में ३३ लाख गाँठों का अन्तर रह गया।

इस अध्ययन से यह प्रकट होता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरंभ

में खाद्यान्न और उद्योगों के लिए कच्चे माल दोनों का ही अभाव था। भारत को स्वावलम्बी बनाने और विदेशी मुद्रा की बचत करने के लिए यह निश्चित किया गया कि देश के अन्दर ही इनका उत्पादन बढ़ाया जायगा। यदि समस्या केवल खाद्यान्न या व्यवसायी फसलों की पूर्ति की मात्रा बढ़ाने की होती, तो इसके लिये धीरे-धीरे एक फ़सल की जमीन को दूसरी फसल के उत्पादन के लिये व्यवहार में लाया जा सकता था। परन्तु समस्या दोनों फसलों के उत्पादन में वृद्धि करने की थी, जिससे माँग और पूर्ति के बीच का भारी अन्तर दूर किया जाय।

खाद्यान्न जाँच कमेटी की रिपोर्ट—कमेटी, जिसके अध्यक्ष श्री अशोक मेहता थे तथा जिसने नवम्बर १९५७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, इस निष्कर्ष पर पहुँची कि खाद्यान्न की कुल उत्पत्ति १९५३-५४ के ६८८·७ लाख टन से घट कर १९५४-५५ में ६७१·१ लाख टन तथा १९५६-५७ में ६५२·९ लाख टन हो गयी। इसके अनन्तर प्रवृत्ति में परिवर्तन हुआ और १९५६-५७ में खाद्योत्पादन बढ़कर ६८६·९ लाख टन हो गया। खाद्यान्न के मूल्यों एवम् खाद्य सामग्री के अभाव की वृद्धि निम्न कारणों से हुई। (i) कृषकों ने अपनी उत्पत्ति का अधिक भाग स्वयं रख लिया। अतएव मूल्यों की वृद्धि में जितना विक्रीत-अतिरिक्त (marketed surplus) की कमी का हाथ था उतना उत्पादन की कमी का नहीं था। १९५५-५६ में मोटे अनाज (millets) की उत्पत्ति में ३० लाख टन की कमी हुई जिसने मूल्य वृद्धि का क्रम प्रारंभ किया और १९५५-५६ में चावल तथा गेहूँ की माँग बढ़ने के कारण खाद्यान्न के मूल्य बढ़ने लगे। यद्यपि बाद में उत्पादन बढ़ गया किन्तु मूल्यों में फिर भी वृद्धि होती रही। (ii) द्वितीय योजना के अन्तर्गत होने वाले व्यय तथा बैंक उदार की वृद्धि ने भी मूल्य-स्तर के बढ़ाने में मदद की, तथा (iii) "खाद्य स्थिति के बारे में अत्यधिक आशावादिता ने अनेक राज्यों में खाद्योत्पादन की वृद्धि के प्रयत्नों को या तो शिथिल कर दिया या उनमें तीव्रता नहीं आने दी"।

भारत की जन संख्या की प्रतिवर्ष $1\frac{1}{2}$ – २ प्रतिशत वृद्धि के आधार पर कमेटी ने अनुमान लगाया कि खाद्यान्नों की माँग में बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण १०% तथा आय की वृद्धि से ४.७ प्रतिशत वृद्धि होगी। इस प्रकार द्वितीय योजना में खाद्यान्नों की माँग $14\frac{1}{2}$ से १५ प्रतिशत तक बढ़ जायगी अर्थात् १९५५-५६ में ६९० लाख टन से बढ़कर १९६०-६१ में ७९० लाख टन हो जायगी जबकि उत्पत्ति में केवल १०३ लाख टन की वृद्धि की आशा की जाती है जिसके फलस्वरूप १९६०-६१ तक उत्पत्ति बढ़कर ७७५ लाख टन हो जायगी। कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कुछ अगामीवर्षों में प्रतिवर्ष २०-३० लाख टन खाद्यान्न का आयात करना आवश्यक होगा।

कमेटी ने खाद्यान्नों के सम्बन्ध में मूल्य-स्थायित्व (price stabilisation) की नीति की सिफारिश की। (i) इस हेतु उन्होंने उच्चाधिकारों से युक्त 'मूल्य-स्थायित्व परिषद' (Price Stabilisation Board) की नियुक्ति प्रस्तावित की जिसके कार्य मूल्यनीति का निर्माण तथा उसे लागू करने के उपायों का निर्णय करना था। (ii) नीति को कार्यान्वित करने के लिए खाद्यान्न स्थायित्व संगठन (Foodgrains stabilisation Organisation) के निर्माण की भी सिफारिश की गई। यह संगठन खाद्य और कृषि मंत्रालय का एक विभाग हो सकता है या एक परिनियत निगम (Statutory corporation) अथवा सीमित दायित्व वाली कम्पनी का रूप भी ले सकता है। यह संगठन खाद्यान्न बाजार में एक व्यापारी की भाँति काम करेगा और अन्तःस्थ-स्कन्ध (bufferstock) का काम करेगा अर्थात् मूल्य गिरने पर खरीदेगा जो और बढ़ने पर बेचेगा। (iii) खाद्य मंत्रालय तथा मूल्य स्थायित्व परिषद की सहायता के लिए केन्द्रीय खाद्य परामर्श समिति (Central-food Advisory Council) के निर्माण की भी सिफारिश की गई। (vi) प्रसंगानुकूल एवम् विश्वासनीय आँकड़े एकत्र करने के लिए मूल्य-जानकारी-संभाग (price Intelligence Division) की स्थापना की भी सिफारिश हुई। परामर्श समिति तथा जानकारी संभाग की सहायता से मूल्य-स्थायित्व परिषद का उद्देश्य मूल्य सम्बन्धी स्थिति पर सतर्कता बरतने तथा समय समय पर न केवल सामान्य मूल्य स्तर के स्थिर बनाये रखने वरन् विभिन्न वस्तुओं के मूल्यों में अनुचित अन्तर-को रोकने के लिये आवश्यक कार्यावाही की सिफारिश करना था।

इस बात को ध्यान में रखते हुये कि वर्तमान परिस्थितियों में स्वतंत्र-व्यापार अवांछनीय है तथा पूर्ण-नियंत्रण (Full-fledged Control) आर्थिक एवम् प्रशासकीय कठिनाइयों से भरा है, कमेटी ने एक मध्य-मार्ग की सिफारिश की जिसके अंतर्गत नियंत्रण का कंट्रोल खुले बाजार में खाद्यान्न के क्रय-विक्रय तक सीमित रहेगा, थोक व्यापार का अंशतः समाजीकरण होगा, अनुज्ञा (License) द्वारा शेष बाजार में कार्यशील व्यापारियों पर नियंत्रण होगा, गेहूँ और चावल का पर्याप्त स्टॉक रखा जायगा तथा अन्य पूरक खाद्य सामग्री के उपभोग और उत्पादन की वृद्धि के लिये प्रचार का संगठन किया जायगा।

उत्पादन प्रवृत्ति—स्वतन्त्रता प्राप्त होने के उपरांत भारत में खाद्यान्न और अन्य कृषि-सम्बन्धी कच्चे माल के उत्पादन में कमी आ गई है। १९५०-५१ में खाद्यान्न का उत्पादन ५०० लाख टन हुआ, जबकि १९४९-५० में इसका उत्पादन ५४० लाख टन हुआ था। कृषि-सम्बन्धी कच्चे मालों की उत्पादन-प्रवृत्ति

थोड़ी भिन्न थी। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के तुरन्त बाद उत्पादन में कमी आ गई, किन्तु तत्पश्चात् उसमें फिर वृद्धि हो गई। १६४८-४६ में तिलहन का उत्पान ४५ लाख टन, कपास का १७ लाख ७० हजार गाँठों और कच्चे जूट का २० लाख ७० हजार गाँठों तक ही घटकर रह गया। गन्ने का उत्पादन भी कम होकर ४८ लाख ७० हजार टन ही रह गया। किन्तु अगले वर्षों में इन कच्चे मालों के उत्पादन में वृद्धि हुई और १६५०-५१ में, जब कि खाद्यान्न का उत्पादन गिरता जा रहा था, उनकी उपज बढ़नी प्रारम्भ हुई।

'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन के बावजूद खाद्यान्न के उत्पादन में कमी आई। बहुत संभव है कि खाद्यान्न उत्पादन के सरकारी आँकड़े बिल्कुल सही न हों। परन्तु इस बात में कोई सन्देह नहीं कि सही आँकड़े चाहे कुछ भी हों, अनेक कारणों से खाद्यान्न का उत्पादन पिछले कुछ वर्षों में काफी गिर गया :

(१) देश के कुछ भागों में सूखा पड़ने और कहीं-कहीं बाढ़ आ जाने से खाद्यान्न के उत्पादन में आंशिक कमी अवश्य हुई है, परन्तु केवल प्रकृति का कोप ही उत्पादन की गिरावट के लिए उत्तरदायी नहीं है।

(२) यह भी सुझाव दिया गया है कि कृषि-सामग्री की ऊँची कीमतें भी कुछ अंश तक कृषि-उत्पादन घटने का कारण हैं। साधारण रूप से अधिक कीमत का अर्थ है अधिक उत्पादन, परन्तु जहाँ तक किसान का सम्बन्ध है आय की लोच (Elasticity) ऋणात्मक (negative) है। इसका तात्पर्य यह है कि किसान कुछ आय चाहता है और जब कीमतें अधिक होती हैं तो वह थोड़ा सा उत्पादन करके उसे प्राप्त कर लेता है, किन्तु जब कीमतें कम होती हैं तो उसे अधिक उत्पादन करना पड़ता है। इसलिये जैसे ही खाद्यान्न की कीमतें बढ़ीं; उसने अपना उत्पादन कम कर दिया। चूँकि कीमतों और उत्पादन के पारस्परिक सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक अध्ययन नहीं किया गया है, इसलिए यह कहना संभव नहीं है कि यह सिद्धान्त भारत में कहाँ तक लागू होता है।

(३) खाद्यान्न के उत्पादन में कमी आने का एक कारण यह भी है कि गन्ने, रुई और जूट की अधिक आवश्यकता होने के कारण खाद्यान्न के उत्पादन में प्रयुक्त भूमि के कुछ भाग में अब व्यवसाई फसलें बोई जाती हैं।

भारत-सरकार के 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन से खाद्यान्न की कमी पूर्ति करने की जो आशा की गई थी, उसमें अधिक सफलता नहीं हुई क्योंकि (अ) इस आन्दोलन में पहले से ही काश्त की जाने वाली जमीन में उत्पादन बढ़ाने की अपेक्षा नयी भूमि को खेती के योग्य बनाने पर अधिक जोर दिया गया। यह एक दीर्घकालीन प्रक्रिया थी और इससे निकट भविष्य में उत्पादन बढ़ाने की

आशा नहीं की जा सकती थी। 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन की नीति में परिवर्तन कर अन्न अल्पकालीन योजनाओं पर जोर दिया गया है, जिसके अन्तर्गत खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए बीज और खाद दी जाती है और साथ ही साथ सिंचाई की भी व्यवस्था की जाती है। आरंभ में यह आन्दोलन देश के उन भागों में चलाया गया था जहाँ सिंचाई की सुविधाएँ नहीं थीं और इसलिए सन्तोषजनक परिणाम नहीं निकले। बाद की नीति बदल दी गई और योजनाओं को उन्हीं स्थलों पर चलाया गया है जहाँ सिंचाई की सुविधा पहले ही से थी या सरलता से आवश्यकतानुसार व्यवस्था की जा सकती थी। इसका परिणाम यह निकला कि 'अधिक अन्न उपजाओ' आन्दोलन में सन्तोषजनक प्रगति हुई; (ब) यह अत्यन्त खेद का विषय है कि 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन का कार्य-भार जिन अधिकारियों को सौंपा गया है वह सदैव ईमानदारी और लगन से कार्य नहीं करते हैं। बहुत सी बातों में काम कुछ नहीं किया जाता, केवल कागजी खाना पूरी कर दी जाती है और बहुत बार ऐसा भी होता है कि जो बीज या खाद आदि किसानों को मिलनी चाहिए थी, उसे या तो बेच दिया गया या उसका रुपया स्वयं रख लिया गया। इस आन्दोलन में या किसी भी नियोजन के अन्तर्गत योजना को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिए एक ऐसे संगठन की आवश्यकता है जो कि सुसंगठित हो और जिसके कर्मचारी पूर्णरूप से ईमानदार हों; (स) किसानों ने भी 'अधिक-अन्न-उपजाओ' आन्दोलन को उतना सहयोग नहीं दिया जितना उनसे आशा की जाती थी।

१९५४-५५ और १९५५-५६ में हुई उत्पादन की थोड़ी सी कमी को छोड़ कर १९५१ के उपरान्त खाद्यान्न के उत्पादन में सन्तोषजनक वृद्धि हुई है। १९५०-५१ में भारत में खाद्यान्न का उत्पादन ५०० लाख टन था जो १९५३-५४ में ६८७ लाख टन हो गया। सबसे अधिक वृद्धि चावल के उत्पादन में हुई और इसके बाद क्रमशः गेहूँ, बाजरा, ज्वार और जौ की उपज बढ़ी। खाद्यान्न के उत्पादन में यह वृद्धि इन कारणों से हुई, (१) मौसम की अनुकूल परिस्थितियाँ, (२) १९५०-५१ में प्रारंभ किए गए संघठित उत्पादन कार्यक्रम (Integrated Production Programme) की सफलता, (३) चावल उत्पन्न करने की जापानी पद्धति का प्रयोग, सिंचाई की अधिक सुविधाएँ और किसानों को आर्थिक सहायता के रूप में रासायनिक खादें (Fertilisers) आदि देना।

१९५४-५५ तथा १९५५-५६ में उत्पादन घटकर क्रमशः ६७१.१ लाख टन तथा ६५२६ लाख टन होने के कारण (i) देश के कुछ भागों में सूखा, (ii) उर्वरक तथा अच्छे बीजों का अभाव तथा (iii) राज्य सरकारों द्वारा प्रयत्नों

में ढिलाई देना था जो अंशतः उनकी लापरवाही तथा अंशतः द्वितीय योजना के खाद्यान्न की उत्पत्ति और कृषि पर अपर्याप्त ध्यान देने के फलस्वरूप हुई। १९५६-५७ में उत्पादन के ६८६.६ लाख टन तक बढ़ जाने के बावजूद भी पिछले दो वर्षों में उत्पादन के गिरने से मूल्य बढ़ गये जिसके फलस्वरूप सामान्य व्यक्ति को बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। खाद्यान्न का आयात, जो १९५१ के ४७ लाख टन के ऊँचे स्तर से घटकर १९५४ में ८ लाख टन तथा १९५५ में ७ लाख टन हो गया था, पुनः १९५६ में बढ़कर १४½ लाख टन तथा १९५७ में ३७ लाख टन हो गया।

कच्चे माल के उत्पादन की स्थिति कुछ भिन्न ही रही है। १९५२-५३ में रुई और जूट का उत्पादन पिछले वर्ष के ही स्तर पर (३२० लाख और ४६० लाख गाँठ क्रमशः) रही पर तिलहन और गन्ने की उपज क्रमशः ४७ लाख टन और ५० लाख टन हो गई। अगले वर्षों में जूट को छोड़कर इन सभी १९५६-५७ में अनुमान किया जाता है कि तिलहन ६० लाख टन, रुई ४७.५ लाख गाँठ जूट ४२.५ लाख गाँठ और गन्ना ६५ लाख टन होगा।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना का ध्येय खाद्यान्न तथा उद्योगों में काम आने वाले कच्चे माल की उत्पत्ति इस दृष्टिकोण से बढ़ाने का था कि (१) देश आत्म निर्भरता प्राप्त कर ले, (२) भारतीय उद्योगों की माँग पूरी हो सके और (३) प्रति व्यक्ति अन्न का उपभोग बढ़ाया जा सके।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के लक्ष्य

वस्तुयें	आधार माने हुये साल में उत्पत्ति	प्रस्तावित अतिरिक्त उत्पत्ति*	१९५५-५६ तक प्राप्त कर लेने का ध्येय	आधार माने हुये वर्ष की तुलना में प्रतिशत वृद्धि
खाद्यान्न	५४० लाख टन	७६ लाख टन	६१६ लाख टन	१४
तिलहन	५१ लाख टन	४ लाख टन	५५ लाख टन	८
गन्ना (गुड़)	५६ लाख टन	७ लाख टन	६३ लाख टन	१३
रुई	२९ लाख गाँठें	१३ लाख गाँठें	४२ लाख गाँठें	४५
जूट	३३ लाख गाँठें	२१ लाख गाँठें	५५ लाख गाँठें	६४

*खाद्यान्नों के लिए आधार वर्ष १९४९-५० है और अन्य के लिये १९५०-५१ है।

खाद्यान्न में प्रस्तावित ७६ लाख टन की वृद्धि में से ४० लाख टन चावल, २० लाख टन गेहूँ, १० लाख टन चना और अन्य दालें और ५ लाख टन में अन्य अन्न हैं। जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। उपज ६५० लाख टन हुई। (बजाय ६१६ लाख टन के जो कि लक्ष्य था) गेहूँ, चना और दालों के उपज की मात्रा प्रस्तावित लक्ष्य से अधिक बढ़ गई है परन्तु चावल की उपज पिछले वर्ष में बढ़ने के पश्चात् १६५४-५५ में बाढ़ आदि प्राकृतिक विपत्तियों के कारण घट गई। यह कमी संसार के सभी चावल उत्पन्न करने वाले देशों में हुई थी। पर १६५५-५६ में फिर उत्पत्ति कुछ बढ़ी। व्यवसायिक फसलों में से तिलहन और रुई की उत्पत्ति योजना के अनुकूल बढ़ी पर जूट और गन्ने की उपज में कमी हुई।

प्रथम योजना के काल में अन्न की उत्पत्ति में वृद्धि सिंचाई की सुविधाओं के बढ़ने, खाद के प्रयोग में आधिक्य और बेकार भूमि को खेती के काम में लाने के लिये फिर से अधिकृत करने के कारण हुई, परन्तु यह बता सकना कठिन होगा कि किस कारण से कितनी वृद्धि हुई है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—यद्यपि द्वितीय योजना में उद्योगों को विशेष महत्व दिया गया है पर कृषि के प्रति उदासीनता नहीं दिखाई गई है। द्वितीय योजना में इस बात पर ध्यान रक्खा गया है कि प्रथम योजना के कार्य में विकास हो और कृषि उत्पत्ति तथा कच्चे माल की उत्पत्ति में हमारा देश यथासम्भव आत्मनिर्भर हो जाय। दूसरे, यह अब अच्छी तरह समझ में आ गया है कि खेती का क्षेत्रफल बढ़ा लेने मात्र से ही उत्पत्ति में आवश्यक वृद्धि न हो सकेगी। अन्त में यद्यपि खाद्यान्न की वृद्धि पर विशेष ध्यान दिया गया है पर दूसरी योजना में उन वस्तुओं की संख्या काफी बड़ी है जिनकी उत्पत्ति बढ़ाने का ध्येय है। ऐसी वस्तुओं में चाय, काली मिर्च, लाख, नारियल, वृक्षफल, सुपाड़ी भी सम्मिलित हैं। इससे भारतीय किसानों की उन्नति में स्थिरता और विदेशी विनिमय से अधिक आय प्राप्त होगी।

यदि वर्तमान दर से ही अन्न का उपभोग चलता रहे तो योजना आयोग के अनुसार बढ़ी हुई जनसंख्या को ७०५ लाख टन अन्न की आवश्यकता होगी परन्तु प्रति व्यक्ति अन्न का उपयोग १८·३ औंस प्रतिदिन कर देने का विचार है, इसलिये कुल अन्न की आवश्यकता ७५० लाख टन होगी। इसी आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १६६०-६१ तक १०० लाख मन की उपज बढ़ाने का निश्चय किया गया। अन्न की इस वृद्धि में चावल की ३० से ४० लाख टन, गेहूँ की २० से ३० लाख टन, और अन्य अन्नों की २० से ३० लाख टन और दालों की १५ से २० लाख टन वृद्धि सोची गई है। बाद में ऐसा प्रतीत हुआ कि खाद्यान्न के

उत्पादन की यह वृद्धि पर्याप्त नहीं होगी और इसीलिये लक्ष्य बढ़ाकर ८०४ लाख टन कर दिया गया जो १९५५-५६ की तुलना में २४½% अधिक है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कुछ संशोधित कृषि उत्पादन लक्ष्य

वस्तु	१९५५-५६ में उत्पत्ति अनुमानित	प्रस्तावित अतिरिक्त उत्पत्ति	१९६०-६१ तक वृद्धि करने की मात्रा का ध्येय	प्रतिशत
खाद्यान्न	६५० लाख टन	१०० लाख टन	८०४ लाख टन	२४.६
तिलहन	५५ लाख टन	१५ लाख टन	७६ लाख टन	३७.०
गन्ना (गुड़)	५८ लाख टन	१३ लाख टन	७८ लाख टन	३३.६
रुई	४२ लाख गाँठ	१३ लाख गाँठ	६५ लाख गाँठ	५५.६
जूट	४० लाख गाँठ	१० लाख गाँठ	५५ लाख गाँठ	५८.१
अन्य फसलें	...	...	...	२२.४
सब वस्तुयें	...	...	...	२७.८

संशोधित लक्ष्यों के अन्तर्गत व्यवसायिक फसलों के सम्बन्ध में यह प्रस्तावित है कि कपास की उत्पत्ति ४२ लाख गाँठों से बढ़ाकर ६५ लाख गाँठ, जूट की उत्पत्ति ४० लाख गाँठों से बढ़ाकर ५५ लाख गाँठ, गन्ना (गुड़) की उत्पत्ति ५८ लाख टन से बढ़ाकर ७८ लाख टन, तथा प्रमुख तिलहनों की उत्पत्ति ५५ लाख टन से बढ़ाकर ७६ लाख टन की जाय। अन्य कृषि फसलों के सम्बन्ध में, आधार वर्ष की तुलना में ६ प्रतिशत वृद्धि प्रस्तावित थी जो अब बढ़ाकर २२½ प्रतिशत कर दी गई है। द्वितीय योजना की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि (i) प्रथम पंचवर्षीय योजना में रुई की खेती के विकास के सम्बन्ध में जो कार्य क्रम आरम्भ किया गया था वह जारी रक्खा जायगा। दूसरी योजना के अन्तर्गत मुख्य बात इस सम्बन्ध में यह होगी कि लम्बे रेशे वाली रुई के उत्पादन पर विशेष जोर दिया जायगा। लम्बे रेशे की रुई के उत्पादन में काफी उन्नति की गई है। (ii) जूट की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जोर इस बात पर दिया रहा है कि जूट की किस्म अच्छी की

जाय न कि केवल उत्पत्ति की मात्रा ही। यदि सभी मिलें भरपूर काम करें तो उन्हें लगभग ७२ लाख जूट की गाँठों की आवश्यकता होगी। इसके अतिरिक्त १५०,००० गाँठें अन्य कामों के लिये चाहिये। (iii) गन्ने अथवा गुड़ का उत्पादन बढ़ा देने पर यह सम्भव हो सकेगा कि प्रति वयस्क प्रतिदिन १·७२ औंस का उपयोग कर सकेगा। (iv) ऋतु की गड़बड़ी के कारण तम्बाकू की इधर कई वर्षों से उपज बड़े निम्नकोटि की हुई है जिसके कारण उसकी बिक्री में बड़ी बाधा पड़ी। इससे गोदामों में तम्बाकू के स्टाक के पड़े रह जाने के कारण उसका मूल्य गिर गया। इसलिये द्वितीत योजना में उच्चतर कोटि की तम्बाकू के उत्पादन पर जोर दिया गया है, न कि उत्पादन के मात्रा की वृद्धि पर।

खाद्यान्न नीति

मूल्य नीति—खाद्यान्न के सम्बन्ध में सरकार की नीति है कि (१) भारत को खाद्यान्न के सम्बन्ध में स्वावललम्बी बनाया जाय, (२) जब तक अभाव की स्थिति रहती है तब तक खाद्यान्न के मूल्यों और वितरण पर नियंत्रण रखा जाय, जिससे उपभोक्ताओं की कठिनाई दूर हो और जहाँ तक संभव हो देश के सभी भागों में समान आधार पर सभी को खाद्यान्न मिल सके, और (३) किसान को उसके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके।

पंचवर्षीय योजना में यह ठीक ही कहा गया है कि "मूल्य के बढ़ने-घटने में खाद्यान्न पर प्रमुख रूप से प्रभाव पड़ता है। यदि मूल्य पर नियंत्रण रखना है तो यह आवश्यक है कि खाद्यान्न का भाव ऐसे स्तर रखा जाय जो देश को गरीब जनता की पहुँच के बाहर न हो। भारत का वर्तमान स्थिति में यदि खाद्यान्न की पूर्ति में थोड़ी भी कमी आई, तो भाव अपेक्षाकृत अधिक चढ़ जायेंगे। खाद्यान्न का भाव बढ़ जाने से रहन-सहन का खर्च बढ़ जाता है और उत्पादन व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। इसलिए ऐसी नीति जिससे सभी ओर भाव बढ़ जाये और रुपया लगाने का कार्यक्रम ही ठप हो जाय, उत्पादक के लिए किसी भी रूप में लाभदाक नहीं है। इस कारण खाद्यान्न नीति निर्धारित करते समय इन सभी बातों पर विचार करना आवश्यक है।" आश्चर्य की बात है कि योजना आयोग द्वारा इस सही सिद्धान्त का प्रतिपादन किए जाने के बाद भी भारत-सरकार की नीति इसके बिल्कुल विपरीत है। खाद्यान्न के भाव ऊँचे रखे गए हैं, जिससे उपभोक्ताओं को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा और उद्योगों के उत्पादन-व्यय में भी वृद्धि हुई। खाद्यान्न ऊँचे भावों के समर्थन में यह कहा गया है कि (१) यदि खाद्यान्न के भाव गिराए जायें तो किसान खाद्यान्न के स्थान पर गन्ना, कपास और जूट बोयेगा, जिनके भाव अपेक्षाकृत अधिक ऊँचे हैं। किसान स्वभा-

न्ततः ही इन ऊँची कीमतों की ओर आकृष्ट होगा; और (२) खाद्यान्न के भाव केवल भारत में ही ऊँचे नहीं है, बल्कि यह स्थिति सारे विश्व में है। जब तक विश्व के अन्य देशों में खाद्यान्न के भाव नहीं गिरते हैं, तब तक देश में खाद्यान्न का अभाव होने के कारण भाव कम नहीं किए जा सकते हैं।

इन तर्कों में सत्य का अंश बहुत अधिक नहीं है। प्रथम तर्क के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य बात है कि गन्ने, कपास और जूट की कीमत अधिक इसलिये है क्योंकि सरकार ने इनकी कीमत ऊँची दर पर निश्चित कर रखी है। यदि आरंभ से ही व्यवसायी फसलों और खाद्यान्न के मूल्यों में कुछ सम्बन्ध निश्चित किया गया होता तो इस प्रकार की गड़बड़ी कभी नहीं होती। जैसा कि पहले कहा जा चुका है कृषिसामग्री के सम्बन्ध में मूल्य और उत्पादन में उल्टा सम्बन्ध होता है। यदि व्यवसायी-फसल और खाद्यान्न दोनों के मूल्य कम रखे जाते तो दोनों के उत्पादन में वृद्धि होती। परन्तु सरकार द्वारा व्यवसायी-फसल का भाव ऊँचा कर दिए जाने से सारी स्थिति ही बदल गई और काफी क्षति पहुँची। इसका अब एक यह उपाय है कि कपास, जूट, गन्ने इत्यादि के मूल्य कम किए जायें। इससे दो लाभ होंगे: (१) उद्योगों का उत्पादन व्यय कम होगा और (२) खाद्यान्न के भाव घट जायेंगे। जहाँ तक दूसरे तर्क का सम्बन्ध है, भारत में खाद्यान्न का भाव इसलिए ऊँचा नहीं है कि विश्व के बाजारों के भाव भी ऊँचे हैं। उसका कारण तो यह है कि भारत का उत्पादन बहुत कम है। कुछ समय पूर्व भारत में खाद्यान्न का भाव विश्व-बाजार के भाव की अपेक्षाकृत कहीं अधिक था। यदि यह तर्क सही है तो उस समय भारतीय कीमतों को इतना ऊँचा नहीं होना चाहिए था। भारत में ऊँची कीमतों की समस्या केवल दो उपायों से हल की जा सकती है—या तो उत्पादन बढ़ाया जाय अथवा आयात में वृद्धि की जाय। क्योंकि अधिक व्यय होने के कारण खाद्यान्न का अधिक आयात कर सकना संभव नहीं है, इसलिए सबसे उपयुक्त विधि यही है कि देश में उत्पादन की वृद्धि की जाय। यदि खाद्यान्न और व्यवसायी फसलों के लिए प्रयुक्त भूमि में प्रति एकड़ का उत्पादन बढ़ाया जाय, तो दोनों फसलों का उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि एक फसल बोई जाने वाली जमीन पर दूसरी फसल बोई जाय। सिंचाई की व्यवस्था, अच्छे बीज और अधिक खाद के द्वारा प्रति एकड़ उत्पादन बढ़ा सकना संभव है।

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सबसे पहले १९५४ के मध्य में सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया गया कि वह ऐसी नीति कार्यान्वित करे जिससे 'किसानों को उनके उत्पादन का उचित मूल्य प्राप्त हो सके'। पिछले वर्षों में खाद्यान्न के मूल्य अधिक थे और सरकार उन्हें नियन्त्रित करने में प्रयत्नशील थी।

किन्तु जब जुलाई १९५४ में नई फसल तैयार होकर बाजार में आई, तो पंजाब में गेहूँ का भाव १० रुपए प्रति मन से भी कम हो गया। हापुड़ आदि उत्तर-प्रदेश की भी कुछ मंडियों में गेहूँ लगभग १० रुपया प्रति मन के हिसाब से बिकने लगा। मूल्यों में यह गिरावट इसलिए आई कि (१) गेहूँ उत्पन्न करने वाले अधिकांश क्षेत्रों में पिछले वर्षों की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हुआ, (२) क्रय-शक्ति कम हो जाने के कारण बहुत से लोगों ने गेहूँ का उपयोग करना बन्द कर दिया, जिसके फलस्वरूप उसकी माँग में कमी आ गई, (३) यातायात के साधनों की अधिक सुविधाएँ प्राप्त न होने के कारण यह संभव न था कि जिन क्षेत्रों में गेहूँ का उत्पादन होता है वहाँ से वह उन केन्द्रों को शीघ्रतापूर्वक भेजा जा सके जहाँ उसकी खपत होती है। फलतः मंडियो में उसका भाव गिर गया, और (४) जिन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने गेहूँ के भाव को गिराने में सहायता दी, उनके पीछे एक मनोवैज्ञानिक कारण भी था और वह यह कि विश्व भर में गेहूँ की पूर्ति बढ़ गई थी और उसके मूल्य में कमी आ गई थी। इस संकट को दूर करने के लिए पंजाब सरकार ने स्वयं १० रुपया प्रति मन के हिसाब से कुछ गेहूँ खरीदा। उत्तर-प्रदेश सरकार भी ऐसा ही करने के लिए तैयार थी, किन्तु कालान्तर में मूल्यों में वृद्धि हो जाने पर सरकार ने गेहूँ खरीदना अनावश्यक समझा। जब कि गेहूँ और चने के मूल्य में अत्यधिक नीचे गिरने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ने लगी तब चुनी हुई वस्तुओं के मूल्यों की सहायता देने की नीति (Selective price support policy) का अनुसरण किया गया और अप्रैल १९५५ में गेहूँ, जून में चना और अगस्त में चावल इसके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये। जुलाई १९५५ से खाद्यान्नों के मूल्य अधिकार के बाहर जाने लगे क्योंकि बाढ़ आदि प्राकृतिक प्रकोपों के कारण खरीफ की फसल बिलकुल नष्ट हो गयी थी। सरकार की मूल्य स्थिर रखने की नीति के कारण थोड़े समय के लिये अन्न की पूर्ति में कमी आ गयी और जनता की धारणा कुछ ऐसी हो गई कि मूल्य बढ़ गया।

यदि खाद्यान्न या उद्योगों में प्रयुक्त होने वाले कच्चे मालों के मूल्यों के एक निश्चित सीमा से अधिक कमी हो जाय, तो उनका सरकार द्वारा खरीदना उसी सीमा तक उचित होगा जहाँ तक उससे किसानों का भला होता है, क्योंकि उनके हितों को सुरक्षित रखना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना श्रमिकों या उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करना। किन्तु इस नीति से कई हानियाँ हैं : (१) यदि मूल्य बराबर गिरते गए तो सरकार को भारी क्षति उठानी पड़ जायगी, (२) संभव है कि सरकार जमा किए हुए गल्ले को बेच न सके और उसे पर्याप्त समय तक स्टाक में ही रखना पड़ेगा, और (३) यदि सरकार किसी अनाज को एक ही भाव पर

बेचने के लिए जोर देती है तो सामान्य मूल्य स्तर में कृत्रिमता उत्पन्न हो जायगी। यदि कृषि सम्बन्धी उत्पादन का मूल्य गिर जाता है तो इसके फलस्वरूप अन्य कीमतों में भी कमी आ जायगी। इस प्रकार क्रय-शक्ति में वृद्धि हो जाने के कारण किसानों को तो लाभ होगा ही, उसके अतिरिक्त सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था भी लाभान्वित होगी क्योंकि खाद्यान्न की कीमतों के गिर जाने से सामान्य मूल्य-स्तर निश्चित रूप से कम हो जायगा।

नियन्त्रण (Controls)—सरकार की खाद्यान्न तथा अन्य सामग्रियों पर नियन्त्रण लगाने की नीति की उपयोगिता पर बहुत विवाद चला था। नियंत्रण लगाने का समर्थन करते हुए कहा गया है कि (१) गरीब जनता की कठिनाइयों को दूर करने के लिए और अभाव ग्रस्त क्षेत्रों को खाद्यान्न भेजते रहने के लिए सरकार द्वारा नियंत्रण लगाना आवश्यक है। नियंत्रण न लगाने से खाद्यान्न की कीमतें बढ़ेंगी और इससे निर्धन जनता को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा, (२) योजना की सफलता के लिए नियंत्रण आवश्यक है, क्योंकि नियोजन और विनियन्त्रण (De-control) साथ-साथ नहीं चल सकते हैं। किन्तु इन तर्कों में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि स्वयं नियंत्रण लगाने से ही अभाव की स्थिति पैदा हो जाती है। यदि नियंत्रण हटा दिया जाय तो बहुत संभव है कि गल्ले इत्यादि के छिपाकर रखे गए स्टाक खुले बाजार में आने लगें और उनके वितरण में सुधार हो जाय जिसके फलस्वरूप अभाव की स्थिति भी दूर हो जाय। चूँकि खाद्यान्न के सही आँकड़े प्राप्त नहीं है, इसलिए की कमी की मात्रा का ठीक पता चला सकना कठिन है। यह कहा गया है कि जिन अधिकारियों पर खाद्यान्न-नियंत्रण लागू करने का उत्तरदायित्व है वह अभाव को आवश्यकता से अधिक आँकते हैं जिससे वह काफी समय तक उस पद पर कार्य कर सकें। यदि नियंत्रण हटा दिया जायगा तो यह कृत्रिम स्थिति स्वयं दूर हो जायगी। जहां तक नियोजन का प्रश्न है, यह सच है कि विदेशी व्यापार और विदेशी पूँजी पर कुछ सीमा तक नियंत्रण रखना आवश्यक है, परन्तु यही तर्क खाद्यान्न-नियंत्रण पर लागू नहीं किया जा सकता है, क्योंकि योजना को कार्यान्वित करने के लिए यह अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इस तर्क का कोई महत्व नहीं है कि योजना की सफलता के लिए नियंत्रण का होना आवश्यक है।

यदि नियंत्रण कुशलता पूर्वक लागू किए जाते और उनको प्रभावशाली बनाने के लिए कड़े उपायों को अपनाया जाता तो स्थिति में सुधार होना संभव था, परन्तु भारत में नियंत्रण जितनी अधिक कठिनाइयाँ हल नहीं कर पाते उससे कहीं अधिक कठिनाइयाँ पैदा कर देते हैं। उपभोक्ताओं, व्यापारियों और दुकान-

द्वारा सभी को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। यदि नियंत्रण लागू न हो तो विशेष हानि नहीं होती है, परन्तु यदि लागू करके भी उनका कुशलता पूर्वक सचालन न किया जाय तो सुविधा की अपेक्षा कष्ट अधिक बढ़ जाता है और हानि भी होती है। यदि इस प्रकार के नियंत्रण को हटा दिया जाय तो निश्चय ही स्थिति में सुधार होगा। फिर जब तक नियंत्रण लागू रहेगा, देश की आर्थिक व्यवस्था अपने सामान्य स्तर पर नहीं आ सकती है। सामग्री नियंत्रण समिति[1] (Commodity Controls Committee) ने इस बात की ओर ध्यान दिया और यह बताया कि "खाद्यान्न में अब भी कमी बनी हुई है। इसलिए जब तक यातायात सम्बन्धी कठिनाइयाँ हैं और प्राकृतिक विपत्तियों के फलस्वरूप दुर्भिक्ष पड़ने की संभावना बनी हुई है तब तक खाद्यान्न की अनुभूति व उपलब्धि से सम्बन्धित आदेश (Foodgrains Licensing and Procurement Order, 1952) व अन्य पूरक आदेशों का पालन किया जाना अनिवार्य है"। जैसा कि बाद की स्थिति से ज्ञात होता है, नियंत्रण ने स्वयं ही खाद्यान्न का अभाव उत्पन्न कर दिया था। यद्यपि सामग्री नियंत्रण समिति व अन्य लोगों का विचार था कि वर्तमान परिस्थिति में नियंत्रण हटाना संभव नहीं होगा, किन्तु उसे हटा देने से खाद्यान्न की स्थिति निश्चित रूप से सुधर गई है।

भारत के उस समय खाद्य-मन्त्री स्वर्गीय श्री रफी अहमद किदवई की यह धारणा थी कि खाद्यान्न का नियंत्रण कर देने से स्थिति सुधर जायगी। उन्होंने मई १९५२ को अपने एक सार्वजनिक भाषण में कहा कि जिन राज्यों में खाद्यान्न का उत्पादन उनकी आवश्यकता से अधिक हो रहा है वहाँ से नियंत्रण हट जाना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा कि जिन दो तीन राज्यों के अन्तर्गत देहातों में भी राशनिङ्ग (Rationing) है, वह भी हटा लेना चाहिये। किदवई साहब की इस धारणा का सरकारी और गैर सरकारी दोनों ही क्षेत्रों में विरोध किया गया। किन्तु इस सम्बन्ध में श्री सी० राजगोपालाचारी ने श्रीगणेश किया और २६ जून १९५२ को मद्रास से खाद्यान्न नियंत्रण हटा लिया। यह विनियन्त्रण की दिशा में पहला कदम था। कुछ प्रारम्भिक कठिनाइयाँ अवश्य हुई, किन्तु खाद्यान्न विनियन्त्रण में पर्याप्त सफलता मिली। उत्तर प्रदेश, बिहार आदि कई राज्यों ने मद्रास का

---

१. सामग्री नियंत्रण समिति की नियुक्ति २४ अक्टूबर १९५२ को काउन्सिल ऑव स्टेट्स के उपसभापति श्री एस० वी० कृष्णमूर्ति राव की अध्यक्षता में की गई थी। इस समिति ने खाद्यान्न का विनियंत्रण प्रारंभ होने के थोड़ा पहिले ही २० जुलाई १९५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार को दी थी।

अनुसरण किया और सितम्बर १९५२ तक यह विनियन्त्रण ६ राज्यों में लागू हो गया। धीरे-धीरे यह जोर पकड़ता गया और १९५३ तक केन्द्र व राज्य सरकारों ने खाद्यान्न के वितरण और उसके मूल्य पर से नियन्त्रण हटाने का काम बिल्कुल पूरा कर लिया ज्वार, बाजरा, मक्का, जौ जैसे मोटे अनाजों पर से १ जनवरी १९५४ को नियन्त्रण हटा लिया गया; इसके साथ ही इन मोटे अनाजों का एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने पर जो प्रतिबन्ध था वह सौराष्ट्र, मध्यभारत और उत्तर-प्रदेश के ११ जिलों को छोड़कर सभी जगहों से हट गया। बाद को यह प्रतिबन्ध भी हटा लिया गया। चावल का विनियन्त्रण १० जुलाई १९५४ से लागू किया गया। उसे एक राज्य से दूसरे राज्य में ले जाने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रहा है और अब देश के सभी भागों में उसका व्यापार स्वतन्त्रतापूर्वक किया जा सकता है। अभी तक चावल अनिवार्य रूप से प्राप्त करना पड़ता था, किन्तु विनियन्त्रण लागू होने से यह प्रक्रिया समाप्त हो गई है। इसके अतिरिक्त चावल के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण भी बन्द हो गया है।

"जिस क्रमिक विनियन्त्रण (Gradual de-control) को राजा जी १९५२ में प्रारम्भ किया था, वह चावल का पूर्ण विनियन्त्रण हो जाने के उपरान्त अपनी चरमावस्था पर पहुँच गया"। अंतर-प्रदेशीय प्रतिबन्ध जो गेहूँ के एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने के सम्बन्ध में लागू किया गया था वह नियंत्रण का अंतिम रूप था और १८ मार्च १९५५ से वह भी उठा लिया गया। इससे १० वर्ष तक लागू नियन्त्रण का अंत हो गया।

विनियन्त्रण के समर्थकों ने यह आशा दिला रखी थी कि खाद्यान्न-नियन्त्रण के फलस्वरूप अकाल, खाद्यान्न के सम्बन्ध में स्थानीय अभाव (Local scarcity) और अन्य आपत्तियाँ उत्पन्न हो जायँगी, किन्तु भाग्यवश ऐसा कुछ भी घटित नहीं हुआ। सच बात तो यह है कि खाद्यान्न नियन्त्रण के कारण अन्न के अभाव की कृत्रिम परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं थीं और जिन अधिकारियों को खाद्यान्न-नियन्त्रण का कार्य-भार सौंपा गया था, स्वार्थरत होकर अपना हित साध रहे थे। नियन्त्रण हट जाने से (१) खाद्यान्न का अभाव होने की जो मनःस्थिति बन गई थी वह दूर हो गई। इसके अतिरिक्त मुनाफा खोरी और चोरबाजारी का भी अन्त हुआ, (२) देश में खाद्यान्न के वितरण की स्थिति सुधर गई, (३) खाद्यान्न का भाव कम हो गया जिसके फलस्वरूप लोगों के रहन-सहन की लागत घटी और किसानों को भी अधिक उत्पादन करने में प्रवृत्त होना पड़ा, जिससे वे उतनी आय का उपार्जन कर सकें जो उन्हें पहले प्राप्त हो रही थी, (४) केन्द्र व राज्य सरकारों के द्वारा खाद्यान्न नियन्त्रण व राशनिङ्ग पर जो व्यय होता था उसमें

कमी आ गई। विनियन्त्रण से यदि कोई हानि हुई है तो यही कि खाद्यान्न नियन्त्रण और राशनिङ्ग विभाग के कर्मचारी बहुत बड़ी संख्या में बेरोजगार हो गये और मुनाफाखोरों व चोरबाजारी करने वालों की आय का एक बहुत बड़ा साधन छिन गया।

खाद्य स्थिति बिगड़ते जाने के फलस्वरूप १९५६ में चावल तथा गेहूँ के मण्डल (zone) निश्चित करके, उचित मूल्य पर बेचने वाली दूकानों द्वारा बिक्री करके तथा खाद्यान्न के व्यापार एवम् लाने-ले जाने पर प्रतिबन्ध लगा कर सीमित नियंत्रण फिर से लागू किया गया। सरकारी अधिकारियों का एक वर्ग पूर्ण नियंत्रण के पक्ष में है तथा योजना आयोग के अर्थशास्त्रियों ने भी इस विचार का समर्थन किया। किन्तु, जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं, खाद्यान्न जाँच कमेटी के नियंत्रण के विरुद्ध सिफारिश की।

अध्याय ६

जमींदारी उन्मूलन

आर्थिक दृष्टि से जमींदारी उन्मूलन का विशेष महत्त्व है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की आर्थिक नीति का यह सदैव महत्वपूर्ण आधार रहा है। विशेषज्ञों की अनेक समितियों ने भी समय-समय पर जमींदारी का उन्मूलन करने की सिफारिश की। १९४७ में भारत को स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् कांग्रेस सरकार ने जमींदारी उन्मूलन को अपने आर्थिक कार्य-क्रम का महत्वपूर्ण अंग बना लिया और धीरे-धीरे सभी राज्यों में इस नीति को लागू किया है। बहुत से राज्यों ने, जहाँ जमींदारी या इसी के अनुरूप कोई अन्य प्रथा प्रचलित थी, इन विशेषाधिकारों का उन्मूलन करने के लिए कानून बनाए हैं और उत्तर प्रदेश तथा विहार ने तो जमींदारी का उन्मूलन कर उन पर अपना कब्जा भी कर लिया है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन सरकारों ने मुआवजा देकर जमींदारी-उन्मूलन करने की नीति अपनाई है अर्थात् सरकार ने जमींदार को उसकी जमीन के वदले उपयुक्त मुआवजा (Compensation) दिया है। ३१ मार्च १९५६ तक जमींदारी प्रथा उन्मूलन हो गया तथा ४.३९ करोड़ एकड़ अथवा राज्य की ६६.८ प्रतिशत कृषि जोतों पर भूमि सुधार के उपाय लागू किये गये।

उन्मूलन के पक्ष में तर्क—जमींदारी उन्मूलन करने के समर्थन में अनेक तर्क दिए गए हैं। यह कहा गया है कि जमींदार किसानो का शोषक (Parasite) है और उसने अपने कब्जे की जमीन में कुछ सुधार नहीं किया, भूमि की चकबन्दी (Consolidation of holding) करने में सदैव रुकावट डाली है और किसान को जो जमीन जोतता बोता हैं भूमि सुधार के लिये अपनी अनुमति नहीं दी है। यदि जमींदार को हटा दिया जाय तो भूमि में सुधार किया जा सकेगा, खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि होगी और भूमि सुधार योजना को कार्यान्वित किया जा सकेगा जिसकी बहुत समय से आवश्यकता अनुभव की जा रही है। यह तर्क बहुत अंशों में सही है, फिर भी इस तथ्य को टाला नहीं जा सकता है कि कुछ ऐसी कठिनाइयाँ हैं जिन पर जमींदार का वश नहीं है और यदि वह वश में रखना भी चाहे तो सफल नहीं हो सकता।

जमींदारी उन्मूलन का समर्थन करते हुए यह भी कहा गया है कि इससे राज्य की भू-राजस्व (Land revenue) आय बढ़ेगी। यह तर्क बिल्कुल सही है

क्योंकि १९५१-५२ में राज्यों की भू-राजस्व से आय ४७·९९ करोड़ रुपये थी जो बढ़कर १९५७-५८ में (बजट के अनुसार) ९२·५४ करोड़ रुपये हो जायगी। इससे राज्य सरकारें मुआवजे की किश्त चुकाने के बाद अपनी भूमि सुधार तथा ग्राम-पुनर्निर्माण (Rural reconstruction) योजनाओं को लागू कर सकेंगी। परिणामस्वरूप देश के प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि होगी और किसान की स्थिति में सुधार हो सकेगा।

जमींदारी उन्मूलन का प्रश्न आर्थिक होने के साथ ही राजनैतिक भी बताया गया है। देश के मतदाताओं में किसानों की संख्या बहुत अधिक है। किसान वर्तमान स्थिति से बहुत असन्तुष्ट हैं और उनका विचार है कि उनको इस दयनीय स्थिति तक पहुँचाने के लिए केवल जमींदार ही उत्तरदायी हैं। यह सर्वविदित है कि जनतंत्र प्रणाली में बहुमत का निर्णय ही मान्य होता है चाहे उनका दृष्टिकोण कुछ भी हो। इसलिए किसानों के असन्तोष को कम करके उनका मत अनुकूल करने के लिए जमींदारी उन्मूलन को एक साधन बनाया गया है। पिछले बैर-भाव की प्रतिक्रिया के रूप में किसान भविष्य में लागू की जाने वाली किसी भी भूमि सुधार योजना में जमींदारों के साथ सहयोग नहीं करेंगे इसलिए भूमि सुधार योजनाएँ तभी सफल हो सकती हैं जब किसानों तथा राज्य सरकार के मध्यस्तों का उन्मूलन कर दिया जाय।

जमींदारी उन्मूलन के विरुद्ध तर्क—जमींदारी उन्मूलन के विरोध में भी अनेक तर्क दिये गये हैं परन्तु उनमें जान नहीं है। यह कहा गया है कि जमींदार के उन्मूलन से बहुत बड़ी संख्या में लोग बेरोजगार हो जायेंगे, जैसे, जमींदार, उनके जिलेदार, कारिन्दे इत्यादि। इससे केवल जमींदारी की आय पर निर्भर करने वाला वर्ग बहुत कठिनाइयों में पड़ जायगा। परन्तु इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि किसी भी परिवर्तन के साथ कुछ कठिनाई और अव्यवस्था का होना जरूरी है और इस कठिनाई तथा अव्यवस्था से डरकर परिवर्तन को रोका नहीं जा सकता है। वास्तव में महत्व तो इस बात का होता है कि परिवर्तन से क्या लाभ होगा अथवा उसका क्या परिणाम होगा। यह सही है कि जमींदारी का उन्मूलन कर देने से जमींदारों को कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा परन्तु इससे किसानों की दशा में सुधार भी होगा और दीर्घकालिक दृष्टिकोण से यह लाभदायक सिद्ध होगा। जमींदारों के कारिन्दे इत्यादि कर्मचारी आरम्भ में बेरोजगार हो जायँगे परन्तु बाद में उन्हें रोजगार मिल सकता है क्योंकि सरकार को लगान वसूल करने के लिए तथा अन्य कार्यों के लिये कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ेगी। जहाँ तक जमींदारों की कठिनाइयों का प्रश्न है

सरकार जमींदारी के बदले उन्हें मुआवजा देगी और उन्हें अपने जीवन निर्वाह के लिये स्वयं अन्य साधनों की खोज करनी चाहिए।

यह भी कहा गया है जमींदारी का उन्मूलन हो जाने से किसान को कई प्रकार से हानि पहुँचेगी। इस समय सामाजिक तथा अन्य कार्यों के लिए जमींदार किसानों को ऋण देता है, लगान वसूली में वह किसान की परिस्थितियों का ध्यान रखता है और उसे अदायगी के लिये समय देता है परन्तु सरकार के कर्मचारी किसान को यह सुविधा नहीं देंगे। केवल जमींदारी का उन्मूलन कर देने से ही भूमि सुधार सम्भव नहीं है; यदि सारी घटनाओं को इसी प्रकार घटित होने दिया जायगा तो देश को लाभ होने की अपेक्षा अधिक हानि होगी। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि किसान की स्थिति में कुछ परिवर्तन अवश्य होगा परन्तु यदि कार्य का सुचारु-रूप से संचालन किया गया तो किसान की दशा और अधिक बिगड़ जाने की कोई सम्भावना नहीं। आवश्यकता पड़ने पर किसान को कम सूद पर ऋण देने के लिये विशेष संस्थाएँ स्थापित की जा सकती हैं। यदि जमींदारी का उन्मूलन न किया गया तो जिस भूमि सुधार की बहुत समय से आवश्यकता अनुभव की जाती रही है वह कभी लागू न हो सकेगा। जमींदारी उन्मूलन से जो अव्यवस्था पैदा होगी उसका सामना करना पड़ेगा और जितना शीघ्र यह हो सके उतना ही अच्छा है। इससे सुधार करने के लिये मार्ग खुल जायगा और कुछ समय तक अस्थायी अव्यवस्था के पश्चात् भूमि का उत्पादन बढ़ेगा; किसान की दशा सुधरेगी और देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ेगी।

उन्मूलन योजना—जमींदारी उन्मूलन कार्य "अस्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्र में अपेक्षाकृत सरल था, जैसे उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश, क्योंकि यहाँ आवश्यक लेखा तथा इस कार्य को करने वाले अधिकारी उपलब्ध थे। स्थायी बन्दोबस्त वाले क्षेत्रों में जैसे बिहार, उड़ीसा और पश्चिमी बंगाल तथा जागीरदारी क्षेत्रों जैसे राजस्थान और सौराष्ट्र में सब लेखा तैयार करना और नये सिरे से अधिकारियों की नियुक्ति आवश्यक थी। जो कुछ भी हो मध्यस्थों को हटा देने के कानून अधिकांश प्रदेशों में लागू कर दिये गये हैं"।

जमींदारी उन्मूलन में साधारणतया निम्न उपायों का प्रयोग किया गया है: (१) वे भूमि के भाग जो परती पड़े थे, जंगल, आबादी के क्षेत्र, आदि जो मध्यस्थों के अधिकार में थे, प्रबन्ध और सुधार के लिये सरकार के अधिकार में दे दिये गये। (२) खुदकाश्त की भूमि तथा निजी फार्म के क्षेत्र, जिनकी देख-रेख स्वयं जमींदार ही करते थे उन्हीं के अधिकार में रहने दिये गये और वे काश्तकार जिन्होंने ऐसी भूमि पट्टे पर जमींदारों से ले रक्खी थी काश्तकार (tenant) की

हैसियत से उन्हीं के अधिकार में छोड़ दी गई। (३) बहुत से राज्यों में प्रधान आसामी जिन्हें मध्यस्थों से सीधे भूमि प्राप्त थी सीधे राज्य की सरकारों से सम्बन्धित कर दिये गये। बम्बई, हैदराबाद और मैसूर में इनामों से प्राप्त भूमि के सम्बन्ध में यह बात नहीं लागू की गई थी। इन प्रदेशों में मध्यस्थों को आसामियों से लेकर कुछ भूमि दी गई। कुछ प्रदेशों में आसामियों को स्थायी तथा हस्तांतरण का अधिकार प्राप्त था, इसलिये अब यह आवश्यक नहीं था कि उन्हें और अधिक अधिकार प्रदान किये जायें। उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर और दिल्ली राज्यों में आसामियों को भूमिधारी अधिकार प्राप्त करने के लिये उसका मूल्य चुकाने का अवसर दिया गया। आन्ध्र, मद्रास, राजस्थान, सौराष्ट्र (खाली क्षेत्र) व मध्य भारत, हैदराबाद (जागीर क्षेत्र) और अजमेर में या तो आसामियों के अधिकार बढ़ा दिये गये अथवा उनका लगान घटा दिया गया और उनसे कोई मूल्य नहीं वसूला गया"।

"मध्यस्थों को दिये जाने वाले मुआवजे और पुनर्वास में सहायता के रूप में दी जाने वाली रकम का अनुमान लगभग ४५० करोड़ रुपया लगाया गया है। इस रकम का ७०% केवल उत्तर प्रदेश और बिहार में दिया जाने वाला मुआवजा है।

मुआवजे का अधिकार—विभिन्न जमींदारी उन्मूलन कानूनों में मुआवजे के विभिन्न आधार दिये गये हैं। आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्य प्रदेश में मुआवजे का आधार भूमि से प्राप्त होने वाली 'वास्तविक आय' (net income) है। उत्तर प्रदेश में यह आधार 'वास्तविक सम्पत्ति' (net assets) और मद्रास में मूलभूत वार्षिक आय' (Basic annual sum) है। वास्तविक आय और वास्तविक सम्पत्ति के आधार लगभग समान ही हैं। जमींदारी की कुल आय में से भूराजस्व उपकर (cess), प्रबन्ध का व्यय, रैय्यत के लाभ के लिये किये गये कार्यों में व्यय और कृषि आयकर इत्यादि घटाकर ही वास्तविक आय (net income) निकाली जाती है। प्रबन्ध और रैय्यत (ryot) के लाभ के लिये किये गए कार्य में जो रकम व्यय की जाती है वह सभी राज्यों में समान नहीं है। वास्तविक आय निश्चित करने के पश्चात् इसी आधार पर मुआवजा निर्धारित किया गया है। मद्रास में 'मूलभूत वार्षिक आय' निकालने के लिए रैय्यतवाड़ी से प्राप्त वार्षिक आय के एक तिहाई भाग में से पाँच प्रतिशत कर्मचारियों पर व्यय करने और वसूली न हो सकने के लिए अलग कर दिया जाता है और ३$\frac{1}{3}$ प्रतिशत सिंचाई व्यवस्था को चलाने के लिये काट लिया जाता है। इससे जो आय शेष रहती है वही 'मूलभूत वार्षिक आय' कहलाती है। यह ढंग अन्य राज्यों से भिन्न है क्योंकि

मुआवजा जमींदार से प्राप्त होने वाली वर्तमान वास्तविक आय पर आधारित न होकर रय्यतवाड़ी प्रथा लागू होने के बाद भू-राजस्व के २५ प्रतिशत पर आधारित होगा।

उत्तर प्रदेश में मुआवजे की दर वास्तविक सम्पत्ति का आठ गुना है। इसके साथ ही जो जमींदार १०,००० रुपये से अधिक भू-राजस्व नहीं देते उनको जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् वास्तविक सम्पत्ति के २० गुने से लेकर एक गुना तक पुनर्वास अनुदान दिए जायँगे। यह अनुदान कम आय वाले जमींदारों के लिये सबसे अधिक गुने होंगे और अधिक आय वालों के लिये क्रमशः कम होते जायँगे मध्यस्थों को दिया जाने वाला मुआवजा तथा पुनर्वास अनुदान का अनुमान क्रमशः ७५ करोड़ रुपया तथा ७० करोड़ रुपया है।

मुआवजे के चुकाने में सबसे अधिक विचारणीय बात यह है कि मुआवजा नकद दिया जाय या बेचे न जा सकने वाले बाण्डों के रूप में। जमींदारों के दृष्टि-कोण से यदि मुआवजा नकद दिया जाता तो सर्वोत्तम होता क्योंकि इससे वह कोई नया कारोबार खोलते या उद्योगों में रुपया लगाते जिससे उन्हें बराबर आय होती रहती। परन्तु मुआवजे की रकम को नकद अदा करना संभव नहीं है क्योंकि राज्य सरकारें इतना अधिक धन नकद देने की व्यवस्था नहीं कर सकती है। उनके पास इसके भुगतान के लिए रुपया नहीं है। उत्तर प्रदेश में जहाँ जमींदार उन्मूलन कोष का निर्माण किया गया है, किसानों को अपने लगान का १० गुना जमा कर भूमिधारी अधिकार लेने को प्रोत्साहित किया जा रहा है फिर भी अभी तक बहुत कम रुपया इकट्ठा हो सका है। मुआवजा बेचे न जा सकने वाले बाण्डों के रूप में दिया गया। परन्तु इस विधि से जमींदार के प्रति पूरा-पूरा न्याय नहीं होता है क्योंकि जमींदारों को उनके मुआवजे की रकम और उस पर ब्याज का भुगतान काफी लम्बे समय में किया जायगा और इस बीच अपना वर्तमान खर्च चलाने में तथा कोई नया कारोबार स्थापित करने में जमींदारों को बहुत कठिनाई होगी।

अन्य प्रणाली—जमींदारी उन्मूलन कर देने से ही सारी समस्या का हल होना संभव नहीं है। यदि इसके बाद भूमि सुधार लागू नहीं किए तो जमींदारी उन्मूलन का लाभ नहीं उठाया जा सकता है। इस विषय में मुख्य समस्याएँ यह हैं : (१) जमींदारी उन्मूलन के बाद भूमि पर अधिकार की व्यवस्था, (२) कृषि के रूप (form of cultivation). और (३) भू-राजस्व वसूल करने के लिए और चरागाह, बँजर जैसी जमीन की देख-रेख करने के लिए सरकार की ओर से निर्धारित उपयुक्त संस्था।

अब तक भूमि सुधार का मुख्य उद्देश्य कृषक को स्वामित्व के अधिकार प्रदान करना था। भूमि के हस्तांतरण के सम्बन्ध में भूस्वामी के अधिकारों पर कुछ प्रतिबन्ध इसलिये रखे गये हैं ताकि जोतें बहुत बड़ी या बहुत छोटी न हो जाँय और भूमि गैर-कृषकों के हाथ न चली जाय। "भूमि सुधार के उपायों के लागू होने के बाद जमींदारी और जागीरदारी क्षेत्रों से अधिकांश कृषकों के भूमि सम्बन्धी स्वामित्व के, अधिकार प्राप्त कर लिये हैं। इस प्रकार मौरुसी रैय्यत (occupancy raiyat), नियत लगान वाले रैय्यत आदि भू-स्वामी बन गये। गैर मौरुसी रैय्यत और रैय्यत के नीचे वाले किसान, सामान्यतः मूल्य चुकाकर ही भूस्वामी बन सकते हैं। यह सब तथा पूर्ववर्ती मध्यस्थ जो अपनी सीर और खुदकाश्त के मालिक बने हुये हैं। अधिकतर राज्य के काश्तकार कहलाते हैं किन्तु वास्तव में वे अपनी भूमि के स्वामी है और उनके अधिकार रैय्यतवारी क्षेत्रों के भू-स्वामियों की तरह ही हैं।"

अधिकांश राज्यों में भूस्वामियों को अपनी भूमि वेचने का अधिकार है यद्यपि इस पर कुछ प्रतिबन्ध अवश्य हैं। उत्तर प्रदेश में भूमि धर, मध्यप्रदेश में भूमि स्वामी और भूमिधारी, बिहार में भू-स्वामी और मौरुसी काश्तकार, पश्चिमी बंगाल में रैय्यत, आसाम में भू-स्वामी, विशेष अधिकार प्राप्त रैय्यत, मौरुसी रैय्यत, लगान या सदैव के लिये निश्चित लगान देने वाले काश्तकार, हैदराबाद और बम्बई में भूमि वाले किसान, पंजाब में भू स्वामी और मौरुसी काश्तकार, उड़ीसा में भू-स्वामी और मौरुसी काश्तकार, पेप्सू में भू-स्वामी, राजस्थान में खातेदार काश्तकार, मध्यभारत में पक्के काश्तकार इत्यादि सभी को अपनी भूमि वेचने के अधिकार प्राप्त हैं। भूमि वेचने पर इस प्रकार के प्रतिबन्ध अवश्य हैं जैसे (अ) किस प्रकार के व्यक्तियों को भूमि वेची जा सकती है (ब) किस सीमा तक भूमि वेची जा सकती है, खरीदी भूमि के लिये अधिकतम सीमा होती है तथा वेचने वाले के पास शेष भूमि के लिये निम्नतम सीमा होती है।"

"अनेक राज्यों में गैर-कृषकों को भूमि वेचने की मनाही है। बम्बई हैदराबाद, मध्यभारत और सौराष्ट्र में कानूनन गैर कृषकों को भूमि वेचने की आज्ञा नहीं है। बम्बई और पश्चिमी बंगाल में अनुमति प्राप्त खरीदारों की प्राथमिकता का क्रम निश्चित है। प्राथमिकता में पहला नम्बर उन काश्तकारों का है जो भूमि पर वास्तव में काबिज हैं। इसके बाद पड़ोसी कृषकों का नम्बर हैं तथा इसी तरह लोगों का क्रम निश्चित है।"

"उत्तरप्रदेश में यद्यपि भूमिधार को अपनी जोतों को वेचने का अधिकार है किन्तु इस पर यह प्रतिबन्ध है कि धार्मिक संस्था के अलावा किसी अन्य

व्यक्ति को बेचने पर खरीदने वाले की जोत ३० एकड़ से अधिक न हो जाय। बम्बई में यह सीमा १२ एकड़ से ४८ एकड़ (जो भूमि की किस्म पर निर्भर है) है। हैदराबाद में यह सीमा परिवारिक जोत की तीन गुनी है। मध्यभारत में यह ५० एकड़, पश्चिमी बंगाल में २५ एकड़ (जिसमें घर से संलग्न खेत नहीं शामिल हैं) दिल्ली में ३० स्टेन्डर्ड एकड़, राजस्थान में ६० असिंचित एकड़ या ३० सिंचित एकड़, आसाम में एक परिवार के लिये १५० बीघा (४६$\frac{2}{3}$ एकड़) तथा सौराष्ट्र में तीन आर्थिक जोत है।"

बम्बई, हैदराबाद और मध्यभारत में ऐसी कोई भूमि नहीं बेची जा सकती जो बेचने वाले की जोत को निर्धारित सीमा से कम कर दे। उदाहरण के लिये बम्बई में कोई भी जोत बेचकर या किसी अन्य प्रकार इस तरह विभाजित नहीं की जा सकती कि उसके (एक गुंटा या चार एकड़ सीमा भूमि पर निर्भर है) टुकड़े हो जाँय। हैदराबाद में एक (स्टेन्डर्ड) निश्चित क्षेत्रफल निर्धारित करने की व्यवस्था किसी भी हालत में भूमि इससे कम क्षेत्रों में नहीं विभाजित की जा सकती। इसी प्रकार मध्य प्रदेश में पक्का काश्तकार अपनी भूमि तभी बेच सकता है जब कि वह अपनी कुल भूमि बेचने से तैयार हो अथवा बेचने के बाद उसके पास ५ सिंचित एकड़ या १५ असिंचित एकड़ भूमि बच रही हो।"

इन सब प्रतिबन्धों के बावजूद भी, अधिकांश राज्यों में जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् कृषकों का भू-स्वामित्व हो जायगा तथा प्रत्येक किसान अपनी ज़मीनें जोतेगा। यदि ऐसा हुआ तो बहुत बड़ी सीमा तक जमींदारी उन्मूलन के लाभ व्यर्थ हो जाँयेंगे। कृषक के पास अपनी भूमि में सुधार करने तथा कृषि के सुधारे हुये ढंगों का प्रयोग करने के लिये साधन नहीं है।

भूमि से उत्पादन की मात्रा तभी बढ़ाई जा सकती है जब बड़े क्षेत्रों में खेती की जाय और आवश्यकता पड़ने पर मशीनों का उपयोग किया जाय। उत्पादन में वृद्धि होने से किसान की आय में भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। उत्तर प्रदेश कानून में दो तरह की सहकारी-कृषि प्रणालियों की व्यवस्था की गई है—(१) ५० एकड़ या अधिक के ऐसे छोटे फार्म जो १० या अधिक किसानों ने स्वेच्छा से समझौता करके बनाए हों और (२) आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त जमीनों को मिलाकर संगठित सहकारी फार्म। यदि दूसरे प्रकार के फार्म के कुल सदस्यों के दो तिहाई यह माँग करते हैं कि इन छोटे फार्मों को मिलाकर एक बड़ा फार्म बनाया जाय तो शेष एक तिहाई को अनिवार्य रूप से यह माँग माननी पड़ेगी। परन्तु इससे समस्या नहीं सुलझ सकती। सहकारी फार्म की प्रणाली लागू करने के लिए काफी परिश्रम करना पड़ेगा।

अध्याय ७

भूमि की चकबन्दी

भारत में भूमि को छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त कर देने से गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गई है। भारत के किसान भूमि के छोटे-छोटे अलग-अलग बिखरे हुए टुकड़ों में खेती करते हैं जिससे खाद्यान्न तथा अन्य सामग्री का उत्पादन कम होता है और किसान की गरीबी बढ़ती जाती है। इसके अनेक कारण हैं जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं, (१) भूमि पर जनसंख्या का दबाव और मौरूसी हक सम्बन्धी कानून। परिवार के प्रधान के मरने पर जमीन उसके पुत्रों तथा अन्य सम्बन्धियों में बाँट दी जाती है। बाँटते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता है कि इन भूमि के छोटे-छोटे हिस्सों से हिस्सेदारों का जीवन-निर्वाह नहीं हो सकेगा, इनमें जो कुछ उत्पादन होगा उससे वह अपना भरण-पोषण नहीं कर सकेंगे। (२) किसान के ऋणी होने तथा अन्य कारणों से भूमि का बिक जाना। भारत के किसान ऋण के बोझ से दब जाने के कारण अपनी जमीन रेहन रख देते हैं और ऋण न चुका सकने पर उस जमीन को ऋणदाता बेच देता है या स्वयं ले लेता है; इससे जो जमीन पहले से ही छोटे-छोटे टुकड़ों में थी अब और अधिक विभक्त हो जाती है। यदि किसान के संयुक्त परिवार के एक सदस्य का हिस्सा ऋण न चुका सकने अथवा अन्य किसी कारण से बेच दिया जाता है तो शेष भूमि कम हो जाती है और जब उसका विभाजन किया जाता है तो वह और छोटे-छोटे टुकड़ों में बँटती जाती है। (३) किसान इस बात से अनभिज्ञ हैं कि भूमि का छोटे-छोटे हिस्सों में बँट जाना बुरा है। यह अनुभव किया गया है कि किसान भूमि की चकबन्दी के लिये शीघ्र तैयार नहीं होता। इसके लिये उसे काफी समझाना पड़ता है और दबाव डालना पड़ता है। भूमि की चकबन्दी से उत्पादन बढ़ता है तथा कृषक की चिंता भी कम हो जाती है इससे हम छोटे-छोटे हिस्सों में विभक्त होने की गम्भीर समस्या को ही हल नहीं कर लेते बल्कि ग्राम योजना में, खेल के मैदान, स्कूल, गढ़े आदि बनाने में भी सहायता मिलती है।

हानियाँ—भूमि का विभाजन और उसका छोटे-छोटे टुकड़ों में बट जाना एक गम्भीर दोष है। इससे अनेक हानियाँ होती हैं : (१) इससे भूमि में सुधार नहीं किया जा सकता। भूमि छोटे टुकड़ों में बँटी होने के कारण किसान अपनी खेती के लिये न कुआँ खोद पाता है, न मशीनों का उपयोग कर पाता है और न

अन्य प्रकार के सुधारों को ही लागू कर पाता है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति नहीं बढ़ने पाती और उत्पादन गिरता जाता है। (२) भूमि के छो-छोटे टुकड़ों में बँटे रहने के कारण बहुत सी जमीन एक हिस्से को दूसरे हिस्से से अलग करने के लिये मेढ़ बाँधने में व्यर्थ नष्ट हो जाती है और भूमि के टुकड़े बिखरे होने के कारण किसान अपनी खेती की अच्छी तरह देख-भाल भी नहीं कर पाता है। इससे फसल में गहरी हानि होने की हमेशा आशंका बनी रहती है। और (३) किसान को एक भाग से दूसरे भाग में आने-जाने में ही बहुत सा समय नष्ट करना पड़ता है।

यह कहा गया है कि भूमि को छोटे-छोटे हिस्सों में बँटे रहने से किसान को लाभ है क्योंकि इससे गाँव के अनेक भागों में प्रत्येक किसान की कुछ न कुछ भूमि रहती है। यदि बाढ़ तथा टिड्डी इत्यादि का संकट आ जाय तो उसकी सारी भूमि नष्ट होने से बच जाती है। यदि एक भाग इस संकट से नष्ट भी हो जाय तो अन्य भाग दूर होने के कारण बचाये जा सकते हैं। दूसरा लाभ यह बताया जाता है कि भूमि के इस प्रकार के बँटवारे से गाँव की अधिकांश जनता के पास भूमि हो जाती है। यदि यह बँटवारा न किया जाय तो बहुत से ग्रामीण बिना भूमि के रह जायँगे। परन्तु ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से पता चलेगा कि यह दोनों लाभ काल्पनिक हैं। ऐसा बहुत कम संभव है कि प्रकृति के कोप से गाँव का एक ही भाग नष्ट हो और शेष भाग बच जाय। यदि कभी ऐसा हुआ भी तो इससे किसान को बहुत कम लाभ होगा; वर्षों से छोटे-छोटे टुकड़ों में खेती करने से किसानों को जो हानि होती है वह इस संभावित लाभ की अपेक्षा कहीं अधिक है। और जहाँ तक भूमि-विहीन मजदूरों का प्रश्न है यह भूमि के बँटवारे या उसे छोटे छोटे हिस्सों में विभक्त करने से हल नहीं किया जा सकता है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि किसान को इस योग्य बनाया जाय कि वह रहन-सहन का एक उचित स्तर बनाये रख सके। कुल परिवार के पास संयुक्त रूप से जितनी भूमि है यदि उसका उसके सदस्यों में विभाजन कर दिया जाय और प्रत्येक सदस्य को कुछ न कुछ भूमि दे दी जाय तो इससे रहन-सहन का उचित स्तर नहीं रखा जा सकता। इन छोटे-छोटे भागों से किसान अच्छी तरह जीवन-निर्वाह कर सकने में असमर्थ होता है। यदि भूमि का इस प्रकार बँटवारा न किया जाता तो शायद वह असमर्थ न होता। भूमि-विहीन मजदूरों की समस्या को हल करने के लिए सरकार को अन्य उपायों से काम लेना पड़ेगा।

यह खेद की बात है कि भूमि के बँटवारे और उसके छोटे-छोटे भागों में विभक्त हो जाने की गम्भीर समस्या के सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना उपलब्ध

नहीं है। कृषि सम्बन्धी रायल कमीशन (Royal Commission on Agriculture) की रिपोर्ट से केवल यह सूचना मिलती है कि विभिन्न राज्यों में प्रत्येक व्यक्ति के पास औसतन कितनी जमीन है। इस सूचना से समस्या की पूर्ण जानकारी नहीं होती। किसानों के पास औसत भूमि उत्तर प्रदेश, मद्रास, त्रिवांकुरकोचीन और हिमांचल प्रदेश में अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा कम है। उत्तर प्रदेश में भूमि प्राप्त कुल व्यक्तियों में से ८१·२ प्रतिशत के पास ५ एकड़ से कम भूमि है और यह कुल काश्त की जाने वाली भूमि का ३८·८ प्रतिशत है।

मद्रास में ८२·२ प्रतिशत के पास १० रुपया या इससे कम वार्षिक लगान की भूमि है जो काश्त की जाने वाली भूमि का ४१·२ प्रतिशत है। त्रिवांकुर-कोचीन में ९४.१ प्रतिशत के पास ५ एकड़ से कम भूमि है जो कुल काश्त की जाने वाली भूमि ४४ प्रतिशत है। अन्य राज्यों में भी यह समस्या गम्भीर है। और इससे किसानों को आय में हानि सहनी पड़ी है।

रीति (Methods)—भूमि की चकबन्दी करने की दो मुख्य रीतियाँ हैं: (१) स्वयं किसानों में परस्पर स्वेच्छापूर्वक सहयोग की भावना के द्वारा और (२) सरकार द्वारा चकबन्दी अनिवार्य कर देने से। जहाँ तक स्वेच्छापूर्वक सहयोग करने का प्रश्न है इसमें काफ़ी देर लगती है और चकबन्दी का कार्य शीघ्रता से नहीं हो पाता। कहीं-कहीं जमींदार या महाजन चकबन्दी के कार्य में रुकावट पैदा कर देते हैं। इसके साथ ही किसानों का यह समझाना बहुत कठिन है कि चकबन्दी से उनको लाभ होगा। किसान न तो अपनी भूमि छोड़ने के लिए तैयार होता है और न इस काम में छोटा-मोटा व्यय करने को राजी होता है। परन्तु यदि भूमि की चकबन्दी अनिवार्य कर दी जाय तो किसान इसका विरोध करता है। वह समझता है कि भूमि की चकबन्दी से उसके हितों को चोट पहुँचेगी। यदि चकबन्दी योजना को लागू करने वाले कर्मचारी कमजोर और अकुशल हुए हुए तो अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जाने की संभावना रहती है। परन्तु स्वेच्छापूर्वक सहयोग करके भूमि की चकबन्दी कराने का परिणाम निराशाजनक ही रहा है इसलिए इस योजना को अनिवार्य कर देने से ही अधिक लाभ हो सकने की संभावना है।

इस दिशा में भूमि की चकबन्दी प्रथम प्रयास है। वास्तव में प्रयत्न इस बात का करना है कि भूमि का और बटवारा न हो अन्यथा चकबन्दी से कुछ लाभ संभव नहीं। यदि भूमि छोटे टुकड़ों में बँटती गई तो चकबन्दी का उद्देश्य ही विफल हो जायगा। भूमि की चकबन्दी के प्रश्न का इस बात से गहरा सम्बन्ध है कि प्रत्येक व्यक्ति अधिक से अधिक कितनी एकड़ भूमि रख सकता है।

"उत्तर प्रदेश में कम से कम सीमा ६¼ एकड़ भूमि प्रति व्यक्ति रक्खी गई है, मध्य भारत में यह सीमा सिंचाई की सुविधा प्राप्त भूमि के लिये ५ एकड़ और जहाँ सिंचाई की सुविधा नहीं प्राप्त है वहाँ १५ एकड़ निश्चित की गई है। आसाम में पंचायत एक्ट के अनुसार पंचायत को अधिकार है कि यदि उन लोगों में से जिनके लिये यह निर्माण किया जा रहा है ¾ इस बात पर राजी हो जायँ तो प्रत्येक किसान के लिये कम से कम भूमि की सीमा १२ बीघा निश्चित कर सकते हैं। बम्बई, पंजाब और पेप्सू में चकबन्दी एक्ट ने राज्यों को यह अधिकार दिया है कि वे जितना भी उपयुक्त समझें प्रति किसान भूमि की सीमा निश्चित कर दें। बम्बई की सरकार ने इसलिये भूमि की विभिन्न न्यूनतम सीमायें १० गुन्ठे से लगा कर ६ एकड़ तक अपने विभिन्न जिलों में नियत कर दी हैं। इन सब राज्यों में ऐसे बटवारों पर रोक लगा दी गई है जिनके परिणाम स्वरूप बँट कर न्यूनतम सीमा से कम हो जायगी"। यदि ये प्रतिबन्ध न लगाये जायँ तो चकबन्दी के लाभ भविष्य में होने वाले बँटवारे के कारण न मिल सकेंगे।

कानून—बम्बई, मध्य प्रदेश, पंजाब, उत्तर प्रदेश, पेप्सू, जम्मू और काश्मीर में चकबन्दी के सम्बन्ध में विशेष कानून पास किये गये हैं। देहली ने पंजाब एक्ट को अपना लिया है और उड़ीसा ने १९५१ के एग्रीकल्चर एक्ट में कुछ चकबन्दी सम्बन्धी नियम जोड़ दिये हैं। हैदराबाद, सौराष्ट्र, बिलासपुर और राजस्थान में इस सम्बन्ध में कानून विचाराधीन है। आरम्भ में कानून अनुमति प्रदान करने वाले (Permissive) थे और विशेष पदाधिकारियों के द्वारा अदला बदली में सहायता तथा छूट आदि का प्रबन्ध करते थे। बड़ौदा एक्ट इसी ढंग का था। सहकारी समितियाँ किसानों के लिये स्वेच्छा से चकबन्दी कराने में विशेष सहायक हो सकती थीं। जो कानून पास किये गये हैं उन्हें हम दो वर्गों में रख सकते हैं: (१) वे कानून जो किसानों को यदि उस गाँव में निश्चित प्रतिशत किसान राजी हों तो चकबन्दी के लिये वाध्य कर सकते थे और (२) वे कानून जो राज्यों को यह अधिकार प्रदान करते थे कि वे अपनी ओर से चकबन्दी की योजनाओं को लागू करें। मध्य प्रदेश, जम्मू और काश्मीर के कानून पहिले वर्ग में और पंजाब पेप्सू, देहली और बम्बई के कानून दूसरे वर्ग में आते हैं"। मध्य प्रदेश के कानून के अनुसार यदि किसी महाल, पट्टी अथवा गाँव के कम से कम आधे निवासी जिनके हिस्से में गाँव की ¾ भूमि आती है मिलकर चकबन्दी की योजना के लागू कराने की प्रार्थना करें और यदि चकबन्दी योजना पक्की हो चुकी है तो सब भूमि पर अधिकार रखने वालों को चकबन्दी योजना स्वीकार करने के लिये वाध्य किया जा सकता है। जम्मू और काश्मीर के एक्ट के अनुसार यदि ⅔ किसान जिनके

अधिकार में किसी गाँव के ⅔ खेत हैं और वे चकबन्दी की योजना स्वीकार करते हैं तो वह योजना पक्की मान ली जायगी और लागू कर दी जायगी। इन कानूनों के कारण जो थोड़े से व्यक्ति योजना को अस्वीकार करते हैं उन्हें भी योजना के अन्तर्गत लाकर उनकी सफलता निश्चित कर दी गई है।

उत्तर प्रदेश के कानून—"देश में लागू किये हुये कानूनों की प्रवृत्ति के अनुसार ही उत्तर प्रदेश ने भी इस सम्बन्ध में एक नया कानून पास किया है जिसके अनुसार राज्य अपनी ओर से अनिवार्य रूप से चकबन्दी लागू कर सकता है। यह नया कानून १६३६ के कानून के स्थान पर (जो चकबन्दी अनिवार्य रूप से लागू करने की तभी अनुमति देता था जब कि किसी गाँव के एक विशेष प्रतिशत लोग चकबन्दी के लिये अपनी स्वीकृति देते थे) पूर्ण रूप से लागू कर दिया गया है"। १६५३ के उत्तर प्रदेश भूमि चकबन्दी एक्ट में अनिवार्य रूप से उसे लागू करने की अनुमति प्राप्त है। यह कानून उ० प्र० की सरकार द्वारा नियुक्त चकबन्दी कमेटी की सिफारिशों के आधार पर बनाया गया है और पंजाब के कानून की ही तरह का है।

इस कानून के आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं—(१) प्रत्येक पट्टेदार को जहाँ तक सम्भव हो सके वहीं पर भूमि दी जायगी जिस क्षेत्र में उसकी अधिकांश भूमि है; (२) प्रत्येक गाँव की भूमि का वर्गीकरण निम्न क्षेत्रों में किया जायगा, (क) चावल पैदा करने वाले क्षेत्र, (ख) चावल को छोड़ कर अन्य एक फसली क्षेत्र, (ग) दो फसली क्षेत्र, और (घ) कछार भूमि के क्षेत्र; (३) केवल उन्हीं पट्टेदारों को उस क्षेत्र में भूमि दी जायगी जहाँ पर पहिले से ही उनकी भूमि है, (४) प्रत्येक पट्टेदार को उतने ही चक दिये जायँगे जितने कि गाँव में क्षेत्र (आबादी के क्षेत्र को छोड़कर) बनाये गये हैं जब तक कि किसी गाँव में केवल एक ही क्षेत्र न हो और उस क्षेत्र की भूमि एक प्रकार की न हो; (५) एक परिवार के पट्टेदारों को यथासम्भव एक दूसरे के पड़ोस में ही चक दिये जायँगे; (६) पट्टेदारों के निवास स्थान की स्थिति और यदि उसने कोई सुधार किया है तो उन्हें चक देने में इन बातों का विशेष ध्यान रक्खा जायगा; (७) यदि कोई चक या फार्म पहिले से ही ६⅔ एकड़ या अधिक है तो यथासम्भव वह न तो विभाजित किया जायगा और न बाँटा ही जायगा"। इन सिद्धान्तों से न्यूनतम गड़बड़ी तथा किसानों को अधिकतम लाभ होने की सम्भावना है।

इस कानून के अन्तर्गत चकबन्दी के कार्य को करने का एक विशद क्रम दिया हुआ है। इसको कार्यान्वित करने के पहिले प्रत्येक किसान के प्लाटों का लेखा उनके क्षेत्रफलों के साथ तथा प्रत्येक का लगान व मालगुजारी आदि के

सहित तैयार किया जायगा। एक ऐसी तालिका तैयार की जायगी जिसमें प्रत्येक पट्टेदार के कुल खेतों का क्षेत्रफल जो उनके पास विभिन्न प्रकार के आसामी अधिकारों के अन्तर्गत हैं तथा उसे जितनी मालगुजारी अथवा उसका लगान देना पड़ता है, तैयार किया जायगा। जब यह हिसाब पक्के तौर पर तैयार हो जायगा तब किसानों को चक देने की शर्तें तैयार की जायगी जिसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौन से प्लाट प्रत्येक पट्टेदार को उसके पुराने खेतों के बदले में दिये जायँगे तथा यदि नये सिरे से दिये हुये प्लाट उसके पुराने प्लाटों की तुलना में कम मूल्य के हैं तो क्या मुआवजा दिया जायगा और उसके कुओं, पेड़ों और इमारतों के बदले में क्या मुआवज़ा दिया जायगा इत्यादि। इस प्रस्ताव पर किसानों को उजरदारी करने का अधिकार होगा। परन्तु उजरदारी का जवाब दिये जाने पर प्रस्ताव पक्का हो जायगा और चकबन्दी योजना लागू हो ज़ायगी। इसके पश्चात् चक को दिये जाने का हुक्म जारी हो जायगा जिसमें यह दिखाया जायगा कि योजना के अनुसार कौन-कौन से नये खेत किसके हिस्से में आगए हैं और उन्हें उन पर अधिकार दे दिया जायगा। इस बात का ध्यान रक्खा जायगा कि किसानों को चक उसी क्षेत्र में दिया जाय जहाँ पर उनके अधिकांश खेत हैं। भूमि पर अधिकार के सम्बन्ध में निर्णय ऐसे निर्णायक द्वारा किया जायगा जिसे सरकार उन न्याय-कार्य सम्बन्धी अफसरों में से नियुक्त करेगी जिन्हें कम से कम ७ वर्ष तक का अनुभव है। किसानों से भी राय ली जायगी और उन्हें आपत्ति करने का अधिकार होगा परन्तु जब योजना पक्की हो जायगी तब सब को उसे मान लेना पड़ेगा। यह चकबन्दी योजना न्यायालयों के कार्य-क्षेत्र के बाहर इसलिए मानी गई है कि इस सम्बन्ध में मुकदमेबाजी न हो। एक्ट के अनुसार चकबन्दी का खर्चा ४ रु० प्रति एकड़ नियत कर दिया गया है जो योजना में सम्मिलित विभिन्न व्यक्तियों में बँट जायगा ताकि सरकार को यह खर्च न उठाना पड़े। जिनके खेतों की चकबन्दी की जायगी उन्हें पैमाइश तथा अन्य प्रकार के शारीरिक श्रम वाले कार्य करने में सहयोग देना होगा और जो यह न कर सकेंगे तो उन्हें २ रु० ८ आना प्रति एकड़ के हिसाब से श्रम के बदले में खर्च के प्रति देना पड़ेगा। यह कानून मुजफ्फरनगर और सुल्तानपुर जिलों में लागू कर दिया गया है। थोड़ा अनुभव प्राप्त कर लेने के पश्चात् पहिले यह २० जिलों में और लागू किया जायगा। आशा की जाती है उत्तर प्रदेश में इस कानून के अन्तर्गत चकबन्दी का कार्य बहुत सुगम होगा।

कठिनाइयाँ—चकबन्दी-कार्य बहुत कठिनाइयों से भरा हुआ है। कुछ कठिनाइयाँ तो मनोवैज्ञानिक हैं और कुछ प्रयोगात्मक। (१) बहुत सी जगहों

पर भूमि अधिकारों का कोई लेखा प्राप्त नहीं है। पंजाब में देश के बँटवारे के पश्चात् सारे लगान सम्बन्धी लेखों के खो जाने के कारण बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

(२) चकबन्दी का कार्य औद्योगिक ढंग का है। इसके करने वालों को पैमाइश, बन्दोबस्त, भूमि के वर्गीकरण, भूमि के मूल्यांकन तथा पटट्टेदारी सम्बंधी ज्ञान आवश्यक है। ऐसे कार्यकर्त्ताओं की कमी के कारण चकबन्दी के कार्य में बाधा पड़ी है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये कुछ प्रदेशों में ऐसे अफसरों को इस कार्य के लिये विशेष ट्रेनिंग देने का आयोजन किया गया है।

(३) इस कार्य में किसानों की रुढ़िवादिता और पीढ़ियों से अधिकार में स्थित भूमि के प्रति मोह के कारण भी बाधा पड़ी है। जमींदारों और अन्य असामाजिक वर्गों द्वारा बाधा उपस्थित करने से भी काम में रुकावट पहुँची है। शान्तिपूर्वक जनता में इस कार्य के प्रति प्रचार तथा जानकारी की वृद्धि द्वारा तथा जहाँ आवश्यक हो वहाँ अनिवार्य रूप से लागू करने से ही इन बाधाओं पर विजय पाई जा सकती है।

(४) चकबन्दी में रुपया खर्च होता है और रुपये के प्रबंध के कारण भी इस कार्य में बाधा पहुँचती है। प्रादेशिक सरकारों के समक्ष अनेक प्रकार की विकास योजनायें हैं इसलिये वे सदा इस कार्य के लिये पर्याप्त धन देने के लिये तैय्यार नहीं रह सकती। इस सम्बन्ध में खर्च पूरा करने के लिये तीन उपायों के काम में लाने की अनुमति दी गई है। (क) दिल्ली, मध्य प्रदेश और पंजाब में खर्च का एक अंश किसानों से चकबन्दी फीस के नाम पर वसूल कर लिया जाता है। इस प्रकार कुछ अंश तक व्यय सरकार द्वारा और कुछ अंश तक किसान द्वारा पूरा कर लिया जाता है; (ख) बम्बई में सारा व्यय सरकार द्वारा सहन किया जाता है जहाँ पर किसानों के साथ रियायत के रूप में बिना फीस लिये काम किया जाता है; और (ग) उत्तर प्रदेश में जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है पूरा खर्चा किसान से ४ रु० प्रति एकड़ के हिसाब से वसूल कर लिया जाता है।

सफलता की मात्रा—चकबन्दी की सफलता विभिन्न प्रदेशों में कम ही रही है। केवल पंजाब, बम्बई, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, पेप्सू और दिल्ली आदि ने कुछ सफलता इस सम्बन्ध में प्राप्त की है। पंजाब में चकबन्दी का काम १६२० से आरम्भ हुआ और उत्तर प्रदेश में १६२४ से। उत्तर प्रदेश में १६५३ के चकबन्दी एक्ट के पास होने पर इस काम की गति बढ़ गई और आगे चलकर एक्ट में भी उपयुक्त सुधार कर दिया गया। मार्च १६५५ तक पंजाब में ४० लाख एकड़, मध्य प्रदेश में २५ लाख एकड़, पेप्सू में १० लाख एकड़ से अधिक भूमि

की चकबन्दी की गई। बम्बई और दिल्ली में १०६० और २१० गाँवों में क्रमशः यह योजना पूर्णतया लागू की गई है। उत्तर प्रदेश में २१ जिलों में यह योजना लागू है। अब भी विभिन्न राज्यों में इस योजना के कार्य को बढ़ाने का अवसर है।

यद्यपि चकबन्दी का कार्य जरा धीमी गति से हुआ है और बहुत कम उन्नति इस ओर हो पाई है फिर भी इससे प्लाटों की संख्या कम हो गई है और उनका औसत क्षेत्रफल बढ़ गया है। यदि प्लाटों की संख्या में कमी और खेतों के क्षेत्रफल में वृद्धि की दृष्टि से देखा जाय तो हम कह सकते हैं कि सबसे अधिक उन्नति मध्य प्रदेश ने की है जहाँ बिलासपुर, रायपुर और दुर्ग जिलों में प्लाटों की संख्या ८२% कम हो गई है और उनका औसत क्षेत्रफल ४००% बढ़ गया है। इस ओर मद्रास ने सबसे कम उन्नति की है और वहाँ प्लाटों की संख्या में २०% से भी कम कमी हुई है।

खेतों की चकबन्दी के फलस्वरूप प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत (economic holding) प्राप्त नहीं हुई है। क्योंकि यदि किसी किसान के खेत गाँव के विभिन्न भागों में छिटके हुये हैं तो चकबन्दी से किसान के अधिकार में भूमि का क्षेत्रफल नहीं बढ़ सकता। इसलिये प्रत्येक किसान को आर्थिक जोत देने के लिये बहुत बड़े प्रयत्न की आवश्यकता है।

अध्याय ८

भूमि-क्षरण

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अनुसार भूमि संरक्षण से अभिप्राय केवल क्षरण को रोक पाना ही नहीं है परन्तु अपने व्यापक अर्थ में भूमि संरक्षण के अन्तर्गत वह सभी बातें शामिल हैं जिनका लक्ष्य भूमि की उत्पादन शक्ति को ऊँचे स्तर पर बनाये रखना है, जैसे भूमि की कमियों को दूर करने के उपाय, रासायनिक तथा देशी खाद का उपयोग, फसलों के बोने के क्रम का उचित संचालन, सिंचाई तथा नाली की व्यवस्था इत्यादि। इस रूप में भूमि-संरक्षण का प्रायः भूमि के उपयोग के ढंगों में सुधार करने से निकट सम्बन्ध है। भूमि संरक्षण के सम्बन्ध में भारत की प्रमुख समस्या भूमि-क्षरण को रोकना है। भूमि-क्षरण होते रहने से भूमि का बहुत बड़ा भाग कृषि के योग्य नहीं रहता।

कारण—भूमि क्षरण के अनेक कारण हैं परन्तु उनमें से मुख्य निम्न-लिखित हैं :—

(१) वनों का काटना और वनस्पति का नष्ट हो जाना। जंगल और वनस्पति हवा और पानी के बहाव को रोकते हैं जिससे भूमि का तल इनकी हानि-कारक शक्ति से बच जाता है और उसका क्षरण नहीं हो पाता। यदि वन काट डाले जायँ और वनस्पति नष्ट कर दी जाय तो भूमि पूर्ववत नहीं रहेगी, उसकी उत्पादन शक्ति घट जायगी। प्रायः ईंधन या इमारतो के उपयोग के लिए वनों को काट लिया जाता है। आसाम, बिहार, उड़ीसा और मध्यप्रदेश के कुछ भागों में कबायली जनता (Tribal people) एक निश्चित स्थान पर खेती नहीं करती है। वह प्रायः एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने कृषि-क्षेत्र बदलती रहती है जिसके लिए उसे पेड़ काटते रहना पड़ता है और इससे वनों का विनाश हो जाता है। इधर जमींदारी उन्मूलन होते ही अनेक जमींदारों ने इमारती लकड़ी से रुपया पैदा करने के लिए अपने क्षेत्र के पेड़ काट डाले हैं।

(२) पशुओं और विशेषकर भेड़ बकरियों का घास-पत्ती इत्यादि चर जाना। इससे भूमि के कण परस्पर गुथे नहीं रह जाते और उसका क्षरण होने लगता है। वनस्पति का इस प्रकार चर लिया जाना भारत के लिए एक गम्भीर समस्या बन गया है। १९५२ में भारतीय कृषि-अनुसन्धान परिषद (Indian Council of Agricultural Research) के तत्वावधान में उसके फसल और

भूमि विभाग (Crops and Soils Wing) की प्रथम बैठक में उस समय के खाद्यान्न मंत्री ने कहा कि भेड़ बकरियों को प्रश्रय देने का अर्थ है भूमि-क्षरण और महाविनाश। परन्तु गाय-भैंस को प्रश्रय देकर हम भूमि की सेवा कर सकते हैं और स्वयं समृद्धिशाली बन सकते हैं। खाद्य मंत्री ने अधिक जोर देकर जरूर कहा है परन्तु यह सच है कि भेड़ बकरियों से भूमि को बहुत क्षति पहुँचती है। उचित यह होगा कि पशुओं को चारा दिया जाय और बिना रोक-टोक के इधर-उधर, विशेषकर उन क्षेत्रों में जो इस कारण पहले ही क्षतिग्रस्त हो चुके हैं, चरने न दिया जाय।

(३) जिस भूमि में उत्पादक तत्वों की पहले ही से कमी है उसका शीघ्र क्षरण हो जाता है। यदि भूमि उपजाऊ है और उसकी अच्छी तरह देखभाल की गई तो खराब भूमि की अपेक्षा इसमें भूमि-क्षरण कम होगा। काश्त की जाने वाली भूमि का भारत में पीढ़ियों से बिना किसी रोक टोक के बराबर उपयोग होता रहा है और उसकी उत्पादन शक्ति की पूर्ति करने के लिए खाद इत्यादि या तो नहीं डाली गई है या अपर्याप्त रही है। इससे देश के बड़े-बड़े भाग भूमि क्षरण के संकट से ग्रस्त हो चुके हैं।

भूमि-क्षरण अनेक प्रकार का होता है परन्तु भारत में मुख्य प्रकार निम्न-लिखित हैं :—

(१) तल क्षरण (Sheet Erosion)—पानी के तेज बहाव से या तेज हवा के बहने के कारण जब भूमि की ऊपरी उपजाऊ सतह बह जाती है तब तल-क्षरण होता है।

(२) अन्तः क्षरण (Gully Erosion)—पानी के तेज बहाव के कारण भूमि में गहरे नाले बन जाने से अन्तःक्षरण होता है। प्रायः अन्तःक्षरण होने का कारण यह होता है कि बहुत समय तक तल-क्षरण होता रहे और उसे रोकने का काई उपाय न किया जाय। नदियों के आस-पास की भूमि में अन्तःक्षरण की अधिक संभावना रहती है क्योंकि बाढ़ आ जाने से तट की निकटवर्ती-भूमि का तल क्षरण होता रहता है और धीरे-धीरे गहरे नाले बन जाते हैं।

(३) वायु क्षरण (Wind Erosion)—वायु क्षरण देश के मरु प्रदेश में जैसे राजस्थान और पूर्वी पंजाब में होता है। तेज वायु बहने से मरु क्षेत्र की बालू उड़ती रहती है और निकटवर्ती हिस्सों में बैठती रहती है जैसा राजस्थान के मरु प्रदेश के निकट होता है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति को गहरी हानि पहुँचती है।

भूमि क्षरण एक गंभीर संकट है। इससे भूमि की उत्पादन शक्ति कम होती

है, भूमि व्यर्थ हो जाती है और जनता निर्धनता के चंगुल में फंस जाती है। इससे देश के बड़े-बड़े क्षेत्र मरुस्थल में बदल जाते हैं। उन क्षेत्रों में जहाँ नदी-घाटी योजनाएँ लागू की गई हैं, जैसे दामोदर घाटी, वहाँ पर भूमि क्षरण से निर्मित बाँधों को भय उत्पन्न हो जाता है। इस कारण इन बाँधों की देखभाल और बचाव के लिए अधिक व्यय करना पड़ता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि हमें अपने देश में भूमि-क्षरण के प्रकार और प्रसार के सम्बन्ध में सही-सही सूचना प्राप्त नहीं है इस सूचना के प्राप्त हो जाने पर भूमि-क्षरण को रोकने के लिए प्रभावशाली उपायों को लागू किया जा सकता है। पिछले कुछ वर्षों में भूमि संरक्षण के लिए कुछ काम किया गया है, बम्बई में छोटे-छोटे बाँध बाँधने और टेक लगाने (Terracing) से और पंजाब में जंगल लगाकर तथा पहाड़ी नालों में बाँध इत्यादि बाँधकर और उत्तर प्रदेश में नालों तथा खड्डों से परिपूरित भूमि पर कृषि करके भूमि संरक्षण किया जा रहा है। बाँध बाँधने और टेक इत्यादि का निर्माण करने में और कटी-फटी भूमि को समतल बनाने के लिए ट्रैक्टरों तथा अन्य बड़ी-बड़ी मशीनों का उपयोग किया जा रहा है। परन्तु अभी इस सम्बन्ध में बहुत कुछ कार्य करना शेष है।

राजस्थान के मरुस्थल का क्रमशः उत्तर की ओर विस्तार एक विशेष चिन्ता का विषय हो गया है और भारत सरकार ने उसकी रोकथाम के लिये निम्न उपाय किये हैं :—

(१) "दस वर्ष के भीतर ही भीतर ४०० मील लम्बी और ५ मील भीतर को ओर चौड़ी जङ्गल की एक पट्टी राजस्थान की पश्चिमी सीमा पर लगा देना इसमें भेड़, बकरी, गाय, बैल, ऊँट, आदि पशुओं के चरने की आज्ञा न होगी।"

(२) मरुस्थल की भूमि में बालू के कणों को हरियाली द्वारा स्थिर करने में वैज्ञानिक उपायों की खोज करना।

(३) ऐसे नखलिस्तानों की व्यवस्था करना जहाँ से पेड़-पौधे फौजी नाकों, रेल के स्टेशनों, पुलिस के थानों, तहसीलों और स्कूलों के इर्द-गिर्द ले जाकर लगाये जा सकें।

(४) ऐसी चुनी हुई सड़कों और रेल की लाइनों पर मनुष्यों की आबादी में आबाद का प्रबन्ध करना जो वायु के बहाव को काटती हुई बढ़ती है।

(५) पौधों के लगाने वाली एजेन्सियों को बीज और पौधों के बांटने का प्रबन्ध करना।

(६) उपयुक्त चरागाहों की स्थापना का प्रबन्ध करना जो कि समय-समय पर और बारी-बारी से चरने के लिये खोले जायँ।

अध्याय ११

बहुउद्देशीय योजनाएँ और बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम

सिंचाई और शक्ति उत्पादन योजनायें प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के मुख्य अंग हैं। इनमें विद्युत शक्ति के उत्पादन और सिंचाई की सुविधा में वृद्धि होगी जिनका अभाव उद्योगों और कृषि की उन्नति में बाधक रहा है। इन योजनाओं से बाढ़ पर नियंत्रण, मलेरिया के फैलने में रुकावट, तथा देश को अन्य अनेकों लाभ होंगे। प्रथम और द्वितीय योजनाओं के अन्तर्गत तीन प्रकार की सिंचाई योजनाओं की व्यवस्था है। (१) बहुउद्देशीय योजनायें, (२) बड़ी तथा साधारण सिंचाई की योजनायें तथा (३) छोटी सिंचाई की योजनायें।

इन योजनाओं की तीन विशेषतायें हैं। (क) इनमें से अनेकों तो पंचवर्षीय योजना के आरम्भ होने के पूर्व ही से चल रहीं थीं। "द्वितीय महासमर का अन्त होते ही बहुत सी परियोजनायें जिनमें कई बहुउद्देशीय योजनायें भी थीं आरम्भ कर दी गईं थी। इनमें से कुछ तो ऐसी थीं जिनका कार्य तो बिना उनके सम्बन्ध में आवश्यक प्राद्यौगिक और आर्थिक छान बीन के ही आरम्भ कर दिया गया था। १९५१ में जब सिंचाई और शक्ति उत्पादन की योजनाओं का निर्माण कार्य चल रहा था, उनके पूर्ण होने में कुल व्यय ७६५ करोड़ रुपये होने का अनुमान था" इसमें से १५३ करोड़ रुपया तो इन अपूर्ण योजनाओं पर व्यय हो चुका था क्योंकि ऐसा विचारा जाता था कि जितना शीघ्र हो सके उतना शीघ्र ये योजनायें पूर्ण की जाँय जिससे कि जो कुछ धन इन पर व्यय किया जा चुका है वह सार्थक हो और उसका यथा-सम्भव लाभ बढ़ी हुई मात्रा में अन्न की उत्पत्ति के रूप में शीघ्र मिल जाय।

(ख) प्रथम योजना के अन्तर्गत जिन परियोजनाओं को आरम्भ किया गया था उन पर पुनः विचार किया गया और सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन की योजना पर व्यय ५५८ करोड़ रुपये से बढ़ाकर ६७७ करोड़ रुपया कर दिया गया। जो अन्य महत्वशाली परिवर्तन किये गये वे निम्न हैं। (१) १९५१ में योजना निर्माण के समय सदा से कमी के क्षेत्र की आवश्यकताओं की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। इन क्षेत्रों की जनता के निर्धन होने तथा उनके आर्थिक कार्यों में निरन्तर प्राकृतिक बाधा की उपस्थिति के कारण निरन्तर सहायता की आवश्यकता पड़ती रहती थी। इसलिये १९५३-५४ में इन क्षेत्रों के स्थायी विकास के

लिये कार्यक्रम निश्चित किए गए और इस प्रकार सम्पूर्ण योजना के कुल व्यय में ४० करोड़ रुपये की वृद्धि की गई। इन योजनाओं का ध्येय था कि वे जनता के पास धन की वृद्धि करेंगी और वे भविष्य के विकास कार्यक्रम में उससे सहायता दे सकेंगे। (२) १९५४-५५ में छोटी-छोटी शक्ति उत्पादन की योजनाओं इसमें सम्मिलित कर लीं गईं जिन पर २० करोड़ रु० इस विचार से व्यय करने का निश्चय किया गया कि उनसे छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों में जनता को कार्य पाने का अवसर प्राप्त हो सकेगा, और (३) बाढ़ पर नियंत्रण रखने का १९५४-५५ में क्रम बनाया गया जिसपर १६½ करोड़ रुपया व्यय करने का निश्चय किया गया।

(ग) इन योजनाओं का कार्य इतना अधिक था और धन तथा अन्य आवश्यक साधनों का इतना अभाव था कि सबको कार्यान्वित करना सम्भव नहीं हो सका। इसलिए सम्पूर्ण कार्यक्रम को अंशों में विभाजित करना आवश्यक हो गया। प्रथम योजना में यह निर्णय किया गया कि चम्बल, कोसी, कृष्णा, कोयना और रिहन्द योजनाओं को सम्पूर्ण योजना के अन्तिम काल में आरम्भ किया जाय।

इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह निर्णय किया गया है कि कुछ बड़े काम जैसे आन्ध्र की वमसाधरा योजना, बिहार की कन्हाई योजना और बम्बई की उमाई नर्मदा, माही, खड़कवासला, गिरना और बनस योजनायें, मध्य-प्रदेश की तावा योजना और पश्चिमी बंगाल की कंगसावाती योजना सम्पूर्ण योजना काल के अन्तिम भाग में कार्यान्वित की जायँगी।

योजना के अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा सिंचाई और शक्ति उत्पादन योजनाओं पर बजट में निश्चित व्यय कहीं अधिक व्यय किया गया। यह एक संतोषप्रद बात है, क्योंकि इसमें भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति सुधरेगी और उद्योगों तथा कृषि में तीव्र गति से विकास सम्भव होगा। प्रथम योजना के तीन वर्ष व्यतीत होने के पूर्व ही भारतवर्ष यदि अन्न के लिये आत्म निर्भर हो सका है तो किसी सीमा तक इसका कारण सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन योजनायें हैं। प्रथम योजना के प्रथम चार वर्षों में ६७७ करोड़ की व्यवस्था में से ४४५ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था। बहुउद्देशीय योजनाओं पर १८७·२४ करोड़ रुपया जो कि कुल व्यय का ७६% है, शक्ति उत्पादन योजनाओं पर, ११२·७५ करोड़ रुपया जो कि ६६% है, सिंचाई योजनाओं पर (जिनमें कमी के क्षेत्रों का कार्यक्रम सम्मिलित है) १३२.३७ करोड़ रुपया जो कि ६४% है, व्यय किया, जायगा। १९५४-५५ के अन्त तक कृषि के अन्तर्गत लाया गया अतिरिक्त क्षेत्र ४० लाख एकड़ था जब कि लक्ष्य ५७ लाख एकड़ था। लम्बे शक्ति उत्पादन के क्षेत्र में

६६२००० किलोवाट शक्ति उत्पादन किया गया, जब कि ध्येय ८८१००० किलोवाट उत्पादित करने का था।

बहुत सी बड़ी योजनाओं पर बहुत उन्नति की जा चुकी है, और यह आशा की जाती है, कि वे द्वितीय योजना काल में पूर्ण कर दी जायँगी। इन योजनाओं में भाकड़ा, हीराकुण्ड, कोयना, चम्बल और रिहेन्ड योजनायें आती हैं। इन सबसे १७ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकेगी।

बहुउद्देशीय योजनाएँ

कुछ बहुउद्देशीय योजनाओं जैसे भाकड़ा नांगल, हिराकी, दामोदर घाटी और हीराकुण्ड आदि ने पंचवर्षीय योजना के प्रथम चार वर्षों में संतोषप्रद उन्नति की और योजना में निश्चित २८२·०२ करोड़ रुपए में से उन पर १६७·२६ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका है, इसके फलस्वरूप ६ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई सम्भव हो सकी है, और २०२००० किलोवाट विद्युत शक्ति उत्पन्न की जा सकी है।

भाकड़ा नांगल योजना—यह योजना पंजाब, पेप्सू और राजस्थान को सुविधायें पहुँचायेगी। इसके अन्तर्गत (१) सतलज नदी के आरपार भाकड़ा बाँध बनेगा; (२) नांगल बाँध नदी में बहाव की ओर ८ मील तक बनेगा; (३) नांगल नहर बनेगी, (४) दो नांगल पावर हाउस बनेंगे और (५) भाकड़ा नहर व्यवस्था बनेगी। यह योजना १९४६ में आरम्भ की गई थी, और अब तक नांगल बाँध नहर-नियामक (canal regulator), नांगल जल द्वार तथा पंजाब में भाकड़ा नहर की खुदाई पूर्ण हो चुकी है। हमारे प्रधान मंत्री ने ८ जुलाई १९५४ को इस नहर व्यवस्था का उद्घाटन किया था। भाकड़ा बाँध को चूने द्वारा ठोस करने के कार्य का उद्घाटन १७ नवम्बर १९५५ में किया गया।

दामोदर घाटी योजना—योजना काल के प्रथम चार वर्षों में इस योजना पर ५८·१३ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था, और १·१ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि की सिंचाई और १·५ लाख किलोवाट विद्युत शक्ति का उत्पादन होने लगा। दामोदरघाटी योजना एक ऐसे महत्वशाली औद्योगिक क्षेत्र को सुविधायें पहुँचाती है, "जहाँ से देश में प्राप्त कुल कोयले की मात्रा का ८०% अभ्रक का ७०%, क्रोमाइट का ७०%, फायरक्ले का ५०%, लोहे का ६८%, ताँबे का १०० प्रतिशत और कामोनाइट का १००% प्राप्त होता है"। जब यह योजना पूर्ण हो जायगी तब यह देश के औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी विकास में काफी मात्रा में सहयोग प्रदान करेगी।

हीरा कुण्ड योजना—यह योजना उड़ीसा राज्य को सुविधा प्रदान करेगी, और इस योजना की प्रारम्भिक अवस्था में (१) महानदी की घाटी में एक बांध कंकड़ पत्थर और मिट्टी का, (२) दोनों किनारों पर मिट्टी के जल धरण (dykes) (३) दोनों किनारों पर नहर, (४) बांध पर एक पावर हाउस १८२००० किलोवाट विद्युत उत्पन्न करने के लिये और (५) ट्रान्समिशन लाइन्स बनाई जायेंगी। खेतों में नालियों को खुदवा देने से अधिकाधिक क्षेत्रों की सिंचाई की सुविधा हो सकेगी और इस प्रकार १९५८-५९ तक कुल ४·५४ लाख एकड़ क्षेत्र सींचा जा सकेगा।

विभिन्न प्रदेशों में योजनाओं की प्रगति

राज्यों में सिंचाई योजनाओं की प्रगति बहुउद्देशीय योजनाओं की तुलना में कम हुई। १९५१ से ५५ तक चार वर्षों में वास्तविक व्यय १८८·०८ करोड़ रुपया हुआ जब कि सम्पूर्ण योजना के पुनरीक्षण के पश्चात् २०७·६८ करोड़ रुपये के व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। अतिरिक्त क्षेत्र जिसपर सिंचाई की गई वह केवल ३५ लाख एकड़ था, जब कि योजना में ६४ लाख एकड़ अतिरिक्त भूमि पर सिंचाई करने का ध्येय था। इन योजनाओं की प्रगति 'क' राज्यों के कुछ भागों में तथा 'ख' राज्यों के अधिकांश भागों में धीमी ही रही है। इसका कारण संगठन का अभाव, प्रसाधनों और काम करने वालों का अभाव और योजना में बार-बार परिवर्तन करना रहा है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित नई सिंचाई योजनाओं का कुल व्यय लगभग ३८० करोड़ रुपये हैं, इसमें से १७२ करोड़ रुपया द्वितीय योजना काल में व्यय किया जायगा, शेष धन तीसरे तथा अन्य भविष्य में होने वाली पंचवर्षीय योजनाओं के काल में व्यय होगा। बड़े और साधारण श्रेणी के सिंचाई साधनों पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में कुल ३८१ करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त ३५ करोड़ रुपये की और व्यवस्था की गई है जिससे कि सिन्धु नदी की योजनाओं तथा अन्य ऐसी योजनाओं से जिनके सम्बन्ध में अभी निर्णय नहीं हो पाया है, प्राप्त जल का प्रयोग करने के लिये अन्य नई योजनायें पूर्ण करवाई जा सकें। द्वितीय योजना काल में जो २१० लाख एकड़ भूमि सींची जा सकेगी उसमें से लगभग १२० लाख एकड़ भूमि को बड़ी और साधारण श्रेणी की योजनाओं से सुविधा प्राप्त होगी और लगभग ९०० लाख एकड़ भूमि को छोटी सिंचाई की योजनाओं से यह सुविधा प्राप्त होगी।

अधिकांश अतिरिक्त सिंचाई (लगभग ६० लाख एकड़) जो बड़े और साधारण श्रेणी की योजनाओं से होगी वह उन कार्यक्रमों की पूर्ति हो जाने के कारण होगी जो कि प्रथम योजना से ही चल रहे हैं। द्वितीय योजना में सम्मिलित नई योजनाओं से लगभग ३० लाख एकड़ भूमि सींची जायगी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत बड़ी और साधारण श्रेणी की योजनाओं के पूर्ण हो जाने पर उनकी सींचने की शक्ति लगभग १६० लाख एकड़ होगी।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत विद्युत-शक्ति उत्पादन के विकास-कायक्रम के तीन ध्येय हैं : (क) वर्त्तमान पावर हाउसों पर बढ़े हुये सामान्य भार को वहन करना; (ख) पूर्ति के क्षेत्रों के युक्ति संगत विकास के लिये आवश्यक विद्युत शक्ति का उत्पादन करना और (ग) द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत नवीन आरम्भ किए हुए उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना।

बाढ़ नियंत्रण का कार्यक्रम

सरकार ने समन्वित आधार पर बाढ़ की समस्या के निराकरण का अत्यन्त महत्वशाली निर्णय किया है। प्रथम योजना के आरम्भ में बाढ़ नियंत्रण की कोई भी निश्चित व्यवस्था नहीं की गई थी। उस समय बाढ़ नियंत्रण योजनाएँ नदी घाटियों के विकास सम्बन्धी बहुउद्देशीय योजनाओं के अन्तर्गत रखी गई थी। १९५४ की अपूर्व बाढ़ों ने प्राण सम्पत्ति तथा यातायात को विशेषकर देश के उत्तर-पूर्वी भाग में, बहुत हानि पहुँचाई। इस कारण बाढ़ की समस्या पर सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन कार्यक्रमों से अलग स्वतंत्र रूप से विचार करना अत्यन्त आवश्यक हो गया। प्रदेशों द्वारा तात्कालिक बाढ़ नियंत्रण के लिये उपायों के प्रभावशाली सिद्ध न होने के कारण १९५४ में यह निर्णय किया गया कि एक व्यापक बाढ़ नियंत्रण कार्यक्रम इस समस्या को उचित ढंग से सुलझाने के लिये बनाया जाय। १९५५ करोड़ रुपये की योजना में इसीलिये १६.५ करोड़ रु० की व्यवस्था और कर दी गयी। बाढ़ नियंत्रण के काय पर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अधिक ध्यान दिया गया है।

२·३१ करोड़ रुपये का ऋण प्रदेशों को १९५४-५५ में दिया गया और केन्द्रीय सरकार के १९५५-५६ के बजट में १० करोड़ रुपये की व्यवस्था इसके लिये कर दी गई है। जिससे कि ऋण की सहायता प्रदान की जा सके। मार्च १९५५ तक विभिन्न प्रदेशों में जो सफलता मिली है, उसका विवरण निम्नलिखित है।

	१९५४-५५	१९५५-५६	योग
आन्ध्र	...	...	...
आसाम	१००	२१०	३१०
बिहार	३५	१५५	१९०
बम्बई	...	...	...
मध्य प्रदेश	...	...	..
मद्रास	...	...	..
उड़ीसा	...	...	...
पंजाब	...	...	...
उत्तर प्रदेश	१५	७६	९१
पश्चिमी बंगाल	३५	२९७	३३२
पेप्सू	५०	२००	२५०
जम्मू और काश्मीर	५	१५	८०
अन्य प्रदेश	१०	९०	१००
सरकार के सी० डबलू० और पी०	...	२००	२००
सी भारत सर्वो मिट्रोला साकल विभाग इत्यादि	३४	१२३	१५७
कुल	२८४	१३६६	१६५०

आसाम—डिबरूगढ़ और पलासवाड़ी नगर रक्षा योजनायें पूर्ण हो चुकी है। सैलोवा, नवगांग, और सुवन्सिरी जिलों में बाढ़ से रक्षा करने की योजना का कार्य आरम्भ किया गया।

पश्चिमी बंगाल—अधिक महत्वशाली योजनायें जिन्हें आरम्भ किया गया, वे निम्न थीं (१) जलपाईगुरी नगर की रक्षा, (२) बरनीज मैनागुरी रोमोहाल क्षेत्र।

बिहार—भूरी गण्डक नदी के बाँध का ८०% कार्य समाप्त हो चुका है। भागवती बलान, खिरोही इत्यादि नदियों पर सुरक्षा कार्य आरम्भ किया गया था।

उत्तर प्रदेश—"गण्डक और गंगा नदी पर बाढ़ से रक्षा करने का कार्य जिससे बस्ती, गोरखपुर और देवरिया जिलों के लगभग ४०० गाँवों की रक्षा संभव है, पूर्ण किया गया।"

पंजाब—निम्न कार्य पूरे किये गये (१) ४३ मील लम्बा डेरा बाबा नानक से आकर मन्ज तक रावी नदी के किनारे आधार बाँध का बनवाना; (२) देहली प्रदेश में जमुना नदी के किनारे जो पतली दारार पाई गई थी उनको बन्द करवाना और टकोला बाँध बनवाना ; (३) कर्नाल जिले में बाबैल से धानसौली तक जमुना नदी के दाहिने किनारे बाढ़ रोकने के लिये बाँध बनवाना; और (४) जमुना नदी से ताजेवाला शीर्ष क्रम से नीचे की ओर बाँध बनवाना; ।

यह तो सर्व विदित है, कि बाढ़ न तो सदा के लिये रोकी जा सकती है, और न रोक देना उचित ही है। इन बाढ़ों से बारीक मिट्टी बह कर आती है, जिससे पानी डूब जाने वाले क्षेत्रों की उपज बढ़ जाती है। उन वर्षों में जब कि बाढ़ असमान्य हो जाती है, उनसे बहुत हानि पहुँचती है और जनता को कष्ट पहुँचता है। बाढ़ का प्राय: आना और उसके द्वारा हानि को कम करने के लिये बाढ़ों के घनत्व पर नियंत्रण रखना आवश्यक है। इसके लिये क्रमबद्ध कार्यक्रम बनाने की आवश्यकता है। जिन उपायों से प्रायः काम किया जाता है, वे निम्न हैं। (१) किनारे पर बाँध बाँधना (२) संग्रह जलाशय, विशेषकर सहायक धाराओं पर (३) अवरोधन गढ़ा बनवाना जहाँ पर बाढ़ का पानी एकत्रित करके थोड़े समय के लिये रोका जा सके; (४) नदी की धारा को मोड़ देना जिससे कि एक नदी का पानी दूसरी नदी में पहुँच जाय ; (५) नदी का ढाल बढ़ाना उसमें आरपार द्वार खुदवा कर, (६) नदियों तक ले जाने वाली धाराओं को जिनमें मिट्टी भर गई है, खुदवाना और उसकी मिट्टी निकलवाना, (७) स्थानीय रक्षा के उपाय जैसे पक्की दीवार और ऊँचे टीले आदि बनवाना ताकि भूमि कटने न पावें, और (८) वन लगाना और स्थान-स्थान पर बहाव की तीव्रता रोकने के लिये बाँध बाँधना।

सिंचाई और शक्ति मंत्रालय द्वारा कुछ दिन पूर्व ही बाढ़ रोकने के कार्यक्रम की रूपरेखा बनाई गई है। इसके तीन भाग हैं। (क) तात्कालिक—इसके अन्तर्गत अन्वेषण योजना बनाना और समय का अनुमान करना होगा। दीवार बनाना और बाँध आदि भी विशेष स्थानों पर बनवाये जा सकते हैं ; (ख) अल्पकालीन—इसके अन्तर्गत बाँधों और नालों आदि का सुधार किया जायगा। इस प्रकार की रक्षा के उपायों का प्रयोग उन क्षेत्रों में विशेष रूप से किया जायगा जहाँ बाढ़ अधिक आती हैं ; (ग) दीर्घ कालीन—इसके अन्तर्गत नदियों तथा उनकी सहायक धाराओं के जल संचय का कार्य सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाओं के कार्य के साथ किया जायगा।

द्वितीय योजना में ६० करोड़ रुपये की व्यवस्था तत्कालीन और

अल्पकालीन योजनाओं के लिये की गई है। इसमें ५ करोड़ रुपया परीक्षण तथा तत्सम्बन्धी सूचना सामग्री एकत्रित करने के लिये नियत किया गया है। वनों का लगाना और भूमि संरक्षण के उपायों को कार्य में लाना, बाढ़ नियंत्रण के महत्वशाली उपाय हैं, इनको बाढ़ नियंत्रण के कार्यक्रम में विशेष स्थान मिलना चाहिए।

केन्द्रीय बाढ़ निरोधक मंडल ने जून १९५५ को अपनी पाँचवीं सभा में १९ बाढ़ नियंत्रण योजनाओं को स्वीकृति प्रदान की, जिनमें बाँध बाँधना, नगरों की रक्षा के उपायों और गाँवों की स्थिति के स्तर को ऊँचा करगे के उपाय आदि सम्मिलित है। इनमें से प्रत्येक योजना पर १० लाख रुपये से अधिक व्यय होगा, और ७·५ करोड़ रुपये का अनुदान प्रादेशिक सरकारों को बाढ़ रोकने के कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये दिया गया है। बोर्ड ने यह भी सिफारिश की है कि प्रत्येक प्रदेश के बाढ़ रोकने के कार्यों को प्रदेशीय बाढ़ निरोधक विभाग के नियंत्रण में कर देना चाहिये। इससे कार्य में समन्वय और उसकी गति में तीव्रता होगी।

आलोचना—बाढ़ नियंत्रण की यह योजना जनता के प्राण, सम्पत्ति और फसल की हानि को रोकने में अभी तक सफल नहीं हो पाई है। इसका कारण सरकारी कार्यक्रम के दोष हैं। मुख्य दोष निम्न हैं। (१) अभी तक जो प्रयत्न सरकार द्वारा किये गये हैं, वह सर्वथा अपर्याप्त है। योजनाएँ बनाने तथा प्रशासन कार्य करने के अतिरिक्त कोई कार्य नहीं हो पाया है। जो व्यय नियत किया गया है, वह बहुत ही कम है। द्वितीय योजना में भी केवल ६० करोड़ रुपये के व्यय की व्यवस्था की गई है, जब कि कम से कम इसका दुगना धन उपयुक्त होता। (२) जल विज्ञान सम्बन्धी ज्ञान के अभाव के कारण योजनायें दोषपूर्ण हो बन पाती हैं। प्रायः प्रयत्न विफल हो जाते हैं, और परिणाम प्रयत्न की तुलना में कुछ भी नहीं होता (३) बाढ़ों को रोकने के लिये अभी तक तटबँधों पर अधिक निर्भर रहे हैं। बाढ़ द्वारा लाई हुई मिट्टी तटबन्धों के किनारे जमा हो जाती है इससे तटबन्धों को ऊँचा करने की अथवा मिट्टी खुदवाने की समस्या सदैव बनी रहती है। और यदि बाढ़ बहुत तीव्र हुई तो तटबन्धों के बह जाने का भी डर रहता है। अधिक अच्छा उपाय तो भूमि के संरक्षण का है, इससे बाढ़ की तीव्रता कम हो जायगी। इससे एक और भी लाभ यह होगा कि बाढ़ पीड़ित स्थानों की उपजाऊ भूमि के बह जाने की समस्या भी सुलझ जायगी।

कठिनाइयाँ—सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनाओं को कार्यान्वित करमें में निम्नलिखित अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

(१) दोषपूर्ण योजना और अकुशल प्रबन्ध के कारण बहुत सा धन और प्रसाधन निष्फल हो गये। राव समिति में दामोदर घाटी कारपोरेशन के कार्य की परीक्षा की और इस परिणाम पर पहुँची कि केवल कोनार योजना के कुप्रबन्ध के कारण १·६४ करोड़ रुपये की हानि हुई। सिंचाई और विद्युत शक्ति उत्पादन योजनायें जैसे बड़े कार्य में धन का थोड़ा बहुत नष्ट होना तो अवश्यम्भावी था क्योंकि कर्मचारीगण अनुभवहीन थे, और ऐसी स्थिति में भूल होना स्वाभाविक था परन्तु वास्तविक हानि अनुमान से कहीं अधिक हुई इसलिये भविष्य में इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि जनता का धन व्यर्थ न जाय।

(२) "स्थिरयंत्रों और प्रसाधनों के क्रय के सम्बन्ध में निश्चित नीति के अभाव के कारण समय-समय पर विभिन्न प्रकार के यंत्रों का क्रय किया गया। सिंचाई, शक्ति और योजना मंत्रालय द्वारा १९५३ में नियुक्त प्लान्ट और मशीनरी कमेटी ने सिफारिश की है कि इस कठिनाई को दूर करने के लिए मुख्य-मुख्य यांत्रिक प्रसाधनों को एक ही प्रमाप का होना चाहिए।

(३) अपेक्षित योग्यता और सनद प्राप्त इंजीनियर और विशेषज्ञों के अभाव के कारण भारत की नदी घाटी तथा अन्य योजनाओं को बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यह समस्या दो प्रकार की है; (क) विशेषज्ञों का अभाव तथा (ख) जो व्यक्ति दामोदर घाटी तथा अन्य योजनाओं का कार्य कर रहे हैं, वे अपने भविष्य के बारे में सशंक हैं कि इन योजनाओं का कार्य जब समाप्त हो जायगा तब उनका क्या होगा। एक समय भारत सरकार अखिल भारतीय सिंचाई तथा शक्ति विशेषज्ञों का एक विशेष सेवा वर्ग बना रही थी, अथवा इसके स्थान पर ऐसे कर्मचारियों का जो विभिन्न प्रदेशों से आये थे एक संचय (deputation pool) बनाने का विचार कर रही थी।

(४) सिंचाई तथा शक्ति उत्पादन योजनायें सुधार-कर लगाने अथवा सिंचाई की दर बढ़ाने को बाध्य करती हैं। सुधार कर एवं सिंचाई की बढ़ी हुई दर के कारण कुछ प्रदेशों के कृषकों को अधिक भार वहन करना पड़ा है। इसलिये यह आवश्यक है, कि इन करों के आरोपित करने के साथ ही साथ इस बात का भी ध्यान रक्खा जाय कि कृषकों की कर क्षमता कितनी है। यदि राज्य सरकारें सिंचाई की दर, सुधार-कर तथा शक्ति की दर (Power rate) निश्चय करते समय कृषकों की देय-क्षमता को भी ध्यान में रखें तो बड़ा ही अच्छा हो।

अध्याय ११

सामुदायिक विकास योजनाएँ

भारतीय कृषकों की निर्धनता और आर्थिक दृष्टि से पिछड़े होने का प्रमुख कारण है कि वे नई प्रणालियों और जीवन के नवीन उपायों के प्रति उदासीन हैं। उनके सम्मुख जो जटिल समस्याएँ हैं उन्हें हल करने के लिए वे सुसंगठित रूप में प्रयत्न भी नहीं करते। सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य-क्रमों और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं (National Extension Service) का उद्देश्य यह है कि उनके द्वारा "जनता के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हो, उनमें जीवन के उच्चतर स्तर तक पहुँचने का महत्त्वाकांक्षी और साथ ही साथ उस स्तर को प्राप्त करने के लिए दृढ़ निर्णय और इच्छाशक्ति उत्पन्न की जाय। ग्रामों में निवास करने वाले ७ करोड़ परिवारों के दृष्टिकोण में परिवर्तन लाना, नवीन ज्ञान व जीवन के नवीन उपायों के प्रति उत्साह उत्पन्न करना और श्रेष्ठतर जीवन व्यतीत करने के लिए उनके हृदय में अभिलाषा व दृढ़ इच्छा-शक्ति का संचार—यह वास्तव में एक मानवीय समस्या है।" इस उद्देश्य के पूर्ण होने के लिए इस बात की आवश्यकता है कि विकास कार्य-क्रम ग्रामीण जनता के ऊपर बलपूर्वक न लादे जायें, वरन् इस बात का प्रयास किया जाय कि उन लोगों में ही आत्मविश्वास का उदय हो और वे नियोजन के कार्यक्रम में व्यक्तिगत रूप से रुचि ले सकें। सामुदायिक विकास योजनाओं के आधारभूत सिद्धान्त निम्न हैं :—

(अ) "विकास कार्य के लिए प्रेरक-शक्ति स्वयं ग्रामवासियों से आनी चाहिए। ग्रामों में विपुल शक्ति निष्क्रिय रूप में बिखरी पड़ी है जिसका उपयोग नहीं किया जा रहा है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि वह शक्ति क्रियात्मक कार्यों के लिए नियोजित की जाय और प्रत्येक परिवार के सदस्य न केवल अपने हित के लिए कार्य करें वरन् सामुदायिक कल्याण के लिए भी समय दें।"

(ब) "सहकारिता के सिद्धान्त को विविध रूपों में लागू होना चाहिए, जिससे ग्राम्य-जीवन की अनेक समस्याएँ हल की जा सकें।"

सामुदायिक विकास योजनाओं के तीन उद्देश्य हैं : (१) कृषि, बागबानी, पशु-पालन, मछली-पालन आदि में वैज्ञानिक विधियों को लागू करके और अन्य पूरक धंधों व कुटीर-उद्योगों को प्रारंभ करके बेरोजगारी दूर की जाय और उत्पादन

में वृद्धि की जाय (२) जनता के सहयोग से प्रत्येक ग्राम या कई ग्रामों को मिलाकर कम से कम एक बहुउद्देश्यीय सहकारी संस्था होनी चाहिए जिसमें कृषि करने वाले लगभग सभी परिवारों के प्रतिनिधि हों, (३) गाँव की सड़कों, तालाबों, पाठशालाओं, स्वास्थ्य-केन्द्रों आदि सार्वजनिक हित के निर्माण-कार्यों के लिए सुसंगठित प्रयास होना चाहिए। इसके अतिरिक्त ग्रामीण जनता में प्रगतिशील दृष्टिकोण उत्पन्न करने की भी आवश्यकता है।

यह सामुदायिक विकास योजना २ अक्तूबर १९५२ को प्रारंभ की गई थी, जिसके अन्तर्गत ५५ केन्द्रों में सामुदायिक विकास योजनाएँ प्रचालित की गई। इन योजनाओं का कार्यक्षेत्र लगभग ३०,००० ग्रामों तक विस्तृत है जिनकी जनसंख्या लगभग १ करोड़ ९८ लाख है। कालान्तर में और भी अधिक सामुदायिक विकास योजनाएँ चलाई गईं और २ अक्तूबर १९५३ को राष्ट्रीय प्रसार सेवा के अन्तर्गत प्रसार-मंडलों (Extension Blocks) का भी समारंभ किया गया। इस प्रकार इस समय दो योजनाएँ साथ-साथ चल रही हैं, जिनमें से प्रथम हैं सामुदायिक विकास योजनाएँ और द्वितीय हैं राष्ट्रीय प्रसार सेवाएँ। 'इन राष्ट्रीय प्रसार सेवाओं के भी वही उद्देश्य हैं जो सामुदायिक विकास योजनाओं के हैं। कृषि, पशु-पालन, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्रों में दोनों के कार्य-क्रमों में पर्याप्त समानता है। उनमें यदि कोई भेद है तो यही कि सामुदायिक विकास योजनाओं का कार्य-क्रम विस्तृत है और इसके अन्तर्गत स्थानीय कार्यों पर पर्याप्त धन-राशि भी व्यय की जायगी योजना में यह व्यवस्था की गई है कि जिन विकास-मंडलों की प्रगति पर्याप्त रूप से संतोषजनक होगी और जहाँ जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त होगा, उन्हें सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत सुसंगठित के लिए चुन लिया जायगा।

संगठन—सामुदायिक विकास योजना की व्यवस्था पंचायतों और इसी उद्देश्य के लिए निर्माण की गई अन्य उच्च संस्थाओं द्वारा की जाती है। "जनता और उसके अनेक प्रतिनिधियों से काफी विचार-विमर्श करने के उपरान्त विकास कार्य-क्रम निश्चित किया जाता है। गाँव के स्तर पर नियोजन का कार्य-भार पंचायत पर ही रहता है। वही विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित भी करती है। जिन क्षेत्रों में या तो पंचायतें बिल्कुल है ही नहीं या उनका अधिक प्रभाव नहीं है, वहाँ यह प्रयास किया गया है कि इस उद्देश्य के लिए ग्रामीण विकास समितियों की स्थापना की जाय, जिन्हें ग्राम-विकास मंडल, ग्राम मंडल समिति, ग्राम सेवा संघ आदि कुछ भी नाम दिया जा सकता है। इन्हीं संस्थाओं के द्वारा नियोजन के कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने के लिए जनता का सक्रिय सहयोग प्राप्त

होता है। विकास-मंडल के स्तर पर एक परामर्शदात्री समिति की स्थापना की जाती है, जिसमें ग्राम समितियों के प्रतिनिधि, विधान-परिषद्, विधान-सभा व संसद के सदस्य, सहकारी समितियों के प्रतिनिधि, प्रगतिशील कृषक आदि सम्मिलित होते हैं। यह परामर्शदात्री समिति ग्राम-संस्थाओं द्वारा तैयार की गई योजनाओं पर विचार करती है। फिर इस परामर्शदात्री समिति द्वारा निर्माण की गई मंडल की विकास योजनाओं को जिला विकास समिति के द्वारा जिले की विकास-योजना के कार्य-क्रम में सम्मिलित कर लिया जाता है। इस जिला विकास समिति में प्रमुख गैर सरकारी व्यक्ति और जिले के अनेक टेक्निकल विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। इस प्रकार प्रत्येक स्तर पर विकास योजना तैयार करने और उनको कार्यान्वित करने के लिए सरकारी और गैरसरकारी संगठन साथ-साथ कार्य करते हैं"। इस योजना की एक प्रमुख विशेषता यह है कि "वर्तमान शासन-सम्बन्धी सरकारी ढाँचे में इस प्रकार परिवर्तन किया जा रहा है कि वह जन-कल्याण के दायित्व का भी निर्वाहकर सकें, जिसका परिणाम यह है कि सामान्य प्रशासनयंत्र से भिन्न एक पृथक जन-कल्याण विभाग स्थापित करने की आवश्यकता नहीं है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रशासन-यंत्र (administrative machinery) की रचना राजस्व-संग्रह (revenue collection) का निरीक्षण और नियम व व्यवस्था की स्थापना करने के उद्देश्य से की गई थी, उसने परिवर्तित होकर कल्याणकारी शासन का रूप ग्रहण कर लिया है और सरकार के विकास-सम्बन्धी सभी विभागों के साधनों का उपयोग ग्राम-विकास की समस्याओं को हल करने के लिए किया जा रहा है।"

विकास-सम्बन्धी नीति के सामान्य सिद्धान्त निर्धारित करने के लिए प्रत्येक राज्य में एक राज्य विकास समिति (State Development Committee) की स्थापना की गई है, जिसमें मुख्य-मंत्री और विकास-कार्य से सम्बद्ध अनेक विभागों के अध्यक्ष सम्मिलित होते हैं। डेवलॅपमेन्ट कमिश्नर इस समिति का मंत्री होता है और समन्वय स्थापित करने के उद्देश्य से वह सरकार के विकास के सम्बन्धी अनेक विभागों के अध्यक्ष और मन्त्रियों के दल का प्रधान भी होता है। जिले, तहसील और मंडल के स्तर पर ऐसा ही समन्वय स्थापित करने के लिए डेवलपमेन्ट कमिश्नर से समान ही क्रमशः कलक्टर और मंडल-विकास अधिकारी (Block Development Officer) को भी उसी प्रकार के कार्य सौंपे गए हैं। विकास-सम्बन्धी शासन की इस शृंखला में ग्राम-सेवक अन्तिम कड़ी के समान होता है और जिले के शासन का एक अंग समझा जाता है। और बहु-उद्देशीय कार्य करमें पड़ते हैं। शासन के ढाँचे को निर्माण करने का उद्देश्य यह है कि

अधिकारी अधिक से अधिक कार्यक्षमता से काम करें और जनता से अधिकतर सहयोग उपलब्ध है।

योजना के अन्तर्गत—राष्ट्रीय विस्तार और सामुदायिक विकास योजनायें प्रथम पंचवर्षीय योजना की देन है। कार्य की इकाई एक विकास मंडल है, जिसके अन्तर्गत लगभग १०० ग्राम आते हैं, जिनकी जनसंख्या ३०,००० से लगाकर ७०,००० तक होती है, और उनका क्षेत्रफल १५० से १७० वर्गमील तक हो सकता है, १९५२ में जब से यह कार्यक्रम आरम्भ हुआ है; समुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत ३०० मंडल और राष्ट्रीय विस्तार सेवा योजना के अन्तर्गत ९०० मंडल बना लिए गये हैं, और इस प्रकार १९५६ तक विस्तार मंडलों का योग १२०० हो गया है। इसके अन्तर्गत तालिका नं० १ के अनुसार १२२००० ग्राम और ८ करोड़ व्यक्ति आ जायेंगे।

तालिका नं० १

विकास मंडल का कार्य जो प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में आरम्भ किया गया

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	जोड़
विकास मडल					
सामुदायिक विकास	२४७	५३			३००
राष्ट्रीय विस्तार	...	२५१	२५३	३९६	९००
जोड़	२४७	३०४	२५३	३९६	१२००
ग्राम संख्या					
सामुदायिक विकास	२५,२६४	७,६९३	...	...	३२,९५७
राष्ट्रीय विस्तार	...	२५,१००	२५,३००	३९६००	९०,०००
जोड़	२५,२६४	३२,७९३	२५,३००	३९,६००	१,२२,९५७
जनसंख्या (दस लाख में)					
सामुदायिक विकास	१६.४	४.०	...	...	२०.४
राष्ट्रीय विस्तार	...	१६.६	१६.७	२६.१	५९.४
जोड़	१६.४	२०.६	१६.७	२६.१	७९.८

विकास क्षेत्र में १४००० नये स्कूलो को आरम्भ करना और ५१५४ प्राइमरी स्कूलों को बेसिक स्कूलों में परिवर्तित किया जाना है, ३५००० वयस्कों के लिये शिक्षा केन्द्रों का स्थापित करना, जिनके द्वारा ७७,३०० वयस्क साक्षर किये

गये हैं, तथा ४०६६ मील पक्की और २८००० मील कच्ची सड़क का बनवाना और ८०,००० शौचालयों का गाँवों में निर्माण करवाना स्थानीय विकास के उदाहरण हैं। जिनका सामाजिक प्रभाव बहुत ही महत्वशाली होगा। इस कार्य में बहुत अधिक अंश तक सहायता जनता तथा विस्तार योजनाओं को कार्यान्वित कराने वाले सरकारी कर्मचारियों द्वारा प्राप्त हुई है, जिन्होंने पथ प्रदर्शक का कार्य किया है। यदि ग्राम उद्योगों तथा सहकारिता के क्षेत्र में सफलता कम प्राप्त हुई है, इसका कारण यदि सम्पूर्ण देश के दृष्टिकोण से ही देखा जाय तो सहकारिता तथा नवीन उद्योगों की कार्य व्यवस्था का दोष है, जिसमें सुधार करना चाहिए।

"राष्ट्रीय विकास परिषद् ने सितम्बर १९५५ में यह स्वीकार कर लिया था कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में समस्त देश राष्ट्रीय विकास सेवा योजना के अन्तर्गत आ जायगा और जा राष्ट्रीय विस्तार मंडल सामुदायिक विकास मंडलों में परिणत कर दिये जायेंगे, आर उनकी संख्या ४०% से कम न होगी। यदि पर्याप्त वित्तीय सहायता प्राप्त हा सकेगी तो सम्भवतः यह संख्या ५०% भी हो जाय। द्वितीय योजना में ३८०० नये विकास मंडल राष्ट्रीय विस्तार योजना के कार्यक्रम के अन्तर्गत आरम्भ किये जाने वाले हैं और यह आशा की जाती है कि इनमें से ११२० सामुदायिक विकास मंडलों में परिणित कर दिये जायेंगे। योजना के इस कार्य के लिए २०० करोड़ रुपयों का भी प्रबन्ध प्रबन्ध किया गया है।"

"सामुदायिक योजना प्रशासन के निश्चित किए हुये कार्यक्रम के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में, प्रत्येक वर्ष, राष्ट्रीय विस्तार मंडल तथा उनके सामुदायिक विकास मंडलों में परिणात किये जाने का कार्य किया जाया करेगा।" जैसा कि तालिका नं० २ में दिखाया गया है।

तालिका नं० २

विस्तार मंडलों की संख्या

वर्ष	राष्ट्रीय विस्तार सेवा	सामुदायिक विकास मंडलों में परिवर्तन
१९५६-५७	५००	२५०
१९५७-५८	६५०	२००
१९५८-५९	७५०	२६०
१९५९-६०	९००	३००
१९६०-६१	१०००	३६०
	३८००	११२०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में ऐसा प्रतीत होता है, कि प्रत्येक ग्रामीण परिवार में यह भावना उत्पन्न करनी होगी कि अपने रहन-सहन के स्तर को सुधारना तथा एक निश्चित कार्यक्रम का अनुसरण करना और उसमें सहयोग देना उनका कर्त्तव्य है। यह आशा की जाती है, कि राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्यक्रम द्वारा और अन्य अनुपूरक कार्यक्रमों द्वारा आगामी कुछ वर्षों में ही कृषि उत्पत्ति में वृद्धि के अतिरिक्त निम्न अन्य क्षेत्रों में उन्नति होगी। (१) सहकारिता के कार्य में जिसमें सहकारी कृषि भी सम्मिलित है विस्तार होगा, (२) ग्रामोन्नति में सक्रिय उत्तरदायित्व रखनेवाली सँस्थाओं के रूप में ग्राम पंचायतों का विकास होगा, (३) भूमि की चकबन्दी, (४) ग्राम के छोटे उद्योगों का विकास होगा, (५) ऐसे कार्यक्रमों को कार्यान्वित करना हागा जिनमें गाँव के पिछड़ी हुई जनता को जैसे छोटे-छोटे कृषक, भूमिहीन कृषक, कृषि कार्य करने वाले मजदूर एवं शिल्पी इत्यादि, (६) स्त्रियों और नवयुवकों की उन्नति के लिये और पिछड़ी जातियों के विकास के लिये विस्तृत कार्यक्रम बनाये जायेंगे।

"ऐसे बहुमुखी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने के लिये जिसके अन्तर्गत उद्योग, सहकारिता, कृषि उत्पादन, भूमि सुधार, तथा सामाजिक सेवायें आती हैं, जो क्षेत्र राष्ट्रीय विस्तार तथा सामूदायिक विकास कार्यक्रमों को लागू करने के लिये चुने जायेंगे, उनके शीघ्र ही उन्नति करने की बहुत अधिक सम्भावना होगी। जब इन कार्य-क्रमों को संयोजित रूप से कार्यान्वित किया जाता है, और स्थानीय संस्थाओं का सहयोग व्यवस्थित रूप से प्राप्त होता है, तो एक कार्य में सफलता दूसरे में सफलता के लिए अवसर प्रदान करती हैं। और इस प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र में आर्थिक व्यवस्था दृढ़ हो जाती है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत विकास कार्य-क्रम में कृषि उत्पादन को सर्वं प्रथम स्थान दिया गया है। इसके पश्चात् ग्राम की सबसे अधिक महत्वशाली आवश्यकता कार्य करने के पर्याप्त अवसरों का प्रदान करना है। संतुलित ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था में यह आवश्यक है, कि औद्योगिक कार्यों के अवसरों की कृषि कार्यों को अपेक्षा द्रुततर गति से वृद्धि की जाये। हाल के ग्राम तथा छोटे उद्योगों के विकास कार्य-क्रामों के सम्बन्ध में जो अनुभव हुआ है उससे यह संकेत मिलता है, कि ऐसी विस्तार सेवा की आवश्यकता है, जिसका सम्पर्क ग्रामीण शिल्पकारों से हो और जो उन्हें आवश्यक पथप्रदर्शन कर सके, सहायता दे सके, उनकी सहकरिता के आधार पर व्यवस्था कर सके और अपने माल को गाँव में तथा बाहर बेचने में सहायता दे सके। इसका प्रारम्भ २६ अग्रगामी योजनाओं को कार्यान्वित करके किया जा चुका है। यह आवश्यक है

कि यथासम्भव शीघ्र प्रत्येक विस्तार तथा सामुदायिक विकास क्षेत्र में एक प्रवीण प्रशिक्षित इन ग्राम उद्योगों के कार्यक्रम को चलाने के लिये नियुक्त किया जाय।

वित्त की व्यवस्था—इन विकास कार्य-क्रम के लिए वित्त की व्यवस्था सामुदायिक योजना प्रशासन (Community Project Administraion), राज्य सरकारों और जनता के द्वारा की जाती है। सी० पी० आर्थिक रूप से वित्त का प्रबन्ध तो करता ही है, इसके अतिरिक्त उस पर विशेष यन्त्रों व तत्सम्बन्धी अन्य सामग्रियों को उपलब्ध करने का भी दायित्व है। इस विकास कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने के लिए अतिरिक्त कर्मचारियों को रखने पर जितना व्यय होगा, उसका आधा धन राज्य सरकारों को केन्द्रीय सरकार द्वारा आर्थिक सहायता के रूप में प्राप्त होगा केन्द्रीय सरकार यह प्रयास भी कर रही है कि योजना की अवधि समाप्त होने तक सहकारी अनदोलन और अन्य एजेन्सियों के द्वारा अल्पकालीन, औसतकालीन और दीर्घकालीन ऋण के रूप में क्रमशः १०० करोड़, और २५ करोड़ रुपये का धन प्रति वर्ष प्राप्त होने लगे। सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्रम पर जो धन-राशि व्यय होती है उसकी लगभग १०% भारतीय-अमरीकी टेकनिकल सहयोग योजना द्वारा यन्त्रों और टेकनिकल परामर्श आदि के रूप में प्राप्त होती है।

सामुदायिक योजनाओं और विकास मंडलों के लिए १९५२-५३ से लेकर १९५५-५६ तक कुल मिला कर ३२·६० करोड़ रुपये धन का बजट में स्वीकृत हुआ है। इस प्रकार मार्च १९५४ तक प्रथम १८ महीनों में व्यय के लिए १६.३० करोड़ रुपये निर्धारित थे, किन्तु इस अवधि में वास्तव में जो धन-राशि व्यय की गई वह केवल ५·९५ करोड़ रुपया थी। इसके अतिरिक्त इस अवधि में नकद धन, श्रम, सामग्री आदि की ऐच्छिक सहायता के रूप में कुल मिलाकर २·६३ करोड़ रुपया का धन प्राप्त हुआ, जो सरकारी व्यय के धन के आधे से थोड़ा ही कम है। प्रारम्भिक काल की अनेक कठिनाइयों के कारण योजना की प्रगति धीमी रही, किन्तु जब हम इस तथ्य पर ध्यान केन्द्रित करते हैं कि जून १९५४ तक व्यय की गई धनराशि ८·१० करोड़ रुपये तक पहुँच गई, तो भविष्य में अधिक तीव्र प्रगति होने की संभावना प्रकट होती है।

धीमी प्रगति के कारण—सामुदायिक योजनाओं की प्रगति का मूल्यांकन करने के लिए फोर्ड फाउन्डेशन के सहयोग से एक कार्य-मूल्यांकन संस्था (Programme Evaluation Organisation) की स्थापना की गई है। सामुदायिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के मार्ग में निम्न कठिनाइयाँ हैं—

(१) प्रारम्भिक अवस्था में प्रगति के अवरुद्ध होने का कारण यह था कि

जनता उदासीन थी और अन्य लोकप्रिय व्यक्तियों ने भी योजना के कार्य-क्रम में सक्रिय रूप से भाग नहीं लिया। इस स्थिति में किसी सीमा तक सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु फिर भी ग्रामवासियों का पूर्ण सहयोग नहीं प्राप्त हो रहा है। प्रगति के धीमी और अनिश्चित होने का यह एक प्रमुख कारण था।

(२) पंचायतों अथवा विशेष कर इसी उद्देश्य से स्थापित की गई अन्य लोक प्रिय संस्थाओं से जो सहयोग प्राप्त हुआ है, वह अपर्याप्त है। पंचायतें सभी क्षेत्रों में नहीं हैं और जहाँ हैं भी, वहाँ उनमें गुटबन्दी के कारण प्रायः संघर्ष चलता रहता है। सहकारी संस्थाएँ उपयोगी हो सकती हैं, किन्तु विकास योजनाओं के सम्बन्ध में उनकी उपयोगिता सीमित ही है। उनके नियमों के अनुसार सामान्य रूप से सदस्य भी नहीं बनाए जा सकते, क्योंकि उनका चुनाव किया जाता है। सहकारी संस्थाओं की रचना ही कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है जिससे उनके कार्य सीमित होते हैं। विकास कार्य-क्रम की सहायता के लिए अनेक परामर्शदात्री संस्थाओं की स्थापना की गई है जिनके भिन्न-भिन्न नाम हैं और जो कुशल अधिकारियों के निर्देशन में सन्तोषजनक कार्य कर रही हैं। किन्तु फिर भी यह आशंका बनी हुई है कि जब सरकारी अधिकारी हटा लिए जायेंगे, तो संभव है कि ये संस्थाएँ कार्य करना बन्द कर दें।

(३) धीमी प्रगति के लिए उचित योजना का अभाव भी अधिक सीमा तक उत्तरदायी है। विकास की प्रगति इसलिए धीमी नहीं रही है कि आवश्यक वित्त का अभाव था, वरन् उसका कारण यह था कि प्रारम्भिक अवस्था में अधिकारियों-द्वारा बजट में कोई निश्चित मात्रा निर्धारित नहीं की गई। इसके अतिरिक्त अन्य कारण भी थे। बजट बहुत जल्दी में तथा अस्पष्ट विचारों के साथ तैयार किए जाते थे तथा धनराशि को मंजूरी देने के पूर्व विवरण जानने में समय लगता था।

(४) कार्य-क्रम की इस धीमी प्रगति और अनेक भूलों के लिए प्रशिक्षण-प्राप्त कर्मचारियों का अभाव बहुत बड़ी सीमा तक उत्तरदायी है। किन्तु अब अधिक संख्या में कर्मचारियों को प्रशिक्षण देकर यह अभाव शीघ्रता से दूर किया जा रहा है।

पी० ई० ओ० की तीसरी सफलतांकन रिपोर्ट (Evaluation Report) ने कार्य को समुचित रूप से चलाने के सम्बन्ध में अनेक प्रयोगात्मक सुझाव दिये हैं जो बहुत ही महत्वपूर्ण हैं।

राष्ट्रीय विस्तार तथा सामुदायिक विकास कार्य-क्रम को आशानुकूल सफल बनाने के लिये यह आवश्यक है कि (१) औद्योगिक विभागों को प्रत्येक दिशा में

और प्रत्येक स्तर पर पर्याप्त मात्रा में दृढ़ बनाया जाय। अनेक स्थानों पर प्रत्येक क्षेत्र तथा जिला सम्बंधी औद्योगिक विभागीय व्यवस्था की क्षमता तथा संख्या में सुधार करना आवश्यक हो गया है, (२) इसके अतिरिक्त अन्वेषण के कार्य की सुविधाओं का विस्तार किया जाय, भूमि के आस-पास के गवेषणागारों को विस्तृत किया जाय और इस बात का विशेष ध्यान दिया जाय कि खेतों से सब सूचनायें गवेषणागारों तक पहुँच जाँय, (३) विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों पर क्षेत्र विकास कर्मचारी के नियन्त्रण (जो आवश्यकता से अधिक हो सकता है) तथा ज़िलों के अन्य प्राविधिक अधिकारियों के दुहरे नियन्त्रण की व्यवस्था सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर रही है। (४) निर्माण कार्यों ने ग्रामों में कार्य करने वाले कर्मचारियों का जिनको कृषि तथा कृषि विस्तार की प्रारम्भिक शिक्षा मिली है और जिनका सबसे अधिक आवश्यक कर्त्तव्य कृषि उत्पादन बढ़ाने का है, अधिकांश समय ले लिया है, (५) ग्राम पंचायतों को अपने वृद्धिमान उत्तरदायित्व को जो कि उनके ऊपर डाल दिया गया है पूर्ण करने के लिये सदैव पथ प्रदर्शन तथा सक्रिय सहायता मिलनी चाहिए; (६) कार्य-क्रम को कार्यान्वित करने में आवश्यकता से अधिक महत्व भौतिक और आर्थिक सफलताओं पर दिया गया है, जैसे निश्चित किये हुये कार्य के, व्यय और भवन निर्माण के ध्येयों को पूरा करना इत्यादि; और जनता को नये ढंग से कार्य करने की शिक्षा देने तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवा को सुधार और विकास सम्बन्धी कार्यक्रमों के पूर्ण करने के लिये, जो राष्ट्रीय प्रादेशिक योजना के अन्तर्गत हैं, एक प्रभावशाली साधन बनाने की ओर कम ध्यान दिया गया है।

<u>कार्य करने में त्रुटि</u>—सामुदायिक विकास योजनाओं ने ग्रामीण जनता में आत्मविश्वास उत्पन्न करने में बहुत कुछ योग दिया है। उसने ग्रामनिवासियों को इस बात का आभास दिया है कि ग्राम्य-जीवन में निश्चित रूप से कुछ गड़-बड़ी है जिसका पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही सुधार किया जा सकता है। अभी इतना अधिक समय नहीं हुआ है कि इस सम्बन्ध में किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जा सके; फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि सामुदायिक विकास योजनाओं ने उत्पादन बढ़ाकर और बेरोजगारी कम करके ग्रामों में रहन सहन का स्तर ऊँचा किया है। किन्तु जिस रूप में कार्य-क्रम को कार्यान्वित किया जा रहा है उसमें कई दोष हैं: (१) भूमिहीन खेतिहर मजदूरों के श्रम का उपयोग करने की समुचित व्यवस्था नहीं है। कृषि के क्षेत्र में उत्पादन-वृद्धि और कृषकों के लिए कार्य के अवसर उत्पन्न करना अत्यन्त महत्वपूर्ण है, किन्तु भूमिहीन मजदूरों को बसाने की व्यवस्था भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। जब कभी विकास योजनाओं

के अन्तर्गत अस्थायी रूप से मजदूरी देकर कार्य करने की आवश्यकता पड़ती है तभी इन्हें थोड़ा-बहुत कार्य मिलता है। इसके अतिरिक्त वे निःसहाय, बेरोजगार और उपेक्षित-से रहते हैं, (२) यदि दूसरे दृष्टिकोण से देखा जाय तो सामुदायिक विकास योजनाओं के कार्य-क्रम में एक और दोष प्रकट होगा। वह यह है कि खेतिहर मजदूरों को पूरक कार्य उपलब्ध कराने के लिए ग्राम्य-उद्योगों की स्थापना करने पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। इस सम्बन्ध में पी० ई० ओ० की यह धारणा है कि "ग्रामीण उद्योग-धन्धों की अनिश्चित संभावना के पीछे चाहे जो भी कारण हों, किन्तु तथ्य तो यह है कि सामुदायिक विकास योजनाओं के वर्तमान स्वरूप और साधनों से भूमिहीन मजदूरों की बेरोजगारी की समस्या हल करने की आशा नहीं की जा सकती"। किन्तु पी० ई० ओ० का यह दृष्टिकोण गलत है। चूंकि सामुदायिक विकास योजनाओं का उद्देश्य है कि उत्पादन कार्य और ग्रामीण जनता की आय में वृद्धि हो और ग्रामवासियों में नई आशा का संचार किया जाय, इसलिए गैर खेतिहर वर्ग की बेरोजगारी' की समस्या को उपेक्षा की दृष्टि से देखना उचित नहीं है ऐसा करने पर सामुदायिक विकास योजनाओं की उपयोगिता बहुत कुछ कम हो जायगी, (३) सामुदायिक विकास योजना के अन्तर्गत भूमि की समस्या को सुलझाने के लिए भी कोई प्रयास नहीं किया गया है। चकबन्दी का कार्य एक अन्य संगठन द्वारा किया जा रहा है, किन्तु इसने अभी अधिक सफलता नहीं प्राप्त की है। बम्बई, उत्तर-प्रदेश और सौराष्ट्र को छोड़कर सहकारी कृषि के क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हुई है और इन राज्यों में भी यह आन्दोलन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही है। बहुत से कृषकों के पास कृषि के लिये इतनी कम भूमि है कि उस पर कृषि करना आर्थिक दृष्टि से लाभ-पूर्ण नहीं है। जब तक कृषि की इकाई के रूप में प्रयुक्त होने वाली भूमि का क्षेत्रफल नहीं बढ़ाया जाता और निम्नतम लागत से अधिकतम उत्पादन नहीं होगा, तब तक किसान खेती की विकसित प्रणालियों का पूरा लाभ नहीं प्राप्त कर सकेंगे, और (४) सामुदायिक विकास योजना के कार्य-क्रम में अब तक कोई ऐसा व्यवस्था नहीं है जिससे जन-संख्या की वृद्धि पर नियंत्रण रखा जाय और परिवार-आयोजन (Family Planning) का सुचारु प्रबन्ध हो सके। जब तक यह कार्य नहीं हो जाता तब तक भारतीय ग्रामीण जनता की जटिल समस्याओं को सन्तोषजनक रूप से हल करने की आशा करना व्यर्थ है। उत्पादन बढ़ाकर और जन-संख्या की वृद्धि को नियंत्रित करके ही ग्रामवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया जा सकता है।

अध्याय १२

सहकारी आन्दोलन

भारत में सहकारी आन्दोलन का विकास २० वीं शताब्दी में हुआ। सहकारिता का अर्थ है किसी समान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मिलजुल कर प्रयत्न करना। समान उद्देश्य की दृष्टि से यह व्यक्तिगत प्रयत्न और सहायता से बिल्कुल भिन्न है। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ की परिभाषा के अनुसार सहकारी समिति ऐसे व्यक्तियों की संस्था है जिनकी आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं है और जो समान अधिकार तथा उत्तरदायित्व के आधार पर स्वेच्छा-पूर्वक संगठित होकर अपनी ऐसी समान आर्थिक आवश्यकताओ की पूर्ति का भार एक संस्था को सौंप देते हैं जिनको वह अपने व्यक्तिगत प्रयत्नों के द्वारा पूर्णतः सन्तुष्ट कर सकने में असमर्थ होते हैं। यह लोग आपस में मिलकर इस संस्था का प्रबन्ध करते हैं और समान भौतिक एवम् नैतिक लाभ उठाते हैं। इस प्रकार सहकारी समिति समान हितों का संघ है; यह समान अधिकार प्राप्त सदस्यों का स्वेच्छा से निर्मित एक ऐसा आर्थिक संगठन है जो अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है और उनके समान हितों की रक्षा करता है।

सहकारी समितियाँ दो प्रकार की हैं—(१) रेफिजेन (Raiffelsen type) और (२) शुल्ज-डेलित्ज (Schulze Delitsch type)। इन दो प्रकार की सहकारी समितियों में जिन व्यक्तियों का नाम सम्मिलित है वह जर्मनी में सहकारी आन्दोलन के प्रणेता थे। प्रथम प्रकार की सहकारी समिति के सिद्धान्तों का उपयोग ग्राम में संगठित की जानेवाली समितियों में किया जाता है और दूसरे प्रकार की समितियों के सिद्धान्तों का उपयोग नगरों में किया जाता है। रेफिजेन-समितियों का कार्य क्षेत्र प्रायः एक ग्राम तक सीमित रहता है और इनके सदस्यों का उत्तरदायित्व असीमित होता है। इन समितियों से केवल सदस्यों को ही ऋण दिया जाता है और वह भी केवल उत्पादन के लिए। शुल्ज-डेलित्ज समितियों का कार्य क्षेत्र अधिक व्यापक है और इनके सदस्यों का उत्तरदायित्व भी सीमित है। इस प्रकार की सीमित सदस्यों से प्रवेश शुल्क वसूल करती है और बिना आय वाला व्यक्ति इसका सदस्य नहीं बन सकता है।

वित्त, उत्पादन, वितरण इत्यादि किसी भी उद्देश्य की पूर्ति के लिए इन समितियों को संगठित किया जा सकता है परन्तु भारत में ऋण देने वाली

साख समितियों का ही प्रभुत्व है। वास्तव में भारत में सहकारी आन्दोलन आरंभ करने का निश्चित उद्देश्य ग्रामों में ऋण की भयानक समस्या को हल करना और ग्रामीणों को सुविधा जनक रीति से ऋण देना था। भारत में जून १९५५ में सब प्रकार की २,१६,२८८ समितियों की तुलना में जून १९५६ में २,४०,३९५ सहकारी समितियाँ थीं। कृषि साख समितियाँ ही प्रमुख थीं। इनकी संख्या कुल समितियों की ६७½% तथा कृषि समितियों की ८०½% थी। आन्दोलन अब भी साख-प्रधान है।

विकास—भारत में सहकारी आन्दोलन के इतिहास की सर्वप्रथम महत्व-पूर्ण घटना १९०४ का सहकारी साख-समिति अधिनियम है। इस नियम के बनने से पूर्व भी मद्रास में सहकारिता के सिद्धान्तों का महत्वपूर्ण विकास हो रहा था। वहाँ साख-समितियों का कार्य 'निधियाँ' करती थीं। देश में सहकारिता के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करने के लिए सरकार ने सर्वप्रथम १९०१ में एक समिति नियुक्त की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट में बताया कि जब तक सरकार अधिनियम नहीं बनाती इस दिशा में विशेष प्रगति की संभावना नहीं है। इसी रिपोर्ट के आधार पर सरकार ने सहकारी साख-समिति अधिनियम पास किया। इसमें केवल साख-समितियों की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार अन्य देशों की अपेक्षा भारत में सर्वप्रथम साख-समितियों का ही विकास हुआ। नियम लागू होने के पश्चात् यह अनुभव किया गया कि इससे उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। साख-समितियों के पास ग्राम में ऋण प्रथा समाप्त करने के लिए आवश्यकता से बहुत कम पूँजी थी।

इस नियम के दोषों को दूर करने के लिए १९१२ में दूसरा सहकारी समिति अधिनियम पास किया गया। इस नियम में क्रय-विक्रय करने वाली अन्य प्रकार की सहकारी समितियों का संगठन करने की व्यवस्था की गई। नगर और ग्राम समितियों के अंतर को मिटा दिया गया। सीमित उत्तरदायित्व और असीमित उत्तर-दायित्व के आधार समितियों को अधिक वैज्ञानिक रूप से वर्गीकृत किया गया। नियम में यह निश्चित कर दिया गया कि जिन समितियों के सदस्य रजिस्टर्ड समि-तियाँ हैं वह सीमित उत्तरदायित्व वाली समितियाँ होंगी और साख-समितियाँ तथा ऐसी अन्य समितियाँ जिनके अधिकांश सदस्य कृषक हैं असीमित उत्तरदायित्व वाली समितियाँ होंगी। इस नियम से सहकारी आन्दोलन के विकास में सहायता मिली। उत्पादन के विक्रय के लिए, पशु-बीमा, दूध की पूर्ति और खाद इत्यादि क्रय के लिए नई प्रकार की समितियाँ स्थापित की गईं।

मैकलैगन समिति की रिपोर्ट के आधार पर सहकारी आन्दोलन के विकास

में एक और प्रयास किया गया। इस समिति की रिपोर्ट के आधार पर १९१९ के सुधार अधिनियम (Reform Act) के द्वारा सहकारी आन्दोलन का कार्य राज्य-सरकारों को सौंप दिया गया। राज्य सरकारों ने कुछ वर्षों तक इस दिशा में कोई महत्वपूर्ण प्रगति नहीं की परन्तु १९२५ में बम्बई की सरकार ने अलग से सहकारी समिति अधिनियम नियम बनाया। इसके पश्चात् अन्य राज्यों में भी आवश्यक कानून बनाये गये।

सहकारिता आन्दोलन के विकास का कुछ अनुमान इस बात से लग सकता है कि १९५१-५२ में समितियों की संख्या, सदस्या संख्या तथा कुल चालू पूँजी क्रमशः १·८५ लाख, १३७·९२ लाख तथा ३०६·३४ करोड़ रु० थी। १९५५-५६ में यह बढ़ कर क्रमशः २·४० लाख, १७६·२ लाख और ४६८·८२ करोड़ रु० हो गई। विभिन्न प्रकार की समितियों के दृष्टिकोण से अन्य समितियों की अपेक्षा कृषि साख समितियों में वृद्धि अधिक हुई है। पिछले वर्षों की ही तरह साख समितियाँ ही अधिक प्रधान रही और कुल चालू पूँजी का ७५% साख क्षेत्र में ही था। यह मानते हुए कि भारतीय परिवार के सदस्यों की औसत संख्या ५ है हम कह सकते हैं कि १९५५-५६ में ८·८ करोड़ व्यक्ति अथवा जनसंख्या के २३ प्रतिशत व्यक्ति सहकारी आन्दोलन के सम्पर्क में आये। १९५१-५२ में ६·९ करोड़ व्यक्ति अथवा १९ प्रतिशत जन संख्या सम्पर्क में आई थी। इसी प्रकार (प्राइमरी) प्राथमिक समितियों, जो आन्दोलन का आधार प्रस्तुत करती हैं, द्वारा १९५१-५२ में दिया हुआ ९७·९५ करोड़ रु० था। १९५५-५६ में यह राशि बढ़कर १४०·७८ करोड़ रु० हो गयी। दिये गये ऋण की इस वृद्धि से भी प्रगति का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चिन्ता का विषय तो यह है कि बकाया ऋणों के प्रतिशत के रूप में कालातीत ऋणों में कुछ कमी अवश्य हुई है किन्तु उनका अनुपात अब भी बहुत अधिक है।

प्रगति के इस संक्षिप्त सर्वेक्षण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि (क) सहकारिता से जनसंख्या का बहुत छोटा अंश लाभ उठा रहा है; (ख) जनसंख्या की वृद्धि के अनुकूल अनुपात में सहकारिता का विकास नहीं हुआ है; (ग) यद्यपि गैर साख समितियों की संख्या में वृद्धि हुई है, फिर भी साख समितियों का ही अधिक विकास हुआ है। इसलिये सहकारिता आन्दोलन को व्यापक बनाने के लिये यह आवश्यक है कि सहकारी समितियों में साख के अतिरिक्त अन्य पक्षों पर भी आवश्यक ध्यान देना चाहिये।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—सहकारी आन्दोलन न तो सारे देश में समान रूप से फैला है और न सभी जगह इसका सङ्गठन समान है। सहकारी आन्दोलन ने

खण्ड 'क' के कुछ राज्यों में विशेष प्रगति की है परन्तु अन्य राज्यों में इसका उपयुक्त विकास नहीं हो पाया है। खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यों में से कुछ में इस आन्दोलन का बिल्कुल विकास नहीं हुआ। सम्पूर्ण देश में कुल जितनी सहकारी समितियाँ हैं उनका ३८ प्रतिशत और प्रारम्भिक समितियों के लगभग ४६ प्रतिशत सदस्य केवल बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में हैं जबकि उत्तर प्रदेश, मद्रास, बम्बई, पश्चिमी बङ्गाल, पञ्जाब तथा हैदराबाद में क्रमशः ६१ तथा ६५ प्रतिशत है। परन्तु देश में जहाँ जनसंख्या तथा क्षेत्रफल में भारी अन्तर है सहकारी समितियों की प्रगति की जाँच करने के लिए समितियों की संख्या उपयुक्त नहीं है। यह जानना आवश्यक है कि इन समितियों से कितने प्रतिशत जनता लाभ उठाती है। कुछ खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यों में सहकारी समितियों का कार्य सन्तोष-जनक रहा है। रिज़र्व बैंक ने सुझाव दिया है कि सहकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में प्रत्येक राज्य में समितियों के कार्य-क्षेत्र पर और खण्ड 'ख', 'ग' और 'घ' राज्यों में उनकी कार्य कुशलता पर विशेष महत्त्व दिया जाय।

सङ्गठन—सहकारी समितियों का सङ्गठन वास्तव में शुंडाकृति (Pyramid) के समान है। इस सङ्गठन का आधार वह प्रारम्भिक सहकारी समितियाँ हैं जिनको सङ्गठित करने के लिए कोई भी दस व्यक्ति सहकारी समितियों के रजिस्ट्रार को आवेदन पत्र दे सकते हैं। विभाग के निरीक्षक द्वारा आवश्यक जाँच-पड़ताल के पश्चात् समिति स्थापित करने की अनुमति दी जाती है। इन समितियों की चालू पूँजी, प्रवेश शुल्क, सरकारी ऋण, केन्द्रीय समितियों तथा राज्य बैंकों से ऋण लेकर एकत्र की जाती हैं। इनमें से कुछ समितियों के पास शेयरों की पूँजी भी है। केवल साख समितियों को छोड़कर इन समितियों का उत्तरदायित्व सीमित है और सारी व्यवस्था प्रबन्धक समिति तथा ग्राम-सभा के हाथ में होती है।

इन प्रारम्भिक समितियों के ऊपर केन्द्रीय समितियाँ और राज्यीय सहकारी समितियाँ होती हैं। प्रारम्भिक समितियों के सङ्गठन से केन्द्रीय समितियाँ बनती हैं और इन (केन्द्रीय) समितियों के सङ्गठन से राज्यीय समितियाँ जन्म लेती हैं। सम्पूर्ण आन्दोलन इसी प्रकार परस्पर गुँथा हुआ है। यद्यपि केन्द्रीय साख-समितियों को अपनी पूँजी का अधिकांश भाग रिज़र्व बैंक से अल्पकालीन ऋण के रूप में प्राप्त होता है फिर भी इनकी और प्रदेशीय समितियों की व्यवस्था तथा वित्त की आवश्यकता की पूर्ति इत्यादि कार्य प्रारम्भिक समितियों की ही तरह होते हैं। पहले केन्द्रीय समितियों को रिज़र्व बैंक से प्राप्त होने वाले अल्पकालीन ऋण की अवधि ९ महीने थी परन्तु अब इसे बढ़ाकर १५ महीने कर दिया गया है। ऋण के

धन पर व्याज की दर डेढ़ रुपया प्रतिशत है। यह दर बैंक के व्याज की दर से दो प्रतिशत कम है।

सहकारी समितियों के शुंडाकृति की व्यवस्था में शीर्ष पर सहकारी सङ्घ नाम की अखिल भारतीय संस्था है। इस संस्था का प्रथम सम्मेलन फरवरी १९५२ में बम्बई में हुआ था।

साख-समितियाँ—प्रारम्भिक कृषि साख समितियों की संख्या जो कि सहकारी ऋण व्यवस्था का मूलाधार है, जून १९५५-५६ में $१\frac{१}{२}$ लाख थी और उनकी सदस्यों की संख्या ७८ लाख थी।

तालिका नं० ३

प्रारम्भिक कृषि साख समितियों का कार्य

(अन्न बैंक और भूमिबंधक बैंकों को छोड़कर)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५
समितियों की संख्या	१,०७,९२५	१,११,६२८	१,२६,९५४	१,४३,३२०
सदस्यों की संख्या	४७,७६,८१९	५१,२६,००२	५८,४९,३८०	६५,६५,४१६
वर्ष के अन्तर्गत	(करोड़ रुपये में)			
दिये हुए ऋण की धन राशि	२४·२०	२५·६९	२९·६४	३५·४८
वर्ष के भीतर ऋण में वसूल की धनराशि	१८·९७	२१·२१	२६·४८	२८·६१
वर्ष के अन्त में वसूल होने वाला ऋण	३३·६६	३७·६८	४१·५६	४८·५३
वर्ष के अन्त में शेष ऋण	८·५२	१०·४७	१२·०३	१४·७०
निजी कोष	१७·६७	१९·२७	२१·५५	२३·९६
जमा धन	४·४१	४·४१	४·६१	५·४४
ऋण में लिया हुआ धन	२३·१५	२४·४९	२८·२४	३३·५२
चालू पूँजी	४५·२२	४९·१८	५४·४१	६२·९३

प्रारम्भिक साख समितियाँ आर्थिक दृष्टि से निर्बल हैं और इस कारण कृषक को उतना लाभ नहीं पहुँचा पातीं जितना कि चाहिये। तालिका नं० ३

से हम कह सकते हैं कि ऋण के धन में निन्तर वृद्धि ही हो रही है। आसाम, भोपाल, बिहार, जम्मू और काश्मीर, विन्ध्यप्रदेश और मध्यभारत में बहुत अधिक धन वसूल होने के लिये शेष रह गया था।

कृषि साख समितियों की वित्त व्यवस्था दोषपूर्ण है। १९५३-५४ के अन्त कृषि साख समितियों की पूँजी का ढाँचा दोषपूर्ण है। निजी सम्पत्ति तथा जमा धन का कम अनुपात कृषि-साख समितियों की आर्थिक दुर्बलता का कारण है। कृषि साख समितियों का औसत आकार भी छोटा ही है।

१९५५-५६ में औसत सदस्यों की संख्या प्रति समिति ४९ थी और अधिकांश समितियाँ व्यवसायिक इकाइयों की दृष्टि से अनार्थिक ही थीं। प्रति समिति औसत जमाधन, शेयर पूँजी, और चालू पूँजी क्रमशः ४४१ रु०, १०५१ रु० और ४९४६ रु० और प्रति सदस्य जमाधन, शेयर पूँजी और दिया हुआ ऋण क्रमशः ९ रु०, २२ रु० और ६४ रु० था। यह औसत आँकड़े कम ही हैं।

इसी वित्तीय दुर्बलता के कारण समितियाँ कृषकों को सुविधा पूर्वक कम ब्याज पर ऋण देने के उद्देश्य की पूर्ति में असमर्थ हैं। पर्याप्त ऋण दे सकने में असमर्थ होने के कारण ही वे कृषकों से ब्याज की अधिक दर वसूल करती हैं, जैसा कि उत्तर प्रदेश, विन्ध्य प्रदेश और हिमांचल प्रदेश में होता है, वहाँ ब्याज की दर ९ से लगाकर १२½% तक है। "ऊँची ब्याज दर के प्रचलन के कुछ कारणों में सहकारी आन्दोलन का अपर्याप्त विस्तार, ठीक दिशा में पर्याप्त जमा एकत्रित करने में सहकारी समितियों की असफलता तथा कुछ राज्यों में केन्द्रीय बैंक और बैंकिंग यूनियन की अनर्थिक प्रकृति है।"

१९५५-५६ में १०,००३ गैर-कृषि, साख समितियाँ थीं जिनकी सदस्य संख्या २०⅚ लाख और चालू पूँजी ८५⅚ करोड़ रु० थी। यह वेतन भोगियों, मिल के कर्मचारियों की समितियाँ तथा शहरी बैंक थे जिनका काम वहीं अच्छा था क्योंकि इनकी चालू पूँजी में जमा धन का प्रतिनिधित्व था जो ५३¼ करोड़ रु० था। इन समितियों द्वारा उधार दिये गये ऋण की मात्रा ७२ करोड़ रु० थी। कुछ समितियाँ गैर साख रे काम भी करती थीं तथा उनके द्वारा खरीदे और बेचे माल की मात्रा का मूल्य क्रमशः २·४२ करोड़ रु० और २·७२ करोड़ रु० था। यह समितियाँ मुख्यतः बम्बई और मद्रास में थी इन समितियों के ५४% सदस्य इन्हीं दो राज्यों में थे तथा उधार दिये धन का ६३% भी इन्हीं राज्यों के अन्दर था।

गैर-साख समितियाँ—कृषि सम्बन्धी तथा कृषि से असम्बन्धित गैर साख समितियाँ प्रत्येक स्तर पर प्रारम्भिक केन्द्रीय तथा राज्यीय पाई जाती हैं। १९५५-५६ में २०,२६८ कृषि गैर साख (प्रारम्भिक) समितियाँ थीं जिनके सदस्यों

की संख्या २४ लाख थी इनकी चालू पूँजी २'८ लाख रु० थी तथा इनके द्वारा वेचे गये माल का मूल्य ३ लाख रु० था। १६५५-५६ में गैर-कृषीय, गैर-साख प्रारम्भिक समितियाँ जैसे उपभोक्ता भण्डार, विद्यार्थी भण्डार कैन्टीन आदि संख्या में २७,७४५ थीं तथा इनकी सदस्य संख्या ३३३ लाख और चालू पूँजी ५'८ लाख रु० थी तथा इन्होंने ४३ लाख रु० के मूल्य का सामान वेचा। इनके अतिरिक्त ८२ राज्यीय गैर साख समितियाँ थी जिनकी सदस्य संख्या २२,८६४ तथा चालू पूँजी ६२,०४१ रु० थी और इन्होंने १३ लाख रु० के मूल्य का सामान वेचा। २७६४ केन्द्रीय गैर साख समितियाँ थी। इनकी सदस्य संख्या १६ लाख तथा चालू पूँजी २ लाख रु० से कम थी तथा इन्होंने ५३ रु० का सामान वेचा।

समस्याएँ—भारत में अधिकतर सहकारी समितियों का संगठन प्रायः एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया है। मनुष्य की विभिन्न माँगों का परस्पर सम्बन्ध होता है और वह एक दूसरे पर निर्भर भी रहती हैं इसलिये उसकी विभिन्न जटिल आवश्यकताओं की पूर्ति अनेक समितियों की अपेक्षा एक ही समिति अधिक सन्तोषजनक रीति से कर सकती है। विशेषज्ञों का विचार है कि ग्रामीण समस्याओं को बहुमुखी समितियों के द्वारा कुशलता और अधिक बचत के साथ हल किया जा सकता है। अनेक समितियों की उचित व्यवस्था करने के लिए योग्य कर्मचारियों का अभाव होने के कारण तथा अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल महाजन से सहायता लेने के आदी ग्रामीणों की विभिन्न समितियों से सम्बन्ध रखने की अनिच्छा के कारण भी बहु उद्देश्यीय समितियों की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसके साथ ही साख को पूर्ति और विक्रय तथा गैर साख की अन्य क्रियाओं से पृथक् करके एक उद्देश्यीय सहकारी कृषि साख-समिति का मुख्य उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकता।

राष्ट्रीय नियोजन समिति की रिपोर्ट प्रकाशित होने के पश्चात् भारत में और विशेषकर उत्तर प्रदेश, आसाम और बिहार में बहु उद्देश्यीय समितियाँ स्थापित करने की ओर निश्चित प्रयास किया गया है। १९४७ में उत्तर प्रदेश की सरकार ने विकास योजना तैयार की थी जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि १२ से १५ ग्रामों को मिलाकर एक विकास-क्षेत्र बनाया जाय और प्रत्येक ग्राम में एक-एक बहु उद्देश्यीय समिति तथा सम्पूर्ण क्षेत्र में इन समितियों का एक संघ स्थापित किया जाय। इन संघो का ज़िला सहकारी विकास संघ होता है। इस दिशा में आसाम और बिहार ने क्रमशः १९४८ व १९४९ में प्रयास किया। यह आवश्यक है कि अन्य राज्यों में भी बहु उद्देश्यीय समितियाँ अधिक संख्या में

स्थापित की जायँ परन्तु इनका उद्देश्य सभी कृषि साख-समितियों को हटाना न होकर उनके अधूरे कार्यक्षेत्र की पूर्ति करना होना चाहिए।

साख समितियों का असीमित उत्तरदायित्व होने के कारण सहकारी आन्दोलन की सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो पाई है जैसा कि बंगाल प्रदेशीय अधिकोषण जाँच समिति ने कहा है "कि गाँवो में ऐसे भी व्यक्ति हैं जिनकी आर्थिक तथा सामाजिक स्थिति इतनी अच्छी है कि वे इन समितियों के सदस्य बनकर असीमित उत्तरदायित्व का जोखिम उठाना पसन्द नहीं करते हैं।" असीमित उत्तरदायित्व तभी सफल हो सकता है जब जनता की स्थिति समान हो और वह साक्षर भी हो। इसलिए वर्तमान समय में आन्दोलन का और तीव्रता से प्रसार करने के लिये सदस्यों का उत्तरदायित्व सीमित रखने की योजना लागू करना आवश्यक है।

जो समितियाँ स्थापित की जा चुकी हैं और जिनको अभी स्थापित करना है उनका कार्य सुव्यवस्थित रीति से चलाने और उनका विकास करने के लिए (ट्रेनिंग प्राप्त) प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता है। कुछ ही राज्यों के पास शिक्षण-केन्द्र हैं। पूना सहकारी कालेज में अन्य राज्यों के कर्मचारियों को भी शिक्षा दी जाती है। वर्तमान समय में कर्मचारियों की समुचित शिक्षा की उपयुक्त सुविधा नहीं है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में कम से कम एक शिक्षण-केन्द्र स्थापित किया जाय।

भारत की सहकारी समितियों की सबसे बड़ी कठिनाई वित्त की है। इनकी वित्तीय स्थिति बहुत नाजुक है। वित्तीय सहायता देने वाली गैर सरकारी संस्थाओं की दृष्टि में इन समितियों का विशेष महत्व नहीं है। इसलिए रिज़र्व बैंक के सुझाव के अनुसार यह समितियाँ तभी मान्यता प्राप्त कर सकती हैं जब यह सुरक्षित कोष में अधिक धन रखने की व्यवस्था करें। जब तक इन समितियों का सुरक्षित-कोष शेयर पूँजी के बराबर नहीं हो जाता तब तक लाभांश का कम से कम एक तिहाई भाग प्रतिवर्ष सुरक्षित कोष में जमा कर देना चाहिए। इसके पश्चात् लाभांश का केवल २५ प्रतिशत सुरक्षित कोष में जमा किया जा सकता है। ग्रामों में बचत के साधनों का उपयोग करने के लिये ग्रामीणों में अधिकोषण स्वभाव, का विकास करना चाहिए।

सहकारी आन्दोलन वास्तव में जनता द्वारा प्रेरित आन्दोलन नहीं है। इसका प्रारम्भ बाहर से हुआ। इसी कारण जनता में इसके प्रति उत्साह का अभाव है। राज्य सरकार को अपना कार्य-क्षेत्र इन समितियों के पथ-प्रदर्शन, निरीक्षण तथा थोड़ा नियंत्रण रखने तक ही सीमित रखना चाहिए। राज्य को साक्षरता का प्रसार करना चाहिये और समाचार पत्रों, रेडियो तथा अन्य साधनों

द्वारा सहकारिता के लाभों का जनता में प्रचार करना चाहिए। सहकारी तथा निजी संस्थाओं में श्रेष्ठतर समन्वय की आवश्यकता है।

इन समस्याओं के साथ ही साथ तथा उपभोक्ता समितियों की कुछ विशेष समस्याएँ भी हैं, साख समितियों के सामने अत्यधिक कलातीत ऋणों की समस्या भी है। १६५५-५६ में प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के कलातीत ऋण की धनराशि १४·६६ करोड़ रुपया थी जो जून १६५६ के अन्त तक देय ऋणों का २५ प्रतिशत थी। यह स्थिति मुख्यतः उन क्षेत्रों में है जो पिछड़े हुए क्षेत्र कहे जाते हैं। इसका सामान्य कारण पक्षपात और भ्रष्टाचार है।

कुछ राज्यों में, मुख्यतः हिमांचल प्रदेश और उत्तर प्रदेश में, सहकारी समितियों की ब्याज की दर ६ से १२½ प्रतिशत तक है। यह दरें बहुत अधिक हैं। इन दरों को भी अन्य राज्यों की दरों के समान करने की आवश्यकता है।

नियन्त्रण की समाप्ति के उपरान्त गैर-कृषि गैर-साख समितियाँ बहुत कठिनाइयों का सामना कर रही हैं और व्यक्तिगत व्यापारी की तुलना में कार्य संचालन व्यय अधिक होने के कारण कुछ समितियाँ तो बन्द भी हो चुकी हैं। कार्य-संचालन व्यय कम करने के लिए इन समितियों के कार्य क्षेत्र में वृद्धि करने तथा इनको और अधिक कार्य-कुशल बनाने की आवश्यकता है। यदि थोक बिक्री के स्टोर स्थापित किए जायँ और उनकी पूँजी तथा सुरक्षित कोष में वृद्धि की जाय तो इनकी स्थिति सुधर सकती है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—विभिन्न प्रदेशों के सहकारी विभाग के मन्त्रियों की सभा ने जो कि १६५५ में हुई थी यह सुझाव दिया कि "१५ वर्ष के अन्दर गाँवों में व्यापार की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर इस प्रकार की हो जानी चाहिये कि साख विक्रय तथा विधायन इत्यादि जैसे सब व्यापार का कम से कम ५० % कार्य सहकारी समितियों के द्वारा होने लगे। इस के लिये प्रारम्भिक कृषि साख समितियों के सदस्यों की संख्या द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक ५० लाख से बढ़ाकर १५० लाख कर देनी चाहिये और अल्पकालीन ऋण की राशि ३० करोड़ रुपये से बढ़ाकर १५० करोड़ रु०, मध्यम कालीन ऋण की राशि १० करोड़ रुपये से बढ़ाकर ५० करोड़ रुपये तथा दीर्घकालीन ऋण की राशि ३ करोड़ रुपये से बढ़ाकर २५ करोड़ रुपये कर देनी चाहिये।"

उपर्युक्त सुझाव के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना में विस्तृत योजना की रूपरेखा बनाई गई है। भारत सरकार के कृषि तथा अन्य विभाग ने इस सम्बन्ध में कानून बनाकर तैयार कर रक्खे हैं जिनकी सहायता से केन्द्रीय और

अध्याय १२

सहकारी विक्रय

उत्पादन स्वतः लक्ष्य नहीं है। जो कुछ वस्तु उत्पादित की जाती है या जो कुछ उत्पादन किया जाता है अन्ततः उसे उपभोक्ता के पास पहुँचना चाहिये। उत्पादक से उपभोक्ता तक वस्तु पहुंचने की साधन बाजार होता है। इसके लिये कई स्थितियाँ पार करनी पड़ती हैं और इसमें अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। सभी उत्पादित वस्तु के साथ एक सा व्यवहार नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रत्येक प्रकार की वस्तुओं के अपने विशेष गुण होते हैं, जैसे कुछ वस्तुएँ काफी स्थूल, भारी तथा शीघ्र नष्ट होने वाली होती हैं और छोटे-छोटे उत्पादक विस्तृत क्षेत्र में उनका उत्पादन करते हैं। इसी प्रकार कुछ वस्तुएँ हल्की, शीघ्र न होने वाली और सस्ती होती हैं। इनका उत्पादन बहुत कम लोग करते हैं। इन वस्तुओं के विक्रय के लिये विभिन्न काम करने पड़ते हैं। उनको एक स्थान में एकत्र किया जाता है, उनके लिये गोदाम की व्यवस्था की जाती है, इनका क्रमबन्धन और प्रमाणीकरण किया जाता है, यातायात की व्यवस्था की जाती है, आर्थिक सहायता का प्रबन्ध किया जाता है और विक्रय के लिये बातचीत चलाई जाती है, इत्यादि इस प्रकार विक्रय व्यवस्था के लिये विशेषज्ञों और कुशल व्यक्तियों की आवश्यकता होती है।

कुशल विक्रय की आवश्यक बातें—विक्रय व्यवस्था उत्तम तभी कहला सकती है जब उत्पादक को उत्पादित वस्तु का अधिकतम मूल्य मिल सके, वस्तु के रखने इत्यादि में निम्नतम व्यय करना पड़े और उपभोक्ता को दिये हुये मूल्य के बदले में उचित प्रकार का सामान मिले।

यदि वस्तुओं का क्रम बन्धन और प्रमाणीकरण किया गया हो तो उत्पादक को सर्वोत्तम मूल्य मिल सकता है। अधिकतम लाभ उठाने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादक यथा समय उचित स्थान पर उसे बेचे। इसके लिये उत्पादक को वित्त सम्बन्धी तथा बाजार की परिस्थितियों का ज्ञान होना चाहिये।

विक्रय की दृष्टि से सामान को बरतने (handling) की लागत न्यूनतम करने की दृष्टि से संचार तथा परिवहन के साधन सस्ते और अच्छे होने चाहिये। दलालों की संख्या को न्यूनतम कर दिया जाय क्योंकि दलालों के बढ़ने से लागत तथा परिणामतः मूल्य भी बढ़ जाता है। इसके साथ ही वस्तु को नष्ट होने से

रोकने के लिये यह आवश्यक है कि उसके रखने के लिये गोदाम की व्यवस्था की जाय।

वस्तुओं का उचित रीति से क्रम बन्धन और प्रमाणीकरण होने तथा सामान में मिलावट और अप्रमाणिक तौल जैसे अनुचित उपायों के प्रयोग को रोकने से उपभोक्ता सर्वश्रेष्ठ प्रकार की वस्तुयें प्राप्त कर सकता है।

विक्रय की अच्छी व्यवस्था के लिए जिन आवश्यक बातों की ऊपर चर्चा की गई है उनका भारत में पूर्ण अभाव है। कृषकों को कठिन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है। वे निर्धन हैं, अनभिज्ञ हैं और इधर-उधर बिखरे हुये हैं। उन्हें अपने कार्य के लिये ऋण लेना पड़ता है और यह ऋण प्रायः वस्तुओं के रूप में चुकाना पड़ता है। इन वस्तुओं का मूल्य एक प्रकार से पहले ही निर्धारित हो जाता है और उसका लाभ ऋणदाता उठाते हैं।

कृषि सामग्री के विक्रय की क्रिया
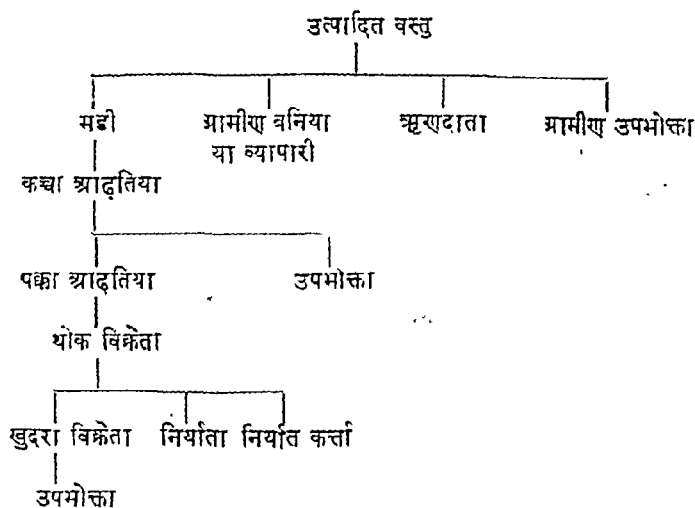
देश में संचार और परिवहन के उपयुक्त साधनों का अभाव है। वर्षा ऋतु के समय अधिकांश ग्रामों का एक दूसरे से सम्बन्ध विच्छेद हो जाता है और निर्धन उत्पादकों को वर्षा आरम्भ होने से पूर्व ही शीघ्रता पूर्वक अपना सामान वेचना पड़ता है। इससे मूल्यों का स्तर गिर जाता है। यदि सामान रोक लिया जाय तो गोदाम की अच्छी व्यवस्था न होने से अधिकांश सामान के खराब हो जाने का

भय रहता है साथ ही उत्पादकों और व्यापारियों में वस्तुओं में मिलावट करने का बड़ा जोर है इस कारण उपभोक्ता को शुद्ध, सामान मिलने की कोई गारन्टी नहीं है। भारत में दलालों, जैसे कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया, दलाल, थोक विक्रेता और खुदरा विक्रेता इत्यादि की संख्या बहुत अधिक है। लाभ का बहुत बड़ा अंश ये स्वयं ले लेते हैं। विक्रय (Marketing) व्यवस्था की विभिन्न स्थितियाँ उपरोक्त चार्ट में दिखाई गई हैं—

सहकारी समितियों की कार्य-व्यवस्था

भारत में सहकारी संस्थाओं द्वारा कृषि विक्रय व्यवस्था के बहुत से दोषों में सुधार सम्भव हो सका है। सहकारी विक्रय व्यवस्था सहकारी साख व्यवस्था के प्रकार शुण्डाकृति का है। इसके आधार में प्रारम्भिक कृषि क्रय-विक्रय तथा उत्पादन और विक्रय समितियाँ तथा गैर कृषि क्रय-विक्रय और उत्पादन तथा विक्रय समितियाँ हैं। वे अपने सदस्यों के लाभ के लिये कृषीय तथा अन्य वस्तुओं का क्रय विक्रय करती हैं। बहुउद्देशीय समितियाँ भी अन्य अनेक कार्यों के अतिरिक्त क्रय-विक्रय का कार्य भी करती हैं।

इन प्रारम्भिक समितियों के ऊपर केन्द्रीय बिक्री संघ हैं जो क्रय-विक्रय का कार्य करते हैं और प्रारम्भिक समितियों को ऋण तथा अन्य प्रकार की सहायता देते हैं। इनके सदस्य दो प्रकार के होते हैं, (क) व्यक्ति तथा (ख) समितियाँ। युद्ध काल में इन केन्द्रीय संस्थाओं ने बहुत कार्य किया। परिस्थिति बदल जाने और नियन्त्रण हट जाने से इनका कार्य बहुत कम हो गया है। शीर्ष पर राज्यीय बिक्री संघ हैंजो क्रय-विक्रय का कार्य करते हैं और केन्द्रीय संघों तथा समितियों को ऋण तथा अन्य प्रकार की सहायता देते हैं। वे सहकारी विक्रय कार्य का समन्वय करते हैं। इनके सदस्य भी (क) व्यक्ति तथा (ख) समितियाँ होती हैं। इस प्रकार के संघ कुछ ही राज्यों में हैं। इनका कार्य-क्षेत्र सीमित है और सहकारी विक्रय व्यवस्था की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है।

१९५५-५६ में २७६१ प्रारम्भिक कृषीय क्रय-विक्रय समितियाँ थीं जिनकी सदस्य संख्या ४½ लाख थी। इन्होंने मालिक की हैसियत से ३७,३०८ रु० का सामान तथा अभिकर्ता (एजेन्ट) की हैसियत से ३९१० रु० का सामान बेचा। उत्पादन और विक्रय की समितियों की संख्या ९९८ तथा सदस्य संख्या ४½ लाख थी। इन्होंने मालिक की हैसियत से ३५,९१५ रु० का तथा अभिकर्ता (एजेन्ट) की हैसियत से १,१६,३९० रु० का सामान बेचा। गैर कृषीय क्रय-विक्रय समितियों की संख्या ८०७७ तथा सदस्य संख्या १६'२ लाख थी। इन्होंने मालिक की

हैसियत से १,८३,५७३ रु० का तथा अभिकर्ता की हैसियत से १,१०५ रु० का सामान बेचा। उत्पादन तथा विक्रय (गैर कृषीय) समितियों की संख्या ११,५२४ तथा सदस्य संख्या ६'३ लाख थी। इन्होंने २२६, ६२१ रु० का सामान मालिक की हैसियत से और ८७४८ रु० का सामान अभिकर्ता (एजेन्ट) की हैसियत से बेचा।'

शीर्ष संस्थायें—भारत में सहकारी विक्रय-व्यवस्था का सबसे बड़ा दोष शीर्ष संस्थाओं का अभाव रहा है। १९५५-५६ में १६ राज्यीय विक्रय संघ थे। इनकी व्यक्ति-सदस्यता की संख्या ४०१४ तथा समिति सदस्यता की संख्या ३५३५ थी। इन्होंने ३३, १७७ रु० का सामान मालिक की हैसियत से तथा ५१७१४ रु० का सामान अभिकर्ता की हैसियत से बेचा। इन १६ संघों में से कुर्ग में ४, दिल्ली में ३, उत्तर प्रदेश तथा हैदराबाद प्रत्येक में २, तथा बम्बई, मध्यप्रदेश, उड़ीसा, जम्मू और काश्मीर, मैसूर, पैप्सू, हिमालय प्रदेश और मनीपुर—प्रत्येक में एक संघ था। अधिकतर राज्यों में केन्द्रीय विक्रय संघ थे। १९५५-५६ में ऐसे संघों की संख्या २३५४ थी। (इनकी व्यक्ति सदस्यता १८ लाख तथा समिति सदस्यता ४५,३६५ थी इन्होंने १३ लाख रु० का सामान मालिक की हैसियत से तथा ३.३ लाख रु० का सामान अभिकर्ता की हैसियत से बेचा।) इनमें से २१५३ उत्तर प्रदेश में, ७० बिहार में, ४४ राजस्थान में, सौराष्ट्र तथा हिमांचलप्रदेश-प्रत्येक में २६, तथा बम्बई में १६ थे। अंशतः गन्ने के संघों के कारण केन्द्रीय विक्रय संघों केन्द्रीकरण उत्तर प्रदेश में है। कुछ राज्यों में कोई विक्रय संघ नहीं था।

विभिन्न राज्यों में शीर्ष संस्थाएँ स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न प्रकार के कार्य करती हैं। "बम्बई की राज्यीय सहकारी समिति फल, सब्जी, नियमित पदार्थ, चीनी, कृषि की आवश्यकता की वस्तुएँ तथा खाद्य-तेल आदि की व्यापार करती है। वह राज्य में सल्फेट अमोनिया की एक माप वितरक है। समिति ने विक्रय-ज्ञान-सेवा भी चला रखी है तथा प्रति माह एक बुलेटिन निकलती है जिसमें हर सप्ताह के अन्त में प्रमुख कृषि पदार्थों के प्रचलित भाव दिये जाते हैं।" मैसूर की प्रान्तीय सहकारी विक्रय समिति खाद, शहद, चन्दन की लकड़ी का सामान तथा अन्य अनेक सामान खरीदने और बेचने का काम करती है। उड़ीसा की प्रान्तीय सहकारी विक्रय समिति कुटीर उद्योगों तथा वन की छोटी-मोटी उत्पत्तियों के विक्रय का कार्य करती है।

इन शीर्ष संस्थाओं में सबसे बड़ी और सुसंगठित उत्तर प्रदेश की विक्रय संस्था अर्थात् सहकारी विकास तथा विक्रय संघ है। उत्तर प्रदेश की इस शीर्ष संस्था ने विशेष उन्नति की है, पर दुर्भाग्य वश इसका कार्य ऐसी वस्तुओं से

सम्बन्वित रहा है जिनकी गणना कृषि उत्पत्ति में नहीं की जा सकती। इसके कारण कृषकों को आशानुरूप लाभ नहीं पहुँच सका है। इन संस्थाओं द्वारा जो कार्य किये गये हैं उनमें अच्छे बीज, खाद तथा कृषि सम्बन्धी मशीन और औजार का वितरण, शिकोहाबाद में घी परीक्षण तथा कमबन्धन के केन्द्र का संचालन, जड़ी बूटियों का विक्रय तथा विकास, विघावगंज की लाख फैक्ट्री को आर्थिक सहायता पहुँचाना, तथा बम्बई में एक कुटीर उद्योगों की उत्पत्ति के प्रदर्शन गृह का संचालन आदि हैं। भविष्य में संघ के कार्यक्रम में इस बात का प्रयत्न है कि (क) सबसे उत्तम प्रकार के बीजों को अपने कोष में संचित करे और आगामी ३ वर्ष के अन्दर सारे प्रान्त में उनकी भरमार कर दे, (ख) परिदत्त पूँजी की मात्रा बढ़ाकर २५ लाख रुपए कर दे; और (ग) कृषि-उत्पत्ति के विक्रय पर विशेष ध्यान दे।

शीर्ष संस्थाओं की कार्य प्रणाली की तीन विशेषताएँ हैं (१) इनकी सदस्यता सहकारी समितियों तक ही सीमित नहीं है। राज्यीय संघों में व्यक्ति सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की एक तिहाई है और केन्द्रीय संघों में व्यक्ति सदस्यों की संख्या समितियों की सदस्य-संख्या की छः गुनी है। व्यक्ति सदस्यों का बाहुल्य कुछ अस्थिरता उत्पन्न करता है; (२) परिदत्त हिस्सा पूँजी और इन संघों का निजी कोष मिलाकर चालू पूँजी का एक बहुत छोटा अंश है। इससे भी इनके कार्य में अस्थिरता आती है; (३) इन संस्थाओं का और विशेषकर केंद्रीय संघों का प्रबन्ध व्यय बहुत अधिक है। सहकारी विक्रय को प्रभावपूर्ण मितव्ययी बनाने के लिये इन दोषों का सुधार आवश्यक है।

प्रारम्भिक समितियाँ—कृषि उत्पत्ति का क्रय-विक्रय करने के लिए प्रारम्भिक कृषीय ग़ैर-साख तथा ग़ैर-कृषीय ग़ैर-साख समितियाँ हैं। परन्तु इनका प्रत्येक राज्य में समान रूप से विकास नहीं हुआ है। जहाँ तक कृषि उत्पत्ति और विक्रय का सम्बन्ध है बिहार, पश्चिमी बंगाल, मद्रास और आंध्र अग्रगामी थे तथा आसाम, उड़ीसा और राजस्थान पिछड़े हुये थे। परन्तु ग़ैर-कृषि तथा साख समितियाँ एक भिन्न चित्र अंकित करती हैं। आसाम, बम्बई, मद्रास और मध्य-प्रदेश में क्रय-विक्रय समितियों में अग्रगामी थे। जब कि पश्चिमी बंगाल, बम्बई, मद्रास, आन्ध्र और राजस्थान उत्पत्ति और विक्रय समितियों में अग्रगामी थे। गैर-कृषि गैर-साख समितियों में उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश और कुर्ग की स्थिति पिछड़ी हुई है।

ये समितियाँ या तो उत्पादकों से माल खरीद कर विक्रय करती हैं, या उत्पादकों के एजेन्ट के रूप में कार्य करती हैं जिससे दलालों की संख्या घट जाती

है। कहीं कहीं पर ये समितियाँ कारखाने तथा दुकानें चलाती हैं और इस प्रकार माल का उत्पादन तथा विक्रय करती हैं। वे उन उत्पादकों को ऋण तथा अन्य सुविधायें प्रदान करती हैं जिनसे वे माल खरीदती हैं। उनका कार्य क्षेत्र माल विक्रय करने तक ही सीमित नहीं है वरन् वे उत्पादकों में सक्रिय रूप से सहायता देती हैं। ये समितियाँ कभी केवल एक वस्तु का ही क्रय-विक्रय करती हैं और कभी अनेकों का। बहुउद्देशीय समितियाँ, जिनका दिन प्रतिदिन अधिक प्रचार होता जा रहा है, अपने विभिन्न कार्यों के साथ ही साथ कृषि उत्पत्ति तथा अन्य वस्तुओं के क्रय विक्रय का भी कार्य करती हैं। यह कहा जा सकता है कि बहुउद्देशीय समितियाँ अपने सदस्यों की लगभग सभी कृषि-सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करती हैं और राज्य के गाँवों के आर्थिक जीवन में बहुत अधिक हाथ बँटाती हैं। ये समितियाँ कृषि उत्पत्ति की बिक्री में अधिकाधिक कार्य कर रही हैं और अधिकांश राज्यों में वर्तमान हैं।

सबसे अधिक महत्वशाली एकोद्देशीय सहकारी बिक्री समितियाँ उत्तर प्रदेश और बिहार में गन्ने की, बम्बई में रूई और फलों की, मैसूर में इलायची और नारियल की और कुर्ग में इलायची, शहद और नारंगियों की हैं। ये समितियाँ निम्न कार्य करती हैं।

(१) यह समितियाँ अपने सदस्यों से कृषि सामग्री और कुटीर उद्योगों में उत्पादित माल लेकर उनका क्रमबन्धन और प्रमाणीकरण करती हैं और विक्रय के लिए अपने सहकारी संघों को दे देती हैं।

(२) यह मितियाँ उत्पादित माल के बदले अपने सदस्यों को ऋण देती हैं परन्तु धन का अभाव और गोदामों की उचित व्यवस्था न होने के कारण इस कार्य में समितियों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

(३) सामान बेचने के लिए यह समितियाँ उत्पादकों के एजेन्टों का भी कार्य करती हैं। उत्तर प्रदेश और बिहार की गन्ना-समितियाँ केवल यही कार्य करती हैं। गत कुछ वर्षों में अनाज वसूली के लिए कुछ समितियों ने सरकार के एजेन्टों के रूप में कार्य किया।

(४) उत्पादन और विक्रय समितियों का यह कार्य है कि अच्छे प्रकार के माल का उत्पादन करें। अन्य समितियाँ अपने सदस्यों को अच्छे माल का उत्पादन करने में सहायता देती हैं।

(५) मद्रास की कुछ समितियों ने विक्रय के साथ ही ऋण तथा अन्य सुविधाएँ देने की भी व्यवस्था कर रखी है। कृषि साख समितियाँ इस शर्त पर

सदस्य कृषक को मुख्य प्रकार की फसलें उगाने को ऋण देती हैं कि फसल तैयार हो जाने पर वही उसका विक्रय करेंगी।

(६) स्कूल तथा पुस्तकालय चला कर तथा अस्पताल और सड़कों का निर्माण करके यह समितियाँ समाज सेवा का कार्य भी करतीं हैं।

लाभ (Advantages)—सहकारी विक्रय समितियों ने कृषि विक्रय-व्यवस्था के अनेक दोषों को दूर कर दिया है।

(क) इनसे दलालों की संख्या कम हो गई है। दलालों की लम्बी शृङ्खला में से कच्चा आढ़तिया, पक्का आढ़तिया और थोक व्यापारी प्रायः समाप्त हो गये हैं। यह समितियाँ उत्पादकों से स्वयं माल क्रय कर सीधे उपभोक्ताओं को बेच देती हैं। इस रीति से विक्रय व्यवस्था के व्यय में कमी होती है किन्तु उतनी नहीं हुई जितनी होनी चाहिये थी।

(ख) यह समितियाँ छोटे उत्पादकों को वित्तीय सहायता देती हैं और विशेषज्ञ-परामर्श देती रहती हैं जिससे वह छोटे व्यापारियों के धोखे से बच जाते हैं। उत्पादित माल के विक्रय तथा उसकी देख भाल में होने वाली समय और शक्ति की बरबादी भी बच जाती है। इन समितियों ने कुटीर उद्योगों के माल को कुशलता पूर्वक और सस्ते मूल्य में वेचने का प्रबन्ध करके उद्योग के लिए बहुत कुछ किया है।

(ग) उपभोक्ताओं को भी इन समितियों से बहुत लाभ होता है। उन्हें इनसे अच्छे प्रकार का माल मिल जाता है क्योंकि समितियाँ उनका उचित रीति से क्रम बन्धन तथा परीक्षण करती हैं। इसके साथ ही यह समितियाँ अच्छा सामान तैयार करने तथा मिलावट रोकने में वह साधक बन जाती हैं। इस दिशा में घी और दूध की सहकारी समितियों ने काफी सफलता प्राप्त की है।

प्रारम्भिक कृषि क्रय-विक्रय समितियाँ तथा उत्पादन और विक्रय समितियाँ सीमित व्यापार करती हैं, पर गैर कृषि क्रय विक्रय समितियाँ, यद्यपि इनका कार्य क्षेत्र सीमित है, फिर भी अधिक कार्य करती हैं। शीर्ष संस्थाओं के तरह इन दोनों प्रकार की समितियों की, परिदत्त हिस्सा पूँजी चालूपूँजी का एक तिहाई ही है और प्रबन्ध व्यय भी बहुत अधिक है। इसके कारण इनका कार्य अस्थिर है। युद्ध काल में विशेष परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर इन समितियों को गत वर्षों में लाभ भी हुआ था, पर परिस्थिति बदल जाने से और कार्य कम हो जाने से प्रारम्भिक कृषि और गैर कृषि गैर साख समितियाँ दोनो को हानि उठानी पड़ी। भविष्य में इन समितियों के कार्य प्रणाली में परिवर्तन करना पड़ेगा ताकि ये लाभप्रद सिद्ध हो सकें।

भविष्य—सहकारी विक्रय गैर-साख सहकारी समितियों में सबसे महत्त्वपूर्ण है। ऊपर कहा जा चुका है कि सहकारी साख की तरह इनकी शुंडाकृति है। "यह ढाँचा ऋण समितियों की भाँति न सुनिर्मित ही है और न एक दूसरे से सम्बन्धित ही है। संस्था की प्रत्येक इकाई अपने-अपने स्थान पर स्वतंत्र रूप से कार्य करती है। नीचे की इकाइयों का प्रायः ऊपर की इकाइयों से कोई सम्बन्ध नहीं है और इसीलिये ऊपर की इकाइयाँ नीचे की इकाइयों को कोई विशेष सहायता भी नहीं देतीं। उदाहरण स्वरूप राज्यीय संस्थायें नीचे की इकाइयों की प्रतिनिधि अथवा आढ़तियों की तरह कार्य नहीं करती वरन् वे एक स्वतंत्र व्यापारिक एजेन्सी की तरह कार्य करती हैं"। पर यदि इनकी ओर उचित ध्यान दिया गया तो हम कह सकते हैं कि हमारे देश में सहकारी विक्रय समितियों का भविष्य बहुत उज्जवल है। हमारे देश में सहकारी राष्ट्र (Cooperative Commonwealth) की स्थापना होने से सहकारी क्रय विक्रय समितियों को विशेष महत्व के कार्य करने पड़ेंगे। पर उसमें कुछ कठिनाइयाँ हैं जिन्हें दूर करना होगा।

(१) निजी व्यापारी इन समितियों का विरोध करते हैं और इनके सामान के विक्रय में रुचि नहीं दिखलाते। उदाहरणस्वरूप कर्नाटक के व्यापारियों ने सहकारी विक्रय समितियों द्वारा दिये गये कपास को क्रय करने से इन्कार कर दिया। इस प्रकार के विरोध का प्रायः सभी समितियों को सामना करना पड़ता है। इन कठिनाइयों को तभी दूर किया जा सकता है जब इन्हें सरकार की ओर से और अधिक सहायता दी जाय तथा इन समितियों का बहुमुखी विकास किया जाय। इन समितियों का कार्य-क्षेत्र और विस्तृत करना चाहिए जिससे कुटीर उद्योग के उत्पादन का विक्रय कार्य इनके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाय। इसके साथ ही १९५२ के प्रथम भारतीय सहकारी सम्मेलन के सुझाव के अनुसार राज्य द्वारा व्यापार का कार्य बन्द कर दिया जाय और इस अभाव की पूर्ति करने के लिए सहकारी समितियों को यह कार्य सौंप दिया जाय। राज्य-व्यापार-जाँच समिति ने सिफारिश की है कि "जब कभी उत्पादक घरेलू व्यापार अथवा विदेशी व्यापार के लिए परस्पर मिलकर सहकारी समितियाँ संगठित करें तो सरकार को उन्हें यथासंभव सहायता और प्रोत्साहन देना चाहिए।"

(२) भारत में विक्रय सहकारी समितियों को प्रायः धन के अभाव का सामना करना पड़ता है क्योंकि इनकी हिस्सा पूँजी बहुत कम होती है। उदाहरणार्थ उड़ीसा और हिमाचल प्रदेश की शीर्ष विक्रय सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी क्रमशः १४,०६० और १३,४६० रुपया है। यह पूँजी बहुत छोटे पैमाने पर विक्रय

करने के लिए भी कम है। इन समितियों को अपना कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए दीर्घकालीन और अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता है। यदि यह समितियाँ अपनी हिस्सा पूँजी में वृद्धि कर लें तो दीर्घकालीन पूँजी प्राप्त हो सकती है। मशीनों तथा अन्य प्रकार के सामान क्रय करने के लिए केन्द्रीय तथा राज्यीय औद्योगिक वित्तीय निगमों से दीर्घकालीन पूँजी की सहायता लेनी चाहिए। जिन राज्यों में औद्योगिक वित्तीय निगम नहीं हैं वहाँ इनकी स्थापना की जानी चाहिए। इसके साथ ही भारत में लाइसेन्स प्राप्त गोदामों (Warehouses) का विकास करने की आवश्यकता है जिससे यह समितियाँ इन गोदामों में जमा किये गये अपने सामान के बदले में भारतीय रिज़र्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (घ) के अन्तर्गत रिज़र्व बैंक से ऋण ले सकें। यह खेद की बात है कि बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, मैसूर और त्रिवांकुर-कोचीन की सरकारों द्वारा आवश्यक कानून बना लिये जाने के पश्चात् भी भारत में कहीं ऐसे लाइसेन्स प्राप्त गोदामों की व्यवस्था नहीं की गई है।

(३) जो विक्रय समितियाँ इस समय प्रचलित हैं उनमें शिक्षित, ईमानदार और अनुभवी कर्मचारियों का अभाव है, इन समितियों में अफसरी का बोलबाला है। इससे कार्य में देर और हानि होती है। इन समितियों में कार्य को सुचारु रूप से संचालन करने के लिए अनुभवी कर्मचारियों को नियुक्त करना चाहिए जिससे अनावश्यक और अकुशल कर्मचारियों को अलग करके समिति का व्यय कम किया जा सके। सबसे छोटी समिति में कम से कम तीन कर्मचारी होते हैं—मैनेजर, सामान तौलनेवाला और चौकीदार—जब कि निजी व्यापारी यह तीनों कार्य स्वयं कर लेता है। इससे समितियों की कार्य-क्षमता कम तथा लागत अधिक हो जाती है।

(४) विक्रय करने वाली सहकारी समितियों को गोदामों की उचित सुविधा प्राप्त नहीं है। बहुत सी समितियों के अपने गोदाम नहीं हैं और उन्हें बहुत अधिक किराये पर गोदाम लेने पड़ते हैं। शीघ्र नष्ट हो जाने वाले सामानों को रखने के लिए समितियों के पास कोई साधन नहीं है। राज्य सरकारों को गोदाम बनाने में इन समितियों की सहायता करनी चाहिए और गोदाम निर्माण के कुल व्यय ५० प्रतिशत स्वयं देना चाहिए। इस कार्य के लिए सहकारी गृह निर्माण समितियों से भी ऋण का प्रबन्ध करना चाहिए। यदि गोदामों की स्थापना से समितियों की सामान रखने की कठिनाइयाँ बहुत कम हो जायेंगी।

(५) अनेक राज्यों में राज्य के बाहर देश के अन्य भागों में बेचने के लिए शीर्ष संस्थायें नहीं हैं। यदि कहीं ऐसी संस्थायें कार्य करती हैं तो वह केवल विक्रय

केन्द्रीय सहकारी बैंकों के कुल सदस्यों में से ५२ प्रतिशत बैंक और समितियाँ हैं और ४८ प्रतिशत व्यक्ति हैं। इन बैंकों की चालू पूँजी ६२·६७ करोड़ रुपये हैं जिसमें से १६·४ प्रतिशत निजी पूँजी है, ६०·१ प्रतिशत जमाधन है, और २३·५ प्रतिशत अन्य स्रोतों से लिया गया ऋण है। १६५१-५२ में यह प्रतिशत क्रमशः १६·३, ६३·५, २०·१ थे। सर्वोच्च बैंकों की तरह इन बैंकों की निजी पूँजी का अनुपात पिछले वर्षों की अपेक्षा कुछ बढ़ रहा है पर फिर भी निजी पूँजी का अनुपात बहुत कम है। इससे इन बैंकों का कार्य अस्थिर रहता है। भविष्य में इस बात पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है कि इनकी हिस्सा पूँजी और सुरक्षित कोष की पूँजी बढ़ाई जाय जो इन बैंकों की निजी पूँजी होती है। १६५५-५६ में जमाधन का ६७ प्रतिशत विभिन्न व्यक्तियों से और ३० प्रतिशत प्रारम्भिक समितियों से तथा ३ प्रतिशत सहकारी बैंकों से प्राप्त हुआ। इन्होंने ऋण अधिकतर सहकारी बैंकों से प्राप्त किये। सहकारी बैंकों पर निर्भरता स्वाभाविक ही है क्यों-कि जिन राज्यों में सर्वोच्च बैंक हैं वहाँ केन्द्रीय सहकारी बैंकों को सर्वोच्च बैंकों के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से ऋण लेने को प्रोत्साहित नहीं किया जाता।

केन्द्रीय सहकारी बैंको के कार्य की एक विशेपता यह थी कि व्यक्तियों को दिये जाने वाले अग्रिम में कमी आ गई। १६५५-५६ में बैंकों तथा समितियों को दिये जाने वाला अग्रिम ८८ प्रतिशत तथा व्यक्तियों को दिया जाने वाला अग्रिम १२ प्रतिशत था जबकि इससे पहिले वर्ष के प्रतिशत क्रमशः ८१ तथा १६ थे। बुरे तथा सन्देहात्मक ऋणों का अनुपात अब भी अधिक है हालाँकि इस दिशा में भी कुछ सुधार हुआ है।

समान विशेषताएँ—सर्वोच्च और केन्द्रीय सहकारी बैंकों में बहुत कुछ समानता पाई जाती है; (१) इन दोनों संस्थाओं की हिस्सा पूँजी और सुरक्षित निधि (अर्थात् निजी पूँजी) अपर्याप्त हैं। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थिति कुछ अच्छी है, परन्तु उनमें भी हिस्सा पूँजी और सुरक्षित कोष का धन पर्याप्त नहीं है इसका एक कारण तो यह है कि इन बैंकों का जिन लोगों से सम्बन्ध रहता है वह निर्धन हैं और इनको लाभ भी बहुत कम होता है जिससे सुरक्षित कोष में पर्याप्त धन-राशि एकत्रित नहीं हो पाती। यह खेद का विषय है कि द्वितीत महायुद्ध के समय और महायुद्ध के तुरन्त पश्चात् जब कृषकों की वित्तीय स्थिति सुधरी थी, इन बैंकों की हिस्सा पूँजी बढ़ाने का अवसर खो दिया गया। इन बैंकों की हिस्सा पूँजी में तभी वृद्धि की जा सकती है जब कि कृषकों की वित्तीय स्थिति में सुधार हो प्रथम व द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाओं की समाप्ति तक कृषकों की वित्तीय स्थिति सुधर जायगी और तब बैंकों की हिस्सा पूँजी में वृद्धि की जा सकेगी।

(२) दोनों संस्थाओं में कुछ मिश्रित तथा कुछ अमिश्रित बैंक हैं। अमिश्रित बैंक सहकारिता के सिद्धान्त के अधिक अनुकूल होते हैं। परन्तु मिश्रित प्रकार के बैंकों से यह लाभ है कि इनको अधिक वित्त प्राप्त हो सकता है और साथ ही उन लोगों का अधिक सहयोग मिल सकता है जिनका कृषि से सम्बन्ध नहीं है। इस बात को ध्यान में रखते हुये कि भारतीय कृषक अभी अविकसित अवस्था में है यह बहुत बड़ा लाभ है। मिश्रित बैंकों से केवल यही हानि नहीं है कि इनका व्यवसाय सहकारिता के नियमों के अनुसार सामान्य नहीं होता बल्कि साथ ही इसका कभी-कभी हानिकारक परिणाम भी होता है। विभिन्न व्यक्तियों को इन बैंकों के शेयरों को क्रय करने का अधिकार है इसलिये इन बैंकों से ऋण लेने का भी अधिकार है। व्यक्तियों को कृषि की उत्पत्ति के आधार पर ऋण देना सहकारिता के नियमों के अनुकूल नहीं है क्योंकि इससे ये बैंक उन दलालों की भी सहायता करते है जिनको सहकारिता आन्दोलन समाप्त करना चाहती है। साथ ही इस प्रकार की सहायता से सहकारी विक्रय व्यवस्था के विकास में बाधा पहुँचती है। इसलिए यह उद्देश्य होना चाहिये कि 'मिश्रित' समितियों को कुछ समय तक रहने दिया जाय और बाद में कृषकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने के परिणाम स्वरूप उनके द्वारा इन संस्थाओं को वित्तीय आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर इन्हें अमिश्रित समितियों में बदल दिया जाय।

(३) केन्द्रीय सहकारी बैंक अधिकतर निश्चित समय के लिये जमा और बचत को स्वीकार करते हैं परन्तु सर्वोच्च बैंक इनके अतिरिक्त चालू खाते में धन स्वीकार करते हैं। सर्वोच्च बैंक और कुछ सीमा तक केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारण व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय करते हैं। यह बैंक ड्राफ्ट देते हैं, हुण्डी, चेक और ऋणपत्रों का क्रय-विक्रय करते हैं और सामान को सुरक्षित रखते हैं। यह प्रश्न काफी विवाद ग्रस्त है कि सहकारी संस्थाओं का कार्य-क्षेत्र केवल सहकारी बैंकों के व्यवसाय तक ही सीमित रखा जाय या वे व्यापारिक बैंकों का व्यवसाय भी करें। वर्तमान समय में सहकारी बैंकों का कार्य उनको व्यस्त रखने के लिये पर्याप्त नहीं है इसलिये इन्हें व्यापारिक बैंकों का भी कार्य करना पड़ता है। यदि यह व्यवसाय न किया जाय तो बैंकों की आय बहुत कम हो जायगी।

(४) इन संस्थाओं को बहुत कम लाभ होता है। इन संस्थाओं का लाभ और सदस्यों को दिया गया लाभांश भारत के अन्य बैंकों की अपेक्षा कम है।

ब्याज दर—भारतीय रिजर्व बैंक की हाल की रिपोर्ट में बताया गया है कि अनेक राज्यों में छोटी सहकारी समितियों के ब्याज की दर काफी अधिक है। केवल बम्बई और मद्रास में जहां सहकारी आन्दोलन काफी संगठित है और

काफ़ी विकसित है ब्याज की दर कुछ कम रखना संभव हो सका है। अनेक समितियों ने इस सिद्धान्त पर जोर दिया है कि योग्य कृषकों को दिए जानेवाले ऋण पर अल्पकाल तथा मध्यकाल के लिए ६१/२ प्रतिशत से अधिक ब्याज न लिया जाय और दीर्घकालिक ऋण के लिए ब्याज की दर ४ प्रतिशत होनी चाहिए। यह सिद्धान्त मद्रास और बम्बई में लागू रहा है। इन राज्यों की सरकारें घाटे की पूर्ति के लिए आर्थिक सहायता देकर सहकारी बैंकों को कम ब्याज पर ऋण देने में सहायता कर रही हैं। इसके लिए सरकार बैंक प्रशासन का कुछ भार स्वयं वहन करती है। अन्य राज्यों में भी इस प्रकार की व्यवस्था होना चाहिए। सहकारी बैंकों द्वारा वसूल किये जाने वाले ब्याज की दर अधिक होने के कुछ कारण निम्न हैं—(१) सहकारी समितियाँ स्थानीय तौर पर पर्याप्त पूँजी का संग्रह करने में असफल रही हैं; (२) बम्बई और मद्रास को छोड़कर केन्द्रीय सहकारी बैंक साधारणतः छोटे हैं, इनके प्रबन्ध का व्यय अधिक है और आर्थिक दृष्टि से यह अनुपयुक्त हैं। यह अपना कारोबार तभी चला सकते हैं जब ऋण लेने और देने की ब्याज की दर में काफी अन्तर हो; और (३) विभिन्न राज्य जो ऋण तथा आर्थिक सहायता से आन्दोलन की सहायता करते रहे हैं अब द्रव्य बाजार से आवश्यक ऋण एकत्रित करने में और परिणाम स्वरूप उसे कम ब्याज पर विभिन्न सहकारी कार्यों में लगाने में विशेष कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। रिजर्व बैंक के मतानुसार निम्नलिखित प्रयत्नों से ब्याज की दर कम की जा सकती है—(अ) सहकारी आन्दोलन को दृढ़ बनाया जाय, उसकी कार्य कुशलता में सुधार किया जाय और ग्राम्य क्षेत्रों की बचत को संग्रहीत करने पर जोर दिया जाय; (ब) आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त इकाई का रूप देने के लिए सहकारी बैंकों और समितियों को एक में मिला दिया जाय और समितियों के कार्यक्षेत्र का व्यापक प्रसार किया जाय और (स) आरम्भ में राज्य सरकारें बम्बई की तरह आर्थिक सहायता दें जिससे सहकारी बैंकों को कम ब्याज लेने से जो घाटा होता है उसकी पूर्ति की जा सके।

रिजर्व बैंक से ऋण—रिजर्व बैंक एक्ट की धारा १७ (२) (ब) और १७ (४) (स) के अनुसार यह बैंक सहकारी बैंकों को कृषि उत्पादन और फसल बेचने के लिए बिना धरोहर के अल्प-कालिक और मध्य-कालिक ऋण देता है। धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत सरकारी प्रतिभूतियों और भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों की जमानत पर भी ऋण देता है।[1] सन् १९५५ की फर्वरी से रिर्जव बैंक ने धारा

---

1. विस्तार पूर्वक अध्ययन के लिये 'ग्राम्य वित्त व्यावस्था' का अध्याय देखिये

१७ (४) (अ) के अन्तर्गत तीन वर्ष की अवधि के लिये मध्य कालीन ऋण देना आरम्भ कर दिया है। १९५३ के रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट के संशोधन के कारण यह सम्भव हो गया है कि १५ महीने से लगाकर ५ वर्ष तक की अवधि के लिये ऋण दिया जा सके। इस नियम का प्रयोग करने के विचार से ही बैंक ने तीन वर्ष की अवधि के स्थायी ऋण, एक्ट की धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत देना आरम्भ कर दिया है, यद्यपि अधिक लम्बी अवधि अर्थात् ५ वर्ष तक के आवेदनों पर आवश्यकता पड़ने पर विचार किया जा सकता था। ऐसे ऋणों पर ब्याज कीर दर बैंक की दर से २% कम निश्चित की गई थी। राज्य सरकारों द्वारा दी हुई गारन्टी और ऋण लेने वाले केन्द्रीय सहकारी बैंक अथवा समिति द्वारा लिये हुये प्रतिज्ञा पत्र ही इन ऋणों की जमानत थे। जिन कार्यों के लिये मध्य कालीन ऋण दिये जा सकते थे वे बेकार भूमि को पुनः अधिकृत करना, बाँध बनाना अथवा भूमि में किसी अन्य प्रकार का सुधार करना, बैल आदि जानवर खरीदना, कृषि सम्बन्धी औजार खरीदना तथा जानवरों को बाँधने के बाड़े और खेतों में गोदाम बनाना इत्यादि थे। रिजर्व बैंक द्वारा राज्यीय सहकारी बैंक को दिये गये अग्रिम की राशि १९५१-५२ में ११·२९ करोड़ रु० थी। १९५७-५८ में यह बढ़कर ५७·१२ करोड़ रु० हो गई। इस अवधि के अन्त में देय ऋणों की राशि ७·८१ करोड़ रु० से बढ़ कर ३५·११ करोड़ रु० हो गई। १९५७-५८ में दिये गये ५७·११ करोड़ रु० के कुल अग्रिम में से ४१·४१ करोड़ रु० धारा १७ (४) (स) के अन्तर्गत, १२·७२ करोड़ रु० धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत तथा २·९९ करोड़ रु० धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत दिये गये।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति की सिफारिशों के अनुसार १० करोड़ रु० की प्रारम्भिक राशि से राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष का निर्माण ३ फरवरी १९५६ को किया गया ताकि "राज्य सरकारों, (जिससे वे सहकारी समितियों की हिस्सा पूँजी में योग दे सकें) राज्यीय सहकारी बैंकों और भूमिबन्धक बैंकों को दीर्घ एवम् मध्यकालीन ऋण दिये जा सकें।" जून १९५६ में इस कोष में ५ करोड़ रु० के वार्षिक अनुदान से वृद्धि की गई। मार्च १९५७ के अन्त तक २·६८ करोड़ रु० का ऋण ११ राज्यों को दिया गया ताकि वे सहकारी संस्थाओं की हिस्सा पूँजी में योग दे सकें।

अध्याय १६

भूमि बंधक बैंक

भूमि बंधक बैंकों से कृषक को दीर्घकालीन[1] ऋण प्राप्त होता है। भूमि बंधक बैंकों की आवश्यकता इस लिए है क्योंकि छोटी सहकारी समितियाँ कृषकों को दीर्घकाल के लिए ऋण नहीं दे सकती क्योंकि वह अपने कार्य संचालन के लिये स्वयं केन्द्रीय सहकारी बैंक से अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋण लिया करती हैं। इसके साथ ही भू-सम्पत्ति के आधार पर दार्घकालिक ऋण देने के लिये विशेषज्ञों की सहायता की आवश्यकता होती है जो भू-सम्पत्ति का मूल्य बता सकें और इस सम्बन्ध में अन्य प्रकार का परामर्श दे सकें। छोटी सहकारी समितियों को यह सुविधा प्राप्त नहीं है। इन कारणों से सहकारी समितियाँ दीर्घकालिक ऋण नहीं दे पाती हैं। पहले जमींदार, साहुकार और महाजन कृषकों को दीर्घकालीन ऋण देते थे परन्तु इस प्रथा के टूट जाने से भूमि बन्धक बैंकों की अधिक आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। पिछले कुछ वर्षों से भूमि की उत्पादन शक्ति बढ़ाने और विभिन्न प्रकार के खाद्यान्नों तथा व्यापारिक फसलों का उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया जा रहा है। यह तभी सम्भव हो संकता है जब कि दीर्घकाल के लिये भूमि के सुधार में काफी धन लगाया जाय। इससे भी भूमि बन्धक बैंकों के महत्व में वृद्धि हो गई है। यदि भूमि बन्धक बैंकों का उचित

---

१. कृपक को कृषि में वृद्धि करने और अन्य घरेलू कार्यों के लिये अल्पकालिक ऋण की आवश्यकता होती है और फसल कट जाने के पश्चात् तुरन्त उसको चुकाया भी जा सकता है। पशु खरीदने, कृषि के औजार इत्यादि का प्रबन्ध करने के लिये कृपक मध्यकालिक ऋण लेता है। वह ऋण एक से तीन वर्ष के लिये और कभी-कभी ५ वर्ष तक के लिए लिया जाता है। कृपक को दीर्घकालिक ऋण की भी आवश्यकता होती है जिससे वह कृषि के लिए मशीनें तथा अन्य मूल्यवान सामान क्रय करता है, भूमि क्रय करता है और पुराने ऋण को चुकाता है। चूंकि इस प्रकार के ऋण की धन राशि काफी बड़ी होती है और, जैसा कुछ अन्य देशों में होता है, इसकी अवधि १७५ वर्ष तक की हो सकती है, इस लिये इस प्रकार के ऋणों को भू-सम्पत्ति के बदले ही प्राप्त किया जा सकता है। (रिज़र्व बैंक के कृषि साख विभाग द्वारा प्रकाशित भूमिबन्धक बैंक (Land Mortgage Banks) नामक प्रकाशन से)।

संगठन किया जाय तो इससे जनता की बचत को भूमि सुधार कार्य में पहले की अपेक्षा अधिक मात्रा में लगाया जा सकता है। व्यापारिक बैंकों को रुपया लोगों को अल्पकालिक जमाधन से मिल जाता है परन्तु इसके विपरीत भूमि बन्धक बैंकों को ऋण पत्र चला कर या बन्धक बॉंडों के द्वारा धन मिलता है। ये बांण्ड बैंकों से धन लेने वाले व्यक्तियों द्वारा बन्धक रक्खी हुई सम्पत्ति के आधार पर प्राप्त होते हैं। कुछ परिस्थितियों में, जैसे छोटे छोटे कृषकों के लिए विशेष उपयोगी होने के कारण या राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था में इनका विशेष महत्व होने के कारण, सरकार इन बन्धक बॉण्डों के भुगतान की गारन्टी देती है।

भूमि बन्धक बैंकों को व्यापारिक बैंकों के आधार पर सहकारी संस्थाओं के या कार्पोरेशन के आधार पर रूप में संगठित किया जा सकता है। भारत में भूमि बन्धक बैंकों को सहकारी आधार पर संगठित किया गया है परन्तु चूँकि कुछ व्यक्ति निजी रूप से इस प्रकार के बैंकों के सदस्य हैं इसलिए इनकी प्रकृति अर्ध सहकारी संस्था के समान कही जा सकती है।

भारत में सर्व प्रथम सहकारी भूमि बन्धक बैंक १९२० में पंजाब के झंग नामक स्थान में स्थापित की गयी परन्तु इसको सफलता नहीं मिली। मद्रास में सर्व प्रथम १९२५ में भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये गये और वहाँ इन्हें अधिक सफलता मिली। यहाँ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक १९२९ में स्थापित किया गया। इसके पश्चात् कुछ अन्य प्रदेशों ने भी मद्रास की तरह भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये।

१९२६ में रजिस्ट्रार-सम्मेलन ने भूमि बन्धक बैंकों की समस्या पर विचार किया और कुछ सुझाव दिये। भारत में इन बैंकों का विकास सम्मेलन के सुझावों के अनुसार हुआ। रजिस्ट्रार सम्मेलन के कुछ महत्वपूर्ण सुझाव निम्नलिखित हैं—

(१) इस प्रकार के बैंकों का संगठन सहकारी समिति नियम के अन्तर्गत किया जाना चाहिये। इनका कार्य क्षेत्र न तो इतना कम हो कि आर्थिक दृष्टि से यह अनुपयुक्त सिद्ध हों और न इतना अधिक हो कि प्रबन्ध करना कठिन हो जाय।

(२) भूमि बन्धक बैंक कृषकों को इन कार्यों के लिए ऋण दे सकते हैं— (अ) भूमि तथा मकान छुड़ाने के लिये, (ब) भूमि और कृषि के साधनों में सुधार करने के लिए, (स) पहले का ऋण चुकाने के लिए और (द) भूमि क्रय करने के लिए। बैंक को अपने उपनियमों में यह स्पष्ट कर देना चाहिये कि इस प्रकार का ऋण कम से कम कितना और अधिक से अधिक कितना दिया जा

सकता है। बैंक को इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि ऋण की धन राशि इतनी कम न हो कि उससे लेन-देन का व्यय भी वसूल न हो सके और न इतनी अधिक हो कि प्रारम्भिक समिति उसे सुगमतापूर्वक न दे सके। सम्मेलन ने सुझाव दिया कि ऋण की धनराशि सम्पत्ति के मूल्य के आधे से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(३) बैंक को कृषक की ऋण चुकाने की शक्ति तथा जिस कार्य के लिए ऋण लिया गया है उसको ध्यान में रखते हुए ऋण चुकाने की अवधि निश्चित करनी चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस ऋण से लेने वाले को आर्थिक दृष्टि से लाभ न हो वह ऋण न दिया जाय। सम्मेलन ने सुझाव दिया है कि वर्तमान परिस्थितियों में ऋण चुकाने की अधिकतम सर्वोत्तम अवधि २० वर्ष है।

(४) प्रत्येक राज्य में प्रादेशिक सहाकारी बैंक स्थापित किये जायँ। इन बैंको को राज्य के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक के रूप में कार्य नहीं करना चाहिये, किन्तु प्रान्तीय भूमि बन्धक कार्पोरेशन की स्थापना होने तक अस्थायी रूप में इनके इस कार्य पर आपत्ति नहीं की जानी चाहिये।

(५) सरकार को ऋणपत्रों पर ब्याज और पूँजी चुकाने की गारन्टी देनी चाहिए। कार्य चालू करने के आरंभ काल में सरकार को भूमि बन्धक बैंकों को आर्थिक सहायता देनी चाहिए। इन बैंकों को स्टाम्प कर इत्यादि में कुछ सुविधाएँ दी जानी चाहिये। साथ ही इन बैंकों को रेहन रखी वस्तुओं के छुटाने की अवधि समाप्त हो जाने के पश्चात् बिना न्यायालय की सहायता लिए उन पर अधिकार कर लेना या उनके विक्रय का अधिकार मिल जाना चाहिये परन्तु ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये जिससे दूसरे पक्ष के हितों की भी रक्षा की जा सके।

तालिका १ से यह स्पष्ट है कि यह आन्दोलन समान रूप से देश के विभिन्न भागों में विकसित नहीं हुआ है। १९५१-५२ में केवल ६ केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक थे। इसके पश्चात् तीन और स्थापित हुये, एक हैदराबाद में, एक अजमेर में और एक आन्ध्र में। इस प्रकार १९५५-५६ के अन्त में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक ९ राज्यों में स्थापित हो गये (आन्ध्र, बम्बई, मद्रास, उड़ीसा, हैदराबाद, मैसूर, सौराष्ट्र, त्रिवाँकुर कोचीन और अजमेर) और प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक ७ 'क' राज्यों में ३ 'ख' राज्यों में और १ 'ग' राज्यों में स्थापित हो गये। चूँकि सौराष्ट्र, उड़ीसा और त्राँवकुर कोचीन में प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक नहीं हैं, इसलिये इन राज्यों के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक व्यक्तियों से अपना सीधा सम्बन्ध रखते हैं। आन्ध्र, मद्रास, बम्बई और मैसूर में प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक

तालिका १

भूमि बन्धक बैंकों की सदस्यता १९५५-५६ में

राज्य	बैंकों का संख्या	व्यक्तियों की सदस्य संख्या	बैंकों की संख्या
	केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक		
आन्ध्र	१	१७४	५७
बम्बई	१	१,०१७	११५
मध्य प्रदेश	....	...	२७
मद्रास	१	३२६	७५
उड़ीसा	१	९३६७	१०
हैदराबाद	१	...	३७
मैसूर	१	२०९	१६३
सौराष्ट्र	१	७३,५१९	...
ट्रॉवंकुर कोचीन	१	५,६८३	...
अजमेर	१	...	७
योग	९	९०,२९५	४९१
	प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक		
आन्ध्र	५७	९५,८८२	...
आसाम	२	२७५	...
बम्बई	१८	३२,६४५	...
मध्यप्रदेश	११	२२,४६३	...
मद्रास	७३	१,०१,४८४	...
उत्तर प्रदेश	६	८७५	...
पश्चिमी बङ्गाल	९	२,९९४	...
हैदराबाद	२०	९,६५४	...
मध्यभारत	१	६२	....
मैसूर	८३	४५,६२५	...
राजस्थान	१०	२७१	...
अजमेर	१२	१,५९७	...
योग	३०२	३,१३,८२७	...

तालिका नं० २

१९५५-५६ में भूमि बन्धक बैंकों का कारोवार

	केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक (लाख रुपयों में)	प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक (लाख रुपयों में)
शेयर पूँजी	७८'७३	८५'६४
ऋण और जमा धन		
(क) बैंकों और समितियों से	२१'०२	२३'६९
(ख) व्यक्तियों तथा अन्य स्त्रोतों से	११७'८९	८'३३
सरकार से प्राप्त ऋण	८७'१२	०'७४
ऋण पत्र	१४९४'३८	७'६२
केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक से प्राप्त ऋण	—	९७८'७६
व्यक्तियों को दिया गया ऋण	—	१७३'६४
बैंकों और समितियों को दिया गया ऋण	२८३'०४	—
वर्ष भर में चुकाया हुआ ऋण	१३७'४५	७९'९१
वर्ष के अन्त में कुल ऋण	१३०८'२१	१०५१'१४
सुरक्षित कोष	३६'३२	१७'८२
अन्य कोष	१७'१९	१०'०५
चालू पूँजी	१८५२'६३	११३४'८५

सुव्यवस्थित हैं। मध्य प्रदेश में उनकी व्यवस्था साधारण स्तर की है। वहाँ अभी कोई केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक नहीं है। इन बैंकों द्वारा कृषकों की समस्याएँ हल करने के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक राज्य में एक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक हो और अनेक छोटे भूमि बन्धक बैंक हों। आवश्यकता इस बात की है कि उन राज्यों में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जाँय जहाँ अभी तक इनकी स्थापना नहीं हुई है। इसके साथ ही वर्तमान छोटे भूमि बन्धक बैंकों के व्यवसाय में वृद्धि की जाय तथा उन राज्यों में जहाँ यह अभी तक नहीं है प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जाँय।

१९५५-५६ में केन्द्रीय और प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों की चालू पूँजी तालिका २ के अनुसार क्रमशः १८'५३ और ११'३५ करोड़ रुपया थी। केन्द्रीय

भूमि बन्धक बैंकों ने २८३ करोड़ रुपये तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों ने १७४ करोड़ रुपये ऋण में दिये। इन बैंकों के व्यवसाय की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं।

(१) इन बैंकों ने जितना ऋण दिया है और जितना व्यवसाय किया है, वह आवश्यकता को देखते हुए बहुत कम है। १९५५-५६ में केन्द्रीय तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा क्रमशः २·८३ करोड़ रु० १·७४ करोड़ रु० थी जब कि इससे पहिले वर्ष में इनके द्वारा ऋण दी हुई राशि क्रमशः २·४३ करोड़ रु० तथा १·४५ करोड़ रु० थी। कृषकों को दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकता की तुलना में ये धन बहुत कम हैं।

(२) केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के १८.५३ करोड़ रु० की चालू पूँजी तथा प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के ११·३५ करोड़ रु० की चालू पूँजी में से मद्रास और आंध्र क्रमशः १०·१२ करोड़ रु० तथा ७.६६ करोड़ रु० के लिए उत्तरदायी थे। मद्रास में भूमि बन्धक बैंकों के सफल होने के अनेक कारण हैं। इस सम्बन्ध में यह उल्लेख कर देना उचित होगा कि छोटे बैंकों के व्यवसाय के लिए उपयुक्त स्थान के चुनाव, भूमि के मूल्य इत्यादि की परीक्षा, ऋण लेने वाले की ऋण चुकाने की शक्ति का अनुमान, वसूली में शीघ्रता और छोटे बैंकों की कार्य कुशलता इत्यादि के विषय में सावधानी से कार्य लिया गया। सरकार ने इन बैंकों के व्यवसाय का भली भाँति निरीक्षण किया, केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों ने बड़ी सतर्कता की नीति अपनाई। इसके साथ ही बैंकों के कुशल प्रबन्धकों ने भी अपने उत्तरदायित्व को भली भाँति निभाया। इस आन्दोलन की सफलता के लिए यही कारण प्रमुख रूप से सहायक रहे। आवश्यकता इस बात की है कि आंदोलन का अन्य राज्यों में भी विस्तार किया जाय और उसे मद्रास की ही तरह सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय।

(३) राज्य के और केन्द्रीय सहकारी बैंकों की ही तरह, भूमि बन्धक बैंकों के पास अपनी धनराशि बहुत कम है और उन्हें ऋणपत्रों, सरकार से ऋण और जमापूँजी पर ही निर्भर करना पड़ा है। जहाँ तक केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों का सम्बन्ध है, १४·६४ करोड़ रुपया जो कि कुल चालू पूँजी का लगभग ८०% होता है ऋणपत्रों द्वारा ही प्राप्त किया गया था। केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंको की सहायता करने के विचार से रिजर्व बैंक ने १९४८ में भूमि बन्धक बैंकों द्वारा निर्मित ऋण पत्रों के १०% तक धन (जो सीमा १९५० में २०% कर दी गई थी) इस दशा पर देने की अनुमति दी कि उन राज्यों की सरकारें जहाँ वे बैंक स्थित हैं, मूलधन और ब्याज देने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेने को प्रस्तुत हों। १९५२ में इस सहायता योजना का और अधिक विस्तार किया गया और भारत सरकार ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जो ५ करोड़ रुपया दीर्घकाल के

लिये कृषि सम्बन्धी ऋण देने के लिये निश्चित कर दिया था, उसमें से १ करोड़ रुपया भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्र क्रय करने के लिये नियत कर दिया गया। यह निश्चित कर दिया गया कि केन्द्रीय सरकार अथवा रिजर्व बैंक दो में से कोई भी केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों द्वारा निर्मित कुल ऋणपत्रों के ४० प्रतिशत अथवा जितने जनता द्वारा न क्रय किए जाँय दोनों में से जो कम होगा विक्रय करें। क्रय की दशा यह होगी कि केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक इस सुविधा का लाभ के लिये यह बात स्वीकार करें कि वे एक वर्ष के अंदर सरकार और रिजर्व बैंक द्वारा मिल कर दी गई धनराशि का कम से कम आधा उत्पादक कार्यों के लिए ऋण रूप में व्यय करें। १९५३ ५४ में केवल आंध्र के भूमि बन्धक बैंक को १७ लाख रुपये की इस योजना के अंतर्गत सहायता दी गई थी। १९५५ के जून के अन्त तक इस योजना के अन्तर्गत ऋणपत्रों के क्रय की बातें आंध्र, मद्रास, मैसूर, और त्रावंकुर कोचीन के केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों से, जिन्होंने ऋणपत्र निर्मित किये थे, चलाई गई। मद्रास और आंध्र सरकारों ने इस योजना की दशाओं को स्वीकार कर लिया था। पर रिजर्व बैंक से इसके क्रय में सहयोग माँगने की ऋणपत्रों के जनता द्वारा आवश्यकता से अधिक क्रय करने के कारण आवश्यकता नहीं पड़ी। मैसूर और त्रावंकुर कोचीन की सरकारों ने रिजर्व बैंक द्वारा उनके ऋण पत्रों के क्रय कर लिये जाने पर जोर नहीं डाला।

१९५५-५६ के अंत में वह योजना समाप्त हो गई जिसके अंतर्गत केन्द्रीय सरकार और रिजर्व बैंक सम्मिलित रूप से केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्रों को खरीदती थीं। किन्तु ऋणपत्रों अप्राधित्व अंश या २०% में से जो भी कम हो रिजर्व बैंक द्वारा उसके योग दान की प्रथा चालू रही। फरवरी १९५६ में राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोष का निर्माण किया गया। इस कोष से लिये गये ऋण से राज्य सरकारें भूमि बन्धक बैंकों की चालू पूंजी में योग दान कर सकती थीं।

प्रारम्भिक भूमि बन्धक बैंकों के सम्बन्ध में उनके ११·३५ करोड़ रुपये की चालू पूँजी में ९.७९ करोड़ रुपया अर्थात् कुल का ८६% केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक द्वारा ऋण रूप में प्राप्त हुआ था। इन बैंकों के लिये यह तो अनिवार्य है कि वे ऋण पत्रों द्वारा बाजार से रुपया प्राप्त करें तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों से उधार लें, फिर भी उनके व्यवसाय को स्थिरता प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी शेयर पूँजी तथा रक्षित कोष बढ़ाया जाय।

(४) सहकारी बैंकों की भाँति भूमि बन्धक बैंकों ने भी बहुत अधिक व्याज की दर पर ऋण दिया है। इसका एक कारण यह था कि केन्द्रीय बन्धक बैंकों में

ब्याज की दर बहुत अधिक थी। दूसरा कारण यह था कि छोटे भूमि बन्धक बैंकों ने स्वयं लाभ प्राप्त करने के लिये भी अधिक ब्याज लिया। इन बैंकों को कृषकों के लिये लाभदायक बनाने के लिए यह व्यवस्था करनी पड़ेगी कि यह बैंक कम ब्याज पर ऋण लें और अपनी ब्याज की दर घटाएँ तथा आवश्यकता पड़ने पर इन्हें सरकार भी आर्थिक सहायता दे। इसके साथ ही यह प्रयत्न करना चाहिये कि इन बैंको की कार्यकुशलता बढ़े जिससे छोटे बैंकों ने ब्याज में जो अतिरिक्त वृद्धि की है वह कम हो जाय। इन बैंकों का प्रबन्ध-सम्बन्धी व्यय कम करना होगा जिससे ब्याज की दर में भी कमी की जा सके और जो कुछ रुपया लगाया गया है उसका उचित लाभ प्राप्त हो।

सुधार-सम्बन्धी सुझाव

भूमि बन्धक बैंकों का मद्रास में २३ वाँ सम्मेलन सम्पन्न हुआ जिसमें भूमि बन्धक बैंकों के कार्य में सुधार करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये। सम्मेलन में यह बताया गया कि बैंकों के पास पर्याप्त धन नहीं है, ऋण देने में देर होती है, ब्याज की दर बहुत अधिक है और देश के कुछ भागों में, विशेषकर मद्रास में, कृषि की स्थिति बिगड़ने के कारण कृषक आसानी से ऋण नहीं चुका पाता है और बैंकों का ऋण वसूली का कार्य धीमा पड़ गया है। सम्मेलन में इस बात पर भी प्रकाश डाला गया कि जो ऋण लिया जाता है उसका उद्देश्य भूमि में सुधार करने की अपेक्षा पुराना ऋण चुकाना रह गया है। सम्मेलन में इस बात पर जोर दिया गया कि बैंक के पास जितना भी धन है उसका उपयोग इस रूप में करना चाहिये जिससे कृषि उत्पादन बढ़े और किसानों को बचत करने में सहायता दी जाय ताकि वह अपना पुराना ऋण चुका सकें। यद्यपि अब तक ऋण इस उद्देश्य से भी दिया जाता रहा है कि भूमि और कृषि उत्पादन में सुधार हो परन्तु इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि ऋणों से पुराने कर्ज को चुकाया जाय। इसका एक कारण यह है कि भूमि बन्धक बैंकों का आरम्भ उस समय हुआ जब आर्थिक मंदी के कारण कृषक ऋण के बोझ से लद गया था परन्तु युद्ध के समय कृषि की उपज के मूल्य में वृद्धि हो जाने से किसानों ने अपना बहुत कुछ ऋण चुका दिया और यह समस्या अब किसी भी रूप में उतनी गम्भीर नहीं रह गई है जितनी कि वह पहिले थी। वर्तमान समय में देश की सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि उत्पादन बढ़ाया जाय, संगठन में सुधार करके उत्पादन व्यय कम किया जाय और उत्पादन के साधनों में कुशलता प्राप्त की जाय। इसलिये भूमि बन्धक बैंकों से दिये जाने वाले ऋण का अब यही प्रमुख उद्देश्य होना चाहिये। सम्मेलन में यह बताया गया कि वर्तमान ऋण देने की प्रणाली त्रुटिपूर्ण है। वर्तमान प्रणाली के अनुसार

ऋण लेने वाले को दूसरा और तीसरा ऋण अनुत्पादक कार्यों के लिये दिया जाता है और ऋण की अधिकतम तथा न्यूनतम मात्रा भी निश्चित नहीं की जाती। यह ऋण २० वर्ष के अंदर चुकाये जा सकते हैं और उन पर ब्याज की वही दर लागू होती है जो मूल ऋण के ब्याज की दर होती है। इसमें सुधार करने की आवश्यकता है—(अ) दूसरे और तीसरे ऋण की ब्याज की दर अधिक होनी चाहिये, (ब) ऋण कम समय के लिये दिया जाय जिससे भूमि से प्राप्त अधिक आय को अन्य कार्यों में लगाने से रोका जाय सके और उसका उपयोग ऋण चुकाने में किया जा सके, और (स) ऋण लेने के उद्देश्य पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिए।

वर्तमान समय में अधिक आवेदन पत्र आने के कारण, आवेदन पत्रों की जाँच करने के लिए शिक्षित कर्मचारियों की कमी होने के कारण, ऋण के सम्बन्ध में किसान को अधिक ज्ञान न होने और मालिकों द्वारा आवश्यक कागजात इत्यादि सावधानी से न रखने के कारण ऋण देने में बहुत समय लग जाता है। इन कठिनाइयों को हल करने के लिए सम्मेलन में यह सुझाव दिया गया कि केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक एक छोटी पुस्तिका प्रकाशित करें जैसा कि मद्रास में किया गया है। इस पुस्तिका में सरल शब्दों में उन सारी बातों को लिखा जाय जो ऋण लेने के लिए आवश्यक हैं। पुस्तिका में ऋण लेने की पूर्ण विधि दी जाय। बैंक में उपयुक्त शिक्षा प्राप्त कर्मचारी नियुक्त किये जाँय और ग्राम्य क्षेत्रों में ऐसे एजेन्ट नियुक्त किये जायँ जो ऋण के सम्बन्ध में जनता को विभिन्न जानकारी दे सकें।

अध्याय १७

ग्राम्य वित्त व्यवस्था

कृषक को अल्पकालिक, मध्यकालिक और दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है। बीज, खाद, चारा इत्यादि क्रय करने के लिये वह अल्पकालिक ऋण लेता है, पशु तथा कृषि के औजार इत्यादि खरीदने के लिये वह मध्यकालिक ऋण लेता है, और भूमि में स्थायी सुधार करने, बंजर भूमि को उपजाऊ बनाने और कुएँ तथा इमारतों का निर्माण करने के लिये उसे दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है परन्तु इस दिशा में वास्तविक कठिनाइयाँ यह हैं कि (१) कृषक निर्धन और निरक्षर है। कभी-कभी तो ऋण लेने के लिये वह आवश्यक जमानत भी नहीं दे पाता। साख के क्षेत्र में उसकी स्थिति प्रायः नगण्य है; और (२) कृषक साधारणतया जमींदारों और महाजनों से ऋण लेता रहा है, यह उसकी परम्परा रही है। परन्तु अब (अ) जमींदारी का उन्मूलन हो जाने से, (ब) महाजनी में अनेक कानूनी प्रतिबन्ध लग जाने से, जैसे लाइसेन्स लेना, लेखा रखना, ब्याज की दर पर नियन्त्रण इत्यादि, और (स) महाजनी कार्य की एक प्रतिकूल सामाजिक प्रतिक्रिया के कारण कृषक के लिये यह स्रोत भी प्रायः समाप्त हो गये हैं। महाजन और जमींदार या तो ऋण देते ही नहीं और यदि देते भी हैं तो बहुत कम।

कृषकों की सहायता के लिये तकावी ऋण प्रणाली है, परन्तु यह प्रणाली लोकप्रिय नहीं हो पाई है क्योंकि (अ) तकावी ऋण लेने में अनेक कार्यवाइयाँ करनी पड़ती है, (ब) यह ऋण विशेष कार्य के लिये दिया जाता है, और (स) ऋण वसूली में कोई रियायत नहीं दी जाती।

इस दिशा में सहकारी साख समितियों और भूमि बन्धक बैंकों ने कुछ प्रगति की है, परन्तु इनकी संख्या बहुत कम है, और महाजनों तथा जमींदारों के आंशिक उन्मूलन से जो अभाव हो गया है उसको पूर्ण कर सकने के लिये यह संस्थाएँ न पर्याप्त हैं और न सुसंगठित। इसका परिणाम यह हुआ है कि कृषक बड़ी कठिनाइयों में ग्रस्त दिखाई देते हैं। पिछले कुछ वर्षों में कृषि उपज के मूल्य में वृद्धि होने से कृषक की वित्तीय स्थिति में कुछ सुधार हुआ है। इस वृद्धि से कृषक के वित्तीय अभाव की आंशिक पूर्ति तो हुई है, पर उसे और अधिक वित्त की आवश्यकता है। कृषक के लिये यह दुष्चक्र है। पर्याप्त वित्त

न होने से वह अपनी भूमि में आवश्यक सुधार नहीं कर पाता। इससे वह निर्धन रहता है और ऐसी स्थिति में रहकर वित्त प्राप्त नहीं कर सकता। भारतीय कृषक की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिये इस दुष्चक्र को समाप्त करना आवश्यक है।

ग्राम्य बैंक व्यवस्था जांच समिति—श्री पुरोषोत्तमदास ठाकुरदास की अध्यक्षता में ग्राम्य बैंक व्यवस्था जाँच समिति ने १९५० ग्राम्य साख व्यवस्था के पुर्नसंगठन के लिये विस्तृत सुझाव दिये हैं। ग्रामों की साख व्यवस्था को पुर्नसंगठित करने के लिये समिति ने कुछ आधारभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है, (१) समिति का मत है कि ग्रामीण जनता की बचत को संग्रहीत करने का कार्य और ग्रामीण जनता को साख की सुविधा देने का कार्य पृथक नहीं किया जा सकता। ये दोनों कार्य एक ही संस्था द्वारा किए जाने चाहियें। (२) वर्तमान समय की सबसे बड़ी समस्या यह है कि ग्रामों में ऋण इत्यादि देने के लिये उपयुक्त सस्थाओं की व्यवस्था की जाय। (३) देश के विभिन्न भागों में अल्पकालिक और मध्यकालिक ऋण देने की व्यवस्था करने के लिये एक ही प्रकार की संस्था से कार्य नहीं चल सकता है। प्रत्येक क्षेत्र को अपनी स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उचित प्रकार की संस्था का निर्माण करना होगा और इस संस्था को सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर संगठित करना होगा। (४) सरकार को ऋण तथा भूमि सम्बन्धी कानून बनाते समय इस ओर ध्यान देना चाहिये कि इन कार्यों के लिये नई और उपयुक्त संस्थायें किसी गति से स्थापित की जा सकती हैं। इस प्रकार के नियमों का साख संस्थाओं पर जो प्रभाव पड़े उसका सरकार को अध्ययन करना चाहिये।

समिति ने यह बताया कि देश में व्यापारिक बैंक व्यवस्था का प्रसार हुआ, परन्तु इसके साथ ही उसने इस तथ्य की ओर भी संकेत किया कि व्यापारिक बैंक और विशेषकर अनुसूचित बैंक बड़े नगरों और कस्बों में केन्द्रित हैं। छोटे कस्बों और ग्राम्य क्षेत्रों में यह कार्य सहकारी बैंक, डाकखाने के सेविंग बैंक और गैर अनुसूचित बैंक चलाते हैं। समिति ने बताया कि ८६९ कस्बों में, जिनमें ४९२ स्थानों पर या तो जिले के प्रधान कार्यालय है या तालुका के, बैंक सम्बन्धी कोई सुविधा उपलब्ध नहीं थी।

समिति ने सुझाव दिया कि यद्यपि व्यापारिक बैंकों को ग्राम्य क्षेत्रों में अपनी और अधिक शाखायें स्थापित करने और व्यवसाय में उन्नति करने के लिये प्रोत्साहन देने का प्रयत्न करना चाहिये परन्तु फिर भी सम्भावना यही है कि वर्तमान परिस्थितियों में व्यापारिक बैंक तालुका या तहसील के प्रधान कार्यालयों, कस्बों, मंडियों और व्यापारिक तथा औद्योगिक महत्व के अन्य कस्बों के सिवाय

अन्यत्र अपना प्रसार कम करेंगे। छोटे कस्बों में सहकारी बैंकों का विकास करने की आवश्यकता है क्योंकि (अ) उनका ग्रामों की सहकारी समितियों से निकट सम्बन्ध रहता है और (ब) उनके व्यवसाय का व्यय भी अपेक्षाकृत कम होता है। छोटे ग्रामों में सहकारी समितियों और डाकखाने के सेविंग बैंकों की व्यवस्था होनी चाहिये।

व्यापारिक बैंकों की सहायता करने के लिये समिति ने अनेक सुझाव दिये हैं, (१) सड़कों का निर्माण करके, ग्राम-यातायात एवम् संचार के साधनों का विकास करके, इन बैंकों पर दुकान निर्माण नियम लागू न करके और इन्हे औद्योगिक पंचन्यायालय के निर्णयों से मुक्त करके उन सारी बाधाओं को दूर किया जाय जिनसे व्यापारिक बैंकों का विकास अवरुद्ध है। (२) रिजर्व बैंक तथा उसकी शाखाओं द्वारा कम व्याज पर या बिना व्याज के इनको रुपया दिलाने की व्यवस्था करके अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया जाय। इनको बड़े तथा छोटे कोष गृह में अपना रुपया सुरक्षित रखने की सुविधा दी जाय और भाण्डागार विकास बोर्ड के द्वारा इनके लिये भंडार बनवाये जाँय (३) सहकारी बैंकों और सहकारी साख समितियों को विशेष सहायता दी जाय, जैसे इन्हें नेशनल सेविंग सर्टीफिकेट विक्रय का अधिकार दिया जाय और डाकखाने के सेविंग बैंकों से प्रति-सप्ताह रुपया निकालने और अधिकतम निक्षेप के सम्बन्ध में सुविधा, कम दर पर रुपया मँगाने और भेजने की सुविधा इत्यादि।

ग्रामों में सेविंग बैंक का कार्य करने वाले डाकखानों की संख्या में वृद्धि की जाय और उनके कार्य में सुधार करने का प्रयत्न किया जाय। समिति के मतानुसार यह मान लेना गलत है कि ग्रामों में काफी मात्रा में नकद बचत है। जिसे बैंकिंग की सुविधाओं का प्रसार करके संग्रह किया जा सकता है।

दीर्घकालीन साख के लिये समिति ने यह सुझाव दिया कि जिस क्षेत्रों में प्रारम्भिक तथा केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंक नही हैं वहाँ उन्हें स्थापित किया जाय। समिति ने देश भर के लिये एक केन्द्रीय कृषि साख कारपोरेशन की स्थापना करने और बैंकों के प्रसार के लिये प्रोत्साहन देने के लिये नकद आर्थिक सहायता देने के अनेक प्रस्तावों को सिद्धान्तों के आधार पर और अनेक प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण स्वीकार नहीं किया। वर्तमान परिस्थियों में निक्षेप बीमे को लागू करना और बड़े पैमाने पर चल बैंकों की व्यवस्था करना उपयुक्त नहीं समझा गया।

समिति के प्रस्तावों की आलोचना—जाँच समिति की उक्त योजना की आलोचना करते हुये यह बताया गया है कि—(१) योजना में ग्रामीण क्षेत्रों

को वित्तीय सहायता देने की अपेक्षा इस बात पर जोर दिया गया है कि ग्रामीणों की बचत को संग्रहीत किया जाय। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तावित व्यवस्था के अन्तर्गत धन एकत्र करने वाली संस्था अपने द्वारा संग्रहीत कोष में से स्थानीय उपयोग के लिये कुछ योगदान नहीं देगी और ऐसी स्थिति में ग्रामीण क्षेत्रों में व्यापारिक एवम् सहकारी बैंकों के कार्य का प्रसार करने में यह आवश्यक नहीं होगा। (२) समिति ने दीर्घकालिक वित्तीय सहायता पर जोर दिया है परन्तु यह सुझाव नहीं दिया है कि यह वित्तीय सहायता किन स्रोतों से और किस प्रकार प्राप्त की जाय। इसने केवल यह सुझाव दिया है कि भूमि बन्धक बैंक स्थापित किये जाँय। इस प्रकार के बैंकों की स्थापना करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं और जहाँ यह स्थापित हो चुके हैं वहाँ भी यह दीर्घकालिक वित्तीय सहायता यदि किसी केन्द्रीय कृषि कार्पोरेशन से भूमि बन्धक बैंकों द्वारा या अन्य संस्थाओं द्वारा प्राप्त हो सके तो यह बहुत उपयुक्त होगा। परन्तु कुछ कारणों से समिति ने केन्द्रीय कारपोरेशन स्थापित करने के विचार को अस्वीकृत कर दिया। (३) अल्पकालिक वित्तीय सहायता के लिये समिति ने सहकारी बैंकों को उपयुक्त साधन माना है, परन्तु समिति ने इस सम्बन्ध में कोई सुझाव नहीं दिया है कि इन सहकारी संस्थाओं को भविष्य में किस प्रकार अधिक सफल बनाया जा सकता है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण—अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण, अथवा गोरवाला कमेटी, ने ग्राम्य अर्थ प्रबन्धन की दशा का विश्लेषण किया और अपनी १९५४ में प्रकाशित रिपोर्ट में विशद अभिस्ताव किये हैं। भारतीय कृषक संतोषप्रद ढंग से अपनी ऋण की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर पाता। जितना ऋण ग्रामों में लिया जाता है उसका केवल ३% सहकारी संस्थाओं द्वारा प्रदान किया जाता है और ३% से कुछ ही अधिक सरकारी संस्थाओं से। अपनी आवश्यकता के ९४% के लिये अब भी ग्रामवासियों को ग्रामीण महाजन और साहूकार के ऊपर निर्भर रहना पड़ता है। इसके कारण कृषक के लिये अपनी आवश्यकता पर ऋण लेना बहुत ही महंगा, अपर्याप्त और अनिश्चित है। समिति इस निष्कर्ष पर पहुँची कि कृषि सम्बन्धी ऋण जैसे प्राप्त है "न तो मात्रा में ही आवश्यकता अनुसार पूर्ण है और न जिस ढंग से मिलता है वही उचित है, और यदि जनता की आवश्यकता की दृष्टि से देखा जाय (ऋण लेने की क्षमता की उपेक्षा न करते हुये) तो जिसे मिलना चाहिये उसे प्राप्त भी नहीं होता।" समिति के मत में सहकारी समितियाँ इस समस्या को सुलझाने के लिये अयोग्य हैं, उनके पास धन का अभाव है। उनका यह भी मत है कि सहकारी-ऋण-आन्दोलन अपने निजी प्रयत्न द्वारा तो कृषकों की ऋण की

आवश्यकता को पूर्ण नहीं कर सकता। समिति ने कहा कि भारत में ग्राम्य ऋण समस्त देश की सजीव और विस्तृत समस्या का एक अंश है। बिना उस संदर्भ में उसे ठीक-ठीक समझे सुलझाया नहीं जा सकता। उसकी सर्व विदित कठिनाई का केन्द्र ग्राम ही है, पर उसके कार्यों और निराकरण के उपायों को अन्यत्र ढूंढ़ना होगा। इस प्रकार यह समस्या केवल ग्राम की ही समस्या नहीं है। प्रत्यक्ष रूप से इसका रूप ऋण लेना है पर वास्तव में यह समस्या आर्थिक व्यवस्था की है, इसलिये विस्तृत आर्थिक क्रियाओं तथा ध्येयों का यह एक अंग है।

समिति द्वारा ग्राम्य ऋण की अभिस्तावित सम्यक योजना तीन मूलाधार सिद्धान्तों पर आधारित है; (१) सरकार को विभिन्न स्तरों पर सहयोग देना चाहिये; (२) ऋण तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं में पूर्ण सामंजस्य होना चाहिये; और (३) इस योजना का प्रशासन पूर्ण रूप से प्रशिक्षित तथा कुशल कर्मचारियों द्वारा होना चाहिये जिनके हृदय में ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं के प्रति सहानुभूति हो। समिति ने सरकार के सहकारी ऋण सुविधाओं में, भाण्डागारों की सुविधाओं और ग्रामों में साधारण बैंकों के विस्तार कार्यों में सहयोग के लिये विशद अभिस्ताव किये हैं। कमेटी ने इम्पीरियल बैंक के राष्ट्रीयकरण की सिफारिश की और रिजर्व बैंक, कृषि तथा खाद्य मंत्रालय राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भाण्डागर बोर्डों के तत्वाधान में अनेकों कोषों के स्थापना की ग्राम पुर्नसंगठन के कार्यों में आर्थिक सहायता देने के लिये सिफारिश की।

आलोचना—गोरवाला कमेटी ने भारतीय ग्राम्य समस्याओं का ठीक-ठीक विश्लेषण किया और इस निर्णय पर ठीक ही पहुँची कि ग्राम अपनी ऋण समस्या को बिना वाह्य सहायता के अपने आप सुलझा नहीं सकते। भूतकाल में मुख्य जोर सहकारी ऋण सुविधा पर दिया गया था। कमेटी का यह निष्कर्ष उचित ही था कि सहकारी ऋण आन्दोलन अपनी वर्तमान समय की स्थिति के अनुसार ग्रामीण जनता की आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर सकता। कमेटी का यह प्रस्ताव भी बहुत ही श्लाघनीय है कि ऋण समस्या के सुलझाने की योजना को सम्पूर्ण रूप से लेना चाहिये और साख तथा अन्य आर्थिक क्रियाओं को एक साथ कार्यान्वित करना चाहिये तभी योजना सफल हो सकती है। परन्तु कमेटी के सुझाव किसी सीमा तक दोषपूर्ण भी हैं। (१) यद्यपि कमेटी ने अधिकाधिक सरकारी सहयोग की सिफ़ारिश की है, पर उन्हें इस बात की आशंका न हुई कि इससे जनता सरकारी सहायता पर आवश्यकता से अधिक निर्भर रहने की आदी हो जायगी और उनकी निर्भरता सरकार के हर स्तर पर सहयोग देने से धीरे-धीरे लुप्त हो जायगी। (२) कमेटी ने इम्पीरियल बैंक आफ़ इंडिया के राष्ट्रीय-

कारण की ओर ग्रामों में साधारण बैंकों के विस्तार की सिफ़ारिश की पर उनका इस बात की ओर ध्यान नहीं गया कि यह तभी सफ़ल हो सकता है जब ग्रामीण जनता की बैंकों के प्रयोग करने की आदत पड़ जाय; जिसकी निकट भविष्य में तो कोई सम्भावना नहीं दिखाई पड़ती। बिना इस आदत के स्टेट बैंक आफ़ इंडिया की जो शाखायें ग्रामों में खोली जाँयगी वे बैंकों को हानि ही पहुँचायेंगी और उसके द्वारा राष्ट्र को हानि होगी और कार्य कुछ न हो सकेगा; और (३) कमेटी द्वारा सरकारी सहयोग और आर्थिक सहायता से ग्राम्य ऋण समस्या के सुलझा सकने की आशा नहीं की जा सकती। यह समस्या इतनी विशाल है और सरकारी आर्थिक सहायता जो इस कार्य के लिये नियत की गई है इतनी नगण्य है कि सम्यक योजना की बड़ी बड़ी बातों के होते हुये भी थोड़ी सी भी सफ़लता प्राप्त करने में बहुत समय लगेगा। यदि सरकार ने भूतकाल में गाँवों के ऋण स्रोतों के विनाश करने में, जब कि वे उनके स्थान पर दूसरी सुविधा प्रदान करने में असमर्थ थे, शीघ्रता न की होती तो स्थिति इतनी निराशजनक न होती।

योजना के अन्तर्गत—सर्व प्रथम कार्य इम्पीरियल बैंक आफ़ इंडिया को प्रथम जुलाई १९५५ से राष्ट्रीय करण करके स्टेट बैंक आफ़ इंडिया को समर्पित करके किया गया। ग्राम्य अर्थकोषण जाँच कमेटी ने इम्पीरियल बैंक की २७४ नई शाखाओं के खोलने का सुझाव दिया पर इम्पीरियल बैंक १ जुलाई १९५१ से ३० जून १९५६ तक केवल ११४ नई शाखाओं के खोलने के लिये प्रस्तुत हुआ था। जब से स्टेट बैंक आफ़ इंडिया का जन्म हुआ है, नवीन शाखाओं के खोलने की गति में वृद्धि हुई है। स्टेट बैंक आफ़ इंडिया के लिए अपने जीवन काल के प्रथम पाँच वर्षों के भीतर अर्थात् ३० जून १९६० तक ४०० नवीन शाखाओं का खोलना नियम के अनुसार अनिवार्य कर दिया गया है।

अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण समिति के अभिस्तावों के अनुसार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत अल्प कालिक, मध्य कालिक, तथा दीर्घ-कालिक ऋण सुविधाओं के सम्बन्ध में निश्चित किये हुये ध्येय प्रथम योजना के ध्येयों की अपेक्षा बहुत ऊँचे नियत किये गये हैं जैसा कि निम्न तालिका से प्रकट होता है।

	प्रथम योजना के ध्येय	द्वितीय योजना के ध्येय
अल्पकालिक ऋण	३० करोड़ रुपया	१५० करोड़ रु०
मध्यकालिक ऋण	१० करोड़ रुपया	५० करोड़ रु०
दीर्घकालिक ऋण	३ करोड़ रुपया	२५ करोड़ रु०

इससे यह स्पष्ट है कि अखिल भारतीय ग्रामीण साख सर्वेक्षण ग्रामीण साख समस्या के प्रति जनता का ध्येय आकर्षित करने में सफल हुआ है। ग्रामीण साख सर्वेक्षण द्वारा प्रस्तावित पुर्नसंगठन की योजना की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने साख तथा ग़ैर साख समितियों को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देने की सिफ़ारिश की ताकि कृषक को ऋण, बीज, खाद, कृषि सम्बन्धी औज़ार तथा आवश्यक उपभोग की सामग्री प्राप्त हो सके और उसे अपनी उत्पत्ति को बाज़ार में लेजाकर विक्रय करने में भी सुविधायें मिल सकें। कार्यों के सोचे हुये विस्तार के अनुकूल ग्रामीण साख सर्वेक्षण ने यह भी सिफ़ारिश की कि ग्राम में वर्तमान छोटी छोटी समितियों को मिलाकर बड़ी समितियों में परिणित कर देना चाहिये ताकि वे अनेक ग्रामों के समूह की सेवा कर सकें और ये पहिले पहिले बनाई जाने वाली बड़ी समितियों की रूप रेखा वही हो जो सर्वेक्षण ने प्रस्तावित की है। ऐसी बड़ी समितियों की सामान्य रूप रेखा कुछ इस ढंग की होगी कि उसके सदस्य संख्या में लगभग ५०० तक होंगे और प्रत्येक सदस्य का उत्तरदायित्व उनके द्वारा जमा की हुई पूँजी के द्राव्यिक मूल्य के पाँच गुने तक सीमित होगा। समिति की न्यूनतम शेयर पूँजी लगभग १५००० रु० के होगी और वह एक उपयुक्त संख्या में ग्रामों की जो एक समूह के अन्तर्गत रख दिये जायेंगे सेवा करेगी और जो यथासम्भव प्रतिवर्ष लगभग १·५ लाख रुपये का व्यवसाय करके दिखायेगी। ऐसा प्रस्ताव किया गया है कि १९६०-६१ तक १०,४०० ऐसी बड़ी समितियाँ जिनके प्रबन्धक प्रशिक्षित होंगे स्थापित हो जानी चाहिये।

सरकार को सहकारिता में सहयोग दे सकने में सुविधा प्रदान करने के विचार से रिजर्व बैंक ने एक राष्ट्रीय-कृषि-साख (दीर्घ कालीन) कोष की स्थापना १० करोड़ रुपये से की है। द्वितीय योजना काल में प्रतिवर्ष ५ करोड़ रुपये का अनुदान दिया जायगा ताकि १९६०-६१ तक कोष में ३५ करोड़ रुपया हो जाय। इस कोष से राज्यों को इसलिये ऋण दिया जायगा कि वे सहकारी संस्थाओं की शेयर पूँजी क्रय कर सकें। एक दूसरे कोष की भी, जिसका कि नाम राष्ट्रीय सहकारी विकास कोष होगा, केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापना की जायगी। इस कोष से राज्य-सरकारें गैर साख समितियों की शेयर पूँजी खरीदने के लिये ऋण ले सकेंगी। इसी कोष में से भण्डारगृह के निर्माण, सहकारी समितियों के कर्मचारियों पर व्यय, तथा सहकारी विभागों के प्रशासन को दृढ़ बनाने पर व्यय करने के लिये द्राव्यिक सहायता दी जायगी।

भाण्डागार, साख समितियों तथा गैर साख समितियों के बीच एक महत्त्वपूर्ण संस्थागत कड़ी के रूप में होंगे। प्रारम्भिक बिक्री समितियों और सुव्यवस्थित

साख समितियों को अधिक संख्या में गोदाम बनवाने होंगे। ग्रामीण साख सर्वेक्षण के सुझाव के अनुकूल ही यह प्रस्ताव किया गया है कि एक केन्द्रीय भाण्डागार-निगम की स्थापना की जाय और प्रत्येक प्रदेश में भी उसी प्रकार भाण्डागार-निगम स्थापित किये जाँय। ये निगम राष्ट्रीय सहकारी विकास तथा भाण्डागार बोर्ड के निर्देशन में कार्य करेंगे। एक प्रदेश के भाण्डागार निगम की अधिकृत पूँजी २ करोड़ रुपये तक अनुमानित की गई है पर निर्गमित पूँजी विभिन्न राज्यों को उनकी आवश्यकता के अनुकूल होगी। यह प्रस्ताव किया गया है कि केन्द्रीय भाण्डागार निगम द्वारा आधी पूँजी और शेष आधी प्रादेशिक सरकार द्वारा क्रय की जानी चाहिये। यह आशा की जाती है कि १६ भाण्डागार निगम स्थापित किये जायेंगे और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में २५० भाण्डागार विभिन्न केन्द्रों में स्थापित किये जायेंगे, जिनकी माल सुरक्षित रखने की शक्ति लगभग १० लाख टन होगी। भाण्डागारों की स्थापना के लिये उपयुक्त केन्द्रों की खोज की जा रही है। ऐसी आशा की जाती है कि केन्द्रीय भाण्डागार निगम की कुल पूँजी १० करोड़ रुपये के लगभग होगी जिसमें से केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय विकास तथा भाण्डागार बोर्ड द्वारा ४ करोड़ रुपये तक के शेयर सम्भवतः क्रय कर ले और शेष पूँजी स्टेट बैंक आफ इन्डिया, अनुसूचित बैंकों, तथा सहकारी संस्थाओं द्वारा क्रय की जाय। केन्द्रीय भाण्डागार निगम से यह आशा की जाती है कि वह मुख्य मुख्य केन्द्रों में १०० बड़े भाण्डागार स्थापित करेगा। भाण्डागार रसीदों को क्रय-विक्रय योग्य (negotiable) माना जायगा, जिसकी जमानत पर अधिकोषण संस्थायें उन व्यक्तियों को ऋण दे सकेंगी जिन्होंने भाण्डागारों में कृषि उत्पत्ति जमा की है।"

सहकारी साख, बिक्री, विधायन तथा भाण्डागारों इत्यादि के सम्बन्ध में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मुख्य ध्येय निम्न हैं।

साख	
बड़ी समितियों की संख्या	१०४००
अल्पकालीन ऋण की मात्रा का ध्येय	१५० करोड़ रु०
मध्यकालीन ऋण की मात्रा का ध्येय	५० करोड़ रु०
दीर्घकालीन ऋण की मात्रा का ध्येय	२५ करोड़ रु०
बिक्री तथा विधायन	
प्रारम्भिक बिक्री समितियाँ जिनकी व्यवस्था की जायगी	१८०८
सहकारी चीनी कारखाने	३५

रुई ओटने के सहकारी कारखाने	४८
अन्य प्रकार की विधायन समितियाँ	११८
भाण्डागार तथा गोदाम	
केन्द्रीय तथा राज्यीय निगमों के भाण्डागार	३५०
बिक्री समितियों के गोदाम	१५००
बड़ी समितियों के गोदाम	४०००

रिजर्व बैंक का योगदान—वर्तमान नियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक केवल अल्पकालिक वित्तीय सहायता दे सकता है। कृषि को मध्यकालिक और दीर्घकालिक वित्तीय सहायता देने का उसे अधिकार नहीं है। रिजर्व बैंक विभिन्न फसलों के समय राज्य-सहकारी बैंकों को बिना प्रतिभूति लिये ऋण दे सकता है। यह सहायता धारा १७ (२) (बी) और १७ (४) (सी) के अन्तर्गत दी जा सकती है। साथ ही सरकारी ऋणपत्रों और भूमि बन्धक बैंकों के ऋणपत्र के आधार पर प्रतिभूति ऋण धारा १७ (४) (१) के अन्तर्गत दिये जा सकते हैं। धारा १७ (२) (बी) के अन्तर्गत संशोधन के पश्चात् ऋण वापसी की अवधि ६ महीने से बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है। इसके अन्तर्गत रिजर्व बैंक हुण्डियों और प्रतिज्ञा पत्रों को क्रय और विक्रय कर सकता है। इन हुण्डियों और प्रतिज्ञा पत्रों पर दो या अधिक आवश्यक हस्ताक्षर होने चाहियें जिनमें से एक हस्ताक्षर अनुसूचित बैंक का या राज्य के सहकारी बैंक का होगा। यह हुण्डियाँ या प्रतीज्ञा पत्र फसल के समय प्रचलित किए जायँगे जिनकी चुकाने की अवधि १५ महीने रहेगी। व्यवहार में यह अवधि १२ महीने ही है परन्तु विशेष स्थिति में १५ महीने कर दी जाती है, आशा की जाती है कि इस संशोधन से कृषिकों को अधिक सुविधा होगी। सहकारी संस्थाओं को अन्य सुविधायें भारतीय रिजर्व बैंक नियम की संशोधित धारा १७ (२) (ए) के अन्तर्गत दी गई हैं। अब तक हुण्डियों पर एक हस्ताक्षर अनुसूचित बैंक के होने पर रिजर्व बैंक से रुपया मिलता था। परन्तु अब यह सुविधा सहकारी बैंकों को भी दी गई है।

रिजर्व बैंक आफ़ इंडिया एक्ट के १९५१ और १९५३ में संशोधन से बैंक के ग्राम्य ऋण सम्बन्धी कार्यों में और भी अधिक विस्तार आ गया है। संशोधित एक्ट के अनुसार "मौसमी कृषि व्यापार और फसलों की बिक्री" के अन्तर्गत मिश्रित कृषि कार्य और कृषकों तथा उनकी संस्थाओं द्वारा फसलों का विधायन भी सम्मिलित कर लिया गया है। अल्पकाल ऋण चुकाने की अवधि १५ महीने कर दी गई है। मध्यकाल तक के ऋण अधिक से अधिक ५ वर्ष की अवधि के लिये दिये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त सहकारी बैंकों के व्यवसाय

सम्बन्धी विपत्रों का रिजर्व बैंक द्वारा पूर्व प्रायण नियमानुकूल कर दिया गया है और इस बात की भी अनुमति दे दी गई है कि स्वीकृत घरेलू उद्योग तथा छोटे उद्योगों को उत्पादन में तथा उनके माल के विक्रय में आर्थिक सहायता पहुँचा सकता है।

१६४२ से भारतीय रिजर्व बैंक ने फसल की बिक्री के लिए सहकारी संस्थाओं को बैंक दर से एक प्रतिशत कम व्याज की दर पर वित्तीय सहायता दी है। १६४४ में इसके अन्तर्गत फसल बोने, काटने, बेचने इत्यादि का कारोबार भी सम्मिलित कर लिया गया। १६४६ में व्याज की दर में बैंक दर से एक प्रतिशत से बढ़ाकर डेढ़ प्रतिशत कमी कर दी गई है। बैंक के व्याज की दर में ३ प्रतिशत से ३½ प्रतिशत तक वृद्धि हो जाने पर भी रिजर्व बैंक ने कृषि कार्य के लिए डेढ़ प्रतिशत व्याज की दर पर ही सहायता दी, यह दर अब २ प्रतिशत कम कर दी गई है।

रिजर्व बैंक ने सहकारी बैंकों को कुछ अन्य सुविधाएँ प्रदान की हैं। पहले सहकारी बैंकों को सभी ऋण प्रति वर्ष ३० सितम्बर तक चुकाने पड़ते थे। इससे सहकारी बैंकों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। रिजर्व बैंक ने अब यह निश्चय किया है कि सहकारी बैंकों द्वारा लिए गए ऋण अपनी पूरी अवधि के बाद भी चुकाये जा सकते हैं परन्तु इसमें यह शर्त लगा दी गई है कि किसी भी समय इन बैंकों के पास कुल शेष ऋण उस वर्ष के लिए निर्धारित साख सीमा से अधिक न हो। सहकारी बैंकों को एक और सुविधा दी गई है। अब सहकारी बैंक रिजर्व बैंक द्वारा निर्धारित साख सीमा को बढ़ा भी सकते हैं, यह बैंक ऋण की इस रकम को अब अपनी सुविधानुसार ले सकते हैं और उसका भुगतान कर सकते हैं जैसा कि बैंक में जमा रुपये के साथ किया जाता है। पहले यह स्थिति थी कि ऋण को निर्धारित अवधि में चुकाने के पश्चात् पुनः उसी वर्ष बिना रिजर्व बैंक की अनुमति के नया ऋण नहीं लिया जा सकता था परन्तु अब किसी वर्ष की ऋण की निर्धारित रकम के बराबर उपयोग में इस अनुमति की आवश्यकता नहीं रही है।

ग्राम्य बैंक व्यवस्था जाँच समिति की सिफारिश पर रिजर्व बैंक ने वित्तीय सहायता देने के सम्बन्ध में सुविधाएँ बढ़ायीं और १ सितम्बर १६५१ से कमीशन में ५० प्रतिशत कमी कर दी है। जैसा ऊपर बताया गया है रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि सम्बन्धी साख कोष की स्थापना की है। इस कोष से राज्य सरकारों को दीर्घकालीन ऋण दिया जायगा जिसकी सहायता से वे सहकारी साख संस्थाओं की शेयर पूँजी क्रय करने में योगदान दें। १६५६ में रिजर्व बैंक ने राष्ट्रीय कृषि साख

अध्याय १८

कृषि नियोजन

भारत की प्रथम पञ्चवर्षीय योजना ने कृषि नियोजन पर विशेष महत्व दिया था। प्रथम योजना के अन्तर्गत २३५६ करोड़ रुपये के कुल व्यय में से १५.१% (३५७ करोड़ रु०) कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं, तथा २८.१% (६६१ करोड़ रुपये) सिंचाई तथा विद्युत शक्ति योजनाओं पर व्यय के लिये निश्चित कर दिये गये थे। द्वितीय पञ्चपवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि नियोजन का स्थान महत्वपूर्ण है, पर अधिक ज़ोर औद्योगिक विकास पर दिया गया है। इस प्रकार प्रथम योजना में जो असंतुलित होने का दोष आ गया था उसे दूर कर दिया गया है। द्वितीय योजना में विकास सम्बन्धी ४८०० करोड़ रुपये के कुल व्यय में से कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं को ११.८% (५६८ करोड़ रुपये) और सिंचाई तथा शक्ति योजनाओं को १६% (६१३ करोड़ रुपये) मिले हैं।

प्रथम योजना में कृषि पर विशेष महत्व देने के सम्बन्ध में योजना आयोग ने दो तर्क दिये थे—(१) जो योजनाएँ प्रचलित हैं उनको पूर्ण करने की आवश्यकता है और (२) जब तक खाद्यान्न का और उद्योगों के लिये आवश्यक खनिज पदार्थों का पर्याप्त उत्पादन नहीं कर लिया जाता औद्योगिक विकास के कार्यक्रम में विशेष प्रगति ला सकना सम्भव नहीं है। इसमें सन्देह नहीं कि उद्योगों का विकास करने के लिये खनिज पदार्थों और खाद्यान्न की आवश्यकता होती है। यदि यह सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रा में मिल जाँय तो भारतीय उद्योग को विकसित करने में निश्चय ही सहायता मिल सकती है। इसके साथही भारत की अधिकाँश जनता कृषि कार्य करती है। कृषि में सुधार करने से इनकी आय में वृद्धि होगी और परिणाम स्वरूप रहन सहन में सुधार होगा। परन्तु इतने पर भी योजना आयोग द्वारा कृषि को प्रधानता दिये जाने की कड़ी आलोचना की गई थी। भारत की आर्थिक व्यवस्था असन्तुलित है, क्योंकि उद्योगों का विकास करने की पूर्ण सम्भावना होते हुये भी अब तक उद्योग पूरी तरह विकसित नहीं हो पाये हैं। इस तथ्य की ओर ध्यान न देकर निरन्तर इस बात पर महत्व दिया जा रहा है कि कृषि का विकास करने की विशेष आवश्यकता है। पंचवर्षीय योजना के पूर्ण हो जाने पर इस असंतुलित व्यवस्था के दूर होने की सम्भावना नहीं है। वास्तव में

सम्भावना में इस बात की है कि योजना के परिणाम स्वरूप यह व्यवस्था दृढ़तर हो जायगी। यदि पञ्चवर्षीय योजना निर्माण करते समय उद्योगों पर अधिक ध्यान दिया गया होता तो इस दोष के दूर हो सकने की आशा थी और भारत का और अधिक सन्तुलित विकास हो सकता था। यदि योजना आयोग उद्योगों के विकास पर महत्व देता तो इससे कृषि के विकास की समुचित व्यवस्था करने में उसको किसी बाधा का सामना नहीं करना पड़ता। दूसरे, यह बिल्कुल सही है कि भविष्य में औद्योगिक विकास करने के लिए दृढ़ आधार का निर्माण किया जाय परन्तु इस बात पर कैसे विश्वास कर लिया जाय कि भारत की कृषि का पूर्ण विकास हो जाने के पश्चात् उद्योगों का इस स्तर तक विकास कर लिया जायगा कि उसमें उस समय उत्पादित कच्चे माल और बिजली इत्यादि का पूर्ण उपभोग हो सकेगा। यह बहुत सम्भव है कि उस समय तक अन्य देशो के उद्योग अधिक शक्ति शाली हो जायेंगे और भारतीय उद्योग के लिये नवीन समस्याएँ उत्पन्न कर दें। योजना आयोग उद्योगों का और अधिक विकास करने और भारतीय कृषि से उपलब्ध न हो सकने पर खाद्यान्न तथा कच्चे माल का आयात करने की व्यवस्था कर सकता था जैसे जापान और ब्रिटेन ने किया। यदि उद्योग और कृषि दोनों का साथ साथ विकास किया जाय तो भारत का आर्थिक विकास और अधिक सन्तुलित हो जायगा और उद्योग तथा कृषि के विकास का परस्पर सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव हो जायगा। योजना में कृषि पर आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिये जाने से कृषि तथा उद्योग के विकास में सन्तुलन स्थापित कर उनका सुनियोजित विकास करने में बाधा पहुँचेगी जब कि नियोजन का आधार ही सन्तुलित और क्रम बद्ध विकास करना है।

प्रथम योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि की सर्वतोन्मुखी उन्नति का प्रबन्ध किया गया था। उसके अन्तर्गत कृषि उत्पत्ति के अतिरिक्त पशु-सुधार, सहकारी आंदोलन का विकास, गव्यशाला, वन, भूमि संरक्षण तथा पंचायतों के विकास और सुधार की योजनाएँ सम्मिलित थीं। भारत को केवल खाद्यानों और उद्योगों के लिये कच्चे माल के उत्पादन में ही आत्म निर्भर बनाने पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया था, वरन ग्रामीण जनता के रहन सहन के स्तर को उन्नत करने तथा प्रति व्यक्ति वार्षिक उत्पादन में भी वृद्धि करने का विचार किया गया था। प्रथम योजना में कृषि तथा सामुदायिक विकास योजनाओं पर व्यय किये जाने वाले ३५७ करोड़ रुपये में से १९७ करोड़ रुपये कृषि सम्बन्धी कार्य क्रमों पर, ६० करोड़ रुपये राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं पर तथा सामुदायिक योजना चेत्रों पर, २२ करोड़ रुपया पशु पालन पर, १५ करोड़ रुपये

स्थानीय सुधार कार्यों पर, ११ करोड़ ग्राम पंचायतों पर, १० करोड़ वनों पर, ४ करोड़ मछली पकड़ने के कार्यों पर, ७ करोड़ सहकारिता पर और १ करोड़ रुपये अन्य बातों पर व्यय करने के लिये नियत किये गये थे।

प्रथम योजना का सिंचाई सम्बन्धी तथा विद्युत शक्ति के विकास का कार्यक्रम बहुत ही विशद था। यह कार्यक्रम उन योजनाओं पर आधारित था जो योजना के पूर्व से ही प्रचलित थीं। योजना में इन योजनाओं को आगे बढ़ाने का प्रबन्ध किया गया था। परन्तु इनकी संख्या इतनी अधिक थी कि सम्पूर्ण योजनाओं को एक साथ नहीं लिया जा सकता था। इसलिये यह निर्णय किया गया कि कोसी, कोयना, कृष्णा, चम्बल और रिहन्ड योजनाओं को योजना काल के अंतिम भाग में लिया जायगा। ६६१ करोड़ रुपयों के कुल व्यय में से ३८४ करोड़ सिंचाई के लिये, २६० करोड़ विद्युत योजना के लिये और १७ करोड़ बाढ़ नियंत्रण तथा अन्य खोज कार्यों के लिये नियत किये गये। प्रथम योजना का लक्ष्य सींची जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल ५१० लाख एकड़ से, जो कि १९५०-५१ में था, बढ़ा कर ६७० लाख एकड़ १९५५-५६ तक करने का और विद्युत शक्ति का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से बढ़ाकर ३४ लाख किलोवाट कर देने का था। यदि इस विकास योजना को दीर्घ कालीन दृष्टि से देखा जाय तो यह आशा की जा सकती थी कि २० वर्षों के अन्तर्गत ही ४०० लाख से लगाकर ४५० लाख एकड़ तक अतिरिक्त भूमि सिंचाई के अंतर्गत आ जायगी और वर्तमान विद्युत शक्ति की मात्रा जो उत्पादित की जा रही है उसमें ७० लाख किलोवाट की और अधिक वृद्धि हो जायगी। यह कार्यक्रम का बड़ा ही श्रेष्ठ आदर्श है और यदि पूर्ण हो गया तो भारतीय ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था की रूप रेखा बदल जायगी।

प्रथम योजना में कृषि नियोजन की तीन प्रमुख विशेषताएँ थीं—(१) सम्पूर्ण कार्य केवल राज्य सरकारों द्वारा संचालित किया जायगा और उद्योगों के विपरीत निजी व्यवसाय का इसमें कुछ हाथ नहीं रहेगा। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के कार्य में काफी दीर्घ अवधि के पश्चात् लाभ अर्जित किया जा सकता है और रुपयों के रूप में तुरन्त लाभांश प्राप्त नहीं होता। विगत वर्षों में निजी उद्योग इस प्रकार के कार्यों से पृथक रहा है। इसलिये स्वाभाविक ही योजना आयोग ने इस कार्य का संचालन करने के लिये निजी उद्योगों को उपयुक्त साधन नहीं समझा। आयोग को निजी उद्योगों की कार्यक्षमता पर विश्वास नहीं हो सका। योजना के अनुसार राज्य सरकारें सिंचाई तथा विद्युत योजना कार्यों का प्रबन्ध करेंगी और केन्द्रीय सरकार विभिन्न राज्यों के इस कार्य में उचित सम्बन्ध स्थापित करेगी तथा अन्य सामान्य सहायता देगी; (२) दीर्घकालीन योजनाओं पर

विशेष महत्व दिया गया है। इस प्रकार की योजनाओं से होने वाले लाभ का अनुभव १५ से २० वर्ष के पश्चात् किया जा सकेगा जब कि भारत की कृषि का पूर्ण विकास हो चुकेगा। यद्यपि दीर्घकालीन योजनाओं पर महत्व दिया गया है, फिर भी अल्पकाल में खाद्यान्न तथा उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि करने की भी समुचित व्यवस्था की गई है। जैसा कि 'कृषि उत्पादन और नीति' शीर्षक अध्याय में बताया गया है, यह आशा की जाती है कि खाद्यान्न के सम्बन्ध में भारत को योजना की अवधि में ही स्वावलम्बी बनाया जा सकेगा और कपास तथा जूट के सम्बन्ध में भारत की विदेशों पर निर्भरता को कम किया जा सकेगा; (३) इस याजना का उद्देश्य केवल कृषि उत्पादन में वृद्धि ही नहीं बल्कि ग्राम्य-जीवन का बहुमुखी विकास भी करना है।

द्वितीय योजना—प्रथम योजना का अभाव द्वितीय योजना में पूर्ण कर दिया गया और उद्योगों को प्रमुख स्थान दिया गया है, जो कि न्यायपूर्ण और उचित था। इससे भारत के विकास की असंतुलित अवस्था सुधर जायगी और राष्ट्रीय आय में अधिक तीव्र गति से वृद्धि होगी और कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। द्वितीय योजना के अन्तर्गत ४८०० करोड़ रुपयों के विकास कार्य-क्रमों पर नियत व्यय में से १८·५% उद्योगों और खान खोदने पर, २८·६% संचार तथा यातायात पर, ११·८% (५६८ करोड़ रु०) कृषि तथा सामुदायिक विकास पर, और १९% (९१३ करोड़ रुपये) सिंचाई तथा विद्युत शक्ति के उत्पादन पर व्यय किया जायगा। यद्यपि द्वितीय योजना में उद्योगों और यातायात को अधिक महत्ता दी गई है पर कृषि तथा सिंचाई को छोड़ नहीं दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि नियोजन की मुख्य विचारणीय बातें निम्न हैं—

(अ) कृषि सुधार सम्बन्धी कार्य-क्रमों से यह आशा की जाती है कि बढ़ी हुई जनसंख्या के लिये पर्याप्त खाद्य सामग्री तथा विकसित उद्योग व्यवस्था के लिये कच्चा माल दे सकेंगे और इतनी कृषि उत्पत्ति बच रहेगी कि उसका निर्यात भी किया जा सकेगा। इसलिये यह कहा जा सकता है कि द्वितीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा कृषि तथा अन्य उद्योगों के विकास कार्यक्रम में अधिक पारस्परिक निर्भरता का आयोजन किया गया है। इन ध्येयों को प्राप्त करने के कार्य-क्रमों को निर्माण करते समय दीर्घकालीन दृष्टिकोण रखना आवश्यक है ताकि भौतिक साधनों और मानव श्रम का सर्वोत्तम प्रयोग, कृषि का सर्वतोन्मुखी संतुलित विकास, और ग्राम वासियों की आय में तथा रहन-सहन के स्तर में पर्याप्त वृद्धि सम्भव हो सके। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से कृषि विकास सम्बन्धी कार्यक्रम निर्माण करने में यह आवश्यक है कि ग्राम के सन्मुख एक ऐसा आदर्श उपस्थित कर दिया

जाय जिसे प्राप्त करने में वे प्रयत्नशील हो सकें। द्वितीय योजना निर्माण के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि यह आदर्श १० वर्ष के अन्तर्गत ही उत्पादन को जिसमें खाद्यान्न, तिलहन, कपास, गन्ना, पशु पालन से प्राप्त वस्तुएँ इत्यादि सम्मिलित होंगी दुगनी कर देगा।

(ब) कृषि उत्पत्ति को अनेक-रूपता प्रदान करना और खाद्यान्न सम्बन्धी फसलों को अब तक जो प्रधानता दी जाती थी उसे बदलना आदर्श होगा। द्वितीय योजना में ऐसी फसलों की वृद्धि भी है जैसे सुपाड़ी, नारियल, लाख, काली मिर्च, वृक्कफल इत्यादि जिनकी ओर प्रथम योजना में कोई विशेष ध्यान नहीं दिया था।

(स) कृषि के क्षेत्रफल की वृद्धि करने की सम्भावना तो बहुत सीमित है। जो थोड़ी बहुत वृद्धि कृषि के क्षेत्रफल में सम्भव होगी उससे मोटे अन्न के ही उत्पादन में वृद्धि की जा सकेगी। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती चलेगी वैसे-वैसे मोटे अन्न की माँग गेहूँ और चावल की माँग में बदल ही जायगी। ऐसी स्थिति में कृषि उत्पत्ति में वृद्धि का मुख्य स्रोत अधिक कुशल, लाभदायक तथा घनी खेती ही होगा।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत कृषि नियोजन की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं—(१) भूमि के प्रयोग का नियोजन; (२) दीर्घकालीन और अल्पकालीन लक्ष्यों का निश्चित करना; (३) उत्पादन लक्ष्यों तथा भूमि प्रयोग योजनाओं को एक दूसरे से सम्बद्ध कर देना; और (४) उपयुक्त मूल्य नीति का निर्धारण करना।

द्वितीय योजना में ५६८ करोड़ रुपयों के व्यय में से १७० करोड़ रुपये कृषि कार्यक्रमों पर, २०० करोड़ रुपये राष्ट्रीय विस्तार योजनाओं पर, ५६ करोड़ रुपये पशुपालन पर, ४७ करोड़ रुपये वनों और भूमि संरक्षण पर, १५ करोड़ रुपये स्थानीय विकास पर, १२ करोड़ रुपये पंचायतों पर, १२ करोड़ रुपये मछली पकड़ने के व्यवसाय पर, ४७ करोड़ रुपये सहकारिता पर जिसके अन्तर्गत भाण्डागार तथा विक्रय सुविधायें भी सम्मिलित होंगी, और ६ करोड़ रुपये अन्य विविध बातों पर व्यय किये जायेंगे। इस प्रकार प्रथम योजना की तुलना में कृषि पर कुल व्यय कम हो गया है। स्थानीय विकास कार्यों तथा ग्राम पंचायतों पर लगभग समान ही है और राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं तथा सामुदायिक योजनाओं, पशुपालन, वन तथा भूमि संरक्षण और सहकारिता पर पर्याप्त मात्रा में वृद्धि हो गई है।

कठिनाइयाँ—भारत में कृषि नियोजन को सफलता पूर्वक कार्यान्वित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं योजना को सफल बनाने के लिये सर्व प्रथम कृषक का स्वेच्छा से सक्रिय सहयोग आवश्यक है, परन्तु भारतीय कृषक अधिकतर रूढ़िवादी है और प्रत्येक बात पर परम्परागत दृष्टिकोण से ही विचार करता है।

वह इस बात के लिये प्रस्तुत नहीं कि परम्परा की रूढ़ि छोड़कर कुछ नवीन प्रयोग किये जाँय। अतीत में कृषकों की स्थिति में सुधार करने के लिये अनेक प्रयत्न किये गये परन्तु कृषकों की उदासीनता के कारण उनमें से अधिकांश असफल रहे। पंचवर्षीय योजना में कहा गया है कि कृषि के क्षेत्र में विकास कार्यक्रम को सफल बनाने के लिये और निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये यह आवश्यक है कि जनता सहयोग दे। बिना जन-सहयोग के समाज कल्याण की योजना सफल नहीं हो सकती। कृषि विकास कार्यक्रम उसी सीमा तक सफलता पूर्वक कार्यान्वित हो सकता है जहाँ तक जनता उत्साह और स्वेच्छा से उसके लिये कार्य करने को प्रस्तुत हो। कृषकों का सक्रिय सहयोग प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि (१) विभिन्न उपायों से कृषकों को यह विश्वास दिलाया जाय कि योजना उपयुक्त है और इसके कार्यान्वित होने से उनका लाभ होना निश्चित है; (२) योजना लागू करके शीघ्र ही ऐसे परिणाम निकाले जाने चाहियें जिनसे कृषकों में विश्वास उत्पन्न हो और उन्हें प्रेरणा मिले और जिनको वह स्वयं आँखों से देख और परख सकें। यदि योजना का उद्देश्य दीर्घकालीन लक्ष्य की प्राप्ति करना हो तो कृषकों में योजना की निश्चित उपयोगिता के प्रति विश्वास उत्पन्न करना कठिन हो जायगा। मूल्य अधिक होने से, बेरोजगारी में वृद्धि से और व्यापक आर्थिक कठिनाइयों के कारण बड़ी योजनाओं को सफलता पूर्वक लागू करने में सरकार की समर्थता पर कृषकों में विश्वास घटता जा रहा है; और (३) जनता में योजना लागू करने के लिये उत्तरदायी पूर्ण अधिकारियों की ईमनादारी और क्षमता पर विश्वास उत्पन्न किया जाये। यदि जनता प्रशासन के हर स्तर पर भ्रष्टाचार देखे, उसे सब स्थानों पर कार्य में अनावश्यक देरी तथा अकुशलता का सामना करना पड़े और यदि उसे यह मालूम हो कि समाज का शोषण कर समाज की हानि से लाभ उठाने वाले हानिकारक तत्वों के विरुद्ध उपयुक्त कार्यवाही नहीं की जा रही है तो जनता को उत्साहित कर उसका सक्रिय सहयोग प्राप्त कर सकना अत्यन्त कठिन हो जायगा।

कृषि नियोजन की सफलता अन्य योजनाओं की तरह सम्बन्धित अधिकारियों की कार्यक्षमता और ईमानदारी पर निर्भर करती है। योजना आयोग ने बताया है कि कार्यक्रम की सफलता की गति प्रशासन संगठन, उसकी कार्य-कुशलता और उसके द्वारा प्रेरित जनता के सहयोग पर निर्भर करती है। प्रशासन को आज गत वर्षों की अपेक्षा अधिक बड़ी और जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। यह समस्याएँ बड़ी और जटिल अवश्य हैं, परन्तु आज इनके महत्व में अतीत की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि हो गई। योजना के कार्य का

सफलतापूर्वक संचालन करने के लिये शिक्षित, कुशल और ईमानदार अधिकारियों का अभाव है। कार्य बहुत विशद है, परन्तु विभिन्न योजनाओं का कार्य सँभालने के लिये शिक्षित कर्मचारी पर्याप्त संख्या में नहीं हैं। केन्द्रीय तथा राज्य-सरकारों के अनेक जिला, राजस्व तथा अन्य अधिकारी हैं, जिनमें से कुछ बहुत कुशल और परिश्रमी हैं, परन्तु खेद है कि इन अधिकारी में से अनेक प्राचीन प्रथा के अनुकूल चलते हैं और कृषकों से अपने को काफी दूर रखते हैं। इन अधिकारियों की दृष्टि में रचनात्मक कार्य की अपेक्षा कानून तथा व्यवस्था बनाये रखने का अधिक महत्व है, इससे यह अधिकारी योजना को कार्यान्वित करने के लिये उपयुक्त सिद्ध नहीं हो सकते। *'अधिक-अन्न उपजाओ' तथा अन्य आन्दोलनों* के सम्बन्ध में अनेक ऐसी घटनायें प्रकाश में आई हैं जिनसे पता चलता है कि अधिकारियों ने बीज, खाद तथा रुपया कृषकों तक पहुँचाने की अपेक्षा केवल काग़ज़ों में खाना पूर्ति की और रुपयों को स्वयं हड़प लिया। इससे योजना को सफल बनाने में सफलता नहीं मिल सकती और जनता का उस पर से विश्वास उठ जाता है। पंचवर्षीय योजना में इस बात पर महत्व दिया गया है कि सर्वप्रथम प्रशासन में निष्ठा, कुशलता, बचत और सार्वजनिक सहयोग प्राप्त करने की आवश्यकता है। योजना में इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं। इनकी पूर्ति में अवश्य काफी समय लगेगा। योजना के अन्तर्गत विभिन्न कार्यों के लिये उपयुक्त व्यक्तियों को छाँटने और उनको उचित ट्रेनिंग देने के साथ ही पंचवर्षीय योजना में सम्बन्धित अधिकारियों की कार्यक्षमता, निष्ठा और ईमानदारी में सुधार करने के लिये अनेक सुझाव दिये गये हैं इनमें से कुछ सुझाव इस प्रकार हैं—(१) प्रशासन सम्बन्धी, राजनीतिक तथा अन्य पदों पर कार्य करने वाले अधिकारियों पर भ्रष्टाचार के आरोपों की जाँच करने के लिये उपयुक्त व्यवस्था की जाय। यदि अपराध स्पष्ट हो तो तथ्यों का पता लगाने और अपराध सिद्ध करने के लिये तुरन्त जाँच की जाय। (२) वर्तमान कानून में ऐसे मामलों के लिये व्यवस्था की गई है जिनमें सरकारी कर्मचारी आय के गैर कानूनी साधनों का उपभोग करता है और उन साधनों के सम्बन्ध में सन्तोषजनक स्पष्टीकरण नहीं दे पाता। परन्तु वर्तमान कानून के अनुसार ऐसे मामलों की जाँच करने की व्यवस्था नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि अमुक सरकारी कर्मचारी के रिश्तेदार एकाएक धनवान कैसे हो गये। इसलिये कानून के इस अभाव को पूरा करने के लिये अध्ययन किया जाय और उपयुक्त कानून बनाया जाय। (३) ऐसे अधिकारी को जिसकी ईमानदारी पर सन्देह किया जाता है बड़े उत्तरदायित्व के पद पर नहीं नियुक्त करना चाहिये।

भारतीय ग्राम्य जीवन की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे कृषि नियोजन के कार्य में बाधा पहुँचती है। ग्रामों में अच्छी सड़कों, सिंचाई तथा अन्य सुविधाओं का अभाव है। कृषकों के इन अभावों की शीघ्र पूर्ति करने की आवश्यकता है, परन्तु यदि इन कार्यों पर अधिक ध्यान दिया जाय तो बहुमुखी व्यापक कार्यक्रम को लागू करने में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जायँगी। यदि दीर्घकालीन योजनाओं पर अधिक ध्यान दिया गया तो स्थिति में सुधार करने की शीघ्र फलदायक योजनाएँ लागू करने की सम्भावना कम हो जायगी। यह सम्भव है कि दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों प्रकार की योजनाओं पर ध्यान दिया जाय परन्तु इससे प्रगति की गति मन्द हो जाती है और कार्य तेजी से आगे नहीं बढ़ पाता है। जमींदारी, जागीरदारी तथा इसी प्रकार की अन्य प्रथाओं के उन्मूलन से अनेक नई कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। ग्रामों से महाजनों और साहूकारों के धीरे धीरे समाप्त हो जाने से नई कठिनाइयों में वृद्धि हुई है। इससे एक खाई उत्पन्न हो गई है जिसको अभी तक नई व्यवस्था से पाटा नहीं जा सका है। भारतीय कृषक एक दुष्चक्र में फंसा हुआ है। वह निर्धन है क्योंकि अच्छे प्रकार का बीज, अच्छे पशु-और खाद इत्यादि खरीदने के लिये उसके पास द्रव्य नहीं है, और जब तक वह धनी नहीं बन जाता तब तक वह इन वस्तुओं का क्रय कर सकने के साधन नहीं जुटा सकता है। दूसरे रूप में यह कहा जा सकता है कि कृपकों की ऋण लेने की क्षमता नहीं है। वह जमानत न रख सकने के कारण सहकारी बैंकों तथा ऋण नहीं देने वाली अन्य संस्थाओं से ऋण नहीं ले सकता है। और जब तक कृषकों की आर्थिक व्यवस्था अच्छी नहीं हो जाती वह इन साधनों को नहीं जुटा सकता है। यही कारण है कि शताब्दियों से भारतीय कृषक निर्धनता और दुखों में फंसा हुआ है। कृषि नियोजन को सफल बनाने के लिये कृषकों की इन कठिनाइयों को दूर करना अत्यन्त आवश्यक है।

अध्याय १६

बड़े पैमाने के उद्योग

भारत में अनेक बड़े उद्योग हैं परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में अभी ब्रिटेन में १८वीं शताब्दी में हुई औद्योगिक क्रान्ति के समान औद्योगिक क्रान्ति यहाँ नहीं हुई है। भारत में प्रति व्यक्ति औद्योगिक उत्पादन की मात्रा बहुत कम है और इन उद्योगों में देश की जन संख्या का बहुत कम भाग लगा हुआ है। भारत के कारखानों में प्रदिदिन कार्य करने वाले श्रमिकों की औसत संख्या १६३६ में १६ लाख थी जो बढ़कर अब २५ लाख हो गई है। देश की ३८ करोड़ जनसंख्या को देखते हुये यह बहुत कम है। देश में नवीन उद्योगों का विकास करने के लिये काफी बड़ा क्षेत्र खुला पड़ा है और वर्तमान उद्योगों के उत्पादन में भी अधिक वृद्धि की जा सकती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के पूर्व भारतीय उद्योग की दो प्रमुख विशेषताएँ थीं— (अ) कुछ उद्योगों में जैसे सूती कपड़ा और चीनी उद्योग में बहुत अधिक श्रमिक कार्य करते थे और ये उद्योग आवश्यकता से अधिक उत्पादन करते थे; (ब) इसके साथ ही बड़े रसायनिक, इंजीनियरिंग और इसी श्रेणी के अन्य उद्योग थे ही नहीं। युद्धोत्तर काल में कुछ सीमा तक इन दोषों को दूर कर दिया गया है। यद्यपि कुछ महत्वपूर्ण वस्तुओं के लिए भारत को आयात पर निर्भर करना पड़ता है फिर भी देश में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन प्रारम्भ हो गया है। इन वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि हो रही है और ऐसी सम्भावना है कि भविष्य में अपनी आवश्यकता की पूर्ति करने के लिये इनका पर्याप्त मात्रा में उत्पादन किया जा सकेगा। आशा की जाती है कि भारतीय औद्योगिक विकास में जो अभाव शेष हैं उनको पंचवर्षीय योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करके पूर्ण कर दिया जायेगा।

सूती कपड़ा उद्योग

भारतीय सूती कपड़ा उद्योग की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसका युद्ध के पश्चात् विशेष रूप से विकास हुआ है। विश्वयुद्ध के पश्चात् कपड़ों की मिलों की संख्या में काफी वृद्धि हुई है। देश का विभाजन हो जाने से मिलों की संख्या १६४७ में ४२३ से गिरकर १६४८ में ४०८ रह गई थी परन्तु नवीन मिलों की स्थापना से और प्रचीन मिलों में मशीन इत्यादि बढ़ा देने से भारतीय

सूती मिलों की उत्पादन शक्ति में काफी वृद्धि हो गई है। १६५१ में भारत में ४४५ मिलें थी जिनमें १ करोड़ १२ लाख ४० हजार तकुए (Spindles) और २,०१,८८४ कर्घे थे पर १६५७ के अन्तर्गत में ४६६ मिलें हो गई जिनमें १२६ लाख तकुए और २०६,१२६ कर्घे हो गये। कई नई मिलें स्थापित की जा रही हैं और आशा की जाती है कि इन मिलों द्वारा उत्पादन आरम्भ होने पर भारतीय सूती मिलों की वास्तविक उत्पादन शक्ति में मुख्यतः कताई मिलों (spinnig mills) में, और वृद्धि हो जायगी।

कुछ मिलों में केवल सूत काता जाता है और अन्य में सूत की कताई और बुनाई दोनों होती है। युद्ध के पश्चात् काल की योजना समिति ने अनुमान लगाया कि आर्थिक दृष्टि से कताई-बुनाई दोनों कार्य करने वाली अनुकूलतम आकार की सूती मिल में २५ हजार तकुए और ६०० करघे होने चाहिये। परन्तु दुर्भाग्यवश अधिकांश मिलें जिनमें कताई बुनाई दोनों कार्य होते हैं और जिनमें केवल कताई होती है आर्थिक दृष्टि से अनुकूलतम आकार की मिलें नहीं कही जा सकतीं। सूती कपड़ा उद्योग की वर्किङ्ग पार्टी के अनुमान के अनुसार लगभग १५० मिलों में अनार्थिक हैं। इसके साथ ही अधिकांश मिलों में पुरानी और घिसी पिटी मशीनें हैं। बम्बई मिल-मालिक संघ के अनुमान के अनुसार बम्बई की मिलों में ६०% मशीनें २५ वर्ष से भी अधिक पुरानी हैं। सूती कपड़ा उद्योग के सम्मुख सब से बड़ी समस्या यह है कि वर्तमान मिलों को आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त स्तर पर लाया जाय, पुरानी मशीनों के स्थान पर नई आधुनिक मशीनें लगाई जायं और उन्हें आवश्यक औद्योगिक प्रसाधनों से सुसज्जित किया जाय। दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि देश के अन्य भागों जैसे मद्रास, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत में इस उद्योग का विकास हुआ परन्तु फिर भी यह उद्योग बम्बई में ही अधिक केन्द्रित है। कुल उद्योग में जितने तकुए और करघे उपयोग में लाये जाते हैं उनके ६० प्रतिशत केवल बम्बई में हैं। इसलिए भविष्य में विकास करते समय उद्योगों के स्थान-निर्धारण की समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। स्थानी करण की स्थिति में सुधार आवश्यक है।

उत्पादन की प्रवृत्तियाँ—१६४४ में सूती कपड़े और १६४६ में सूत का उत्पादन अधिकतम, अर्थात् क्रमशः ४८५२० लाख गज और १६८५० लाख पौण्ड था। यह उत्पादन १६५० में गिरकर ३६६५० लाख गज और ११७५० लाख पौण्ड हो गया। १६४६ और १६५० में उत्पादन के गिरने के मुख्य तीन कारण थे—(१) १६४७ में देश का विभाजन हो जाने से कच्चे माल की कमी हो गई और पाकिस्तान तथा अन्य देशों से रूई का आयात करने में अनेक कठिनाइयाँ

उत्पन्न हो गई, (२) उद्योगों में श्रमिकों के झगड़े में वृद्धि हुई; और (३) विद्युत शक्ति पर्याप्त न होने के कारण बम्बई मिलों को दी जाने वाली विद्युत कम कर दी गई। धीरे-धीरे इन कठिनाइयों को दूर करके उत्पादन में वृद्धि होने लगी। सूती कपड़ा उद्योग में श्रमिक तथा मालिकों के सम्बन्धों में सुधार हुआ, उत्पादन शक्ति में वृद्धि की गई और देश में कपास की उत्पत्ति में वृद्धि से कच्चे माल की पूर्ति में वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप १६५१ में सूती कपड़े और सूत का उत्पादन क्रमशः ४०७६० लाख गज और १३०४० लाख पौण्ड और १६५२ में ४५६८० लाख गज और १४५०० लाख पौण्ड हो गया। मिलों द्वारा कपास के क्रय पर से नियंत्रण के हटजाने के कारण, रुई और कपड़ों के यातायात के लिये मालगाड़ियों के मिलने तथा माँग की वृद्धि से उत्पादन में और अधिक वृद्धि हुई है। इसके परिणाम स्वरूप सूती कपड़ों और सूत का उत्पादन बढ़कर १६५७ में क्रमशः ५३१५० लाख गज और १७७६० लाख पौण्ड हो गया।

भारत की सूती मिलों में पहले मोटे कपड़े का ही अधिकतर उत्पादन किया जाता था परन्तु प्रशुल्क मण्डल (टैरिफबोर्ड) की सिफारिशों के अनुसार उत्तम प्रकार के कपड़े का उत्पादन घटाने के लिए १६२५ से १६४० तक काफी रुपया लगाकर अनेक टेकनिकल सुधार किये गये परन्तु उद्योग का पुनर्संङ्गठन कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के लिए सैनिक मांगों तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उद्योग को फिर मोटे तथा माध्यम वर्ग के कपड़े का उत्पादन करना पड़ा। इसमें कुछ और रुपया लगाना पड़ा जिससे उद्योग पर काफी भार पड़ा। परन्तु इधर कुछ वर्षों से मोटे और अत्युत्तम प्रकार के कपड़े के स्थान पर मध्यम और उत्तम प्रकार के कपड़ों के उत्पादन में वृद्धि की गई। यह एक वान्छनीय प्रवृत्ति है और हम यह आशा कर सकते हैं कि भविष्य में देश की मांग पूरी करने तथा निर्यात के लिए इस उद्योग को महीन और मध्यम श्रेणी के कपड़ों की उत्पत्ति बढ़ानी पड़ेगी।

कच्चा माल—अपनी पूर्ण वास्तविक उत्पादन शक्ति के बराबर उत्पादन करने के लिये भारतीय सूती का कपड़ा उद्योग को लगभग ५२.५ लाख गांठ कपास की आवश्यकता होती है। विभाजन होने से देश में कपास का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होता था। भारतीय मिलों को आवश्यकता पूरी करने के साथ ही विदेशों को भी कपास निर्यात किया जाता था जिससे उद्योग को कच्चे माल के अभाव की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता था। देश विभाजन के पश्चात् स्थिति में परिवर्तन हो गया। देश में कपास का उत्पादन गिर गया। १६४७-४८ में २२ लाख और १६४८-४६ में १८ लाख गांठों का उत्पादन किया जा सका। इससे

११

उद्योग के सम्मुख कच्चे माल के अभाव का गंभीर संकट उत्पन्न हो गया। सामान्य स्थिति में कपास का आयात करके इस संकट को दूर किया जा सकता था परन्तु पाकिस्तान ने भारत को आवश्यकता के अनुसार कपास नहीं दिया। पाकिस्तान के अतिरिक्त अन्य देशों की कपास का भाव बहुत अधिक था और भारतीय सूती कपड़ा उद्योग के अनुकूल नहीं था। परन्तु १९५७-५८ में कपास का उत्पादन ५० लाख गांठें से कुछ ही कम था और इस प्रकार अंशतः कच्चे माल की कमी पूरी हो गई। द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना के अंतर्गत कपास के उत्पादन में और भी वृद्धि होने की सम्भावना है। इससे सूती कपड़ा उद्योग के कच्चे माल की कठिनाई को बहुत कुछ दूर किया जा सकेगा।

निर्यात—१९४८-४९ के विपरीत १९५०-५१ में सूती कपड़े और सूत के निर्यात में अपेक्षाकृत वृद्धि हुई है। १९४८-४९ में ३४१० लाख गज कपड़ा और ७४ लाख पौण्ड सूत देश से बाहर भेजा गया। १९५०-५१ में १२६९५ लाख गज कपड़ा और ७४५ लाख पौण्ड सूत विदेश भेजा गया इस वृद्धि का कारण यह है कि भारतीय माल का मूल्य अपेक्षाकृत कम रहा और साथ ही विदेशी बाजार पर अधिकार जमाने के लिये भारतीय मिल मालिकों ने जोरदार प्रयत्न किये।

परन्तु बाद में स्थिति फिर बदली और निर्यात को इसी स्तर पर स्थिर नहीं रखा जा सका। १९५२-५२ में निर्यात की मात्रा घटकर ४२३७·५ लाख गज कपड़े और ६२·५ लाख पौण्ड सूत तक पहुँच गई। इस कमी के कारण निम्नलिखित हैं—(१) सूती कपड़े और सूत के उत्पादन में कमी आजाने से अधिक माल का निर्यात नहीं किया जा सका और सरकार ने कपड़े के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। (२) निर्यात कर लगाने से भारतीय सूती माल का मूल्य बढ़ गया। भारतीय सूती उद्योग ने बराबर यह मांग की है कि निर्यात की मात्रा बढ़ाने के लिये सरकार निर्यात कर को समाप्त कर दे। (३) भारतीय माल को विदेशों जापान, ब्रिटेन और अन्य देशों की बढ़ती प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। भारतीय सूती मिलें सरकार की अनिश्चित नीति के कारण अपने निर्यात की मात्रा पूर्ण नहीं कर सकीं और भारतीय माल की प्रकार, पैकिंग इत्यादि निर्यात की शर्तों के अनुकूल नहीं हो सके। इसके परिणाम स्वरूप विदेशी बाजार में भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति गिरती चली गई। निर्यात के बढ़ाने के सम्बन्ध में अनेकों उपायों का अनुसरण किया गया जैसे निर्यात कर की दरों में कमी करना, निर्यात किये जाने वाले कपड़ों के बनाने में काम आने वाली विदेशी रुई पर लगाये गये आयात कर में छूट देना, १ मार्च १९५४ से आयात-कर को ही बंद कर देना और निर्यात पर नियंत्रण कम करना इत्यादि। इनके

परिणाम स्वरूप सूती कपड़ों का निर्यात बढ़ गया है। १९५६ व १९५७ में भारत ने क्रमशः ६८४० लाख गज तथा ८५४० लाख गज कपड़े का निर्यात किया। किन्तु विश्वबाजार में प्रति स्पर्धा बढ़ने तथा आयात करने वाले देशों में लगे प्रतिबन्धों के कारण १९५८ में निर्यात घटकर ६५०० लाख गज रह जाने की संभावना है। मुख्य प्रकार के कपड़े जो भारत से निर्यात किये जाते हैं वे चादरें, कमीज और कोट के कपड़े, वायल तनजेब और छींट आदि हैं।

कर—केन्द्रीय सरकार सूती कपड़े पर उत्पादन कर और निर्यात कर लगाती है। सितम्बर १९५६ में उत्पानकर में बहुत वृद्धिकर दी गई। इससे उत्पादन-लागत बढ़ गई। इसके अतिरिक्त राज्य सरकारें सूती कपड़े और सूत पर बिक्री कर लगाती हैं। इससे उत्पादन लागत में अधिक वृद्धि हो गई है।

१९५२ में केन्द्रीय सरकार ने हथकर्घा उद्योग अथवा बुनकरों की सहायता के लिये ६ करोड़ रुपये का कोष एकत्र करने के लिये मिल के बने सभी कपड़ों पर ३ पाई प्रति गज की दर से एक उप-कर लगा दिया। यह वास्तव में अपनी प्रकार का बिल्कुल नवीन उपाय था। इसके अनुसार यह पहले ही स्वीकार कर लिया गया है कि उद्योग को बहुत अधिक लाभ हो रहा है और वह इस नवीन कर का भार वहन कर सकने में समर्थ है। इन सभी प्रकार के करों से सूती मिल उद्योग को अपना उत्पादन व्यय कम करने में अत्यन्त कठिनाई का सामना करना पड़ रहा है। इस-स्थिति में सुधार करने के लिये यह आवश्यक है कि कर कम किये जायँ और मशीनों की टूट फूट के लिए जिस दर से धनराशि दी जाती है उसके प्रति उदार नीति अपनाई जाय जिससे सूती मिल उद्योग पुरानी और टूटी मशीनों के स्थान पर नवीन मशीनें लगा सकें और कारखानों में आधुनिक टेकनिकल सुविधाएँ प्रदान कर सकें। मशीनों की टूट फूट के लिये जो धनराशि निश्चित की गई है वह अपर्याप्त है। नवीन मशीनों को लगाने के लिये इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि सरकार कम व्याज पर उद्योग को ऋण दे और मशीनों की टूट फूट के लिये निश्चित धन के प्रति उदार नीति अपनाये। भारतीय सूती कपड़ा उद्योग में युक्तीकरण की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु यह निम्न तीन बातों पर निर्भर हैं; (१) आवश्यक धन की प्राप्ति, (२) आवश्यक मशीनों की प्राप्ति और (३) इस समस्या के प्रति श्रमिकों का विचार। फिर भी सरकारी कर नीति इस सम्बन्ध में सबसे अधिक विचारणीय है क्योंकि वही युक्तिकरण के लिये आवश्यक धन प्राप्त करने का श्रोत है।

एकत्रित सामग्री का संकट—१९५७ के प्रारम्भ से सूती वस्त्र उद्योग गम्भीर संकट का सामना कर रहा है। लगभग २६ मिलें, जिनमें से १६ उत्तर प्रदेश में हैं,

बन्द होगई है तथा ३७ मिले केवल अंशतः कार्य कर रही हैं। अप्रैल १६५८ के अन्त में मिलों के पास बिना बिके कपड़े की एकत्रित सामग्री ५०५३०० गाँठे तथा मार्च १६५८ के अन्त में बिना बिके सूत की एकत्रित सामग्री १११,८०० गाँठे थीं। अनेक मिलों को हानि उठानी पड़ी है तथा, मिलों के अनेक मजदूर बेकार हो गये हैं। इस संकट के मुख्य कारण निम्न हैं: (१) खाद्यान्न तथा जीवन की अन्य आवश्यकताओं के मूल्य अत्यधिक ऊँचे होने के कारण लोगों की क्रय शक्ति घट गयी जिसके फल स्वरूप बिक्री कम होगई। साथ ही १६५८ में निर्यात में भी कमी आगई। (२) कपड़े पर लगे उत्पादकर की ऊँची दर के फलस्वरूप उत्पादन-लागत बराबर ऊँची बनी हुई हैं। (३) उद्योग का मजदूरी-बिल बहुत अधिक है। लागत के घटने का कोई सहज उपाय भी नहीं दिखाई देता क्योंकि मशीनें घिसी पिटी तथा पुरानी हैं तथा उत्पादन के युक्तीकरण में देर होती रहती है। उद्योग के बरबादी से बचाने के लिये यह आवश्यक है कि उत्पादन कर १६५५-५६ के स्तर पर कर दिया जाय तथा उत्पादन का युक्तीकरण किया जाय।

उद्योग के सम्मुख दो कठिनाइयाँ हैं। एक ओर उत्पादन पर नियंत्रण लगा दिया गया है तथा दूसरी ओर हथकर्घा उत्पादकों के हित में मिल उद्योग पर १ ली दिसम्बर १६५२ से प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिनके अनुसार धोतियों के उत्पादन के १६५१-५२ के मासिक औसत के ६०% पर मिलों का धोतियों का उत्पादन निश्चित किया गया है तथा साड़ियों का रंगना निषिद्ध घोषित कर दिया गया है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत सूती कपड़ा उद्योग की उत्पादन शक्ति को १६५५-५६ तक ४७७८० लाख गज कपड़े और १७२२० लाख पौंड सूत तक बढ़ाने का अनुमान था और वास्तविक उत्पादन ४७००० लाख गज कपड़े और १६४०० लाख पौंड सूत का करने का था। इसका लक्ष्य प्रति व्यक्ति को १५ गज कपड़ा प्राप्त हो सकने का था। प्रथम योजना के अन्त तक वास्तविक उत्पादन और उत्पादन शक्ति दोनों ही लक्ष्य से आगे बढ़ गये।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत यह प्रस्ताव किया है कि कुल कपड़े के उत्पादन की मात्रा (मिल और हथकर्घे और शक्ति संचालित कर्घे से बने कपड़े मिलाकर) को ६८५ करोड़ गज से, जितना कि १६५५-५६ में था, १६६०-६१ तक ८५० करोड़ गज कर दिया जाय और सूत का उत्पादन १६३ करोड़ पौंड से १६५ करोड़ पौंड कर दिया जाय। इसका उद्देश्य प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग १८ गज़ तक बढ़ा देने का है और लगभग १ अरब गज़ कपड़े का निर्यात

करना है। द्वितीय योजना में कपड़ा उद्योग के सम्बन्ध में दो मुख्य दोष हैं—(१) भविष्य की कपड़े की माँग का कम अनुमान करना, क्योंकि बम्बई के मिल मालिकों की एसोसियेशन के मतानुसार यह माँग ८५० करोड़ गज नहीं वरन् १००० करोड़ गज होगी; और (२) मिलों के विस्तार पर इस विश्वास से प्रतिबन्ध लगाना कि इससे हथकर्घों के प्रयोग को सहायता मिलेगी। हथकर्घा उद्योग को सहायता मिलों की उत्पत्ति को कार्वे कमेटी के अनुसार ५०० करोड़ गज तक अथवा किसी अन्य मात्रा तक सीमित कर देने में नहीं मिलेगी वरन् हथकर्घे से बने कपड़े अधिक अच्छे बनाने और उसके मूल्य के घटाने से मिलेगी।

जूट उद्योग

भारत में जूट की ११२ मिलें हैं जिनमें लगभग ७२,३६५ कर्घे चलते हैं। इनमें से ४५% कर्घे जूट के टाट और ५५% बोरे इत्यादि बनाने के लिये हैं। अनुमान लगाया गया है कि यदि उद्योग में केवल एक शिफ्ट से कार्य चलाया जाय और प्रति सप्ताह ४८ घंटे उत्पादन किया जाय तो प्रतिवर्ष १२ लाख टन उत्पादन किया जा सकता है। जूट उद्योग अधिकतर पश्चिमी बंगाल में केन्द्रित है। भारत की कुल रजिस्टर्ड ११२ जूट मिलों में से १०१ मिलें पश्चिमी बंगाल ही में स्थित है। शेष मिलों में से ४ आन्ध्र में, ३ बिहार में ३ उत्तर प्रदेश में और १ मध्य प्रदेश में हैं।

भारतीय जूट उद्योग अन्य सब उद्योगों से अधिक सुसंगठित है परन्तु दुर्भाग्यवश इसकी मशीन इत्यादि आधुनिक नहीं है और साथ ही यह मशीनें बनाये हुये माल की वर्तमान माँग के दृष्टिकोण से अधिक भी हैं। भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसकी पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनें लगाई जाँय और इस प्रकार उत्पादन व्यय घटाया जाय। परन्तु मुख्य कठिनाई यह है कि उद्योग का युक्तीकरण करने में ४० से ४५ करोड़ रुपये तक की पूँजी लगानी पड़ेगी और वर्तमान में उद्योग इतनी पूँजी लगा सकने की क्षमता नहीं रखता। "अभिनवीकरण (modernisation) के लिये राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम द्वारा ऋण दिये जा रहे हैं। मार्च १९५८ के अन्त तक ६ मिल कम्पनियों के लिये ऋण स्वीकृत हो चुके हैं जिनमें से ७ को १.१६ करोड़ रु० दिया भी जा चुका है। वर्तमान स्थित यह है कि ८२ जूट मिल कम्पनियों में से ४४ ने ३० सितम्बर १९५७ तक कताई सम्बन्धी आधुनिक मशीनों को स्थापित कर लिया था। कुछ ने पूर्णतः तथा कुछ ने अंशतः अभिनवीकरण कर लिया था। पुराने तकुओं में से ४% के स्थान पर नये तकुये लगाये जा चुके तथा लगाये जा रहे हैं।

उत्पादन की प्रवृत्ति—जूट उद्योग में उत्पादन १६४५-४६ में उच्चस्तर तक पहुँच चुका था जबकि ११·४ लाख टन माल का उत्पादन किया गया। इसके पश्चात् १६४६ तक उत्पादन दस लाख टन प्रतिवर्ष के लगभग रहा। परन्तु १६४६-५० में उत्पादन ८·६ लाख टन तक गिर गया। इसके पश्चात् उत्पादन में कुछ सुधार अवश्य हुआ परन्तु फिर भी उत्पादन पूर्व स्तर तक नहीं पहुंच पाया। १६५४-५५ में उत्पादन बढ़ कर १०, ४३,४०० टन हो गया था। उत्पादन में कमी का मुख्य कारण कच्चे माल की कमी थी क्योंकि देश का विभाजन हो जाने के पश्चात् जूट का उत्पादन करने वाले अधिकांश क्षेत्र पाकिस्तान में चले गये। इस अभाव को पूरा करने के लिये देश में ही जूट उत्पादन की वृद्धि पर जोर दिया गया। तब से देश में जूट के उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके परिणाम स्वरूप जूट के माल के उत्पादन में भी वृद्धि हुई है। जूट उद्योग में प्रति सप्ताह केवल १२½ घन्टे उत्पादन कार्य हो रहा था और उद्योग के कुल कर्घे के १२½ प्रतिशत बन्द पड़े हुये थे। परन्तु अक्टूबर १६५४ से ४८ घन्टे प्रति सप्ताह कार्य आरम्भ हो गया और १६५६ के मार्च तक बन्द कर्घों में से ७½ प्रतिशत चालू हो गये थे। १६५६-५७ में उत्पादन १,०२५,२०० टन था तथा आशा की जाती है कि १६५७-५८ में भी लगभग इतना ही होगा।

कच्चा माल—उद्योग की इस समय सबसे बड़ी कठिनाई कच्चे माल की कमी है। यदि सब मिलें शक्ति भर कार्य करें तो भारतीय जूट उद्योग के लिये प्रतिवर्ष पटसन की ७५ लाख गाँठों की आवश्यकता है। परन्तु भारत में १६४७-४८ में १५ लाख गाँठों से कुछ अधिक, १६४८-४६ में २० लाख गाँठ, १६४६-५० में ३० लाख गाँठ और १६५०-५१ में ३३ लाख गाँठ से कुछ अधिक का उत्पादन किया गया। भारत सरकार ने पाकिस्तान सरकार से समझौता कर पटसन के आयात की व्यवस्था की, परन्तु आयात का यह कार्यक्रम कार्यान्वित नहीं किया जा सका। पाकिस्तान से बहुत थोड़ी मात्रा में जूट का आयात किया गया। फलस्वरूप भारतीय जूट उद्योग के कच्चे माल की आवश्यकता पूर्ण नहीं की जा सकी। इधर हाल के वर्षों में भारत में कच्चे जूट का उत्पादन बढ़ गया है। १६५६-५७ में इसका उत्पादन ४२·५ लाख गाँठे थी। १६५७-५८ में इससे घट-कर ४० लाख गाँठे (४०० पौ० की एक गाँठ) रह जाने की आवश्यकता है। कच्चे जूट के विषय में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिये किये जाने वाले गहन प्रयत्नों के संदर्भ में १६५७-५८ में उत्पादन की यह कमी शोचनीय विषय है। द्वितीय योजना के अन्त तक भारत को पाकिस्तान से जूट मंगाना ही पड़ेगा। किन्तु उन पर हमारी निर्भरता बहुत कुछ कम हो जायगी और यह सम्भव हो

सकेगा कि भारत में जूट उद्योग पाकिस्तान से जूट बिना पाये भी संतोषप्रद ढंग में चले।

निर्यात—भारतीय जूट उद्योग अधिकतर अपने माल के निर्यात पर निर्भर करता है। १९४८-४९ में भारत में ११ लाख टन उत्पादित माल में से ९३०,००० टन माल का विदेशों को निर्यात कर दिया गया। यद्यपि निर्यात की मात्रा पूर्व की अपेक्षा घटकर १९५६-५७ में ८५९००० टन हो गई है फिर भी यह कुल उत्पादन का बहुत बड़ा भाग है

भारतीय जूट के टाट के दो बड़े बाजार यूनाइटेड स्टेटस तथा यू० के० हैं। १९५६-५७ में इन देशों को गये निर्यात में क्रमशः ५% और ५०% की कमी हुई। यद्यपि यूनाइटेड स्टेट्स को किये जाने वाले निर्यात की कमी से ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तरी अमेरिका में व्यापारियों ने टाट सामग्री कुछ कम कर दी थी; किन्तु यह पूर्ण सत्य नहीं है। अधिक महत्व की बात तो यह है कि १९५६-५७ में टाट के उपभोग में (यू० एस० में) १२% की कमी हुई। उपभोग की यह कमी थैले बनाने के लिये टाट का प्रयोग कम करने के कारण हुई। सन्तोष का विषय है कि औद्योगिक तथा अन्य उद्देश्यों के लिये जूट का प्रयोग बढ़ता रहा। यू० के० में जूट के उपभोग में हुई भारी कमी वहाँ पर लागू जूट-नियन्त्रण के कारण हुई।

जूट से बनने वाले थैलों से यह लाभ होता है कि यह अपेक्षाकृत सस्ते होते हैं और इनका अनेक बार उपयोग किया जा सकता है जब कि पैकिंग के लिये कागज के थैलों तथा अन्य इसी प्रकार की वस्तुओं का केवल एक ही बार प्रयोग किया जा सकता है। परन्तु जूट के थैलों के स्थान पर कागज़ तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं के प्रयोग से जूट के माल की माँग काफ़ी गिर गई है और यह जूट उद्योग के लिये चिन्ता का कारण बन चुकी है। फिर भी यदि उचित प्रयत्न किये जाँय तो अन्य वस्तुओं की अपेक्षा जूट का माल अपने लिये आवश्यक स्थान बना सकता है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय जूट उद्योग का उत्पादन व्यय घटाया जाय, उत्पादन बढ़ाया जाय और उत्पादित माल की प्रकार में सुधार किया जाय।

भारत सरकार ने जूट के माल पर बहुत अधिक निर्यात कर लगाया जिस से कि माल के भारतीय तथा विदेशी मूल्य का अन्तर सरकारी खजाने में जमा हो जाय। यदि यह कर न लगाये गये होते तो उद्योग अपने आधुनिकीकरण तथा पुरानी घिसी पिटी मशीनों के बदले नई मशीनें लगाने के लिये पर्याप्त सुरक्षित कोष का संग्रह कर सकता था। निर्यातकर से बहुत हानि उठानी पड़ रही थी। कोरिया युद्ध के कारण हुई मंहगी के काल में जूट के बने कपड़ों पर तो यह कर

१५०० रु० प्रति टन और बोरों पर ३५० रु० प्रति टन तक बढ़ गया था। अगस्त १६५५ में पाकिस्तानी रुपये की विनिमय दर घटने पर यह कर हटा लिया गया। हटाते समय टाट पर यह कर १२० रु० प्रति टन और बोरों पर ८० रु० प्रति टन था। निर्यात कर के हटा देने का परिणाम यह हुआ कि मूल्यों में कमी हो गई और निर्यात बढ़ गया तथा घरेलू माँग भी बढ़ गई।

जूट जाँच आयोग—जूट जाँच आयोग ने जिसके अध्यक्ष के० आर० पी० आयंगर थे अपनी १६५४ में प्रकाशित रिपोर्ट में यह पाया कि ७५% मिलें लगभग १२ मैनेजिंग एजेन्सियों के हाथ में थी, जिनमें से चार के अन्तरर्गत ४५% कर्घे थे। मैनेजिंग एजेन्टों के हाथ में सारे व्यवसाय के केन्द्रित होने और जूट उद्योग के भूतकाल में ऊँची दर पर आय प्राप्त करने के कारण इन मैनेजिंग एजेन्सियों के शेयर बहुत ही आकर्षक हो गए थे और उनके खरीदारों की संख्या बढ़ गई थी। चूँकि जूट उद्योग के वर्तमान सयंत्र की उत्पादन शक्ति वर्तमान और भविष्य की सम्भावित माँग से कहीं अधिक है इसलिये आयोग ने और नई मिलों की स्थापना को पसन्द नहीं किया। उसने मिलों को अपने सयंत्रों को आधुनिक बनाने की सिफारिश की। इन्डियन जूट मिल एसोसिएशन की यह योजना होते हुए भी, चूँकि इसका परिणाम विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता और उद्योग की अव्यवस्था होगी, आयोग ने यह सिफारिश की कि काम के घन्टों के सम्बन्ध में जो समझौता हुआ है जिसके अनुसार सप्ताह के अन्दर कार्य के घन्टे सीमित कर दिये गये हैं और मशीनों को अंशतः चालू करना बन्द कर दिया गया है उसे आगे लागू नहीं रखना चाहिये। इस समझौते के अनुसार अकुशल मिलें भी चलती रही हैं और कुशल मिलों को अपना उत्पादन व्यय कम करने में बाधा पहुँची है। इससे पाकिस्तान तथा अन्य विदेशी मिलों को लाभ पहुँचा है। आयोग की यह सिफारिश सर्वथा युक्तिसंगत है और इससे आशा की जाती है कि कुशल मिलें अधिक अच्छा कार्य कर सकेंगी। आयोग ने सिफारिश की है कि भारत को कच्चे जूट की पूर्ति के लिये निरपेक्ष के बजाय सापेक्षिक आत्मनिर्भरता का लक्ष्य सामने रखना चाहिये। हमें पाकिस्तान से उस प्रकार का जूट आयात करना चाहिये जिसका उत्पादन देश में पर्याप्त मात्रा में नहीं हो सकता और अन्य प्रकार के जूट को स्वयं उत्पादित करना चाहिये। जूट की विस्तृत खेती के बजाय गहन खेती तथा किस्म के सुधार पर अधिक जोर देना चाहिये।

आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि नियमित बाजारों में नियमों का लागू करना, सहकारी समितियों की व्यवस्था करना, तथा अन्य सिफारिशों को कार्यान्वित करना दीर्घकालीन दृष्टि कोण से उत्पादकों के लिए अधिक लाभकारी सिद्ध

होगा। मूल्य नियन्त्रण के उपायों के प्रयोग को अस्वीकार करते हुए भी निर्यात बढ़ाने के लिए तथा घरेलू माँग बढ़ाने के लिये आयोग ने मूल्य स्थिर रखने का प्रयत्न करने की सलाह दी।

योजना के अन्तर्गत—जूट उद्योग के सम्बन्ध में समस्या उत्पादन शक्ति बढ़ाने की नहीं है क्योंकि बाजार की माँग की तुलना में तो भारतीय जूट मिलों के साधन आवश्यकता से कहीं अधिक हैं। वास्तविक समस्या तो कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाने और उद्योग को उत्पादन में अपनी वर्तमान शक्ति के अनुकूल वृद्धि करने की है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसीलिये औद्योगिक प्रसाधनों की वृद्धि के बजाय उत्पादन में वृद्धि करने की सिफारिश की गई थी।

जूट उद्योग की (rated) प्रत्यंकित उत्पादन शक्ति १२ लाख टन थी परन्तु कच्चे माल के अभाव के कारण इसका पूर्ण उपयोग नहीं हो सका है। प्रथम योजना में जूट के उत्पादन को ५१ लाख गाँठों तक और जूट के बने माल का सम्पूर्ण प्रत्यङ्कित शक्ति भर अर्थात् १२ लाख टन तक बढ़ाने का प्रबन्ध किया गया था, जिसमें से १० लाख टन विदेशों को भेज दिया जायगा। परन्तु ये लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके।

द्वितीय योजना में भी जूट मिलों की प्रत्यंकित शक्ति बढ़ाने की सिफारिश नहीं की गई है। केवल आसाम में १½ करोड़ रुपयों के व्यय से एक मिल खोलने का प्रस्ताव है। प्रयत्न यह होगा कि जूट के बने माल की १९५५-५६ की १,०४,००० टन की उत्पत्ति को बढ़ाकर १९६०-६१ में १,१००,००० कर दिया जाय। जूट का उत्पादन ४० लाख गाँठों से जो कि १९५५-५६ में था बढ़ा कर १९६०-६१ में ५० लाख गाँठ कर दिया जाय। इस प्रकार भारतीय मिलों को आयात किये हुये जूट पर भविष्य में कुछ काल तक निर्भर रहना ही पड़ेगा।

चीनी उद्योग

निराक्रम्य (Tariff) संरक्षण तथा सरकारी नियोजन के फलस्वरूप भारत में चीनी की मिलों की संख्या १९३१-३२ में ३२ से बढ़कर १९५५-५६ में १६० हो गई। इनमें से १३६ तो १९५४-५५ में उत्पादन कार्य कर रही थीं और उन्होंने १६ लाख टन से कुछ ही कम चीनी का उत्पादन किया। १९५५-५६ में १३७ मिलें उत्पादन कार्य कर रही थीं और उन्होंने १७ लाख टन चीनी का उत्पादन किया। १९४८ में सरकार ने चीनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने का निश्चय किया और नवीन मिलों की स्थापना की स्वीकृत दी। ५५ नई फैक्टरियों, जिनमें ३८ सहकारी इकाइयाँ भी सम्मिलित हैं, की स्थापना तथा वर्तमान ६६ मिलों की उत्पादनशक्ति के विस्तार के लिये अनुज्ञा पत्र (लाइसेन्स) दे दिये गये हैं।

लाइसेन्स दी हुई उत्पादन इकाइयों में चार ने १९५५-५६ में उत्पादन प्रारम्भ किया तथा पाँच ने १९५६-५७ में। १९५७ के अन्त में प्रत्यंकित उत्पादन शक्ति २,०१०,००० टन थी। १९५७-५८ में नौ और इकाइयों ने भी उत्पादन प्रारम्भ कर दिया है। इसके परिणम स्वरूप फैक्ट्री निर्मित चीनी की उत्पत्ति १९५६-५७ के २०½ लाख टन से बढ़कर १९५७-५८ में २१¾ लाख टन होने की सम्भावना है।

चीनी उद्योग के विकास की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—(१) चीनी उद्योग विशेषकर उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित है परन्तु देश के अन्य भाग जैसे बम्बई, मद्रास, मैसूर और हैदराबाद आदि भी चीनी उद्योग के लिए उपयुक्त हैं क्योंकि यहाँ गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है और गन्ना पेरने का कार्य भी वहाँ अपेक्षाकृत अधिक समय तक किया जा सकता है। (२) प्रचलित कारखानों ने कभी भी अपनी पूर्ण शक्ति से उत्पादन नहीं किया। इनमें से कुछ तो बिल्कुल बन्द रहे जिसके फलस्वरूप उत्पादन सदा वास्तविक उत्पादन शक्ति से कम रहा। (३) चीनी उद्योग में बहुत से ऐसे कारखाने हैं जो अनुकूलतम शक्ति से नीचे हैं। एक औसत कारखाने को अपनी पूर्ण उत्पादन शक्ति का लाभ उठाने के लिये प्रतिदिन ८०० टन गन्ना पेरना चाहिये परन्तु अनुमान लगाया गया है कि लगभग ८० कारखाने इस स्तर से नीचे हैं। इससे भारत में चीनी का उत्पदान व्यय अधिक होता है और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त कारखानों का लाभ भी कम हो जाता है।

उत्पादन की प्रवृत्तियाँ—भारत में चीनी के उत्पादन में काफी उतार-चढ़ाव आता रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि चीनी का उत्पादन गन्ने की पूर्ति की मात्रा, गन्ना पेरने की अवधि और गन्ने से प्राप्त चीनी के प्रतिशत पर निर्भर करता है। चीनी का उत्पादन, १९४८-४९ में १०·०६ लाख टन था जो गिरकर १९४९-५० में ९·७६ लाख टन हो गया क्योंकि (अ) १९४७-४८ में मिलों के लिये गन्ने का भाव २ रुपये प्रतिमन से घटाकर १९४८-४९ में उत्तर प्रदेश में १ रुपया १० आना प्रति मन और बिहार में १ रुपया १३ आना प्रतिमन कर दिया गया। गन्ने का मूल्य घटाने का उद्देश्य चीनी का भाव ३५ रुपया ७ आना प्रतिमन से घटाकर २८ रुपना ८ आना प्रतिमन करना था। गन्ने के भाव में इस कमी से १९४९-५० में कारखानों के लिये गन्ने की पूर्ति में कमी हो गई और परिणाम स्वरूप उत्पादन भी गिर गया; (ब) गन्ने से प्राप्त चीनी की प्रतिशत मात्रा १९४८-४९ में ९·९७ से गिरकर १९४९-५० में ९·८९ हो गई और गन्ना पेरने की औसत अवधि भी १०१ दिन से घटकर ९१ दिन तक आगई। इस कारण चीनी के उत्पादन में कमी हुई जबकि कारखानों की संख्या १३४ से बढ़कर १३९ होगई थी।

परन्तु क्रमशः स्थिति बदली और उत्पादन बढ़कर १६५०-५१ में ११'०१ लाख टन और १६५१-५२ में १४'८३ लाख टन हो गया। १६५०-५१ और १६५१-५२ में चीनी का अधिक उत्पादन होने के तीन मुख्य कारण हैं, (१) मिलों को खुले बाजार में चीनी बेचने की छूट दे दी गई। इसके अनुसार कारखानों को १६४८-४६ या १६४६-५० में से जिस वर्ष का उत्पादन कम हो उसके १०७ प्रतिशत से अधिक उत्पादित चीनी को खुले बाजार में उस समय के भाव के अनुसार विक्रय करने की अनुमति दे दी गई। इसके पूर्व कारखानों को अपना सम्पूर्ण उत्पादन नियन्त्रित भाव पर बेचना पड़ता था जिससे उन्हें अधिक लाभ नहीं हो पाता था। इस कारण उत्पादन वृद्धि की ओर उनकी प्रवृत्ति नहीं रही। खुले बाजार में अतिरिक्त चीनी का विक्रय करने की छूट देने के फलस्वरूप कारखाने अधिक उत्पादन का लाभ उठा सकते थे इसलिए स्वाभाविक ही उत्पादन में वृद्धि हुई, (२) चीनी के मूल्य में थोड़ी सी वृद्धि की गई परन्तु गन्ने का भाव १६४८-४६ के स्तर पर ही रहा। कारखाने से बाहर चीनी का नियन्त्रित भाव २८ रुपया ८ आना स्थिर रखा गया परन्तु पहले यह डी० २४ नम्बर की चीनी का भाव था और अब ई० २७ नम्बर की चीनी इस भाव से विक्रय होने लगी। चूँकि ई० २७ नम्बर की चीनी डी० २४ नम्बर की चीनी से घटिया प्रकार की है इसलिए यह कहना अनुचित न होगा कि कारखानों ने गत वर्षों की अपेक्षा चीनी का अधिक मूल्य वसूल किया। उत्तर प्रदेश में १६५०-५१ में गन्ने का भाव २ आ० प्रतिमन बढ़ाकर १ रुपया १२ आना प्रतिमन निश्चित किया गया। कारखाने के बाहर ई० २७ नम्बर की चीनी का भाव बढ़ाकर २६ रुपया १२ आ० प्रतिमन कर दिया गया परन्तु इसका मिल मालिकों पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि एक मन चीनी का उत्पादन करने में १० मन गन्ना लगता है और इस आधार पर उत्पादन व्यय १ रुपया ४ आना प्रतिमन बढ़ा और मूल्य भी इतना ही बढ़ा; (३) गन्ना पेरने की अवधि में भी वृद्धि की गई। १६४६-५० में गन्ना पेरने की अवधि ६१ दिन थी जो १६५०-५१ में बढ़कर १०१ और १६५१-५२ में १३३ दिन हो गई। यद्यपि यह सत्य है कि गन्ने से प्राप्त चीनी की प्रतिशत मात्रा १०'०३ से घटकर ६'५७ हो गई परन्तु कारखानों को अधिक समय तक चालू रखने के कारण चीनी के उत्पादन में वृद्धि हुई।

चीनी की उत्पत्ति १६५२-५३ में गिरकर १३'१४ लाख टन और १६५३-५४ में १०'०१ लाख टन हो गई। इसके कारण निम्न हैं, (१) उत्पादन करने वाली फैक्ट्रियों की संख्या जो कि १६५१-५२ में १३६ थी १६५२-५३ और १६५३-५४ में घटकर १३४ हो गई और कार्य करने के दिनों की औसत संख्या १३३ से

घटकर क्रमशः ११३ और ८६ हो गई; (२) १९५२-५३ में कारखानों में पिछला बचा हुआ माल अधिक मात्रा में था और अनेकों मिलें समय से कार्यारम्भ भी न कर सकीं जिसके फलस्वरूप जितना उत्पादन करने की उनमें शक्ति थी उतना भी उत्पादन न हो सका; (३) बहुत सी मिलों में यंत्रादि घिसे पिटे और प्राचीन ढंग के थे जिनके कारण उत्पादन शक्ति का पूर्ण प्रयोग होना सम्भव नहीं था; और (४) अवैध रूप से शराब खींचने के कार्य में लाने के लिए बढ़ी हुई गुड़ की मांग को पूर्ण करने के लिये कुछ गन्ने का प्रयोग गुड़ बनाने में कर लिया गया। १९५२-५३ की फसल के लिए गन्ने का मूल्य घटाकर १ रु० ५ आना प्रति मन और चीनी का नियंत्रित मूल्य २७ रु० प्रतिमन कर दिया गया। गन्ने का प्रतिमन मूल्य इतना कम हो जाने से कारखानों को पर्याप्त मात्रा में गन्ना ही न मिल सका। १९५३-५४, १९५४-५५ और १९५५-५६ की फसलों के लिये भारत की सरकार ने गन्ने का मूल्य १ रु० ७ आ० प्रतिमन कर दिया। इस समय चीनी के मूल्य पर कोई नियंत्रण नहीं हैं, केवल यह प्रतिबन्ध है कि फसल की उत्पत्ति का २५% 'सुरक्षित माल' समझा जाय जिसमें से सरकार चीनी पिछले नियंत्रित मूल्य पर अर्थात् २७ रु० प्रतिमन पर बेचती है। कृषकों के दृष्टिकोण से गन्ने का १ रु० ७ आना प्रति मन मूल्य अपर्याप्त है और इसी कारण फैक्ट्रियों को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल मिलने में कठिनाई पड़ती है।

१९५६-५७ में चीनी की उत्पत्ति २०$\frac{1}{2}$ लाख टन थी। १९५७-५८ में इससे बढ़कर २१$\frac{1}{2}$ लाख टन होने की सम्भावना है। इसका कारण वर्तमान फैक्ट्रियों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि तथा नई फैक्ट्रियों की स्थापना है।

उत्पादन क्षमता—चीनी उद्योग की मुख्य समस्या उत्पादन व्यय की अधिकता है। उत्पादन व्यय अधिक होने से उपभोक्ता पर अनावश्यक भार पड़ता है और अन्य देशों की अपेक्षा भारतीय चीनी का मूल्य अधिक होने के कारण निर्यात की मात्रा भी नहीं बढ़ पाती। भारतीय चीनी का उत्पादन व्यय अधिक होने के अनेक कारण हैं। इसको कम करके चीनी का मूल्य घटाने के लिये काफी प्रयत्न करने की आवश्यकता है। चीनी-उद्योग के सम्बन्ध में प्रथम कठिनाई यह है कि कृषकों के हितों की रक्षा के लिये सरकार गन्ने का मूल्य अधिक निश्चित करती है और केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें उद्योग पर अनेक कर लगाती हैं। गन्ने का अधिक मूल्य, अधिक मजदूरी और अधिक कर का फल यह होता है कि चीनी का उत्पादन व्यय कम होने की अपेक्षा बढ़ता जाता है। चीनी के मूल्य को घटाने के लिये यह आवश्यक होगा कि गन्ने के मूल्य को घटाया जाय। चीनी उद्योग की जाँच करने वाले प्रशुल्क मण्डल ने सुझाव दिया था कि

१६४६-५० में गन्ने के मूल्य में ३ आना प्रतिमन कमी की जाय, १६५०-५१ में भी इतनी कमी और की जाय जिससे भाव १ रुपया ४ आना प्रतिमन तक आ जाय। यदि सुझाव को लागू किया जाता तो इससे प्रतिमन चीनी में गन्ने का मूल्य ३ रुपया १२ आना कम हो जाता। यदि प्रशुल्क मण्डल के सुझाव के अनुसार माल तैयार करने की मद में भी २ रुपया ८ आने की कमी कर दी जाती तो इससे १६५०-५१ में चीनी का भाव २२ रुपया ४ आना प्रतिमन हो जाता। यह खेद की बात है कि सरकार ने प्रशुल्क मण्डल के सुझावों के अनुसार कार्य नहीं किया और गन्ने का भाव घटाने के बजाय बढ़ा दिया। इसके परिणाम स्वरूप चीनी के मूल्य में और वृद्धि हो गई। १६५२-५३ में गन्ने का मूल्य उत्तर प्रदेश और बिहार में घटाकर १ रुपया ५ आना प्रतिमन कर दिया गया परन्तु इसके पश्चात् भारत सरकार द्वारा फिर से बढ़ाकर १ रुपया ७ आना प्रतिमन कर दिया गया।

गन्ने की उत्पत्ति—गन्ने के मूल्य की समस्या सन्तोषजनक ढङ्ग से तभी सुलझाई जा सकती है जबकि प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति में वृद्धि की जाय। भारत में प्रति एकड़ गन्ने की उत्पत्ति संसार भर में सब से कम है और निरन्तर कम होती जा रही है। क्यूबा में प्रति एकड़ उत्पत्ति १७·१२ टन, मारिशस में १६·६३ टन, आस्ट्रेलिया में २१·३४ टन, प्युरटोरीको में २४·१६ टन, जावा में ५६ टन, और हवाई में ६२·०५ टन है जब कि भारत में केवल १४ टन है। गन्ने के प्रत्यादान की प्रतिशत क्यूबा में १२·२५, मारिशस में १२·०८, आस्ट्रेलिया में १४·३३, प्युरटोरीको में १२·२३, जावा में ११·४६ और हवाई में १०·४६ है और भारत में १०% है। कृषक को तो भूमि से अपनी साधारण आय चाहिये और यदि गन्ने का मूल्य घटा दिया जाय और यदि गन्ने से प्राप्त प्रति एकड़ आय बढ़ जाय तो कृषक के लिये चिन्ता की कोई बात न होगी।

वर्तमान समय में चीनी तैयार करने के लिये कुछ कारखाने सल्फीटेशन प्रोसेस और कुछ कारबोनेशन प्रोसेस का प्रयोग करते हैं। दोनों ही प्रकार के विधायन में गन्धक का उपयोग होता है जिससे चीनी के कारखानों का व्यय बढ़ता है क्योंकि गन्धक का भारत बहुत अधिक मूल्य पर आयात करता है। कारबोनेशन प्रोसेस में ०·०२% से ०·०३५% तक गन्धक लगता है और सल्फीटेशन प्रोसेस में इसकी मात्रा ०·०५% से ०·०८% तक है। इसलिये इन दोनों में से कारबोनेशन प्रोसेस का प्रयोग करना आवश्यक है क्योंकि इससे उत्पादन व्यय घटेगा। इण्डियन इन्स्टीट्यूट आव शुगर टैकनालाजी के संचालक श्री जे० एम० साहा ने बिना गन्धक का प्रयोग किये चीनी बनाने की नई प्रक्रिया खोज निकाली है। इस नई

प्रक्रिया से अधिक मात्रा में चीनी उत्पन्न होती है और चीनी का प्रकार भी अपेक्षाकृत अच्छा है। पटना साइन्स कालेज के श्री डी० एन० घोष ने एक नई रीति निकाली है जिससे बिना किसी रसायनिक या ताप की सहायता के बिजली के द्वारा गन्ने का रस साफ किया जा सकता है। इन दोनों प्रणालियों का अभी तक व्यवसायिक पैमाने पर प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इनसे चीनी बनाने के व्यय में कमी अवश्य होगी। चीनी उद्योग में अच्छी मशीनों के लगाने से भी उत्पादन व्यय में कमी की जा सकती है।

स्थिति—उत्पादन व्यय अधिक होने का एक कारण कारखानों का अनुपयुक्त स्थानों पर स्थित होना भी है। यद्यपि वर्तमान समय में उत्तर प्रदेश और बिहार में अधिकतर कारखाने स्थित हैं परन्तु यदि कारखाने बम्बई या दक्षिण भारत में होते तो अधिक उपयुक्त होता। बम्बई तथा दक्षिण के अन्य क्षेत्रों में गन्ने का प्रति एकड़ उत्पादन अधिक है और वहाँ गन्ने की पिराई भी अधिक समय तक होती है। यदि उत्तर भारत की अपेक्षा उद्योग दक्षिण में ही विकसित होता तो चीनी का उत्पादन व्यय अवश्य कम होता। परन्तु अब यह है कि चीनी-उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में केन्द्रित हो गया है। १९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियमन) कानून के अंतर्गत नियुक्त लाइसेंसिन्ग समिति ने कुछ कारखानों को एक साथ नये स्थानों में ले जाने की सिफारिश की थी परन्तु यह समस्या का उपयुक्त हल सिद्ध नहीं हुआ क्योंकि (१) यदि यह योजना लागू की जाय तो एक कारखाने को एक स्थान से अन्य स्थान पर ले जाने में १० से १५ लाख रुपया व्यय हो जायगा और यातायात की व्यवस्था में व्यय होगा। इसके साथ ही कारखाने को हटाने की अवधि में उत्पादन बन्द रहेगा; (२) जिन क्षेत्रों से कारखाने हटाये जायँगे उनकी आर्थिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायगी और उनका अन्य क्षेत्रों से सम्बन्ध टूट जायगा। इसलिये उद्योग की स्थिति में सुधार करने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि नवीन और उपयुक्त स्थानों में धीरे-धीरे नवीन कारखाने स्थापित किये जायँ और अनुपयुक्त स्थानों में स्थित कारखाने जब पुराने पड़ जायँ और पुनर्निर्माण की आवश्यकता हो तब उनका पुनर्निर्माण न करने दिया जाय।

निर्यात—अतीत में चीनी के लिये भारत विदेशों पर निर्भर था। १९२९-३० में भारत ने लगभग ९३ लाख टन चीनी का आयात किया। परन्तु हाल में चीनी के उत्पादन में वृद्धि हुई है जिसके फलस्वरूप अब आयात केवल नाम मात्र को होता है। यह बहुत संभव है कि भविष्य में भारत चीनी का आयात करने की अपेक्षा निर्यात करने लगेगा। हवायन अंतर्राष्ट्रीय चीनी सम्मेलन के कथनानुसार "बहुत

समय तक भारत को चीनी का निर्यात करने की अनुमति नहीं दी गई, यहाँ तक कि १६३६-४० में जब देश में चीनी का उत्पादन आवश्यकता से कहीं अधिक हुआ था, अतिरिक्त चीनी का भारत से निर्यात नहीं किया जा सका। कुछ समय से यद्यपि भारत चीनी का निर्यात कर सकता है परन्तु निर्यात की मात्रा पर नियंत्रण है। कुछ पड़ोस के देशों को भारत केवल कुछ हजार टन चीनी प्रतिवर्ष भेज सकता है।"

चीनी का निर्यात बढ़ाने में सबसे बड़ी कठिनाई भारतीय चीनी का अपेक्षाकृत अधिक मूल्य है। भारत में कारखाने के बाहर चीनी का भाव (ex-factory price) २७ रुपया प्रति मन है जब कि अन्य देशों में २१ से २३ रुपया प्रति मन है। इसलिए जब तक सरकार या तो चीनी के निर्यात के लिये आर्थिक सहायता नहीं देती या विदेशों को कम मूल्य पर निर्यात करने और घाटा पूर्ति के लिये देश में अधिक मूल्य पर बेचने की अनुमति नहीं देती तब तक चीनी का निर्यात बढ़ा सकना असंभव है। परन्तु वर्तमान स्थिति में उक्त दोनों साधन अव्यवहारिक हैं। इन कारणों से चीनी का निर्यात बहुत कम होता है और जब तक चीनी का उत्पादन व्यय नहीं घटाया जाता तब तक भविष्य में भी निर्यात में वृद्धि की कोई आशा नहीं दिखाई देती।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम पञ्चवर्षीय योजना के आरम्भ में चीनी के वार्षिक उत्पादन में वृद्धि का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया क्योंकि यह आशा की जाती थी कि १५.५ लाख टन की उत्पादन शक्ति का अनुमान और १६५५-५६ तक १५ लाख टन का वास्तविक उत्पादन उपयुक्त होगा। परन्तु १६५४-५५ में ही चीनी का उत्पादन १६ लाख टन के लगभग हो गया, अर्थात् योजना के लक्ष्य से १ लाख टन अधिक हो गया। इसलिए प्रथम पञ्चवर्षीय योजना का लक्ष्य १८ लाख टन कर दिया गया। इस ध्येय से सरकार ने ३७ नई मिलों को और ४० पुरानी मिलों के विस्तार के लिये लाइसेन्स प्रदान किये। इससे ५½ लाख टन तक की उत्पादन शक्ति बढ़ने और वास्तविक उत्पादन ३⅔ लाख टन बढ़ने की आशा है।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि उत्पादन शक्ति २७.४ लाख टन से जितने का १६५५-५६ में अनुमान किया गया है, १६६०-६१ तक २५ लाख टन कर दी जाय और चीनी का उत्पादन १६५५-५६ के १७ लाख टन से बढ़ाकर १६६०-६१ तक २२½ लाख टन कर दिया जाय। उत्पादन की इस वृद्धि में से सहकारी चीनी के कारखाने ३½ लाख टन उत्पादित करेंगे। द्वितीय योजना में उत्पादन की बढ़ी हुई मात्रा का लक्ष्य उपयुक्त है। इण्डियन

शुगर मिल्स एसोसिएशन ने अपने स्मारकपत्र में जो उसने सरकार को भेजा था यह लिखा था कि वर्तमान चीनी के कारखाने पहिले से लाइसेन्स प्राप्त कारखानों को सम्मिलित करते हुये १९६०-६१ तक २७ लाख टन तक चीनी का उत्पादन करने में समर्थ हैं जबकि योजना का लक्ष्य केवल २२½ लाख टन ही उत्पादन करने का है। यदि भविष्य की कठिनाइयों जैसे वर्षा का न होना, बाढ़ का आना इत्यादि को विचाराधीन रख लिया जाय तब १९६०-६१ तक वर्तमान कारखाने पहिले से लाइसेन्स प्राप्त कारखानों को मिलाकर प्रति वर्ष २५ लाख टन चीनी का उत्पादन कर सकेंगे जो कि लक्ष्य से २½ लाख टन अधिक होगा। इस बात को सोचते हुये सरकार के लिए यह आवश्यक है कि नई फैक्ट्रियों को लाइसेन्स देने में सावधानी करें नहीं तो भारतीय चीनी उद्योग में उत्पादन शक्ति का आधिक्य हो जायगा और सम्भवत: उत्पादन भी आवश्यकता से अधिक होगा।

कोयला उद्योग

भारत में कोयले के उत्पादन में विशेष प्रगति हुई है। १९३० का २४० लाख टन का उत्पादन १९५७ में बढ़कर ४३५ लाख टन हो गया। सन् १९५० तक कोयले का उत्पादन लगभग ३०० लाख टन तक बढ़ पाया था पर १९५० में सर्व प्रथम उत्पादन बढ़कर ३२३·३ लाख टन हो गया था। आगामी वर्षों में उत्पादन उत्तरोत्तर बढ़ता गया है। १९५१ में ३४६·६५ लाख टन, १९५२ में ३६३·३४ लाख टन, १९५५ में ३८० लाख टन तथा १९५७ में ४३५ लाख टन हुआ था। उत्पादन में यह वृद्धि वर्तमान खानों की अधिक घनी खुदाई करने तथा कोयले की माँग में वृद्धि होने के कारण नई खानों की खुदाई का कार्य आरंभ करने के कारण हुई है।

उत्पादन क्षमता—यद्यपि भारत में कोयले के कुल उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु कोयले की खानों के उद्योग की उत्पादन क्षमता बहुत कम है। बहुत सी खानें इतनी छोटी हैं जिन्हें आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त नहीं कहा जा सकता है। खानों के यन्त्रीकरण में भी विशेष प्रगति नहीं की गई है। कोयला उद्योग में जितने श्रमिक कार्य करते हैं उनकी संख्या आवश्यकता से अधिक है। साथ ही अन्य देशों के विपरीत भारतीय खदान-श्रमिक की कार्य क्षमता कम है और प्रति श्रमिक उत्पादन भी कम होता है। उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १९४१-५१ के मध्य ५८% बढ़ गई है परन्तु कोयले के उत्पादन में केवल ३२% की ही वृद्धि हो पाई है इससे श्रमिकों की उत्पादकता में ह्रास प्रगट होता है। यह प्राविधिक (टैक्निकल) पिछड़ापन और कार्यक्षमता में कमी, कोयले के उद्योग की स्पर्धा शक्ति और लाभ को नीचे स्तर पर रखने के लिये उत्तरदायी है।

ज्योलोजिकल, माइनिंग और मैटालर्जीकल सोसाइटी की २८ वीं वार्षिक बैठक में यह बताया गया कि भारत में प्रति श्रमिक आठ घंटे की एक शिफ्ट में २·७ टन कोयले का उत्पादन होता है जब कि ब्रिटेन में ६·२६ टन, जर्मनी में ८·६६ टन और अमरीका में २१·६८ टन कोयले का उत्पादन होता है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन व्यय कम करने के लिए और उद्योग की वित्तीय स्थिति दृढ़ बनाने के लिए भारतीय कोयला उद्योग का अभिनवीकरण करने की आवश्यकता है। कोयला उद्योग का यन्त्रीकरण करने में दो कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है—(१) इस प्रक्रिया में बहुत अधिक धन की आवश्यकता होती है और (२) श्रमिक इस प्रक्रिया का विरोध करते हैं क्योंकि इस योजना को लागू करने से अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जायँगे। उद्योग की उत्पादन-क्षमता में सुधार करने के लिए इन दोनों कठिनाइयों को दूर करना आवश्यक है।

परिरक्षण (Conservation)—वर्तमान समय में धातुशोधन के कार्य में आने वाले उत्तम श्रेणी के कोयले की काफी क्षति हो रही है। इस कोयले का कुल जितना उत्पादन होता है उसका ४० प्रतिशत भाग रेलवे के कार्य में आता है, २१ प्रतिशत के लगभग लोहे और इस्पात उद्योग में और १३ प्रतिशत का निर्यात और जहाजों में प्रयोग होता है। इस्पात उद्योग में इस प्रकार के कोयले की बहुत आवश्यकता होती है इसलिये इस उद्योग के उपयोग के लिये इसका संरक्षण करना पड़ेगा। मेटालर्जीकल कोल कमेटी (१९४९) अपनी जांच पड़ताल के पश्चात् इस परिणाम पर पहुँची कि प्रत्येक वर्ष पूर्व की कुल खपत में से (उद्योग को बिना कुछ हानि पहुँचाये) आगामी ५ वर्षों में धीरे धीरे १० प्रतिशत की कमी की जा सकती है और इस प्रकार धातुशोधन के कार्य में आने वाले उत्तम श्रेणी के कोयले का उत्पादन घटाया जा सकता है। इस समिति ने सुझाव दिया है कि (अ) किसी भी परिस्थिति में इस प्रकार के कोयले की खानें न खोली जायँ। यदि पुनः प्रचलित करने में अधिक धन न लगे तो उत्तम श्रेणी के कोयले की कुछ खानों को बन्द किया जा सकता है, (ब) कोयले के चट्टे लगाने, मिलाने और धोने को कानूनी रूप से अनिवार्य कर देना चाहिए, और (स) खराब कोयला छोड़कर अच्छा कोयला निकालने की रीति को बन्द कर देना चाहिए। योजना आयोग ने सुझाव दिया है उत्तम श्रेणी के कोयले का संरक्षण किया जाय और कोयले तथा कोयला समिति से सम्बन्धित सभी विषयों पर परस्पर उचित संबन्ध स्थापित करने वाली नीति अपनाई जाय। सरकार ने धातु शोधन के कार्य में आनेवाले कोयले के उत्पादन की अधिकतम मात्रा निर्धारित कर दी है। १९५३ उत्पादन की अधिकतम मात्रा १५१·८ लाख टन, १९५४-५५ में १४३·८ लाख टन, १९५६

में १५४'१ लाख टन तथा १९५७ में १६० लाख टन कर दी गई।

सरकार की इस नीति की दो आधारों पर आलोचना की गई है। यह कहा गया है कि (अ) उत्तम प्रकार के कोयले के उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगाना समस्या का उचित हल नहीं है। संरक्षण करने का अर्थ है रोकी जा सकने वाली क्षति होने की सारी संभावनाएँ समाप्त करना, उत्पादन में अधिक उपयुक्त साधनों तथा उपायों का प्रयोग करना और कोयले के व्यय में बचत करना इत्यादि। इसके साथ ही सरकार की नीति को व्यापक होना भी आवश्यक है; (ब) कोयले के चट्टे लगाने, मिलाने और धोने में और संरक्षण की नीति को लागू करने में अतिरिक्त व्यय करना पड़ता है जिसका उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ता है। सरकार न तो उद्योग को आवश्यक वित्त की सहायता देती है और न अतिरिक्त व्यय का धन वसूल करने के लिये कोयले के मूल्य में वृद्धि करने देती है। उद्योग पर उक्त प्रतिबन्ध लगाना सरकार की न्यायसंगत कार्यवाही नहीं कही जा सकती। इस अभाव की पूर्ति किये बिना सरकार की कोयला संरक्षण नीति से उद्योग को और अधिक हानि होने की संभावना है।

परिवहन—कोयला उद्योग की एक सबसे बड़ी कठिनाई परिवहन के साधनों का अभाव है। कोयले को अन्यंत्र भेजने के लिए पर्याप्त संख्या में गाड़ियाँ या मालगाड़ी के डिब्बे नहीं मिलते हैं। गाड़ियाँ मिलने में बहुत देर होती है जिससे खानों के समीप कोयले के ढेर लग जाते हैं। इससे खानों के कार्य में बहुत कठिनाई होती है। बँगाल और बिहार के कोयले की खानों के क्षेत्र में (जो देश के ८०% कोयले के उत्पादन के लिये उत्तर दायी है) प्रतिदिन लादी जाने वाली मालगाड़ियों के डिब्बे की औसत संख्या १९५७ में ३६६७ थी, जब कि १९५६ तथा १९५२ में यह संख्या क्रमशः ३४०५ तथा ३१६३ थी। इससे उन्नति की प्रवृत्ति प्रदर्शित होती है परन्तु खेद है कि कोयले की खानों को उपलब्ध माल गाड़ियों की संख्या न तो आवश्यकता के अनुकूल ही रही है और न रेल विभाग की शक्ति के ही अनुकूल।

कोयले के लिये मालगाड़ियों के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि आवश्यक है ताकि उद्योग द्वारा कोयला शीघ्रता से और कम मूल्य पर बेचा जा सके। मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि के लिये रेलवे के प्रसाधनों में वृद्धि आवश्यक होगी। इसमें निश्चय ही समय लगेगा। परन्तु कुछ अन्य भी उपाय हैं जिनसे कोयले की खानों के लिये मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति में वृद्धि की जा सकती है। वर्तमान मालगाड़ी के डिब्बों के आवेदन की प्रणाली बड़ी ही जटिल है जिससे देर भी लगती है और खानों पर अत्यधिक कोयला भी एकत्रित हो जाता है। दूसरी

समस्या ढोने की दर की है। भारत सरकार ने कोयले के भाड़े की दर में ३० प्रतिशत वृद्धि कर दी है। भाड़े की वृद्धि कोयला उद्योग के सम्बन्ध में नियुक्त की गई वर्किंग पार्टी के सुझाव के अनुसार की गई है। इस वृद्धि से कोयले के परिवहन व्यय में वृद्धि हो गई और इस प्रकार कोयले का प्रयोग करने वाले उद्योगों का उत्पादन व्यय भी बढ़ गया। भारतीय उद्योगों का विकास करने के लिए कोयले का परिवहन व्यय कम करने की अत्यन्त आवश्यकता है।

कोयले के निर्यात में कमी की समस्या भारत सरकार ने १९५४ में नियुक्त एक कमेटी के सम्मुख रक्खी थी जिसने यह रिपोर्ट दी कि भारत के कोयले के मुख्य बाजार पड़ोसी देशो में ही हैं। इस लिये बरमा, लंका, पाकिस्तान, दक्षिणी पूर्वी एशिया के कुछ देशों को ही भारत को अपना स्वाभाविक बाजार समझना चाहिये। १९५१-५२ में जो यूरुप को अधिक निर्यात हुआ था वह यूरुप में कोयले के अभाव, दक्षिणी अफ्रीका में यातायात की कठिनाईयों, आस्ट्रेलिया में नियंत्रित उत्पादन और कोरिया के युद्ध जनित कारणों से था। १९५३ में ये १९५१-५२ की अपवादी स्थिति समाप्त हो गई और जो नवीन बाजार भारत को प्राप्त हो गये थे वे सामान्य स्थिति होने पर फिर समाप्त हो गये। कोयले का निर्यात बढ़ाने के विचार से कमेटी ने निम्न सिफारिशें कीं : (१) कोयले का सरकारी क्रय विक्रय बन्द होना चाहिये, (२) कोयले की विभिन्न प्रकारों पर जो नियंत्रण लगा हुआ है उसे कम करना चाहिये; (३) कोल ग्रेडिंग बोर्ड को वे ही ग्रेड बनाने चाहिये जो कन्ट्रोल आर्डर में दे दिये हैं, और (४) कलकत्ते के बन्दरगाह पर अधिक सुविधाओं के देने के उपाय करने चाहिये।

योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंच वर्षीय योजना में कोयला उद्योग को प्रमुख स्थान दिया गया है। धीरे धीरे इसे सरकारी क्षेत्र में ले आया जायगा। कोयले का उत्पादन ३६७.७ लाख टन से जो कि १९५४ में था बढ़ाकर १९६०-६१ में ५९७.७ लाख टन कर दिया जायगा।

१९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव में यह कहा गया था कि प्रत्येक कोयले की नवीन खान सरकारी क्षेत्र में ही आरम्भ होगी, ऐसी स्थिति के अतिरिक्त जहाँ कि राष्ट्रीय दृष्टिकोण से सरकार व्यक्तिगत व्यवसायियों का सहयोग आवश्यक समझती है। आरम्भ में इस नीति के व्यवहार में कुछ शिथिलता दिखाई गई परन्तु अब यह निश्चय कर लिया गया है कि भविष्य में कोयले के उद्योग के नवीन उपक्रमों को सरकारी क्षेत्र में ही रखने का प्रयत्न किया जायगा और बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने के लिए अतिरिक्त कोयले का उत्पादन द्वितीय योजना काल में अधिकतम स्तर तक सरकारी क्षेत्र में ही किया जायगा।

लोहा और इस्पात उद्योग

भारतीय लोहे और इस्पात उद्योग के क्षेत्र में तीन मुख्य उत्पादक हैं, टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी, इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी (इसमें स्टील कारपोरेशन आफ़ बंगाल भी सम्मिलित है) और मैसूर आयरन स्टील वर्क्स। इन कारखानों में कच्चे लोहे का इस्पात बनाया जाता है और इस्पात से आवश्यक वस्तुयें तैयार की जाती हैं। इनके अतिरिक्त लगभग ६४ छोटे कारखाने हैं जो व्यर्थ लोहे से और लोहे के छड़ों से जो उत्पादकों द्वारा प्राप्त होते हैं या आयात होते हैं, इस्पात तैयार करते हैं।

भारतीय इस्पात उद्योग एशिया में सबसे बड़ा है और संसार के सर्वोत्तम इस्पात उद्योगों में से एक है। १९२४ में संरक्षण मिलने के पश्चात् इसने महत्वपूर्ण प्रगति की है। उद्योग की उत्पादन क्षमता में इतनी वृद्धि हुई कि १९४१ में संरक्षण की कुछ आवश्यकता नहीं रही। इस्पात का उत्पादन १९४७ में ८·९ लाख टन था जो बढ़कर १९५२-१९५५ तथा १९५७ में क्रमशः ११ लाख टन, १२ लाख टन और १३ लाख टन हो गया। १९५८ में उत्पादन की मात्रा ४५ लाख टन अनुमानित की गई है। १९५३ में इस्पात और ढले हुए लोहे का उत्पादन १९५२ की अपेक्षा कम हो गया। इसका कारण किसी सीमा तक तो श्रमिकों के झगड़े थे और किसी सीमा तक यन्त्रों के अभिनवीकरण के कारण उत्पन्न वह अव्यवस्था थी जिसके फलस्वरूप कुछ समय के लिए कारखानों को बन्द रखना आवश्यक हो गया था। इसके अनन्तर उत्पादन में वृद्धि हुई और भविष्य में इसके और अधिक बढ़ने की संभावना है। भारत के इस्पात और लोहे के उद्योग की मुख्य समस्याएँ (अ) इस्पात के उत्पादन में वृद्धि करना, (ब) ढले हुए लोहे के उत्पादन को फाउन्ड्रीयों के लिये बढ़ाना है।

लोहे और इस्पात उद्योग के लिए आवश्यक कच्चा माल भारत में ही प्राप्त है। जितना कच्चा माल वर्तमान समय में प्राप्त है उतने से ही उद्योग के लिए इस्पात बढ़ा लेना सम्भव है।

इस्पात का मूल्य—देशी इस्पात का मूल्य आयात किये हुये इस्पात से बहुत कम है। मूल्यों में समानता लाना बहुत आवश्यक है। यह मूल्य के नियंत्रण द्वारा ही (युद्धकाल से आज तक) सम्भव हो सका है। १ अक्टूबर १९३९ से ३० जून १९४४ तक युद्ध के लिये क्रय किये जाने वाले इस्पात के मूल्य पर नियन्त्रण था। परन्तु इस्पात के व्यवसायिक मूल्य पर कोई नियन्त्रण नहीं था। इस्पात के व्यवसायिक मूल्य पर परिनियमित रूप से नियंत्रण १ जुलाई १९४४ से आरम्भ हुआ। इस सम्बन्ध में सरकार जिस प्रणाली का अनुसरण करती है उसके

अनुसार प्रत्यारक्षण मूल्य (retention price) नियत कर दिया जाता है जिस पर मुख्य-मुख्य उत्पादक इस्पात विक्रय करते हैं, और उपभोक्ताओं के लिये मूल्य की एक अन्य ऊँची दर नियत होती है जिस पर वे क्रय करते हैं। दोनों मूल्यों के अन्तर से प्राप्त धन समानता स्थापित करने वाले कोष (equalisation method) में जमा कर दिया जाता है जिसमें से इस्पात के आयात में सहायता प्रदान की जाती है और इस्पात उत्पादकों के अभिनवीकरण तथा विकास के कार्यक्रमों में आर्थिक सहायता दी जाती है। एक जुलाई १६४४ और ३१ मार्च १६४६ के मध्य इस्पात के दो प्रत्यारक्षण मूल्य निर्धारित किये गये थे। एक युद्ध के लिये क्रय किये जाने वाले इस्पात के लिये और दूसरा व्यवसायिक प्रयोग के लिये, परन्तु १ अप्रैल १६४६ से केवल एक ही प्रत्यारक्षण मूल्य निर्धारित है। परिस्थिति के परिवर्तन के साथ प्रत्यारक्षण मूल्य और विक्रय मूल्य बदलते रहते हैं।

प्रशुल्क मण्डल की सिफारिशों के अनुसार सरकार ने यह बात स्वीकार कर ली है कि १६५५-५६ से १६५६-६० तक की अवधि के लिये ३६३ रु० प्रति टन के प्रत्यारक्षण मूल्य की एक ही दर टाटा कम्पनी और इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिये नियत की जानी चाहिये। इस पुनर्निश्चित मूल्य के लागू करने के लिये सरकार का प्रस्ताव फरवरी १६५६ में पास हुआ। इसी समय १६५४-५५ के लिये पुनर्परिक्षित प्रत्यारक्षण मूल्य ३४३ रु० प्रति टन का टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए और ३८६ रु० प्रति टन का इन्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी के लिए नियत किया गया। इस बात को सब ने स्वीकार कर लिया कि १६५४-५५ का समायोजित प्रत्यारक्षण मूल्य और ३६३ रु० प्रति टन के समान प्रत्यारक्षण मूल्य का अन्तर प्रत्येक कम्पनी अपने विकास कोष में दे देगी।

भूतकाल में इस्पात का मूल्य बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, जमशेदपुर और बरनपुर में ५०० रुपये प्रति टन था, और अन्य स्थानों पर उपभोक्ताओं को उसके साथ परिवहन व्यय मिला कर देना पड़ता था। इसका अर्थ यह था कि (१) उत्तर प्रदेश, पंजाब और उत्पादन केन्द्रों तथा बन्दरगाहों से दूर स्थित नगरों के उपभोक्ताओं को अधिक मूल्य देना पड़ता था; और (२) बन्दरगाहों के निकट उद्योग केन्द्रित होते जा रहे थे क्योंकि उन्हें वहाँ इस्पात सस्ता मिलता था। सरकार की जून १६५६ की नई नीति के अनुसार इस्पात का एक ही मूल्य (५२५रु० प्रति टन) जिसमें रेल का किराया सम्मिलित होगा रेल के सभी प्रमुख स्टेशनों पर लागू होगा। इस प्रकार ऊपर बताये हुए पाँचों स्थानों पर उपभोक्ताओं को २५ रु० प्रति टन अतिरिक्त मूल्य देना पड़ेगा और उन उपभोक्ताओं को जो अमृतसर और कानपुर ऐसे स्थानों में हैं लगभग ३५ रु० प्रतिटन कम देना पड़ेगा। पहले मूल्य

में समानता लाने के लिये सिद्धान्त का प्रयोग केवल इस्पात के सम्बन्ध में ही लागू किया गया था। अब यह सिद्धान्त ढाले हुए लोहे के सम्बन्ध में भी लागू किया जायगा। इस नई नीति के कारण इस्पात और लोहे के मूल्य में भारत के उत्तरी भाग में रहने वाले व्यक्तियों के लिये कमी हो जायगी और दुर्लभ वस्तुयें प्रत्येक को युक्ति संगत मूल्य पर प्राप्त हो सकेंगी।

इस्पात के मूल्य पर सरकारी नियन्त्रण उपभोक्ताओं के लिये लाभकारी सिद्ध हुआ है क्योंकि बिना इस नियन्त्रण के उन्हें ये वस्तुयें अधिक मूल्य पर प्राप्त होती। परन्तु कम प्रत्यारक्षण मूल्य के नियत किये जाने से उत्पादकों को हानि हुई है। यदि उत्पादकों को ऊँचा मूल्य मिला होता तो वे अवश्य उद्योग के विस्तार करने में तथा अभिनवीकरण में व्यय किया जाता। अब उन्हें इस कार्य के लिये सरकार से ऋण लेना पड़ा है और सरकार ने मूल्य समीकरण कोष (equalisation fund) से यह ऋण दिया है। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि सरकार ने टाटा कम्पनी और स्टील कारपोरेशन आफ बंगाल को तथा अन्य इस्पात के उत्पादकों को वह धन ऋण के रूप में दिया है जो कि न्यायतः उन्हीं का था। यदि इस्पात कम्पनियों को ऐसे अवसर पर जब कि इस्पात का मूल्य बढ़ा हुआ है अधिक मूल्य का लाभ न उठाने दिया जायगा तो आर्थिक मन्दी के समय जब मूल्य उत्पादन व्यय से कम होता है वे हानि का सामना कैसे करेंगे।

भविष्य की माँग—लोहा और इस्पात मेजर पेनेल ने १९४६ में अनुमान लगाया कि भारत में २० लाख टन इस्पात की खपत है, जब कि युद्ध के पूर्व केवल दस लाख टन की खपत थी। परन्तु १९४७ में परामर्शदात्री नियोजन परिषद ने अनुमान लगाया कि देश में सामान्य स्थिति में १५ लाख टन इस्पात की खपत है। कृषि तथा औद्योगिक विकास पर विचार करते हुये योजना आयोग ने अनुमान लगाया कि १९५२ में कुल ३२ लाख टन की आवश्यकता होगी और १९५७ तक २८ लाख टन की आवश्यकता हो जायगी। लोहा और इस्पात पेनल ने अनुमान लगाया है कि भारत को फाउन्ड्रियों के लिये प्रतिवर्ष ३ लाख टन ढले हुये लोहे की आवश्यकता होगी। वाणिज्य मन्त्रालय के छोटे और बड़े इंजीनिरिंग उद्योग के जाँच करने वाले पेनेल ने १९५१ में बताया कि भारत को ४ लाख से ४·२ लाख टन तक ढले हुये लोहे की आवश्यकता थी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना का अनुमान है कि १९६०-६१ में इस्पात की माँग लगभग ४५ लाख टन की और फाउन्ड्रियों के लिये ढले लोहे की माँग लगभग ७५ लाख टन की होगी। मुख्य उत्पादकगण ढला लोहा अपने प्रयोग के लिये तथा फाउन्ड्रियों के लिये ही

उत्पादित करते हैं। इसलिये फाउन्ड्रियों के लिये ढले लोहे की पूर्ति में वृद्धि करने के लिये प्रमुख उत्पादकों को अपने उत्पादन में वृद्धि करनी पड़ेगी।

योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने भारत में इस्पात के उत्पादन के विकास पर विशेष महत्व दिया है। उद्योगीकरण की वर्तमान बढ़ी हुई प्रगति को बनाये रखने के लिये और भारत में यन्त्रों के निर्माण करने वाले उद्योग की स्थापना करने के लिये यह आवश्यक होगा कि इस्पात के उत्पादन की मात्रा बढ़ाई जाय। द्वितीय योजना में १९६०-६१ तक ४३ लाख टन इस्पात के उत्पादन का प्रबन्ध किया गया है। इसमें से वर्तमान तीन प्रमुख उत्पादक अपने विस्तार के कार्य क्रम को पूर्ण कर लेने के पश्चात् लगभग २३ लाख टन की पूर्ति कर सकेंगे। सरकारी क्षेत्र में तीन नये स्थापित प्रमुख उत्पादक लगभग २० लाख टन का उत्पादन १९६०-६१ तक कर सकेंगे यद्यपि उनके उत्पादन की चरम सीमा कहीं अधिक होगी।

लोहे और इस्पात के उत्पादन को प्रधानता देने के निर्णय के अनुकूल द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत तीन इस्पात के कारखानों की स्थापना का निश्चय है जिनमें से प्रत्येक की उत्पादन शक्ति १० लाख टन होगी, और इन तीन में से एक को ३.५ लाख टन फाउन्ड्रियो के प्रयोग में आने वाला ढला हुआ लोहा तैयार करने की सुविधायें प्राप्त होंगी। रूरकेला में खोले गये कारखाने में १९५६-६१ में १२८ करोड़ रुपये के विनियोग का अनुमान है। यह आशा की जाती है कि ७.२ लाख टन इस्पात की चपटे आकार की वस्तुओं का उत्पादन करेगा। दूसरा कारखाना, जो कि मध्य-प्रदेश में भिलाई स्थान पर स्थापित किया गया है, उस पर लगभग ११० करोड़ रुपया व्यय किये जाने का अनुमान है। उससे हम आशा करते हैं कि ७.७ लाख टन विक्रय योग्य इस्पात तथा वजनी और मध्य श्रेणी की वस्तुओं का उत्पादन हो सकेगा जिसमें १.४ लाख टन पत्रक का भी रि-रोलिङ्ग उद्योग के लिये उत्पादन सम्मिलित होगा। तीसरा कारखाना दुर्गापुर में, जो कि पश्चिमी बंगाल में स्थिति है, खोला गया है जिसमें लगभग ११५ करोड़ रुपये के व्यय होने की आशा है। यह कारखाना ऐसे प्रसाधनों से युक्त होगा कि वह हल्की और मध्य श्रेणी की इस्पात तथा पत्रक की वस्तुओं का निर्माण ६.९ लाख टन तक प्रतिवर्ष कर सकेगा।

सरकारी क्षेत्र के समान ही व्यक्तिगत क्षेत्र में भी इस्पात और लोहे का स्थान औद्योगिक योजना में एक बहुत बड़ी महत्ता रखता है। इस उद्योग पर व्यक्तिगत क्षेत्र में लगभग ११५ करोड़ रुपये के विनियोग का विचार किया गया है। प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत क्षेत्र में लोहे और इस्पात उद्योगों के

विस्तार सम्बन्धी विनियोग तथा जो कुछ व्यय द्वितीय योजना के अन्तर्गत किया गया है उस सब का फल १९५८ के मध्य से मिलना प्रारम्भ होगा जबकि टाटा आयरन एण्ड स्टील कम्पनी तथा इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी की संयुक्त उत्पादन शक्ति वर्तमान १२.५ लाख टन के स्थान पर २३ लाख टन के लगभग हो जायगी।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने इस्पात और लोहे के उत्पादन के बढ़ाने पर उचित ही ध्यान दिया है। इस्पात अधिक मात्रा में औद्योगीकरण का आधार है और इस्पात के उत्पादन की वृद्धि औद्योगिक उन्नति के लिये अत्यन्त आवश्यक है। लोहे का उत्पादन बढ़ाने में सरकारी क्षेत्र पर बहुत अधिक विश्वास है। २८ मई, १९५५ को केन्द्रीय सरकार ने लोहे और इस्पात के लिये एक मंत्रालय की नियुक्ति की जिस पर लोहे और इस्पात के उत्पादन सम्बन्धी सरकारी कार्यों का तथा सरकारी फाउन्ड्रीयों की देखभाल का भार रक्खा गया। कुछ लोगों के मत में यह अधिक अच्छा होता यदि इस्पात के उत्पादन में वृद्धि करने का भार मुख्य रूप से वर्तमान उत्पादकों के ऊपर ही छोड़ दिया गया होता क्योंकि उन्हें इस बात का आवश्यक अनुभव था और सम्भवतः वे अधिक शीघ्रता से और कम लागत पर उत्पादन की वृद्धि करने में सफल भी हुये होते।

सीमेन्ट उद्योग

सीमेन्ट के उत्पादन में भारत ने उल्लेखनीय प्रगति की है। १९४८ में केवल १५ लाख टन का उत्पादन था जो १९५७ में बढ़ कर ५६ लाख टन हो गया। १९५२ में भारत में केवल २३ फैक्ट्रियाँ थीं, जिनकी उत्पादन शक्ति ३७·६ लाख टन थी। १९५७ में २६ फैक्ट्रियाँ थी जिनकी स्थापित सामर्थ्य ६६·३ लाख टन थीं। भारतीय सीमेन्ट उद्योग की वास्तविक उत्पादन शक्ति में नइ फैक्ट्रियों की स्थापना तथा पूर्व की फैक्ट्रियों के विस्तार के कारण वृद्धि हुई है। सीमेन्ट उद्योग को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है; (१) भूतकाल में उत्पादन की मात्रा उनकी वास्तविक उत्पादन शक्ति से बहुत कम थी और १९५० में जब कि वास्तविक उत्पादन शक्ति ३१·२ लाख टन थी उस समय उत्पादन केवल २६·१ लाख टन था। परन्तु इधर हाल में इस दोष का किसी सीमा तक निराकरण कर दिया गया है; (२) बहुत फैक्ट्रियाँ अनुकूलतम उत्पादन शक्ति से बहुत नीचे स्तर पर हैं, नवीन फैक्ट्रियाँ उपयुक्त आकार की हैं और श्रेष्ठतम यन्त्रों का प्रयोग कर रही हैं। (३) सीमेन्ट उद्योग को आवश्यक संख्या में मालगाड़ी के डिब्बे नहीं प्राप्त होते जिनसे कच्चा माल लाया जा सके और तैयार सीमेन्ट उपभोग केन्द्रों को शीघ्रता पूर्वक भेजा जा सके, और (४) सीमेन्ट का नियंत्रित मूल्य सब फैक्ट्रियों के

दृष्टिकोण से न्यायोचित नहीं रहा है, क्योंकि अन्य फैक्ट्रियों से तन्तनारों जो अधिक व्यवस्थित थीं कुछ फैक्ट्रियों का उत्पादन व्यय अधिक रहा है ।

इधर हाल में स्थिति में घोर परिवर्तन हुआ है। सीमेन्ट दुर्लभ ही नहीं वरन् बहुत मंहगा भी हो गया है। इस बात को विचाराधीन करते हुये सरकार ने सीमेन्ट का क्रय विक्रय अपने हाथों में ले लिया है और उसके लिये एक विक्रय मूल्य १ जुलाई १९५६ से लागू कर दिया है। सब सीमेन्ट के उत्पादकों को अब अपना सीमेन्ट स्टेट ट्रेडिङ्ग कारपोरेशन आफ इन्डिया (प्राइवेट लि०) के हाथ फैक्ट्री के बाहर उपभोग केन्द्रों तक पहुँचाने में लगे रेलवे के किराये के आधार पर नियत मूल्य पर बेचना होगा। यह कारपोरेशन सीमेन्ट १०२ रु० ८ आने प्रति टन के मूल्य पर बेचता है। मई १९५७ में सीमेन्ट पर लगा उत्पादन कर ५ रु० प्रति टन से बढ़ाकर २० रु० प्रति टन कर दिया गया। सीमेन्ट का मूल्य भी इतना ही बढ़ गया।

देश के विभाजन के फलस्वरूप कुछ सीमेन्ट की फैक्ट्रियाँ पाकिस्तान में चली गईं। यही कारण था कि १९४७ में उत्पादन घट कर १५ लाख टन हो गया जब कि १९४५ में २२ लाख टन था। परन्तु देश ने बहुत शीघ्र ही विभाजन के प्रभावों से मुक्ति पा ली और उत्पादन में वृद्धि आरम्भ हो गई जो आज तक निरन्तर चल रही है। युद्धोत्तर काल में सीमेन्ट उद्योग की विकास सम्बन्धी उल्लेखनीय विशेषताएँ यह हैं; (१) १९३९ में सीमेन्ट उद्योग प्रायः मध्य प्रदेश और मध्य भारत में ही केन्द्रित था। परन्तु एसोशियेटेड सीमेन्ट कम्पनी द्वारा युक्तिकरण की योजना के लागू किये जाने के फलस्वरूप कुछ फैक्ट्रियों को नये स्थानों पर स्थापित किया गया। युद्धोत्तर काल में इस उद्योग का विकास अधिक सन्तुलित ढंग पर हुआ और नवीन स्थानों पर कारखाने स्थापित हुये। इसका परिणाम यह हुआ कि सीमेन्ट के कारखाने सम्पूर्ण देश में फैले हैं। इससे देश के विभिन्न भागों में प्राप्त होने वाले कच्चे माल का भी उचित प्रयोग सम्भव हो गया है। साथ ही यातायात में बहुत सा व्यर्थ व्यय जो उद्योग के किसी एक स्थान पर केन्द्रित होने के कारण करना पड़ता वह भी बच गया। (२) भूत काल में सिमेन्ट उद्योग व्यक्तिगत उपक्रम था, परन्तु अब सरकार ने भी इस उपक्रम में भाग लेना आरम्भ कर दिया। मैसूर राज्य की फैक्ट्री के अतिरिक्त, जिसकी उत्पादन शक्ति ३६ हजार टन से बढ़ा कर ६० हजार टन कर दी जायगी, उत्तर प्रदेश की राजकीय फैक्ट्री पिपरी में स्थापित की है जिसकी उत्पादन शक्ति २½ लाख की है। (३) भूतकाल में अधिकाँश कारखाने ८००० टन ही के अनार्थिक से भी कम उत्पादन वाले थे। परन्तु हाल में जो कारखाने स्थापित किये गये हैं वे आर्थिक

दृष्टि से उपयुक्त हैं और प्रायः सभी कम मात्रा में उत्पादन करने वाले कारखानों ने अपनी उत्पादन शक्ति में वृद्धि की है।

सीमेन्ट की आन्तरिक माँग उसकी पूर्ति से अधिक होगई। देश में उत्पादन की वृद्धि के अलावा १९५६ के प्रारंभ में यह निश्चय किया गया कि उस वर्ष विदेशों से ७ लाख टन सीमेन्ट का आयात किया जाय। राज्य-व्यापार निगम (State Trading Corporation) ने इस मात्रा के आयात के लिये दृढ़ व्यवस्था कर रखी थी किन्तु बीच में स्वेज का संकट उपस्थित हो जाने पर १९५६ में केवल १०८,००० टन सीमेन्ट ही आ सका। १९५७ में ३२१,००० टन सीमेन्ट और आया। १९५८ में आयात और कम होगा। इसका कारण विदेशी विनियम का संकट तथा देश में उत्पादन का तीव्रता से बढ़ना है।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम योजना में यह प्रस्ताव किया गया था कि सिमेंट के कारखानों की संख्या १९५०-५१ में २१ से बढ़ाकर १९५५-५६ में २७ कर दी जाय। साथ ही इनकी ३३ लाख टन की उत्पादन शक्ति तथा २७ लाख टन उत्पादन बढ़ाकर १९५५-५६ में क्रमशः ५३ लाख टन और ४८ लाख टन कर दिया जाय। मध्य प्रदेश, मध्यभारत और ट्रावनकोर कोचीन में सिमेंट के कारखानों को अनुगणित शक्ति में वृद्धि का कोई नियोजन नहीं किया गया। उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और बम्बई में नवीन कारखाने खोले जाने वाले थे। बिहार, राजस्थान और मद्रास के कारखानों की शक्ति में वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक था जो पूर्व के कारखानों में अतिरिक्त नवीन मशीनों के प्रयोग से ही सम्भव था। इस कार्य के करने में प्रधान कठिनाई धन के अभाव की थी। कारखानों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि करने और उन्हें १½ लाख टन प्रति वर्ष उत्पादन करने योग्य बनाने के लिए बहुत अधिक मात्रा में धन की आवश्यकता है। उत्तर प्रदेश की सिमेंट फैक्ट्री की स्थापना में, जो कि मिर्जापुर जिले में चुर्क में है, ४½ करोड़ रुपये की लागत लगी थी। उसकी उत्पादन शक्ति २·५२ लाख टन प्रतिवर्ष की है। यद्यपि उत्तर प्रदेश की फैक्ट्री का कुल व्यय सरकारी कर्मचारियों की अनुभवहीनता के कारण बहुत अधिक हो गया है, फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत की वह सर्वोच्चम फैक्ट्रियों में से एक है।

प्रथम योजना में अनुगणित उत्पादन-शक्ति तथा वास्तविक उत्पादन के लक्ष्य पूर्ण नहीं हो पाये थे, परन्तु काफी हद तक सफलता अवश्य मिली थी। १९५५-५६ में सीमेंट की उत्पादन शक्ति और उत्पादन क्रमशः ४७·४ लाख टन और ४४ लाख टन थी जबकि प्रथम योजना में क्रमशः ५३ लाख टन और ४८ लाख टन का लक्ष्य था। देश के औद्योगीकरण में उन्नति हो जाने पर सीमेंट

की माँग में वृद्धि होगी। इसलिये द्वितीय योजना ने १९६०-६१ तक उत्पादन शक्ति को १६० लाख टन तक (जिसमें से ५ लाख टन सरकारी क्षेत्र में बढ़ेगा) और वास्तविक उत्पादन को १३० लाख टन बढ़ाने का लक्ष्य बनाया है। अब तक भारत सरकार द्वारा ५४ स्कीम जिनमें २५ नई हैं तथा २९ वर्तमान उत्पादन इकाइयों के विस्तार से सम्बन्धित हैं, मंजूर की गई हैं। यह स्कीम प्रगति के विभिन्न स्तरों पर हैं। इनमें से १५ स्कीम (४ नई तथा ११ विस्तार सम्बन्धी) जिनकी कुल उत्पादन शक्ति १८ लाख टन है १९५८ के अन्त तक पूरी हो जाँयगी। १९५९ के अन्त तक ११ और स्कीम पूरी हो जाँयगी तथा आशा की जाती है कि इस समय तक कुल उत्पादन शक्ति १०४ लाख टन हो जायगा। शेष स्कीम १९६०-६१ तक पूरी होगी।

कागज उद्योग

वर्तमान समय में भारत में कागज की १९ मिलें हैं जिनकी स्थापित उत्पादन शक्ति २५०,००० टन है। कागज उद्योग को १९२५ से १९४७ तक संरक्षण दिया गया था। इस उद्योग ने निःसन्देह उल्लेखनीय प्रगति की। १९५२ में भारत में केवल ६ मिलें थीं जिनकी उत्पादन-शक्ति २७ हज़ार टन थी। १९५६ में २१ मिलें थी तथा उनकी उत्पादन शक्ति २११,९०० टन थी। १९५७ में मिलों की संख्या घटकर १९ होगई क्योंकि उत्पादन की दो इकाइयाँ जो बन्द सी ही थीं सूची में से हटा दी गई। किन्तु विस्तार की योजनाओं के पूरी हो जाने के कारण उद्योग की स्थापित उत्पादन शक्ति बढ़कर २½ लाख टन हो गई है। कागज़ उद्योग की तीन श्रेणियाँ हैं (१) कागज़ और पट्टा, (२) अखबारी कागज़ की सूखी दफ्ती तथा अन्य प्रकार की दफ्तियाँ। कागज़ तथा पट्ठे के उत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। सूखी दफ्तियों तथा अन्य प्रकार की दफ्तियों के उत्पादन में विशेष प्रगति हुई है। परन्तु देश में अखबारी कागज़ का बहुत अभाव है। भविष्य में कागज़ उद्योग का विकास करते समय अखबारी कागज़ के उत्पादन में वृद्धि करने की समस्या पर विशेष ध्यान देना पड़ेगा। युद्ध के उत्तर काल में (अ) यह उद्योग नवीन स्थानों पर भी आरम्भ हो गया है और अधिकाँश प्रदेशों में आज कागज़ बनाने वाली मिल हैं, (ब) अब अनेक प्रकार के कागज़ तथा दफ्तियों का उत्पादन होने लगा है यहाँ तक की डूप्ले और ट्रिप्ले दफ्तियों तथा क्राफ्ट लपेटने के कागज़ के उत्पादन में तो विशेष प्रगति हुई है।

कागज उद्योग की उल्लेखनीय विशेषता यह है कि उत्पादन शक्ति की बहुत अधिक प्रतिशत मात्रा का उत्पादन हुआ है। १९४८, १९४९ और १९५० में क्रमशः ९७,००० टन, १०३,२०० टन और १०८,९१२ टन का उत्पादन

हुआ था जो कि उत्पादन शक्ति का लगभग ८६%, ६४% और ८३% होता है। १९५७ में २१०,१२५ टन का उत्पादन हुआ जो कि उत्पादन शक्ति का ८३% था। यह सब होते हुये भी कागज उद्योग को श्रमिकों के झगड़े तथा पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल के न्यायोचित मूल्य पर न मिल सकने की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है और निम्न स्तर के कोयले का जिसके लिये इन्जनों के बायलर अनुपयुक्त हैं, प्रयोग करना पड़ता है। बाँस और घास के मैदानों के न्यायोचित मूल्य पर दीर्घकालीन पट्टों पर न उठाये जाने के कारण हानि उठानी पड़ी है। इसके अतिरिक्त जब से रेल विभाग ने अपनी अधिमान्य पद्धति (Preferential System) को माल के यातायात सुविधा के सम्बन्ध में परिवर्तित कर दिया है कागज़ उद्योग को जो प्रधानता मिलनी थी उसका अन्त हो गया है और अन्य विभिन्न प्रकार की वस्तुओं के साथ उसे भी यातायात सुविधा पाने में प्रतीक्षा करनी पड़ती है। इन कठिनाइयों के कारण ही कागज़ उद्योग की उत्पादन लागत तथा उत्पादन मात्रा कम हो गई है।

कच्चा माल—कागज़ और पट्टा अथवा दफ्ती उद्योग अपने कच्चे माल के लिये बाँस और सबई घास का उपयोग करता है। इसके अतिरिक्त कुछ कारखाने चिथड़े, रद्दी कागज, चीनी की सीठी इत्यादि का उपयोग करते हैं। भारत में ऐसे कच्चे माल का कुछ अभाव नहीं, परन्तु उद्योग के उपयोग के लिये इनकी पूर्ति का संगठन करने की आवश्यकता है। कागज उद्योग में अनेक रसायनों जैसे चूना, कास्टिक सोडा, सोडा ऐश, क्लोरीन, गंधक आदि का भी उपयोग किया जाता है। गंधक को छोड़ कर अन्य सब रसायनिक भारत में ही मिल जाते हैं। कुछ सीमा तक कास्टिक सोडा और सोडा ऐश का विदेशों से आयात करना पड़ता है। मध्य प्रदेश के कागज के कारखाने सबाई की लकड़ी का प्रयोग करते हैं। परन्तु इसके साथ ही चीड़, देवदार, और एक प्रकार के सरो के वृक्ष की कोमल लकड़ी का भी उपयोग किया जा सकता है जिसकी भारत में बहुतायत है। यदि मुलायम लकड़ी के वनों का विकास किया जाय, लकड़ी को कारखानों तक पहुँचाने के लिये यातायात की उचित व्यवस्था की जाय और एक कारखाना अखबारी कागज और केमिकल पल्प बनाने के लिये स्थापित किया जाय तो अखबारी कागज उद्योग के लिये आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति को बढ़ा सकना सम्भव है। कच्चे माल की पूर्ति के सम्बन्ध में योजना आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये थे; (१) कागज उद्योग के काम आने वाले पेड़ों के वनों की सुरक्षा की जाय और इनका उपयोग कर सकने के लिये उद्योग को दीर्घकालीन पट्टे के अधिकार दिये जाँय; (२) बाँस और सबई घास के सारे देश में एक तर्क संगत आधार पर मूल्य

निर्धारित किये जाँय जिससे उद्योग को कच्चा माल निरंतर प्राप्त हो सके। राज्य सरकारों के हितों की रक्षा करने के लिये कच्चा माल एक निश्चित मूल्य पर उद्योगों को दिया जाय और इसके साथ ही उनके तैयार माल की विक्रय मूल्य से सम्बन्धित प्रव्याजि (premium) की कोई मात्रा लाभांश में से उनसे वसूली जाय; (३) यातायात की सुविधा के लिये जंगलों में सड़कें बनाई जाँय; और (४) कपड़ों की कतरन, पटसन और जूट तथा रद्दी कागज का निर्यात बिल्कुल बन्द कर दिया जाय।

यह खेद की बात है कि वन विकास के संबन्ध में राज्य सरकारों की कोई सुसंबद्ध नीति नहीं है और कागज की मिलों को जंगल पट्टे पर देने में बहुत अधिक मूल्य वसूल करती हैं। रेल परिवहन के भाड़े की दर भी अधिक है। भारत सरकार पुराने अखबारों की रद्दी के आयात पर भारी आयात कर वसूल करती है और अपनी रद्दी का स्टाक बिना किसी बात का ध्यान किये ठेकेदारों को बेच देती है, जो उसे पैकिंग इत्यादि के लिए बाजार में बेच देते हैं। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की नीति में परिवर्तन करने से उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में दिया जा सकता है।

योजना के अन्तर्गत—विभिन्न कागज की मिलों के प्रसार कार्यक्रम को लागू करने से यह आशा की जाती है कि प्रथम योजना काल में उद्योग की उत्पादन शक्ति २११,००० टन कागज और दफ्तियाँ और ३०,००० टन अखबारी कागज की हो जायगी और १६५५-५६ तक २००,०००टन कागज और दफ्तियाँ और २७,००० टन अखबारी कागज का वास्तविक रूप से उत्पादन हो जायगा। भूसे इत्यादि से बनने वाली दफ्तियों के उत्पादन संबन्ध में अनुमानतः १६५५-५६ तक उद्योग की वार्षिक उत्पादन शक्ति ५८,५०० टन हो जायगी और वास्तविक उत्पादन ५२,००० टन होगा।

कागज और कागज की दफ्तियों के उद्योग के संबन्ध में प्रथम योजना के लक्ष्य लगभग पूरे हो गये। अखबारी कागज का उत्पादन करने वाली सर्वप्रथम मिल ने १६५५ में कार्य आरंभ किया। यद्यपि इसका उत्पादन अभी बहुत कम है पर आशा की जाती है कि जब यह मिल शक्ति भर उत्पादन करेगी तब ३०,००० टन अखबारी कागज का उत्पादन संभव हो सकेगा। द्वितीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि १६६०-६१ तक स्थापित उत्पादन शक्ति तथा कागज और कागज की दफ्तियों का वास्तविक उत्पादन बढ़ा कर क्रमशः ४·५ लाख टन और ३·५ लाख टन कर दिया जाय और अखबारी कागज के स्थापित उत्पादन शक्ति तथा वास्तविक उत्पादन बढ़ाकर ६०,००० टन तक कर दिया जाय। द्वितीय योजना के

उत्पादन लक्ष्य को पूर्ण कर सकने के लिये यह आवश्यक होगा कि (१) कागज उद्योग के कार्य को सरलता से चलाने के लिये देश का आर्थिक वातावरण अनुकूल बनाया जाय, (२) कच्चे माल तथा तैयार माल के यातायात के लिये मालगाड़ी के डिब्बों की पूर्ति बढ़ाई जाय, और (३) कच्चे माल की पूर्ति बढ़ाई जाय। भारत में चीनी उद्योग के पूर्ण रूप से विकसित अवस्था में होने के कारण गन्ने की सीठी का कागज बनाने के लिए प्रयोग बड़े लाभ के साथ किया जा सकता है। १६५५ के अन्त में जर्मनी के विशेषज्ञों का एक दल भारत में इस विषय का परीक्षण करने तथा रिपोर्ट देने के लिये आया था। पश्चिमी जर्मनी की एक फर्म से सीठी पर आधारित १०० टन प्रतिदिन का उत्पादन करने वाली उत्पादन इकाई की स्थापना पर बातचीत चल रही है।

अन्य उद्योगों की भाँति कागज उद्योग के उत्पादन के प्रकार तथा उत्पादन व्यय कम करने के लिये उपाय करना अत्यन्त आवश्यक है। योजना आयोग ने यह अभिस्ताव किया है कि कागज उद्योग को अपने उत्पादन की प्रविधि को आधुनिक बनाना चाहिये जिससे वह निम्न लक्ष्यों को प्राप्त कर सके; (१) ईंधन तथा कच्चे माल के प्रयोग में कमी करके कागज की उत्पादन लागत में कमी, और (२) विभिन्न प्रकार के कागजों, विशेपकर रैपिंग और क्राफ्ट कागज, की प्रकार में उन्नति। यदि यह सुधार सम्भव हो सके तो कागज उद्योग में स्थायित्व आ जायगा।

अध्याय २०

छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योग

भारत की औद्योगिक व्यवस्था में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले और कुटीर उद्योगों का स्थान सदा से ही महत्वपूर्ण रहा है। शिल्पकारों की एक बहुत बड़ी सख्या सदैव इन उद्योगों पर ही अपनी जीविका के लिये निर्भर रही है। परन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योगों को भारत में बेकारी की कठिन समस्या को हल करने के साधन के रूप में रख कर इनकी ओर अधिक ध्यान आकर्षित किया है। इसके पूर्व कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम पर विचार करें यह आवश्यक होगा कि इन उद्योगों की कठिनाइयों का परीक्षण किया जाय।

उद्योगों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है; (१) बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाले अथवा बड़े उद्योग, (२) छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले अथवा छोटे उद्योग, (३) कुटीर उद्योग। इन उद्योगों को विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया गया है। एक मत के अनुसार कुटीर उद्योग वे उद्योग हैं जो शिल्पियों द्वारा स्वयं अपने आप ही अथवा किसी कारखानेदार के निर्देशन में घर-पर ही किये जाते हैं। यदि कार्य छोटे कारखाने में किया जाता है और उसका निर्देशन उद्योगपति द्वारा किया जाता है तो उसे एक छोटा उद्योग कह सकते हैं चाहे शक्ति संचालित मशीनों का प्रयोग न भी किया जाय। एक अन्य मत के अनुसार घरेलू उद्योग वह है "जो अंशतः अथवा पूर्णतः परिवार के ही सदस्यों की सहायता से चलाया जाता है चाहे वे सम्पूर्ण दिन कार्य करें या थोड़ी देर ही नित्य कार्य करें"। श्री चिन्तामणि देशमुख के मतानुसार "घरेलू उद्योग" प्रायः हम उन सब उत्पादन के उपक्रमों को कहते हैं जो बड़े-बड़े व्यवस्थित कारखानों के अतिरिक्त हैं। जो व्यक्ति इन उपक्रमों में लगे हुये हैं मुख्यतः अपने ही प्रयत्न और कौशल पर निर्भर रहते हैं, सीधे-सादे औज़ारों का प्रयोग करते हैं और अपने घर पर ही कार्य करते हैं। विशिष्ट आवश्यकताओं के कारण इस प्रकार के कुछ उद्योग हाल में आरम्भ हुये हैं। ये उद्योग प्रधानतः परम्परागत हैं और वर्तमान उत्पादन प्रविधि से स्पर्धा करते हुये अपनी रक्षा में प्रयत्नशील हैं। छोटे पैमाने पर उत्पादन करने वाले उद्योग "घरेलू तथा ग्राम्य उद्योगों से इस अर्थ में भिन्न हैं कि उनको संचालित करने वाले उद्योगपति होते हैं जो पारिश्रमिक पर रक्खे हुये श्रमिकों से कार्य लेते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं को विचाराधीन रखते हुये हम यह कह सकते हैं कि घरेलू उद्योग की निम्न विशेषतायें हैं, (१) ऐसे उद्योगों को घर पर ही बिना श्रमिकों की सहायता के स्वयं चलाया जाता है, (२) इनमें परम्परागत ढंग का ही अनुसरण किया जाता है, और (३) इनका स्वतंत्र तथा पूर्ण समय का कार्य होना आवश्यक नहीं है; ये कृषि तथा किसी अन्य व्यवसाय के सहायक हो सकते हैं। छोटे उद्योग अथवा थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की मुख्य विशेषता यह है कि ये कार्य करने वालों के घर में नहीं चलाये जा सकते और कार्यकर्त्ता के आवश्यक स्रोत नितान्त सीमित होते हैं। थोड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १० से ५० तक सीमित है। हमारे देश में उपर्युक्त दोनों वर्गों में आनेवाले अनेक उद्योग हैं जैसे कर्घा, ऊन, रेशम, गुड़, राब, तेल पेरने, ताले बनाने के कार्य इत्यादि। इन उद्योगों में काम में सहायता देने वाले परिवार के सदस्यों और समय पर इनमें कार्य करने वाले उन व्यक्तियों की संख्या को छोड़कर जो कृषि आदि अन्य मुख्य व्यवसाय में संलग्न है, लगभग २० लाख व्यक्ति कार्य करते हैं। इन दोनों प्रकार के उद्योगों का ग्रामों और नगरों दोनों में ही पूर्ण अथवा आंशिक समय के लिये अनुसरण किया जाता है। हैण्डी क्रैफ्ट का उद्योग जैसे बेल-बूटे काढ़ने का कार्य, पीतल का कार्य, रेशम बनाने का कार्य इत्यादि पूर्ण समय के कार्य हैं और इन कार्यों में संलग्न व्यक्तियों ने उत्कृष्ट क्षमता भी प्राप्त कर ली है।

लाभ—(१) घरेलू उद्योग और छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों का सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि वे बहुत बड़ी संख्या में कार्य का अवसर प्रदान करते हैं। कितने व्यक्ति कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों में कार्य करते हैं और वे कितना कितना उत्पादन करते हैं इस सम्बन्ध में ठीक ठीक आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। राष्ट्रीय आय समिति ने यह अनुमान लगाया था कि १९५०-५१ में छोटे उद्योगों का उत्पादन ९१० करोड़ रुपये का हुआ था और लगभग ११५ लाख व्यक्ति उनमें कार्य करते थे जबकि फैक्ट्रियों में लगभग ३० लाख व्यक्ति कार्य करते थे और उनके कुल उत्पादन का मूल्य लगभग ५५० करोड़ रुपया था। इन छोटे उद्योगों में कुटीर उद्योग भी सम्मिलित थे पर वे छोटे छोटे कारखाने जो फैक्ट्री एक्ट के अंतर्गत आते थे। इनमें सम्मिलित नहीं किये गये थे। समिति ने उन्हें फैक्ट्रियों में सम्मिलित किया था। यदि हम इन छोटे छोटे कारखानों को भी घरेलू और छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों में सम्मिलित कर लें और हाल में जितने लोग इनमें कार्य कर रहे हैं उनकी बढ़ी हुई संख्या को भी विचाराधीन रख लें तो कुल कार्य करने वालों की संख्या लगभग २०० लाख और

कुल वार्षिक उत्पादन का मूल्य लगभग १२०० करोड़ रुपये के हो जायेगा। पर यह सब गणना अनुमान मात्र है इसलिये विश्वस्त नहीं कही जा सकती। इन आँकड़ों से घरेलू और छोटे उद्योगों के विस्तार और भावी सम्भावना का ही कुछ अनुमान ही मिल सकता है।

(२) कुटीर उद्योग की यह विशेषता है कि इसमें मूल्यवान् मशीनें नहीं लगाई जाती हैं, इसके लिये किसी बड़ी इमारत इत्यादि की आवश्यकता नहीं होती है इसलिये इसको चलाने में अधिक पूँजी नहीं लगानी पड़ती। भारत में पूँजी का अभाव है और हमें कुछ ऐसे उद्योगों की आवश्यकता है जिनमें पूँजी कम लगे और श्रमिक अधिक।

(३) इसके विपरीत बड़े पैमाने के उद्योग में वैज्ञानिक और टेकनिकल ज्ञान की विशेष आवश्यकता होती है। परन्तु वर्तमान समय में (टेकनिशियन) प्राविधिज्ञों का भारत में अभाव है। कुटीर तथा छोटे पैमाने के उद्योगों में यही लाभ है कि इनमें अधिक प्राविधिक (टेकनिकल) ज्ञान और प्रविधिज्ञों की आवश्यकता नहीं होती है।

(४) छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों की तरह किसी विशेष स्थान पर केन्द्रित नहीं हैं बल्कि सम्पूर्ण देश में विस्तृत हैं। इनमें इमारत, सफाई, स्वास्थ्य इत्यादि की समस्या नहीं होती है, जिनका बड़े पैमाने के उद्योगों को सामना करना पड़ता है। इसके साथ ही युद्ध के समय इनके विनाश का भय भी कम रहता है। बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के उद्योगों का तुलनात्मक अध्ययन करते समय और इनके लाभ-हानियों का विवेचन करते समय हमें उक्त सामाजिक व्यय का भी विचार करना चाहिये।

(५) बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा छोटे पैमाने और कुटीर उद्योगों में रोजगार में अस्थिरता बहुत कम होती है। हमारे देश के ग्रामीण व्यक्तियों का मुख्य उद्यम कृषि करना है और वे सहायक व्यवसाय के रूप में रस्सी बनाने, गुड़ बनाने, कपड़ा बुनने इत्यादि कार्यों को करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि इन सहायक उद्योगों में मंदी आ जाय तो श्रमिक अथवा कारीगर को उतनी अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ेगा जितना किसी औद्योगिक श्रमिक को मंदी के कारण नौकरी छूट जाने पर करना पड़ता है।

कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों से बड़े पैमाने के उद्योगों की अपेक्षा कुछ अधिक लाभ होते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न प्रकार के उद्योगों को कौन सा स्थान देना चाहिए। वित्त आयोग (१९४९-५०) के अनुसार इस सम्बन्ध में निम्नलिखित बातों पर विचार करना आवश्यक है;

(१) उद्योग के प्रकार,

(२) उद्योग में टेकनिकल व्यवस्था,

(३) उद्योग के संगठन के लिए आवश्यक श्रम और पूँजी,

(४) आर्थिक दृष्टि से उत्पादन का किस सीमा तक उचित इकाइयों में विकेन्द्रीकरण किया जा सकता है केवल व्यक्तिगत व्यय को ही नहीं वरन् सामाजिक व्यय को भी विचाराधीन रखते हुए।

जहाँ तक उद्योग के प्रकार का प्रश्न है उसे तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है; (१) ऐसे उद्योग जिनमें बड़ी मात्रा में उत्पादन करने से कुछ निश्चित लाभ है और जिनको छोटे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता है, जैसे लोहा और इस्पात उद्योग, सीमेंट, भारी रसायनिक और खदान उद्योग इत्यादि। इन उद्योगों को कुटीर में अथवा छोटे पैमाने पर नहीं चलाया जा सकता है इसलिए इस क्षेत्र में चुनाव का प्रश्न ही नहीं उठता है; (२) ऐसे उद्योग जिनका छोटे पैमाने पर उत्पादन करके कुछ निश्चित लाभ उठाया जा सकता है, जैसे ताला मोमबत्ती, बटन, चप्पल, खाद्यान्न इत्यादि उद्योग। इनमें से कुछ में छोटे पैमाने पर उत्पादन करने में उत्पादन व्यय कम होता है। खाद्यान्न के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि जब वस्तुएँ हाथ से तैयार की जाती हैं तो उनमें पौष्टिक तत्व अधिक रहते हैं; (३) ऐसे उद्योग जिन्हें बड़े और छोटे पैमानों पर चलाया जा सकता है। इन उद्योगों के सम्बन्ध में चुनाव का प्रश्न उठता है।

टेकनिकल व्यवस्था के आधार पर उद्योग को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) ऐसे उद्योग जिनमें बड़े पैमाने के उद्योगों और कुटीर तथा छोटी मात्रा के उद्योगों में कोई प्रतियोगिता नहीं है, जैसे मधु मक्खी पालन, गुड़ बनाना तथा अन्य दस्तकारी के कार्य इत्यादि। (२) ऐसे उद्योग जिनमें छोटी मात्रा के और कुटीर उद्योग बड़े पैमाने के उद्योगों के सहायक हैं; इनमें उन वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है जिनकी बड़े पैमाने के उद्योगों को अपनी उत्पादन प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिये आवश्यकता होती है। बड़े पैमाने के उद्योग अनेक छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन स्वयं न कर छोटे उद्योगों के उत्पादन में सहायता देते हैं या उत्पादन की लम्बी प्रक्रिया में कुछ अंशों का उत्पादन छोटे उद्योगों में किया जाता है, और (३) ऐसे उद्योग जिनमें बड़े पैमाने के और छोटे पैमाने के उद्योगों में प्रतियोगिता होती है, जैसे, कर्घों में बुना कपड़ा, खाण्डसारी चीनी, चमड़े का सामान इत्यादि। प्रथम वर्ग के अंतर्गत आने वाले उद्योगों के सम्बन्ध में कोई समस्या नहीं है परन्तु दूसरे वर्ग के अन्तर्गत छोटे तथा बड़े पैमाने के उद्योगों में परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित करके इनकी किसी भी

समस्या को सुगमता पूर्वक सुलझाया जा सकता है। तीसरे वर्ग के उद्योगों के सम्बन्ध में वास्तविक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

कठिनाइयाँ

कच्चे माल, उत्पादन की प्रविधि, वित्त, विक्रय, कर इत्यादि के सम्बन्ध में कुटीर और छोटे पैमाने के उद्योगों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इन उद्योगों को प्रायः उन वस्तुओं की आवश्यकता होती है जिनका बड़े उद्योगों में उत्पादन किया जाता है। कर्घा उद्योग पूर्णतया सूती मिल द्वारा उत्पादित सूत पर निर्भर करता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सूत मिलने में बहुत कठिनाई हुई, क्योंकि जितने सूत का उत्पादन किया जाता था उसका अधिकांश मिलों की ही आवश्यकता पूर्ति में लग जाता था। उस समय अधिकतर मिलों में कताई और बुनाई साथ-साथ होती थी। केवल कताई करने वाली मिलों की संख्या बहुत कम है। कर्घा उद्योग को अधिक सूत उपलब्ध कराने के लिए सूत की कताई करने वाली कुछ और मिलों की स्थापना की गई हैं और इनमें उत्पादित सूत का कुछ प्रतिशत कर्घा उद्योग के लिए सुरक्षित रखा जाता है। दलालों के कारण कुटीर उद्योग को आवश्यक कच्चे माल का अधिक मूल्य चुकाना पड़ता है। इस कठिनाई को सहकारी समितियों की स्थापना करके दूर किया जा सकता है।

प्रविधि और प्रणाली—इन उद्योगों में जिस ढंग से और जिन साधनों से उत्पादन किया जाता है वह प्राचीन हो चुके हैं और वर्तमान में उनकी उपयोगिता बहुत घट गई है। खोज कार्य करने और कारीगरों के शिक्षण की उपयुक्त व्यवस्था न होने से उत्पादन के प्रकार में बहुत क्षति हुई है। श्रमिकों को उचित शिक्षा देने और उत्पादन के प्रकार में सुधार करने के लिए बहुत थोड़ी ऐसी संस्थाएँ हैं जो अच्छा कार्य कर रही हैं, जैसे अखिल भारतीय ग्राम उद्योग संघ, अखिल भारतीय कताई संघ, खादी प्रतिष्ठान और हाल ही में स्थापित खादी और ग्राम उद्योग विकास बोर्ड।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने, जिसको फोर्ड फाउन्डेशन ने नियुक्त किया था, जिसने छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा कुटीर उद्योगों का अध्ययन करने के लिये तथा उनके पुनरुत्थान के सुझाव देने के लिये भारत का दौरा किया, १९५४ में अपनी रिपोर्ट दी जिसमें उसने यह सिफारिश की कि चार शिल्प कला ज्ञान सम्बन्धी संस्थायें स्थापित की जानी चाहिये जिनकी भौगोलिक स्थिति ऐसी होनी चाहिये कि वे सम्पूर्ण भारत की सेवा कर सकें। भारत सरकार ने यह

सिफारिश स्वीकार करली है। पर खोज का कार्य करेंगी और अपनी खोज के परिणामों को तथा नई उत्पादन विधियों, नये औजारों, और नई प्रविधियों की सूचना उत्पादकों तक पहुँचायेंगी।

कार्य करने वालों को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है जो कि उचित शिक्षा प्रचार तथा प्रत्येक दस्तकारी के लिये स्थानीय परिषद के स्थापित करने से सम्भव हो सकता है।

वित्त व्यवस्था—छोटे उद्योगों और उद्योगपतियों की बड़ी कठिनाइयों में वित्त की कठिनाई प्रमुख है। मशीन और आवश्यक औजार क्रय करने के लिए उसे दीर्घकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। इसके साथ ही कच्चा माल क्रय करने के लिए और पारिश्रमिक इत्यादि चुकाने के लिए अल्पकालीन पूँजी की आवश्यकता होती है। छोटे उत्पादकों में अधिकतर निर्धन हैं और ऋण के लिए आवश्यक प्रतिभूति नहीं दे पाते। साथ ही ऐसे उत्पादकों की आवश्यकताएँ भी कम होती हैं, इन्हें अधिक धन की आवश्यकता नहीं होती है इसलिए बड़े उद्योगों को वित्तीय सहायता देने वाले व्यवसायी बैंक इनको ऋण इत्यादि देने में कुछ लाभ नहीं समझते। बहुत कम ऐसी संस्थाएँ हैं जिनसे इन उत्पादकों को वित्त की सहायता मिल सकती है। इन्हें अधिकतर ग्रामीण साहुकारों और कारखानादारों पर निर्भर करना पड़ता है। कारखानेदार इस शर्त पर ऋण देते हैं कि उत्पादित माल उनको बेचा जायगा। उत्पादित माल का मूल्य ऋण देते समय निश्चित कर लिया जाता है। इससे उत्पादक को अपने माल का उचित मूल्य नहीं मिल पाता।

अन्तर्राष्ट्रीय योजना टीम ने यह सिफारिश की कि (१) व्यापारिक बैंकों को अपनी शाखाओं को अधिक ऋण देने की अनुमति देकर इन्हें दिये जाने वाले ऋण की मात्रा बढ़ा देना चाहिये; (२) सहकारी बैंकों को इन उद्योगों की वित्त सहायता करने की ओर और अधिक ध्यान देना चाहिये; (३) प्रत्येक प्रदेश में एक राज्यीय वित्त निगम स्थापित किया जाना चाहिये जिसके कोष को इन छोटे उद्योगों की ही सहायता के लिये सुरक्षित कर देना चाहिये; और (४) वास्तविक सम्पत्ति की प्रतिभूति पर ऋण देने की प्रणाली प्रचलित की जानी चाहिये।

व्यक्तिगत क्षेत्र की वित्त सहायता के लिये शौफ कमेटी ने भी रिजर्व बैंक को जून १६५४ में दी हुई अपनी रिपोर्ट में उन छोटे उद्योगों के विषय में विचार किया है जिनकी सम्पत्ति १० हज़ार रुपये और ५ लाख रुपये के अन्दर है। कमेटी ने कृषि के सहायक उद्योगों को अपनी परीक्षण परिधि के अन्दर सम्मिलित नहीं

किया। चालू पूँजी के सम्बन्ध में कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि इन उद्योगों से सरकार द्वारा क्रय किए गये माल के मूल्य का भुगतान करने में देर नहीं होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त कमेटी ने यह भी सिफारिश की कि व्यक्तिगत संस्थाओं द्वारा लिखे हुये इकरारनामों की रजिस्ट्री की फीस भी कम कर देनी चाहिये ताकि उनको बैंकों से ऋण लेने में अधिक सुविधा मिले। दीर्घ कालीन पूँजी की आवश्यकताओं के लिये यह सिफारिश की कि प्रादेशिक सरकारों को इन उद्योगों को 'स्टेट एड टु इण्डस्ट्रीज एक्ट' के अन्तर्गत अधिकाधिक सहायता देनी चाहिये। इसलिये इन उद्योगों को अधिक ऋण देने की सुविधा प्रदान करने के लिये यह आवश्यक होगा कि प्रादेशिक बजट में इस पर व्यय करने के लिये अधिक धन का अनुदान किया जाय और ऋण देने की प्रणाली को अधिक सरल बनाया जाय। कमेटी ने यह सुझाव दिया है कि 'प्रादेशिक वित्त कारपोरेशन' को छोटे उद्योगों को ऋण देना चाहिये। इसके साथ ही उसने यह सिफारिश की कि छोटे उद्योगों की सहायतार्थ एक विशिष्ट विकास निगम की भी स्थापना होनी चाहिये जिसकी प्रारम्भिक शेयर पूँजी ५ करोड़ रुपया हो जो कि भारत के रिजर्व बैंक, व्यवसायिक बैंकों, बीमा कम्पनियों, तथा व्यक्तिगत लोगों द्वारा प्राप्त होनी चाहिये।

बाज़ार—द्वितीय युद्ध के समय और युद्ध के पश्चात् कुछ वर्षों तक बहुत से उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के विक्रय की कोई समस्या नहीं थी क्योंकि माँग पूर्ति से अधिक थी परन्तु फिर भी दलालों के कारण और उत्पादित माल घटिया होने के कारण उत्पादक को अपने परिश्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता था। इधर कुछ वर्षों से इन उद्योगों की विक्रय समस्या गंभीर होती जा रही है। काश्मीर का शाल और बनारस की सिल्क जैसे मूल्यवान् सामानों का उपभोग नहीं हो पा रहा है क्योंकि राजाओं तथा जमींदारों की अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही। राजाओं की गद्दी और जमींदारी का उन्मूलन हो चुका है। जनता की क्रयशक्ति में कमी होने के कारण माँग घट गई है। समस्या यह है कि बाज़ार में उत्पादित माल की माँग बढ़ाई जाय और उचित मूल्य वसूला जाय। माँग में वृद्धि तभी की जा सकती है जब या तो निर्यात किया जाय या बड़े उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के बदले इनका उपभोग किया जाय। कुटीर उद्योगों में उत्पादित माल का उपभोग कनाडा, अमरीका, न्यूजीलैण्ड, आस्ट्रेलिया और मध्य पूर्वी देशों में बढ़ाया जा सकता है। यह देश पूर्व से ही माल क्रय करते रहे हैं और दस्तकारी की वस्तुओं, कलापूर्ण कपड़ों, लाख तथा खेल के सामान इत्यादि के विषय में पूछताछ करते रहे हैं परन्तु इन देशों को बड़ी मात्रा में एक साथ और नमूने के

अनुरूप माल की आवश्यकता है। उत्पादित माल का बड़ी मात्रा में और ठीक नमूने के अनुरूप निर्यात करने के लिए विक्रय समितियों का विकास करने की आवश्यकता है।

राज्य सरकारें छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योगों पर कर कम लगाने की नीति अपनाती हैं। उदाहरणस्वरूप खण्डसारी चीनी पर कारखानों द्वारा उत्पादित चीनी की अपेक्षा कम उत्पादन कर देना पड़ता है। इस समस्या का एक दूसरा पक्ष भी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में यह सुझाव दिया गया है कि छोटे पैमाने के और कुटीर उद्योंगो का विकास करने के लिए बड़े पैमाने के उद्योगों पर कर लगाया जाय। कर्घा उद्योग का विकास करने के लिए ६३ करोड़ रुपया एकत्र करने के लिए सूती मिलों में तीन पाई प्रति गज के हिसाब से यह कर लगा भी दिया गया है। बड़े पैमाने के उद्योगों पर पूर्व ही से बहुत कर लगे हुए हैं यदि यह नया कर और लगा दिया गया तो इससे उद्योग के विकास में बाधाएं उत्पन्न हो जायेंगी। सभी प्रकार के बड़े, छोटे और कुटीर उद्योगों के विकास का उद्देश्य इस प्रकार की कर-नीति से पूर्ण नहीं हो सकता है।

छोटे और कुटीर उद्योगों के सामने विद्युत और यातायात के अभाव की भी समस्या है। इनकी स्थिति सुधारने के लिए सस्ती विद्युत और सस्ते यातायात की सुविधा देना आवश्यक है।

कार्वे कमेटी रिपोर्ट—योजना आयोग ने कार्वे कमेटी, अथवा ग्राम्य उद्योग और छोटे उद्योग कमेटी, की नियुक्ति जून १९५५ में इन उद्योगों की समस्याओं का परीक्षण करने और एक ऐसी योजना प्रस्तुत करने के लिए की जिससे (१) द्वितीय योजना काल में उपभोग की वस्तुओं की बढ़ी हुई मांग का अधिकांश इन्हीं उद्योगों से पूर्ण किया जा सके; (२) उनसे उत्तरोत्तर कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकें और (३) उत्पादन और विनिमय की व्यवस्था सहकारिता के आधार पर व्यवस्थित हो सके।

कमेटी को यह स्पष्ट हो गया था कि ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों की उपेक्षा बहुत दिनों से होती आ रही है। प्रथम योजना में जो उनके प्रति ध्यान दिया गया था वह पर्याप्त न था। प्रथम योजना के परिणामस्वरूप इन उद्योगों के विकास के लिये छः विशिष्ट बोर्डों की स्थापना है। इन बोर्डों ने १९५१-५२ में १४·३२ लाख रुपया व्यय किया था जो कि १९५४-५५ में बढ़कर ९·७३ करोड़ रुपया हो गया और १९५५-५६ में १५·४२ करोड़ रुपया; परन्तु यह भी अपर्याप्त सिद्ध हुआ। कमिटी ने २६० करोड़ रुपये के विनियोग की सलाह दी अर्थात् द्वितीय योजना काल में प्रति वर्ष ५२ करोड़ रुपया व्यय किया जाय।

कार्वे कमेटी ने उन छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले और कुटीर उद्योगों के विकास की सिफारिश की थी जो नित्यकार्य में आने वाली वस्तुओं का उत्पादन करते थे जैसे सूती कपड़े, ऊनी कपड़े; हाथ के कुटे चावल, वनस्पति तेल, गुड़ और खण्डसारी, चमड़े के जूते और दियासलाई इत्यादि। साथ ही रेशम के कीड़े पालना, रेशम बुनना, हथकर्घा उद्योगों की नारियल की जटा का कातना और बुनना, आदि उद्योगों की ओर कमेटी ने अपना ध्यान दिया। कमेटी द्वारा द्वितीय योजना के अन्तर्गत प्रस्तावित कुल २६० करोड़ रुपए के व्यय से आशा की जाती है कि अधिक समय के लिये, थोड़े समय के लिये, पूर्ण समय के लिये और वर्ष के विशेष महीनों के लिये यह उद्योग ५० लाख व्यक्तियों को कार्य करने का अवसर प्रदान करेंगे। कपड़े के उद्योगों को कमेटी ने सब से अधिक महत्ता दी है। इनमें विकेन्द्रित सूत कातने और बिनने का काम भी सम्मिलित है। इस उद्योग पर लगभग कुल व्यय का ४४% अर्थात् ११३ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। आशा की जाती है कि यह उद्योग लगभग ३० लाख व्यक्तियों को कार्य प्रदान कर सकेगा।

कमेटी ने तीन मुख्य ध्येय अपने समक्ष रक्खे थे। (१) द्वितीय योजना काल में यथासम्भव औद्योगिक बेरोज़गारी में वृद्धि न होने देना जो कि प्रायः परम्परागत ग्राम्य उद्योगों में हुआ करती है; (२) अधिक से अधिक संख्या में लोगों को योजना काल में ग्राम्य और छोटे उद्योगों द्वारा कार्य करने का अवसर प्रदान करना; और (३) विकेन्द्रित समाज की स्थापना के लिये एक आधार प्रदान करना तथा वृद्धिमान गति से आर्थिक विकास करने की सुविधा देना। कमेटी ने समृद्धि का जो काल्पनिक चित्र अपने मन में रक्खा था उसको प्राप्त कर लेने के विचार से निम्न सुझाव दिये हैं—

(१) प्रादेशिक सरकारों को सहकारी समितियों को धन तथा प्रत्याभूति द्वारा सहायता देनी चाहिये जिससे वे ग्राम्य और छोटे उद्योगों की अधिक सहायता कर सकें। कमेटी ने रिजर्व बैंक और स्टेट बैंक आफ इण्डिया को ग्राम्य और छोटे उद्योगों की सहायता देने के अनेक ढंगों का सुझाव दिया। उसने यह भी सिफारिश की कि जब तक इन उद्योगों के लिये एक नई संपूरित संस्थागत ऋण की व्यवस्था न हो जाय तब तक अखिल भारतीय बोर्डों, प्रादेशिक वित्तीय निगमों तथा राजकीय विभागों को आवश्यक सहायता देते रहना चाहिये।

(२) प्रादेशिक सरकारों द्वारा दिये हुये अनुदानों का ग्राम्य और छोटे उद्योगों की सहायता करने के स्थान पर कमेटी ने यह अधिक अच्छा समझा कि सरकार द्वारा सहकारिता के आधार पर उत्पादित कुछ वस्तुओं का निम्नतम

मूल्य निश्चित कर दिया जाय जिस पर वे बेची जाँय। मूल्य से कम पर बेचने में जो घाटा हो उसे राज्य को पूरा करना चाहिये।

(३) ग्राम्य और छोटे उद्योगों को विस्तार का अवसर प्रदान करने के विचार से कमेटी ने यह विचित्र सुझाव दिया कि फैक्ट्री उद्योगों के अधिकतम उत्पादन की मात्रा नियत कर देनी चाहिये और जितनी भी माँग इसके उपरान्त बढ़े उसे पूर्णतः अथवा अंशतः ग्राम्य उद्योगों से पूर्ण करना चाहिये।

(४) सभी फैक्ट्री उद्योगों के सम्बन्ध में कमेटी ने एक उपकर आरोपित करने की सिफारिश की जिसका प्रयोग ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास और उत्पत्ति के लिये किया जाय।

(५) कमेटी ने सुझाव दिया कि केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल में एक पृथक मंत्री ग्राम्य और छोटे उद्योगों के लिये नियुक्त किया जाना चाहिये। इस मंत्री को सहयोग देने के लिये मंत्रिमण्डल के सदस्यों की एक कमेटी होनी चाहिये जिसका काम भारत सरकार की औद्योगिक नीति में सामंजस्य स्थापित करना होगा।

समालोचना—कार्वे कमेटी की सिफारिशों में निम्न गंभीर दोष हैं।

(अ) कमेटी ने ग्राम्य और छोटे उद्योगों का आधुनिकीकरण तथा अभिनवीकरण तभी करने की सिफारिश की है जब कि उससे बेकारी न बढ़े परंतु यह असम्भव है।

(ब) मिल उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम सीमा निर्धारित करने का अर्थ यह है कि ग्राम्य और छोटे उद्योग उपयोग की वस्तुओं की बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने में समर्थ होंगे, जो कि जनसंख्या के बढ़ने तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि के कारण होगी। जिन व्यक्तियों को ग्राम्य और छोटे उद्योगों का ज्ञान है वे यह अच्छी प्रकार जानते हैं कि असम्भव है।

(स) कार्वे कमेटी का अन्तर्हित विचार यह है कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों की मिल उद्योगों की स्पर्धा से रक्षा होनी चाहिये और उनको अपने माल को बेचने की स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। परन्तु इस सम्बन्ध में केवल देश के मिल उद्योग का ही विचार नहीं करना है वरन् विदेशी मिलें भी स्पर्धा करेंगी।

(द) कमेटी की इस सिफारिश के फलस्वरूप कि राज्य सहकारिता के सिद्धान्त पर उत्पादित वस्तुओं के क्रय और विक्रय मूल्य का अन्तर सहन करे और एक नया मन्त्रालय स्थापित करे, भारत में राज्यों का व्यय बढ़ जायगा। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक राज्यों के इतने बड़े व्यय तथा आय स्रोतों को देखते हुये इस सुझाव को व्यवहारिक नहीं माना जा सकता।

योजना के अन्तर्गत—यह बड़े सौभाग्य की बात है कि योजना आयोग

और सरकार ने कार्वे कमेटी की सब सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया विवाद ग्रस्त प्रश्न मिल उद्योगों के उत्पादन की अधिकतम मात्रा नियत करने का था, उस पर अभी निर्णय नहीं किया गया है। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि उपकर कुछ उद्योगों पर तो लगा ही दिया गया है और अन्य पर लगाये जाने की सम्भावना है। परन्तु अभी तक तो कार्वे कमेटी की शिफारिशें उस सीमा तक स्वीकार नहीं की गई हैं कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था को असाध्य हानि पहुँच जाय।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में दस उद्योगों के लिये एक योजना निर्माण की गई थी—ग्राम्य तेल उद्योग, नीम के तेल का साबुन बनाना, धान कूटना, खजूर का गुड़ बनाना, गुड़ और खण्डसारी उद्योग, चमड़े का उद्योग, ऊन के कम्बल बनाना, हाथ से अच्छे प्रकार का कागज बनाना, शहद की मक्खी पालना और कुटीर दियासलाई उद्योग। यह योजना इस विश्वास पर निर्माण की गई थी कि इन उद्योगों के विकास कार्यक्रम पर केन्द्रीय सरकार १५ करोड़ रुपया और प्रादेशिक सरकारें १२ करोड़ रुपया व्यय करेंगी। प्रथम योजना काल में जो धनराशि वास्तव में इन उद्योगों पर व्यय की गई है वह ३१·२ करोड़ रुपये है। इसमें से हथकर्घा उद्योग पर ११·१ करोड़ रुपये, खादी पर ८·४ करोड़ रुपये, ग्राम्य उद्योगों पर ४·१ करोड़ रुपये और छोटे उद्योगों पर ५·२ करोड़ रुपये व्यय हुये।

दो बड़े महत्वपूर्ण कार्य प्रथम योजना काल में किये गये। उनमें से एक तो केन्द्रीय सरकार द्वारा ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास के लिए एक बड़ी मात्रा में धनराशि का अलग निकाल देना था और दूसरा विभिन्न उद्योगों के लिये अखिल भारतीय बोर्डों की स्थापना था। केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों द्वारा विशेष ध्यान देने के कारण, तथा अखिल भारतीय बोर्डों की कार्य परिधि के विस्तृत हो जाने के कारण, अनेकों उद्योगों का उत्पादन तथा उनमें कार्य करने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है।

तीसरी महत्वपूर्ण बात सरकार द्वारा स्टोर्स परचेज कमेटी की उन सिफारिशों की स्वीकृति है जो स्टोर्स की कुछ प्रकार की वस्तुओं का केवल ग्राम्य और उद्योगों से ही खरीदा जाना अनिवार्य करते है, और बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की तुलना में उन वस्तुओं के मूल्य के अन्तर को ग्राम्य उद्योगों को देने के लिये बाध्य करते हैं।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में प्रथम योजना की अपेक्षा छोटे उद्योगों पर अधिक धन मुख्यतः इसलिये व्यय किया जायगा कि उससे भारत में बेकारी की समस्या हल होगी। कार्वे कमेटी की २६० करोड़ रुपया व्यय किये जाने की

सिफारिश के विपरीत द्वितीय योजना ने केवल २०० करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था की है। आशा यह की जाती है कि जब प्रादेशिक योजनाओं का पुनर्परीक्षण होगा तो यह धनराशि अवश्य बढ़ जायगी।

२०० करोड़ रुपयों के विनियोग में से केन्द्रीय सरकार २५ करोड़ रुपये व्यय करेगी और प्रादेशिक सरकार १७५ करोड़ रुपया व्यय करेंगी। योजना में ग्राम्य और छोटे उद्योगों के लिये निश्चित किये हुए २०० करोड़ रुपयों के अतिरिक्त ११ करोड़ रुपया कुटीर और मध्यवर्ती उद्योगों के विकास के लिये और औद्योगिक ऋण के लिये, और ७ करोड़ रुपया विभिन्न लोगों के पुनर्वास के कार्यक्रम के अन्तर्गत औद्योगिक तथा व्यवसायिक शिक्षा के लिये निश्चित किया गया है। सामुदायिक विकास क्षेत्रों के बजट में ऐसे उद्योगों के लिये प्रत्येक क्षेत्र में १½ लाख रुपये के व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है। पिछड़ी जातियों की सुख सुविधा के लिये बनाये कार्य-क्रम में भी कुछ चुने हुये उद्योगों से सम्बन्धित व्यवसायिक और औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध किया गया है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के पहले दो वर्षों में छोटे पैमाने के उद्योगों तथा कुटीर उद्योगों में कुछ प्रगति हुई है। इन पर ५६ करोड़ रुपया व्यय हो चुका है और आशा की जाती है कि तीसरे वर्ष की समाप्ति तक यह ६१ करोड़ रुपया हो जायगा। इस व्यय का ४० प्रतिशत खादी और ग्रामोद्योगों के लिये, २५% से कुछ अधिक छोटे पैमाने के उद्योग तथा औद्योगिक बस्तियों (Industrial estates) के लिये तथा २०% के लगभग हाथ के कर्घे तथा शक्तिचालित कर्घों के लिये था। पहली दो योजनाओं में की गई व्यवस्था राज्य तथा केन्द्र की अनुमानित व्यय-क्षमता पर आधारित थी। १९५८-५९ एक अन्य कारण भी महत्त्वपूर्ण हो गया। केन्द्र और राज्यों के पास योजनाओं को लागू करने के लिये धनराशि सीमित थी।

६२ औद्योगिक बस्तियों में से, ११ पहले दो वर्षों में पूरी हो गई तथा अन्य १६ के १९५८-५९ तक पूरी होने की आशा है। १९५७-५८ के अन्त तक छोटे उद्योगों का प्राविधिक तथा विक्रय सम्बन्धी सुविधायें प्रदान करने के लिये, ४ प्रादेशिक लघु उद्योग सेवा संस्थान (Small Industries Services Institutes), १½ बड़े संस्थान, २ उप संस्थान तथा २७ प्रसार-केन्द्र स्थापित किये जा चुके थे। १९५८-५९ के एक और प्रादेशिक लघु उद्योग संस्थान तथा ३३ प्रसार केन्द्र स्थापित किये जायेंगे।

१९५६-५७ में हथकर्घे का उत्पादन १६००० लाख गज़ था जो १९५५-५६ के उत्पादन से १३०० लाख गज़ अधिक था। १९५७-५८ में अनुमानित उत्पादन

१६५००लाख गज़ था। अब तक की प्रगति लक्ष्य से कहीं कम है। १९५७ के अन्त तक अम्बर सूत से उत्पादित कपड़ा ७० लाख गज़ था। ऐसा प्रतीत होता है कि १५०० लाख गज़ का संशोधित लक्ष्य योजना काल के अन्त तक पूरा नहीं होगा। पुरानी ढंग की खादी का उत्पादन ३५० लाख गज़ के आधार भूत उत्पादन से ५० लाख गज़ प्रति वर्ष के हिसाब से बढ़ रहा है। खादी उत्पादन के लिये कई निश्चित लक्ष्य नहीं रखा गया था। शक्तिचालित करघों की स्थापना के सम्बन्ध में प्राप्त लक्ष्य भी अब तक नगण्य हैं।

अध्याय २१

औद्योगिक उत्पादन और नियोजन

प्रथम पंचवर्षीय योजना में राजकीय तथा निजी उद्योग क्षेत्र में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि करने की व्यवस्था की गई थी। अंतर केवल इतना था कि राजकीय उद्योग क्षेत्र में उत्पादन में वृद्धि करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सरकार ने अपने ऊपर ले लिया था परन्तु निजी उद्योगों के सम्बन्ध में उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित कर दिये गये थे। यह आशा प्रकट की गई थी कि निजी उद्योग योजना की अवधि समाप्त होने तक इन लक्ष्यों तक पहुँच जायेंगे। पुर्नपरीक्षित योजना को कार्यान्वित करने के लिये निर्धारित २३५६ करोड़ रुपयों में से १७९ करोड़ रुपया अर्थात् कुल व्यय का ७.६% उद्योगों और खान खोदने पर व्यय करना था जिसमें से बड़े और मध्यम श्रेणी के उद्योगों पर १४८ करोड़ रुपया, खानों के सुधार पर १ करोड़ रुपया और छोटे उद्योगों पर ३० करोड़ रुपया व्यय करना था। इञ्जन बनाने के चितरंजन कारखाने और रेल के लिये इस्पात की कोच बनाने के कारखाने में जो कुछ धनराशि लगाई गई वह रेलवे विकास योजन का एक अंग थी। इस प्रकार आधार भूत उद्योगों और यातायात के लिये निर्धारित ५० करोड़ की धनराशि पृथक करके सम्पूर्ण राजकीय विकास कार्य क्रम में ५ वर्ष के अन्दर ९४ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया। राजकीय औद्योगिक क्षेत्र में जो रुपया लगाया गया उससे लोहे तथा इस्पात के नये कारखाने, इञ्जन बनाने के चितरञ्जन कारखाने, मैसूर में मशीन औज़ार बनाने के कारखाने, सिन्द्री के रसायनिक खाद के कारखानों और पेनिसिलिन, डी० डी० टी०, यन्त्र, टेलीफोन इत्यादि बनाने के कारखाने की विभिन्न योजनाओं को कार्यान्वित किया गया। जितने उद्योगों की सरकार सरलता से व्यवस्था कर सकती थी उन पर अधिकार कर लिया गया और शेष निजी क्षेत्र के लिये छोड़ दिये गये। इस मिश्रित अर्थ व्यवस्था से यह लाभ है कि राजकीय उद्योग क्षेत्र का उस सीमा तक प्रसार किया जा सकता है जितना व्यवहारिकता दृष्टि से सम्भव है और निजी उद्योग को अपने साधनों, कुशलता एवम् अनुभव के द्वारा देश का औद्योगिक विकास करने का अवसर मिलता है।

योजना आयोग ने अनुमान लगाया था कि योजना में उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य तक पहुँचने के लिये निजी उद्योग क्षेत्र में पाँच वर्ष के अन्दर कुल २३३ करोड़ रुपया लगाना पड़ेगा। यदि इसमें मशीनों को परिवर्तन तथा उद्योग

का आधुनिकीकरण करने के लिये १५० करोड़ और चालू पूँजी के लिये ३२४ करोड़ की धनराशि सम्मिलित कर दी जाय तो पाँच वर्ष में निजी उद्योग क्षेत्र में कुल ७०७ करोड़ रुपया लगाया जायगा। भारतीय उद्योगपतियों ने इस योजना की आलोचना की। उनका कहना था कि (अ) उद्योग के आधुनिकीकरण के लिये १५० करोड़ रुपया अपर्याप्त है क्योंकि अधिकांश उद्योगों की मशीनें प्रायः व्यर्थ हो गई हैं। योजना में निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक मशीनों का प्रबन्ध करने में इससे कहीं अधिक रुपयों की आवश्यकता होगी; (ब) सरकार ने केवल आवश्यक धन की मात्रा बता दी है, परन्तु उसकी प्राप्ति की व्यवस्था नहीं की है। उद्योगों के पास ऐसे साधन नहीं हैं जिनसे यह कार्य किये जा सकें; भारतीय पूँजी बाज़ार की ऐसी स्थिति नहीं है कि इतना धन प्राप्त किया जा सके और विदेशी पूँजी भी प्रायः उपलब्ध नहीं है। इन सब बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि निजी उद्योगों का योजना में निर्धारित उत्पादन के लक्ष्यों को पूरा कर सकना सम्भव नहीं है।

योजना में उद्योगों को जिस क्रम से प्राथमिकता दी गई थी उससे स्पष्ट है कि आधारभूत एवम् प्रमुख उद्योगों के साथ ही ऐसे उद्योगों को अधिक महत्व दिया गया जिनका अपेक्षाकृत बहुत कम विकास हुआ था। यदि राजकीय तथा निजी उद्योग क्षेत्रों को एक साथ मिला कर देखा जाय तो यह ज्ञात होगा कि कुल व्यय का २६ प्रतिशत धातु शोधन उद्योगों के लिये, २० प्रतिशत पेट्रोल शोध-शालाओं के लिये, १६ प्रतिशत इंजीनियरिंग उद्योगों के लिये, ८ प्रतिशत सूती उद्योगों के लिये, ५ प्रतिशत सीमेंट और लगभग ४ प्रतिशत कागज, पट्ठे तथा अखबारी कागज उद्योग के लिये निर्धारित किया गया था। इसका अर्थ यह था कि जिन उद्योगों का अभी विकास नहीं हो पाया था उन पर अधिक व्यय किया जाय। वर्तमान उद्योगों को छोड़ा नहीं गया था बल्कि उनके लिये कम धनराशि निर्धारित की गई थी। ऐसा उचित भी था। देश के सभी उपलब्ध साधनों का अच्छे से अच्छा उपयोग करने के उद्देश्य से ही यह व्यवस्था की गई थी। औद्योगिक विकास कार्यक्रम के लिये योजना में निम्नलिखित प्राथमिकता-क्रम दिया गया है।

(१) जूट और प्लाइवुड जैसे उत्पादक वस्तु उद्योग और सूती कपड़े, चीनी, साबुन, वनस्पति, रंग और वार्निश जैसे उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जाय।

(२) लोहे तथा इस्पात, एल्यूमीनियम, सीमेंट, रासायनिक खाद, भारी

रसायनिक, मशीनों के औज़ार इत्यादि उद्योगों की वर्तमान उत्पादन शक्ति को बढ़ाया जाय।

(३) जिस उद्योग को आरंभ करने के लिए कुछ पूँजी लगा दी गई है उसे पूरा किया जाय।

(४) देश के औद्योगिक ढाँचे को अधिक शक्तिशाली बनाने के लिए अपने साधनों को ध्यान में रखते हुए नये कारखाने स्थापित किये जायँ जैसे जिप्सम से गन्धक का उत्पादन किया जाय।

प्रथम योजना में उद्योगों के तीन वर्ग किये गये थे। (१) जूट ऑटोमोबाइलस, मशीन व औजार कपड़े की मशीन तथा चूड़ी के उद्योगों के सम्बन्ध में जिनकी उत्पादन शक्ति प्रर्याप्त थी, इस बात पर महत्व दिया गया कि वे अपना उत्पादन बढ़ाकर अपनी अनुमानित शक्ति के स्तर पर ले आवें जो बदली नहीं जायगी; ढले हुये लोहे, इस्पात, चीनी, सीमेंट, कागज और कागज के पट्टे, दियासलाई तथा कुछ रसायनिक वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग जिनके सम्बन्ध में यह निर्णय किया गया था कि उनकी अनुमानित शक्ति बढ़ाई तो जायगी पर १०० प्रतिशत से कम। इनके अन्तर्गत सीमेंट, सलफ्यूरिक ऐसिड, ढला हुआ लोहा, तैयार इस्पात, कागज और कागज के पट्टे, दियासलाई, स्टोरेज बैटरी और बिजली के पंखे बनाने वाले उद्योग भी सम्मिलित कर लिये गये थे; (३) बिजली से चलने वाले पम्पों, डिज़िल इंजनों, सीने की मशीन, बाइसिकिलों इत्यादि उद्योगों का जिनकी वास्तविक उत्पादन शक्ति माँग के अनुपात में कम है काफ़ी प्रसार करने की योजना बनाई गई थी। इसी श्रेणी में अन्य उद्योग भी आते हैं जैसे काटन लिन्टर्स, केमिकल पल्प, कुछ दवाइयाँ इत्यादि जिनका भारत में उत्पादन नहीं किया जाता था परन्तु अब इनके उत्पादन की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार पंचवर्षीय योजना में देश के औद्योगिक विकास की कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया गया था।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत—द्वितीय पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक और खनिज पदार्थों के विकास को प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया। वास्तव में द्वितीय योजना औद्योगिक विकास पर केन्द्रित है। द्वितीय योजना में ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय में से ८९० करोड़ या १८.५% उद्योगों पर व्यय किया जायगा जब कि प्रथम योजना के कुल २,३५६ करोड़ रुपयों के व्यय में से उद्योग पर १७९ करोड़ रुपये या ७.६% व्यय किया जाना था। द्वितीय योजना प्रथम की अपेक्षा अधिक विस्तृत है और इसमें व्यय भी बहुत अधिक किया जा रहा है। उद्योगों को अधिक महत्व देने का कारण देश

के आर्थिक विकास को अधिक संतुलित करना, राष्ट्रीय आय में वृद्धि और बेकारी आदि को कम करना है। द्वितीय योजना के अन्तर्गत कार्यक्रम में प्राथमिकता निम्न प्रकार दी गई है।

(१) लोहे और इस्पात तथा भारी रसायनिक उद्योगों का निर्माण करना जिसमें नाइट्रोजन युक्त खाद और इन्जीनियरिंग तथा मशीनों के निर्माण सम्बन्धी उद्योग सम्मिलित है।

(२) विकास सम्बन्धी वस्तुओं तथा उत्पादन में कार्य आने वाली वस्तुओं, जैसे अलमोनियम, सीमेंट, रसायनिक पल्प, रंग, फास्फेट युक्त खाद और अत्यन्त आवश्यक दवाईयाँ आदि की उत्पादन शक्ति में विस्तार करना।

(३) महत्वशाली राष्ट्रीय उद्योग, जो स्थापित हो चुके हैं, जैसे जूट और सूती कपड़े बनाने तथा चीनी उद्योग आदि, उनके प्रसाधनों की वृद्धि और उनका अभिनवीकरण।

(४) उन उद्योगों की उत्पादन शक्ति में जिनकी उत्पादन शक्ति और वास्तविक उत्पादन में अन्तर है वृद्धि करना।

(५) साधारण उत्पादन के कार्यक्रमों तथा उद्योगों के विकेन्द्रित अंश के उत्पादन लक्ष्य के अनुसार उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना।

औद्योगिक विकास के कार्य क्रम के दृष्टिकोण से द्वितीय योजना की अनेकों विशेषतायें हैं :—

(१) इसमें राजकीय क्षेत्र को व्यक्तिगत क्षेत्र से अधिक महत्ता दी गई है। द्वितीय योजना की नवीनता इस बात में है कि राजकीय क्षेत्र में औद्योगिक और खनिज उद्योगों के विकास के कार्यक्रमों को प्रधानता दी गई है। भारत में कृषि, विद्युत शक्ति, यातायात, तथा सामाजिक सेवाओं के विकास के सम्बन्ध में राजकीय उपक्रमों पर निर्भरता आर्थिक योजना की विशेषता है। परन्तु अभी तक तो राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत किये गये विनियोग में उद्योगों और खनिज सम्बन्धी योजनाओं को कोई विशेष स्थान नहीं प्राप्त हुआ था। प्रथम योजना में राजकीय क्षेत्र में बड़े उद्योगों की स्थापना के लिये केवल ९४ करोड़ रुपयों के विनियोग का प्रबन्ध किया गया था, जबकि व्यक्तिगत क्षेत्र में २३३ करोड़ रुपयों के विनियोग का अनुमान किया गया था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत राजकीय क्षेत्र में बड़े उद्योगों और खनिज के विकास के लिये (वैज्ञानिक अन्वेषण कार्य पर व्यय सम्मिलित करते हुये) ६९० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है जब कि व्यक्तिगत

क्षेत्र में उद्योगों और खानों पर व्यय किये जाने के लिये केवल ५७५ करोड़ रुपयों का ही प्रबन्ध है। व्यक्तिगत क्षेत्र को यद्यपि देश के औद्योगिक विकास में एक बहुत बड़ा भाग लेना है फिर भी यह प्रत्यक्ष है कि राजकीय क्षेत्र की योजनाओं पर व्यक्तिगत क्षेत्र की योजनाओं से अपेक्षाकृत अधिक महत्व दिया गया है।

(२) योजना की दूसरी विशेषता यह है कि मुख्य और आधार उद्योगों का विकास उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों की अपेक्षा अधिक किया जायगा। प्रतिष्ठापित उत्पादन शक्ति के आयोजित विकास तथा प्रस्तावित उत्पादन सम्बन्धी १९६०-६१ के आँकड़े यह प्रकट करते हैं कि लोहे और इस्पात, इन्जीनियरिंग तथा रसायनिक उद्योगों के अधिकतम प्रसार का आयोजन किया गया है। भारत में प्रथम बार मशीन निर्माण उद्योग के विकास का आयोजन किया गया है। सूत तथा जूट बिनने की मशीनों के तथा सीमेंट और चीनी बनाने की मशीनों के और छोटे छोटे औजारों के उत्पादन के उद्योग तो भारत में पहिले से ही स्थित हैं, पर उनका बहुत अधिक विस्तार कर दिया जायगा। कागज तथा छपाई उद्योग के उत्पादन का मूल्य १९६०-६१ तक क्रमशः ४ करोड़ रुपये तथा २ करोड़ रुपये तक हो जायगा। वर्तमान समय में तो इन वस्तुओं का उत्पादन नगण्य ही है।

बड़े उद्योगों और खनिज उद्योग पर जो ६९० करोड़ रुपया व्यय किया जाने वाला है वह लगभग पूर्ण रूप से मूल उद्योगों के विकास के लिये है, जैसे लोहा-इस्पात, कोयला, खाद, इन्जीनियरिंग तथा बड़े बड़े बिजली के प्रसाधन इत्यादि। योजना में तीन इस्पात संयन्त्रों की स्थापना रूरकेला, भिलाई, और दुर्गापुर में होगी जिनमें से प्रत्येक की उत्पादन शक्ति १० लाख टन इस्पात पिण्डों की होगी। इसके अतिरिक्त इनमें से एक संयन्त्र तो ३५०,००० टन ढला हुआ लोहा बिक्री के लिये उत्पादित करेगा। राजकीय क्षेत्र के अन्तर्गत सब योजनाओं से आशा की जाती है कि कुल इस्पात की उत्पादित मात्रा लगभग २० लाख टन द्वितीय योजना के अन्त तक हो जायगी।

इन्जीनियरिंग के बड़े बड़े उद्योगों की स्थापना के कार्यक्रम में चित्तरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री में एक बड़ी इस्पात फाउन्ड्री की स्थापना भी सम्मिलित है। इस बात का प्रबन्ध किया जा रहा है कि बड़े बड़े बिजली के प्रसाधनों का निर्माण राजकीय क्षेत्र में हो। इसलिये चित्तरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री का विस्तार होना परमावश्यक है ताकि वर्तमान समय के १२५ इन्जिनो के वार्षिक उत्पादन के स्थान पर ३०० इन्जनों का प्रतिवर्ष उत्पादन हो जाय। दि इन्टीगरल कोच फैक्ट्री जिसने उत्पादन कार्य १९५५ में आरम्भ किया लगभग ३५० कोच प्रतिवर्ष १९५९

तक उत्पादित कर सकेगी। एक नई मीटर गेज कोच फैक्ट्री की स्थापना का भी प्रबन्ध कर दिया गया है।

(३) द्वितीय-योजना में ग्राम्य और छोटे उद्योगों को प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है और यह प्रस्ताव किया गया है कि उन पर प्रथम योजना के ३० करोड़ रुपये के व्यय के स्थान पर अब २०० करोड़ रुपया व्यय किया जाय। ग्राम्य और छोटे उद्योगों को इतना महत्व देने का मुख्य कारण यह है कि देश की आर्थिक व्यवस्था के विकेन्द्रित भाग में कार्य करने के अधिक अवसर प्रदान कर सकेंगे।

समालोचना—द्वितीय योजना प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक विचार पूर्ण है। इस योजना में यह उचित ही है कि कृषि की तुलना में औद्योगिक विकास पर अधिक महत्त्व दिया गया है। इससे देश का संतुलित विकास सम्भव हो सकेगा और जो देश की आर्थिक व्यवस्था में अभाव रह गए थे वे पूर्ण हो जायेंगे। यह भी बहुत उपयुक्त है कि बड़े मूल और मशीनों के निर्माण के उद्योगों के प्रति विशेष ध्यान दिया है। इन्हीं के आधार पर भारत का भावी औद्योगिक विकास सम्भव हो सकेगा। यह सब होते हुए भी द्वितीय योजना में अनेकों गम्भीर दोष रह गये हैं।

(१) राजकीय क्षेत्र का अत्यधिक विस्तार कर दिया गया है। यदि सरकार के पास धन के स्रोत, औद्योगिक ज्ञान, उद्योगों के आरम्भ करने की क्षमता आदि होती तब तो इसमें कोई हानि की सम्भावना न होती, परन्तु सरकार के पास तो ये पर्याप्त मात्रा में नहीं है। इसके अतिरिक्त अनेकों उद्योग जो राजकीय क्षेत्र के अन्दर सम्मिलित कर लिये गये हैं उनमें राजकीय क्षेत्र से जितना साहस प्राप्त हो सकता है उसकी अपेक्षा अधिक जोखिम उठाने और साहस की आवश्यकता है। अन्त में यह भी कहा जाता है कि राजकीय क्षेत्र को आवश्यकता से अधिक विस्तृत कर देने से व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये सुगमता पूर्वक कार्य करते रहने के लिये जितने साहस की आवश्यकता है उससे बहुत कम का अवसर छोड़ा गया है। इसमें स्पष्ट रूप से यह भय लक्षित होता है कि राजकीय क्षेत्र अपने निर्धारित लक्ष्य को पूर्ण न कर सकेगा।

(२) यद्यपि व्यक्तिगत क्षेत्र पर कुछ वस्तुओं की एक निश्चित मात्रा के उत्पादन करने का उत्तरदायित्व डाल दिया गया है, परन्तु इसके लिये न तो पर्याप्त मात्रा में वित्त की उपलब्धि का कोई प्रबन्ध किया गया है और न ऐसी सुविधायें ही प्रदान की गई हैं जैसे अवक्षयण के लिये वृद्धि अथवा करों से छूट आदि, जो कि व्यक्तिगत क्षेत्र के सरलता से कार्य करते रहने के लिये आवश्यक

हैं। राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) जिसकी १९५४ में स्थापना की गई थी व्यक्तिगत क्षेत्र में उद्योगों के विकास में बहुत सहायता पूर्ण कार्य कर रहा है। द्वितीय योजना में भी यह संस्था व्यक्तिगत क्षेत्र में सहायता का कार्य करती रहेगी। यह सब होते हुये भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि व्यक्तिगत क्षेत्र को वित्त संकट उठाना पड़ रहा है, जिससे औद्योगिक विकास में बाधा पड़ रही हैं।

(३) भारत के औद्योगिक संगठन में महत्वपूर्ण स्थान रखने के कारण यह सर्वथा उपयुक्त है कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों के विकास का प्रयत्न किया जाय, परन्तु यह कदापि न्यायसंगत नहीं है कि बड़े उद्योगों पर उपकर आरोपित किया जाय अथवा उनके उत्पादन की मात्रा पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय, जिससे कि ग्राम्य और छोटे उद्योगों की रक्षा हो सके। इससे कार्यारम्भ का साहस नष्ट हो जाता है और कोई प्रभावशाली सहायता भी ग्राम्य अथवा छोटे उद्योगों को नहीं मिलती। इन उद्योगों की समस्या को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के गुणों की उन्नति करके, तथा उनके मूल्य को घटा कर करना चाहिये न कि बड़े उद्योगों पर प्रतिबन्ध द्वारा।

द्वितीय योजना के औद्योगिक विकास कार्यक्रम में उपर्युक्त दोषों के होते हुये भी यह आशा की जाती है कि इससे औद्योगिक विकास की गति में अवश्य वृद्धि होगी, तथा औद्योगिक विकास संगठन के अभावों को पूर्ण करके यह योजना संतुलन स्थापित करेगी और संसार में भारत का औद्योगिक स्तर ऊँचा उठायेगी।

योजना की प्रगति—"१९५७-५८ तक पहली योजना में प्रारम्भ की गई अनेक औद्योगिक योजनाएँ पूर्ण हो गईं। इन योजनाओं में अलवये का डी० डी० टी० का कारखाना, दिल्ली के डी० डी० टी० कारखाने का विस्तार, हिन्दुस्तान एन्टीबायोटिक्स (कारखाने) का विस्तार, मैसूर में सरकारी पोर्सलीन फैक्ट्री की पोर्सलीन इन्सुलेटर्स स्कीम, मैसूर आइरन एण्ड स्टील वर्क्स का spun-pipe का कारखाना; बिहार की सुपर फासफेट फैक्ट्री तथा N E P A कारखाने में संतुलन उपस्कर की व्यवस्था आदि सम्मिलित थे। इन योजनाओं के पूर्ण होने के परिणामस्वरूप डी० डी० टी० निर्माण करने की शक्ति में २१०० टन की, पैन्सिलीन के सम्बन्ध में १९२ लाख मीगा इकाइयों की तथा सुपर फास्फेट की उत्पादन शक्ति में ३३,००० टन की वृद्धि हो गई। N E P A ने प्रतिवर्ष ३०,००० टन अखबारी कागज का उत्पादन करने की अपनी पूर्ण शक्ति को प्राप्त कर लिया। २५०० टन इन्सुलेटर्स के निर्माण की शक्ति अथवा सामर्थ्य की भी स्थापना हुई। द्वितीय योजना में इन स्कीमों पर ३ करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था थी।"

आशा की जाती है कि १९५८-५९ में निम्न औद्योगिक स्कीम पूरी हो जाँयगी।

योजना	नयी अथवा अतिरिक्त शक्ति या सामर्थ्य
1. सिन्द्री (खाद) कारखाने का विस्तार	४७,००० टन नाइट्रोजन
2. मिलई और रुरकेला में पहली भट्टियाँ (Blast furnaces)	७००,००० टन प्रतिवर्ष ढला लोहा (pig iron)
3. दुर्गापुर, की योजना (Coke-oven project)	२८५,००० टन कोक (hard coke)
4. हिन्दुस्तान मशीन टूल्स, (milling machines or lathes) के उत्पादन में वृद्धि।	४०० (hathes, millingl और drilling machines)
5. Hindustan cables Co-axial cables project	५३० मील केबिल और ३०० मील co-axial cables.

इन योजनाओं की कुल लागत लगभग २१ करोड़ रु० है तथा १२ करोड़ रु० का विदेशी विनियम अपेक्षित है।

निम्न औद्योगिक योजनाएँ द्वितीय योजना काल में पूरी हो जाँयगी।

योजना	नई अथवा अतिरिक्त सामर्थ्य
१. भिलाई, रुरकेला, और दुर्गापुर स्टील वर्कस	२२ लाख टन स्टील, तथा ६००,००० टन ढला हुआ लोहा (pig Iron)
२. नांगल खाद योजना	७०,००० टन नाइट्रोजन (fixed)
३. लिग्नाइट योजना उत्खनन सम्बन्धी	३५ लाख टन लिगनाइट
४. हिन्दुस्तान एन्टीबायोटेक्सि की स्ट्रेप्टोमाइसीन योजना	४५००० किलोग्राम स्ट्रेप्टोमाइसीन
५. मैसूर आइरन और स्टील वर्क्स का फेरो-सिलकिन का विस्तार	१५००० टन फैरो-सिलीकन
६. विहार की पोर्सलनि इन्सुलेटर्स की योजना	२००० टन इन्सुलेटर्स
७. हिन्दुस्तान शिपयार्ड	८-१२ जहाज प्रतिवर्ष बनाने की क्षमता के लिये विस्तार,
८. यू० पी० सरकार की सीमेन्ट फैक्ट्री का विस्तार	२३१००० टन सीमेन्ट,

अध्याय २२

सरकार की औद्योगिक नीति

भारत सरकार की औद्योगिक नीति का आधार १९५३ के औद्योगिक (विकास और नियमन) संशोधन कानून द्वारा संशोधित १९५१ का औद्योगिक (विकास और नियमन) कानून है। सरकार की नीति 'मिश्रित आर्थिक व्यवस्था' पर आधारित है जिसमें राजकीय उद्योग तथा निजी उद्योग दोनों का स्थान है। इस कानून में भारत सरकार ने जिस औद्योगिक नीति का निरूपण किया है वह भारत सरकार के उस वक्तव्य से बिल्कुल भिन्न है जो उसने संसद द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के रूप में ६ अप्रैल १९४८ को दिया था।

औद्योगिक नीति का उद्देश्य देश के औद्योगिक साधनों का यथा सम्भव गति से सन्तुलित विकास करना होना चाहिये। यदि यह कार्य पूर्णतया निजी उद्योगों को ही समर्पित कर दिया जाय तो यह उद्देश्य पूर्णतः प्राप्त नहीं किया जा सकता क्योंकि पूँजी का अभाव, उद्योग के लिये आवश्यक सामान और मशीनों का अभाव, औद्योगिक कुशलता का अभाव और उद्योगपति की शीघ्र लाभ उठाने की अभिलाषा इस दिशा में बाधक बन जाते हैं। इस कारण अब तक उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योगों पर मशीनों इत्यादि का उत्पादन करने वाले उद्योगों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता रहा है इसीलिए निजी उद्योगों पर नियन्त्रण रखा जाना और साथ ही राज्य के क्षेत्र में उद्योग पर संचालन तथा प्रबन्ध आवश्यक प्रतीत होता है। बहुत समय से इस नीति का समर्थन किया जाता रहा है कि राज्य को निजी उद्योगों पर नियंत्रण रखना चाहिये। परन्तु इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि निजी उद्योगों को सहायता दी जाय, उनको विकास के लिये प्रोत्साहित किया जाय, राजकीय उद्योग का क्षेत्र निश्चित किया जाय, निजी उद्योग को अनुचित कठिनाइयों और उलझनों में न पड़ने दिया जाय और एक औद्योगिक संस्था को दूसरी औद्योगिक संस्था का शोषण न करने दिया जाय। परन्तु भारत सरकार की औद्योगिक नीति इसके विपरीत है। इससे भारत के उपयुक्त औद्योगिक विकास की सम्भावना नहीं है। इस नीति को नकारात्मक नीति कहा जा सकता है। इसमें निजी उद्योगों के सम्बन्ध में उन बातों का उल्लेख किया गया है जिनको करने के लिये राज्य अनुमति नहीं देगा। इसमें यह निश्चित रूप से नहीं कहा गया है कि राज्य निजी उद्योगों को सहायता देने के लिए क्या करेगा। यह नीति यथार्थवादी नहीं है क्योंकि

इसमें भारत में निजी उद्योग की वर्तमान स्थिति और उसके संगठन तथा आकार-प्रकार पर कुछ ध्यान नहीं दिया गया है। इसके विपरीत निजी-उद्योग क्षेत्र में कुछ ऐसी बातें लागू की गई हैं जिनकी उपयोगिता पर सन्देह प्रगट किया जा सकता है, जो देश के औद्योगिक विकास में सहायक होने की अपेक्षा बाधक हो सकते हैं।

६ अप्रैल १९४८ का औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव— १९४८ में घोषित औद्योगिक नीति में 'मिश्रित' अर्थ व्यवस्था के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। परन्तु राष्ट्रीयकरण का विषय इसमें विशेष रूप से सम्मिलित किया गया है। वास्तव में 'मिश्रित अर्थ व्यवस्था' के सिद्धान्त में ही 'राष्ट्रीयकरण' का विचार निहित है। परन्तु सरकार ने अपनी घोषणा में इसकी चर्चा करके इसे अधिक स्पष्ट कर दिया। इस घोषणा में उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया था। (१) प्रथम श्रेणी के उद्योगों में हथियारों और गोला-बारूद का उत्पादन, अणु-शक्ति का उत्पादन और नियंत्रण और रेलवे परिवहन का प्रबन्ध तथा स्वामित्व सम्मिलित किये गये थे। इन उद्योगों पर राज्य को पूर्ण एकाधिकार दिया गया। इस व्यवस्था से विशेष कठिनाई उत्पन्न नहीं हुई क्योंकि ये उद्योग पहले से ही राज्य के अधिकार में और इस बात की बहुत कम सम्भावना है कि भारत में निजी उद्योग इनमें से किसी एक को भी अपनाने के लिये तैयार होगा। वास्तव में द्वितीय और तृतीय श्रेणी के उद्योगों पर ही इस औद्योगिक नीति का महत्व निर्भर करता है। (२) द्वितीय श्रेणी के उद्योगों में कोयला, लोहा, इस्पात, विमान-निर्माण जलयान-निर्माण, टेलीफोन, तार तथा बेतार के तार के यंत्रों का निर्माण और पेट्रोल इत्यादि खनिज तेल सम्मिलित किये गये हैं। इन उद्योगों के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि इस श्रेणी के नवीन कारखानों को स्थापित करने का पूर्ण उत्तरदायित्व केवल राज्य पर होगा और जो वर्तमान समय में चालू कारखाने हैं उनकी दस वर्ष में पुनः जाँच की जायगी और यदि आवश्यक हुआ तो इनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। इस व्यवस्था का निजी उद्योग पर बुरा प्रभाव पड़ा। इससे उनका भविष्य अनिश्चित हो गया। उद्योग में सुधार करने के लिये जो कुछ रुपया लगाया जायगा उसका लाभ उठा सकने के लिये १० वर्ष का समय बहुत कम है। और चूँकि नये कारखाने स्थापित करने का पूर्ण भार राज्य ने स्वीकार कर लिया, इससे इस श्रेणी के उद्योगों में निजी उद्योग के मालिकों की रूचि कम हो गई इस क्षेत्र में उनका सम्पूर्ण उत्साह समाप्त हो गया। परिणाम स्वरूप औद्योगिक उत्पादन घट गया, पूँजी निर्माण की प्रक्रिया धीमी पड़ गई और औद्योगिक क्षेत्र में कुछ सीमा तक मन्दी आ गई। यदि

राज्य नवीन कारखाने स्थापित कर उत्पादन कार्य आरम्भ कर देता तो इससे विशेष हानि की संभावना नहीं थी। परन्तु भारत सरकार और राज्य सरकारों के पास इस कार्य के लिये आवश्यक धन, साहस और कुशल कर्मचारियों का अभाव है। फल स्वरूप देश की औद्योगिक स्थिति प्रगति करने की अपेक्षा अवनत होती गई। (३) शेष उद्योगों को तीसरी श्रेणी में रखा गया। यद्यपि इस श्रेणी के उद्योगों को निजी उद्योग क्षेत्र के लिये छोड़ दिया गया परन्तु यह भी कहा गया कि राज्य इस क्षेत्र में भी क्रमशः भाग लेगा। परन्तु साधनों के अभाव के कारण राज्य इस क्षेत्र मे सक्रिय नहीं हो सका।

नवीन औद्योगिक नीति—३० अप्रैल १९५६ को घोषित नवीन औद्योगिक नीति १९४८ के औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव की रूपरेखा से मिलती जुलती है, और उद्योगों को राज्य द्वारा उनमें भाग लेने के आधार पर ३ वर्गों में विभाजित करती है। प्रथम वर्ग में १७ उद्योगों की गणना की गई है जिनमें कोयला, लोहा और इस्पात, खनिज-तेल, सामान्य और विद्युत इन्जीनियरिंग के कुछ अंश और परिवहन सम्बन्धी कुछ ऐसे उद्योग आते हैं जिनके भावी विकास का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य के ऊपर है। द्वितीय वर्ग में लगभग एक दर्जन उद्योग सम्मिलित किये गये हैं, जैसे मशीन के यन्त्र, अलमुनियम, खाद, सड़क और समुद्री परिवहन इत्यादि जिनमें व्यक्तिगत और राजकीय उपक्रम साथ-साथ चलेंगे परन्तु यह क्रमशः राजकीय अधिकार में आ जायेंगे, इस लिये इन में नवीन उपक्रमों के स्थापित करने में राज्य अग्रगणी होगा। शेष उद्योग जैसे सूती कपड़े, सीमेंट, चीनी इत्यादि तीसरे वर्ग में रक्खे गये हैं। इनका भावी विकास सामान्यतः व्यक्तिगत क्षेत्र से उपलब्ध कार्यारम्भ साहस पर निर्भर करेगा। राज्य को यह भी अधिकार होगा कि इस वर्ग के उद्योगों को भी आरम्भ कर सके।

उद्योगों के इस त्रिवर्गीय विभाजन में कोई दोष नहीं है। १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के अनुसार संतोष प्रद ढंग से कार्य हुआ है। परन्तु नवीन औद्योगिक नीति के त्रिवर्गीय विभाजन में कुछ दोष आ गये हैं।

(१) राजकीय क्षेत्र के विस्तार में बहुत अधिक वृद्धि कर दी गई है और व्यक्तिगत क्षेत्र को अत्यधिक संकुचित कर दिया गया है। इससे हानि यह होगी कि औद्योगिक ज्ञान वाले कर्मचारियों, संगठन करने की क्षमता, पूँजी तथा अनुभव के अभाव में राज्य उन उद्योगों का प्रबन्ध न पूर्णतः और न अधिकांश ही कर सकेगा जिन्हें उसने अपने लिये सुरक्षित कर रक्खा है। व्यक्तिगत उपक्रम इस कठिनाई को सुधार सकने में असमर्थ होगा क्योंकि नवीन नीति के अनुसार उन्हें यह कर सकने का कोई अधिकार ही न होगा और यदि सरकार उन्हें आमन्त्रित

भी करेगी तो उनमें इतना आत्म विश्वास न होगा कि वे ऐसा कर सकें। इस नीति के निर्माता इस कठिनाई से अनभिज्ञ नहीं थे। जो व्यक्ति व्यक्तिगत उपक्रमों की कार्य प्रणाली और १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव के प्रभाव से परिचित हैं वे समझ सकते हैं कि इस प्रयोगात्मक परिस्थिति में व्यक्तिगत उपक्रम सम्मुख आने का साहस न कर सकेंगे। प्रथम दोनों वर्गों में सम्मिलित व्यक्तिगत उद्योगों को सरलता से कार्य करते रहने के लिये आवश्यक वातावरण का अभाव है। यदि गत पाँच वर्षों के अनुभव का भरोसा करें तो यह आशा करना कि यदि राजकीय उपक्रम वाञ्छित लक्ष्य को पूरा न कर सके तो उनका स्थान व्यक्तिगत उपक्रम ले लेंगे, युक्ति संगत नहीं है। यदि प्रथम वर्गों में गिने गये कुछ उद्योगों को तीसरे वर्ग में स्थानान्तरित कर दिया जाता, जिसमें कार्यारम्भ का भार व्यक्तिगत उपक्रमों पर है, तो निश्चित रूप से यह सम्भव होता कि वे किसी न किसी प्रकार औद्योगिक ज्ञान, पूँजी तथा अनुभव के अभाव को पूर्ण कर सकते जैसा कि गत २०० वर्षों से देखने में आया है। यह कोई तर्क नहीं है कि औद्योगिक क्षमता, पूंजी, अनुभव आदि का सर्वथा अभाव है, और इस लिये राजकीय उपक्रम अथवा व्यक्तिगत उपक्रम द्वारा इस समस्या को सुलझाने में कोई अन्तर नहीं पड़ता बहुत बड़ा अन्तर तो यह है कि व्यक्तिगत उपक्रमों के पास उत्साह औद्योगिक क्षमता और कार्य करने की शक्ति है और राजकीय उपक्रमों के पास इनका अभाव है। नवीन औद्योगिक नीति के कारण विकास की गति बढ़ने के स्थान पर अवरुद्ध हो जायगी।

(२) १९४८ की औद्योगिक नीति में वर्तमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिये १० वर्ष की अवधि निश्चित की गई थी, और तीसरे वर्ग के उद्योगों के लिये यह स्पष्ट रूप से कह दिया गया था राज्य उन्हीं उद्योगों को हस्तगत करेगा जिनकी प्रगति संतोषप्रद नहीं रही है। इससे व्यक्तिगत उपक्रमों को कुछ आशा बन्धी। परन्तु अब राज्य को अत्यधिक अधिकार देकर व्यर्थ में व्यक्तिगत उपक्रमों की सुरक्षा की भावना का अपहरण कर लिया गया है। यह राज्य के विचार अथवा अविचार से कार्य करने का प्रश्न नहीं है वरन् यह तो व्यक्तिगत उपक्रम में विश्वास और संदेह की भावना उत्पन्न करती है तो उससे हम संतोषप्रद परिणाम की आशा नहीं कर सकते।

(३) व्यक्तिगत उपक्रम को बहुत ही संकुचित क्षेत्र प्रदान किया गया है जिसके कारण वे सरलता से कार्य नहीं कर सकते। भारत की औद्योगिक नीति में जिस प्रकार राजकीय क्षेत्र का निश्चित स्थान है वैसे ही व्यक्तिगत क्षेत्र का भी है। व्यक्तिगत क्षेत्र के विस्तार को कम करने के किसी भी प्रयत्न का स्वाभाविक

परिणाम भारत के औद्योगिक विकास को कम करना है। वर्तमान समय में प्रचलित आय और सम्पत्ति के अन्तर को कम करने, व्यक्तिगत एकाधिकार को रोकने और आर्थिक शक्ति को थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित होने से बचाने के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह तर्क असंगत है। इस बात को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं प्रतीत होता कि भारत में राज्य को जो अधिकार आज प्राप्त हैं उनके द्वारा उद्योगों के व्यक्तिगत क्षेत्र में रहने पर भी वह एकाधिकार तथा आर्थिक शक्ति का केन्द्रित होना न रोक सके। जहाँ तक आय के अन्तर का सम्बन्ध है वह तो आर्थिक तथा अन्य उपायों से पहिले ही काम किया जा चुका है। फिर यह कैसे निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उद्योगों को राजकीय क्षेत्र में रखने से आर्थिक शक्ति केन्द्रित न होगी। अन्य देशों के अनुभव के अनुसार इसका परिणाम अधिक हानिकारक होगा। दूसरा कारण जिसके आधार पर बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उपक्रमों का विस्तार व्यक्तिगत क्षेत्र में संकुचित किया गया है वह कुटीर, ग्राम्य और छोटे उद्योगों की बड़े उद्योगों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाकर और भिन्न करारोप द्वारा अथवा प्रत्यक्ष अनुदानों द्वारा सहायता करना है। भारत में ग्राम्य और छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने में कोई दोष नहीं है। वास्तविक बात तो यह है कि इनका भारत की औद्योगिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु बड़े उद्योगों को हानि पहुँचाकर छोटे उद्योगों की प्रगति करना सर्वथा अविचारपूर्ण है। भारत की राष्ट्रीय आय और औद्योगिक विकास में वृद्धि बड़े उद्योगों से ही सम्भव है। द्वितीय योजना का ध्येय प्रति व्यक्ति वार्षिक आय बढ़ाना और बेकारी घटाना है। यदि बड़े उद्योगों का काल्पनिक आदर्शों के लिये उत्सर्ग कर दिया गया तो वह ध्येय कभी पूर्ण नहीं हो सकेगा। व्यक्तिगत क्षेत्र के विस्तार को संकुचित कर देने का परिणाम यह होगा कि व्यक्तिगत उपक्रम उचित रीति से कार्य न कर सकेंगे।

नवीन औद्योगिक नीति में वे गुण तो नहीं है जो कि १९४८ के औद्योगिक नीति प्रस्ताव में थे, परन्तु उसके सब दोष उसमें वर्तमान हैं। १९४८ की नीति नकारात्मक थी और उसमें व्यक्तिगत उपक्रमों पर लगाये गये प्रतिबन्ध का ही केवल वर्णन था। राज्य से उन्हें क्या सहायता प्राप्त होगी इसके प्रति कोई संकेत नहीं था। यही दोष नवीन औद्योगिक नीति में जनता को महान प्रतीत होने वाले निरर्थक आदर्शों के सम्मिश्रण के रूप में है। व्यक्तिगत उपक्रम को अत्यधिक कर, आयकर के नियमों के अनुकूल उनके लिये पर्याप्त मात्रा में अवक्षयण वृत्ति का प्रबन्ध, और सरकार की श्रम और मूल्य नीति के कारण सदैव बढ़ते हुये उत्पादन व्यय से रक्षा आवश्यक है। राज्य को इस दृष्टिकोण से

व्यक्तिगत उपक्रमों को निश्चित सहायता प्रदान करनी चाहिये जिससे वे सफलता-पूर्वक अपना कार्य कर सकें। सहायता का क्या रूप होगा और वह किस विधि से दी जायगी आदि बातें सरकार की औद्योगिक नीति का एक आवश्यक अंग बन जानी चाहिये जिससे कि वे सम्भव हो सकें।

१६५१ का उद्योग कानून—११५१ का उद्योग (विकास और नियमन) कानून प्रथम अनुसूची में दिये गये उन ३७ उद्योगों पर लागू होगा जिनमें १ लाख से अधिक पूँजी लगाई गई है। यह व्यवस्था की गई है कि इन सभी औद्योगिक संस्थानों को अनिवार्य रूप से अपनी रजिस्ट्री करानी पड़ेगी। कोई नवीन कारखाना स्थापित करने के लिये अथवा वर्तमान कारखानों का प्रसार करने के लिये केन्द्रीय सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ेगा।

कानून के अनुसार सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी अनुसूचित उद्योग की जाँच करा सकती है और आवश्यक निर्देश जारी कर सकती है। इन निर्देशों का पालन न करने पर केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण उद्योग को या उसके किसी भाग को एक निश्चित काल के लिए किसी व्यक्ति, बोर्ड या विकास-परिषद् के हाथ में सौंप सकती है। परन्तु यह अवधि ५ वर्ष से अधिक नहीं हो सकती। यह व्यवस्थाएँ अस्पष्ट और विस्तृत हैं। यह खेद का विषय है कि संसद ने जिस द्वितीय प्रवर-समिति को यह विधेयक विचारार्थ सौंपा उसने प्रथम प्रवर-समिति की रिपोर्ट में दी गई उन शर्तों को रद्द कर दिया जिनके आधार पर राज्य हस्तक्षेप कर सकता था। प्रथम प्रवर समिति ने सिफारिश की थी कि यदि उद्योग के प्रबन्ध में अधिक अव्यवस्था फैली हो, वस्तुओं के भाव में अनुचित उतार-चढ़ाव हो, वस्तुओं का अभाव हो, श्रमिकों में अशांति एवम् असन्तोष हो और यदि सम्बन्धित उद्योग के कार्य में आने वाले कच्चे माल का अभाव और उसकी शीघ्र समाप्ति को रोकना राष्ट्र हित में हो तभी राज्य को अपने नियंत्रण और हस्तक्षेप के अधिकारों का प्रयोग करना चाहिए। इन शर्तों से निजी उद्योग सन्तुष्ट था और यदि विधेयक इसी रूप में स्वीकार कर लिया जाता तो औद्योगिक विकास को हानि न उठानी पड़ती परन्तु द्वितीय प्रवर-समिति द्वारा इन निश्चित शर्तों को रिपोर्ट में से निकाल देने के कारण फिर वही अनिश्चितता फैल गई जो सरकार की भूतपूर्व औद्योगिक नीति से फैली थी।

इस कानून में केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद और विकास-परिषदें स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् में उद्योगपतियों, कर्मचारियों और अनुसूचित उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इनके साथ ही कुछ ऐसे व्यक्ति भी इस परिषद् में सम्मिलित किए

जा सकेंगे जिन्हें केन्द्रीय सरकार उचित समझेगी। अध्यक्ष को छोड़ कर परिषद् की सदस्य संख्या ३० से अधिक नहीं होगी[1]। केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् अनुसूचित उद्योगों के विकास और नियमन के सम्बन्ध में सरकार को सुझाव देगी।

किसी भी अनुसूचित उद्योग अथवा उद्योगों के समूह के लिए विकास-परिषदें स्थापित की जा सकती हैं। विकास परिषद् में उद्योगपतियों, कर्मचारियों और उन उद्योगों द्वारा उत्पादित माल के उपभोक्ताओं के प्रतिनिधि होंगे। इसमें ऐसे व्यक्ति भी सदस्य बनाये जा सकेंगे जिन्हें सम्बन्धित उद्योग अथवा उद्योगों के बारे में विशेष टेकनिकल ज्ञान हो। विकास-परिषद् का कार्यक्षेत्र बहुत व्यापक बनाया गया है। मुख्यतः विकास परिषदें उत्पादन का लक्ष्य निर्धारित करेंगी, उत्पादन-कार्य में सामंजस्य स्थापित करने के लिए सुझाव देंगी और समय समय पर उद्योग अथवा उद्योगों की प्रगति की समीक्षा करेंगी; इसके साथ ही क्षति रोकने के लिए कुशलता के मान निर्धारित करेंगी, अधिकतम उत्पादन करने, उत्पादन व्यय करने और उत्पादित वस्तु की प्रकार में सुधार करने के लिए सुझाव देंगी। विकास परिषदें उत्पादित वस्तु की प्रकार का एक निश्चित स्तर निश्चित करेंगी और विक्रय की व्यवस्था करेंगी और ऐसे उपाय सुझावेंगी जिनसे श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति में वृद्धि हो। जैसा पहले कहा जा चुका है सरकार उद्योग की पूर्ण व्यवस्था अथवा उसका कुछ भाग अधिक से अधिक ५ वर्ष के लिए इन विकास परिषदों के हाथ सौंप सकती है।

विकास-परिषदों से यह आशा की जाती है कि वह निजी उद्योग के लिए एक परिचारिका का कार्य करेंगी। १९५३ में ऐसी दो विकास परिषदें स्थापित की गईं। बाद में अन्य विकास परिषदें स्थापित की गईं। १९५७ के अन्त में १२ विकास परिषदें निम्न उद्योगों के लिये काम कर रही थीं।

(१) भारी विद्युत् उद्योग,

(२) हलका विद्युत् उद्योग

(३) Internal Combustion Engines तथा शक्तिचालित पम्प

---

१. ८ मई १९५२ को कानून लागू होने के साथ ही केन्द्रीय परामर्शदात्री परिषद् स्थापित की गई, वाणिज्य तथा उद्योग-मन्त्री इसके अध्यक्ष हैं। १९५४ में इसका पुनर्संगठन किया गया और इसके सदस्यों की संख्या २१ कर दी गई जिनमें से १४ उद्योगपतियों के प्रतिनिधि (अनुसूचित उद्योग के), ५ कर्मचारी, ५ उपभोक्ता और ५ अन्य व्यक्ति जिनमें प्रारम्भिक उत्पादक सम्मिलित हैं। इससे यह परिषद पूर्ण रूपेण प्रतिनिधि परिषद् बन गई है।

(४) साइकिल
(५) अम्ल (acid) और उर्वरक
(६) क्षार (alkali) तथा सम्बन्धित उद्योग
(७) दवाइयाँ
(८) ऊनी कपड़ा
(९) कलापूर्ण रेशमी कपड़ा
(१०) चीनी (शकर)
(११) अलौह धातुयें और मिश्रित धातुयें; तथा
(१२) मशीन-औज़ार

इन परिषदों का कार्य अपने-अपने उद्योगों की समस्याओं पर विचार करना। इनका ध्येय है उद्योगों को अपनी पूर्ण शक्ति भर उत्पादन कर सकने की सुविधायें प्रदान करना, उनकी (रेटेड) अंकित शक्ति को आवश्यक स्तर तक बढ़ाना, और उत्पादन व्यय को कम करना है।

विकास परिषदों की संस्था हम लोगों ने ब्रिटेन से अनुसरण की है जहाँ पर इनकी स्थापना अनेकों उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में की गई थी। वहाँ ये परिषद असफल सिद्ध हुये पर हम लोग अब भी इनको अपनाए हुए हैं। व्यक्तिगत उपक्रमों के सफलता पूर्वक कार्य करने के लिये यह आवश्यक है कि उन्हें नित्य प्रति के कार्यों में प्रबन्ध कर्ता से पर्याप्त मात्रा में स्वतंत्रता प्राप्त हो। उपक्रमों को कार्यारम्भ करने का साहस और उत्साह होना चाहिये। यही एक आधार है जिस पर व्यक्तिगत उपक्रम से हम सफलता की आशा कर सकते हैं। प्रबन्ध करने में स्वतन्त्रता की मात्रा में कमी करने के भय, इन परिषदों की कार्यप्रणाली की अनिश्चितता तथा किसी उपक्रम के आवश्यकता पड़ने पर सरकारी प्रबन्ध में ले लिये जाने की अनिश्चित शर्तें (जैसे विकास परिषद के निर्देशों का किसी उपक्रम द्वारा उलंघन) ये उपक्रमी वर्ग के मन में संदेह की भावना भर दी है। इसके अतिरिक्त परिषद एक ही प्रकार की संस्थायें तो है नहीं जो अपने अपने उद्योगों में से विकसित हुई हों, इसलिये वे मनोवाछित विकास नहीं कर सकती। यह भी सम्भव है कि विकास परिषद का हस्ताक्षेप सरकारी नियन्त्रणों से ग्रस्त उपक्रमों के विनाश का अन्तिम कारण सिद्ध हो।

१९५३ का उद्योग (विकास और नियमन) संशोधन कानून—भारत-सरकार को १९५१ के उद्योग (विकास और नियमन) कानून को लागू करने के एक वर्ष पश्चात् ही संशोधन कानून का आधार लेना पड़ा। इस बात से यह स्पष्ट होता है कि भारत की औद्योगिक नीति कितनी अनिश्चित है। ऐसी स्थिति

किसी प्रकार भी लाभकर नहीं कही जा सकती है। संशोधन कानून का विश्लेषण करने से ज्ञात होगा कि उसकी व्यवस्थाएँ पूर्व की अपेक्षा अधिक दोषपूर्ण हैं। संशोधन कानून के अनुसार किसी भी उद्योग पर सरकार परामर्शदात्री परिषद् से पूछे बिना अधिकार कर सकती है। इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि सरकार निर्देश दे और उद्योग को स्पष्टीकरण का अवसर दे। सरकार के इन नवीन अधिकारों को प्राप्त करने से व्यापारों में उद्योगों के सम्बन्ध में और अनिश्चितता फैली है और इससे देश की औद्योगिक प्रगति अवरुद्ध हो जायगी, इसमें सन्देह नहीं।

अब यह कानून ४२ उद्योगों पर लागू है, जिनमें असली रेशम, नकली रेशम, रंग बनाने की वस्तुयें, साबुन, प्लाईवुड, फेरोमेंगेनीज आदि ६ नवीन उद्योग भी सम्मिलित हैं। संशोधन द्वारा सरकार को यह अधिकार प्राप्त है कि वे यदि चाहें तो ५ वर्ष के पश्चात् भी (जो अवधि एक्ट में दी हुई थी) किसी उपक्रम का प्रबन्ध अपने हाथों में रख सकती है। इसके लिये यह आवश्यक होगा कि नियंत्रण की अवधि बढ़ाने की एक विज्ञप्ति पार्लियामेंट के समक्ष उपस्थित कर दी जाय। सरकारी उपक्रमों को नई वस्तुओं के उत्पादन के लिये लाइसेन्स लेने से छूट दे दी गई है, यद्यपि एक्ट में दी हुई प्रथम तालिका में अनुसूचित उपक्रमों को लाइसेन्स लेना अनिवार्य है। सरकार को यह अधिकार है कि वह जिन उद्योगों को अपने अधिकार में ले उनके संगठन की शर्तों और नियमावली के विपरीत भी यदि चाहे तो कार्य कर सकती है। इस अधिकार से हिस्सेदारों के सामान्य अधिकारों को आघात पहुँचता है।

इन संशोधनों से उद्योग (विकास और नियमन) कानून बहुत कड़ा कानून बन गया है। अब केवल यह आशा की जाती है कि कानून को लागू करने वाले अधिकारी सन्तुलित दृष्टिकोण से कार्यवाही करेंगे और भारत के औद्योगिक ढाँचे को सदैव के लिए नष्ट हो जाने से बचाएँगे।

राष्ट्रीयकरण की नीति—राष्ट्रीयकरण की नीति अप्रत्यक्ष रूप से भारत सरकार की औद्योगिक नीति का एक अंग है। इसका संकेत उद्योग (विकास और नियमन) कानून की उस व्यवस्था से मिलता है जिसके अनुसार सरकार कुछ स्थितियों में निजी उद्योगों पर अपना अधिकार कर सकती है।

राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि उत्पादन के साधनों पर जनता का अधिकार हो। राज्य या तो अपने उद्योग स्थापित कर सकता है या चालू निजी उद्योगों को अपने अधिकार में ले सकता है। राष्ट्रीयकरण का देश की सामाजिक, राजनैतिक,

आर्थिक स्थितियों से निकट सम्बन्ध है। राष्ट्रीयकरण किस प्रकार किया जाय यह उस देश के आर्थिक विकास पर निर्भर करता है।

सिद्धान्त रूप में राष्ट्रीयकरण की नीति का कई आधारों से समर्थन किया जा सकता है। प्रायः यह कहा जाता है कि निजी उद्योग देश के सभी उपलब्ध साधनों का न तो पूर्ण उपयोग करना चाहता है और न वह ऐसा कर सकने में समर्थ ही है, इसलिए बिना राजकीय उद्योगों में तीव्रता से प्रगतिशील औद्योगीकरण नहीं किया जा सकता। निजी उद्योगों द्वारा उद्योग के आधुनिकीकरण और युक्तिकरण (Rationalisation) की ओर ध्यान न देने की प्रवृत्ति की आलोचना करके भी राष्ट्रीयकरण का समर्थन किया जाता है। यह कहा जाता है कि राष्ट्रीयकरण हो जाने से श्रमिक-मालिक के सम्बन्धों में सुधार होगा और श्रमिकों के दूने उत्साह से कार्य करने के कारण उत्पादन भी बढ़ेगा। राष्ट्रीयकरण के समर्थकों का यह भी विश्वास है कि उद्योगों पर सरकार का अधिकार हो जाने से वेरोजगारी की समस्या भी हल हो जायगी।

परन्तु यह तर्क सन्तोषजनक नहीं है। राष्ट्रीय करण की किसी भी योजना को लागू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि राज्य के पास पर्याप्त पूँजी हो और उसे प्रशासन तथा सभी कुशल प्राविधिक सेवाएँ प्राप्त हों। राष्ट्रीय करण के पश्चात् श्रमिक और उद्योग के प्रबन्धकों के सम्बन्धों में और तनातनी होने की संभावना है क्योंकि वर्तमान में इन दोनों के बीच राज्य संतुलन स्थापित करता है और जब कभी इनके बीच झगड़े उत्पन्न होते हैं राज्य उनमें हस्तक्षेप करता है। परन्तु यदि राज्य ही उद्योग का अधिकारी हो तो इस प्रकार के झगड़ों में राज्य स्वयं एक पक्ष हो जायगा और इस कारण मध्यस्थता नहीं कर सकेगा। राष्ट्रीयकरण हो जाने से औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार होने का सिद्धान्त इस बात पर आधारित है कि जनतन्त्र में श्रमिक यह समझता है कि राज्य की वास्तविक शक्ति उसी के हाथ में है। इसलिए उसका राज्य से कोई झगड़ा नहीं होगा। परन्तु यह केवल सिद्धान्त की बात है। यह विश्वास कर लेने का कोई कारण नहीं है कि केवल राष्ट्रीयकरण हो जाने से ही श्रमिकों का स्वभाव बदल जायगा और वह अधिक कुशलता से अधिक परिश्रम कर उत्पादन बढ़ा देंगे। उत्पादन तभी बढ़ सकता है और वेरोजगारी को तभी कम किया जा सकता है जब राज्य चालू उद्योगों को अपने अधिकार में करने की अपेक्षा नये उद्योगों को आरम्भ करे।

राष्ट्रीयकरण की अपनी उपयोगिता होनी चाहिए। उसकी अपनी विशेषताएँ होनी चाहिए। केवल निजी उद्योगों में दोष होने के कारण ही राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना उचित नहीं है। राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अनेक तर्क दिये जा

सकते हैं। उदाहरणस्वरूप यह कहा जाता है कि उद्योगों पर राज्य का अधिकार हो जाने से प्रबन्ध की कुशलता में अभाव आ जाता है क्योंकि राजकीय अधिकारी उतने सतर्क और उत्साही नहीं होते हैं जितना निजी उद्योगपतियों से आशा की जाती है। राष्ट्रीयकरण किये गये उद्योगों में प्रबन्धकों को सरकार कर्मचारी होने के कारण उद्योग से निजी लाभ उठाने की संभावना ही नहीं होती, इसलिए उन्हें न तो व्यवसाय बढ़ाने की इच्छा होती है और न इस ओर कोई आकर्षण होता है। जिन उगद्योगों का राष्ट्रीयकरण किया जा चुका है उनका विकास करने के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त करने में अधिक कर लगाने की आवश्यकता पड़ सकती है और यह संभव है कि आर्थिक दृष्टि से अविकसित देश की जनता 'कर' के इस अतिरिक्त भार का वहन करने में असमर्थ रहे।

भारत में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें कुछ उद्योगों की अधिकारिणी हैं और उन्हें चलाती हैं जिनमें रेलवे, डाक-तार, प्रतिरक्षा सम्बन्धी कारखाने, टेली-फोन कम्पनियाँ और कुछ बिजली की कम्पनियां सम्मिलित हैं। गत कुछ वर्षों से औद्योगिक क्षेत्र में राज्य का प्रवेश बढ़ता गया है। प्रीफेब्रीकेटेड हाउसिंग फैक्टरी १९४९ में स्थापित की गई और अगस्त १९५० से इसका उत्पादन कार्य आरम्भ हुआ; चितरन्जन लोकोमोटिव फैक्ट्री ने १९५० से कार्य आरम्भ किया, सिन्द्री खाद के कारखाने ने अक्टूबर १९५१ से उत्पादन आरम्भ किया। यह सभी राज-कीय उद्योग हैं। इनके अतिरिक्त हिन्दुस्तान विमान निर्माण उद्योग, प्रिसीजन इन्स्ट्रूमेंट फैक्टरी, नेशनल न्यूजप्रिन्ट और पेपर मिल्स लिमिटेड भी राजकीय उद्योग हैं। राज्य ने कुछ वर्तमान उद्योगों को भी अपने अधिकार में कर लिया है। १९५३ के विमान निगम कानून के अन्तर्गत सरकार ने विमान उद्योग पर अधिकार कर लिया है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर लेने से ही उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो जाती। राष्ट्रीयकरण होने से कम उत्पादन व्यय पर अधिक और अच्छा उत्पादन होना चाहिए। परन्तु भारत सरकार की राष्ट्रीकरण की नीति से यह उद्देश्य पूर्ण नहीं हुआ है। इसके विपरीत इन उद्योगों में जनता के धन की अपार क्षति हुई है और उत्पादन में अनुचित देरी हुई है। इस सम्बन्ध में सिन्द्री खाद कारखाने का उदाहरण दिया जा सकता है। पहले यह अनुमान लगाया गया था कि १०·५३ करोड़ रुपये में कारखाना स्थापित हो जायगा परन्तु अन्त में इस पर २३ करोड़ रुपया व्यय किया गया और स्थापित होने के सात वर्ष पश्चात् इसमें उत्पादन कार्य आरम्भ हो सका प्रीफेब्रीकेटेड हाउसिंग फैक्टरी द्वारा उत्पादित माल देश

के लिए अनुपयुक्त सिद्ध हुआ इसलिए उत्पादन आरम्भ होने के कुछ समय पश्चात् ही विक्रय के लिए मकानों का निर्माण बन्द कर दिया गया।

उक्त तथ्यों से जिनकी संख्या कम नहीं है, यह सिद्ध हो जाता है कि राज्य सन्तोषजनक रीति से उद्योगों को चला सकने में असमर्थ है। इसका कारण यह है कि राज्य को इस सम्बन्ध में अनेक संगठन-सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और विभिन्न समस्याओं को कुशलता पूर्वक हल करने के लिए उपयुक्त प्रशासन का अभाव है। योजना आयोग के कहने पर श्री ए० डी० गोरवाला ने राजकीय उद्योगों की कार्य-स्थिति की जाँच की और जुलाई १६५१ में इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट पेश की। श्री गोरवाला ने सुझाव दिया कि राजकीय उद्योगों को चलाने के लिए ६ सदस्यों की एक समिति नियुक्त की जाय जो इस सम्बन्ध में नीति निर्धारित करेगी। इसका एक अध्यक्ष होगा। यदि सरकार ने श्री गोरवाला की सिफारिशों को लागू किया होता तो उद्योगों का कार्य कुशलता पूर्वक आगे बढ़ाया जा सकता था।

संगठन सम्बन्धी इन सुधारों के अतिरिक्त यह आवश्यक है कि सरकार इस बात का आश्वासन दे कि उसके पास जो कुछ सीमित पूँजी है उससे चालू निजी उद्योगों को अपने अधिकार में कर मुआवजा देने की अपेक्षा नये कारखाने खोले जायँगे। वास्तव में आवश्यकता तो इस बात की है कि सरकार आधारभूत उद्योगों तथा ऐसे उद्योगों को चालू करे जिनको अनेक कारणों से निजी उद्योगपति आरम्भ नहीं कर सकते हैं। यदि सरकार यह नीति अपनाये तो इससे उद्योगपतियों में भविष्य के प्रति आशा जगेगी और राजकीय तथा निजी उद्योगों के बीच स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित हो सकेगा जिससे हमारे देश की आर्थिक प्रगति अधिक तीव्रता से हो सकती है।

अध्याय २३

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली

कोई भी व्यक्ति, फर्म या कम्पनी जिसे कम्पनी के साथ किए गए समझौते के अनुसार कम्पनी के सम्पूर्ण कार्यों को व्यवस्था करने का अधिकार प्राप्त है मैनेजिंग एजेन्ट कहलाता है। वह कम्पनी के संचालकों के नियन्त्रण में तथा निर्देशों के अनुसार या समझौते में दी गई अन्य व्यवस्था के अनुसार कार्य करता है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि मैनेजिंग एजेन्ट से अभिप्राय उस व्यक्ति, फर्म या कंपनी से है जिसके हाथ में लगभग सम्पूर्ण कम्पनी का प्रबन्ध हो और जिसको प्रबन्ध करने का यह अधिकार या तो कंपनी से किये गये समझौते के अनुसार मिला हो या कंपनी के नियमों के अन्तर्गत निहित समझौते की शर्तों के अनुसार मिला हो। साधारणतया प्रशासन के दृष्टिकोण से प्रबन्धक या मैनेजर ही संचालकों के नियन्त्रण में और उनकी देख-रेख में कार्य करता है परन्तु मैनेजिंग एजेन्ट की स्थिति इससे कुछ भिन्न है। मैनेजिंग एजेन्ट संचालकों के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष नियंत्रण में नहीं रहता है। संचालक समझौते की शर्तों की सीमा के अन्दर ही मैनेजिंग एजेन्ट पर नियन्त्रण रख सकते हैं या उसे निर्देश दे सकते हैं या यह सम्बन्ध तत्सम्बन्धी कानून के अनुसार निश्चित हो जाता है। इस प्रकार मैनेजिंग एजेन्ट की मुख्य विशेषताएँ यह है कि (१) वह कम्पनी का एजेन्ट होता है और कम्पनी के नियन्त्रण में कार्य करता है, (२) वह कम्पनी के प्रायः सभी कार्यों की व्यवस्था करनेवाला एजेन्ट होता है और (३) कम्पनी और उसके बीच में समझौता होने से ही एजेन्सी स्थापित हो जाती है। व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायगा कि मैनेजिंग एजेन्ट ही कम्पनी का वास्तविक स्वामी होता है। कम्पनी के संचालक मण्डल का उस पर कुछ विशेष नियन्त्रण नहीं होता।

उत्पत्ति और विकास—हमारे देश में दो प्रकार के मैनेजिंग एजेन्ट हैं—भारतीय और योरपीय। इन दोनों की उत्पत्ति में भेद है। भारत में उद्योगों की स्थापना का श्रेय अंग्रेजों को है और उन्होंने ही यह प्रणाली खोज निकाली। मैनेजिंग एजेन्सी की प्रणाली की उत्पत्ति वास्तव में भारत में ब्रिटिश उद्योगों की स्थापना का परिणाम है। पुरानी ब्रिटिश मैनेजिंग एजन्सियों के अथक प्रयत्नों से ही इस प्रणाली का क्रमशः विकास हुआ। जब ब्रिटेन तथा भारत के मध्य व्यापार

करने का उत्तरदायित्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निजी व्यापारियों और सौदागरों के हाथ में चला गया था तब पुरानी मैनेजिंग एजेन्सियों ने प्रथम बार यह अनुभव किया कि भारत का आर्थिक विकास करने के लिये बहुत व्यापक क्षेत्र खुला पड़ा है। भारत में यूरोपीय मैनेजिंग प्रणाली की उत्पत्ति का कारण यह था कि यहाँ प्रमुख यूरोपीय व्यापारियों की संख्या बहुत कम थी और उनमें से ऐसे संचालक अथवा प्रबन्ध संचालकों को चुन सकना अत्यन्त कठिन था जो व्यापार की निरन्तर देख-रेख करने के लिये अधिक समय तक भारत में रह सकें।

भारतीय मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली उत्पत्ति पूँजी के संगठित बाजार के अभाव के कारण हुई। हमारे देश में लोग पूँजी लगाने से संकुचाते हैं, यहाँ रुपया लगाकर व्यवसाय करने की भावना बहुत कम पाई जाती है। यहाँ उद्योगों की स्थापना में सहायता देने के लिये औद्योगिक बैंक नहीं हैं। रुपया लगानेवाली और अन्य प्रकार से प्रोत्साहन देने वाली संस्थायें बहुत कम हैं। इस अभाव की पूर्ति के लिये मैनेजिंग एजेन्सी का जन्म हुआ। मैनेजिंग एजेन्ट व्यवसाय आरम्भ करते हैं, उसमें रुपया लगाते हैं, उसका प्रबन्ध करते हैं और अन्य रुपया लगाने वालों में विश्वास उत्पन्न करते हैं। औद्योगीकरण के आरम्भ काल में जब न कोई उद्योग चालू करने की प्रवृत्ति थी और न पूँजी ही अधिक मात्रा में उपलब्ध की जा सकती थी उस समय मैनेजिंग एजेन्टों ने इन दोनों अभावों की पूर्ति की। आज भारत में सुसंगठित और दृढ़ स्थिति वाले सूती कपड़े, जूट तथा इस्पात इत्यादि उद्योग चले रहे हैं। इनकी वर्तमान स्थिति तक पहुँचने का श्रेय अनेक पुरानी मैनेजिंग एजेन्सियों को है जिन्होंने बड़े उत्साह और लगन के साथ इन उद्योगों की देख रेख की। इस समय भारत की अधिकांश कम्पनियों का प्रबन्ध उन्हीं के द्वारा होता है।

मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली विस्तार का ठीक ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है। एक स्रोत के अनुसार भारत में कम्पनियों की संख्या २८,५०० से अधिक है, और सब प्रकार के उद्योगों में विनियोग की कुल मात्रा प्रारम्भिक लागत के आधार पर १६०० या १७०० करोड़ रुपया अनुमान की जाती है। यदि वर्तमान मूल्य स्तर के आधार पर परिसंपत्ति का अनुमान लगाया जाय तो निस्सन्देह कहीं अधिक होगी। भारत में कम्पनियों के उत्पादन में सहायक कुल परिसंपत्ति का ८०% उन कम्पनियों की परिसम्पत्ति है जो मैनेजिंग एजेन्सियों के प्रबन्ध में हैं। यह भी अनुमान किया जाता है कि ६० प्रतिशत मैनेजिंग एजेन्सियाँ सीमित दायित्व वाली कम्पनियाँ हैं। एक अन्य स्रोत के अनुसार ३१ मार्च १६५५ में ३,६०० फर्म अथवा कम्पनियाँ थीं जो लगभग ४६०० कम्पनियों की मैनेजिंग एजेन्ट थीं।

इनमें से २५०० मैनेजिंग एजेन्सियाँ स्वत्वाधिकारी और साझेदारी फर्म थी और लगभग १२०० व्यक्तिगत और २०० जनता की कम्पनियाँ थीं। मैनेजिंग एजेन्सी फर्म प्रधानतः पश्चिमी बंगाल, बम्बई, और मद्रास में केन्द्रित हैं। उपर्युक्त स्रोत के अनुसार पश्चिमी बंगाल, बम्बई और मद्रास प्रदेशों में क्रमशः १५००, ८०० और ४५० मैनेजिंग एजेन्सियाँ काम कर रही हैं। अन्य प्रदेश, जिनमें १०० से अधिक मैनेजिंग एजेन्सियाँ हैं, वे उत्तर प्रदेश, देहली, मध्य प्रदेश और पंजाब हैं। उपर्युक्त सातों प्रदेशों में कुल मिलाकर देश की ८०% से अधिक मैनेजिंग एजेन्सियाँ कार्य कर रही हैं।

संगठन—कोई भी व्यक्ति, साझेदारी फर्म या निजी लिमिटेड कम्पनी मैनेजिंग एजेन्ट हो सकते हैं। इधर कुछ वर्षों से साझेदरी फर्म को निजी लिमिटेड कम्पनी में परिवर्तित करने की प्रवृत्ति हो रही है। इस समय भारत की प्रमुख एजेन्सियाँ बिड़ला ब्रदर्स लिमिटेड, टाटा इन्डस्ट्रीज़ लिमिटेड, साहू जैन लिमिटेड, डालमिया जैन लिमिटेड; जयपुरिया ब्रदर्स लिमिटेड, इत्यादि हैं। यह सभी निजी कम्पनियाँ हैं। मैंनेजिंग एजेन्सी फर्म बनाने के लिये सर्व प्रथम सीमित उत्तरदायित्व वाली कम्पनी स्थापित कर ली जाती है। इस कम्पनी के शेयरों का अधिकाँश उन्हीं व्यक्तियों के हाथ होता है जो कम्पनी चालू करते हैं। अन्य बाहरी व्यक्तियों को सीमित शेयर दिये जाते हैं। साधारणतः अन्य व्यक्तियों को शेयर, की कुल पूँजी के २५ प्रतिशत शेयर दिये जाते हैं, बहुत सी कम्पनियों में तो प्रायः सभी शेयर एक ही परिवार के पास होते हैं। टाटा सन्स एंड कम्पनी, नवरोजी वाडिया एण्ड सन्स, इत्यादि कम्पनियाँ इसी प्रकार आरम्भ की गईं। परन्तु संगठन सारे देश में समान नहीं है।

साधारण रूप से मैनेजिंग एजेन्सियों के कई प्रकार हैं जैसे बम्बई, अहमदाबाद और कलकत्ता की एजेन्सियाँ विभिन्न प्रकार की हैं। यह एजेन्सियाँ अपने विकसित रूप में,-अपने संगठन की रूप रेखा में एक दूसरे से भिन्न हैं। अहमदाबाद में मैनेजिंग एजेन्ट एक व्यक्ति होता है, बम्बई में साझेदार या निजी कम्पनी और कलकत्ता में अंग्रेजी प्रकार की लिमिटेड सार्वजनिक कम्पनी। समय की प्रगति के साथ इन एजेन्सियों का यह भेद समाप्त होता जा रहा है और वर्तमान में सभी स्थानों में सभी प्रकार की एजेन्सियाँ दिखाई देती हैं।

मैनेजिंग एजेन्ट प्रायः धनवान व्यक्ति होते हैं और उनके बहुत अच्छे व्यापारिक सम्बध होते हैं। बड़े एजेन्ट जिनके आधीन अनेक कम्पनियाँ होती हैं अपना कार्य विभागों में विभक्त कर देते हैं। जब एरबुथनाट एन्ड कम्पनी का व्यवसाय समाप्त किया गया उस समय उसके सात विभाग थे, जैसे बैंकिंग, जनरल

एजेन्सी, आयात और निर्यात, खाल और चमड़ा, नील, कपास और इमारती लकड़ी, जनरल शिपिंग और भू-सम्पत्ति और पश्चिमी तट एजेन्सी विभाग। कुछ मैनेजिंग एजेन्सियों जैसे बिड़ला एजेन्सी के अन्तर्गत एक से अधिक मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनियाँ होती हैं जो भिन्न प्रकार के उद्योगों का व्यवसाय देखती हैं। इसलिए प्रत्येक एन्जेसी अपने-अपने कार्य में विशेषज्ञ कही जा सकती है।

मैनेजिंग एन्जेसी का कार्य

साधारण रूप से भारत के मैनेजिंग एजेन्ट तीन महत्वपूर्ण कार्य करते हैं—(१) यह नए उद्योगों के लिए पथ प्रदर्शक का कार्य करते हैं। साथ ही उनकी स्थापना में विशेष योगदान देते हैं, (२) उद्योगों को स्थायी और चालू पूंजी के रूप में आर्थिक सहायता देते हैं, और (३) उद्योगों की दिन प्रति दिन की व्यवस्था करते हैं।

पथप्रदर्शक और प्रवर्त्तक के रूप में—इङ्गलैण्ड और अमरीका में ऐसी अनेक संस्थाएँ हैं जो नए उद्योगों के स्थापना की प्रेरणा देती हैं। प्रवर्तक के रूप में यह संस्थाएँ उद्योगों के सम्बन्ध में खोज कार्य करती रहती हैं और भविष्य में विकास कर सकने वाले उद्योग की स्थापना में महत्वपूर्ण सहयोग देती हैं। जब कोई नवीन उद्योग या व्यवसाय चालू किया जाता है तो रुपया लगाने वाले को सदा यह चिन्ता लगी रहती है कि कहीं उद्योग असफल न हो जाय और उसकी पूँजी डूब न जाय। पाश्चात्य देशों में ऐसी संस्थाएँ हैं जो ठीक समय पर शेयरों की बिक्री करती हैं और ऐसी संस्थायें हैं जो भविष्य में उपयुक्त अवसर पर विक्रय करने के लिए इन शेयरों को क्रय कर लेती हैं। परन्तु भारत में ऐसी संस्थाएँ बहुत कम हैं और इनके अभाव की पूर्ति मैनेजिंग एजेन्ट करते हैं। भारत में जिन व्यक्तियों ने सर्वप्रथम उद्योगों की स्थापना की उनके पास साधनों का अभाव नहीं था और किसी योजना को व्यवहारिक रूप देने के पूर्व वे विशेषज्ञों द्वारा उनकी सारी संभावनाओं की परीक्षा करा लेते थे। यह उन्हीं के साहस और उत्साह का फल है कि भारत में सूती कपड़े, लोहे और इस्पात, जूट, सिमेंट इत्यादि के उद्योग चल रहे हैं। वित्त आयोग (१९४९-५०) का मत है कि सूती कपड़ा, जूट, लोहा और इस्पात तथा सिमेंट उद्योगों की स्थापना का श्रेय मैनेजिंग एजेन्सियों को ही है। इन्हीं एजेन्सियों के पथ प्रदर्शन से यह संभव हो सका। इधर कुछ वर्षों में इन एजेन्सियों ने इंजीनियरिंग, केमिकल और मोटर उद्योगों की स्थापना की है। हिन्दुस्तान मोटर्स लिमिटेड, टैक्सटायल मशीनरी करपोरेशन लिमिटेड इत्यादि इस प्रकार के उद्योगों के उदाहरण हैं।

गत कुछ वर्षों से भारतीय मैनेजिंग एजेन्ट उद्योग में रुपया कम लगा रहे हैं। इसका कारण यह नहीं है कि उनकी इस दिशा में पथप्रदर्शन की तथा नए उद्योगों की स्थापना में सहयोग देने की भावना शिथिल पड़ गई है। इसका कारण सरकार की औद्योगिक नीति है। इस नीति से अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हो गई हैं। सरकारी नियंत्रणों, श्रम सम्बन्धी कानूनों और समझौता बोर्डों तथा पंच न्यायालयों के न्याय से उत्पादन व्यय में तो वृद्धि होती जाती है परन्तु उत्पादित माल के मूल्य में वृद्धि नहीं की जाती।

वित्त व्यवस्था—मैनेजिंग एजेन्ट उद्योग के लिए केवल स्थायी पूँजी की ही व्यवस्था नहीं करते वरन् इसके साथ ही पुर्नसंगठन, आधुनिकीकरण और कारखाने का प्रसार करने के लिए दीर्घकालीन पूँजी की और चालू पूँजी तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अल्पकालीन वित्त व्यवस्था भी करते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट ऋण के रूप में शेयर के रूप में, और ऋणपत्र क्रय कर उद्योगों की पूँजी की आवश्यकता पूरी करते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट अपने सगे-संबन्धियों तथा मित्रों को कम्पनी के शेयर क्रय करने की प्रेरणा देते हैं, और इसके लिए उन्हें प्रोत्साहित करते हैं। यह ऋण देने की गारन्टी देते हैं और इस प्रकार जनता का रुपया प्राप्त करते हैं। राष्ट्रीय योजना समिति ने निम्नलिखित ब्यौरा निर्माण किया है जिसको देखने से यह प्रकट होता है कि मैनेजिंग एजेन्टों ने इस सम्बन्ध में कितना कार्य किया है।

	बम्बई की ६४ मिलें		अहमदाबाद की ५६ मिलें	
	रुपया (लाखों में)	कुल धन का प्रतिशत	रुपया (लाखों में)	कुल धन का प्रतिशत
(१) मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा दिया गया ऋण	५३२	२१	२६४	२४
(२) बैंकों द्वारा दिया गया ऋण	२२६	६	४२	४
(३) जनता का जमाधन	२७३	११	४२६	३६
(४) शेयरों की कुल पूँजी	१,२१४	४६	३४०	३२
(५) ऋण पत्र का धन	२३८	१०	८	१

इन आँकड़ों से स्पष्ट है कि आर्थिक सहायक के रूप में मैनेजिंग एजेन्टों का कितना महत्वपूर्ण स्थान है। उद्योगों को अपनी आवश्यकता का लगभग एक चौथाई अंश सीधे इनसे मिलता है। अहमदाबाद और बम्बई में जनता के जमा-

धन से जो क्रमशः ३६ प्रतिशत और ११ प्रतिशत सहायता मिली उसका श्रेय भी मैनेजिंग एन्जेटों की प्रसिद्धि को ही है। हमारे देश में बैंक तब तक ऋण नहीं देते हैं जब तक दो जमानती न बनें। मैनेज़िंग एजेन्ट ऐसे अवसरों पर दूसरी जमानत स्वयं लेते हैं। जहाँ तक यूरोपियन मैनेजिंग एजेन्टों का प्रश्न है उनके कार्य में शिथिलता का अनुभव किया जा रहा है। वित्त आवश्यकता की पूर्ति करने और इसकी गारन्टी देने की ओर उनका उत्साह घटता दिखाई दे रहा है। मैनेजिंग एजेन्टों के आर्थिक सहायक के रूप में चाहे कितनी ही शिथिलता हो रुपया लगाने वाला, टाटा, बिड़ला तथा अन्य प्रसिद्ध मैनेजिग एजेन्टों के नाम से तुरन्त आकृष्ट होता है। कम्पनी कानून समिति की रिपोर्ट में कहा गया है कि मैनेजिंग एजेन्ट का निजी उद्योगों के लिए अब भी महत्वपूर्ण साधन हैं। मँदी के समय जब किसी अन्य साधन से रुपया मिलना संभव नहीं रहता है मैनेजिंग एजेन्ट यथा समय पूँजी की व्यवस्था कर देते हैं। कुछ मैनेजिंग एजेन्टों में आत्म सम्मान की इतनी अधिक भावना है कि उन्होंने अपने द्वारा आरम्भ किए हुए व्यवसाय की नष्ट होने से रक्षा करने के लिए अपनी समस्त सम्पत्ति तक दांव पर लगा दी। परन्तु ऐसे उदाहरण बहुत कम हैं और यह देखा गया है कि मैनेजिंग एजेन्टों ने अपनेआधीन उद्योगों की विशेष देख-माल न कर प्रायः उन्हें उनके भाग्य पर ही छोड़ दिया।

प्रबन्ध—मैनेजिंग एजेन्ट केवल उद्योग का सफल आरम्भ ही नहीं चाहते वरन् उद्योग की सम्पूर्ण व्यवस्था को उचित रीति से कार्यान्वित करना चाहते हैं। वह चाहते हैं कि उद्योग ठीक प्रकार से चले। इसका उन्हें तब तक विश्वास नहीं हो सकता है जब तक उनका उस पर नियंत्रण न हो। इसका प्रायः यह परिणाम हुआ कि मैनेजिंग एजेन्ट उद्योग पर नियंत्रण रखने के साथ ही उसके अधिकारी भी बन बैठे। परन्तु वह बात सर्वत्र लागू नहीं होती हैं। अनेक कम्पनियों में मैनेजिंग एजेन्टों का नियंत्रण तो पूर्ण है, परन्तु शेयर बहुत कम हैं।

प्रत्येक प्रमुख मैनेजिंग एजेन्सी के केन्द्रीय कार्यालय में उद्योगों के आधार पर भिन्न भिन्न विभाग होते हैं; साथ ही प्रत्येक उद्योग के विभिन्न विभागों के लिए केन्द्रीय कार्यालय में उप-विभाग होते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट अपने आधीन कम्पनियों या कारखानों द्वारा उत्पादित माल को क्रय और विक्रय करते हैं। प्रायः यह अनेक वस्तुओं का आयात करते हैं और निर्यात भी करते हैं। इस प्रकार यह बड़े पैमाने पर क्रय-विक्रय करने का लाभ उठाते हैं। यह लाभांश सदैव कम्पनियों को नहीं दिया जाता है, एजेन्ट इसे स्वयं ले लेते हैं। इस पर भी कम्पनी को अपने माल का इन मैनेजिङ्ग एजेन्टों के द्वारा क्रय-विक्रय कराने में बचत ही होती है इसके

लिए उन्हें एक भिन्न संस्था स्थापित नहीं करनी पड़ती। इसके साथ ही जब मैनेजिंग एजेन्ट एक उद्योग के एक से अधिक कारखानों पर नियन्त्रण रखता है तब इनमें प्रतियोगिता का जोर कम पड़ जाता है और क्षति नहीं हो पाती। एक छोटी कम्पनी प्रथम श्रेणी के विशेषताओं की सहायता लेने में असमर्थ होती हैं परन्तु यह मैनेजिंग एजेन्ट अनेक कम्पनियों के प्रबन्ध कर्त्ता होने के कारण प्रथम श्रेणी के अभियन्ताओं और प्रविधिज्ञों को नियुक्त करते हैं जो भिन्न कम्पनियों की देख भाल कर सकते हैं। इस में जो कुछ व्यय होता है वह इन कम्पनियों में विभाजित कर दिया जाता है।

प्रणाली की त्रुटियाँ

मैनेजिंग एजन्टों ने अनेक महत्वपूर्ण कार्य किये हैं, परन्तु इधर कुछ वर्षों से इस प्रणाली में कुछ दोष प्रकट होने लगे हैं। राष्ट्रीय योजना आयोग की औद्योगिक वित्त व्यवस्था सम्बन्धी उपसमिति की राय है कि यह प्रणाली बिल्कुल व्यर्थ हो चुकी है। परन्तु यह दोषारोपण अन्यायपूर्ण और असंतुलित है। भारत के औद्योगिक और आर्थिक विकास में दोषों के होते हुये भी मैनेजिंग एजेन्सियों का बहुत बड़ा हाथ रहा। जो कुछ भी हो, जब तक इसका स्थानापन्न न मिल जाय हम इस प्रणाली के बिना कार्य चला नहीं सकते।

कम्पनी को लाभ होने पर लाभ का कुछ प्रतिशत मैनेजिग एजेन्ट को वेतन के रूप में दिया जाता है। परन्तु लाभ न होने पर कार्यालय का कार्य चलाने के लिये कुछ धन दिया जाता है। इसके साथ ही एजेन्ट कमीशन के रूप में भी कम्पनी से कुछ और धन वसूलता है। १६३६ के भारतीय कम्पनी कानून की धारा ८७ (सी) के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई थी कि कम्पनी को वर्ष भर में जो वास्तविक लाभ होगा उसका निश्चित प्रतिशत एजेन्ट को वेतन के रूप में दिया जायगा और उचित लाभ न होने पर कुछ न कुछ धन दिया जायगा। १६३६ से पूर्व मैनेजिंग एजेन्ट माल की बिक्री के आधार पर अपना वेतन लेते थे। यह ढंग कम्पनियों के प्रति न्यायसंगत नहीं था। १६३६ के कानून से स्थिति में काफी सुधार हुआ है परन्तु क्योंकि धारा ८७ (सी) उन कम्पनियों पर लागू नहीं होती है जो १५ जनवरी १६३७ से पूर्व ही रजिस्टर हो चुकी थीं, इसलिये कुछ मैनेजिंग एजेन्ट अपना वेतन अब भी उसी पुराने आधार पर ले रहे हैं। हुकुमचन्द मिल्स लिमिटेड, एलेम्बिक वर्क्स कम्पनी लिमिटेड, एलेम्बिक ग्लास इन्डस्ट्रीज़ लिमिटेड के मैनेजिंग एजेन्ट बिक्री और लाभ दोनों के आधार पर वेतन पाते हैं। मैनेजिंग एजेन्ट के वेतन के रूप में एक से अधिक आधार पर धन वसूलने के दोष को रोकने के लिये कम्पनी कानून समिति (१६५२) ने सुझाव दिया

कि मैनेजिंग एजेन्ट को कम्पनी के वार्षिक लाभ का १२½ प्रतिशत से अधिक अंश न दिया जाय।

तालिका नं० २

लाभ तथा मैनेजिंग एजन्टों का वेतन (करोड़ रुपयों में)

	१९४६	१९५१
मैनेजिंग एजन्टों का वेतन	७.३१	१०.१४
कर	२७.८८	२५.२६
वितरित लाभ	१५.५१	२०.६२
रोका हुआ लाभ	१०.७८	१७.९३
योग	६१.४८	७३.९४

१९५५ के करारोप जाँच आयोग को यह ज्ञात हुआ था कि मैनेजिंग एजेन्टों को १९४६ और १९५१ में शेयर होल्डरों के लाभ का आधा प्राप्त हुआ था, जैसा कि उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है।

मैनेजिंग एजन्टों की औसत आय लाभ के प्रतिशत अनुपात में १९४६ में १२% थी और १९५१ में बढ़कर १४% हो गई। यद्यपि १९५१ में औसत १३·७% (अर्थात् १४% के लगभग) था, पर विभिन्न उद्योगों के सम्बन्ध में प्रतिशत की मात्रा भी विभिन्न थी। जहाजरानी, जूट के बने माल, बिजली, कोयला, सूती कपड़े, चीनी, सीमेंट, लोहा और इस्पात आदि उद्योगों में आय का प्रतिशत क्रमशः २१·४, २०·३, १८·१, १६·७ १६·४, १५·८, ०·३ तथा ७·३ था।

पर्याप्त लाभ न होने पर मैनेजिंग एजेन्टों को कम से कम कुछ धन दिया जाता है। प्रायः समझौते के समय यह धनराशि निश्चित कर दी जाती है। कम्पनी कानून समिति ने सुझाव दिया है कि कभी-कभी यह धन अत्यधिक हो जाता है इसलिये ५० हजार रुपये से अधिक नहीं होना चाहिये।

लाभांश के कुछ निश्चित प्रतिशत के रूप में और कुछ परिस्थितियों में दिये जाने वाले न्यूनतम धन के अतिरिक्त मैनेजिंग एजेन्टों को कार्यालय का भत्ता भी मिलता है। कार्यालय के भत्ते में कार्यालय का विस्तार और उसका किराया, टैक्स, बिजली, पंखे, क्लर्कों का दफ्तर, पत्र इत्यादि प्रेषित करने का व्यय, जाँच तथा रुपये-पैसे की व्यवस्था करने वाला विभाग, सीनियर एकाउन्टैन्ट और सेक्रेट्रिएट के कर्मचारियों की सहायता, डाक-व्यय, कागज, पेन्सिल, और चपरासी इत्यादि पर किया जाने वाला सभी व्यय सम्मिलित है। अर्थात् मैनेजिंग एजेन्ट

कम्पनी की ओर से कार्यालय में जो कुछ व्यय करता है कार्यालय के भत्ते के रूप में उसको वसूल कर लेता है। परन्तु साधारणतया मैनेजिंग एजेन्ट व्यय से कहीं अधिक धन वसूलते हैं और उसको अपनी अतिरिक्त आय के रूप में उपभोग करते हैं। कम्पनी कानून समिति (१६५२) ने सुझाव दिया है कि मैनेजिंग एजेन्टों को कार्यालय का भत्ता न दिया जाय वरन् इसके स्थान पर जो कुछ वास्तव में व्यय किया गया हो उतनी धनराशि दी जाय। इस सुझाव की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इस व्यवस्था से कार्य-भार बढ़ जायगा और हिसाब-किताब रखने में कठिनाई होगी। परन्तु यह कठिनाई एक दोष को समाप्त करने के लिए सहन की जा सकती है।

मैनेजिग एजेन्सी प्रणाली में और भी दोष हैं। मैनेजिंग एजेन्ट गैर कानूनी कार्यों के लिए ऋण लेते हैं, व्यापार के उद्देश्य से नहीं वरन् मित्रों को देने के लिए ऋण लिया जाता है, अन्य कारखानों में लगाकर रुपया फँस जाता है और वित्त-स्थिति शिथिल हो जाती है। जिन कारखानों या कम्पनियों की वित्त स्थिति दृढ़ है उनकी सम्पत्ति को रेहन रख दिया जाता है, कम्पनी को रुपयों की आवश्यकता न रहते हुए भी मैनेजिग एजेन्ट की आवश्यकता पूर्ति के लिये या उनकी कोई योजना कार्यान्वित करने के लिए ऋणपत्र प्रचलित किये जाते हैं। इन दोषों को दूर करने के लिये कम्पनी कानून-समिति ने कुछ सुझाव दिये हैं :—(१) मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा लिखे गये ऋण की न तो कम्पनी गारन्टी दे और न स्वयं उन्हें ऋण दे, (२) एजेन्ट के पास कम्पनी का चालू खाता २० हजार से अधिक का नहीं होना चाहिये और (३) कम्पनी के रुपये को अन्यत्र किसी कारखाने इत्यादि में लगाने पर प्रतिबन्ध लगाना चाहिये। परन्तु इनमें से कुछ प्रतिबन्ध ऐसे हैं जिनके लागू हो जाने से मैनेजिंग एजेन्ट को कार्य करने की स्वतंत्रता कम हो जायगी और कोई नया कार्य करने या किसी कठिनाई को हल करने के लिए मैनेजिंग एजेन्ट पूर्व की सी तीव्र गति से कार्य नहीं कर पायेगा। उसमें कुछ उदासीनता आने लगेगी।

बम्बई के शेयर होल्डर एसोसियेशन ने इस ओर संकेत किया है कि अनेक बार मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकारों को बिना खरीदार की वित्त स्थिति और प्रसिद्धि का पता लगाये और शेयर होल्डरों तथा अन्य कर्मचारियों के हितों पर बिना विचार किये दूसरों को बेच दिया गया। विगत वर्षों में कम्पनी के स्वामियों और मैनेजिग एजेन्सी के नियन्त्रण में निकट सम्पर्क रहने के कारण सदैव उद्देश्य की एकता बनी रही और एक दूसरे के हितों का हनन प्रायः न हो सका परन्तु अब मैनेजिंग एजेन्ट और उनके अधीन कम्पनी के पृथक व्यक्तियों का निकट सम्बन्ध

प्रायः समाप्त हो चुका है। ऐसे भी अवसर आए हैं जब मैनेजिंग एजेन्सी के अधिकार संकट में पड़ गए। इससे स्थिति इतनी बिगड़ी कि १९५१ में सरकार को भारतीय कम्पनी कानून की धारा ८७ (बी) में संशोधन करने के लिये एक अध्यादेश की घोषणा करनी पड़ी। सरकार ने इस अध्यादेश के द्वारा यह व्यवस्था की कि मैनेजिंग एजेन्ट यदि अपने अधिकार किसी को सौंपता है तो यह कार्यवाही तब तक वैध नहीं मानी जायगी जब तक कम्पनी इस परिवर्तन को अपनी साधारण सभा में स्वीकार न कर ले और केन्द्रीय सरकार अपनी स्वीकृति न दे।

इन्डियन कम्पनीज एक्ट, १९५६—१९५६ का भारतीय कम्पनी एक्ट मैनेजिंग एजेन्टों पर कड़े प्रतिबन्ध लागू करता है। यह एक्ट १९३६ के एक्ट की अपेक्षा अधिक विशद तथा पूर्ण है। एक्ट में यह दिया हुआ है कि केन्द्रीय सरकार सरकारी गजेट में अधिसूचना द्वारा विशेष व्यवसायों तथा उद्योगों में संलग्न सब कम्पनियों के सम्बन्ध में यह घोषणा कर सकती है कि किसी निश्चित तिथि के तीन वर्ष पश्चात् से अथवा १५ अगस्त १९६० से जो भी बाद में पड़े, वे मैनेजिंग एजेन्टों के प्रबन्ध में नहीं रहेंगे। दूसरे अंश में यह व्यक्त किया गया है कि इस एक्ट के लागू होने के पश्चात कोई भी मैनेजिंग एजेन्सी कम्पनी किसी अन्य मैनेजिंग एजेन्ट के प्रबन्नध में न रहेगी। अन्य कम्पनियों के सम्बन्ध में मैनेजिंग एजेन्टों की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति सर्वप्रथम कम्पनी द्वारा सर्वसाधारण की सभा में और तत्पश्चात् केन्द्रिय सरकार द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है। ऐसे अवसरों पर सरकार अपनी स्वीकृति तभी देने को तैयार होगी जब कि उसे यह विश्वास हो जायगा कि (१) मैनेजिंग एजेन्ट की नियुक्ति से जनता से हित की हानि की सम्भावना नहीं है और (२) जिस मैनेजिंग एजेन्ट की नियुक्ति अथवा पुनर्नियुक्ति की जानेवाली है, वह सर्वथा उपयुक्त है तथा मैनेजिंग एजेन्सी संविदा की शर्तें न्याययुक्त तथा तर्कसंगत है। इन दो अंशों से सरकार को बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हैं। इसके अतिरिक्त मैनेजिंग एजेन्टों के कार्य करने की अवधि, वेतन, अधिकार इत्यादि पर अनेकों प्रतिबन्ध लगाये गये हैं। एक्ट में निम्न बातें दी हुई हैं :—

(१) कोई भी नवीन मैनेजिंग एजेन्सी का संविदा १५ वर्ष से अधिक के लिये नहीं किया जा सकता और किसी मैनेजिंग एजेन्ट की पुनर्नियुक्ति २० वर्ष से अधिक के लिये नहीं की जा सकती;

(२) अगस्त १९६० के पश्चात् कोई भी व्यक्ति एक समय में दस कम्पनियों से अधिक का कर्मचारी नहीं बन सकता। जो मैनेजिंग एजेन्ट वर्तमान समय में हैं उनकी कार्यविधि का १५ अगस्त १९६० को अन्त हो जायगा, यदि उनकी

पुनर्नियुक्ति इस तिथि के पूर्व के प्रचलित नियमों के अनुसार नहीं कर दी जाती;

(३) यदि कोई एजेन्ट दिवालिया है अथवा उसे कम से कम ६ माह का कारावास का दण्ड मिला है तो उसे स्वतः अपना पद त्याग देना होगा। यदि कोई एजेन्ट धोखा देता है अथवा विश्वासघात करता है या कर्तव्य से गिर जाता है और कुप्रबन्ध करता है तो उस कम्पनी अपने तत्संबन्धी प्रस्ताव द्वारा पद से हटा सकती है।

(४) मैनेजिंग एजेन्ट द्वारा कार्यालय के स्थानान्तरित करने के संबन्ध में कंपनी और सरकार दोनों की स्वीकृति परमावश्यक है। बिना उसके यह सम्भव नहीं हो सकता।

जहाँ तक एजेन्टों के वेतन का प्रश्न है एक्ट में यह बताया गया है कि किसी भी मैनेजिंग एजेन्ट को सामान्यतः कम्पनी के वास्तविक लाभ के १०% से अधिक वेतन के रूप में नहीं दिया जायगा पर अतिरिक्त आय के लिये कम्पनी को एक विशिष्ट प्रस्ताव द्वारा अनुमति प्रदान करना तथा केन्द्रीय सरकार द्वारा इस आधार पर स्वीकृति प्राप्त करना कि यह जनता के हित में है आवश्यक होगा।

यह एक्ट मैनेजिंग एजेन्टों के अधिकारों पर भी प्रतिबन्ध लगाता है। मैनेजिंग एजेन्ट अपने अधिकारों का प्रयोग कम्पनी के निर्देशकों की समिति के निरीक्षण, नियत्रण और निर्देशन में ही कर सकता है जो कि कम्पनी के नियमों तथा समझौते की शर्तों के अन्तर्गत होगी। अन्य क्षेत्रों में भी प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जैसे (१) मैनेजिंग एजेन्सियों के प्रबन्ध में कम्पनियों द्वारा ऐजेन्टों को ऋण देना; (२) एक ही मैनेजिंग एजेन्सी के प्रबन्ध में एक से अधिक कम्पनियों का आपस में एक दूसरे को ऋण देना; (३) एक कम्पनी द्वारा उसी वर्ग की अन्य कम्पनी के शेयरों को क्रय करना; (४) मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा उनके प्रबन्ध के अन्तर्गत कम्पनियों के व्यवसाय से स्पर्धा करने वाले व्यवसायों से कार्य करना। इन नियमों की उपेक्षा करने पर कठोर दण्ड की भी व्यवस्था की गई है। अन्त में निर्देशकों की नियुक्ति सम्बन्धी मैनेजिंग एजेन्टों के अधिकारों में भी अनेक प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। अब एजेन्ट ऐसी व्यवसायिक इकाइयों में जहाँ पाँच से अधिक निर्देशक होते हैं दो से अधिक नहीं और जिनमें केवल पाँच तक निर्देशक होते हैं उनमें केवल एक निर्देशक की नियुक्ति कर सकता है।

मैनेजिंग एजेन्सी का भविष्य

अतीत में इस प्रणाली में अनेक दोष रहे हैं और भ्रष्टाचार के लिए पर्याप्त क्षेत्र रहा है। राष्ट्रीय योजना आयोग ने सुझाव दिया है कि सर्वप्रथम इस प्रणाली

का उन्मूलन कर देना चाहिए जिससे औद्योगिक वित्त व्यवस्था के नाम पर इस प्रणाली के समर्थक अपने असंगत तर्क प्रस्तुत न कर सकें। परन्तु बम्बई के मिल मालिक संघ ने इस ओर सही संकेत किया है कि मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली की आवश्यकता इसलिये अनुभव की जाती है कि देश में बैंकों की वर्तमान स्थिति को देखते हुए व्यवसाय चालू करने के लिए शेयरों की पूंजी मिल सकना कठिन है और किसी उद्योग को चलाने के लिए आवश्यक वित्त की पूर्ति नहीं की जा सकती है। इसकी पूर्ति के लिए किसी व्यक्ति या संस्था को सहायता की आवश्यकता होती है जो मैनेजिंग एजेन्ट से उपलब्ध की जा सकती है। कम्पनी कानून समिति का यह सुझाव उचित है कि देश की वर्तमान आर्थिक स्थिति में मैनेजिंग एजेन्सी प्रणाली पर निर्भर करने से लाभ ही होगा। वास्तव में सम्पूर्ण प्रणाली ही को भंग करने की माँग करने की अपेक्षा इस बात की आवश्यकता है कि उपयुक्त कानून बनाकर प्रणाली के दोषों को दूर किया जा जाय। कम्पनी एक्ट के मैनेजिंग प्रणाली पर सम्पूर्ण प्रभाव की अभी से कल्पना कर लेना कठिन है। इसमें संदेह नहीं कि इससे कुछ महान दोष प्रणाली में अवश्य मिट जायेंगे पर इससे मैनेजिंग एजेन्टों द्वारा नवीन कम्पनियों के आरम्भ में भी संकुचन आयेगा क्योंकि (१) मैनेजिंग एजेन्सी संविदा की अवधि घटा दी गई है; (२) मैनेजिंग एजेन्टों के वेतन में कमी कर दी गई है, और (३) विस्तृत प्रतिबन्धों को लगाने से एक विरोधी मनोवैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न कर दिया गया है। परन्तु डा० एन० दास के मतानुसार भविष्य अंधकारमय नहीं है। उनका कहना है कि कोषाध्यक्ष और मन्त्री के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध लगाये गये हैं वे वर्तमान मैनेजिंग एजेन्सियों को इस बात का अवसर प्रदान करते हैं कि वे अपने को अधिक उपयोगी कार्य संचालक के रूप में परिणित कर सकते हैं। यह ठीक है कि कोषाध्यक्ष और मन्त्री को वास्तविक लाभ का केवल ७½% ही आय के रूप में प्राप्त हो सकेगा; उन्हें कम्पनी द्वारा निर्मित माल के विक्रय करने का अधिकार न होगा; और न उन्हें मशीनों, स्टोर का सामान, और कच्चा माल, आदि क्रय करने अथवा उनका व्यापार करने का अधिकार ही होगा। परन्तु ये सब प्रतिबन्ध वर्तमान सुविधाओं में साधारण कमी मात्र ही है और इसका कोई औद्योगिक उपक्रमों पर अहितकर प्रभाव न पड़ेगा। भारत के उपक्रमिकों ने भूतकाल से ऐसी सहनशीलता दिखलाई है कि उनके मित्र और उनके कठोरतम समालोचकों को भी आश्चर्य हुआ है। इसके कोई कारण नहीं कि वे इस नवीन बाधा का जो उनके सम्मुख खड़ी कर दी गई है सफलतापूर्वक सामना न कर सकें।

अध्याय २४

औद्योगिक वित्तीय निगम (कार्पोरेशन)

किसी देश का औद्योगिक विकास अधिकतर उद्योग की स्थिर तथा चालू पूँजी की आवश्यकता पूर्ति के लिए उपलब्ध वित्त पर निर्भर करता है। अन्य देशों की तरह भारत में बड़े साहसी, जो प्रसिद्ध हैं या जो मैनेजिंग एजेन्ट हैं, अपनी औद्योगिक योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिए रुपया संग्रह कर लेते हैं। वह अपना रुपया लगा सकते हैं, अपने मित्रों के रुपयों को आकर्षित कर सकते हैं और आवश्यकता पड़ने पर बैंकों से ऋण ले सकते हैं और इनके आधीन कम्पनियों द्वारा प्रचलित किये गये शेयरों की भी शीघ्र ही बिक्री हो जाती है। परन्तु इस क्षेत्र में वास्तविक कठिनाई का सामना उन व्यापारियों को करना पड़ता है जो अधिक परिचित नहीं हैं, जिनके पास उचित योजनायें तो हैं परन्तु उन्हें कार्यान्वित करने के लिए पर्याप्त वित्त नहीं है। वास्तव में इन्हीं व्यापारियों को सहायता की सर्वाधिक आवश्यकता है। यदि परिस्थितियाँ पूँजी संग्रहीत करने के अनुकूल न हों तो बड़े उद्योगपतियों को भी अपना व्यवसाय फैलाने के लिए या कारखानों की मशीनों को बदल कर नयी मशीनें लगाने के लिए सहायता की आवश्यकता पड़ती है। कुछ विदेशों में औद्योगिक बैंक हैं जिनसे आवश्यक रुपया मिल जाता है, परन्तु भारत में ऐसे औद्योगिक बैंक नहीं हैं। जर्मनी में, जहाँ मिश्रित बैंकिंग की व्यवस्था थी, व्यापारिक बैंक उद्योगों को स्थिर पूँजी भी देते थे परन्तु यह उपयुक्त सिद्धान्त नहीं है। व्यापारिक बैंकों में जमा धन अल्प-कालिक होता है इसलिए इसमें भय की संभावना रहती है। मिश्रित बैंक जर्मनी में सफल नहीं हो सके और वह भारत के लिए भी उचित नहीं हैं। इन कारणों से यह आवश्यक है कि आवश्यकता ग्रस्त उद्योगो की सहायता के लिए पूँजी देने के लिए विशेष प्रकार की संस्था स्थापित की जाय। केन्द्रीय बैंक व्यवस्था जाँच समिति ने सुझाव दिया कि भारत में इस कार्य के लिए औद्योगिक वित्तीय कार्पो-रेशन की स्थापना की जाय। एशिया तथा सुदूर पूर्वीय आर्थिक सम्मेलन क्षेत्र में घरेलू पूँजी के संग्रह कार्य की जाँच करने वाली वर्किङ्ग पार्टी ने भी इसी प्रकार के वित्तीय कार्पोरेशन की स्थापना का सुझाव दिया है और साथ ही विकास कार्पो-रेशन के लिए सुझाव दिये हैं।

केन्द्रीय निगम (कार्पोरेशन)

शेयरों की पूँजी—संसद द्वारा स्वीकृत कानून के अनुसार १ जुलाई १९४८ को औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन की स्थापना की गई। कार्पोरेशन के

सम्बन्ध में यह विवाद उठ खड़ा हुआ कि कार्पोरेशन राज्य का हो या हिस्सेदारों का हो। राज्य कार्पोरेशन के लाभ अधिक सुदृढ़ता और किसी प्रकार के भेदभाव का अभाव हैं परन्तु चूँकि इस प्रकार का कार्पोरेशन स्थापित करने के लिए भारत सरकार के पास आवश्यक साधन नहीं हैं इसलिए यह उचित समझा गया कि कार्पोरेशन हिस्सेदारों की संस्था बने। राजकीय कार्पोरेशन तब उपयुक्त होता जब बैंकों और उद्योगों इत्यादि का भी राष्ट्रीयकरण हो जाता। परन्तु यह सब निजी उद्योगपतियों के हाथ में हैं इसलिए हिस्सेदारों का कार्पोरेशन ही अधिक उपयुक्त है। कार्पोरेशन को सुदृढ़ बनाने के लिए यह निश्चय किया गया कि इस कार्पोरेशन के हिस्सेदार केवल सरकार, रिज़र्व बैंक और कुछ विशेष संस्थाएँ बनें।

कार्पोरेशन के शेयरों की पूँजी १० करोड़ रुपये है जो ५,००० रुपये के शेयरों में विभक्त है। आरम्भ में ५ करोड़ रुपये के पूर्ण भुगतान किये जाने वाले शेयर प्रचलित किये गये जो सब क्रय कर लिए गये। इनमें से भारत सरकार और रिजर्व बैंक को एक करोड़ रुपये के शेयर दिए गए हैं, अनुसूचित बैंकों को १½ करोड़ रुपये और बीमा कम्पनी तथा विनियोग ट्रस्टों को १½ करोड़ और सहकारी बैंकों को ५० लाख रुपयों के शेयर दिये गये। भारत सरकार ने पूँजी को चुकाने की गारन्टी दी है और हिस्सेदारों को न्यूनतम वार्षिक लाभांश (जिस पर कर नहीं लगेगा) भी दिया जायगा जिसकी दर वर्तमान में २½ प्रतिशत है।

कार्पोरेशन का संचालन १२ संचालकों का मण्डल करता है जिसमें तीन संचालकों को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती है, दो संचालकों को रिज़र्व बैंक नियुक्त करता है, ६ संचालकों को अन्य हिस्सेदार निर्वाचित करते हैं जिनमें से दो का निर्वाचन अनुसूचित बैंक करते हैं, दो संचालकों को सहकारी बैंक और दो को बीमा कम्पनी चुनती हैं और प्रबन्ध संचालक केन्द्रीय बैंक नियुक्त करता है।

कार्य—कार्पोरेशन को निम्नलिखित कार्य करने का अधिकार दिया गया है :—

(१) यदि कोई औद्योगिक संस्था ऐसी शर्तों पर जिन पर दोनों पक्ष सहमत हों जनता से ऋण संग्रहीत करे और यह ऋण २५ वर्ष के अन्दर ही वापस किया जाने वाला हो तो कार्पोरेशन उसकी गारन्टी दे सकता है।

(२) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा प्रचलित किये गए स्टाक, शेयर, बौण्ड और ऋण-पत्रों को कार्पोरेशन स्वयं क्रय कर उनके विक्रय की व्यवस्था कर सकता है परन्तु यह आवश्यक है कि इस प्रकार के स्टाक, शेयर इत्यादि सात वर्ष के अन्दर बिक जायँ।

(३) कार्पोरेशन ऋण दे सकता है और किसी उद्योग के ऋणपत्र क्रय कर सकता है परन्तु ऋण वापस करने की अवधि २५ वर्ष से अधिक न हो।

कार्पोरेशन किसी कम्पनी के स्टाक अथवा शेयर नहीं क्रय कर सकता। इस प्रतिबन्ध का उद्देश्य कार्पोरेशन की अनुचित क्रय से रक्षा करना है। कुछ अन्य देशों में इस प्रकार के कार्पोरेशन यह कार्य करते हैं परन्तु भारत सरकार ने प्राचीन रीति के अनुसार कार्य करना पसन्द किया है, इसलिए यह कार्पोरेशन ऐसा कार्य नहीं कर सकता है जो प्राचीन रीति के प्रतिकूल हो। जनता का धन संग्रह करने के सम्बन्ध में कुछ शर्तें लगा दी गई हैं और अंतिम सीमा १० करोड़ रुपया कर दी गई है।

कार्पोरेशन ऐसी सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनियों को और सहकारी समितियों को मध्यकालिक और दीर्घकालिक ऋण देता है जो उत्पादन कार्य करती हैं, खदान कार्य करती हैं और बिजली उत्पन्न कर उसका वितरण करती हैं। १९५२ में एक संशोधन के अनुसार कार्पोरेशन से वित्तीय सहायता पा सकने वाले अन्य उद्योगों में जलयानों को भी सम्मिलित कर दिया है। परन्तु साझेदारी और निजी लिमिटेड कम्पनियों को इसमें सम्मिलित नहीं किया गया है। कानून के अनुसार कार्पोरेशन किसी एक कारखाने को अपनी परिदत्त पूँजी का १० प्रतिशत या ५० लाख रुपयों (जो भी कम हो) की सहायता दे सकता है। १९५२ में एक संशोधन के अनुसार अब एक करोड़ की सहायता दी जा सकती है और सरकार की गारन्टी पर इस धन में और वृद्धि की जा सकती है। संशोधन करने का कारण यह था कि कुछ उद्योगों के लिए ५० लाख की सहायता अपर्याप्त थी। साथ ही ऐसी स्थिति में जब कि विश्व बैंक से ऋण लिया गया हो तो कार्पोरेशन को एक करोड़ रुपये से अधिक की सहायता देनी पड़ सकती है।

कार्पोरेशन अपने विशेषज्ञ कर्मचारियों की सहायता से आवेदन पत्रों की जाँच करता है और ऋण स्वीकृत करते समय निम्नलिखित बातों पर ध्यान देता है :—(१) उद्योग का राष्ट्रीय महत्व, (२) व्यवस्थापकों की योग्यता, (३) योजना की व्यवहारिकता और कुल व्यय, (४) उत्पादन का प्रकार, (५) जमानत, (६) कच्चे माल और टेकनिकल कर्मचारियों की व्यवस्था, और (७) उत्पादन की देश को आवश्यकता।

साधन—कार्पोरेशन बाजार से बौण्ड और ऋणपत्र द्वारा रुपया एकत्रित कर सकता है जिसकी मात्रा कार्पोरेशन द्वारा दी गई गारन्टी और बीमा के अन्तर्गत देय को सम्मिलित करके उसकी परिदत्त पूँजी और सुरक्षित कोष के दस गुने से अधिक नहीं होनी चाहिये। इस प्रकार जब कार्पोरेशन की कुल शेयरों की

पूँजी १० करोड़ रु० हो जायगी और सुरक्षित कोष में भी १० करोड़ रुपया संग्रह हो जायगा तो अपने पूर्ण विकसित रूप में कार्पोरेशन बाजार से २०० करोड़ रुपया एकत्रित कर सकता है।

१९५२ के संशोधन के अनुसार कार्पोरेशन १८ मास के लिये रिजर्व बैंक से ३ करोड़ रुपया ऋण ले सकता है। इसके साथ ही कार्पोरेशन पुनर्निर्माण और विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से रुपया ऋण से ले सकता है। इतना होते हुये भी कार्पोरेशन के साधन सीमित ही हैं।

औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन (संशोधन) अधिनियम १९५७ :— उद्योगीकरण की गति बढ़ जाने से कार्पोरेशन उत्तरदायित्व और अधिक हो गया है। अतएव १९५७ में अधिनियम को संशोधित कर निम्न बातों की व्यवस्था की गई।

(१) कार्पोरेशन परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष के पाँच गुने के बजाय दस गुने तक ऋण ले सकता है।

(ii) कार्पोरेशन अब केवल जनता से ही नहीं वरन् राज्य सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों से भी निक्षेप (deposits) स्वीकार कर सकती है।

(iii) यदि आयात करने वाले निर्माताओं के साथ विलम्बित भुगतान की व्यवस्था कर सकें तो कार्पोरेशन इन विलम्बित भुगतानों की गारन्टी दे सकता है।

(iv) कार्पोरेशन से अब और अधिक प्रकार के औद्योगिक संस्थान सहायता प्राप्त कर सकेंगे। इस हेतु संशोधन की धारा २ (सी) में 'वस्तुओं के विधायन' की ऐसी व्याख्या की गई है कि और अधिक औद्योगिक संस्थान कार्पोरेशन से ऋण की सहायता प्राप्त कर सकें। राज्यीय वित्त कार्पोरेशन अधिनियम १९५१ में जो संशोधन १९५५ में किया गया था उसी आधार पर उपर्युक्त धारा में भी संशोधन किया गया है। साथ ही धारा २३ की उपधारा (२) में इस प्रकार संशोधन किया गया है कि वे औद्योगिक संस्थान भी ऋण की सहायता पा सकें जो राष्ट्र के दृष्टिकोण से प्रोत्साहित करने योग्य हैं। शर्त यह है कि इनको दी जाने वाली सहायता के मूलधन और ब्याज अदायगी की गारन्टी केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकार, एक अनुसूचित बैंक अथवा राज्यीय सहकारी बैंक दे।

आलोचना—कार्पोरेशन की आलोचना में अनेक बातें कही गई हैं।
(१) कार्पोरेशन का कार्य रूढ़िवादी ढंग से चलाया गया, इससे विशेष सहायता

न मिल सकी। कार्पोरेशन के अधिकारियों ने बताया है कि इन आवेदन पत्रों को अस्वीकृत करने का कारण यह था कि इनमें उचित योजना नहीं दी गई थी। योजना निर्माण से पूर्व टेकनीशियनों, इञ्जीनियरों तथा अन्य अनुभवी व्यक्तियों से परामर्श नहीं किया गया था। मशीनों तथा कच्चे माल को प्राप्त करने के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा गया था और यही अनिश्चित स्थिति उत्पादित माल के विक्रय के सम्बन्ध में थी। परन्तु कार्पोरेशन इन बातों को अपनी कार्रवाई न्याय संगत सिद्ध करने के लिये तर्क के उपयोग में नहीं ला सकता है। क्योंकि यदि आवेदन पत्र ठीक प्रकार से नहीं दिये गये थे तो यह कार्पोरेशन का कर्तव्य था कि वह आवेदन पत्र ठीक प्रकार से प्रस्तुत कराता। वास्तविक कठिनाई यह है कि कार्पोरेशन को इस सम्बन्ध में कुछ चिन्ता नहीं है और वह अपनी प्राचीन रीति से कार्य करता रहा। यह बात उल्लेखनीय है कि कार्पोरेशन अपनी आलोचना से कुछ सतर्क हुआ और प्रार्थी की भूलों के होते हुये भी अस्वीकृत आवेदन पत्रों की संख्या घटने लगी।

(२) आलोचकों का कहना है कि कार्पोरेशन ने सहायता में बहुत कम धनराशि दी। जून १६५७ तक ६ वर्षों में कार्पोरेशन ने ५५.१२ करोड़ रुपये का ऋण मंजूर किया जिसमें से २६.५१ करोड़ रु० का वितरण हुआ। कार्पोरेशन के अधिकारियों का मत है कि इसका कारण उपयुक्त आवेदन पत्रों का अभाव है। इसके विपरीत यह कहा गया है कि उपयुक्त आवेदन पत्र न आने का कारण अधिकारियों का असहयोग, उनका नौकरशाही व्यवहार और आवेदन पत्रों पर निर्णय देने में अनुचित विलम्ब है। कार्पोरेशन ने अब तक कम्पनियों को ही ऋण दिये। इसने कानून के अनुसार न किसी शेयर की गारन्टी ली है और न ऋणपत्र खरीदे ही हैं।

यह कहना अनुचित है कि वर्तमान समय में पूँजी बाजार की स्थिति ऐसी नहीं है कि कार्पोरेशन बीमा का कार्य करे। कार्पोरेशन के अध्यक्ष लाला श्री राम ने चौथी सामान्य बैठक में बताया कि औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन का उद्देश्य पूँजी बाजार के पूरक के रूप में कार्य करना है, न कि पूँजी बाजार को बिल्कुल हटाकर स्वयं उसका स्थान ले लेना। इससे स्पष्ट है कि कार्पोरेशन के उद्देश्य को उचित प्रकार से नहीं समझा गया है और उसके कार्यों के सम्बन्ध में भी दृष्टिकोण उचित नहीं हैं। यदि भारत में पूँजी बाज़ार विकसित होता तो औद्योगिक संस्थाएँ आवश्यकता पड़ने पर पूँजी एकत्रित कर सकती थीं और तब कार्पोरेशन की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु चूँकि पूँजी बाज़ार विकसित नहीं है इसलिए कार्पोरेशन की आवश्यकता पड़ी।

(३) कार्पोरेशन ने जो कुछ ऋण दिया उस पर बहुत अधिक व्याज लिया है। फरवरी १९५२ तक कार्पोरेशन की व्याज दर ५½ प्रतिशत रही। यदि व्याज और मूलधन की किश्त तिथि को चुकाने पर तो ½ प्रतिशत की छूट दी जाती थी। तदन्तर व्याज की दर ७ प्रतिशत कर दी गई और छूट केवल ½ प्रतिशत ही रही। औद्योगिक कारखानों को दीर्घकालिक ऋण की आवश्यकता होती है, और कारखाना चालू होने से पहले काफी समय तक उन्हें उस रुपये से आय नहीं होती है। इस दृष्टि से ६½ प्रतिशत व्याज की दर वास्तव में बहुत अधिक है और यही कारण है कि औद्योगिक संस्थाएँ कार्पोरेशन के पास ऋण के लिए आवेदन पत्र नहीं भेजती हैं। कार्पोरेशन के अधिकारियों का कहना है कि औद्योगिक संस्थाओं द्वारा ऋण लेने से पूर्व काफी समय तक कार्पोरेशन को उस धन पर स्वयं ऊँची दर से व्याज देना पड़ता है इसलिए व्याज की दर कम नहीं की जा सकती है। परन्तु कार्पोरेशन की व्यवस्था को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए व्याज की दर कम करने के लिए अवश्य कुछ करना चाहिये।

(४) यह कहा गया है कि कार्पोरेशन ने अब तक सहायता उन्हीं राज्यों को दी है जो पहले से ही विकसित हैं, और उन्हीं उद्योगों को दी है जो समृद्धिशाली हैं। जून १९५७ के अन्त तक ९ वर्षों की अवधि में ५५·१२ करोड़ रु० की धनराशि में से १६·३१ करोड़ रु० खाद्य-उद्योगों को ८·४४ करोड़ रु० वस्त्र उद्योगों को, ७·५१ करोड़ रु० आधारभूत औद्योगिक रसायन उद्योग को, ४·२२ करोड़ रु० कागज उद्योग को, तथा ३.७७ करोड़ रु० सीमेन्ट उद्योग को दिया गया।

यह कार्पोरेशन के लिये गर्व की बात है कि जून १९५७ के अन्त तक मंजूर की गई ५५·१२ करोड़ रु० की धनराशि में से ३३·८० करोड़ रु० अर्थात् ६१% उन संस्थाओं को दिया गया जिन्होंने १५ अगस्त १९४७ के बाद उत्पादन प्रारम्भ किया। इसके अतिरिक्त जून १९५७ के अन्त होने वाले वर्ष में राज्यानुसार ऋण की मंजूरी में भी बहुत परिवर्तन हुआ। उदाहरण के लिये आँध्र, केरल, पंजाब, और उत्तर प्रदेश जैसे कम विकसित राज्यों को मंजूर किये गये ऋण की मात्रा अधिक थी।

एक अन्य सन्तोषजनक बात यह थी कि १९५६-५७ में यद्यपि कार्पोरेशन के पास आने वाले आवेदन पत्रों की संख्या कम थी किन्तु ऋण वितरित करने की गति अधिक थी। १९५६-५७ में ९.७८ करोड़ रु० का ऋण दिया गया जब कि १९५५-५६ में २.२० करोड़ रु० का ऋण दिया गया था। इसके निम्न कारण थे।

(i) कार्पोरेशन के दफ्तर में प्रशासन सम्बन्धी सुधार पूर्ण हो गये थे।
(ii) और अधिक कानून-अधिकारियों की नियुक्ति हुई।
(iii) पर्याप्त सम्पत्ति के आधार पर (दस्तावेजों के पूर्ण होने तक) अन्तरीय ऋण मंजूर करने की विधि को सरल बना दिया।

जाँच की रिपोर्ट—कार्पोरेशन के कार्यों की प्रतीक्षा के लिये औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन जाँच कमेटी की नियुक्ति दिसम्बर १९५२ में श्रीमती सुचेता कृपलानी की अध्यक्षता में हुई। इस कमेटी ने ७ मई १९५३ को अपनी रिपोर्ट दी। कमेटी ने कार्पोरेशन को उसके विरुद्ध लगाये हुये पक्षपात के अभियोग से मुक्त कर दिया। पर यह टीका कि चेयरमैन तथा अन्य निर्देशक जिन आवेदकों के प्रति विशेष कृपालु होते हैं उनके साथ कार्पोरेशन का व्यवहार अधिक उदार होता है और उनका कार्य भी शीघ्र कर दिया जाता है। इस प्रकार कार्पोरेशन की प्रवृत्ति उन उपक्रमों के प्रति, जिनका कार्य सुचारु रूप से चल रहा है तथा जिनसे किसी लब्धप्रतिष्ठ उद्योगपति का सम्बन्ध है, पक्षपात करने की रही है। कमेटी के सुझावों को तीन वर्गों में रक्खा जा सकता है। प्रशासन और संगठन सम्बन्धी, कार्य प्रणाली सम्बन्धी तथा नीति सम्बन्धी। कमेटी के मुख्य सुझाव निम्न थे :—

प्रशासन सम्बन्धी—(१) कार्पोरेशन का संगठन परिवर्तित करके एक स्थायी वैतनिक चेयरमैन नियुक्त किया जाना चाहिये जिसकी सहायता के लिये एक जनरल मैनेजर होना चाहिये। वर्तमान संगठन जिनमें अवैतनिक चेयरमैन है तथा पूरे समय के लिए एक वैतनिक मैनेजिंग डायरेक्टर है, उपयुक्त नहीं है; (२) मैनेजिंग डायरेक्टर और सहायक मैनेजिंग डायरेक्टर के अधिकारों को विचार पूर्ण ढंग से निश्चित कर देना चाहिये और यह ध्यान रखना चाहिये कि किसी के हाथ में अनावश्यक ढंग से अधिकार केन्द्रित न हो जाँय; (३) कार्पोरेशन के बोर्ड में उद्योगपतियों का आधिक्य नहीं होना चाहिये; सरकार को बोर्ड में अपने मनोनीत सदस्यों का नाम भेजते समय यह ध्यान में रखना चाहिये कि उनमें एक अर्थशास्त्री, एक संगठन में कुशल व्यक्ति और एक चार्टर्ड एकाउन्टेन्ट अवश्य हो; और (४) प्रत्येक शाखा कार्यालय में उस पात्र विशेष के सलाहकारों का एक पैनल अवश्य हो जिनमें से कुछ को प्रत्येक ऋण के लिये दिये हुये आवेदनों पर विचार करने के लिये निर्वाचित किया जा सके तथा कार्पोरेशन बोर्ड यथा अवसर बम्बई, कलकत्ता, मद्रास इत्यादि स्थानों पर अपनी बैठक किया करे।

कार्य प्रणाली सम्बन्धी —(१) यदि कार्पोरेशन के किसी अध्यक्ष का सम्बन्ध किसी ऐसे उपक्रम से है जिसने ऋण के लिये आवेदन दिया है तो उसे

अपना सम्बन्ध तुरन्त व्यक्त कर देना चाहिये। ऐसे उपक्रम जिनमें औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर मैनेजिंग डाइरेक्टर है अथवा डायरेक्टर, साझीदार या शेयर होल्डर उसकी मैनेजिंग एजेन्सी में है तो वह ऋण प्राप्त करने का अधिकारी नहीं समझा जायगा। ऐसे उपक्रम जिसमें कार्पोरेशन का डायरेक्टर एक साधारण डायरेक्टर अथवा शेयर होल्डर है, उसे ऋण पाने के लिये यह आवश्यक होगा कि डायरेक्टरों के बोर्ड की बैठक में जिसमें वोट देने के अधिकारी ⅔ सदस्य उपस्थित हों उसे (अपने ऋण के आवेदन पर) सर्व सम्मति से स्वीकृत मिले। यदि कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर किसी ऋण सम्बन्धी आवेदन से सम्बन्ध रखता है तो उसे बोर्ड की कार्यकारिणी समिति की बैठक में जब कि वह ऋण का आवेदन विचाराधान हो उपस्थित न होना चाहिये; (२) कार्पोरेशन को अपनी वार्षिक विवरण पत्रिका को अधिक विशद बनाना चाहिये तथा अपनी पंच वर्षीय रिपोर्ट में ऋण प्राप्त व्यक्तियों का नाम देना चाहिये, तथा उनके कार्य और सफलता का वर्णन करना चाहिये और सम्पूर्ण उद्योग के विकास की प्रकृति आदि पर भी प्रकाश डालना चाहिये; (३) कम से कम ५०% तक ऋण देने की सीमा नियत करनो चाहिये; (४) ऋण की स्वीकृति देने तथा रुपया देने में देर कम करनी चाहिये, विशेष कर जा समय स्वामित्व सम्बन्धी कानूनी कागजों की जाँच में लगता है उसे कम करना चाहिये; और (५) जब कोई उपक्रम औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन द्वारा ले लिया जाय तब सामान्यतः उसका प्रबन्ध विभाग अथवा मैनेजिंग एजेन्सी को सौंपने के बजाय मनोनीत डायरेक्टरों के बोर्ड को सौंप देना चाहिये।

नीति सम्बन्धी—(१) कार्पोरेशन को औद्योगिक विकास सम्बन्ध में जो प्रधानता योजना आयोग द्वारा दी गई है, और ४२ उद्योगों के सम्बन्ध में जो विकास का कार्यक्रम बनाया गया है उसी के अनुकूल कार्य करना चाहिए। सामान्यतः उन उद्योगों को जो अपने विकास को उच्चतम स्थिति पर पहुँच गया है कोई ऋण न देना चाहिये; (२) जिन सिद्धान्तों के आधार पर कारपोरेशन को कार्य करना चाहिये उनके सम्बन्ध मे सरकार को निर्देश देने चाहिये। सरकार को उन क्षेत्रों के सम्बन्ध में जिन्हें पिछड़ा हुआ समझना चाहिये निश्चित निर्देश देना चाहिये ताकि कारपोरेशन उन्हें प्रधानता दे सके; (३) कार्पोरेशन को यह निर्देश देना चाहिये कि वह ५० लाख रुपये से अधिक ऋण के आवेदनों को आगामी तीन वर्ष तक केन्द्रीय सरकार के मन्त्रिमण्डल में स्वीकृति के लिये भेजे; (४) वित्तीय कार्पोरेशन के नित्य-प्रति के कार्य में केन्द्राय संसद के सदस्यों का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप औद्योगिक यथा सम्भव न होना चाहिये, परन्तु विधान सभा को

कार्पोरेशन तथा नियमों के आधार पर स्थापित ऐसी अन्य कार्पोरेशनों के कार्यों को अधिक नियमित रूप से परीक्षण करने की सुविधा प्रदान करने के लिये एक पब्लिक कार्पोरेशन कमेटी के नियुक्ति पर विचार करना चाहिये; और (५) सरकार को यह सोचना चाहिये कि कार्पोरेशनों को अनुत्पादक कार्यों के लिये ऋण देने की नीति के सम्बन्ध में क्यों न निर्देश दिये जाँय।

सरकार ने कमेटी के कुछ महत्वशाली अभिस्तावों को छोड़ कर लगभग सभी को स्वीकार कर लिया है। १६४८ के औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन एक्ट की धारा ६ की उपधारा (३) के अनुसार प्राप्त अधिकार के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार कार्पोरेशन को निम्न निर्देश दिये हैं :—

(१) कारपोरेशन बोर्ड को समय पर बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि केन्द्रीय स्थानों पर, अपने प्रधान केन्द्र दिल्ली के अतिरिक्त, सभाएँ करना चाहिये।

(२) कार्पोरेशन के डायरेक्टरों को ऋण के लिये प्राप्त आवेदकों से अपना सम्बन्ध (जिसमें ऋण मांगने वाली कम्पनी का हिस्सेदार होना, अथवा उसकी मैनेजिंग एजेन्सी के हिस्सेदार होना सम्मिलित होगा) अवश्य व्यक्त कर देना चाहिये और जिस समय उनके ऋण के आवेदन पर विचार होने लगे वे सभा में सम्मिलित न हो। एक रजिस्टर जैसा कि इन्डियन कम्पनीज एक्ट की धारा ६१ ए (३) में बताया गया है वैसा ही कार्पोरेशन को भी रखना चाहिये।

(३) कार्पोरेशन का वार्षिक विवरण अधिक विशद होना चाहिये और अधिक से अधिक सूचनायें उसमें दी जानी चाहिये। इस विवरण में उद्योगों के विकास का वर्णन और विशेष कर उन क्षेत्रों का वर्णन जिनमें ऋण दिया गया है होना चाहिये। जिन उपक्रमों को रुपया उधार दिया गया है उनका नाम भी इसमें छपना चाहिये।

(४) ऋण की स्वीकृति देते समय ५०% की न्यूनतम सीमा का ध्येय बनाना चाहिये और ऋण लेने वाले उपक्रम की आय अर्जित करने की क्षमता का विशेष रूप से अनुमान लगा लेना चहिये। डायरेक्टरों और आवेदकों के एजेन्टों के वित्त सम्बन्ध का विचार किया जाना चाहिये और जहाँ पर ये वित्त सम्बन्ध, कार्पोरेशन द्वारा सुरक्षा के कारण समझे जाँय, वहाँ डायरेक्टरों और मैनेजिंग एजेन्टों को ऋण लेने वाले उपक्रमों के अपने निजी शेयरों को बिना कार्पोरेशन के अनुमति के बेच डालने की स्वतन्त्रता नहीं होनी चाहिये।

(५) जिन विशेष आवेदकों को कार्पोरेशन ५० लाख रुपये से अधिक का ऋण देने का निर्णय करे उसकी रिपोर्ट पूर्ण विवरण सहित सरकार को भेजी जानी चाहिये। उन सब ऋण लेने वाले उपक्रमों की भी रिपोर्ट सरकार को भेजी

जानी चाहिये जिनमें कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर ऋण लेने वाले उपक्रम की मैनेजिंग एजेन्सी में डायरेक्टर, साझीदार या मैनेजिंग डायरेक्टर अथवा हिस्सेदार हो। उन कम्पनियों को ऋण प्रदान करने की रिपोर्ट जिनमें कार्पोरेशन का डायरेक्टर एक साधारण डायरेक्टर अथवा हिस्सेदार है, उस स्थिति में भेजना चाहिये जबकि ऋण की स्वीकृति ऐसी मीटिंग में दी गई हो जिसमें आधे से कम डायरेक्टर उपस्थित रहे हों, अथवा ऋण की स्वीकृति सर्व सम्मति से न प्राप्त हुई हो।

सरकार ने कमेटी की यह सिफारिश स्वीकार नहीं की कि जब औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन का कोई डायरेक्टर ऋण के उपक्रमों मैनेजिंग डायरेक्टर या साझीदार इत्यादि तो उन्हें ऋण पाने का अधिकारी न समझा जाय। इससे औद्योगिक उपक्रम अनावश्यक कठिनाई में पड़ जायेंगे, तथा जब तक कि कारपोरेशन की समस्त रूपरेखा और पूँजी का संगठन पूर्ण रूप से न बदल दिया जाय ऐसी शर्त लगाना अव्यवहारिक होगा। सरकार ने अनुत्पादक कार्यों तथा विशेष क्षेत्रों को ऋण प्रदान करने की नीति सम्बन्धी कार्पोरेशनों को दिये जाने वाले निर्देशों के सम्बन्ध में की हुई सिफारिश को भी स्वीकार नहीं किया, क्योंकि औद्योगिक वित्तीय कारपोरेशन औद्योगिक वित्त सम्बन्धी एक नवीन प्रयोग है और अनुभव से धीरे धीरे इसके सिद्धान्त विकसित होंगे तथा उसकी कार्य प्रणाली निश्चित होगी। इसके अतिरिक्त क्योंकि दो बड़े सरकारी कर्मचारी कारपोरेशन के बोर्ड में डायरेक्टर के पद पर कार्य कर रहे हैं सरकार के लिये ऐसे निर्देशों को देने की कोई आवश्यकता भी नहीं प्रतीत होती। १९५२ में कानून द्वारा कार्पोरेशन का अधिकार बढ़ा कर ५० लाख रुपये से भी अधिक ऋण देने का कर दिया गया था, क्योंकि इतना ऋण लेने वालों की संख्या भी बहुत कम रही है, इसीलिए सरकार को वर्तमान स्थिति परिवर्तित करके कार्पोरेशन के लिये ऐसे ऋण के प्रदान के सम्बन्ध में सरकार की स्वीकृति लेना अनिवार्य कर देने का कोई न्यायोचित कारण समझ में नहीं आता। ५० लाख रुपये से अधिक के ऋण की सरकार को सूचना देने की बात तो अनिवार्य कर ही दी गई है। इस लिये सरकार इस निष्कर्ष पर पहुँची कि वर्तमान परिस्थिति में पार्लियामेंट की पब्लिक कार्पोरेशन कमेटी की इस कार्पोरेशन और अन्य कानून द्वारा बनाये हुए कार्पोरेशनों की कार्यवाहियों की देख रेख करने के लिये नियुक्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। जाँच कमेटी की रिपोर्ट, तथा सरकार द्वारा उसकी सिफारिशों के अनुकूल किये गये कार्यों से यह आशा की जाती है कि कार्पोरेशन के कार्य में तथा कार्य करने के ढंग में बहुत कुछ परिवर्तन आ जायगा।

प्रान्तीय अथवा राज्य वित्तीय कारपोरेशन

२८ सितम्बर १९५१ में राज्य वित्त कार्पोरेशन कानून पास हुआ। यह कानून काश्मीर और जम्मू राज्यों को छोड़कर समस्त भारत पर लागू होगा और इसके अनुसार प्रान्तीय सरकारें कार्पोरेशन स्थापित कर सकती हैं। भारतीय औद्योगिक वित्त कार्पोरेशन सीमित दायित्व वाली कम्पनियों को सहायता देता है। मध्यम और छोटे उद्योगों को भी सहायता देना वाञ्छनीय समझा गया है क्योंकि ये केन्द्रीय कार्पोरेशन के अन्तर्गत नहीं आते इसलिये प्रान्तीय वित्तीय कारपोरेशनों का ध्येय ऐसे ही उद्योगों को सहायता प्रदान करना होगा। इन राज्य वित्तीय कार्पोरेशनों की स्थापना लगभग उसी रूप में होगी जिसमें भारतीय औद्योगिक वित्तीय कार्पोरेशन की स्थापना हुई है। बहुत थोड़े से ही परिवर्तन होंगे। राज्य वित्तीय कारपोरेशन के सम्बन्ध में ऋण २० वर्ष के ही लिये दिया जायगा न कि २५ वर्ष के लिये जैसा कि भारतीय औद्योगिक वित्तीय कारपोरेशन के सम्बन्ध में हैं। राज्य वित्तीय कार्पोरेशन की शेयर पूँजी ५० लाख रुपये से लगाकर ५ करोड़ रुपये तक होती है। शेयर पूँजी का तीन चौथाई प्रान्तीय राज्यों, रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों, सहकारी बैंकों, बीमा कम्पनियों, विनियोग ट्रस्टों तथा अन्य वित्त संस्थाओं द्वारा और १।४ अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रदान की जानी चाहिये। इस प्रकार राज्य वित्तीय कार्पोरेशनों को व्यक्तिगत विनियोग करने वालों का भी सहयोग प्राप्त है। इन कार्पोरेशनों के सम्बन्ध में जनता द्वारा जमा की हुई धन-राशि कार्पोरेशन की प्राप्त पूँजी की मात्रा से अधिक नहीं हो सकती। राज्य वित्तीय कार्पोरेशन किसी एक उपक्रम को अधिकतम वित्त सहायता १० लाख रुपयों तक की दे सकता है।

राज्य वित्तीय कार्पोरेशन (संशोधन) अधिनियम १९५६—राज्य वित्तीय कार्पोरेशन अधिनियम में संशोधन अधिनियम द्वारा अनेक परिवर्तन किये गये जो १ अक्टूबर १९५६ से लागू हुये। संशोधन अधिनियम में निम्न बातों की व्यवस्था है।

(i) दो या अधिक राज्यों के लिये संयुक्त वित्तीय कारपोरेशन की स्थापना अथवा अन्य राज्यों तक कारपोरेशन के अर्थ का विस्तार करना।

(ii) केन्द्रीय अथवा राज्य सरकार अथवा औद्योगिक वित्त निगम द्वारा दिये गये ऋण, या मंजूर किये गये अग्रिम या अर्पित ऋणपत्रों के सम्बन्ध में इनके एजेन्ट के रुप में किसी औद्योगिक संस्था से व्यवहार करना।

(iii) राज्य सरकार, अनुसूचित बैंक अथवा राज्यीय सहकारी बैंक की गारन्टी पर उद्योगों को आर्थिक अनुग्रह प्रदान करना।

(iv) कारपोरेशन द्वारा सरकारी प्रतिभूतियों के बल पर अल्पकालीन ऋण लेना।

(v) रिजर्व बैंक द्वारा कारपोरेशनों का निरीक्षण, राज्य पुनर्संगठन अधिनियम १९५६ जो १ नवम्बर १९५६ से लागू किया गया कि धारा १०२ (३) और (६) के अन्तर्गत किये गये विलयन के फलस्वरूप राज्य वित्तीय निगमों की संख्या दो से घट गई। बम्बई और सौराष्ट्र के कार्पोरेशन मिलाकर बम्बई राज्य वित्तीय कारपोरेशन बना दिया गया। आन्ध्र और हैदराबाद राज्य के कार्पोरेशन मिलाकर आन्ध्र प्रदेश राज्य वित्तीय कारपोरेशन बना दिया गया। दिसम्बर १९५७ में निम्न राज्यों में से प्रत्येक में एक राज्य वित्तीय कार्पोरेशन था। मद्रास पंजाब, बम्बई, केरल, पश्चिमी बंगाल, आसाम, उड़ीसा, राजस्थान, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश, बिहार और आन्ध्र प्रदेश।

१९५७-५८ के अन्त में १२ राज्य-वित्तीय कार्पोरेशन की कुल सम्पत्ति १८'०४ करोड़ रु० थी जिसमें से ९'३५ करोड़ रु० ऋण और अग्रिम थे। अतः १२ कारपोरेशन की परिदत्त पूँजी १३'१० करोड़ रु० थी तथा सुरक्षित कोष कुल ५ लाख रु० था। १९५६-५७ में मंजूर किये गये तथा दिये गये ऋण की मात्रा क्रमशः ४'४३ करोड़ रु० तथा २'८६ करोड़ रु० थी जबकि १९५५-५६ में यह राशि क्रमशः ४'०५ करोड़ रु० तथा १'८७ करोड़ रु० थी। कार्पोरेशन द्वारा दी जाने वाली सहायता का विस्तार धीरे-धीरे हुआ है, फिर भी जितनी सहायता कार्पोरेशन पूर्ण विकसित होने पर दे सकेगा उससे अभी बहुत कम सहायता देता है।

आरम्भ में कार्पोरेशन को बहुत सी कठिनाइयों का सामना आवेदकों के अज्ञान, विशेषज्ञों के अभाव तथा अधिक करों के कारण करना पड़ा है। इन सब समस्याओं पर राज्य वित्तीय कार्पोरेशन की प्रथम और द्वितीय सभा में जो अगस्त १९५४ में और नवम्बर १९५५ में बम्बई में हुई थी विचार विनिमय किया गया था। प्रथम सभा का उद्घाटन करते समय रिजर्व बैंक के गवर्नर श्री बी० रामा राव ने विभिन्न राज्यों में मध्यवर्ती और छोटे उद्योगों के विकास के लिये ऐसे कार्पोरेशनों की महत्ता पर बहुत जोर दिया। यह अत्यन्त आवश्यक है कि प्रारम्भिक अवस्था में अनुसरण की जाने वाली नीति की रूप रेखा पर सब एकमत हों, अच्छी परिपाटियों की नींव पड़े, और उपयुक्त व्यवसायिक कार्य विधियाँ निश्चित हों, ताकि ये कार्पोरेशन अपने क्षेत्र के लिये अधिकतम लाभकारी सिद्ध हों। हर बात में एकरूपता लाने के बजाय ध्येय में तथा कार्य विधि में समानता लाने और औद्योगिक कर्मचारियों तथा कार्य क्षेत्र आदि में समानता

लाने का आदर्श होना चाहिये। कार्पोरेशनों को जो गंभीर कठिनाइयाँ उठानी पड़ रही हैं, उनमें से एक तो प्रौद्योगिक कर्मचारियों के अभाव की है जो ऋण के लिये आवेदन करने वाले उपक्रमिकों की योजनाओं की उपयुक्तता का परीक्षण कर सकें। कार्पोरेशन ६-७ प्रतिशत का जो ब्याज वसूल कर रहे हैं वह बहुत अधिक है। प्रारम्भिक अवस्था में इन कार्पोरेशनों का व्यय अवश्य बहुत अधिक है और सभा ने उनको राज्य सरकारों की स्टाम्प ड्यूटी से मुक्त करने की तथा केन्द्रीय सरकार के आय-कर से मुक्त करने की सिफ़ारिश भी की थी। सबसे बड़ी कठिनाई इस बात की है कि ऋण के लिये आवेदन करने वाले उपक्रम अपना हिसाब किताब ठीक से लिखने तथा अन्य लेखा औद्योगिक बैंकिंग के मान्य स्तर पर निर्माण करने के प्रति उदासीन लगते हैं। इससे आवेदनों पर कार्यवाही करने में अनावश्यक रूप से विलम्ब होता है। कार्पोरेशनों को व्यक्तिगत सीमित दायित्व वाली कम्पनियों, साझेदारी, संयुक्त परिवार व्यवसाय, तथा एकाकी स्वामित्व वाले उपक्रमों से भी सम्पर्क रखना पड़ता है। ये उपक्रम सामान्यतः ऐसे कानून सम्बन्धी कागजों को जिनसे उस उपक्रम से उनका सम्बन्ध निश्चित होता है सुरक्षित रखने के प्रति उदासीन रहते हैं। बहुधा यह देखा गया है कि संयुक्त परिवार के व्यक्ति बिना किसी बँटवारे सम्बन्धी कानूनी लिखा पढ़ी के पृथक हो जाते हैं और साझेदारों के मध्य हिसाब किताब समझने का कोई साधन नहीं रहता। ऐसे संयुक्त परिवारों और साझेदारियों के आवेदनों की जाँच करने में समय और व्यय बहुत लगता है। ऐसा पता लगा है कि छोटे उद्योगों के बोर्ड की स्थापना के कारण, जो ऐसे उद्योगों को सहायता देने में अधिक उदार हैं, तथा सरकार द्वारा हाथ से धान कूटने तथा घानी द्वारा तेल पेरने के उद्योग को प्रोत्साहित करने के लिये चावल तथा दाल की मिलों के विस्तार पर लगाये हुये प्रतिबन्धों के कारण, राज्य वित्तीय कार्पोरेशन के कार्य में बाधा पड़ी है। ये सब दोष धीरे-धीरे प्रयत्न करने से दूर हो सकते हैं।

औद्योगिक विकास कार्पोरेशन

१९५४-५५ की दो महत्वपूर्ण घटनाओं में से एक तो २० अक्टूबर १९५४ को राष्ट्रीय औद्योगिक विकास कार्पोरेशन लिमिटेड की स्थापना और दूसरी १ मार्च १९५५ को भारतीय औद्योगिक साख और विनियोग कार्पोरेशन लिमिटेड की स्थापना थी। इन दोनों कार्पोरेशनों का ध्येय उद्योगों के लिये पूंजी की पूर्ति में वृद्धि करना है परन्तु इन दोनों संस्थाओं की कार्यविधि और कार्यक्षेत्र भिन्न-भिन्न है।

भारतीय साख और विनियोग कार्पोरेशन लिमिटेड (आई० सी० आई० सी०)

दोनों में बड़ी संस्था है और उसे अधिक बड़ा कार्य भी करना है। इसकी अधिकृत पूंजी २५ करोड़ रुपया है, जिसके १०० रुपया मूल्य वाले साधारण शेयर ५ लाख रुपये के हैं तथा १०० रु० के मूल्य २० लाख शेयर अवर्गीकृत है। इसकी निर्गमित पूंजी ५ करोड़ रुपया है जिसमें से २ करोड़ रुपये की पूंजी भारतीय बैंकों, बीमा कम्पनियों और अन्य सहयोगी कार्पोरेशनों द्वारा, १ करोड़ रुपये की पूंजी ब्रिटिश ईस्टर्न एक्सचेंज बैंक और अन्य कामनवैल्थ तथा ब्रिटिश बीमा कम्पनियों द्वारा, ५० लाख रुपये की पूंजी यू० एस० ए० के कुछ व्यक्तियों और कार्पोरेशनों द्वारा और शेष १½ करोड़ रुपये की पूंजी अन्य व्यक्तियों द्वारा खरीदी गई है। यह इस अर्थ में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है इसके स्थापित होने में विभिन्न देशों के व्यक्तियों ने सहयोग दिया है।

आई० सी० आई० सी० एक व्यक्तिगत संस्था है और इसकी रजिस्ट्री इन्डियन कम्पनीज एक्ट के अन्तर्गत जनवरी १६५५ में हुई थी। पर इसे सरकारी सहायता का लाभ प्राप्त है। १६५५ के मार्च में भारत सरकार ने आई० सी० आई० सी० को ब्याज से मुक्त ७½ करोड़ रुपये का ऋण प्रदान किया था जो कि दिये जाने की तिथि के १५ वर्ष के पश्चात् से १५ किश्तों में चुकाया जायगा। पुनर्निर्माण तथा विकास सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय बैंक ने इस कार्पोरेशन को १५ वर्ष के लिये १ करोड़ डालर तक के ऋण की अनुमति दी है जिस पर ४⅝% का ब्याज होगा जिसमें १% का परिनियत कमीशन भी सम्मिलित होगा। आई० सी० आई० सी० भारतीय औद्योगिक उपक्रमों को केवल ऋण ही न देगा वरन् वह उनकी शेयर पूंजी और ऋण पत्रों को भी खरीदेगा। वह उनके ऋण की गारन्टी भी देगा। वह औद्योगिक उपक्रमों को प्रबन्ध, प्रविधि तथा प्रशासन सम्बन्धी परामर्श भी देगा। सारांश यह कि जो कुछ भी सम्भव होगा वह सब औद्योगिक उपक्रमों को प्रोत्साहन देने के लिये तथा उपयुक्त योजनाओं के लिये वित्त का प्रबन्ध करने के लिये उपाय करेगा।

तीसरी वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार कारपोरेशन १६५७ के अन्त तक ४१ कार्यों के लिये ११·६५ करोड़ रु० का ऋण देने के लिये सहमति दे चुकी थी। १६५६ में २५ कार्यों के लिये केवल ६·०१ करोड़ रु० देने की सहमति दी गई थी। ११·६५ करोड़ रु० में से ५·४४ करोड़ रु० ऋण के रूप में (जबकि १६५६ के अन्त तक केवल २·६५ करोड़ रु० दिये गये थे) तथा ५·३५ करोड़ रु० शेयरों तथा ऋण-पत्रों के खरीदने के लिये दिये गये थे (१६५६ में यह राशि २·३८ करोड़ रु० थी)। शेयरों की प्रत्यक्ष खरीद अपेक्षाकृत छोटे पैमाने पर रही। १६५७ में यह ८६ लाख रु० तथा १६५६ में ६८ लाख रु० थी। १६५७ में

मंजूर किये ऋणों की राशि में जो तीव्र वृद्धि हुई उसका कारण यह था कि पहली बार विदेशी करेन्सी में पाँच ऋण दिये गये थे जिसकी राशि २'२१ करोड़ रु० थी।

कारपोरेशन से लाभ उठाने वाले उद्योगों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। इनमें कागज, रसायन तथा औषधि, इन्जेक्शन का सामान (fuc injection equipment), बिजली का सामान, वस्त्र, चीनी, धातु, चूना और सीमेन्ट, तथा शीशे का निर्माण सम्मिलित है। इस विविधता के अतिरिक्त कारपोरेशन की सहायता की एक विशेषता यह भी रही है कि इसके अन्तर्गत नये उपक्रमों के विकास तथा श्रम विकसित क्षेत्रों की आवश्यकता पर अधिक जोर दिया गया है। १९५७ के अन्त तक आर्थिक सहायता प्राप्त करने वाले ३६ संस्थाओं में से १६ नये उपक्रम थे।

राष्ट्रीय औद्योगिक विकास कार्पोरेशन लिमिटेड (एन० आई० डी०) एक सरकारी संस्था है और इसका ध्येय मुख्यतः उन उद्योगों को वित्त सहायता देना है जो पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत आ जाते हैं। २० अक्टूबर १९५४ को इसकी रजिस्ट्री एक व्यक्तिगत सीमित दायित्व वाली कम्पनी के रूप में हुई थी। इसकी अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपया है और परिदत्त पूँजी १० लाख रुपया है जो कि भारत सरकार द्वारा ही प्रदान की गई है। कार्पोरेशन को अपनी पूँजी बढ़ाने का अधिकार प्राप्त है।

एन० आई० डी० सी० ने प्रथम योजना के अन्तर्गत आगे हुए उद्योगों को सहायता दी है। द्वितीय योजना काल में इसके कार्य का और अधिक विस्तार होगा और इसके पास लगभग ५५ करोड़ रुपया व्यय करने के लिये होगा। "इस धन राशि का एक अंश (जो लगभग २० या २५ करोड़ रुपया अनुमान किया जाता है) आशा की जाती है सूती कपड़े और जूट के सामान निर्माण करने वाले उद्योगों के अभिनवीकरण में व्यय किया जायगा। शेष ३५ करोड़ के लगभग रुपया नये मूल तथा बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना और विकास के लिये व्यय किया जायगा। जिन उपक्रमों के सम्बन्ध में खोज का कार्य एन० आई० डी० सी० ने अपने ऊपर लिया है वे फाउन्ड्री फोर्ज शाप्स, स्ट्रकचरल फेब्रीकेशन, रिफैक्ट्रीज, अखबारी कागज, औषधियों तथा रंग बनाने की वस्तुयें, काला कार्बन इत्यादि हैं। इन उपक्रमों के अतिरिक्त यह आशा की जाती है कि एन० आई० डी० सी० इस बात का भी प्रयत्न करेगी कि अलमूनियम उद्योग का एक कारखाना खोला जाय और भूमि खोदने, खान खोदने, तथा आयस्य और अयस्य रहित (ferrous and non-ferrous) उद्योगों में वेलन तथा वेलन के कारखाने

के प्रसाधनों के निर्माण का कारखाना खोला जाय। व्यापार तथा उद्योग मंत्रालय द्वारा हाल में एक कमेटी की इसलिये नियुक्ति की गई है कि वह इस बात की सलाह दे कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत नई अलमूनियम प्रद्रावणशाला की स्थापना के लिये सबसे अधिक उपयुक्त स्थान कौन सा है ताकि ३०,००० टन के उत्पादन का ध्येय जिसकी इस उद्योग के सम्बन्ध में सिफारिश की गई है पूर्ण की जा सके। प्रबन्ध किया जा रहा है कि बड़ी-बड़ी फाउन्ड्रियों, फोर्ज तथा स्ट्रक्चरल शाप्स के उपक्रमों के सम्बन्ध में रिपोर्ट तैय्यार की जाय। यह आशा की जाती है कि इन उद्योगों के सम्बन्ध में डिजाइनों के निर्माण तथा इनके विकास की सुविधाओं के उपाय किये जायंगे।

"कारपोरेशन द्वारा अपेक्षित वित्त केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुदानों और ऋण के रूप में दिया जाता है। १९५६-५७ में १·४९ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई थी। १९५७-५८ के बजट अनुमान में ४·५० करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। जूट और सूती वस्त्र उद्योग के अभिनवीकरण के हेतु ऋण देने के लिये कार्पोरेशन सरकारी एजेन्सी के रूप में कार्य करती है। अब तक कार्पोरेशन ने ६ सूती मिलों तथा दो जूट मिलों को क्रमशः १·९५ करोड़ रु० तथा ५५ लाख रु० मंजूर किये। कारपोरेशन द्वारा दिये गये ऋण की ब्याज दर ४½ प्रतिशत प्रतिवर्ष है तथा वे १५ वार्षिक किश्तों में चुकाये जाते हैं"।

पुनर्वित्त कार्पोरेशन (Refinance Corporation)

मध्यम आकार के उद्योगों की सहायता के लिये ५ जून १९५८ को इन्डियन कम्पनीज़ एक्ट १९५६ के अन्तर्गत पुनर्वित्त कार्पोरेशन (प्राइवेट) लि० की रजिस्ट्री हुई।

यह कारपोरेशन बम्बई मे होगा। इसके संचालक मण्डल में सात सदस्य होंगे जो इस प्रकार हैं :—रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया का गवर्नर (अध्यक्ष), रिजर्व बैंक का एक डिप्टी गवर्नर, स्टेट बैंक आफ इन्डिया का अध्यक्ष, जीवन बीमा कारपोरेशन का अध्यक्ष तथा भाग लेने वाली बैंकों के तीन प्रतिनिधि।

कारपोरेशन की अधिकृत पूँजी १ लाख रु० के २५०० शेयरों में विभाजित २५ करोड़ रु० होगी। प्रारम्भिक निर्गमित पूँजी १२·५ करोड़ रु० होगी जिसमें से ५ करोड़ रु० रिजर्व बैंक, २·५ करोड़ रु० जीवन बीमा कारपोरेशन, २·३ करोड़ स्टेट बैंक आफ इन्डिया तथा २·७ करोड़ रु० १४ चुनी हुई अनुसूचित बैंकों द्वारा प्रार्थित होगा।

बैंकों में निम्न सम्मिलित हैं। सेन्ट्रल बैंक, पंजाब नेशनल बैंक, इलाहाबाद

बैंक, बैंक आफ इण्डिया, द इन्डियन बैंक, द मरकेन्टाइल बैंक आफ इण्डिया, हैदराबाद बैंक, बैंक आफ बड़ौदा, नेशनल बैंक आफ इण्डिया, यूनाइटेड कमर्शियल बैंक, ल्याइड्स बैंक, चार्टर्ड बैंक, द यूनाइटेड बैंक आफ इण्डिया और द देना बैंक (Dena Bank)।

ऋण ५० लाख रु० से अधिक के नहीं होंगे और उनकी अवधि तीन वर्ष से कम तथा सात वर्ष से अधिक नहीं होगी।

यह सुविधा केवल उन औद्योगिक संस्थाओं को प्राप्त होगी जिनकी परिदत्त पूँजी तथा सुरक्षित कोष (करार्थ तथा सामान्य अवक्षयण के सुरक्षित कोष को छोड़कर) २½ करोड़ रु० से अधिक न हो। ऋण प्रधानतः द्वितीय तथा अन्य योजनाओं में सम्मिलित उद्योगों का औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिये होंगे। इस उद्देश्य के लिये कार्पोरेशन को अपने साधनों के अतिरिक्त २६ करोड़ रु० के ऋण का भी लाभ मिलेगा जो भारत सरकार यूनाइटेड स्टेट्स की इसी प्रकार की धनराशि में से देगी। यह ऋण ४० वर्ष के लिये होगा और इस पर सम्भवतः सरकार यू० एस० ए० को ४% प्रतिवर्ष का ब्याज देगी।

कार्पोरेशन स्वयं ऋण नहीं देगी। योजना में भाग लेने वाली १५ भारतीय तथा विदेशी बैंके ऋण दिया करेंगी। कार्पोरेशन को इस उपलब्ध साधन ३८½ करोड़ रु० है (अर्थात् १२½ करोड़ रु० अपना तथा २६ करोड़ रु० यूनाइटेड स्टेट्स का)। इस धनराशि में से प्रत्येक भाग लेने वाली बैंक का कोटा निश्चित कर दिया जायगा जिसके अन्तर्गत से कारपोरेशन से पुनर्वित्त की सुविधा प्राप्त कर सकेंगे।

अध्याय २५

विदेशी पूँजी

किसी भी देश की पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था की दो विशेषताएँ हैं—अपर्याप्त बचत तथा पूँजी का अभाव और मशीन, टेकनिकल सामान, टेकनिकल कुशलता इत्यादि का आवश्यकता की अपेक्षा अभाव। भारत इन दोनों दोषों से ग्रस्त है और स्थिति पर विजय प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक है कि विदेशी पूँजी का आयात किया जाय। विदेशी पूँजी की सहायता से हम देश की बचत का आर्थिक साधनों के विकास में उपयोग कर सकते हैं। यदि हम केवल अपने सीमित साधनों पर ही निर्भर रहें तो यह विकास सम्भव नहीं हो सकता। विदेशी पूँजी से विदेशों से मशीनें, टेकनिकल सामान और टेकनिकल कुशलता इत्यादि का आयात कर सकते हैं। यदि विदेशी पूँजी नहीं हो तो इस कार्य के लिए हम भुगतान सन्तुलन के साधनों का उपयोग कर सकते हैं परन्तु यह साधन भी सीमित हैं और वर्तमान में भारत का भुगतान सन्तुलन प्रतिकूल है। यदि यह अनुकूल भी हो तब भी इससे बहुत कम धन प्राप्त होगा। बिना विदेशी पूँजी की सहायता के सन्तोषजनक आर्थिक प्रगति नहीं हो सकती। भारत को ही नहीं अपितु संसार के अन्य देशों को अपने आर्थिक विकास के आरम्भकाल में विदेशी पूँजी की सहायता लेनी पड़ी है। एशिया और सुदूर पूर्व के आर्थिक सम्मेलन ने स्थिति का अध्ययन करके इस बात पर महत्व दिया है कि पिछड़े हुए देशों की आर्थिक स्थिति का विकास करने और उन्हें समृद्धशाली बनाने के लिए विदेशी पूँजी का आयात अत्यन्त आवश्यक है।

भारत में योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि १९५०-५१ में ९११० करोड़ की राष्ट्रीय आय में से लोगों ने अपनी आय के ४.९ प्रतिशत भाग की बचत की, अर्थात् कुल ४५० करोड़ रुपये प्रति वर्ष बचत हुई और १९५५-५६ में ७२० करोड़ की बचत की जो कि १०८०० करोड़ की राष्ट्रीय आय की ७.३% थी।[1] यह रुपया व्यापार, गृह निर्माण, सम्पत्ति के क्रय, जेवरों इत्यादि में लगाया

---

१. द्वितीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि भारत की राष्ट्रीय बचत और विनियोग की मात्रा में वृद्धि १९६०-६१ तक १,४४० करोड़ रुपया अर्थात् राष्ट्रीय आय का १०.७२% कर दी जाय जो कि आशा की जाती है उस समय तक १३४८० करोड़ रुपये हो जायगी।

गया। इसके साथ ही कुछ नए कारखाने भी चलाये गये। इस कुल धन में से देश के औद्योगिक विकास के लिये बहुत कम रुपया लगाया गया। लोग अपनी आय में से बहुत कम बचत कर पाते हैं क्योंकि अधिकतर जनता इतनी निर्धन है कि कुछ भी बचत नहीं कर पाती और जो व्यक्ति कुछ बचत करते भी हैं उसे वे पूंजी के बाजार में नहीं लगाते। इन परिस्थितियों में यह आवश्यक है कि हम भारत में विदेशी पूंजी का आश्रय लें।

ब्रिटिश शासन के आधीन—भारत में विदेशी शासनकाल में विदेशी पूंजी लगाई गई। यह पूंजी रेलवे, चाय, जूट, कोयले की खानों, उद्योगों और व्यापार इत्यादि में लगाई गई। ब्रिटिश पूंजी उन उद्योगों में लगाई गई जिससे देश पर उनका अधिकार दृढ़ रहे या जिससे उन्हें ऐसा कच्चा माल मिल सके जिसको विदेशों में आयात करने की आवश्यकता है या जिससे उन्हें अधिक लाभ होता है। उन्हें देश के औद्योगिक विकास में कोई रुचि नहीं थी और जो कुछ विकास हुआ वह उनकी अपने स्वार्थ के कार्यों के पूर्ण करने में स्वतः ही हो गया। इसमें कुछ संदेह नहीं कि भारत ने औद्योगिक तथा आर्थिक दृष्टि से जो थोड़ा बहुत विकास किया है वह ब्रिटिश पूंजी के प्रभाव से सम्भव था। परन्तु यदि ब्रिटिश पूंजीपतियों ने देश का क्रमबद्ध और सुनियोजित आधार पर औद्योगिक और आर्थिक विकास करने के प्रश्न पर ध्यान दिया होता तो भारत का इस क्षेत्र में काफी विकास हो सकता था और उद्योगों पर जो एकाधिकार स्थापित हुआ है उसे रोका जा सकता था।

इसी कारण विदेशी पूंजी का तीव्र विरोध हुआ क्योंकि (१) जब अंग्रेजों ने अत्यधिक लाभ कमाया तो भारतीय असहाय से देखते रहे। अंग्रेजों को सरकार ने अनेक रियायतें भी दीं क्योंकि सरकार भारतीयों की अपेक्षा विदेशियों का पक्षपात करती थी। इस भेद भाव से भारतीयों को भारी क्षति उठानी पड़ी। जिसका स्वाभाविक ही विरोध किया गया।

(२) विदेशी पूंजी से चलाये गये उद्योगों इत्यादि में अधिकतर विदेशियों को ही नौकरी दी गई जिससे भारतीयों में असन्तोष फैला। अपने ही देश में भारतीय असहाय थे और विदेशी वह सभी सुविधाएं प्राप्त कर रहे थे जिन पर वास्तव में भारतीयों का ही अधिकार था।

(३) डाक्टर ज्ञान चन्द ने बताया है कि यह सत्य है कि हमारे देश में रेलवे, चाय, कहवा, अबरक, तांबा, जूट और अन्य अनेक उद्योगों के विकास का श्रेय विदेशी पूंजी को है परन्तु विदेशी पूंजी ही के कारण भारत में औद्योगिक शक्ति का केन्द्रीकरण हुआ जिसके विषय में अधिक ज्ञान नहीं है। इसके ही कारण

उद्योगों के प्रति भेद भाव की नीति के विरुद्ध सुरक्षा के वैधानिक प्रयत्न सम्भव हो सके। भारतीय उद्योग क्षेत्र में टाटा, बिड़ला और हाल में डालमिया और वालचन्द के आने पर भी ब्रिटिश उद्योगपतियों का ही प्रभुत्व है। एन्डरु यूल, बर्ड, शवालेस, ओक्टेवियस स्टील और कुछ अन्य विदेशी कम्पनियाँ भारत की औद्योगिक आर्थिक व्यवस्था पर अपना प्रभुत्व जमाये हुए है; इसके साथ ही वित्त के साधन जूट, कपास, कोयला, चाय, यातायात, बिजली, इंजीनियरिंग और अनेक उद्योगों पर नियंत्रण रखते हैं। औद्योगिक शक्ति के इस प्रकार केन्द्रित करने की प्रवृत्ति का भारतीय उद्योगपतियों ने भी अनुकरण किया है जिससे देश को काफी क्षति पहुँची है।

(४) १९२३ में प्रशुल्क संरक्षण का विदेशी उद्योग ने पूर्ण लाभ उठाया और भारत में अपने कारखानों की शाखाएँ स्थापित कीं जिनके नाम के आगे (भारत) लिमिटेड जोड़ दिया। वास्तव में यह संरक्षण भारतीय उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए था और जब विदेशी उद्योग ने इसका लाभ उठाया तो इससे असन्तोष फैलना स्वाभाविक ही था।

१९२५ में विदेशी पूँजी समिति ने इस बात की जाँच की और सुझाव दिया कि विदेशी पूँजी को भारत में प्रोत्साहन दिया जाय। परन्तु जब सरकार विदेशी उद्योग को कोई विशेष रियायत दे तो इस बात का ध्यान रखे कि उससे मुख्यतः भारत को ही लाभ पहुँचे। यदि सुविधा किसी विशेष उद्योग को न देकर सभी को सामान्य रूप से दी गई, हो, जैसे प्रशुल्क संरक्षण की सुविधा, तो किसी प्रकार का भेद भाव करना व्यवहारिक दृष्टि से सम्भव नहीं है। परन्तु यदि किसी विशेष कारखाने को द्रव्य की सहायता दी जाय तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि भारतीय व्यापारी के हित को हानि न पहुँचे। इसके साथ ही इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जब तक भारतियों को तत्सम्बन्धी शिक्षा की उचित व्यवस्था न की जाय तब तक किसी विदेशी कम्पनी को कोई सुविधा न दी जाय। सार्वजनिक कम्पनियों के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया है कि उनकी भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत रजिस्ट्री करायी जाय, उनकी पूँजी भारतीय मुद्रा में हो और उनमें भारतीय संचालकों की संख्या सरकार द्वारा निर्धारित संख्या के बराबर हो। किन्तु खनिजों के विकास के लिये सुविधाएँ देने के लिए निश्चित नियम नहीं बनाये जा सकते। परन्तु भारत सरकार ने इन सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया और विदेशी पूँजी प्रशुल्क संरक्षण की सम्पूर्ण सुविधाओं का और सरकार द्वारा दी गई अन्य रियायतों का लाभ उठाती रही।

सरकार की नीति—यह सत्य है कि अतीत में विदेशी पूँजी के कारण

भारत में असन्तोष फैला परन्तु अब भारत स्वतन्त्र देश है और इसका कोई कारण नहीं है कि हम विदेशी पूँजी के प्रति अब भी प्राचीन भावना को प्रश्रय दें। विदेशी पूँजी से अब किसी प्रकार का राजनीतिक प्रभुत्व नहीं हो सकता और न जनतंत्रीय शासन कार्य में किसी प्रकार का हस्तक्षेप ही हो सकता है। इसके साथ ही विदेशी पूँजी को भारतीय उद्योग की अपेक्षा किसी प्रकार की अधिक सुविधा भी नहीं मिल सकती। भारत की प्रथम पंच वर्षीय योजना में २,३५६ करोड़ रुपया व्यय करने का प्रबन्ध था। इसकी पूर्ति में रुपये का अभाव था जिसमें से कुछ अभाव बिना विदेशी पूँजी प्राप्त किये पूर्ण नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त औद्योगिक तथा आर्थिक विकास के लिये भी हमें विदेशी पूँजी की आवश्यकता है क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र का काफी अंश अभी निजी उद्योगपतियों के हाथ में है और इस अंश के विकास के लिये पूँजी की आवश्यकता होगी। यही बात द्वितीय योजना में भी है।

इधर कुछ वर्षों से सरकार और भारतीय उद्योगपतियों के सम्पूर्ण प्रयत्नों के पश्चात् भी विदेशी पूँजी पर्याप्त मात्रा में नहीं आ रही है। इसके निम्नलिखित कारण हैं। (अ) भारत में विनियोग के भविष्य के विषय में अनिश्चितता का वातावरण है। विदेशी पूँजीपति को इस बात का विश्वास नहीं है कि भविष्य में इसकी पूँजी सुरक्षित रहेगी। पूँजीपति रुपया लगाते समय पूँजी की सुरक्षा और उससे लाभ इन दो बातों का विशेष ध्यान रखता है। परन्तु विदेशी पूँजीपति को भारत के सम्बन्ध में इन दोनों बातों पर सन्देह है; (ब) भारतीय पूँजी की ही तरह विदेशी पूँजी पर लाभ कम होता है क्योंकि उत्पादन व्यय अधिक है और सरकार ने अनेक प्रतिबन्ध लगा रखे हैं। पूँजी पर लाभ की दर कम होने के कारण विदेशी पूँजी स्वाभाविक रूप से भारत की ओर आकर्षित नहीं होती, (स) अतीत में भारत में अधिकतर ब्रिटिश पूँजीपति विनियोग करते थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् से ब्रिटेन की वित्त कठिनाइयों के कारण ब्रिटेन का विदेशी विनियोग सब देशों में, भारत को सम्मिलित करते हुये, घटा है। अब ब्रिटिश पूँजीपतियों को हमारे देश में विनियोग करने के लिये अधिक धन कमाना सम्भव नहीं है। अमरीकी पूँजीपति रुपया लगा सकते हैं, परन्तु अभी वह भारत में रुपया लगाने के आदी नहीं हुए हैं। ऐसा प्रतीत हुआ है कि अमेरिकी सरकार विनियोग से पूर्व यह चाहती है कि भारत सरकार अमरीका का अनुसरण करे। भारत सरकार की विदेशी नीति किसी भी राष्ट्र गुट के साथ सम्मिलित होने की नहीं है। इसलिये भारत की तटस्थ नीति से अमेरीकी पूँजी के आने में बाधा उत्पन्न हो गई है।

अप्रैल १९४८ तथा १९५६ में औद्योगिक नीति सम्बन्धी घोषणा में और

पंचवर्षीय योजना में भारत सरकार ने इस बात को स्वीकार किया है कि भारत में विदेशी पूँजी को प्रोत्साहन देने की आवश्यकता है। संसद में प्रधान मंत्री ने इस विषय पर प्रकाश डाला था कि सरकार विदेशी पूँजी को सभी उचित सुविधा और प्रोत्साहन देने के लिये प्रस्तुत है। विदेशी पूँजी के महत्व को बताते हुये प्रधान मंत्री ने बताया कि अतीत में विदेशी पूँजी को जिस प्रकार उपयोग में लाया गया है उसी के परिणाम स्वरूप आज इस बात पर महत्व दिया जा रहा है कि राष्ट्रीय हित में विदेशी पूँजी के कार्य क्षेत्र और उसके उपयोग पर नियंत्रण रखा जाय। परन्तु आज स्थिति बिलकुल भिन्न है। इसलिए विदेशी पूँजी पर नियन्त्रण रखने का उद्देश्य यह होना चाहिये कि उसका भारत के अधिकतम लाभ के लिए उपयोग किया जाय। हमारी राष्ट्रीय बचत इतनी नहीं है कि हम जिस पैमाने पर देश का विकास करना चाहते हैं उसे पूर्ण कर सकें। इसके लिये भारतीय पूँजी के अभाव की पूर्ति करने के लिए भारतीय पूंजी के साथ ही विदेशी पूंजी की आवश्यकता इसलिये भी है कि विदेशी पूंजी के साथ ही हम मशीनें, टेकनिकल और औद्योगिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

प्रधान मन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में बताया कि (अ) सभी भारतीय अथवा विदेशी-उद्योगों को भारत सरकार की औद्योगिक नीति का अनुसरण करना पड़ेगा, (ब) सरकार विदेशी उद्योगों पर इसका कोई प्रतिबन्ध नहीं लगायेगी और न कोई ऐसी शर्तें ही लगायेगी जो अन्य सामान भारतीय उद्योगों पर लागू नहीं हैं, (स) विदेशी कम्पनियाँ उन्हीं नियमों के आधार पर लाभ कमाने के लिए स्वतन्त्र होंगी जो अन्य उद्योगों पर लागू हैं, (द) यदि कभी विदेशी उद्योग को सरकार अनिवार्य रूप से अपने अधिकार में लेगी तब उसका उचित मुआवजा दिया जायगा, और (य) सरकार की दृष्टि में लाभ का धन चुकाने की वर्तमान सुविधाओं को लागू रखने में कुछ कठिनाई नहीं है और सरकार विदेशी पूंजी पर न कोई नये प्रतिबन्ध लगाना चाहती है और न लगे प्रतिबन्धों को हटाना चाहती है। परन्तु लाभ का भुगतान विदेशी मुद्रा-विनियम की स्थिति पर निर्भर करेगा। यदि सरकार किसी विदेशी कारखाने को अनिवार्यतः अपने अधिकार में करेगी तो उसके आय के भुगतान के लिए उचित सुविधा होगी। यह उचित और निष्पक्ष शर्तें हैं और विदेशी पूंजी को भारत में किसी प्रकार के भेद भाव का भय होने का कोई कारण नहीं है।

विनियोग की मात्रा—भारत में गत वर्षों में कुल कितनी पूंजी लगाई गई थी इसके ज्ञान के लिए सही आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। एक अनुमान है कि दो विश्व युद्धों के मध्य भारत में ६० करोड़ पौण्ड विदेशी पूँजी लगी हुई थी। एक

अन्य अनुमान में बताया गया है कि यह पूँजी ८० करोड़ पौण्ड थी। एसोसिएन-टेड चेम्बर आव कामर्स ने साइमन कमीशन को बताया था कि कुल १०० करोड़ पौण्ड विदेशी पूँजी भारत में लगी हुई है। यह सम्भव है कि द्वितीय युद्ध से पूर्व ब्रिटिश पूँजी की वापसी इत्यादि के पश्चात् भारत में ३० से ४५ करोड़ पौण्ड के मध्य विदेशी पूँजी लगी रही।

इस सम्बन्ध में अधिक विश्वसनीय सूचना भारतीय रिज़र्व बैंक की विदेशी परिसम्पत्ति और ऋण सम्बन्धी रिपोर्ट (१९५७) में दी गई। इस रिपोर्ट में बताया गया है कि १९५५ के अन्त में भारत की कुल देयता और सम्पत्ति क्रमशः ७६६'३ करोड़ रु० तथा १२५१.८ करोड़ रुपया थी। "इस प्रकार देयताओं के बाद ४८५'५ करोड़ रु० की बचत थी। यह स्थिति पूर्णतः सरकारी क्षेत्र के कारण थी जिसकी देयताओं की तुलना में ९६०.८ करोड़ रु० की बचत थी (सरकारी क्षेत्र की सम्पत्ति ११७०.७ करोड़ रु० और कुल देयता २०९.९ करोड़ रु० थी) गैर सरकारी क्षेत्र में सम्पत्ति की तुलना में देयता ४७५.३ करोड़ रु० अधिक थी (कुल देयता ५५६.४ करोड़ रु० तथा कुल सम्पत्ति ८१'१ करोड़ रु० था)।"

"पूर्ण देश को ध्यान में रखते हुये स्थिति इस प्रकार थी। यू० के० तथा पाकिस्तान भारत के ऋणी थे (४०८'५ करोड़ रु० तथा २६९'५ करोड़ रु० क्रमशः) जब कि यू० एस० ए० तथा शेष अन्य देशों के प्रति भारत ऋणी था। १९५४-५५ में वर्मा के ४८ करोड़ रु० के ऋण को व अदायगी के कारण भारत वर्मा के प्रति ऋणी हो गया।"

"यद्यपि १९५५ के अन्त में भारत एक साहूकार देश था किन्तु १९५७ के अन्त तक देश की स्टर्लिंग सम्पत्ति घटने तथा यू० एस० ए० अन्तर्राष्ट्रीय-मुद्रा कोष तथा अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के प्रति देयता बढ़ने के कारण वह ऋणी देश हो गया।

विदेशी व्यवसाय विनियोग

१९५५ के अन्त में व्यापारिक उपक्रमों की कुल देयता ५२२ करोड़ रु० थी जिसमें से ४८१ करोड़ रु० व्यापारिक विनियोग था। यह विनियोग मुख्यतः शाखाओं में तथा समीकृत मूल्य वाले कागज़ों में (equity holding) था। विनियोग का अधिकांश प्रत्यक्ष प्रकार का था। विभिन्न व्यापारिक क्रियाओं के मध्य व्यापारिक विनियोग के वितरण में कुछ महत्वपूर्ण अन्तर हैं। विदेशी शाखाओं ने अधिकतर पूँजी व्यापार, सार्वजनिक उपयोग के उपक्रम, परिवहन तथा रोपण उद्योगों में लगाई थी। प्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों ने अपने विनियोग को मुख्यतः निर्माण क्षेत्र में लगाया है।

इससे ज्ञात होता है कि विदेशी विनियोग में प्रत्यक्ष विनियोग का अंश मुख्यतः विदेशी कम्पनियों में बहुत बड़ा है। व्यक्तिगत क्षेत्र में विदेशी विनियोग के विश्लेषण से जो कि ४८०·६ करोड़ रुपया का था (और जिसकी विशेष विवेचना आगे करने जा रहे हैं) यह ज्ञात होता है कि निर्माण करने वाले उपक्रमों में सबसे अधिक धन (१६३ करोड़ रुपया) लगाया गया था; उसके पश्चात् दूसरा स्थान व्यापार का है जिसमें १०३ करोड़ रुपया लगाया गया था और तीसरा स्थान रोपण का है जिसमें ८७ करोड़ रुपया लगाया गया था। बैंक, परिवहन और खान खोदने के उद्योगों में भी विदेशी पूँजी लगी हुई है। व्यापारों में जो पूंजी लगी हुई है उसका विश्लेषण निम्न है :—

	करोड़ रुपये में
निर्माण	१६३·३
व्यापार	१०२·३
रोपण	८७·२
उपयोगितायें तथा परिवहन	५३·१
वित्त	३६·२
खानें	६·६
विविध	२५·६
	कुल ४८०·६

"साहूकार देशों में ब्रिटेन की स्थिति प्रमुख बनी रही। १६५५ के अन्त में ब्रिटेन के प्रति देयता ४०० करोड़ से अधिक थी तथा कुल विदेशी व्यापारिक देयताओं की ७७% थी। यू० एस० ए० ने ४५ करोड़ की विदेशी पूँजी प्रदान की जिसका अधिकांश पेट्रोलियम में लगाया गया। शेष देशों ने ७४ करोड़ रु० की धनराशि दी जो हमारी विदेशी वित्तीय देयताओं की लगभग आधी हैं।"

१६४८ और १६५३ के मध्य—रिजर्व बैंक की प्रथम रिपोर्ट ३० जून १६४८ तक के लिये थी। दूसरी रिपोर्ट में रिजर्व बैंक ने विदेशी विनियोग के दिसम्बर १६५३ तक के आंकड़े दिये हैं। उसके अनुसार विदेशी व्यापारिक विनियोग में ३० जून १६४८ से लगा कर ३१ दिसम्बर १६५३ तक वास्तविक वृद्धि १३२ करोड़ रुपये की हुई जिसमें से ११२ करोड़ रुपया (अर्थात् ८५%) प्रत्यक्ष विनियोग था जिसका वितरण निम्न है :

	(करोड़ रुपयों में)
नियन्त्रित भारतीय ज्वाइन्टस्टाक कम्पनियाँ	४२
विदेशी कम्पनियों की शाखायें	७०

"ब्रिटेन और अमेरिका के विनियोग में क्रमशः १३७ करोड़ और १३ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई और पाकिस्तान तथा लङ्का का क्रमशः ७ करोड़ और २ करोड़ रुपया घट गया। विनियोग में वृद्धि का व्यापारों के दृष्टिकोण से विश्लेषण करने पर यह ज्ञात होता है कि निर्माण सम्बन्धी क्षेत्र में ६४ करोड़ रुपये, व्यापार में ३० करोड़ रुपये, बागवानी में २० करोड़ रुपये, उपयोगिताओं में १६ करोड़ रुपये और विविध में ६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई थी। ब्रिटेन और अमरीका का नवीन विनियोग अधिकांश नियन्त्रण युक्त था और यदि कुल विनियोग की वृद्धि से नियन्त्रण युक्त विनियोग का प्रतिशत लगाया जाय तो ब्रिटेन का ८५% और अमेरिका ६१% था। अमेरिका का नवीन विनियोग विशेषकर व्यापारिक क्षेत्र तक ही सीमित रहा परन्तु ब्रिटेन का विनियोग भिन्न क्षेत्रों में विभक्त है जैसे निर्माण (५६ करोड़ रुपया) बागवानी (२१ करोड़ रुपया), व्यापार (२० करोड़ रुपया), उपयोगितायें (१६ करोड़ रुपया) और वित्त (१४ करोड़ रुपया)। ३० जून १६४८ के पश्चात् रजिस्टर की हुई कम्पनियों में लगाई हुई विदेशी पूँजी की मात्रा तेल परिष्करणियों को छोड़कर जिनमें लगी हुई पूँजी शाखाओं में बढ़े हुये विनियोग में सम्मिलित की जा चुकी है—लगभग ११ करोड़ रुपये के थी, जिसमें से ७ करोड़ रुपयों का नियन्त्रण विदेशों से होता था। ब्रिटेन से प्राप्त पूँजी की मात्रा ६ करोड़ रुपये के लगभग और अमेरिका से प्राप्त लगभग १ करोड़ रुपये के अनुमान किया गया था।

१६५३ और १६५५ के मध्य—यदि वर्तमान सर्वेक्षण की तुलना १६५३ के सर्वेक्षण से की जाय तो पता चलेगा कि इन दो वर्षों में विदेशी विनियोग में ६१ करोड़ रु० की वृद्धि हुई है। ३१ दिसम्बर १६५५ को विदेशी विनियोग की मात्रा ४८१ करोड़ रु० थी। चूँकि इस बीच में मूल्यांकन सम्बन्धी कुछ परिवर्तन हुये हैं इसलिये ६१ करोड़ रुपया पूँजी की वास्तविक गतिशीलता नहीं दिखाते। ऐसे परिवर्तन आय-व्यय लेखा के चल और अचल दोनों ही प्रकार की सम्पत्तियों में हो सकते हैं।"

" मूल्यांकन सम्बन्धी परिवर्तनों को व्यवस्थित कर लेने पर विदेशी व्यापारिक विनियोग ३६ करोड़ रु० का होगा। इसमें से ४ करोड़ रुपया की बैंक-पूँजी निकाल देने पर गैर-बैंकिंग व्यवसाय में विनियोजित राशि ३५ करोड़ रु० होगी। वास्तव में प्रत्यक्ष विनियोग ३६.३ करोड़ रु० का था। इसमें से २४.५ करोड़ रु० का विनियोग ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों तथा ११.८ करोड़ रु० का विनियोग विदेशी कम्पनियों की शाखाओं में था। 'पोर्ट फोलियो' प्रकार के विनियोग में १.१ करोड़ रु० की वास्तविक कमी हुई।

	करोड़ रु० में
प्रत्यक्ष विनियोग	
(a) 'नियंत्रित' भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनियाँ	+२४.५
(b) विदेशी कम्पनियों की शाखायें	+११.८
कुल योग	+३६.२
पोर्ट फोलियो विनियोग	—१.१
देश में आई कुल विदेशी पूँजी (inflow)	+३५.२

३५.२ करोड़ रु० में से २४ करोड़ रु० नई कम्पनियों (जो ३० जून १६४८ के बाद स्थापित हुई) में लगा था तथा ११.२ करोड़ रु० पुरानी कम्पनियों में लगा था। नई कम्पनियों में से १६.५ करोड़ रु० पेट्रोलियम निर्माण के लिये तथा ३.४ करोड़ रु० पेट्रोलियम के अलावा अन्य में लगा था।

१६५४-५५ में विनियोजकों में यूनाइटेड किंगडम सबसे आगे रहा; फिर भी इस अवधि में इसका विनियोग पहले की अपेक्षा बहुत कम था। सम्पत्ति के पुनर्मूल्यांकन को ध्यान में रखते हुये १६५४-५५ में यूनाइटेड किंगडम के विनियोग में २३-२४ करोड़ रु० की वृद्धि हुई अर्थात् वृद्धि की दर ११-१२ करोड़ रु० प्रति वर्ष थी। इसके विपरीत यू०एस०ए० की विनियोग दर ऊँची उठी। जुलाई १६४८ से दिसम्बर १६५३ तक औसत विनियोग ३.४ करोड़ रु० थी। १६५४-५५ में यह ४.६ करोड़ रु० था। १६५४-५५ में यूनाइटेड स्टेट्स का विनियोग मुख्यतः पेट्रोलियम के अन्तर्गत था। १६५४-५५ में जर्मनी के विनियोग में भी उल्लेख्य वृद्धि हुई यद्यपि जर्मनी का कुल विनियोग अभी बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।"

व्यक्तिगत विनियोग के अतिरिक्त भारत में विदेशी पूँजी अमेरिकी सरकार से अनुदानों तथा ऋण के रूप में, अन्तर्राष्ट्रीय बैंक से ऋण के रूप में और फोर्ड फाउन्डेशन से अनुदान के रूप में तथा कोलम्बो प्लान आदि के अन्तर्गत

प्रथम योजना में प्राप्त विदेशी पूँजी की मात्रा

	अधिकृत प्रदान	ऋण अथवा अनुदान	मार्च १६५६ तक प्रयोग में आने की मात्रा का अनुमान	शेष मात्रा जो द्वितीय योजना में काम आ सकेगी
अमेरिका				
गेहूँ ऋण	६०·३	ऋण	६०·३	—
भारत-अमेरिकी	१०२·५	अनुदान	७०·५	३२·०
सहायता कार्य क्रम	३६·३	ऋण	७·०	३२·३
अन्तर्राष्ट्रीय बैंक	१२·०	ऋण	८·५	३·५
कोलम्बो योजना				
आस्ट्रेलिया	१०·५	अनुदान	५·३	५·२
कनाडा	३५·६	अनुदान	१६·५	१६·२
न्यूजीलैण्ड	१·२	अनुदान	०·३	०·६
ब्रिटेन	०·५	अनुदान	०·३	०·२
फोर्ड फाउन्डेशन	५·४	अनुदान	२·०	३·४
नार्वे	०·३	अनुदान	०·२	०·१
कुल	२६७·६		२०३·६	६३·८

प्राप्त होती रही है। वास्तविकता तो यह है कि प्रथम योजना में जितनी विदेशी पूँजी की प्राप्ति की हम आशा लगा रहे थे उससे बहुत कम प्राप्त हुई। आँकड़ों के अनुसार विदेशी वित्त की कुल मात्रा जो प्रथम योजना में अधिकृत थी वह २६८ करोड़ रुपया थी, जिसमें से हम केवल २०४ करोड़ रुपयों का प्रथम योजना काल में प्रयोग कर सकेंगे और इस प्रकार ६४ करोड़ रुपया द्वितीय योजना में लगाये जाने के लिये शेष रह जायगा।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना में जिसमें ४८०० करोड़ रुपया व्यय किया जाने वाला है। सरकारी क्षेत्र में ८०० करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी की आवश्यकता पड़ेगी और व्यक्तिगत क्षेत्र में लगभग १०० करोड़ रुपये की। इस प्रकार १६५६ से १६६१ तक के ५ वर्षों में कुल ६०० करोड़ रुपये की विदेशी पूँजी की आवश्यकता होगी।

द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में, ऐसा अनुमान किया जाता है, कि ४३८ करोड़ रुपया की बाह्य सहायता प्राप्य होगी। (३८ करोड़ रु० १९५६-५७ में, १०० करोड़ रु० १९५७-५८ में, तथा ३०० करोड़ रु० १९५८-५९ में)। यदि यह मान लिया जाय कि द्वितीय योजना के शेष दो वर्षों में ६०० करोड़ रु० की बाह्य सहायता उपलब्ध होगी तो संपूर्ण योजना काल में उपलब्ध राशि १०३८ करोड़ रु० होगी जो सरकारी क्षेत्र के लिये अनुमानित ८०० रु० की राशि से २३८ करोड़ रु० अधिक होगी। किन्तु मूल्यों के ऊँचे होने तथा द्वितीय योजना की विदेशी विनिमय की आवश्यकता बढ़ जाने के कारण विदेशी विनिमय की उपलब्धि की उपर्युक्त वृद्धि प्रमुख योजनाओं के लिये भी अपर्याप्त सिद्ध होगी।

अध्याय २६

उद्योगों का स्थान निर्धारण

किसी उद्योग का स्थान निर्धारण अनेक आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा प्राकृतिक कारणों पर निर्भर होता है। यदि उपर्युक्त विभिन्न कारणों से किसी उद्योग की अनेक फैक्ट्रियाँ किसी एक स्थान पर केन्द्रित हो जाती हैं तब वह उद्योग का स्थानीयकरण कहलाता है। इस सम्बन्ध में 'वैबर' का सिद्धान्त कुछ दोषों के होते हुये भी सबसे अधिक विचार पूर्ण है। यह सिद्धान्त आर्थिक कारणों पर भी विचार करता है जैसे टन-मीलों परिवहन व्यय जिसमें माल की मात्रा तथा उसके ले जाये जाने की दूरी का पूर्ण विचार रक्खा जाता है। किसी फैक्ट्री के स्थापित करने के लिये सब से अधिक उपयुक्त स्थान वह है जहाँ पर कच्चे माल तथा निर्मित माल दोनों के ही दृष्टिकोण से टन-मील परिवहन व्यय न्यूनतम हो। वैबर ने कच्चे माल को दो भागों में विभाजित किया है (१) सर्वत्र प्राप्य माल' जैसे ईंट, मिट्टी, बालू, पानी इत्यादि जो सर्वत्र प्राप्त हैं और (२) 'स्थानीय माल' जैसे लौह अभ्रक, बौक्साइट, चीनी, रुई, कोयला आदि जो विशेष स्थानों से ही प्राप्त हैं। स्थानीय माल को फिर वैबर ने शुद्ध तथा क्षीण-भार नामक दो भागों में विभाजित किया है। शुद्ध में ऐसी वस्तुयें जैसे कपड़ा बिनने तथा सूत कातने के लिये रूई, सीमेंट बनाने के लिये बालू और चूना आदि जो अपने सम्पूर्ण भार से निर्मित माल में मिल जाते हैं, सम्मिलित किये जाते हैं। क्षीण-भार (weight-losing) माल में वे वस्तुयें हैं जिनका भार छीज जाता है जैसे गन्ना, कोयला आदि सम्मिलित किये गये हैं। क्योंकि पहले प्रकार की वस्तुयें सर्वत्र प्राप्त होती हैं इसलिये उनका किसी उद्योग के स्थान निर्धारण पर कोई विशेष प्रभाव नहीं होता; परन्तु विशेष स्थान में प्राप्त होने वाली वस्तु का प्रभाव उद्योग के स्थान निर्धारण में बहुत अधिक होता है। इनमें भी वे वस्तुयें जिन्हें क्षीण-भार कहा गया है विशेष महत्व की हैं। इन वस्तुओं का भार निर्मित वस्तु के निर्माण में छीज जाता है इसलिये इनका प्रयोग करने वाले उद्योगों की, जहाँ पर ये वस्तुयें प्राप्त हैं, वहाँ केन्द्रित होने की प्रवृत्ति होती है। वैबर ने 'माल का इन्डेक्स' निर्माण किया ताकि उसके आधार पर यह ज्ञात किया जा सके कि कच्चे माल की प्राप्ति का स्थान अथवा निर्मित वस्तु के विक्रय का स्थान दोनो में से कौन किसी उद्योग के केन्द्रित होने में अधिक प्रभावशाली कारण होता है। यह 'इन्डेक्स' स्थान विशेष पर

प्राप्त कच्चे माल के भार को निर्मित वस्तु के भार से विभाजित करने से प्राप्त होता है। यदि *'माल का इन्डेक्स'* किसी उद्योग के सम्बन्ध में बड़ा है तो इससे यह समझना चाहिये कि कच्चे-माल की प्राप्ति का स्थान अधिक प्रभावशाली कारण है और उद्योग की स्थापना के लिये वह स्थान अधिक उपयुक्त होगा परन्तु यदि 'माल का इन्डेक्स' छोटा है तो उससे यह समझना चाहिये कि कच्चेमाल की प्राप्ति कोई विशेष महत्वशाली बात नहीं है और उद्योग की स्थापना अच्छी प्रकार बाजार के निकट की जा सकती है।

परन्तु जैसा इस सिद्धान्त में बताया गया है उसके अनुसार जहाँ न्यूनतम परिवहन व्यय हो वहाँ सर्वदा उद्योग स्थापित नहीं किये जाते। इसके कई कारण हैं, जैसे (१) उद्योगपतियों को कच्चे माल की प्राप्ति के स्त्रोतों और बाजारों का पूर्ण ज्ञान नहीं होता कि वे ठीक-ठीक आवश्यक अनुगणन कर सकें। होता यह है कि औसत दर्जे का व्यवसायी वर्तमान उद्योगों की स्थिति का अनुमान लगा लेता है और जहाँ पर उसकी समझ में यह आता है कि वह अधिकतम लाभ उठा सकेगा वहीं अपना कारखना खोल देता है। सामान्यतः वे उद्योग जो किसी स्थापन विशेष में केन्द्रित हो गये हैं कुछ ऐसी लाभकारी स्थिति वहाँ उत्पन्न कर देते हैं जिनके कारण नवीन कारखाने वही स्थापित होने लगते हैं जिससे वहाँ और अधिक स्थानीयकरण हो जाता है, (२) उद्योगपतियों के समक्ष स्थान निर्धारण में सदा आर्थिक ही कारण नहीं रहते। वे सामाजिक सुविधायें तथा जीवन की अन्य सुविधाओं की प्राप्ति का भी विचार करते हैं जो नगरों में सुगमतापूर्वक प्राप्त हैं। इस कारण से भी वे बहुधा बड़े-बड़े नगरों में या उनके आसपास अपने कारखानों के खोलने का निश्चय करते हैं चाहे ऐसा करने में उन्हें ग्राम में कारखाना खोलने की अपेक्षा लाभ कुछ कम ही क्यों न प्राप्त हो; और (३) युद्ध-काल में हवाई हमला से रक्षा का भी ध्यान रखना आवश्यक होता है इसलिये बहुधा उद्योगों की स्थापना खुले हुये नगरों से दूर तथा नदी के किनारों से दूर देश के आन्तरिक भाग में करना पड़ता है चाहे इसमें आर्थिक हानि ही क्यों न उटानी पड़े।

प्रवृत्ति—भारत में उद्योगों का स्थान-निर्धारण त्रुटिपूर्ण है। एक ओर जब कि बम्बई, पश्चिम बंगाल और बिहार में अपेक्षाकृत अधिक औद्योगीकरण हुआ है तो दूसरी ओर अन्य राज्यों में औद्योगीकरण के प्रायः सभी साधन होते हुए भी विशेष विकास नहीं हो पाया है। इसके साथ ही दूर ग्रामों की अपेक्षा नगर के पड़ोस में ही उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से भारत के बड़े नगरों का अनुचित प्रसार हो गया है।

तालिका १
भारत के औद्योगिक श्रमिकों की कुल संख्या का प्रतिशत

प्रदेश	१६२१*	१६३६*	१६४३*	१६५१
बंगाल और बम्बई	६२·१	५६·२	५७·६	५४·३
बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार	८३·१	८५·६	८४·४	८८·४
शेष भारत में	१६·६	१४·१	१५·६	११·६

*अविभाजित भारत के आंकड़े

तालिका १ के अनुसार १६५१ में भारत के कुल औद्योगिक श्रमिकों के ५४·३ प्रतिशत बंगाल और बम्बई के दो राज्यों में कार्य करते थे और ८८·४ प्रतिशत बंगाल, बम्बई, मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार के पाँच राज्यों में कार्य करते थे। इसका अर्थ है कि औद्योगिक विकास की दृष्टि से अन्य क्षेत्र पिछड़े हुए हैं जिनमें कुल औद्योगिक श्रमिकों के केवल ११·६ प्रतिशत कार्य करते हैं। यह ध्यान देने योग्य बात है कि बम्बई और बंगाल क्षेत्र में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १६२१ में ६२·१ प्रतिशत थी जो घटकर १६५१ में ५४·३ प्रतिशत हो गई जब कि मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार में इनकी संख्या १६२१ में कुल श्रमिकों के २१ प्रतिशत से बढ़कर १६४३ में २६·८ और १६५१ में ३४·१ प्रशित हो गई। शेष भारत के अन्य क्षेत्रों में कुल औद्योगिक श्रमिकों की संख्या १६२१ में १६·६ प्रतिशत थी जो घटकर १६४३ में १५·६ प्रतिशत और १६५१ में ११·६ प्रतिशत हो गई। इसका यह अर्थ है कि बंगाल और बम्बई तथा देश के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा मद्रास, उत्तर प्रदेश और बिहार में उद्योग अधिक केन्द्रित हुये हैं।

तालिका २
भारत के कुछ नगरों की जनसंख्या
(लाखों में)

	१६३१	१६४१	१६५१
कलकत्ता	१२·८६	२१·०६	२५·४६
बम्बई	११·६१	१६·६५	२८·३६
कानपुर	२·४४	४·८७	७·०५
मद्रास	६·४७	७·७७	१४·१६
दिल्ली	३·४७	५·२१	६·१५

तालिका २ के आँकड़ों को देखने से पता चलता है कि १६२१ से १६५१ के बीच के ३० वर्षों में भारत के बड़े नगरों कलकत्ता और बम्बई की जन-संख्या में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। कलकत्ता और बम्बई की जन-संख्या अपने दो गुने से भी अधिक हो गई है जब कि कानपुर की जन-संख्या तीन गुनी हो गई है। इसका एक कारण तो यह है कि अन्य नगरों की भांति गाँव से लोग आकर इनमें बसते गये हैं और साथ ही इन क्षेत्रों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से भी जनसंख्या में वृद्धि हुई है।

हानियाँ—नगरों और बड़े कस्बों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से अनेक हानियाँ होती हैं जिनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं :—(१) इससे जन-संख्या स्थान के अनुपात में बहुत अधिक बढ़ जाती है और इससे भीड़ एवम् घिच-पिच हो जाती है। इसका जनता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है, सफाई नहीं रह पाती, रहने के लिए घरों का अभाव हो जाता है और इन क्षेत्रों में अनेक सामाजिक बुराईयों कि वृद्धि और उनका प्रसार होने लगता है। यदि उद्योगों को उचित रूप से विभिन्न उपयुक्त स्थानों में स्थापित किया जाता तो इनमें से बहुत सी बुराईयों से बचा जा सकता था; (२) उद्योग केवल बड़े कस्बों और नगरों में ही केन्द्रित नहीं हुए हैं वरन् कुछ मुख्य प्रकार के उद्योग खास-खास राज्यों में केन्द्रित हुए हैं। चीनी उद्योग अधिकतर उत्तर प्रदेश और बिहार में, सूती उद्योग बम्बई, मध्य-प्रदेश और उत्तर प्रदेश में, लोहा और इस्पात उद्योग बिहार में, जूट बंगाल में और कोयले की खदानों की उद्योग बंगाल और बिहार में केन्द्रित हैं। इसका एक कारण तो यह है कि इन क्षेत्रों में अपने उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल और बिजली मिल जाती है और दूसरा कारण उद्योगपतियों की रुचि भी कहा जा सकता है। इस प्रकार को स्थिति से यह हानि होती है कि यदि इनमें से किसी उद्योग में मंदी आ जाये तो उसका उस क्षेत्र पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। यदि चीनी के उद्योग में मंदी आ जाय तो इससे उत्तर प्रदेश और बिहार की जनता पर विपत्ति का पहाड़ टूट जायगा और सूती उद्योग में मंदी आने से बम्बई, मध्य प्रदेश और उत्तर-प्रदेश की जनता संकट में पड़ जायगी। यदि उद्योग देश में चारों ओर वितरित हुए होते तो शायद यह स्थिति नहीं होती। यह बिल्कुल संभव है कि एक उद्योग में मंदी आते ही दूसरे उद्योग में भी मंदी नहीं आ जाती है और यदि उद्योगों को उचित रीति से सम्पूर्ण देश में फैला रखा हो तो मंदी आने से उद्योग को क्षति अपेक्षाकृत कम होगी, (३) इन्हीं कुछ चुने हुए क्षेत्रों में उद्योगों के केन्द्रित हो जाने से अन्य क्षेत्रों की प्रायः उपेक्षा की गई है। यह हो सकता है कि अन्य क्षेत्र इनके समान उत्तम सिद्ध न हो फिर भी उनमें उद्योगों की स्थापना

से कुछ आर्थिक लाभ होने की संभावना है। इन क्षेत्रों की सामाजिक सुविधाओं और उद्योग के लिए आवश्यक प्राकृतिक साधनों का प्रायः बिल्कुल उपयोग नहीं किया गया है। इन क्षेत्रों की जनता अपेक्षाकृत अधिक बेरोजगार है और जीविका की उपयुक्त व्यवस्था न होने से उनके रहन-सहन का स्तर भी निम्न है। यदि इन क्षेत्रों में उद्योगों को चालू किया जाता, जैसे उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिले, दक्षिण भारत और पंजाब के कुछ स्थान, तो देश में उपलब्ध साधनों का और अच्छा उपयोग किया जा सकता था; (४) हमारे देश में उद्योगों की जैसी व्यवस्था है वह युद्धकाल के लिए उपयुक्त नहीं है। युद्ध के समय बमवर्षा से इसकी भारी क्षति होने की संभावना है। यदि उद्योग कुछ स्थानों पर केन्द्रित होने की अपेक्षा बड़े क्षेत्र में वितरित होता तो इस प्रकार का भय अपेक्षाकृत कम रहता।

आधुनिक प्रवृत्ति—यद्यपि स्थानीकरण की दृष्टि से भारतीय उद्योग में अनेक दोष हैं परन्तु इधर कुछ वर्षों से स्थिति में सुधार होने की संभावना दिखाई देती है। सूती उद्योग के लिए आरंभ में बम्बई नगर और उसका समीपवर्ती क्षेत्र विशेष महत्त्वपूर्ण समझा जाता था परन्तु धीरे-धीरे मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और अन्य स्थानों में सूती उद्योग के नये कारखाने खोले गये हैं। इससे बम्बई का महत्त्व क्रमशः कम होता गया। यद्यपि बम्बई अब भी बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है अन्य स्थानों ने भी अपना महत्त्व बढ़ा लिया है। चीनी उद्योग के सम्बध में अब भी उत्तर प्रदेश और बिहार प्रमुख हैं परन्तु मद्रास, बम्बई और भूतपूर्व रियासतों में भी इस उद्योग की ओर आकर्षण बढ़ा है। १६३१-३२ में कुल ३२ चीनी के कारखानों में २६ कारखाने उत्तर प्रदेश और बिहार में थे परन्तु १६५२-५१ में कुल १३४ कारखानों में से इन दोनों राज्यों में केवल ६३ कारखाने थे। १६३१-३२ और १६५२-५३ के बीच मद्रास में चीनी के कारखानों की संख्या २ से बढ़कर १३, बम्बई में १ से बढ़कर १४ और खण्ड 'ख' राज्यों में जहाँ एक भी कारखाना नहीं था १२ हो गई। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि उत्तर प्रदेश और बिहार अब भी महत्वपूर्ण राज्य हैं परन्तु अन्य राज्यों में भी चीनी के कारखाने खुल गये है और उनका भी महत्त्व कुछ बढ़ गया है।

जहाँ तक कागज के उद्योग का प्रश्न है इसके कारखानों की स्थापना सर्वप्रथम बंगाल में हुई जिसका मुख्य कारण कोयले की पूर्ति की सुविधा थी। कारखानों में कागज बनाने के लिए हिमालय के पहाड़ी क्षेत्रों से प्रायः ६०० मील दूर से सबाई घास लाई जाती थी परन्तु चूँकि एक टन कागज बनाने में २½ टन घास और ५ टन कोयले की आवश्यकता होती थी इसलिए कोयले को प्राथमिकता दी गई।

कोयले के क्षेत्र के निकट कारखाना स्थापित करना अधिक उपयुक्त समझा गया। परन्तु धीरे-धीरे बाँस और बिजली का प्रयोग होने लगा। इससे कागज के कारखाने अन्य स्थानों को हटाये गये। सिमेंट उद्योग सर्वप्रथम मध्य-प्रदेश और राजपूताना में स्थापित किया गया परन्तु धीरे-धीरे सिमेंट उद्योग के कारखाने उन क्षेत्रों में स्थापित होने लगे जो या तो सिमेंट का उपभोग करनेवाले क्षेत्र हैं या सिमेंट का उपभोग करनेवाले क्षेत्रों के निकट पड़ते हैं।

उद्योगों की स्थापना में उपर्युक्त वितरण के अनेक कारण है जैसे (१) स्वदेशी बाजार का महत्व बढ़ना, परिवहन की सुविधाओं में वृद्धि तथा देश के आन्तरिक भागों में द्रव्य बाजार की सुविधाओं की प्राप्ति; (२) उत्पादन प्रविधि में विकास जैसा कि कागज के उत्पादन के सम्बन्ध में हुआ; (३) उत्पादकों का विनाशकारी स्पर्धा नीति का सविचार त्याग तथा उद्योगों की स्थापना में सुधार की प्रवृत्ति जैसा कि सिमेन्ट के उद्योग में दिखाई पड़ा है; (४) देशी रियासतों का जो कि 'ख' राज्य कहलाते है उद्योगों को अपनी ओर आकृष्ट करने की नीति का अनुसरण करना जिसके अन्तर्गत सब प्रकार की सुविधायें प्रदान करना जैसे श्रम सम्बन्धी उदार-कानून बनाना, तथा उनकी पूँजी में भाग लेना आदि; और (५) हाल में लागू की हुई उद्योगों को इन्डस्ट्रीज एक्ट के अन्तर्गत लाइसेन्स दिये जाने की सरकार की नीति इत्यादि।

सरकार की नीति—१९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियम) कानून के अनुसार भारत सरकार को उद्योग के स्थान-निर्धारण पर पूरा नियंत्रण रखने का अधिकार है। कारखानों को अपनी रजिस्ट्री करनी पड़ती है और अपना उत्पादन या उत्पदान शक्ति में वृद्धि करने से पूर्व आवश्यक अनुमति लेनी पड़ती है। प्रत्येक औद्योगिक इकाई अथवा कारखाने के पास लाइसेन्स होता है। लाइसेन्स देने-वाली समिति लाइसेंस देते समय उद्योग कानून के अंतर्गत कारखानों के आकार-प्रकार और स्थान इत्यादि का निश्चित विवरण देती है। चीनी के कुछ कारखानों को अनुकूल स्थानों पर हटाने के लिए यह समिति पहले ही अनुमति दे चुकी है और सूती मिलों को कपड़े की बुनाई के लिए वहीं नयी शाखा खोलने की अनुमति देना अस्वीकार भी कर चुकी है।

कुछ उद्योगों का लाइसेन्स इसलिये अस्वीकार कर दिया गया है कि जहाँ नया कारखाना खोलने का निश्चय था वहाँ पहले से ही अधिक कारखाने या तो स्थित थे अथवा जो स्थान आवेदन पत्र में कारखना खोलने का बताया गया था लाइसेन्स देने वाली समिति द्वारा उपयुक्त नहीं समझा गया। लाइसेन्स देने में उन आवेदनों को प्राथमिकता दी जाती है जो किसी नये उपयुक्त स्थान

पर कारखाना खोलने के लिये होती है। उद्योगों के स्थान-निर्धारण की सहकारी नीति का उद्देश्य बड़े कस्बों और नगरों में उद्योगों के अधिक जमाव को घटाना है। सरकार का उद्देश्य है कि जिन राज्यों में पहले ही अपेक्षाकृत अधिक कारखाने खोले जा चुके हैं वहाँ और अधिक कारखानों को स्थापित न होने दिया जाय। इसके विपरीत नये कारखानों को उन क्षेत्रों की ओर आकृष्ट किया जाय जिनका अभी विकास नहीं हुआ है। परन्तु भारतीय उद्योगों के उचित स्थानीयकरण की समस्या केवल लाइसेन्स देने की व्यवस्था से ही हल नहीं की जा सकती है। उद्योगपति पिछड़े हुए और कम विकसित क्षेत्रों में नए कारखाने खोलना नहीं चाहते हैं इसका एक कारण तो उनकी पूर्व धारणा हो सकती है परन्तु वास्तव में बात यह है कि इन क्षेत्रों में उद्योग स्थापित करने के लिए न बिजली की सुविधा मिलती है, न कच्चे माल की और न उपयुक्त श्रम की। इन पिछड़े और विकसित क्षेत्रों की ओर उद्योगों को आकृष्ट करने के लिये यह आवश्यक है कि (१) इन क्षेत्रों का विकास किया जाय जिससे उद्योगपति इनकी ओर आकृष्ट हो सकें और (२) आरम्भ में उद्योगपतियों को कम से कम कुछ सुविधायें दी जायँ, जैसे भूमि रियायती दर पर दी जाय, रेलवे का भाड़ा कम किया जाय, और जहाँ आवश्यक हो नकद द्रव्य से सहायता की जाय। भारत में उद्योगों के स्थान-निर्धारण की समस्या तभी हल की जा सकती है जब सरकार इन सब बातों को ध्यान में रखकर एक उत्तरोत्तर विकासमान नीति अपनाये।

अध्याय २७

युक्तिकरण

युक्तिकरण उद्योग की कार्यक्षमता में वृद्धि करने और उत्पादन व्यय को घटाने की लम्बी प्रक्रिया है। किसी उद्योग के युक्तिकरण से अभिप्राय यह है कि कारखाने में पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनें लगाई जाएँ, नए टेक्निकल सुधार किए जाएँ, श्रमिकों की संख्या कम करने के लिए श्रम बचाने के उपायों तथा स्वचालित मशीनों का उपयोग किया जाए और उद्योग को व्यर्थ की प्रतियोगिता से बचाने के लिए उसके संगठन में सुधार करके तथा उसकी व्यवस्था को वैज्ञानिक आधार पर संगठित करके उत्पादन कार्य की गति में वृद्धि की जाय। "युक्तिकरण का अर्थ यह है कि कार्य करने की प्राचीन परिपाटी, निश्चित क्रम तथा अनुभविक नियमों और शोधनों के स्थान पर ऐसे ढंग का प्रयोग होने लगे जो कि वर्षों के वैज्ञानिक अध्ययन के परिणाम हैं और जिनका ध्येय साधनों को साध्यों के साथ अधिकतम उपयुक्तता के साथ संयोजित करने का है जिससे कि उत्पत्ति के प्रयत्न की प्रत्येक इकाई का अधिकतम लाभकारी परिणाम हो।"

युक्तिकरण का उद्देश्य उत्पादन-व्यय घटाना, उत्पादित वस्तु की प्रकार में सुधार करना और उत्पादक को हानि उठाने से बचाना है। यदि उद्योग का प्रबन्ध उचित रीति से किया जाय तो युक्तिकरण उपभोक्ता तथा श्रमिकों और उत्पादकों के लिए लाभकारी सिद्ध होगा। परन्तु वास्तव में यह देखा गया है कि युक्तिकरण से प्राप्त लाभ को उत्पादक स्वयं ले लेते हैं और वस्तुओं की प्रकार में सुधार करके तथा मूल्यों में कमी करके उपभोक्ताओं और पारिश्रमिक बढ़ाकर श्रमिकों को लाभ नहीं उठाने देते। श्रमिक युक्तिकरण का विरोध करते हैं, इसकी योजना से उनमें असंतोष फैलता है क्योंकि इसका परिणाम बेरोज़गारी होता है। श्रमिक यह नहीं चाहते कि स्वचालित मशीनों से तथा श्रम बचाने के अन्य प्रयत्नों को अपनाकर और पुरानी मशीनों के स्थान पर नवीन आधुनिक मशीनों का उपयोग कर अनेक श्रमिकों को बेरोजगार कर दिया जाए। इसी कारण श्रमिकों ने प्रायः युक्तिकरण का विरोध किया है। श्रमिकों की यह माँग बहुत कुछ न्याय संगत है क्योंकि अतीत में युक्तिकरण का वह पूर्ण लाभ नहीं उठा सके हैं। परन्तु यदि उद्योग के युक्तिकरण से पारिश्रमिक बढ़ता है और उपभोक्ताओं को कम मूल्य

पर वस्तु मिल सकती है तो फिर श्रमिकों द्वारा इस प्रक्रिया के विरोध होने का कोई कारण नहीं रह जाता। बड़े पैमाने के उद्योग केवल युक्तिकरण के द्वारा ही उन्नति कर सकते हैं और तभी श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं की स्थिति सुधर सकती है। यह सत्य है कि युक्तिकरण की योजना लागू करने से आरम्भ में कुछ बेरोज़गारी फैलती है परन्तु उत्पादन व्यय और वस्तु का मूल्य कम हो जाने से भविष्य में उपभोक्ताओं की माँग में वृद्धि होगी। इस माँग की पूर्ति के लिए उद्योग में और अधिक लोगों को रोज़ी मिलेगी। इससे स्पष्ट है कि युक्तिकरण योजना लागू होने से फैलने वाली बेरोज़गारी अल्पकालीन होती है और उद्योग के उन्नति करने के साथ इसे दूर किया जा सकता है। समस्या वास्तव में श्रमिक की आय और रहन-सहन के स्तर की है। यदि युक्तिकरण के साथ पारिश्रमिक में भी वृद्धि होती है तो इससे श्रमिकों की आय में वृद्धि होती है और रहन-सहन के स्तर में भी सुधार होता है। इस रूप में इस प्रक्रिया का उद्योग क्षेत्र में स्वागत करना चाहिए। अंत में यह एक महत्वपूर्ण एवम् विचारणीय प्रश्न है कि यदि भारतीय उद्योग का युक्तिकरण न किया गया तो विश्व बाजार की प्रतियोगिता में यह विदेशों की सुसंगठित उद्योगों की प्रतियोगिता का सामना नहीं कर सकेगा। यदि श्रमिक युक्तिकरण का विरोध करते हैं तो इसका एक ही परिणाम हो सकता है कि अनेक कारखाने नष्ट हो जाएँगे, उनको बन्द करना पड़ेगा और इससे अनेक श्रमिक बेरोज़गार हो जाएँगे। वास्तव में हमारे सम्मुख दो स्थितियाँ हैं कि या तो हम इस बात का समर्थन करें कि युक्तिकरण की योजना लागू कर श्रमिकों को सुनियोजित एवम् नियंत्रित आधार पर नौकरी से पृथक किया जाए और क्रमशः नवीन कार्यों में स्थान दिया जाए या कड़ी प्रतियोगिता का सामना न कर सकने के कारण अनेक कारखाने बन्द करके बड़ी संख्या में श्रमिकों को बेरोज़गार होने दिया जाए। हमारे सम्मुख समस्या रोज़गार और बेरोज़गार की नहीं बल्कि एक प्रक्रिया लागू करने से थोड़े श्रमिकों की थोड़े समय के लिए बेरोज़गारी और दूसरी प्रक्रिया द्वारा प्रायः सभी श्रमिकों की अधिक समय तक बेरोज़गारी की है। हमें इन दो प्रक्रियाओं में से एक को चुनना है।

भारत में जब तक उत्पादित माल की खपत संभव थी और पूर्ति के अभाव के कारण उपभोक्ताओं को विभिन्न वस्तुओं के लिये अधिक मूल्य देना पड़ता था तब तक युक्तिकरण की समस्या सम्भवतः इतनी महत्वपूर्ण नहीं थी। यदि वस्तुओं का मूल्य अधिक रहता तो मिल मालिकों को युक्तिकरण की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता। मिल मालिकों ने प्रति मशीन अधिक व्यक्तियों को कार्य में लगाया और पुरानी तथा व्यर्थ हुई मशीनों से कार्य लेकर भी लाभ उठाया।

परन्तु जब से बाज़ार में वस्तुओं की पूर्ति में वृद्धि हुई है और उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत नहीं है तब से युक्तिकरण की आवश्यकता में वृद्धि होती जा रही है। मिल मालिक अपनी आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को भाग दे सकने में असमर्थ हैं और श्रमिकों के स्थान पर मशीनों का उपयोग अनिवार्य हो गया है। यदि उपभोक्ता वस्तुओं का अधिक मूल्य देने को प्रस्तुत होते तो यह स्थिति उत्पन्न नहीं होती परन्तु उपभोक्ता उसके लिए प्रस्तुत नहीं हैं इसलिए उत्पादित वस्तु का मूल्य कम करने के लिये उत्पादन-व्यय कम करने और अपने लाभ के अंश में वृद्धि करने की दृष्टि से उत्पादक को युक्तिकरण का सहारा लेना पड़ता है।

औद्योगिक विकास समिति की योजना—औद्योगिक विकास समिति ने १९५१ के आरम्भ में युक्तिकरण की समस्या पर विचार किया और इस बात को स्वीकार किया कि उत्पादन व्यय घटाने और भारतीय उद्योग की कार्य क्षमता में वृद्धि करने के लिए युक्तिकरण आवश्यक है। परन्तु समिति ने इसके साथ ही इस बात को भी माना कि श्रमिकों के हितों की रक्षा करना आवश्यक है तथा युक्तिकरण की प्रक्रिया को तीव्र गति से नहीं लागू किया जाना चाहिये। समिति ने निम्नलिखित निर्णय किए :—

(१) युक्तिकरण योजना लागू करने से पूर्व यह आवश्यक है कि इससे बेरोज़गार होने वाले श्रमिकों की संख्या यथासम्भव कम करने के लिए कार्यवाही की जावे। युक्तकिरण के फलस्वरूप होने वाली छटनी और बेरोज़गारी को कम करने के लिए समिति ने यह सुझाव दिये हैं कि (अ) कर्मचारी की मृत्यु, पद-निवृति इत्यादि के कारण रिक्त स्थानों की पूर्ति कुछ समय के लिए स्थगित कर दी जाय, (ब) अन्य विभागों में कार्य करने वाले अतिरिक्त कर्मचारियों को बिना वेतन में कमी किये हुये और बिना गत नौकरी के क्रम को तोड़े हुये कार्य दिया जाये, (स) स्वेच्छा से कार्य छोड़ने वाले कर्मचारियों को उचित मुआवज़ा दिया जाये और (द) टेकनिकल सुधारों के कारण बेरोज़गार हुये श्रमिकों को खपाने के लिये जहाँ संभव हो कार्य में वृद्धि की जाय।

(२) प्रति इकाई उत्पादन की स्टैन्डर्ड मात्रा निश्चित की जानी चाहिये और श्रमिकों का प्रमाणीकरण होना चाहिये। यदि किसी प्रकार का मतभेद हो तो उसकी जाँच होनी चाहिये और स्टैन्डर्ड दोनों पक्षों के विशेषज्ञों द्वारा निश्चित किया जाना चाहिये।

(३) सम्बन्धित उद्योग की स्थिति और कार्य की मात्रा इत्यादि को और समान उद्योगों के अनुभवों को ध्यान में रखते हुये नई प्रकार की मशीनों को

लगाने से उत्पन्न टेकनिकल परिवर्तनों का कुछ समय तक परीक्षण किया जाना चाहिये।

(४) जिन श्रमिकों की छटनी की जाय उनके पुनर्वास के लिए सरकार को एक योजना बनानी चाहिए। श्रमिकों को ट्रेनिंग देने और ट्रेनिंग की अवधि में जीवन-निर्वाह की व्यवस्था करने की योजना मालिकों तथा श्रमिकों द्वारा संयुक्त रूप से निर्माण की जानी चाहिए।

(५) वेतन अथवा पारिश्रमिक में वृद्धि करके श्रमिक को भी युक्तिकरण के लाभ में से भाग देना चाहिए।

इस योजना में युक्तिकरण के महत्व पर स्पष्ट रूप से जोर दिया गया है परन्तु उसके दुष्परिणामों जैसे बेरोजगारी, श्रमिकों का शोषण और अधिक कार्य लेकर भी वेतन में वृद्धि न करने की समस्या को टालने का प्रयत्न किया गया है। मालिकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों ने इस योजना को स्वीकार कर लिया। विभिन्न राज्य सरकारें अपने-अपने क्षेत्रों में उद्योगों के युक्तिकरण की योजनाओं का परीक्षण कर रही हैं। उत्तर प्रदेश में इस समस्या पर त्रिदलीय श्रम सम्मेलनों में विचार किया गया है और सूती तथा चीनी उद्योग के युक्तिकरण का विशेषज्ञों ने वैज्ञानिक आधार पर अध्ययन किया है।

अपील पंचन्यायालयों के निर्णय—भारत में श्रम अपील पंचन्यायालय के निर्णयों में दिये गये सिद्धान्तों के आधार पर ही भारतीय उद्योगों में श्रमिकों की छटनी की जाती है। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुसार यह निश्चय किया जाता है कि किस प्रकार और कितने श्रमिकों की छटनी की जाय। पंचन्यायालय के निर्णयों में कहा गया है कि छटनी करने का पूर्ण उत्तरदायित्व उद्योग के व्यवस्थापकों पर है। यदि उद्योग के व्यवस्थापक युक्तिकरण अथवा बचत करने या अन्य पर्याप्त कारणों के आधार पर यह सिद्ध कर देते हैं कि छटनी की जानी चाहिए तो इसके पश्चात् इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है कि किसी सीमा तक छटनी की जायगी; इस विषय में इस बात पर भी विचार किया जाना चाहिए कि क्या व्यवस्थापकों द्वारा श्रमिकों की छटनी न्यायसंगत कार्यवाही है; कहीं वह अपने अनुचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तो छटनी नहीं कर रहे हैं। छटनी करने के परिणाम स्वरूप बचे हुये कार्य करने वालों पर कार्य भार बढ़ाना मिल मालिकों की श्रमिकों के प्रति अनीति और अन्याय तथा स्वार्थ का एक उदाहरण है। छटनी करने की अनुमति केवल तभी दी जाती है जब यह सिद्ध हो जाता है कि व्यवस्थापकों की माँग न्यायसंगत है, उसका उद्देश्य अनुचित स्वार्थ साधन नहीं है और किसी गुप्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए छटनी नहीं की जा रही है।

इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गई है कि छटनी लागू करने में व्यवस्थापकों को दो महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को मानना पड़ेगा—(१) नई भर्ती के श्रमिक की छटनी पहले की जायगी और (२) यदि उद्योग में नई भर्ती हो और यदि छटनी में निकाले गये योग्य श्रमिक प्राप्त हो सकें तो नियुक्ति में उन्हें प्राथमिकता दी जायगी। अपील पंचन्यायालय के निर्णयों में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है कि कोई कम्पनी केवल लाभांश कम हो जाने के कारण अपने श्रमिकों की छटनी नहीं कर सकती है यदि बाजार में उत्पादित माल की माँग कम है या कच्चे माल के अभाव के कारण व्यापार में अल्पकालीन गतिरोध आ जाय तो ऐसी स्थिति में मालिक को श्रमिकों की छटनी कर उनकी आय छीन लेने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। यदि उद्योग अथवा कम्पनी के स्थायी आदेशों में व्यवस्था हो तो मालिक ऐसी स्थिति में मास में कुछ दिन कारखाने में बैठकी करा सकता है। स्थायी आदेशों के अनुसार बैठकी कराने से ३३ वीं धारा का उल्लंघन नहीं होता है। घाटे पर चलने वाले कारखाने को बन्द कर देने का मालिक को पूरा अधिकार है परन्तु यदि पंचन्यायालय के सम्मुख मामला प्रस्तुत होने की अवधि में ऐसी स्थिति आ जाय तो कारखाना बन्द करने के लिए न्यायालय से अनुमति लेनी आवश्यक है।

अपील पंचन्यायालय के निर्णयों के आधार पर विकसित प्रणाली काफी संतोषजनक रही है परन्तु श्रमिकों की शिकायत है कि (अ) मालिक अपनी स्थिति का दुरुपयोग करते हैं, और आवश्यकता न रहते हुए भी श्रमिकों की छटनी की जाती है और (ब) इससे काफी बड़ी संख्या में श्रमिक बेरोज़गार हो गये हैं। इसके विपरीत मालिकों की शिकायत है कि उन पर अनेक ऐसे प्रतिबन्ध लगाये गये हैं जिससे उत्पादन व्यय को कम नहीं किया जा सका है और आवश्यकता न रहते हुए भी उन्हें अधिक श्रमिकों को कार्य पर लगाये रखना पड़ता है।

सरकारी नीति—भारत सरकार की नीति युक्तिकरण को प्रोत्साहित करने की है (अ) यदि किसी उत्पादन इकाई के मालिक और श्रमिक दोनों परस्पर इस बात को स्वीकार करते हैं अथवा (ब) औद्योगिक विकास समिति की योजना के अनुसार युक्तिकरण आवश्यक है और अपील पंचन्यायालय के निर्णयों के अनुकूल है। इन निर्णयों में यह भी दिया हुआ है कि श्रमिक को अल्पकाल के लिये कार्य से पृथक कर देने के बदले में अथवा छटनी कर देने के बदले में हरजाना देना पड़ेगा। जब तक कोई मिल मालिक आवश्यक हरजाना देता है और दी हुई संपूर्ण बातों को स्वीकार करता है तो युक्तिकरण में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती। मार्च १९५४ में लोक सभा के तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री चिन्तामणि

देशमुख ने केन्द्रीय सरकार के बजट पर वादविवाद का उत्तर देते हुये कहा था कि:—

"संगीत उद्योगों में २५ लाख से कुछ थोड़े से अधिक व्यक्ति लगे हुये हैं जिनके सम्बंध में युक्तिकरण का प्रश्न उठाया जाता है। यह तो सर्वविदित है कि उद्योगों में रोजगार के अवसरों की पर्याप्त वृद्धि किये बिना कुशल व्यवस्था की प्रवृत्ति बढ़ने के कारण तथा जन संख्या की वृद्धि के फलस्वरूप श्रमिकों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को कार्य देना सम्भव न हो सकेगा। इसके अतिरिक्त ग्राम्य आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत अत्यधिक संख्या में ऐसे व्यक्ति भी हैं जिन्हें पूर्ण शक्ति भर कार्य करने का अवसर नहीं प्राप्त है। इस बात से तो सभी सहमत होंगे कि प्रौद्योगिक विकास के प्रति अदूरदर्शिता का परिचय देते हुये कार्य करने के अवसर में वृद्धि करना उचित न होगा। मेरा ऐसे विश्वास है कि युक्तिकरण द्वारा अस्थायी रूप से स्थानान्तरित व्यक्तियों को जो क्षति होती है वह जनता के हित के लिये आर्थिक व्यवस्था के प्रसार की नीति द्वारा पूर्ण हो जाती है। यह इस बात का एक और उदाहरण है जिसमें सामाजिक न्याय की वांछनीयता को आर्थिक महत्ता के आगे झुकना पड़ता है"।

"सभासदों को यह तो ज्ञात होगा ही कि हाल में ऐसे कानून बना दिये गये हैं जिनके अन्तर्गत श्रमिकों को अवकाश प्राप्त करने पर सहायता तथा कार्य करने के काल में यदि अस्थायी रूप से कार्य से पृथक होना पड़े तो भी उसका हरजाना दिया जायगा। सभा सदों को स्मरण होगा कि एक उद्योग विशेष में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि सरकार ने लोक सभा की बैठक का समय न होने के कारण अध्यादेश द्वारा इन कानूनों को प्रचलित कर दिया था। इससे यह स्पष्ट है कि सरकार ऐसे श्रमिकों के हित की रक्षा के लिये जो छटनी के अन्तर्गत आ गये हैं बहुत अधिक महत्व देती हैं। मैंने पहिले भी कहा है कि अस्थायी रूप से अपने कार्य पर से हटाये हुये श्रमिकों की कठिनाइयों को दूर करने के लिये जो कुछ सम्भव हो, किया जाना चाहिये, पर मेरा मत है कि हमें ऐसी नीति का अनुसरण न करना चाहिये जिससे प्रौद्योगिक विकास अवरुद्ध हो जाय और कार्य करने के अवसरों का विकास भी रुक जाय। किसी भी समय हर उद्योग में विभिन्न क्षमता वाले अनेक उपक्रम उत्पादन-कार्य करते रहते है। उनमें से कुछ तो हाल में ही आरम्भ किये हुये होते हैं या आरम्भ होते रहते हैं, कुछ में प्रसरण और कुछ में संकुचन की प्रवृति लक्षित होती है और कुछ की ऐसी स्थिति होती है कि उनका अन्त होता रहता है। इसलिये उद्योग के समुचित विकास और वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक उपक्रम द्वारा अपनी परिस्थिति के अनुसार नियुक्त श्रमिकों

की संख्या के सम्बन्ध में कुछ लोच अवश्य रहे। हमें कुल कार्य करने के अवसरों के योग पर विशेष ध्यान देना चाहिये। वह नीति जो अपने आश्वासनों द्वारा छटनी असंभव करती है नये ढंगों से अन्य उपक्रमों द्वारा उत्पादन के विकास और वृद्धि को निश्चय ही रोक देगी और संभवतः उसके द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था को जिसमें श्रमिक अवश्य सम्मिलित हैं उस क्षति की तुलना में जिसे बचाने का प्रयत्न किया जा रहा है कहीं अधिक क्षति पहुँचावेगी"।

भारत के वित्त मन्त्री द्वारा स्थिति का यह ऐतिहासिक वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि हमें एक या दो उपक्रमों में छटनी किये जाने से चिन्तित नहीं होना चाहिये, वरन् हमें सम्पूर्ण स्थिति को विस्तृत दृष्टिकोण से देखना चाहिये। यदि हम ऐसा करेंगे तो युक्तिकरण हमारे लिये (१) बढ़ती हुई जन-संख्या के लिये कार्य के अवसर प्रदान करने का, (२) श्रमिकों की आय तथा उनके रहन-सहन के स्तर को बढ़ाने का और (३) उद्योगों की उत्पादन लागत कम करने तथा प्रौद्योगिक विकास निश्चय करने का साधन होगा। परन्तु यह आवश्यक है कि व्यक्तिगत श्रमिकों की आवश्यक कठिनाइयों से रक्षा की जाय। इस संबन्ध में कार्य से पृथक किये जाने पर हरजाना देने का कानून द्वारा ही प्रबन्ध कर दिया है और उस श्रमिक विशेष के लिये अन्य कोई कार्य ढूंढ लेने का भी प्रयत्न किया जाना चाहिये।

सूती मिल उद्योग—१९२६-२७ में प्रशुल्क मण्डल ने इस ओर ध्यान आकर्षित किया कि सूती मिल उद्योग में आवश्यकता से अधिक पूँजी एकत्र हो रही है और उसमें आवश्यकता से अधिक श्रमिक लगे हुए हैं। बोर्ड के कथनानुसार १९१७ और १९२१ के मध्य उद्योग की कुल पूँजी २०'८४ करोड़ से बढ़कर ४०'९८ करोड़ हो गई जो उस समय उद्योग की मशीन इत्यादि संपत्ति को देखते हुए बहुत अधिक थी। बोर्ड इन सब बातों का अध्ययन कर इस परिणाम पर पहुँचा कि भारतीय सूती मिलों में श्रम का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा रहा है। भारत में एक श्रमिक १८० तकुओं में कार्य करता है जब कि जापान का श्रमिक २४० में, इङ्गलैंड का श्रमिक ५४० से ६०० में और अमरीका का श्रमिक ११२० तकुओं में कार्य करता है। भारत में प्रत्येक बुनकर के पास औसतन २ करघे हैं जब कि इनकी सख्या जापान में २½, ब्रिटेन में ४ से ६ और अमरीका में ९ हैं। इन दोषों के कारण भारतीय सूती मिलों में उत्पादन व्यय अधिक होता है। प्रशुल्क मंडल की सिफारिशों के आधार पर सूती मिल उद्योग ने बंबई की कुछ मिलों में लागू करने के लिए युक्तिकरण की एक योजना निर्माण की। इस योजना की विशेषता यह थी कि एक व्यक्ति एक के स्थान पर दो कातने की मशीन चलाएगा और

एक बुनकर दो के स्थान पर ३ या ४ कर्घे चलायेगा। परन्तु श्रमिकों ने इस योजना का विरोध किया और इसे लागू नहीं किया जा सका। १६३२ में जाँच करने के पश्चात् प्रशुल्क मण्डल ने पता लगाया कि यदि यह योजना लागू की गई होती तो उत्पादन व्यय में १७ से २० प्रतिशत तक कमी हो जाती। सूती मिल उद्योग ने उत्पादित वस्तु के प्रमाणीकरण, क्रय और विक्रय, व्यवसाय के पुर्नसंगठन और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त मशीनों को अलग करने के लिए ७ मैनेजिंग एजेन्सियों को एक में एकत्रित करने की योजना निर्माण की। इन एजेन्सियां के पास ३४ मिलें थीं। इस योजना में यह व्यवस्था की गई थी कि प्रत्येक मिल को पूर्व निर्धारित मूल्य पर ले लिया जायगा, मूल्य साधारण शेयरों में दिया जायगा, न बिके हुये माल का स्टाक बाजार भाव पर क्रय कर लिया जायगा और नाम के लिए कुछ धनराशि नहीं दी जायगी। परन्तु वित्त के अभाव के कारण योजना कार्यान्वित नहीं की जा सकी।

इन योजनाओं के विफल हो जाने पर भी सूती मिल उद्योग ने निरन्तर युक्तिकरण योजना लागू करने का प्रयत्न किया है। बम्बई श्रम समिति द्वारा प्रचलित की गई प्रश्नावली के उत्तर में बम्बई मिल मालिक संघ ने इस बात पर महत्व दिया कि भारतीय उद्योग ने उत्पादन में सभी आधुनिक उपायों को अपनाया है। अनेक सूती मिलों की पूँजी भी घटाई गई और १६२७ और १६४० के बीच सूती मिल उद्योग ने प्रशुल्क मण्डल के सुझाव के अनुसार मोटे और घटिया प्रकार के कपड़े के स्थान पर अच्छे प्रकार के कपड़ों का उत्पादन बढ़ाने की नीति अपनाई। परन्तु इस सुधारों के होते हुये भी सूती कपड़ा उद्योग की उत्पादन क्षमता कम है और उसके युक्तिकरण की आवश्यकता है। सूती मिल उद्योग सम्बन्धी वर्किंग पार्टी ने १६५२ में यह पता लगाया था कि लगभग १५० वर्तमान सूती मिलें जो कि कुल मिलों की संख्या की लगभग ३३·६% थीं, आर्थिक दृष्टिकोण से अनुपयुक्त और हीन क्षमता वाली मिलें थीं। ब्लोरूम के वाइन्डिंग विभाग में तथा रंगाई विभाग में जिन मशीनों का प्रयोग हो रहा है वे अनुपयुक्त थीं। इस प्रकार कर्घों की संख्या के सम्बन्ध में जो प्रत्येक श्रमिक की देखरेख में था वर्किंग पार्टी ने पता लगाया था कि दिल्ली की एक मिल में और मद्रास की दो मिलों में स्वचालित कर्घे ही लगाये गये हैं और एक एक बिनने वाला श्रमिक ४, ६, ८ और १६ कर्घों पर कार्य करता है। अहमदाबाद की एक मिल में १८ कर्घों पर एक श्रमिक और बम्बई की एक अन्य मिल में ६ कर्घे पर एक श्रमिक कार्य करता है। फिर भी अधिकांश मिलें उत्पादन क्षमता में हीन हैं और पुरानी मशीनों का प्रयोग करती हैं।

वर्किङ्ग पार्टी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि उन मिलों का कार्य जो स्वचालित कर्घों का प्रयोग कर रही है संतोषजनक हैं। अन्य मिलों में भी स्वचालित कर्घों के आधुनिक और मशीनों के प्रयोग किये जाने तथा उत्पादन का युक्तिकरण करने की आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है। सितम्बर १९५४ में कानूनगो कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि उद्योगों के सभी विभागों जैसे मिलों, शक्ति संचालित कर्घों, हाथ कर्घों आदि का युक्तिकरण १५ वर्षों के अन्तर्गत हो जाना चाहिये। वर्किंग पार्टी ने युक्तिकरण की अवधि केवल १० वर्ष ही रक्खी थी।

उत्तर प्रदेश में कानपुर की सूती-मिलों को विशेष कठिनाइयों का सामना इसलिये करना पड़ रहा है कि उन्होंने अपनी आवश्यकता से अधिक श्रमिकों को लगा रक्खा है। इससे यहाँ की मिलों का उत्पादन व्यय देश के अन्य भागों की मिलों की अपेक्षा बहुत अधिक है। यदि इनमें युक्तिकरण न किया गया तो इन मिलों के बन्द हो जाने का भय है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि श्रमिक और मालिक दोनों ही ने जून १९५४ में नैनीताल में हुई त्रिदलीय सभा में इस बात को स्वीकार किया था कि कानपुर की सूती मिलों के उत्पादन का युक्तिकरण किया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह होगा कि प्रत्येक श्रमिक, जैसा कि बम्बई में हो रहा है, दो कर्घों के स्थान पर चार कर्घों पर कार्य करेगा और कार्य भार की मात्रा में भी सामान्यतः वृद्धि हो जायगी। इससे मिलों का बन्द होना रुक जायगा और श्रमिकों को बरबस बेकार न रहना पड़ेगा। इस योजना के सम्बन्ध में उत्तर प्रदेश के तत्कालीन श्रम मंत्री सम्पूर्णानन्दजी ने कहा था कि, "हाल में सेन्ट्रल डिस्प्यूट्स एक्ट में जो सुधार हुआ है उसने मालिकों के लिये अतिरिक्त श्रमिकों की छटनी करना हरजाना देकर अपेक्षाकृत अधिक सरल कर दिया है। अनेकों मिल मालिक इसमें अपना लाभ देखेंगे कि वे छटनी करके हरजाना देकर अपने मिल में स्थायी बचत कर लें। हमारी समस्या उन श्रमिकों की किसी प्रकार रक्षा करने की है जिनके छाँट दिये जाने का भय है। सरकार को युक्तिकरण की ऐसी योजना बनाने के निर्णय पर, जिसके अन्तर्गत ५००० और ६००० के मध्य अनुमानित छांट दिये जाने वाले श्रमिकों को कार्य करने का अवसर प्राप्त हो सके, इस पृष्ठभूमि के समक्ष विचार करना चाहिये"। कानपुर की अनेक मिलें जो अभी तक बड़ी कठिनाई से दो शिफ्ट में कार्य कर पा रही थीं अब तीन शिफ्ट में कार्य कर सकेंगी जिससे कार्य करने के अधिक अवसर प्राप्त हो सकेंगे। इसके अतिरिक्त युक्तिकरण की यह योजना कानपुर के सूती कपड़ा उद्योग के श्रमिकों की औसत पारिश्रमिक जिसमें मँहगाई भी सम्मिलित होगी, ८५ रु० से बढ़ाकर ११५ रु० प्रति मास और विशेष क्षमता वाले श्रमिकों के लिये १५० रु० प्रति मास कर सकेगी।

जूट उद्योग—जूट उद्योग भारत का सर्वाधिक सुसंगठित उद्योग है और आरम्भ से ही इस उद्योग ने यह नीति अपनाई है कि मशीनों का प्रयोग रोक कर तथा प्रति सप्ताह कम घन्टे कार्य करवा कर उत्पादन की मात्रा को आवश्यकता अधिक न होने दे ताकि बिना बिका माल स्टाक में एकत्रित न होने पावे। द्वितीय विश्व-युद्ध से पूर्व जूट उद्योग के पास औद्योगिक साधन बाजार की कुल सेमाँग से कहीं अधिक थे। यह अनुमान लगाया गया था कि बाजार की कुल माँग को जूट उद्योग अपनी कुल मशीनों में से केवल एक चौथाई का उपयोग करके पूरा कर सकता है। परन्तु वर्तमान स्थिति बिल्कुल भिन्न है। यह आशा की जाती है कि भविष्य में जूट के सामान की माँग में वृद्धि होगी और जूट मिलों में इस समय जितनी मशीनें है उन सब का उपयोग करना पड़ेगा। परन्तु योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना में जूट उद्योग का और प्रसार करने की कोई व्यवस्था नहीं की है। वार्षिक वास्तविक उत्पादन शक्ति १९५५-५६ में भी १२ लाख टन ही रहेगी। १९५०-५१ में भी उत्पादन शक्ति इतनी ही थी। यदि उद्योग अपनी पूरी शक्ति से उत्पादन करे तो सारा उत्पादित माल घरेलू माँग और निर्यात करने में खप जायगा।

१९४२ की गर्मियों में भारत सरकार ने भारतीय जूट मिल मालिक संघ को सुझाव दिया था कि कोयले तथा परिवहन का संरक्षण करने के लिए उद्योग का युक्तिकरण आवश्यक है। सरकार के कथनानुसार रेलवे विभाग जूट उद्योग के कुल वास्तविक उत्पादन को पश्चिमी भागों तक ले जाने की व्यवस्था कर सकने में असमर्थ था। जाँच करने पर पता चला कि जूट की वस्तुओं की कुल मांग, जिनमें देश के अन्दर का उपभोग भी सम्मिलित है, लगभग ५५ हजार टन प्रति मास होगी जब कि कुल ६५ हजार टन माल का उत्पादन किया जा रहा था। इससे स्पष्ट था कि उत्पादन में कमी की जानी चाहिए। भारत सरकार ने सुझाव दिया कि उत्पादन कम करने के लिए केवल उन्हीं मिलों में उत्पादन कराया जाय जिनमें विद्युत संचालित मशीनें हैं। भारतीय जूट मिलों ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया और युक्तिकरण की एक नवीन योजना लागू कर दी जिसके अनुसार व्यय की बचत करने के लिए कोयले के केन्द्रीय स्टाक स्थापित किए गये और कोयले की उपलब्ध मात्रा की पूर्ति को नियन्त्रित किया गया। तदपश्चात् एक 'संग्रह योजना' लागू की गई जो १ जुलाई १९४४ से ३१ मार्च १९४६ तक प्रचलित रही। युक्तिकरण की इस योजना से उद्योग कोयले के व्यय में बचत करने में सफल हुआ और कुछ मिलों को युद्ध की परिस्थितियों से विवश होकर जो हानि उठानी पड़ी उसका और अधिक समान वितरण किया जा सका।

वर्तमान समय में अपनी पुरानी और घिसी हुई मशीनों को परिवर्तन करने के लिए और अन्यदेशों के उद्योगों की भाँति उत्पादन के बिल्कुल आधुनिक उपायों का उपयोग करने के लिए जूट उद्योग को युक्तिकरण की योजना लागू करने की अत्यन्त आवश्यकता है। चूँकि भारत के जूट उद्योग को विदेशी उत्पादकों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है इसलिए अन्य देशों द्वारा प्रयुक्त प्राविधिक कुशलताओं का यहाँ भी उपयोग किया जाना चाहिए। भारत की कुछ मिलों ने आधुनिक मशीनों का उपयोग आरम्भ कर दिया है। उत्पादन व्यय कम करने के लिए अन्य उद्योगों को भी ऐसा करने की आवश्यकता है। इन योजनाओं को कार्यान्वित करने में दो सब से बड़ी कठिनाइयाँ यह हैं कि (१) इनके लिए ४० से ४५ करोड़ रुपये की आवश्यकता है, जो वर्तमान समय से उपलब्ध कर सकना कठिन है और (२) इन योजनाओं के कार्यान्वित हो जाने से लगभग ४० हजार श्रमिक बेरोजगार हो जायँगे।

कोयला उद्योग—कोयला उद्योग में कोयले की छोटी-छोटी और आर्थिक दृष्टि से अनुपयुक्त खानों को सम्मिलित कर एक बड़ी इकाई का रूप देने, विभिन्न उपायों से धातुशोधन के कार्य आनेवाले बढ़िया कोयले का संरक्षण करने और कोयले की खानों में मशीनों का उपयोग करने के लिए युक्तिकरण की योजना लागू करना आवश्यक है।

कोयला उद्योग में मशीनों का उपयोग करने से अभिप्राय यह है कि खान में कोयला काटने और उसे नियत स्थान तक ले जाने के लिए मशीनों का प्रयोग किया जाय और कोयला निकालकर नियत स्थान तक ले जाने की दोनों क्रियाएँ साथ-साथ हों। भारत में मशीनों का प्रयोग अभी बहुत कम हुआ है। १६४४ में कोयला निकालने की २१० मशीनें थीं जिनसे २१ लाख टन कोयला निकाला जाता था। १६३८ में इस प्रकार की केवल १८६ और १६३५ में केवल ६५ मशीनें थीं। १६५१ के मध्य तक भारत में ३७४ मशीनों से प्रति मास लगभग ५ लाख ६० हजार टन कोयला (अर्थात् ७० लाख टन कोयला प्रतिवर्ष) निकाला गया जो औसत मासिक उत्पादन का लगभग १९·६ प्रतिशत था। भारतीय कोयला-खान समिति ने १६४६ में सिफारिश की कि भारतीय कोयले की खानों में मशीनों का उपयोग किया जाना चाहिए क्योंकि मशीनों के उपयोग से ही उत्पादन शीघ्र बढ़ाया जा सकता है जो कि भविष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है। वर्तमान में मशीनों के उपयोग के प्रति थोड़ी प्रतिकूलता होने के कारण शायद सस्ते श्रम की उपलब्धि है। जब श्रम महँगा पड़ने लगेगा, पारिश्रमिक बढ़ने लगेगा तो अवश्य ही इस प्रतिकूलता में परिवर्तन होगा और तब मशीन और श्रम के बीच

उपयोगिता की दृष्टि से विचार कर उपयुक्त साधन छाँटने के सम्बन्ध में निर्णय किया जा सकेगा। कोयला उद्योग के सम्बन्ध में १९५० में वर्किङ्ग पार्टी ने सुझाव दिया कि खानों में मशीनों का उपयोग करने से ही सुनियोजित उपाय से शीघ्र उत्पादन बढ़ाया जा सकता है और भविष्य में देश के औद्योगीकरण की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है। सम्पूर्ण व्यवस्था का सन्तुलित विकास करने के लिए खानों में शीघ्र ही मशीनें नहीं लगानी चाहिएँ। इसके लिए एक अवधि निश्चित की जानी चाहिए। यह उचित नहीं है कि एक साथ सभी खानों में मशीनों की सहायता से उत्पादन आरम्भ कर दिया जाय। इसके लिए एक एक खान करके प्रगति करनी होगी। क्रमशः मशीनों का उपयोग बढ़ाने पर भी कोयले की खान के श्रमिकों में बेरोजगारी फैल सकती है। वर्किङ्ग पार्टी इस परिणाम पर पहुँची कि खानों में मशीनों का उपयोग करने में बेरोजगारी के भय से बाधा उत्पन्न नहीं होनी चाहिए। मशीनों के उपयोग से हानियों की अपेक्षा लाभ कहीं अधिक हैं। इसकी सफलता के लिए वर्किङ्ग पार्टी ने सुझाव दिया है कि (१) छोटी-छोटी कोयले की खानों को कम से कम १० हजार टन प्रति मास उत्पादन करने वाली इकाई के रूप में संगठित कर दिया जाय और (२) कोयले की खानों में लगाई जानेवाली मशीनों का भारत में ही निर्माण किया जाय।

भारत के अधिकांश उद्योगों में कम से कम तीन क्षेत्रों में युक्तिकरण की योजना लागू करना अत्यन्त आवश्यक है (१) कारखानों के स्थानीयकरण में सुधार, जैसे चीनी और कुछ सीमा तक लोहे तथा इस्पात के कारखानों में। १९५१ के उद्योग (विकास एवम् नियमन) कानून के अन्तर्गत स्थापित लाइसेन्सिंग समिति ने पूर्व से ही चीनी के कुछ कारखानों को अधिक अच्छे स्थान पर हटा लेने की अनुमति दे दी है। लोहे और इस्पात उद्योग के सम्बन्ध में आशा की जाती है कि नये लोहे और इस्पात के कारखानें नये स्थानों पर स्थापित किए जायँगे; (२) उत्पादन के उपायों में सुधार, जैसे गन्धक का व्यय कम करने के लिए चीनी उद्योग में, धातुशोधन के काम आने वाले बढ़िया कोयले को बचाने के लिए लोहे तथा इस्पात के उद्योग में और उत्पादित माल का प्रकार सुधारने तथा उत्पादन व्यय घटाने के लिये उत्पादन के ढंग में सुधार करने की आवश्यकता है; (३) कारखानों का आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त ढाँचा निश्चित करने के लिए प्रति मशीन पीछे कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या में कमी करने की आवश्यकता है। भारत के लोहे तथा इस्पात, चीनी, सूती, कपड़ा, जूट तथा अन्य उद्योगों में प्रत्येक मशीन पर आवश्यकता से अधिक श्रमिक नियुक्त किये जाते हैं जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन व्यय अधिक होता है और उद्योग की

प्रतियोगिता शक्ति शिथिल पड़ जाती है। प्रत्येक उद्योग के अधिकांश कारखाने ऐसे हैं कि उनकी उत्पादन शक्ति अनुकूलतम स्तर से नीचे है। उत्पादन क्षमता में कमी का यह भी एक कारण है कि चीनी की अनेक मिलों में प्रतिदिन ८०० टन (जो गन्ना पेरने की अनुकूलतम शक्ति है) से कम गन्ना पेरा जाता है। यदि उत्पादन की शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय तो ८०० टन गन्ना पेरा जा सकता है। यही स्थिति अन्य उद्योगों की भी है। कागज के कुछ कारखाने प्रतिवर्ष ८ हजार टन कागज अनुकूलतम उत्पादन करने की क्षमता नहीं रखते हैं, कुछ सिमेंट के कारखानों का वार्षिक उत्पादन १·५ लाख टन की अनुकूलतम उत्पादन शक्ति से कम है। अनेक सूती मिलों की अनुकूलतम उत्पादन शक्ति भी जैसा पहले कहा जा चुका है आवश्यकता से कम है। मिलों की सङ्गठित इकाई में लगभग २५,००० तकुए और ६०० कर्घे चलने चाहिएँ। युक्तिकरण की योजना लागू करके अधिकांश कारखानों को अनुकूलतम उत्पादन शक्ति के स्तर पर लाया जा सकता है और उत्पादन व्यय कम किया जा सकता है।

युक्तिकरण की योजना लागू करने में सबसे बड़ी कठिनाई श्रमिकों का विरोध और बहुत बड़ी मात्रा में वित्त की आवश्यकता है। कुछ ऐसे उत्पादन भी युक्तिकरण की योजना लागू करने में बाधा उत्पन्न करते हैं जो इस योजना के लाभ को नहीं समझते और इसे लागू करने के लिये प्रस्तुत नहीं होते हैं। परन्तु श्रमिकों का सहयोग प्राप्त कर चतुर उत्पादकों और सरकार को भारतीय उद्योग की प्रौद्योगिक कार्यक्षमता में सुधार करने के लिए धीरे-धीरे सुनियोजित आधार पर युक्तिकरण की योजना लागू कर देनी चाहिये।

अध्याय २८

बेरोजगारी की समस्या

यह आश्चर्यजनक बात है कि आर्थिक दृष्टि से बहुत कम विकसित देश में वस्तुओं और विभिन्न प्रकार के सेवा कार्यों के अभाव के साथ बेरोजगारी हो और बहुत बड़ी मात्रा में श्रम-शक्ति अप्रयुक्त पड़ी हो। भारत आर्थिक दृष्टि से बहुत कम विकास कर सका है परन्तु यहाँ बेरोजगारी भीषण रूप धारण किए हुए है। इस कारण भारत की राष्ट्रीय आय बहुत कम है, रहन-सहन का स्तर बहुत निम्न है और जनता दुखी तथा असन्तुष्ट है। भारत में केवल शिक्षित लोगों और उद्योगों तथा कृषि क्षेत्र में कार्य करने वाले श्रमिकों को ही बेरोजगारी का सामना नहीं करना पड़ रहा है वरन् नागरिक एवम् ग्रामीण क्षेत्र की प्रायः सम्पूर्ण जनता इसके चंगुल में फँसी हुई है। पाश्चात्य देशों में भी बेरोजगारी है परन्तु उसका कारण व्यापार में मन्दी आ जाने से कुछ समय के लिए वस्तुओं के माँग की कमी है। इसके साथ ही वहाँ कुछ ऐसे कारखाने हैं जो वर्ष में कुछ मास चलने के पश्चात् शेष मास बन्द रहते हैं और इन मासों में वहाँ बेरोजगारी फैल जाती है। प्रायः एक कार्य छोड़ने के पश्चात् तुरन्त दूसरा कार्य नहीं मिल पाता और इस बीच की अवधि में भी एक प्रकार की अस्थायी बेरोजगारी रहती है तथा अन्य प्रकार की अल्पकालीन बेरोजगारी होती है।

भारत में बेरोज़गारी तथा आंशिक रोज़गारी अधिकांश जनता के जीवन का स्थायी अंग बन चुके हैं। इसका कारण यह है कि देश की जन-संख्या में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है और देश के आर्थिक साधनों का बहुत कम विकास किया गया है। गत कुछ वर्षों से इस समस्या ने गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर ली है। प्रथम पंचवर्षीय योजना में इसके निम्नलिखित कारण बताए गए हैं:—

(अ) जन-संख्या की तीव्र गति से वृद्धि;

(ब) ग्राम्य उद्योगों का नष्ट हो जाना जिनमें ग्रामों के बहुत से व्यक्तियों को आंशिक व्यवसाय प्राप्त हो जाता था;

(स) व्यवसाय की दृष्टि से कृषि के अतिरिक्त अन्य उत्पादन क्षेत्रों का अपर्याप्त विकास (यद्यपि गत ४० वर्षों में काफी विकास हुआ है फिर भी १६११ के पश्चात् कृषि क्षेत्र में व्यवसायों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति ३ प्रतिशत रही है);

(द) देश-विभाजन के परिणाम स्वरूप जन-संख्या का बहुत बड़ी संख्या में विस्थापित होना।

आंकड़ों के अभाव में यह निश्चित रूप से नहीं बताया जा सकता है कि भारत में बेरोजगारों या आंशिक व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों की संख्या कितनी है। कुछ अधिकारियों का अनुमान है कि ग्रामों में जन-संख्या का लगभग ३० प्रतिशत बेरोजगार है और ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो आंशिक रूप से रोजगार पाए हुए है। अन्य अनुमानों के अनुसार देश की कुल जन-संख्या ग्रामीण एवं नागरिक दोनों क्षेत्रों में बेरोजगार और आंशिक व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों की संख्या ५ या ६ करोड़ के बीच में है। यह बेरोजगारी की बहुत बड़ी संख्या है। पश्चिम के कुछ काफी विकसित देशों में समृद्धि के समय कुल जितने व्यक्तियों को व्यवसाय प्राप्त है उनके एक से तीन प्रतिशत से भी कम व्यक्ति बेरोजगार रहे हैं। परन्तु भारत की स्थिति बिल्कुल भिन्न है। भारत के समृद्धि काल में व्यवसाय प्राप्त व्यक्तियों के अनुपात में बेरोजगारों की संख्या पाश्चात्य देशों के अधिकतम मन्दी के काल की तुलना में कहीं अधिक है।

"भारतीय समस्या का सम्बन्ध देश की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था की प्रकृति से है। इसलिये इस पर विचार इसी दृष्टिकोण से किया जाना चाहिये। शिक्षित वर्ग की बेकारी की विशेष महत्ता के प्रदर्शन से, जो कि स्वाभाविक भी है, इस वर्ग के विशेष मुखरित होने और राजनैतिक प्रभाव डालने की क्षमता रखने के कारण हम भ्रान्ति में पड़ सकते हैं। वर्तमान स्थिति में सबसे अधिक हानि उठाने वाले भूमि हीन कृषि तथा गैर-कृषि ग्राम्य श्रमिक, नगर में रहने वाले सामयिक श्रमिक, ग्राम्य तथा नगर के छोटे-छोटे उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिक, तथा फुटकर कार्य करने वाले दस्तकार इत्यादि हैं। इन सब से वे श्रमिक जो आर्थिक तथा सामाजिक दृष्टिकोण से हीन हैं सबसे अधिक हानि उठाते हैं। सामाजिक दृष्टिकोण से पददलित जातियाँ, आदिवासी तथा निकृष्ट दस्तकारी का कार्य करने वाले व्यक्ति हैं"।

पाश्चात्य देशों में बेरोज़गारी एक अस्थायी समस्या के रूप में होती है और सरकार तथा मिल मालिकों द्वारा ठीक समय पर कार्यवाई कर देने से उसके हल हो जाने की आशा रहती है परन्तु पाश्चात्य देशों में प्रयुक्त उपायों द्वारा भारत की समस्या का हल नहीं किया जा सकता। भारत में इस समस्या को दीर्घ कालीन दृष्टिकोण से हल करने के लिए यह आवश्यक होगा कि कृषि की भूमि का क्षेत्रफल बढ़ाने के साथ ही जनता को सुनियोजित करने और उस पर नियन्त्रण रखने, भूमि की उर्वरता में वृद्धि करने तथा औद्योगिक सम्भावनाओं को विकसित

करने की आवश्यकता है। किसी भी सरकार से यह आशा नहीं की जा सकती है कि वह प्रतिवर्ष १½ प्रतिशत की दर से बढ़ने वाली जन संख्या को व्यवसाय दे सकेगी जब कि व्यवसाय के साधनों में भी इसी गति से वृद्धि नहीं होती। चूँकि प्रवास के द्वारा जन संख्या की समस्या को सुलझाया नहीं जा सकता है इसलिए सभी को व्यवसाय का न्याय संगत अवसर प्रदान करने के लिए यह आवश्यक है कि भूमि पर और औद्योगिक साधनों पर जन संख्या के दबाव को कम करने के लिए जनसंख्या में वृद्धि को रोका जाए। परन्तु इस व्यवस्था को लागू करने में अधिक समय लगेगा और बेरोजगारी की समस्या को इतने समय तक बिना हल किए छोड़ देना संभव नहीं है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना ने कुछ नये व्यवसाय के अवसर प्रदान किये थे। परन्तु योजना के तीसरे वर्ष से निरन्तर बेकारी के बढ़ते रहने के कारण आयोग को यह स्पष्ट हो गया कि देश के औद्योगिक और आर्थिक विकास द्वारा इस समस्या के सुलझाने के उपाय को सर्व-प्रधानता देनी आवश्यक है। इसी दृष्टिकोण से प्रथम योजना पर व्यय की जाने वाली धन राशि अक्टूबर १९५३ में १८० करोड़ रुपया बढ़ा दी गई जिससे कि नवीन विशेष योजनाओं के लिए, जो कि व्यवसाय के अवसरों की वृद्धि करेंगी और बढ़ती हुई बेकारी रोकेंगी, पर्याप्त वित्त प्राप्त हो सके। इसके अतिरिक्त विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास के कार्यक्रम को १९५३-५४ के गत निर्णय के अनुसार अन्त कर देने के स्थान पर पूर्ण योजना काल तक चालू रखने का भी निर्णय किया गया। बेकारी की समस्या को हल करने के पुनर्परीक्षित कार्यक्रम के अन्तर्गत यह प्रस्ताव किया गया कि (१) राज्य-वित्त निगम स्थापित किये जाँय, (२) केन्द्र से राज्यों को देश की दरिद्रता कम करने के लिए नई योजनाओं के चालू करने के लिए वित्तीय सहायता दी जाय, (३) सड़कों के निर्माण के लिए तथा छोटी-छोटी शक्ति उत्पादन की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये अनुदान दिये जाँय और (४) औद्योगिक शिक्षा की सुविधाओं का विस्तार किया जाय। पर जैसा भय था उसके अनुसार यह समस्या सुलझाने का आंशिक प्रयत्न असफल रहा। ग्रामों और नगरों दोनों स्थानों पर ऐसे व्यक्तियों की संख्या जो आंशिक व्यवसाय प्राप्त या बेरोजगार हैं, निरन्तर बढ़ती जा रही है। यह आशा की जाती है कि इस समस्या को वास्तविक रूप से सुलझाने का प्रयत्न किया जायगा जिसमें देश के औद्योगिक विकास पर अधिक महत्व दिया जायगा और साथ ही साथ जन संख्या की वृद्धि पर कुछ नियंत्रण भी रक्खा जायगा। यही उपाय द्वितीय योजना का मूलाधार है।

यदि भारत के कारखानों द्वारा निर्मित वस्तु के उत्पादन और विक्रय में

वृद्धि हो तो औद्योगिक बेरोजगारी को कम किया जा सकता है । यह तभी सम्भव है जब प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम किया जाए। बहुत से उद्योगों में पारिश्रमिक उत्पादन व्यय का एक महत्वपूर्ण अंग है । गत १० वर्षों में भारत के श्रमिकों के पारिश्रमिक में पूर्व स्तर से ३½ से ४½ गुना अधिक वृद्धि हुई है परन्तु इस वृद्धि के साथ ही श्रमिक की कुशलता में वृद्धि नहीं हुई है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कुछ कारखाने बन्द कर देने पड़े जिससे श्रमिकों में बेरोजगारी फैली। यह स्थिति बहुत समय पूर्व ही आ गई होती परन्तु युद्ध के समय वस्तुओं का अभाव हो गया था और वह अभाव युद्ध समाप्त हो जाने के पश्चात् भी रहा। वस्तुओं का उत्पादन व्यय अधिक होते हुए और भावों का स्तर अधिक रहते हुए भी अपने समान का विक्रय कर सकने में उद्योग सफल रहे। परन्तु अब उपभोक्ता इस स्थिति का आगे निर्वाह कर सकने में असमर्थ हैं। इसलिए बेरोजगारी को कम करने के लिए या तो भारत के श्रमिकों को कम पारिश्रमिक लेने के लिए प्रस्तुत रहना होगा या उन्हें कार्य अधिक करना पड़ेगा।

इसके साथ ही केन्द्रीय तथा राज्य सरकारो द्वारा विभिन्न प्रकार के कर लगाने से, विभिन्न सरकारी नियन्त्रणों और निजी उद्योग में अन्य प्रकार के प्रतिबन्ध लगा देने से भारतीय उद्योगों के उत्पादन व्यय में वृद्धि हो गई है। भारत के औद्योगिक क्षेत्र में लग-भग निजी उद्योगों का ही बोल बाला है। इसलिए अधिक उत्पादन करने के लिए और उद्योगों में व्यवसाय की संभावना में वृद्धि करने के लिए निजी उद्योग क्षेत्र को सभी संभव सुविधाएँ और उसके मार्ग में सरकारी प्रतिबन्धों द्वारा बाधा नहीं डालनी चाहिए। यदि सरकार अपनी कर, श्रम तथा उद्योग सम्बन्धी नीतियों में ऐसा परिवर्तन करे जिससे उत्पादन तथा निर्यात में वृद्धि के लिए उद्योगों को प्रोत्साहन मिल सके तो उद्योग क्षेत्र में बेरोजगारी बहुत अंशों में कम की जा सकती है।

यह सुझाव दिया गया है कि भारतीय उद्योग क्षेत्र में युक्तिकरण की योजनाओं को लागू करने की अनुमति न दी जाय क्योंकि इससे उद्योग क्षेत्र में बेरोजगारी में वृद्धि होती है। यदि यह सुझाव मान लिया गया तो औद्योगिक क्षेत्र में बेरोजगारी घटने की अपेक्षा और अधिक बढ़ेगी। जब बाजार में पूर्ति माँग से कम हैं तो इस बात का विशेष महत्व नहीं है कि भारतीय उद्योगों द्वारा उत्पादित वस्तु की प्रति इकाई का उत्पादन व्यय कितना है। परन्तु चूँकि अब खरीदार अपनी व्यय शक्ति के अनुकूल क्रय करना चाहता है जिसके कारण बाजार की स्थिति उसी हाथ में है, उद्योगों की परस्पर प्रतियोगिता शक्ति विशेष महत्व की बात हो हो गई है। यदि किसी कारखाने का उत्पादन व्यय भारत या विदेश में अपनी

प्रतिद्वन्दी कारखाने के उत्पादन व्यय से अधिक है तो वह कारखाना अवश्य नष्ट हो जायगा युक्तिकरण उत्पादन व्यय को कम करने का एक उपाय है। यदि युक्तिकरण की योजनाओं को लागू किया जायगा तो इससे कुछ बेरोजगारी अवश्य फैलेगी परन्तु यदि युक्तिकरण योजनाओं को लागू ही न किया गया तो यह सम्भव हो सकता है कि कारखाना सदैव के लिए बन्द कर देना पड़े और पूर्व की अपेक्षा कहीं अधिक संख्या में व्यक्तियों को बेरोजगारी का सामना करना पड़े।

कुछ व्यक्तियों का मत है कि भारत सरकार ने जून १९४४ में जो योजना प्रकाशित की थी और जो अब तक वैकल्पिक रही है उसे अनिवार्य कर देना चाहिए। इस योजना के अनुसार बेरोजगार व्यक्ति को अपने बेरोजगारी मास के पूर्वार्द्ध में पारिश्रमिक की साधारण दर का ७५ प्रतिशत मिलेगा और उत्तरार्ध में ५० प्रतिशत। इस योजना में पहले ही मान लिया गया है कि भारतीय उद्योग इस अतिरिक्त परिश्रमिक के घन भार वहन कर सकने में समर्थ हैं, परतु वास्तविक स्थिति इसके विपरीत है। भारतीय उद्योग को जितना लाभ होता था उसकी मात्रा घट गई है और यदि उद्योग पर अधिक भार पड़ा तो वह वहन कर सकने में असमर्थ सिद्ध होगा। भारत के अनेक कारखाने पहले ही बन्द हो चुके हैं। यदि यह योजना अनिवार्य की गई तो कुछ और कारखाने भी बन्द हो जायँगे।

"प्रथम योजना काल के अनुभव से यह आवश्यक हो गया है कि वेकारी की समस्या पर केवल सामूहिक रूप से ही नही वरन् ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों के दृष्टिकोण से भी विचार करना चाहिये। इस समस्या के विस्तार का, जो कि आगामी कुछ वर्षों में होगा, ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये यह आवश्यक है कि देश के विभिन्न भागों के ग्रामीण और नागरिक क्षेत्रों में इसकी वास्तविकता को समझ लिया जाय। यह भी आवश्यक है कि शिक्षित वर्ग की वेकारी को अन्य लोगों की वेकारी से अलग कर लिया जाय"।

"प्रथम योजना के आकड़ों के परीक्षण से यह ज्ञात होता है कि आधी योजना कार्यान्वित होने पर वेकारी निरन्तर बढ़ती जा रही थी। प्रथम योजना काल में रजिस्टर किये हुये बेरोजगार लोगों की संख्या निरन्तर बढ़ती रही यह मार्च १९५१ में ३·३७ लाख रु० तथा दिसम्बर १९५३ में बढ़कर ५·२२ लाख हो गई और १९५६ के मार्च में ७·०५ लाख हो गई। योजना आयोग की सिफारिश के अनुसार नेशनल सैम्पिल सर्वे ने जो प्रारंभिक परीक्षण नगरवासियों में बेरोजगारों का किया था उसके परिणामों के दृष्टिकोण से यदि इन आँकड़ों को

देखा जाय तो इनसे बड़े महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इस सर्वे के अनुसार नागरिकों में बेरोजगारों की (१९५४) संख्या २२·४ लाख आँकी गई थी। इस सर्वे ने बेकार लोगों की संख्या और जिनका नाम रजिस्टर किया जा चुका था उनकी संख्या के बीच अनुपातिक सम्बन्ध भी स्थापित करने का प्रयत्न किया है। सर्वे का अनुमान था कि लगभग २५% बेरोजगार व्यक्ति एक्सचेन्ज के दफ्तर में अपना रजिस्टर करवाते हैं। इस आधार पर नगरवासियों में बेरोजगारी की संख्या वर्तमान काल में २८ लाख के लगभग आती है। यह अनुमान सामान्यतः देश के विभिन्न भागों के नगरों में किये गये परीक्षणों की रिपोर्टों के समान है। सामयिक बेकारी, को जो कि विकासमान आर्थिक व्यवस्था में अवश्यम्भावी है, छूट देते हुये हम यह कह सकते हैं कि नगरवासियों में बेकार लोगों की संख्या २५ लाख के लगभग अनुमान की जाती है। इस संख्या में नगर के श्रमिकों की संख्या में नगर के श्रमिकों की संख्या बढ़ाने के लिये नवीन आगन्तुकों को भी जोड़ लेना चाहिये। यह अनुमान किया जाता है कि आगामी ५ वर्षों में लगभग ३८ लाख व्यक्ति इस कारण बेकारों में जोड़ दिये जायंगे।

आगामी ५ वर्षों में श्रमिकों की गणना में वृद्धि आने वाले नवागन्तुकों की संख्या १ करोड़ अनुमान की गई है। इस संख्या में से नागरिक श्रमिकों में नवागन्तुकों को अनुमानित ३८ लाख संख्या घटा कर १९५६-६१ के मध्य ग्राम्य श्रमिकों की गणना में वृद्धि करने वाले नवागन्तुकों की संख्या ६२ लाख के लगभग आवेगी। निम्न तालिका यह बतलाती है कि द्वितीय योजना काल में यदि बेकारी की समस्या को समाप्त करना है तो कितने व्यवसायों के अवसर प्रदान करने पड़ेंगे :—

(१० लाख में संख्यायें)

	नगरों के क्षेत्र में	ग्रामों के क्षेत्र में	योग
श्रमिकों में नवागन्तुकों के लिये	३·८	६·२	१०·०
वर्त्तमान श्रमिकों में बेरोजगार व्यक्तियों के लिये	२·५	२·८	५·३
योग	६·३	९·०	१५·३

यदि इस प्रकार रोजगार के अवसरों को पैदा करना सम्भव भी हो सके तो भी आंशिक रोजगार की समस्या को जो बेकारी की समस्या की ही तरह महत्व शाली है सुलझाया नहीं जा सकता।

द्वितीय योजना का ध्यान प्रधानतः बेरोजगारी और आंशिक बेरोजगारी की समस्या पर है। इसलिये द्वितीय योजना में एक ओर बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले संयुक्त पूँजी वाले उपक्रमों के विकास के प्रति और दूसरी ओर ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों के विकास के प्रति इस आशा से प्रधानता दी गई है कि वे किसी सीमा तक बेकारी की समस्या को सुलझा सकेंगे। सरकारी क्षेत्र में कुल व्यय लगभग ४८०० करोड़ रुपये का अनुमान किया गया है, जिसमें से केवल ३८०० करोड़ रुपये विनियोग दिखाते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग की मात्रा २४०० करोड़ रुपये अनुमान की गई है। राज्यों एवं केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा पूरित आंकड़ों तथा व्यक्तिगत क्षेत्र के लिए उत्पादन शक्ति में वृद्धि सम्बन्धी मान्यताओं को विचाराधीन रखते हुए जो ध्येय निश्चित किए गए हैं उनके आधार पर द्वितीय योजना द्वारा प्रदत्त रोज़ी के अतिरिक्त अवसरों का अनुमान लगाया जा सकता है। निम्न तालिका में इन परिणामों का निष्कर्ष दिया गया है।

(१० लाख की संख्या में)

अनुमानित अतिरिक्त रोजी (वृत्ति) [कृषि को छोड़ कर]		
१. निर्माण	...	२·१०
२. सिंचाई तथा विद्युत योजनाएँ	...	·०५
३. रेलवे	...	·२५
४. अन्य यातायात और संचार	...	·१८
५. उद्योग तथा खनिज	...	·७५
६. कुटीर तथा छोटे उद्योग	...	·४५
७. वन, मछली पकड़ना, राष्ट्रीय विकास योजना, तथा सम्बन्धित अन्य योजनाएँ	...	·४१
८. शिक्षा	...	·३१
९. स्वास्थ्य	...	·१२
१०. अन्य सामाजिक सेवाएँ	...	·१४
११. सरकारी नौकरियाँ	...	·४३
योग (१ से ११ तक)		५·२०
१२. "अन्य" जिनमें वाणिज्य और व्यापार जो कुल का ५२% है सम्मिलित हैं	...	२·७०
कुल योग		७·९०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना द्वारा कितने नवीन व्यवसायों को अवसर प्रदान किया जा सकेगा उसका ठीक-ठीक अनुमान लगाना अभी तक सम्भव नहीं हो सका है। "आयोग द्वारा परीक्षा करने से यह ज्ञात होता है कि प्रथम योजना काल में जो प्रत्यक्ष व्यवसाय के अवसर सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्र में प्रदान किये गये उनकी संख्या ४५ लाख के लगभग थी। इस अनुमान में वाणिज्य और व्यापार आदि के क्षेत्र के अन्तर्गत अतिरिक्त व्यवसाय संम्मिलित नहीं किये गये हैं। विकास सम्बन्धी प्रयत्न को द्विगुणित करके जो द्वितीय योजना में अतिरिक्त व्यवसाय के अवसरों के प्रदान करने का ध्येय बनाया गया है वह कुछ विशेष अधिक नहीं होगा। इसका कारण यह है कि द्वितीय योजना में विकास सम्बन्धी व्यय प्रथम योजना काल के व्यय से कोई विशेष अधिक नहीं हो पायेगा, क्योंकि सरकारी क्षेत्र में योजना का व्यय १९५५-५६ में ६०० से ६२० करोड़ रुपयों के लगभग निश्चित किया गया है, जब कि विकास योजनाओं पर १९५०-५१ में २२४ करोड़ रुपया ही व्यय किया गया था। प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में सरकारी क्षेत्र में व्यय की मात्रा १९५०-५१ के व्यय की मात्रा से लगभग ४०० करोड़ रुपये अधिक होने की सम्भावना है। यह भी सम्भव है कि प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष की तुलना में विकास योजनाओं पर व्यय में वृद्धि द्वितीय योजना के अन्तिम वर्ष में लगभग ६०० करोड़ रुपया हो। इसके अतिरिक्त द्वितीय योजना में विनियोग के ढंग को देखकर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारी उद्योगों और यातायात पर, जो कि अल्पकाल में बहुत कम व्यवसाय के अवसर प्रदान कर सकते हैं, बहुत अधिक धन व्यय किया जाने वाला है।" इसका अर्थ यह है कि परम सौभाग्य होते हुये भी ८० लाख से अधिक व्यक्तियों के लिये (कृषि को छोड़ कर) द्वितीय योजना के उपायों द्वारा व्यवसाय प्रदान करना सम्भव न हो सकेगा जब कि बेकारी की समस्या को पूर्ण रूपेण हल करने के लिये १५२·५ लाख व्यक्तियों के लिये व्यवसाय प्रदान करना आवश्यक है।

मई १९५८ में योजना आयोग द्वारा जारी की गई पुस्तिका 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना की सम्भावनायें मूल्यांकन' के अनुसार "पहले दो वर्षों में कृषि के बाहर रोज़ी के २० लाख अवसर प्रदान किये गये। लगभग १० लाख श्रम-शक्ति १९५८-५९ में रोज़ी पा सकेगी। यह स्मरण रखना चाहिये कि योजना में ७९ लाख व्यक्तियों के कृषि के बाहर तथा १६ लाख व्यक्तियों के कृषि के अन्दर रोजी पाने की सम्भावना है। विभिन्न योजनाओं की लागत में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप कृषि के बाहर सरकारी क्षेत्र में ४८०० करोड़ रु० के व्यय के अनुमान पर लगभग ७० लाख व्यक्तियों को रोजी मिल सकेगी। यदि यह व्यय ४५००

करोड़ ६० हो तो रोज़ी पाने वालों की संख्या ६५ लाख के लगभग होगी। यह अनुमान बिल्कुल सही नहीं है किन्तु इनसे इतना तो पता चलता ही है कि हमारी अर्थ व्यवस्था में श्रम-शक्ति की वार्षिक वृद्धि के अनुरूप विनियोग नहीं हो रहा है।"

रोजगार के दफ्तरों का कार्य

भारत में रोजगार के दफ्तरों का एक जाल सा बिछा हुआ है जो बेरोजगार व्यक्तियों के आवेदनों को स्वीकार करते हैं और उन रिक्त स्थानों के लिये उन्हें भेज देते हैं जो सरकार तथा अन्य व्यक्तियों द्वारा विज्ञापित किये जाते हैं। इसमें संदेह नहीं कि रोजगार के दफ्तर बेरोजगारी कम करने में सहायक हैं, क्योंकि वे बेरोज़गार व्यक्तियों का सम्बन्ध व्यवसाय प्रदान करने वालों से स्थापित कर देते हैं परन्तु ये रोजगार के दफ्तर ही मनुष्य की अप्रयुक्त शक्ति की समस्या को सुलझाने के सफल उपाय तो नहीं हैं। इनका कार्य क्षेत्र प्रचलित आर्थिक और सामाजिक स्थिति के अन्तर्गत ही सुविधायें प्रदान करना है। ये दफ्तर नवीन व्यवसायों को तो उत्पन्न कर नहीं सकते। वे तो केवल बेरोजगार व्यक्तियों को जो कार्य करने की क्षमता रखते हैं और करना चाहते हैं निर्देश मात्र ही दे सकते हैं। वे उन व्यवसायों के लिये जो विज्ञापित हैं और जिनके लिये स्थान रिक्त हैं उपयुक्त व्यक्ति भी नहीं ढूढ़ सकते।

यह सब होते हुए भी बेरोजगार व्यक्तियों को प्राप्त स्थानों के लिये निर्देश देना भी बेरोजगारी की समस्या के सुलझाने में एक बड़ी सहायता है। इसके अतिरिक्त यद्यपि रोजगार के दफ्तर में नाम रजिस्टर कराये हुए बेरोजगार व्यक्तियों से हमें बेकारी की समस्या का पूर्ण चित्र नहीं प्राप्त होता, पर उससे निःसंदेह बेरोजगारी की बदलती हुई प्रवृत्ति ज्ञात होती है। यह बड़ी चिन्ता का विषय है कि रोजगार के दफ्तरों में रजिस्टर किये हुये व्यक्तियों की संख्या १९५६ में ७,५८,५०३ थी। १९५७ में यह बढ़कर ९,२२,०९९ हो गई। १९५६ में केवल १,८९,८५५ के जगह दी गई। १९५७ में यह संख्या बढ़कर १,९२,८३१ हो गई।

रोजगार के दफ्तरों को अधिक प्रभाव शाली बनाने के लिये यह आवश्यक है कि उनका पुनर्संगठन किया जाय। इस सम्बन्ध में प्रशिक्षण और व्यवसाय व्यवस्था समिति ने जिसे प्रायः बी० शिवा राव कमेटी कहते हैं भारत सरकार को अप्रैल १९५४ में दी हुई रिपोर्ट में निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) रोजगार के दफ्तरों की व्यवस्था को विस्तृत करके उसे राष्ट्रीय सेवा का एक स्थायी व अधिक अधिकार प्राप्त विभाग बना देना चाहिये ;

(२) प्रशासन विकेन्द्रित होना चाहिये। इसका यह अर्थ है कि नीति

चाहे सरकार द्वारा क्यों न निर्धारित की जाएं पर उनका नित्य प्रति का प्रशासन राज्य सरकार द्वारा होना चाहिये;

(३) केन्द्रीय सरकार द्वारा रोजगार के दफ्तरों को जो अनुदान सहायतार्थ दिया जाता है वह चालू रखना चाहिये, पर उसकी मात्रा को क्षेत्रीय प्रधान कार्यालयों तथा राज्यों के रोजगार के दफ्तरों के कुल व्यय के ६०% तक सीमित कर देना चाहिये; और १९५३-५४ के बजट में जो धनराशि निर्धारित की गई हो अथवा १९५२-५३ में जो वास्तविक व्यय किया गया हो, इन दोनों राशियों में से जो राज्य की सरकार के दृष्टिकोण से उसके लिये अधिक लाभकारी हो, उसे अनुदान की अधिकतम मात्रा नियत कर देनी चाहिये;

(४) रोजगार के दफ्तरों के कार्यों का विस्तार किया जाना चाहिये और उनके कार्यों में निम्न कार्यों को भी सम्मिलित करना चाहिये : (क) मालिकों और कार्य करने वाले वर्गों के साथ बहुत अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये; उनको चाहिये कि व्यवसाय चाहने वालों के आवेदनों को स्वीकार करें और तब तक उनसे अपना सम्बन्ध रक्खें जब तक कि उस पर नियुक्ति न हो जाय; (ख) नाम रजिस्टर कराये हुये व्यक्तियों का निरीक्षण तथा सहायता करें और उनकी आवश्यक परीक्षा लें; (ग) रजिस्टर कराये हुए व्यक्तियों की फाइलें निर्माण करें, आवश्यकता पड़ने पर बार-बार उनके फ़ाइलों का नये सिरे से निर्माण करें, और योग्य आवेदकों के प्रार्थना पत्रों को कार्य देने वाले व्यक्तियों के पास भेजें और उनकी नियुक्ति का लेखा निर्माण करें और सुरक्षित रक्खें; (घ) व्यवसाय के अवसरों का पता लगावें और व्यक्तियों तक इसकी सूचना पहुँचाने की सुविधायें प्रदान करें ताकि बेरोजगारों को व्यवसाय प्राप्त हो सके और मालिकों को उपयुक्त कार्य करने वाले इन दफ्तरों को चाहिये कि वे व्यवसाय सम्बन्धी आँकड़े प्रकाशित करें और कौन सा कार्य कब तक चलेगा इसके सम्बन्ध में अपना मत भी प्रकाशित करें;

(५) अदक्ष श्रमिकों को न तो रजिस्टर करने की आवश्यकता है और न उनके आवेदनों की। जो व्यक्ति ऐसे श्रमिकों की सेवायें चाहते हैं उनको घोषणा द्वारा या किसी अन्य रूप से सूचित कर देना ही पर्याप्त होगा। इसके पश्चात् जो कार्य करना चाहते हैं उन्हें सीधे मालिकों के पास पहुँच जाना चाहिये। ऐसे व्यक्तियों के सम्बन्ध में जो प्रतिदिन रोजगार के दफ्तर पर इकट्ठा होते हैं तथा घोषणा द्वारा जिन रिक्त स्थानों की सूचना दी जाती है उनके आँकड़े तैयार करने की आवश्यकता नहीं है; और

(६) सरकारी तथा अर्ध सरकारी संस्थाओं द्वारा नियुक्त किये जाने के

सम्बन्ध में ये दफ्तर जो सिफारिशें करें उनके परिणाम की कुछ दिन तक जाँच करने के पश्चात् व्यक्तिगत क्षेत्र में भी इन दफ्तरों की सिफारिशों पर नियुक्त करना अनिवार्य कर दें।

सरकार ने बी० शिवाराव कमेटी के अभिस्तावों को आंशिक रूप में स्वीकार कर लिया है और रोजगार के दफ्तरों को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये निम्न उपायों को द्वितीय योजना में कार्यान्वित करने का निर्णय किया है : (१) रोजगार दिलाने के विभाग को १२५ नये रोजगार के दफ्तरों की स्थापना करके विस्तृत करना ताकि अन्य बहुत से व्यवसाय के केन्द्र इनके अंतर्गत आ सकें; (२) व्यवसाय की सूचनाओं के एकत्रित करने तथा लोगों तक पहुँचाने की योजना निर्माण करना; (३) चुने हुये व्यवसाय के दफ्तरों में नवयुवक रोजगार सेवा संस्था की स्थापना करना तथा वयस्कों के लिये व्यवसाय की सलाह देना तथा 'केरियर पेम्फलेट' आदि उपयुक्त तत्सम्बन्धी साहित्य प्रकाशित करना; (४) रोजगार सम्बन्धी विश्लेषण तथा खोज के कार्य-क्रम बनाना ताकि विभिन्न व्यवसायों के नाम तथा परिभाषा मान्य स्तर की बनाई जा सकें; और (५) रोजगार के दफ्तरों में व्यवसायिक परीक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम बनाना। इन उपायों से भारत की व्यवसाय दिलाने वाली सेवाओं की कार्य कुशलता अधिक बढ़ जायगी परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि रोजगार के दफ्तर राष्ट्रीय सेवा विभाग के रूप में विकसित हो जाँय और तभी उनके लिये बेरोजगार व्यक्तियों को व्यवसाय ढूढ़ना और दिलाना भी सम्भव हो सकेगा। कमेटी ने प्रशासन को विकेन्द्रित करने की सिफारिश की है क्योंकि ऐसा करने से राज्य सरकारों को भी इस संस्था के प्रति सहानुभूति उत्पन्न हो जायगी और बेरोजगार के दफ्तरों का राज्य की सरकार तथा राज्य के अन्तर्गत व्यक्तिगत मालिकों से सम्बन्ध स्थापित करने में भी यह सहायक भी सिद्ध होगी। विकेन्द्रियकरण से प्रान्तीयता के बढ़ने तथा अन्तरप्रान्तीय जनसंख्या के आवागमन में बाधा पड़ने का भय निर्मूल है क्योंकि इन रोजगार के दफ्तरों की नीति तो केन्द्रीय सरकार द्वारा ही निर्धारित होगी। इन संस्थाओं के कार्यों के प्रसार के सम्बन्ध में जो सुझाव दिये गये हैं उनसे मालिकों तथा रोजगार के दफ्तरों के बीच और बेरोजगार व्यक्तियों और रोजगार के दफ्तरों के बीच अच्छा सम्बन्ध भी स्थापित हो सकेगा। अदक्ष श्रमिकों के सम्बन्ध में उनकी रजिस्ट्री न करने की सलाह देने में ऐसा लगता है कि कमेटी इस कार्य के विस्तार तथा सम्भावित अधिक व्यय से विशेष प्रभावित हो गई थी। पर ऐसा करने से, इसमें संदेह नहीं कि रोजगार के दफ्तरों की बेरोजगारी की समस्या सुलझाने के सम्बन्ध में उपयोगिता अवश्य कम हो जायगी।

अध्याय २६

औद्योगिक गृह निर्माण

औद्योगिक गृह निर्माण की समस्या श्रमिकों को कम किराये पर उपयुक्त अवास प्रदान करने की है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भी बड़े-बड़े कस्बों और नगरों में, विशेष कर औद्योगिक केन्द्रों में, रहने के लिये घरों का अभाव था। श्रमिक लोग चौल तथा बस्तियों में बड़े अस्वास्थ्य वातावरण में रहते हैं। गत कुछ वर्षों से जन संख्या में वृद्धि होने, पाकिस्तान से शरणार्थियों के आने तथा व्यक्तिगत लोगों द्वारा कम संख्या में नये घरों के निर्माण के कारण दशा और भी अधिक शोचनीय हो गई है। १६३१, १६४१ और १६५१ की जनगणना के अनुसार जनसंख्या में क्रमशः ११, १४·३ और १३·४ प्रतिशत वृद्धि हुई परन्तु नागरिक क्षेत्रों में यह वृद्धि क्रमशः २१, ३२ और ५४ प्रतिशत हुई। पाकिस्तान से लगभग ८५ लाख शरणार्थियों के आ जाने से नागरिक क्षेत्रों में जनसंख्या का दबाव बढ़ा जिसके प्रभाव से रहने की व्यवस्था और जटिल हो गई। शरणार्थियों ने गाँव की अपेक्षा बड़े कस्बों और नगरों में ही रहना अधिक पसन्द किया। इससे नगरों और कस्बों में रहने के लिए घरों की माँग बढ़ी परन्तु पूर्ति न हो सकने से यह अभाव की खाई चौड़ी होती गई। माँग के अनुसार घरों की पूर्ति न हो सकने का कारण यह है कि इमारत बनाने के सामान का अधिक मूल्य होने के कारण और बाजार में सामान के अभाव के फलस्वरूप नई इमारतों को पर्याप्त मात्रा में नहीं बनाया जा सका। इसके साथ ही मकानों को किराये पर देने और किराये की दरों पर सरकारी प्रतिबन्ध लगाने से भी इस दिशा में प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इसी कारण बढ़ती जनसंख्या के साथ मकानों की व्यवस्था नहीं की जा सकी।

गृह निर्माण की प्रवृत्ति—वर्तमान में मुख्य गृह निर्माण एजेन्सियाँ निम्न-लिखित हैं :—(१) सरकारी अथवा अन्य एजेन्सियाँ, (२) उद्योगपति, (३) सहकारी समितियाँ, (४) अपने उपयोग के लिए मकान बनाने वाले व्यक्ति, और (५) निजी उद्योग। निजी उद्योग के मालिकों की और अपने उपयोग के लिए गृहनिर्माण कराने वाले व्यक्तियों की अब गृहनिर्माण की ओर गति मन्द हो गई है। गत कुछ वर्षों में इस दिशा की ओर सरकारी तथा अन्य मिली-जुली एजेन्सियों, उद्योगपतियों और सहकारी समितियों की गति में विशेष रूप से वृद्धि हुई है।

प्रथम योजना काल में ७६,६७६ किराये के घरों के निर्माण के कार्यक्रम

को स्वीकृति दी गई थी। इनमें से १६,१६५ बम्बई में, २१,७०६ उत्तर प्रदेश में, ५,६२६ हैदराबाद में, ५,१८१ मध्यप्रदेश में, ३,४४४ मध्यभारत में तथा इससे कम संख्या में अन्य राज्यों में बनवाये जाने वाले थे। जितने किराये के घरों का निर्माण प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने के पूर्व किया जा चुका था उनकी संख्या ४०,००० के लगभग थी। जितने किराये के घरों के निर्माण की अनुमति दी गई है उनमें से ६८,२०० अथवा ८५% के लगभग राज्य सरकारों द्वारा, १०,१६१ अथवा १३% श्रमिकों के निजी उद्योग द्वारा और १,३१८ या १·६% उद्योगों में काम करने वालों की सहकारी समितियों द्वारा बनवाये जा रहे हैं। जब यह योजना निर्माण की गई थी उस समय सहकारी समितियों और मालिकों के सहयोग की अधिक आशा की थी। योजना के इस पक्ष पर विचार किया जा रहा है और ऐसे उपाय सोचे जा रहे हैं जिनसे कि मालिकों और कारखानों के श्रमिकों की सहकारी समितियों का अधिक सहयोग प्राप्त हो। इनके अतिरिक्त पुनर्वास, रक्षा, रेलवे, लोहा और इस्पात, उत्पादन, सूचना, निर्माण, गृह निर्माण तथा पूर्ति आदि मंत्रालयों द्वारा भी गृह निर्माण के समुचित कार्यक्रम कार्यान्वित किये जा रहे हैं। राज्य सरकारें और कुछ स्थानीय अधिकारियों के अपने निजी गृह निर्माण के कार्यक्रम भी चालू हैं। यह अनुमान किया जाता है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में पुनर्वास मन्त्रालय ने नगरों में ३,२३,००० किराये के घर बनवाये और राज्य सरकारों तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों ने, निर्माण, गृहनिर्माण तथा पूर्ति के मन्त्रालयों,को छोड़ कर लगभग ३००,००० गृहों का निर्माण करवाया। अन्य गृहनिर्माण की योजनाओं को, जिनका ऊपर वर्णन किया जा चुका है, सम्मिलित करते हुए सरकारी विभागों ने प्रथम योजना काल में लगभग ७,४२,००० गृहों का निर्माण करवाया। व्यक्तिगत लोगों ने कितने गृहों का निर्माण कराया उसकी संख्या जानना कठिन है। कर जाँच आयोग के इस सम्बन्ध में परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि नगरों में गृहनिर्माण के सम्बन्ध में कुल विनियोग १६५३-५४ में लगभग १२५ करोड़ रुपया था। यदि इसे हम पाँच वर्षों की अवधि का औसत मान लें और एक घर के बनवाने में औसत व्यय १०,००० रु० के लगभग मान लें तो यह ज्ञात होगा कि प्रथम योजना काल में लगभग ६००,००० गृहों का निर्माण व्यक्तिगत क्षेत्र में हुआ। इस प्रकार प्रथम योजना काल में लगभग १३ लाख घर नगरों में बनवाये गये।

प्रथम योजना काल में ग्रामों में भी रहने की स्थिति में सुधार के कुछ उपायों का प्रयोग किया गया है। सामुदायिक विकास योजना क्षेत्रों से ५८,००० ग्राम्य शौचालय, १६०० मील लम्बी नालियाँ और २०,००० कुँये बनवाये गये हैं

और लगभग ३४,००० कुँओं का जीर्णोद्वार किया गया है और राष्ट्रीय विकास क्षेत्रों में ८०,००० ग्राम्य शौचालय, २७०० मील लम्बी नालियाँ, ३०,००० नये कुँये और ५१०० पुराने कुँओं का जीर्णोद्वार किया गया है। राष्ट्रीय विकास तथा सामुदायिक विकास योजनाओं के क्षेत्रों में लगभग २६००० घरों का निर्माण हुआ है और लगभग उतने ही पुराने घरों का जीर्णोद्वार किया गया है। अनेकों राज्यों में ग्रामों में ईंट के भट्टे स्थापित किये जा रहे हैं। कहीं-कहीं पर सहकारी समितियों की सहायता इस कार्य में ली जा रही है। उदाहरणार्थ उत्तर प्रदेश में १९५०-५१ में १६ सहकारी ईंट के भट्टे खोले गये थे; १९५४-५५ तक उनकी संख्या बढ़कर ७५२ हो गई और भट्टों के आस-पास के ग्रामों में अधिकाधिक नये ढंग के पक्के मकान बनते जा रहे हैं। बहुत से राज्यों में हरिजनों के आवास की स्थिति को, विशेष भूमि क्षेत्रों को उनके लिये नियत करके तथा सहकारी गृहनिर्माण समितियों की स्थापना द्वारा, सुधारने का प्रयत्न किया जा रहा है। केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत निर्माण, पूर्ति तथा गृहनिर्माण मन्त्रालय ने ग्राम्य गृहनिर्माण आगार की स्थापना की है जिसका ध्येय इस क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का अध्ययन करना और गृहों के नये-नये आकारों, अभिन्यासों, निर्माण के ढंगों तथा स्थानीय कच्चे माल के प्रयोग करने के उपायों की खोज करना है।

कठिनाइयाँ—अधिक मकानों के निर्माण के लिए प्रोत्साहित करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं :

(१) ग्राम और नगर में भूमि, इस्पात, ईंट, सिमेंट, लकड़ी की चौखट इत्यादि के मूल्य में बहुत वृद्धि हुई। यह सभी चीजें मकान बनाने के लिए बहुत आवश्यक हैं। इन वस्तुओं के मूल्य अधिक होने पर भी गृह-निर्माण संभव था परन्तु सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि इसके लिए पर्याप्त धन नहीं मिल पाता है। दूसरी ओर यदि अधिक व्यय पर मकान बनाया जाय तो उसका किराया भी अधिक होना चाहिए परन्तु गृह निर्माण का कार्य तीव्र गति से करने का मुख्य उद्देश्य यह है कि श्रमिकों तथा अन्य निर्धन और मध्यम श्रेणी के लोगों को सस्ते किराये पर मकान दिये जा सकें। इसलिए समस्या यह है कि मकान बनाने के सामान का मूल्य घटाया जाय; महँगे सामान के स्थान पर सस्ते मूल्य का कोई दूसरा उपयुक्त सामान लगाया जाय और श्रमिकों इत्यादि के लिए सुखदाई परन्तु कम व्यय में मकान बनाने के लिए मकान के आकार-प्रकार और उसके ढाँचे इत्यादि के सम्बन्ध में खोज कार्य किया जाय। परन्तु यदि गृह निर्माण के व्यय में पर्याप्त कमी भी कर दी जाय तब भी गृह निर्माण योजना को कार्यान्वित करने के

लिए रुपये की आवश्यकता होगी और जब तक पर्याप्त धन, जो कम से कम १०० करोड़ रुपया होगा, प्राप्त नहीं होता तब तक सभी आवश्यकताग्रस्त लोगों के लिए मकानों की व्यवस्था नहीं की जा सकती है। बाजार में रुपये की तंगी है और जनता के पास पर्याप्त धन नहीं है। इसलिए घर बनाने के इच्छुक लोगों को कम ब्याज पर रुपया देने के लिये कुछ उपाय खोज निकालना अत्यन्त आवश्यक है।

(२) मकानों का किराया बढ़ाने पर राज्य सरकारों ने प्रतिबन्ध लगा दिया है। सरकार तथा अन्य एजेन्सी, उद्योगपति और सहकारी समितियाँ लाभ की चिन्ता किये बिना गृह निर्माण कार्य में वृद्धि कर सकती है। परन्तु किराये पर नियंत्रण लग जाने से और नगरों तथा कस्बों में मकानों का एलौटमैन्ट करने की व्यवस्था से निजी उद्योगों के मालिक नये मकान बनवाने की ओर से लगभग निराश हो चुके हैं। कुछ राज्यों में ऐसी व्यवस्था है कि एक निश्चित तिथि के पश्चात् बने नये मकानों पर यह नियन्त्रण लागू नहीं होते हैं इससे नये मकान बनवाने के कार्य को प्रोत्साहन मिला है।

१९५२ में एशिया और सुदूर पूर्वी आर्थिक सम्मेलन का गृह निर्माण विषयक अधिवेशन दिल्ली में हुआ था। इस सम्मेलन में सुझाव दिये गये थे कि (१) आदर्श योजनाएँ चालू की जाँय जिनमें इस्पात और इमारती लकड़ी के स्थान पर बाँस तथा अन्य लकड़ियों के उपयोग की जाँच की जाय और (२) इसी प्रकार की अन्य योजनाओं द्वारा ईंट इत्यादि बनाने के लिए उपयुक्त चिकनी मिट्टी की भी जाँच की जाय। इस प्रकार की आदर्श योजनाओं के द्वारा हम श्रमिकों तथा अन्य लोगों के लिये सस्ते और सुखदाई मकानों का निर्माण करने के उपाय खोज सकते हैं।

सरकारी योजनाएँ—औद्योगिक शांति प्रस्ताव में सुझाये गये गृह निर्माण कार्य क्रम के आधार पर भारत सरकार ने १९४९ में एक गृह निर्माण योजना तैयार की। इस योजना में यह व्यवस्था की गई कि राज्य सरकारों तथा कर्मचारियों इत्यादि के द्वारा बनाये जाने वाले मकानों में जितना रुपया लगेगा उसका दो तिहाई केन्द्रीय सरकार ब्याज मुक्त ऋण के रूप में देगी, परन्तु इसके लिये मालिकों को भी कुछ शर्तें माननी पड़ेंगी। इस योजना के अनुसार मालिक तथा राज्य सरकारों को एक तिहाई व्यय की स्वयं व्यवस्था करनी पड़ती है। केन्द्रीय सरकार से उन्हें केवल इतना ही लाभ प्राप्त है कि आवश्यक पूँजी का $\frac{2}{3}$ अंश ब्याजयुक्त ऋण के रूप में प्राप्त हो जाता है।

परन्तु इस योजना के असफल हो जाने पर भारत सरकार ने यह अनुभव

किया कि गृह निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये राज्य सरकारों और कारखाने इत्यादि के मालिकों को इसके लिये नकद आर्थिक सहायता देनी पड़ेगी। इसी विचार से एक योजना निर्माण की गई और उसे प्रायः सभी राज्यों की सरकारों के पास विचारार्थ भेजा गया। इस योजना में यह प्रस्ताव रखा गया था कि गृह निर्माण कार्य को प्रोत्साहन देने के लिये राज्य सरकारों तथा निजी उद्योगपतियों को भूमि के मूल्य का अधिक से अधिक २० प्रतिशत केंद्रीय सरकार सहायता के रूप में देगी। परन्तु इसके लिए यह शर्तें लगाई गईं कि (१) मकान वास्तव में श्रमिकों को किराये पर दिया जायगा, (२) किरायेदार से घर की कुल लागत का, जिसमें भूमि का मूल्य भी सम्मिलित है, केवल ढाई प्रतिशत ही वसूल किया जायगा परन्तु यह किराया श्रमिक की आय के १० प्रतिशत से अधिक नहीं होना चाहिये, (३) घर केन्द्रीय सरकार द्वारा निर्धारित विशेष आकार प्रकार के बनने चाहिएँ और (४) घर का निरीक्षण करने के लिये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के निरीक्षकों और गृह-निर्माण बोर्ड को सभी आवश्यक सुविधायें दी जानी चाहिएँ। इस योजना का कार्यक्षेत्र सीमित था और राज्य सरकारों ने इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया। इसलिये भारत सरकार ने १६५२ के अंत में एक अधिक व्यापक योजना तैयार की जिसके अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई कि केन्द्रीय सरकार गृहनिर्माण कार्य को प्रोत्सान देने के लिये राज्य सरकारों और गृहनिर्माण बोर्ड को कुल व्यय का ५० प्रतिशत तक सहायता के रूप में देगी। इसमें भूमि का मूल्य भी सम्मिलित किया जायगा। शेष ५० प्रतिशत के लिये सरकार ४½ प्रतिशत ब्याज पर ऋण देगी जिसे २५ वर्ष के अन्दर चुकाया जा सकता है। सहकारी समितियों के सम्बन्ध में यह व्यवस्था की गई कि गृह निर्माण के कुल व्यय का २५ प्रतिशत सरकार सहायता के रूप में देगी और साथ ही कुल निर्माण-व्यय का ३७½ प्रतिशत धन ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर ऋण देगी जिसे १५ वर्ष के अन्दर चुकाया जा सकता है। उद्योग के मालिकों को सरकार कुल लागत का २५ प्रतिशत आर्थिक सहायता के रूप में और कुल व्यय का ३७½ प्रतिशत तक ४½ प्रतिशत वार्षिक ब्याज की दर से ऋण देगी। यह ऋण १५ वर्ष के अन्दर चुकाना होगा। इन सब के सम्बन्ध में ऋण तथा अनुदान की मात्रा स्टेन्डर्ड लागत के आधार पर अनुगणित मात्रा पर ही सीमित कर दी जायगी। बम्बई और कलकत्ता के सम्बन्ध में १ कमरे वाले कई मंजिले मकानों की स्टेन्डर्ड लागत ४५०० रुपया और अन्य स्थानों में २७०० रुपया आँकी गई है। दो कमरे वाले कई मंजिले मकानों की बम्बई और कलकत्ता में लागत ४५३० रुपया (जो कि अब बढ़ाकर ५६३० रुपया

कर दी गई है) और अन्य स्थानों में ३४९० रुपया आँकी गई है। एक मंजिले मकानों के लिये स्टेन्डर्ड लागत का अनुमान कम धन राशि है।

इस पुनर्परीक्षित योजना की दो मुख्य विशेषतायें हैं: (१) सहकारी समितियों को व्यय की ५०% तक ऋण रूप से सहायता मिल सकेगी जबकि मूल योजना के अन्तर्गत केवल ३७½ ही मिल सकती थी और १५ वर्षों में ऋण के चुकता करने के स्थान पर अब २५ वर्ष का समय भी मिल जायगा; और (२) स्टेन्डर्ड किराया विभिन्न प्रकार के मकानों के लिये बम्बई तथा कलकत्ता में १० रुपये से लगाकर ३० रुपया तक और अन्य नगरों और कस्बों में १० रुपये से लगाकर १९ रुपया तक नियत कर दिया गया है। इससे योजना अधिक पूर्ण बन गई है। यह आशा की जाती है कि गृह निर्माण कार्य को इस योजना के अन्तर्गत अधिक प्रोत्साहन भी मिलेगा।

आर्थिक सहायता प्राप्त गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत, जो सितम्बर १९५२ में लागू हुई, १९५७-५८ केन्द्रीय सरकार द्वारा मंजूर की गई धनराशि २५·७९ करोड़ रु० थी जिसमें १३·२८ करोड़ रु० ऋण के रूप में तथा १२·५१ करोड़ रु० आर्थिक सहायता के रूप में थे। इसके अन्तर्गत ९१,२५० घर थे। नवम्बर १९५७ तक पूर्ण हुये मकानों की संख्या ६६,७०० थी तथा शेष निर्माण के विभिन्न चरणों में थे।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक तथा अन्य गृह निर्माण योजनाओं के लिये अधिक धन सहायता में देने का निश्चय किया गया है। प्रथम योजना में ३८५ करोड़ रुपयों की सहायता का प्रबन्ध किया गया था परन्तु द्वितीय योजना में १२० करोड़ रुपयों की सहायता का निम्न तालिका के अनुसार प्रबन्ध किया गया है :—

सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण	...	४५ करोड़ रुपये
निम्न आय-वर्ग के लिये गृह निर्माण	...	४० " "
ग्राम गृह निर्माण	...	१० " "
बस्तियों की सफाई और भंगियों के लिये गृह निर्माण		२० " "
मध्य वर्ती आय वर्ग के लिये गृह निर्माण	...	३ " "
रोपणोद्योग के लिये गृह निर्माण	...	२ " "
योग		१२० " "

द्वितीय योजना के अन्तर्गत व्यय की योजना अधिक विस्तृत है और अनेकों नये व्यय के शीर्ष उसमें सम्मिलित कर लिये गये हैं जो कि प्रथम योजना में नहीं थे और कार्य का ध्येय निम्न है :—

		गृहों की संख्या
१.	सहायता प्राप्त औद्योगिक घर	१२८,०००
२.	निम्न आय वर्ग के लिये घर	६८,०००
३.	बस्तियों में रहने वालों के लिये नये घर जिनमें भंगी भी सम्मिलित हैं—	११०,०००
४.	मध्य वर्ती आय वर्ग के लिये घर	५,०००
५.	रोपण उद्योग के श्रमिकों के लिये घर	११,०००
६.	ग्रामीण गृह निर्माण योजना	१,३३,०००
	योग	४,५५,०००

अन्य केन्द्रीय मन्त्रालयों द्वारा, राज्य सरकारों तथा स्थानीय अधिकारियों द्वारा तथा कोयले की खानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये गृह निर्माण सम्बन्धी कार्यक्रम के कारण व्यक्तिगत लोगों द्वारा बनवाये घरों के अतिरिक्त ७५३,००० गृहों का (जिनकी संख्या ८००,००० के लगभग द्वितीय योजना काल में आँकी गई है) निर्माण होगा। इस प्रकार द्वितीय योजना में कुल १६ लाख घरों के निर्माण का अनुमान है जबकि प्रथम योजना काल में केवल १३ लाख घरों का ही निर्माण हुआ था।

द्वितीय योजना के पहले तीन वर्ष में गृह निर्माण के ऊपर किये जाने वाले कुल व्यय का अनुमान ४० करोड़ है। "आर्थिक सहायता प्राप्त औद्योगिक गृह निर्माण योजना के अन्तर्गत १९५६-५९ इन तीन वर्षों में ४२,६०० इकाइयों के निर्माण की व्यवस्था है। निम्न आय वर्ग के अन्तर्गत २२,००० इकाइयों के निर्माण की तथा भंगियों के गृह निर्माण के अन्तर्गत २२००० इकाइयों के निर्माण की व्यवस्था है। ग्रामीण गृह निर्माण योजना १९५८-५९ में प्रभावपूर्ण ढंग से लागू की जा रही है। चूँकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में काट-छाँट हो रही है अतएव गृहनिर्माण के लिये संशोधित राशि १०० करोड़ रु० होगी जो प्रारम्भिक राशि से २० करोड़ रु० कम है। ४५,०० करोड़ रु० के कुल व्यय में गृह निर्माण पर किया जाने वाला व्यय ८४ करोड़ रु० है। इसमें ६४ करोड़ रु० राज्यों के लिये है तथा २० करोड़ रु० केन्द्र के लिये है।"

अध्याय ३०

श्रम की कार्यक्षमता

यह लोक प्रसिद्ध है कि भारतीय श्रमिक निपुण नहीं है। उसकी प्रति घंटा उत्पादन शक्ति भी बहुत कम है। यदि पाश्चात्य देशों के उसी प्रकार के श्रमिकों की उत्पादन शक्ति से तुलना की जाय तो पता चलेगा कि भारतीय श्रमिकों का उत्पादन बहुत गिरा हुआ है। जापान, ब्रिटेन और अमरीका के श्रमिक की अपेक्षा उतने ही समय में भारतीय श्रमिक बहुत कम कार्य कर पाता है।

सूती मिल उद्योग संबन्धी प्रशुल्क मण्डल (१६२६-२७) ने बताया कि भारतीय श्रमिक अथवा आपरेटर ने १८० तकुओं पर कार्य किया जब कि इतने ही समय में जापान के श्रमिक ने २४०, इंगलैंड के श्रमिक ने ५०० से ६०० के बीच और अमरीकी श्रमिक ने ११२० तकुओं पर कार्य किया। भारतीय बुनकर औसतन २ कर्घे चलाता है जब कि जापान का बुनकर २½, ब्रिटेन का ४ से ६ तक और अमरीका का ६ कर्घे चला लेता है। इससे भारतीय श्रमिक की सापेक्षिक कार्यक्षमता का आभास मिलता है। यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि गत कुछ वर्षों से कतिपय सूती मिलों में कार्यक्षमता में काफी वृद्धि हुई है। सूती उद्योग सम्बन्धी वर्किङ्ग पार्टी (१६५२) ने जाँच करके पता लगाया कि दिल्ली की एक और मद्रास की दो मिलों में एक बुनकर ४, ६, ८ और १६, अहमदाबाद की एक मिल में १८ और बम्बई की एक मिल में ६ कर्घे चला लेता है। कार्यक्षमता में इस वृद्धि का कारण यह है कि इन मिलों में स्वचालित आधुनिक मशीनें लगी हुई हैं जिससे श्रमिक अधिक काम कर सकता है परन्तु कार्य में इतनी प्रगति होते हुए भी आज तक यह बात सत्य मानी जाती है कि भारतीय श्रमिक ब्रिटेन या जापान के अपने ही प्रकार के श्रमिक से कम निपुण है। कोयला-खदान उद्योग के सम्बन्ध में भारत की जिओलोजीकल, माइनिंग और मेटालर्जीकल सोसाइटी के २८ वें वार्षिक अधिवेशन के अध्यक्ष के भाषण में बताया गया कि भारत में एक श्रमिक का उत्पादन २·७ टन है जब कि ब्रिटेन के मजदूर का ६·२६ टन, जर्मनी के श्रमिक का ८·६६ टन और अमरीका के श्रमिक का २१·६८ टन है। भारतीय श्रमिक का प्रतिघण्टा उत्पादन गत कुछ वर्षों में गिरा है। योजना आयोग ने बताया है कि कोयला खदान उद्योग में कार्य करने वाले श्रमिकों की संख्या १६४१ में २, १४, २४४ से बढ़कर १६५१ में ३,४०,००० हो गई है जब कि इसी अवधि में कोयले

का उत्पादन २ करोड़ ५८ लाख ६० हजार टन से बढ़कर ३ करोड़ ४० लाख टन हो गया। इस प्रकार जब श्रमिकों की संख्या में ५८ प्रतिशत वृद्धि की गई तो उत्पादन केवल ३२ प्रतिशत बढ़ा है परन्तु श्रमिक का प्रतिघण्टा उत्पादन १२७ टन से गिरकर लगभग १०० टन हो गया।

यद्यपि सभी उद्योगों के सम्बन्ध में विस्तृत सूचना प्राप्त नहीं है फिर भी १९५५ में प्रकाशित कतिपय उद्योगों की उत्पादकता और अर्जित आय के परिवर्तनों से निम्न बातें ज्ञात होती हैं :

(i) कोयला उद्योग में १९५१-१९५४ के बीच खोदने तथा लादने वालों की उत्पादकता में ०.०७६ प्रति माह वृद्धि हुई जबकि प्रति सप्ताह नकद आय में ०.२६ की वृद्धि हुई।

(ii) कागज उद्योग में, १९४८-१९५३ के बीच मजदूरों की औसत आय में तो वृद्धि हुई किन्तु इनकी उत्पादकता बढ़ने का कोई चिन्ह नहीं था।

(iii) जूट उद्योग में १९४८-१९५३ के बीच उत्पादकता की वृद्धि २.९ प्रतिवर्ष थी जबकि अर्जित आय की वृद्धि ३.७ थी तथा,

(iv) सूती वस्त्र उद्योग में उत्पादकता की वृद्धि की वार्षिक दर १९४८-१९५३ के बीच २.२८ थी जबकि अर्जित आय की वृद्धि १.१४ थी।"

इसके विपरीत अमरीका और ब्रिटेन के श्रमिक की कार्यक्षमता में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है। अमरीकी श्रमिक की प्रतिघण्टा उत्पादन क्षमता में १९१० तथा १९४० के बीच ८३ प्रतिशत वृद्धि हुई। विगत १५ वर्षों में इसमें और अधिक वृद्धि हुई है। यह बताया गया है कि यदि उत्पादन क्षमता इसी अनुपात में बढ़ती गई तो ३० वर्ष में दोगुनी हो जायगी। उत्पादन शक्ति की जांच करनेवाली एक आंग्ल-अमरीकी परिषद् ने ब्रिटेन के लोहे और इस्पात के कारखाने के कुछ विभागों की जांच की। परिषद् की रिपोर्ट में बताया गया है कि १९१९ से १९५२ के बीच स्टील फौंडिंग में १५ से २० प्रतिशत की और ड्राप-फौंडिंग में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। ऐसे ही अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं। अनेक कारणों से भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता निरन्तर घटती जा रही है। यहाँ यह बता देना अनुचित न होगा कि कार्यक्षमता में कमी होने के लिये केवल भारतीय श्रमिक ही उत्तरदायी नहीं है। इसका बहुत कुछ कारण खराब मशीनें और दोष पूर्ण औद्योगिक संगठन है। परन्तु इसका परिणाम यह अवश्य हुआ है कि भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति घट गई है और विश्व बाजार में अपने माल की निकासी करने में उसे अत्यन्त कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

कारण—श्रमिक की कार्यक्षमता अथवा उसकी निपुणता की परिभाषा करना बहुत कठिन है और यह अनेक बातों पर निर्भर करती है। श्रमिक की कार्यक्षमता की जाँच करने का एक व्यवहारिक ढंग श्रमिक के प्रतिघण्टा उत्पादन की जाँच करना है। एक श्रमिक की एक शिफ्ट के कुल उत्पादन के हिसाब से भी कार्यक्षमता का पता लगाया जा सकता है। एक शिफ्ट में ७½ या ८ घण्टा कार्य होता है। इसके साथ ही श्रमिक के वार्षिक उत्पादन की मात्रा को भी इसका साधन बनाया जा सकता है। श्रमिक की कार्यक्षमता केवल श्रमिक के श्रम पर ही निर्भर नहीं रहती है। कच्चे माल के प्रकार, मशीनों के प्रकार और उनकी स्थिति और सम्पूर्ण औद्योगिक संगठन का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। अकुशलता अथवा निपुण न होने के लिये सारा दोष भारतीय श्रमिक पर ही नहीं मढ़ा जा सकता। कुछ दोष अवश्य श्रमिक का भी है परन्तु जिस प्रणाली के अन्तर्गत वह कार्य करता है उसे इस आरोप से वंचित नहीं किया जा सकता। जब हम भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता और ब्रिटेन, अमरीका या अन्य देशों के श्रमिकों की कार्यक्षमता की तुलना करते हैं तो हमें दोनों देशों के कारखाने में लगी मशीनों और कार्य की स्थिति पर भी विचार करना चाहिए। परन्तु फिर भी इन सभी बातों पर विचार करने के बाद भी यह सही है कि भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अमरीकी तथा ब्रिटिश श्रमिक की कार्यक्षमता से कम है।

भारतीय श्रमिक के अकुशल होने के अनेक कारण बताये गये हैं : (१) श्रमिक की अस्वस्थता, (२) कुशलता का अभाव, (३) उसका प्रवासी स्वभाव, (४) जलवायु, (५) श्रमिक का कम वेतन, (६) भारतीय उद्योग द्वारा प्रयोग में लाये जाने वाले कच्चे माल का घटिया प्रकार, (७) टूटी-फूटी और पुरानी मशीनें और बहुत से कारखानों में दोष पूर्ण अभिन्यास और (८) अकुशल औद्योगिक संगठन।

दुर्बल शरीर तथा बुरा स्वास्थ्य—इसमें कुछ सन्देह नहीं कि भारतीय श्रमिक का स्वास्थ्य ब्रिटिश या अमरीकी श्रमिक की अपेक्षा गिरा हुआ है। प्रश्न भारतीय श्रमिक और ब्रिटिश अथवा अमरीकी श्रमिकों के स्वास्थ्य की तुलना करना नहीं है। वास्तव में प्रश्न यह है कि भारतीय श्रमिक जो काम करता है वह उस काम के लिये उपयुक्त है या नहीं। यदि वह उस काम के लिये उपयुक्त है तो यह कहना उचित नहीं कि ब्रिटिश अथवा अमरीकी श्रमिक की अपेक्षा स्वास्थ्य अधिक खराब होने के कारण भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता अपेक्षाकृत कम है। स्वास्थ्य ठीक न रहने पर ब्रिटिश, अमरीकी प्रायः सभी श्रमिकों का उत्पादन गिर जाता है, उनकी कार्यक्षमता कम हो जाती है। इसलिये भारतीय श्रमिक की अकुशलता का कारण उसकी बीमारी या दुर्बलता नहीं हो सकते हैं।

(ii) प्रवासी प्रवृत्ति—भारतीय श्रमिक की प्रवासी प्रवृत्ति से भी उसकी अकुशलता नहीं सिद्ध की जा सकती क्योंकि जबतक श्रमिक काम करता है तबतक औद्योगिक केन्द्रों में रहता है और इस बीच वह अपनी सम्पूर्ण योग्यता के अनुकूल कार्य कर सकता है। बीच-बीच में गाँव चले जाने से एक निश्चित लाभ यह होता है कि कारखाने के काम से कुछ दिन का अवकाश ले कर कारखाने के नियमित कार्य से अलग हो जाने के कारण एक नई शक्ति प्राप्त करता है इससे पुनः कारखाने लौटने पर वह पहले की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है।

(iii) कुशलता का अभाव—इसी प्रकार यह नहीं कहा जा सकता है कि कुशलता न होने के कारण ही उसकी कार्यक्षमता कम है, क्योंकि यदि श्रमिक एक विशेष कार्य करता है तो इसका कारण ही यह है कि वह इस कार्य को अन्य कार्यों की अपेक्षा अच्छी प्रकार कर सकता है। कुशलता का अभाव तभी होता है जब कुशल टेकनीशियनों का अभाव हो परन्तु जहाँ कुशल टेकनीशियन काम करते हैं वहाँ उनकी कार्यक्षमता उतनी ही शिक्षा पाये हुए अन्य देशों के टेकनीशियनों से कम नहीं होनी चाहिये। जहाँ तक ऐसे कार्य का सम्बन्ध है जिसको करने में विशेष कुशलता की आवश्यकता नहीं होती है वहाँ कुशलता के अभाव का प्रश्न ही नहीं उठता।

(iv) कम मजदूरी—यह कहा जाता है कि पारिश्रमिक कम होने के कारण ही श्रमिक की कार्यक्षमता कम है। इसके समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि कम पारिश्रमिक होने से श्रमिक अपना और अपने परिवारका ठीक से भरण-पोषण नहीं कर पाता है। इससे उसकी कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। परन्तु यह जानना चाहिए कि इन सब बातों का कारण पारिश्रमिक कम होना नहीं है वरन् मूल्य स्तर की तुलना में पारिश्रमिक का अभाव है। यदि श्रमिक का पारिश्रमिक कम हो और जिन वस्तुओं पर वह अपना पारिश्रमिक व्यय करता है उनके मूल्य और भी कम हों तो उसे अपने परिवार का भरण-पोषण करने में कुछ कठिनाई नहीं होगी। वह अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए सभी वस्तुएँ क्रय कर सकता है। वास्तव में मुख्य समस्या यह है कि पारिश्रमिक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा कम है। इसी कारण श्रमिक अपने परिवार को पेट भर भोजन नहीं दे पाता है और उसकी अन्य आवश्यकताएँ भी पूर्ण नहीं हो पाती। इससे उसकी कार्यक्षमता की क्षति होती है। प्रश्न पर्याप्त भोजन न पाने और जीवन को सुखी बनाने के प्रसाधनों को न पाने का नहीं है। वास्तव में श्रमिक वस्तुओं के मूल्य की अपेक्षा पारिश्रमिक कम होने के कारण परिवार का ठीक तरह से प्रबन्ध भी नहीं कर पाता। इससे उसे सदैव चिन्ता लगी रहती है जिससे अंत में उसकी कार्यक्षमता

पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार एक दुष्चक्र स्थापित हो जाता है; उसकी कार्यक्षमता घट जाती है और उत्पादन कम हो जाता है। पारिश्रमिक होने से कार्यक्षमता नहीं बढ़ पाती है और जब तक कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं होती पारिश्रमिक नहीं बढ़ सकता। यही कारण है कि भारतीय श्रमिक इतने वर्षों के पश्चात् भी आज निर्धन ही बना हुआ है। यदि श्रमिक का पारिश्रमिक बढ़ जाय और इसके फलस्वरूप उसकी कार्यक्षमता में भी वृद्धि हो तो वह भविष्य में और अधिक पारिश्रमिक कमा सकता है। जहाँ तक पारिश्रमिक का सम्बन्ध है, द्वितीय महायुद्ध से श्रमकों की स्थिति में सुधार हुआ है। १९४२ से १९५२ के बीच भारतीय श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई परन्तु दुर्भाग्य से पारिश्रमिक बढ़ने के साथ-साथ वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि हुई और अनेक वस्तुओं की कीमतों में मजदूरी की अपेक्षा बहुत अधिक वृद्धि हुई। १९४२ और १९५२ के बीच मजदूरों की वास्तविक पारिश्रमिक में बहुत वृद्धि नहीं हुई। जब तक वास्तविक पारिश्रमिक में वृद्धि नहीं होती अर्थात् अपने द्राव्यिक पारिश्रमिक से वस्तुओं और सेवाओं को अधिक मात्रा में नहीं खरीद पाता श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं हो सकती और यह दुष्चक्र नहीं टूट सकता।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रमिक की मज़दूरी कम है। यद्यपि हाल में द्राव्यिक तथा वास्तविक मज़दूरी में वृद्धि हुई है किन्तु इसके साथ भारतीय श्रम की क्षमता में वैसी वृद्धि नहीं हुई है। श्रम-मंत्रालय के श्रम-कार्यालय द्वारा १९५६ में फैक्ट्री की अर्जित आय सम्बन्धी प्रकाशित विवरण से निम्न रोचक निकर्ष निकलते हैं :—

१—भारत में फैक्ट्री में काम करने वालों की कुल अर्जित आय (रेलवे वर्कशाप सम्मिलित नहीं है) १९४७ में १३७·३ करोड़ रु० थी जो १९५५ और १९५६ में बढ़कर क्रमशः २४५ करोड़ रु० २६६·५ करोड़ रु० हो गई। स्थायी उद्योगों में लगे तथा २०० रु० प्रति माह से कम पाने वाले व्यक्तियों की वार्षिक आय १९४७ में ७३७ रु० थी। १९५५ और १९५६ में बढ़कर यह क्रमशः १,१७४ रु० तथा १२१३ रु० हो गई।

२—१९४७ से १९५६ तक दस वर्षों में भारतीय उद्योगों में मजदूरों की वार्षिक आय में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। चमड़ा उद्योग में ४% तथा सीमेन्ट उद्योग में १९३% हुई है। सम्पूर्ण देश को ध्यान में रखते हुये कहा जा सकता है कि प्रति मजदूर वार्षिक आय में ६३% की वृद्धि हुई है।

३—श्रम कार्यालय द्वारा प्रकाशित आँकड़े वास्तविक आय अथवा रहन-सहन के स्तर में कोई सुधार नहीं प्रकट करते। १९४७ से १९५६ के बीच में

श्रमिक वर्ग से सम्बन्धित मूल्यों में २१% की वृद्धि हुई है तथा सामान्य मूल्य स्तर में ३१% की वृद्धि हुई है जब कि औसत द्राव्यिक मजदूरी में ६३% की वृद्धि हुई है। इससे रहन-सहन के स्तर में होने वाली वृद्धि का अनुमान लगाया जा सकता है। यद्यपि द्राव्यिक एवम् वास्तविक मजदूरी में वृद्धि हुई है किन्तु भारतीय श्रम की उत्पादकता में उस अनुपात में वृद्धि नहीं हुई है।

(v) जलवायु—श्रमिक की कार्यक्षमता में कमी होने का एक महत्वपूर्ण कारण भारत की जलवायु है। वर्ष के अधिकांश भाग में न केवल औद्योगिक श्रमिकों को वरन् सभी लोगों को आलस्य और शिथिलता घेरे रहती है। इससे कठिन परिश्रम का काम एक प्रकार से असंभव हो जाता है। ब्रिटिश तथा जापानी श्रमिक की अपेक्षाकृत अधिक कार्यक्षमता का एक कारण उन देशों की जलवायु भी है। भारत में भी विभिन्न क्षेत्रों के श्रमिकों की कार्यक्षमता में जलवायु के अनुरूप अंतर है।

(vi) भारतीय उद्योगों द्वारा घटिया माल का उपयोग—भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम होने का दूसरा महत्वपूर्ण कारण यह भी है कि भारतीय उद्योग घटिया प्रकार के कच्चे माल का उपयोग करते हैं, कारखानों में पुरानी और घिसी टूटी मशीनें हैं, मिलों के नियोजन में दोष हैं और औद्योगिक संगठन खराब है। इसका पूर्ण उत्तरदायित्व मिल-मालिकों पर है। यदि वह अच्छे प्रकार का कच्चा माल दें और कारखानों में अच्छी मशीनें लगायें तो भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता बढ़ेगी और श्रमिक के प्रति घण्टा उत्पादन की मात्रा भी पहले की अपेक्षा अधिक होगी। कारखानों में पुरानी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनों को लगा सकना वर्तमान में संभव नहीं हो सका क्योंकि (१) इसके लिए आवश्यक वित्त का अभाव है, (२) मशीनों इत्यादि और टेकनिकल सामान का उपलब्ध हो सकना कठिन है, (३) भारतीय मिल-मालिक आधुनिक मशीनों के लाभ से अपरिचित हैं और (४) कारखानों के युक्तिकरण का श्रमिकों द्वारा विरोध किया जाता है। भारतीय श्रमिक मशीनों के युक्तिकरण का और पुरानी घिसी मशीनों को बदलने का तीव्र विरोध करता है। श्रमिकों का कहना है कि इससे बेरोज़गारी होती है। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता कम है क्योंकि कारखानों की मशीनें पुरानी और घिसी-पिटी हैं इसलिए जब श्रमिक इन मशीनों को बदलने का विरोध करता है तब वास्तव में वह अपनी कार्यक्षमता में सुधार को रोकता है। युक्तिकरण के अध्याय में बताया गया है कि मशीनों के युक्तिकरण से बेरोज़गारी फैलना आवश्यक नहीं है, यदि बेरोजगारी फैलती है तो सभी लोगों की तरह श्रमिकों को भी प्रगति के लिए यह कष्ट झेलना ही पड़ेगा। यदि मशीनों

में सुधार होने से बेरोजगारी फैलती है और श्रमिकों की कुछ क्षति होती है तो दीर्घ काल में श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि होने से और अधिक पारिश्रमिक मिलने से यह हानि लाभ में बदल जाती है।

श्रमिक की कार्यक्षमता की कमी बहुत कुछ उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर करती है। कार्यक्षमता में कमी होने के सभी कारणों में प्रमुख यह है कि भारतीय श्रमिक विलास प्रिय है और उसमें अनुशासन का अभाव होता है। जब तक श्रमिक अपने उत्तरदायित्व को नहीं समझता और जब तक मिल-मालिक के और अपने हितों को समान नहीं समझता तब तक वह अपनी पूर्ण योग्यता एवम् क्षमता से कार्य नहीं करता है। उत्पादन शक्ति रखते हुए भी अपनी कार्यक्षमता में कमी बनाये रहता है। यह दुर्भाग्य की बात है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद श्रमिकों की विचार धारा में पहले की अपेक्षा और बुराई आ गई है। श्रमिकों ने कारखानों में 'काम धीरे करने' की नीति अपना ली है जिसका अर्थ यह है कि कार्य करने के लिए निर्धारित समय में श्रमिक उचित परिश्रम करने के स्थान पर कार्य अत्यन्त धीरे-धीरे करके अपना समय नष्ट करता है। श्रमिक द्वारा 'काम धीरे-धीरे करो' नीति अपनाने का एक कारण मालिकों को अपनी माँगें मानने के लिए मजबूर करना है। परन्तु इस उद्देश्य के पूरे होने के स्थान पर इसके विपरीत उत्पादन कम हो गया है और इससे उसकी स्थिति और भी बिगड़ गई है।

भारतीय श्रमिकों में अनुशासन के अभाव को गत कुछ वर्षों में (१) उत्पादन के आधार पर नहीं बल्कि केवल उपस्थिति के आधार पर मँहगाई भत्ता, बोनस इत्यादि देने से बढ़ावा मिला है। मँहगाई भत्ते को श्रमिक के रहन-सहन के व्यय में सम्मिलित कर दिया गया है। श्रमिक चाहे अपना कार्य पूर्ण करे या न करे उसे मँहगाई भत्ता मूल्य के देशनाँकों के अनुकूल अवश्य मिलता है। इस कारण श्रमिक अपने उत्पादन अथवा अपने कार्य की किंचित् मात्र भी चिन्ता नहीं करता है। यदि मँहगाई भत्ते को उत्पादन पर आधारित कर दिया जाता तो श्रमिक ऐसा नहीं करता। साथ ही निर्धारित मात्रा से अधिक उत्पादन करने पर श्रमिक का बोनस और मँहगाई भत्ता बढ़ता और उत्पादन बढ़ता; (२) इन्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट के पास होने के पहिले तक औद्योगिक झगड़ों पर समझौते और पन्चनिर्णय प्रणाली के अन्तर्गत उद्योग अथवा कारखाने के मालिक को अपने कर्मचारी को निकालने का अधिकार नहीं था, चाहे कर्मचारी अकुशल हो या काम लापरवाही से करता हुआ पाया गया हो। ऐसे मामलों में नौकरी से अलग करने का निर्णय समझौता बोर्ड, श्रम न्यायालय, या औद्योगिक न्यायालय करते

अध्याय ३१

औद्योगिक सम्बंध

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली बनाने के लिये औद्योगिक शांति का अत्यन्त महत्व है। यदि हड़तालें होती हैं, मिलों-कारखानों में तालाबन्दी की जाती है और औद्योगिक शांति भंग की जाती है तो उत्पादन घटने लगता है, उत्पादन व्यय में वृद्धि होने लगती है और आय कम हो जाने से श्रमिकों को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। बाजार में वस्तुओं की पूर्ति नियमित रूप से न होने या उनकी पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा आ जाने से उपभोक्ताओं को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। औद्योगिक क्षेत्र में अशांति होने से सम्पूर्ण देश की शांति भंग हो जाती है और इससे किसी को लाभ नहीं होता। पूँजीवादी व्यवस्था में तालाबंदी का होना आवश्यक नहीं है। यदि उचित ध्यान रखा जाय और व्यवस्था ठीक हो तो इन बाधाओं को पूरी तरह समाप्त न भी किया जा सके तो कम से कम टाला अवश्य जा सकता है।

आधुनिक प्रवृत्तियाँ—भारत के औद्योगिक क्षेत्र में शांति बनाये रखना सदैव संभव नहीं रहा है। द्वितीय विश्व युद्ध के काल में औद्योगिक झगड़ों की संख्या और इन झगड़ों के कारण नष्ट हुए कार्य के दिनों की संख्या काफी कम रही है। आँकड़ों से प्रकट होता है कि १९४३ में जब कि युद्ध अपनी चरम सीमा पर था हड़ताल एवम् तालाबन्दियों से केवल २३ लाख कार्य के दिन नष्ट हुए। १९४४ में यह संख्या बढ़कर ३४ लाख दिन और १९४५ में ४१ लाख दिन हो गई। यह संख्या फिर भी अपेक्षाकृत कम रही; इसको अत्यधिक नहीं कहा जा सकता है। युद्ध के समय औद्योगिक सम्बन्ध काफी अच्छे रहे क्योंकि (१) श्रमिक ने सरकार को लड़ाई में सहयोग देने का वचन दिया और वह यह नहीं चाहते थे कि उत्पादन में किसी प्रकार की बाधा पड़े और युद्ध का सफल संचालन कर सकने में किसी प्रकार की बाधा पड़े। (२) उस समय वस्तुओं के भाव में तथा रहन-सहन के व्यय में वृद्धि की समस्या उत्पन्न नहीं हुई थी। इसी समस्या से ही बाद में औद्योगिक झगड़े उत्पन्न हुए। १९ अगस्त १९३९ को समाप्त होनेवाले सप्ताह को आधार मानते हुए १९४१-४२ और बाद के चार वर्षों में सामान्य मूल्य के देशनांक क्रमशः १३७'०, १७१'०, २३६'५ २४४'२ और २४४'९ रहे। वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो गई थी परन्तु इसी समय वेतन में भी आंशिक वृद्धि

हो गई थी। इससे मालिक तथा कर्मचारियों के सम्बन्ध विशेष खराब नहीं हुए; (३) युद्ध के समय भारतीय प्रतिरक्षा नियम की धारा ८१-ए लागू थी जिसके अनुसार औद्योगिक झगड़ों का निपटारा करने के लिए सरकार को संकट कालीन अधिकार दिये गये थे। सरकार अशांति के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही करने को स्वतंत्र थी।

परन्तु युद्ध के समाप्त होते ही, और विशेषकर स्वतंत्रता प्राप्त होने के पश्चात् औद्योगिक झगड़ों की संख्या बढ़ी और उत्पादन में कमी आ गई। १९४६ और १९४७ में क्रमशः १ करोड़ २७ लाख और १ करोड़ ६८ लाख कार्य के दिन नष्ट हो गये जब कि १९४५ में केवल ४१ लाख कार्य के दिन नष्ट हुए। औद्योगिक झगड़ों में इतनी वृद्धि होने का कारण यह था कि (अ) स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पश्चात् श्रमिक के दिल में नई आशाएँ जगी थीं। श्रमिक अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारना चाहते थे और इसी के परिणाम स्वरूप हड़तालें हुईं। सरकार की श्रम नीति ने भी जिसका उद्देश्य श्रमिकों का पारिश्रमिक बढ़ाना और कार्य की स्थिति में सुधार करना था, इसमें काफी योगदान दिया, (ब) युद्ध काल की अपेक्षा चीजों के भाव में अधिक वृद्धि हुई। १९४५-४६ में थोक बिक्री के भाव का देशनांक २४४·६ था परन्तु १९४६-४७ में बढ़ कर २७५·४ और १९४७-४८ में ३०७ हो गया। वस्तुओं के मूल्यों में तो वृद्धि हुई परन्तु वेतन अथवा पारिश्रमिक में इसी अनुपात में वृद्धि नहीं हुई। इससे श्रमिक को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परिणामस्वरूप श्रमिकों ने वेतन अथवा पारिश्रमिक बढ़वाने के लिए हड़तालें कीं; (स) भारतीय प्रतिरक्षा नियम के लागू न रहने से श्रमिकों ने एक छूट का अनुभव किया। अब श्रमिकों की इच्छा भी युद्ध के समय की तरह कठोर परिश्रम करके उत्पादन बढ़ाने की नहीं रही थी।

स्थिति काफी गंभीर रूप धारण करती गई और १९४७ के दिसम्बर में भारत सरकार को औद्योगिक शांति समझौता कराने के लिए हस्तक्षेप करना पड़ा। इससे भारत में औद्योगिक सम्बन्ध सुधारने में काफी सहायता मिली। श्रमिक के आन्दोलन और सरकार के हस्ताक्षेप करने से पारिश्रमिक में वृद्धि हुई; मँहगाई भत्ता, बोनस और लाभांश में श्रमिकों के भाग में भी वृद्धि हुई। यह कहा गया कि द्रव्य में श्रमिक का पारिश्रमिक बढ़ने से श्रमिक का वास्तविक पारिश्रमिक नहीं बढ़ा और यदि रुपये की क्रय शक्ति की दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि श्रमिकों की स्थिति युद्ध से पूर्व के वर्षों की अपेक्षा कहीं अधिक बिगड़ गई। इस तर्क में इस बात पर ध्यान नहीं दिया गया है कि मूल्य बढ़ जाने से केवल श्रमिक को ही नहीं बल्कि सभी वर्गों की जनता को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

प्रश्न यह नहीं है कि श्रमिक को कठिनाइयों का सामना करना पड़ा या नहीं; वास्तव में विचारणीय बात यह है कि क्या श्रमिकों को समाज के अन्य लोगों की अपेक्षा अधिक कष्ट सहने पड़े? यद्यपि श्रमिकों के कुछ वर्ग ने अधिक वेतन अथवा पारिश्रमिक की माँग करते हुए आन्दोलन जारी रखा परन्तु जहाँ तक पूरे श्रमिक वर्ग का प्रश्न है वह सन्तुष्ट रहा और हड़तालों की संख्या भी घट गई। मिल मालिकों ने तालाबन्दी घोषित नहीं की क्योंकि पारिश्रमिक में वृद्धि होने के साथ ही उत्पादित माल के मूल्य में भी वृद्धि हुई और बाजार विक्रेता के अनुकूल दृढ़ होने के कारण मिल-मालिकों को अधिक हानि नहीं उठानी पड़ी। इसके साथ ही औद्योगिक झगड़े सम्बन्धी कानून के अन्तर्गत झगड़े सुलझानेवाली संस्था क्रमशः अधिक प्रभावशाली बनाई गई और समझौते तथा अनिवार्य पंचनिर्णय के द्वारा अनेक होने वाले औद्योगिक झगड़ों को जो अवश्य उत्पन्न होते रोक लिया गया। १६५० में कुल नष्ट हुए श्रम-दिनों की संख्या १२८·१ लाख हो गई परन्तु इसका कारण सर्वत्र औद्योगिक सम्बन्धों का बिगड़ना नहीं बल्कि सूती मिल उद्योग की लम्बी हड़ताल थी। कुल नष्ट हुए १२८·१ लाख दिनों में से ९३ लाख दिन अकेले सूती उद्योग में ही नष्ट हुए। औद्योगिक समझौते के पश्चात् से भारत में औद्योगिक शांति अधिक भंग नहीं हुई है और उक्त तालिका के अनुसार नष्ट हुये श्रम-दिनों की संख्या घटकर १६५१ में ३८·२ लाख, १६५२ में ३३·४ लाख, १६५३ में ३३·८ लाख और १६५४ में ३७·२ लाख हो गई। १६५६ में ६६.६ लाख श्रम-दिन नष्ट हुये। औद्योगिक झगड़ों की संख्या १,२०३ तथा उनसे सम्बन्धित श्रमिकों की संख्या ७१५,१३० थी। १६५७ में ६४ लाख श्रमदिन नष्ट हुये तथा औद्योगिक झगड़ों की संख्या २,०५६ तथा उनसे सम्बन्धित श्रमकों की संख्या १,०१८,६२५ थी। नष्ट हुये ६४ लाख श्रम-दिनों में सूती वस्त्र उद्योग में १५ लाख दिन, कोयला तथा अन्य खदान उद्योगों में लगभग १० लाख, रोपण तथा जूट उद्योग में लगभग ५ लाख श्रम दिन नष्ट हुये।

कानूनी व्यवस्था—एक जनतंत्रवादी देश में जहाँ उद्योग स्वतंत्र है अपनी माँग के अनुसार उचित वेतन अथवा पारिश्रमिक न मिलने पर श्रमिक को अन्य उपाय असफल रहने के पश्चात् अंत में हड़ताल करने का अधिकार है और यदि मालिक श्रमिकों के कार्य से सन्तुष्ट नहीं हो तो उसे भी तालाबन्दी घोषित करने का पूर्ण अधिकार है। यद्यपि जनतंत्री शासन व्यवस्था में यह अधिकार निहित हैं फिर भी बिना सार्वजनिक हित पर विचार किये इन अधिकारों का प्रयोग नहीं करना चाहिये। हड़ताल होने से या तालाबन्दी घोषित की जाने से उपभोक्ता को भी अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ती हैं। श्रमिक तथा मिल

मालिकों द्वारा क्रमशः हड़ताल और तालाबन्दी के अपने मूलभूत अधिकारों के प्रयोग के प्रति जनता और सरकार उदासीन नहीं रह सकते। उचित रीति से समझौता वार्ता चलाने और एक दूसरे की कठिनाइयों को समझते हुए औद्योगिक झगड़े को सुलझाना सदैव संभव है। औद्योगिक झगड़े सम्बन्धी कानून का उद्देश्य यह है कि झगड़ा होने पर मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच समझौता करने के लिए साधन खोजा जाय। इस कानून में विभिन्न परिस्थितियों के अनुकूल भिन्न-भिन्न साधनों की व्यवस्था की गई है और किसी भी औद्योगिक झगड़े में समझौते तथा पंचनिर्णय में जितना समय लगना चाहिए उसकी अवधि भी निश्चित कर दी गयी है। इसमें मामले पर विचार करने की पूर्ण विधि विस्तार से दी गई है। भारत तथा संसार के अनेक देशों में यह देखा गया है कि कार्य की अस्पष्ट रूपरेखा के कारण भ्रम उत्पन्न हो जाता और इससे औद्योगिक मतभेद हो जाता है। श्रम कानून का यह उद्देश्य है कि इस प्रकार के भ्रमों को उत्पन्न होने से रोका जाय और यदि भ्रम उत्पन्न हो गया है तो उसे दूर किया जाय।

१९२९ का भारतीय व्यापारिक विग्रह कानून—इस कानून में सार्वजनिक उपयोगिता की सेवाओं तथा अन्य उद्योगों के लिए पृथक व्यवस्था की गई थी। सार्वजनिक उपयोगिता सेवायें जैसे रेलवे डाक तथा तार, बिजली और जल पूर्ति विभाग के कर्मचारियों तथा भंगियों इत्यादि की हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। ये कर्मचारी मालिक को १४ दिन पूर्व नोटिस देने के पश्चात् ही हड़ताल कर सकते थे। अन्य उद्योगों में हड़ताल अथवा तालाबन्दी को घोषित किया जा सकता था परन्तु इन झगड़ों को सुलझाने के लिए एक निश्चित साधन नियुक्त किया गया था। औद्योगिक झगड़ों के सम्बन्ध में तदर्थ जाँच समिति और समझौता परिषद् नियुक्त करने की भी व्यवस्था की गई थी। जाँच समिति में एक या एक से अधिक निष्पक्ष व्यक्ति रखे जायँगे। यह समिति मामले की जाँच करने के पश्चात् अपनी रिपोर्ट नियुक्त करने वाली सरकार के सामने प्रस्तुत करेगी। समझौता परिषद् इस बात का प्रयत्न करेगी कि दोनों पक्ष साथ बैठकर अपने मतभेदों को दूर करके समझौता कर लें। समझौता न हो सकने पर मामले की रिपोर्ट सरकार के पास भेज दी जाती थी। इस कानून में अनिवार्य पंचनिर्णय की व्यवस्था नहीं की गई थी। इसके अनुसार सरकार ने केवल यही प्रयत्न किया कि दोनों पक्ष एक दूसरे के और अधिक निकट आ जाएँ और मामले तथा उस झगड़े के कारणों को जनता को बतावे जिससे समझौता करने के लिए जनता की राय का भी बल प्राप्त हो। जनहित की सुरक्षा के लिए कानून की दृष्टि में वे हड़तालें और तालाबन्दियाँ गैर कानूनी थी (क) जिनका उद्देश्य उद्योग के अन्दर

झगड़े का प्रसार करने के अतिरिक्त कुछ और भी हो या (ख) जिनका उद्देश्य जनता पर अनेक कठिनाइयाँ लादकर सरकार को विशेष कार्यवाही करने को मजबूर करना हो।

यह कानून उपयुक्त सिद्ध नहीं हुआ। औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार करने के लिए यह पर्याप्त नहीं था क्योंकि (१) समझौता अधिकारी अथवा झगड़े का शीघ्र निपटारा करने वाली अन्य संस्थाओं के स्थान पर तदर्थ सार्वजनिक जाँच को अधिक महत्त्व दिया गया और (२) स्थाई औद्योगिक न्यायालय की स्थापना के लिए कुछ व्यवस्था नहीं की गई।

बम्बई में १९३४, १९३८ और १९४६ में औद्योगिक विग्रह कानून बनाकर उक्त कानून के दोषों को कुछ सीमा तक दूर कर दिया गया। इन कानूनों के अन्तर्गत मालिकों द्वारा श्रमिक संघों को मान्यता दी जाने की व्यवस्था की गई थी। इन कानूनों में झगड़ों को सुलझाने की पूरी विधि और निश्चित अवधि दी गई थी। केवल सार्वजनिक जाँच करने की अपेक्षा समझौते और झगड़ा सुलझाने पर अधिक महत्त्व दिया गया। इस बात का विशेष ध्यान रखा गया कि कार्य की शर्तें अस्पष्ट और अनिश्चित न हों क्योंकि इससे झगड़े उत्पन्न होते हैं। इसके लिए यह व्यवस्था की गई कि समझौते की शर्तें और स्थायी सभायें लिखित और रजिस्टर्ड हों। अन्य प्रभावशाली साधनों के साथ ही स्थायी औद्योगिक न्यायालय का विकास हुआ है। पहले के कानूनों में न्याय का मानना अनिवार्य नहीं था परन्तु हड़ताल अथवा ताले-बन्दी से पूर्व सम्पूर्ण मामले शांतिपूर्ण उपाय से सुलझाने के लिए प्रस्तुत करने आवश्यक थे। परन्तु बम्बई के १९४६ के कानून में पंचनिर्णय के लिए मामला प्रस्तुत करना अनिवार्य कर दिया गया और अपील करने के लिए एक अदालत की व्यवस्था की गई। वास्तव में बम्बई ने इन कानूनों का बनाकर भविष्य में अखिल भारतीय पैमाने पर अधिक उपयुक्त कानून बनाने के लिए मार्ग दर्शाया।

भारतीय प्रतिरक्षा नियम के अन्तर्गत कार्यवाही—पहले कहा जा चुका है कि युद्ध काल में औद्योगिक झगड़ों को हल करने के लिए सरकार ने सङ्कट कालीन अधिकार प्राप्त कर लिये थे। भरतीय प्रतिरक्षा नियम की धारा ८१ (ए) के अन्तर्गत, जो जनवरी १९४२ में लागू की गयी थी, यह व्यवस्था की गई थी कि ब्रिटिश भारत की प्रतिरक्षा के लिए, सार्वजनिक सुरक्षा के लिये, शांति और व्यवस्था बनाये रखने के लिये युद्ध का कार्य ठीक प्रकार से चलाने के लिये समुदाय के जीवन के लिये आवश्यक सामान की पूर्ति जारी रखने के लिये सामान्य अथवा विशेष आदेश द्वारा केन्द्रीय सरकार तालाबन्दी तथा हड़ताल पर रोक

लगा सकती है और औद्योगिक झगड़ों को समझौते या अदालती कार्यवाही के लिये भेज सकती है और अदालत के निर्णय को लागू कर सकती है। इस कानून में यह भी व्यवस्था की गई थी कि हड़ताल अथवा तालबन्दी की पहले से सूचना दी जाय। समझौते की कार्यवाही की अवधि में हड़ताल अथवा तालेबन्दी पर रोक लगा दी गई थी। क्योंकि सरकार को अदालती निर्णय अनिवार्य रूप से लागू कर देने का अधिकार प्राप्त था इसलिये हम कह सकते हैं कि इस नियम के द्वारा पंचनिर्णय अनिवार्य कर दिया गया था।

१९४७ का औद्योगिक विग्रह कानून—फरवरी १९४७ में केन्द्रीय सरकार ने औद्योगिक विग्रह कानून स्वीकृत किया। इस कानून ने बम्बई के अनुभव का लाभ उठाकर १९२९ के औद्योगिक विग्रह कानून के कुछ दोषों को दूर कर दिया। इस कानून में कार्य समिति, समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड और जाँच-अदालत नियुक्त करने की व्यवस्था है। इनके अतिरिक्त इस कानून में अस्थायी औद्योगिक न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है जिसमें उच्च न्यायालय के न्यायाधीश होंगे। इस कानून में परस्पर समझौता करने पर अधिक महत्व दिया गया है। पहले कानून में केवल जाँच कार्य को ही महत्व दिया गया था। कार्य समितियों का कार्य परस्पर बातचीत करके मालिक तथा कर्मचारी के बीच का मतभेद दूर करने और समझौता पदाधिकारियों तथा समझौता बोर्डों का कार्य दोनों पक्षों में समझौता कराना है। परन्तु यदि यह प्रयत्न सफल न हो तो मामले को औद्योगिक न्यायालय में प्रस्तुत करने की व्यवस्था की गई है। सरकार को इन न्यायालयों का न्याय पूर्ण या आंशिक रूप में लागू करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रकार इस कानून में भी अनिवार्य पंचनिर्णय की व्यवस्था है।

१९५१ में औद्योगिक विग्रह (संशोधन) अध्यादेश जारी करके इस कानून की कुछ कमियों को दूर कर दिया गया। इस अध्यादेश के द्वारा वे औद्योगिक इकाइयाँ भी अदालती कार्यवाही के क्षेत्र में आ गई जिनमें अब तक कोई झगड़ा नहीं हुआ था परन्तु भविष्य में होने की संभावना थी। भविष्य में एक ही बात पर अन्य औद्योगिक इकाइयों में झगड़ा न होने देने के लिए यह अध्यादेश आवश्यक समझा गया। १९५० के औद्योगिक विग्रह (श्रम अपील न्यायालय) कानून से श्रम अपील न्यायालय स्थापित करने की व्यवस्था की गई है जिसमें विभिन्नों औद्योगिक पंच न्यायालयों, औद्योगिक अदालतों, वेतन परिषदों इत्यादि के फैसले पर की गई अपीलों की सुनवाई होगी। श्रम अपील न्यायालय के किसी अदालत फैसले अथवा निश्चय के विरुद्ध की गई अपीलों पर विचार करने का अधिकार है परन्तु इसकी दो शर्तें हैं : (१) फैसले अथवा निश्चय में कोई विशेष कानूनी पेंच

या (२) उसका संबन्ध वेतन, बोनस, छटनी इत्यादि से हो। विभिन्न राज्यों में द्योगिक न्यायालयों द्वारा परस्पर विरोधी फैसले दिये जाने के कारण जिससे देश औद्योगिक संबन्ध अधिक जटिल होते जाते थे श्रम अपील न्यायालय स्थापित ःने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसके साथ ही अपील करने के लिए कोई वस्था न होने के कारण यह औद्योगिक अदालतें उदार निरंकुश शासक की ह आचरण करने लगी थीं। इस प्रकार की निरंकुशता और स्वच्छन्दता जन- ी शासन प्रणाली के अनुकूल नहीं है। मूल कानून की ३३ वीं धारा में यह वस्था की गई थी कि समझौते के लिए किसी भी झगड़े के विचाराधीन होने के ाल में कोई मालिक समझौता अधिकारी, बोर्ड अथवा पंचन्यायालय की लिखित नुमति प्राप्त किये बिना न किसी कर्मचारी को दण्ड दे सकता है और न काल सकता है; साथ ही मामला प्रस्तुत होने के ठीक पहले की नौकरी की लत में वह किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं कर सकता है। इस धारा की वस्थाओं को धारा ३३ (ए) जोड़कर और बढ़ा दिया गया है। धारा ३३ (ए) में ह व्यवस्था की गई है कि यदि मालिक धारा को भंग करता है तो उससे पीड़ित र्मचारी विधिवत लिखित रूप में अपनी शिकायत उस पंच अदालत के सामने श कर सकता है जिसमें मामला विचाराधीन है। वह पंचअदालत उस शिकायत र उसी रूप में विचार करेगी जैसे वह कानून की व्यवस्था के अनुसार पंच दालत में पेश किया गया औद्योगिक झगड़ा हो। इस संशोधन के अनुसार ड़ित कर्मचारी को मामले के विचाराधीन होने के काल में नौकरी की हालत में रिवर्तन, छटनी, दण्ड इत्यादि के मामलों को सीधे पंचन्यायालय में विचारार्थ स्तुत कर सकने का अधिकार प्राप्त है। इससे पंचन्यायालय में प्रस्तुत होनेवाले ागड़ों की संख्या भी अधिक बढ़ने से बच जायगी और निर्णय भी शीघ्र हो जायगा।

श्री वी० वी० गिरि का दृष्टिकोण—भारत के श्रम-मंत्री श्री गिरि ने क्टूबर १९५२ में नैनीताल में हुए भारतीय श्रम-सम्मेलन के १२ वें अधिवेशन , फरवरी १९५३ में नई दिल्ली में हुए राज्य श्रम-मंत्री सम्मेलन में और अनेक ार्वजनिक भाषणों में बराबर इस बात पर जोर दिया है कि औद्योगिक झगड़ों ो वर्तमान व्यवस्था के अनुसार अनिवार्य पंचनिर्णय के द्वारा नहीं बल्कि परस्पर मझौता करके स्वेच्छिक पंचनिर्णय से हल करना चाहिए। इस योजना के अन्तर्गत सार्वजनिक उपयोग सेवाओं के संबन्ध में अनिवार्य पंचनिर्णय लागू हेगा परन्तु अन्य संस्थाओं या उद्योगों में समझौता अथवा स्वेच्छिक पंच- निर्णय लागू रहेगा। परन्तु संकटकाल में और केन्द्रीय सरकार से पहले विचार विमर्श कर लेने के बाद राज्य सरकारों को औद्योगिक मामला अनिवार्य पंच-

निर्णय के लिए सौंपने का अधिकार होगा। श्री गिरि का मत था कि श्रम अपील न्यायालय को समाप्त कर दिया जाय क्योंकि झगड़ों को आपस में सुलझा लेने के पश्चात् इस न्यायालय की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। श्री गिरि द्वारा सुझाई गई योजना के अन्तर्गत मालिकों तथा कर्मचारियों के बीच के सभी झगड़ों पर स्वेच्छा से समझौता करना होगा। समझौता वार्त्ता के संबन्ध में झगड़े से संबन्धित कोई भी पक्ष समझौता अधिकारी की सहायता लेने को स्वतंत्र होगा और दूसरे पक्ष को यह स्वीकार करना पड़ेगा। यदि इस प्रकार की समझौता वार्त्ता असफल हो जाती है और दोनों पक्ष मामले को पंचनिर्णय के लिए सौंपने को प्रस्तुत हों तो पंचों का निर्णय दोनों पक्षों को मानना पड़ेगा। यदि पंच परस्पर सहमत नहीं हों तो झगड़े से संबन्धित पार्टियाँ एक निर्णायक छाँट सकती हैं जिसका फैसला दोनो पक्षों को मान्य होगा। यदि दोनों पार्टियों में निर्णायक छाँटने के प्रश्न पर मतभेद हो तो वह दोनों एक राय से मामला पंच अदालत को सौंप सकते हैं। समझौते की इन विभिन्न स्थितियों के लिए अवधि निश्चित होगी। राज्य सरकारें केवल संकट काल में केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति लेकर गैर सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों के मामलों को अनिवार्य पंच-निर्णय के लिए सौंप सकती हैं। परन्तु यह अधिकार अन्य उद्योगों पर लागू नहीं होगा। गिरि-योजना के अन्तर्गत श्रमिक समितियाँ, समझौता अधिकारी, समझौता बोर्ड, औद्योगिक न्यायालय और पंच अदालत पूर्ववत् रहेंगी परन्तु श्रम अपील-न्यायालय खत्म हो जायगा।

इससे दो मुख्य प्रश्न उठते हैं: (१) क्या अनिवार्य पंचनिर्णय हो या स्वैच्छिक पंचनिर्णय और (२) क्या श्रम अपील न्यायालय रहना चाहिए या नहीं?

अनिवार्य पंचनिर्णय—यह कहा जाता है कि अनिवार्य पंचनिर्णय औद्योगिक क्षेत्र में शान्ति बनाए रखने में सहायक नहीं है। स्थायी तौर पर शान्ति तभी रह सकती है जब परस्पर और स्वैच्छिक समझौते किये जायँ। यह भी बताया गया है कि अनिवार्य पंचनिर्णय से औद्योगिक झगड़ों को प्रोत्साहन मिला है और भारत में इससे श्रमिक संघ कमजोर हो गए हैं। "श्रमिक संघ की व्यवस्था पर इससे कुठाराघात होता है। श्रमिक संघ के सदस्यों में एकता निजी स्वार्थ का ही परिणाम है। यदि श्रमिकों की समझ में यह आ जाय कि एकता के सूत्र में बँध जाने से ही उनके स्वार्थ की सिद्धि हो सकती है तो उनके संयुक्त होने के लिये अन्य किसी प्रेरणा की आवश्यकता नहीं रह जाती। अनिवार्य पंचनिर्णय उनको इस बात के लिये कोई कारण नहीं उपस्थित करता कि उनमें इस प्रकार की एकता हो"। अनिवार्य पंचनिर्णय, आर्थिक व्यवस्था को एक ऐसी कठोरता

प्रदान करता है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में बिकने वाली वस्तुओं के लिये बहुत कठिनाई उपस्थित हो जाती है।

परन्तु अनिवार्य पंचनिर्णय का समर्थन भी किया गया है। कहा गया है कि आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देश में औद्योगिक झगड़ों के कारण यदि उत्पादन रुक जाता है तो इससे राष्ट्र के हितों की हानि होने की संभावना है। उत्पादन में गिरावट रोकने के लिए और परिणामतः राष्ट्रीय आय कम न होने देने के लिए अनिवार्य पंचनिर्णय को लागू किया जाना चाहिए। पंचनिर्णय की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि (१) मालिकों तथा श्रमिकों के कुशल संगठन हों और (२) समझौते की कार्यवाही में उत्तरदायित्व समझने वाले अनुभवी नेताओं को भाग लेने दिया जाय। चूँकि भारत में श्रमिक संगठन अब भी बहुत कमजोर हैं, और समझौते तथा पंचनिर्णय के लिए निष्पक्ष व्यक्तियों का अभाव है इसलिए यह संभव है कि स्वैच्छिक पंचनिर्णय से सन्तोषजनक परिणाम न निकले।

इन सब बातों को ध्यान में रखकर हम इस परिणाम पर पहुँचते है कि यद्यपि सार्वजनिक उपयोग के उद्योगों के लिए अनिवार्य पंचनिर्णय आवश्यक है और संकट काल में भी यह लाभदायक साधन सिद्ध हो सकता है परन्तु औद्योगिक झगड़ों को सुलझाने का यह सन्तोषजनक ढंग नहीं है। इससे प्रायः औद्योगिक झगड़े उत्पन्न होते रहते हैं, श्रमिक संगठन कमजोर होते जाते हैं और देश की आर्थिक व्यवस्था कठोर होने लगती है।

परन्तु श्री गिरि का अपील न्यायालय को समाप्त कर देने का सुझाव पूर्णतया सत्य नहीं है। देश के विभिन्न भागों में समान श्रम स्थिति उत्पन्न करने में अपील न्यायालय विशेष सहायक रहा है। वेतन, बोनस, कार्य की स्थिति इत्यादि प्रश्नों पर अपील न्यायालय के फैसलों से औद्योगिक पंच अदालतों को काफी लाभ पहुँचा है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि परस्पर समझौता करके या स्वैच्छिक पंचनिर्णय द्वारा मामला तय करके ऐसी स्थिति आ सकती है कि भविष्य में अपील न्यायालय की आवश्यकता न रहे परन्तु जब तक औद्योगिक पंच-अदालत हैं तब तक देश के विभिन्न भागों में श्रम सम्बन्धी समान स्थिति लाने और विभिन्न उद्योगों में भी एकरूपता लाने के लिए अपील न्यायालयों को समाप्त न किया जाय।

१९५६ का औद्योगिक विग्रह कानून—एक बिल श्रमिकों के सम्बन्ध विषयक संसद में १९५० में रक्खा गया, पर उस पर कार्यवाही नहीं हो सकी, क्योंकि मिल मालिकों और श्रमिकों के नेताओं ने उसका बहुत विरोध किया।

१९५५ के सितम्बर में पुनर्परीक्षित रूप में एक विधेयक १९४७ के औद्योगिक विग्रह कानून का संशोधन करने के लिये लोक सभा में प्रस्तुत किया गया और १९५६ में औद्योगिक विग्रह (संशोधन तथा विभिन्न शर्तों के साथ) कानून पास किया गया। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि इस कानून में श्री गिरि के विचारों को बहुत ही सीमित मात्रा में सम्मिलित किया गया है। ऐसा लगता है कि उससे औद्योगिक झगड़ों में विस्तार होगा और समझौता कठिन होगा। इस कानून के मुख्य प्रविधान, जो कि बम्बई के १९४७ के कानून के अनुरूप हैं, निम्न हैं :—

(१) श्रमिकों की परिभाषा विस्तृत कर दी गई है, और अब औद्योगिक कर्मचारी तथा देख रेख करने वाले पदाधिकारी भी जिनका वेतन ५००) मासिक से अधिक नहीं है श्रमिकों के अन्तर्गत सम्मिलित कर लिये गये हैं। क्योंकि बहुत से इस प्रकार का कार्य करने वालों को गोपनीय और संगठन सम्बन्धी कार्य दिया गया है और वे श्रमिकों की अपेक्षा मालिकों के ही विशेष अंग हैं, इससे यह भय है कि मालिकों को नई कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा।

(२) १९५० के औद्योगिक विग्रह (अपील न्यायालय) कानून का प्रत्यानयन कर दिया गया है और श्रमिकों के अपील न्यायालय को समाप्त कर दिया गया है। इस न्यायालय के कारण देश के विभिन्न भाग में श्रमिकों की स्थिति में समानता आ गई थी और इसने अनेकों ऐसे लाभदायक सामान्य नियम बना दिये थे जिनके विखन्डन से भविष्य में गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। इससे हम केवल एक ही अच्छाई की आशा कर सकते हैं कि अपील न्यायालय के अभाव में सम्भवतः मालिकों और श्रमिकों को स्थिति की वास्तविकता पर विचार करने की प्रेरणा मिले।

(३) इस कानून के अनुसार तीन प्रकार के मौलिक न्यायालय बनेंगे। (अ) श्रम न्यायालय, (ब) औद्योगिक न्यायालय और (स) राष्ट्रीय न्यायालय। श्रम न्यायालयों को ऐसे औद्योगिक झगड़ों के निर्णय करने का अधिकार है जो मालिकों की ऐसी आज्ञाओं के सम्बन्ध में उत्पन्न हुये हैं जिनका औचित्य तथा नियमानुकूलता संदिग्ध है और जो स्थायी आज्ञाओं के अन्तर्गत हैं तथा कर्मचारियों को निकाले जाने के सम्बन्ध में और हड़ताल अथवा तालाबन्दी के सम्बन्ध में हैं। औद्योगिक न्यायालय ऐसे झगड़ों का निर्णय करेगा जो कि पारिश्रमिक, कार्य के घन्टे, बोनस, युक्तिकरण और छटनी के सम्बन्ध में हैं। राष्ट्रीय न्यायालय ऐसे झगड़ों का निर्णय करेगा जो कि सरकार के मत में ऐसे मामले हैं जिनकी राष्ट्रीय दृष्टिकोण से महत्ता है, अथवा ऐसे मामले हैं जिनका सम्बन्ध एक से अधिक

राज्यों से है। इन तीन न्यायालयों के निर्णय पर अपील करने का कोई अवसर नहीं है इसलिये इनके कर्मचारियों की नियुक्ति में उनकी योग्यता पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि राष्ट्रीय न्यायालय अपील न्यायालय का स्थानापन्न नहीं है।

(४) यह कानून स्थायी आज्ञाओं के सम्बन्ध में आपत्तिजनक परिवर्तन करता है। मालिकों को किन्हीं विशेष मामलों में कार्य करने की स्थिति के सम्बन्ध में बिना उन श्रमिकों को, जिनसे इसका सम्बन्ध है, २१ दिन पूर्व अपने विचारों की सूचना दिये परिवर्तन करने का अधिकार नहीं है। यह कानून औद्योगिक रोजगार (स्थायी आज्ञाओं) कानून का संशोधन करता है और प्रमाण पत्र देने वाले विशेष पदाधिकारी को तथा अन्य अधिकारियों को इस बात का अधिकार प्रदान करता है कि वे प्रमाण पत्र देने के पूर्व स्थायी आज्ञाओं की युक्तिसंगतता तथा न्याय पूर्णता पर विचार कर लें। पहिले केवल मालिक को ही स्थायी आज्ञाओं में परिवर्तन करने के लिये आवेदन देने का अधिकार प्राप्त था। यह कानून श्रमिकों को भी मालिकों के ही समान प्रमाण पत्र देने वाले अधिकारी को स्थायी आज्ञाओं में परिवर्तन कराने के लिये आवेदन देने का अधिकार प्रदान करता है।

(५) मालिकों के साथ एक विशेष रियायत की गई है, जिसे हम रियायत के स्थान पर यदि न्याय का प्रदर्शन कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। इसके अन्तर्गत मालिक को किसी कर्मचारी को, जब कि झगड़ा निर्णयार्थ विचाराधीन हो, इस झगड़े से असम्बद्ध किसी दुराचार के लिये निकाल देने अथवा सज़ा देने का अधिकार प्राप्त है। ऐसी स्थिति में मालिक को अभियुक्त श्रमिक को एक मास का पारिश्रमिक देना पड़ेगा और अपनी आज्ञा के लिये अधिकारियों की अनुमति लेनी होगी। इससे कारखानों में अनुशासन ठीक रहने की आशा की जाती है।

इस कानून का सबसे बड़ा दोष यह है कि सरकार को औद्योगिक निर्णयों को परिवर्तित कर देने का अधिकार दे दिया गया है। बड़ी कठिनाइयों के पश्चात् मालिकों और श्रमिकों के पारस्परिक विरोधी हितों पर समझौता हो पाता है और यदि ऐसे समझौतों को बदल देने का अधिकार सरकार को प्राप्त है तो इससे मामलों के और अधिक उलझ जाने का भय है। कानून में ऐसा प्रबन्ध है कि सरकार को परिवर्तन सम्बन्धी आज्ञाओं को संसद के समक्ष १५ दिन की अवधि तक के लिये रक्खा जाय जिसके भीतर प्रस्ताव द्वारा संसद उसे स्वीकार करे अथवा अस्वीकार कर दे, इससे स्थिति के सुधार की आशा नहीं की जा

सकती। वास्तविक बात तो यह है कि यह जानते हुये कि सरकार को अपने इच्छानुकूल निर्णय बदल देने का अधिकार प्राप्त है झगड़ा जिन पक्षों के बीच है वे अपनी बात पूरी-पूरी व्यक्त न करेंगे और जल्दी समझौता न करेंगे। कानून की अच्छी बात यह है कि अब झगड़े में पड़े हुये दोनों पक्षों को इस बात की स्वतंत्रता है कि वे किसी समझौते के निर्णय पर हस्ताक्षर कर सकते हैं। इस झगड़े को किसी पंच निर्णायक को फैसला करने के लिये सौंप सकते हैं। इस प्रबन्ध के अतिरिक्त 'यह' कानून गिरी द्वारा प्रस्तावित संयुक्त रूप से समझौता करने की योजना को कोई स्थान नहीं देता। यदि गिरी के अभिस्ताव इसमें सम्मिलित कर लिये गये होते तो श्रमिक और मालिक के हितों को बिना कोई हानि पहुँचाये ही पारस्परिक समझौते की सुविधा कुछ अधिक ही सम्भव हुई होती।

औद्योगिक अनुशासन संहिता (Code)—१९५७ में भारतीय श्रम कान्फ्रेन्स की स्थायी श्रम-समिति ने 'औद्योगिक अनुशासन संहिता' अपनाई जिसे कर्मचारियों तथा नियोक्ताओं के संघों ने भी स्वीकार किया। इससे भारत में औद्योगिक सम्बन्धों के सुधारने की आशा की जाती है। इसके अनुसार कर्मचारी तथा नियोक्ता भविष्य में होने वाले झगड़ों को पारस्परिक पत्र-व्यवहार, समझौता तथा अपनी इच्छा से बीच-बचाव करवा के हल करने के लिये बाध्य हैं। इसके अन्तर्गत श्रमिक तथा नियोक्ता 'धीरे काम करो' की चाल, तालाबन्दी, बिना नोटिस के हड़ताल, धमकी तथा अनुशासन हीनता के अन्य रूप (जो प्रायः औद्योगिक झगड़ों के कारण होते हैं) को नहीं अपनायेंगे।

मार्के की बात तो यह है कि संहिता में इन्हें लागू करने तथा इसके परिणाम आंकने की व्यवस्था भी है। १९५८ में केन्द्र में लागू करने तथा आँकने के लिये एक छोटी संस्था का निर्माण किया गया। यह संस्था विभिन्न समूहों से अंशतः या न लागू होने, निर्णय, अधिनियम तथा समझौता आदि के दोषपूर्ण ढंग से या देर से लागू होने के सम्बन्ध में विवरण एकत्र करेगी। संघ के श्रम मंत्रालय ने राज्य सरकारों से २० फरवरी १९५८ तक तथा भविष्य में प्रतिमाह की दस तारीख तक प्रश्नावलि के उत्तर के रूप में सूचना देने की प्रार्थना की थी। अच्छे औद्योगिक सम्बन्ध बनाये रखने की दिशा में यह एक प्रभावपूर्ण कदम है। अधिनियम पास करने तथा संहिता स्वीकार करना ही काफी नहीं है। भविष्य में इसके अनुसार काम होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके लागू करने तथा लागू न होने के कारणों पर कठोर दृष्टि रखी जाय।

अध्याय ३२

ट्रेड यूनियन

भारत में श्रमिक आन्दोलन बहुत पुराना नहीं है। यद्यपि २० वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में ट्रेड यूनियन थीं परन्तु उनका कार्यक्षेत्र बहुत सीमित था और वह उन कार्यों को नहीं करती थीं जिनकी एक ट्रेड यूनियन से अपेक्षा की जाती है। भारत में इनका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ और जो कुछ प्रगति हुई भी है वह अनेक कारणों से सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती। श्रमिकों में किसी समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए संगठित होने की भावना होने के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें इस प्रकार के संगठन की आवश्यकता प्रतीत हो। १८ वीं सदी में ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति हुई और उसके पश्चात् कुछ देशों में उसकी पुनरावृत्ति हुई। परन्तु भारत ने अब तक इस प्रकार की औद्योगिक क्रान्ति का अनुभव नहीं किया है। यदि औद्योगिक क्रान्ति हुई होती तो उससे श्रमिकों के संगठन की आवश्यकता उत्पन्न हो जाती और एक श्रमिक संगठन बन जाता। औद्योगिक क्रान्ति से अनेक समस्याएँ उत्पन्न हो जाती जिनकी पूर्ति के लिए श्रमिकों का संगठित होना आवश्यक हो जाता। भारत के औद्योगिक विकास से कुछ समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं परन्तु यह समस्याएँ उतनी तीव्र नहीं हैं जितनी औद्योगिक क्रान्ति होने पर होतीं।

अनेक कारणों से भारत में श्रमिक आन्दोलन का विकास नहीं हो पाया है;

(१) यह पहले कहा जा चुका है कि भारत की अधिकतर श्रमिक जनता निरक्षर है और उसका दृष्टिकोण व्यक्तिवादी है। श्रमिक भाग्य पर विश्वास करता है और यह मानता है कि स्वयं प्रयत्न करके वह अपनी स्थिति नहीं सुधार कर सकता है। इस भावना से प्रेरित होने के कारण वह अपना सम्पूर्ण कार्य भगवान के भरोसे छोड़ देता है। यदि श्रमिक शिक्षित होता तो उसे अपनी स्थिति सुधारने की आवश्यकता प्रतीत होती और उसे यह ज्ञात हो जाता कि स्वयं प्रयत्न करके वह अपनी स्थिति को बहुत सीमा तक सुधार सकता है। ऐसा अनुभव कर वह इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने अन्य श्रमिक साथियों को संगठित कर सकता था। यदि भारतीय श्रमिक भी पाश्चात्य देशों के श्रमिकों की तरह भौतिकवादी होता तो वह निरक्षर होते हुए भी संगठित हो सकता था परन्तु भारत में निरक्षरता और भाग्यवाद के कारण ही आज तक श्रमिक का प्रभावशाली संगठन नहीं हो पाया है।

श्रमिक आन्दोलन सम्बन्धी अनेक कार्यवाहियों के होते हुए भी भारतीय श्रमिक की व्यक्तिगत भावना कम नहीं हो पाई है।

(२) भारत का औद्योगिक श्रमिक केवल कारखानों पर ही निर्भर नहीं है। बीच-बीच में वह गाँव जाता रहता है और फिर काम करने कारखानों में आ जाता है। समान हितों की पूर्ति के लिए संगठित होने में उनके स्थान परिवर्तन की प्रवृत्ति सब से बड़ी बाधक रही है। इधर कुछ वर्षों से स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ है और शुद्ध औद्योगिक श्रमिक के एक वर्ग का उद्भव हो रहा है।

(३) श्रमिकों के पारिश्रमिक में वृद्धि हुई है परन्तु इसके साथ ही रहन-सहन के व्यय में भी वृद्धि हुई है। श्रमिक अतीत की तरह अब भी ट्रेड यूनियन के लिए थोड़ा सा चन्दा देने के लिए प्रस्तुत नहीं होता है। यदि उसे संगठन का लाभ मालूम होता तो ट्रेड यूनियन की सदस्यता के लिए आवश्यक चन्दा देने से वह पीछे नहीं हटता।

(४) भारत के उद्योगपति भी औद्योगिक विकास के आरम्भ काल के अन्य देशों के उद्योगपतियों की तरह ट्रेड यूनियनों का विरोध करते हैं और यह अनुभव करते हैं कि ट्रेड यूनियन उनकी प्रतिद्वन्द्वी शक्ति है। यदि उद्योगपति कुछ और विचारपूर्ण दृष्टिकोण अपनाते तो इस आन्दोलन की बहुत प्रगति हो गयी होती। इधर कुछ वर्षों से उद्योगपतियों ने औद्योगिक झगड़ों के निपटारे के लिए और उद्योग में शांति बनाये रखने के लिए ट्रेड यूनियनों का महत्व समझा है।

(५) वर्तमान में भारतीय श्रमिक संघों पर स्वयं श्रमिकों का नहीं बल्कि बाहरी लोगों का नियंत्रण है। यदि ट्रेड यूनियनों का नेतृत्व स्वयं श्रमिकों के हाथ में होता तो वह श्रमिकों के हित में ट्रेड यूनियनों का संगठन करने का महत्व समझ सकते और इससे श्रमिक आन्दोलन तेजी से बढ़ सकता था। परन्तु नेतृत्व स्वयं श्रमिकों के हाथ में नहीं है और बाहरी लोग ट्रेड यूनियनों का उपयोग अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति में करते हैं। उनकी दृष्टि में श्रमिकों की स्थिति में सुधार करना गौण विषय होता है। इसीलिए श्रमिक सोचते हैं कि ट्रेड यूनियनों का संगठन करने से विशेष लाभ नहीं है। भारतीय ट्रेड यूनियन संगठन में यह दोष होने से ट्रेड यूनियनों का कार्यक्षेत्र विकसित नहीं हो पाया है और श्रमिकों में शिक्षा-प्रसार और स्वास्थ्य संबन्धी कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी है। भारतीय ट्रेड यूनियनें अधिकतर संघर्षशील प्रवृत्ति की हैं। यह एक प्रकार से हड़ताल करने की और मालिक या सरकार के विरुद्ध आन्दोलन करने की एजेन्सी के रूप में कार्य करती हैं। इस नीति के कारण भारतीय ट्रेड यूनियनों का कार्यक्षेत्र बहुत संकीर्ण हो गया है।

१९५५-५६ में (जिस अद्यतन वर्ष के आँकड़े प्राप्त हैं) भारत में ७८४६ श्रमिक संघ थे जिनके सदस्यों की संख्या २२½ लाख थी। निम्न तालिका से यह स्पष्ट होगा कि १९५२-५३ से रजिस्टर्ड श्रम-संघ तथा उनकी सदस्य संख्या में पर्याप्त वृद्धि हुई है। संघो के इस विकास के होते हुए भी रजिस्टर किये हुये श्रमिक संघों के कुल सदस्यों की संख्या उद्योगों में काय करने वाले श्रमिकों की कुल संख्या का अंश मात्र ही है।

रजिस्टर्ड श्रम-संघ तथा उनकी सदस्य-संख्या

वर्ष	श्रमसंघ का संख्या		सदस्यों की कुल संख्या
	रजिस्टर्ड	सूचना देने वाले	
१९५०-५१	३७६६	२००२	१७,५६,९७१
१९५१-५२	४६२३	२५५६	१६,९६,३११
१९५२-५३	४९३४	२७१८	२०,९९,००३
१९५३-५४	६०२९	३२९५	२१,१२,६९५
१९५४-५५	६६४८	३११३	२१,७०,४५०
१९५५-५६	७८४६	३९११	२२,२५,११०

कानूनी व्यवस्था

ट्रेड यूनियन सम्बन्धी कानून बनाने का उद्देश्य ट्रेड यूनियन की व्याख्या करना, उसके कर्तव्यों और उत्तरदायित्व को निश्चित करना और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी उचित कार्यवाही के सम्बन्ध में उनकी रक्षा करना है। कानून यह निश्चित करता है कि उद्योगपति ट्रेड यूनियन को मान्यता देंगे और ट्रेड यूनियन सम्बन्धी उचित कार्यवाही करने पर किसी अदालत में उन पर मुकदमा नहीं चलाया जायगा। ऐसा कानून न होने पर उचित कार्यवाही भी अन्य अर्थों में अवैध घोषित की जा सकती है।

१९२६ का भारतीय ट्रेड यूनियन कानून—१९२६ के भारतीय ट्रेड यूनियन कानून में १९२८, १९४२ और १९४७ में संशोधन किया गया। भारतीय ट्रेड यूनियनें इसी कानून द्वारा संचालित होती हैं। १९२६ के कानून के अन्तर्गत ट्रेड यूनियन की यह परिभाषा दी गई है कि कोई भी संगठन चाहे अस्थायी हो या स्थायी यदि श्रमिक और उद्योगपति या मालिक और कर्मचारियों के बीच अथवा कर्मचारियों के बीच पारस्परिक उचित सम्बन्ध बनाये रखने के लिए बनाया गया

हो, या वाणिज्य-व्यापार करने पर कुछ प्रतिबन्ध लगाने के लिए बनाया गया हो या दो या दो से अधिक संघों का संगठन हो तो उसको भी ट्रेड यूनियन ही कहा जायगा। इस प्रकार ट्रेड यूनियन की श्रेणी में श्रमिकों और मालिकों दोनों के संगठन सम्मिलित कर लिये गये हैं। इसमें यह व्यवस्था की गई है कि किसी यूनियन के ७ या उससे अधिक सदस्य कानून के अन्तर्गत नियुक्त रजिस्ट्रार के पास यूनियन की रजिस्ट्री कराने के लिए आवेदन पत्र भेज सकते हैं। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि यूनियनें निर्धारित शर्तें पूरी करती हों। यह भी व्यवस्था की गई है कि रजिस्टर्ड यूनियन के पदाधिकारियों में से आधे वास्तव में उस उद्योग के कर्मचारी हों जिसके श्रमिकों की यह यूनियन हैं। इससे बाहरी व्यक्तियों को ट्रेड यूनियन संगठन में काफी स्थान मिल जाता है। यदि यूनियन के कानून सम्मत उद्देश्य को आगे बढ़ाने के लिए किये गये समझौते के सम्बन्ध में झगड़ा हो तो यह कानून यूनियन के पदाधिकारियों और सदस्यों की फौजदारी के दावे से सुरक्षा करता है। इसके साथ ही यदि मालिक श्रमिकों के झगड़े के बारे में कोई कार्य किया गया है और शिकायत केवल यह है कि इस प्रकार के कार्य से अन्य श्रमिक द्वारा काम छोड़ दिये जाने की सम्भावना है या यह व्यापार में अथवा किन्हीं लोगों की नियुक्ति में हस्तक्षेप करना है तो इस कानून की वजह से यूनियन के पदाधिकारियों और सदस्यों पर दीवानी मुकदमा भी नहीं चलाया जा सकता है।

इस कानून द्वारा रजिस्टर्ड ट्रेड यूनियन के कोष पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। इस कोष का केवल उन्हीं कार्यों में उपयोग किया जा सकता है जिनका कानून में विवरण दिया गया है परन्तु एक पृथक् कोष का निर्माण करने की अनुमति दे कर यूनियन के सदस्यों के नागरिक एवम् राजनीतिक हितों की भी रक्षा की गई है। प्रत्येक ट्रेड यूनियन को प्रतिवर्ष अपना हिसाब छपे फार्मों में भरकर रजिस्ट्रार के सामने प्रस्तुत करना पड़ता है। इसके साथ ही आय-व्यय का आडिट किया हुआ विवरण भी भेजना पड़ता है। यदि मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन के (१) अधिकतर सदस्य अनियमित हड़ताल में भाग लें, (२) यूनियन की कार्यकारिणी अनियमित हड़ताल की सलाह दे, उससे सहयोग करे या उसे भड़काए, या (३) यूनियन का अधिकारी गलत वक्तव्य प्रकाशित कराए, तो कानून के अनुसार ये कार्यवाहियाँ अनुचित समझी जायँगी और इसके लिए दण्डस्वरूप यूनियन की मान्यता वापस ले लेने की व्यवस्था की गई है। दूसरी ओर यदि उद्योगपति या मालिक (अ) अपने श्रमिकों के ट्रेड यूनियन संगठित करने के अधिकारों में हस्तक्षेप करे या पारस्परिक सहायता एवम् सुरक्षा के उद्देश्य से की जाने वाली कार्यवाही में गड़बड़ी पैदा करे, (ब) किसी ट्रेड यूनियन के

बनने या उसके प्रशासन में हस्ताक्षेप करे, (स) किसी मान्यता प्राप्त ट्रेड यूनियन के अधिकारी को ट्रेड यूनियन का अधिकारी होने के कारण नौकरी से निकाल दे या उसके साथ भेद-भाव की नीति बरते, और श्रमिकों को कानून के अन्तर्गत चलने वाली किसी जाँच इत्यादि कार्यवाही में गवाही देने पर या आरोप लगाने पर निकाल दे, या (द) मान्यता प्राप्त यूनियनों के साथ समझौता वार्ता करने से इन्कार कर दे या कानून में दी गई सुविधाओं को देने से इन्कार कर दे तो उद्योगपति अथवा मालिक की यह कार्यवाही कानून की दृष्टि में अनुचित समझी जायगी। अनुचित कार्यवाही के लिए उस पर एक हजार रुपया जुर्माना करने की व्यवस्था की गई है।

इस कानून से यद्यपि ट्रेड यूनियनों को मान्यता मिली और उनको कानूनी आधार दिया गया फिर भी इससे भारत में ट्रेड यूनियन संगठन का विकास करने का उद्देश्य पूर्ण न हो सका। इसमें अनेक दोष हैं: (१) इस कानून के अनुसार ट्रेड यूनियन केवल मजदूरों के संगठनों तक ही सीमित नहीं है, जैसा कि होना चाहिए था, परन्तु इसमें मालिकों और उद्योगपतियों के संगठन भी शामिल किये गये हैं। इससे अनावश्यक गड़बड़ी पैदा हो जाती है; (२) कानून के अनुसार ट्रेड यूनियन का रजिस्ट्रेशन करना अनिवार्य नहीं है। इस कानून में उन यूनियनों को भारतीय दण्ड विधान के अन्तर्गत फौजदारी के मुकदमे से छूट नहीं दी गई है जिनकी रजिस्ट्री नहीं हुई है, इससे ट्रेड यूनियन संगठन कमजोर पड़ जाता है; और (३) कानून के अन्तर्गत ट्रेड यूनियन के सामान्य कोष और राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए निर्मित कोष में अवैज्ञानिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। सामान्य कोष से व्यय करने के लिए अत्यन्त संकीर्ण व्यवस्था की गई है।

आचरण-संहिता (code of conduct)—यद्यपि भारत में श्रम संघों की बाहुल्यता है तथा विभिन्न संघों (federations) के सामंजस्य सहित काम करने की कोई आशा नहीं है फिर भी मई, १९५८ में नैनीताल में भारतीय-श्रम-कान्फ्रेन्स में भाग लेने वाले श्रम संगठनों के प्रतिनिधियों द्वारा अपनाये गये आचरण संहिता से आशा का संचार होता है।

इस संहिता के अनुसार "(i) किसी उद्योग अथवा इकाई के कर्मचारी को अपनी इच्छा की यूनियन का सदस्य बनने की स्वतन्त्रता होगी। इस संबंध में कोई दबाव नहीं डाला जायगा। (ii) यूनियन की दोहरी सदस्यता नहीं होगी। प्रतिनिधि-यूनियनों के सम्बन्ध में यह तय किया गया कि उपर्युक्त नियम को और परीक्षा की जाय। (iii) श्रम-संघों के प्रजातंत्रीय ढंग पर कार्य करने को स्वीकार

किया जाय तथा आदर की दृष्टि से देखा जाय। (iv) ट्रेड यूनियन के पदाधिकारियों तथा प्रशासकीय निकायों के चुनाव नियमित तथा प्रजातंत्रीय ढंग पर होने चाहिये। (v) श्रमिकों की अज्ञानता और पिछड़ेपन का कोई संगठन फायदा नहीं उठायेगा। कोई संगठन अनावश्यक माँगे नहीं पेश करेगा। (vi) हर एक संघ जातीयता व प्रान्तीयता से दूर रहेगा। तथा (vii) श्रम संघों के बीच कोई हिंसा, दबाव, धमकी तथा व्यक्तिगत बदनामी आदि नहीं होगी।" यह सब बड़े ही अच्छे प्रस्ताव हैं किन्तु इनकी सफलता इस पर निर्भर करेगी कि ट्रेड-यूनियन उन्हें कहाँ तक अपनाती हैं।

श्रम संघों को मान्यता प्रदान करने के सम्बन्ध में अभी तक कोई केन्द्रीय अधिनियम नहीं है। भारतीय-श्रम-कान्फ्रेन्स ने ट्रेड यूनियन के मान्यता देने के सम्बन्ध में निम्न कसौटियाँ प्रस्तावित की। "(i) जहाँ एक से अधिक यूनियन हो वहाँ मान्यता प्राप्त करने वाली यूनियन रजिस्ट्री के बाद कम से कम एक वर्ष तक काम करती रही हो किन्तु जहाँ एक ही यूनियन हो वहीं यह शर्त लागू नहीं होगी। (ii) संस्थान के कम से कम १५% श्रमिक उसके सदस्य हों। (iii) किसी स्थानीय क्षेत्र में एक यूनियन को किसी उद्योग का प्रतिनिधि यूनियन माना जा सकता है बशर्ते कि क्षेत्र में उद्योग के २५% श्रमिक उसके सदस्य हों। (iv) यूनियन को मान्यता मिलने पर, दो वर्ष तक स्थिति में कोई सुधार नहीं होना चाहिये। (v) जब किसी उद्योग अथवा संस्थान में अनेक यूनियन हों तो सबसे अधिक सदस्य-संख्या वाली यूनियन को मान्यता देनी चाहिये। (vi) किसी क्षेत्र में किसी उद्योग की प्रतिनिधि यूनियन को देश भर के संस्थानों के श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने का अधिकार है। किन्तु यदि किसी संस्थान के श्रमिकों की यूनियन में उसके ५०% श्रमिक सदस्य है तो उसे केवल स्थानीय हित के मामलों पर कार्यवाही करने का अधिकार होना चाहिये। (vii) प्रतिनिधित्व का रूप निर्णय करने के लिये छानबीन करने के ढंग को और अधिक पर्याप्त कर देना चाहिये। जब इस सम्बन्ध में वैभागिक छान-बीन के परिणाम दलों को मान्य न हों तो केन्द्रीय श्रम संघ के प्रतिनिधियों से निर्मित एक समिति को इस प्रश्न की जाँच कर इसे हल करना चाहिये। इस कार्य के लिये केन्द्रीय श्रम संगठन विभिन्न भागों के लिये आवश्यक धन और व्यक्ति प्रस्तुत करेंगे। यदि इससे काम नहीं होता तो प्रश्न का निर्णय न्यायालय के सुपुर्द कर देना चाहिये। (viii) सिर्फ वे यूनियन मान्यता पा सकेंगी जो औद्योगिक अनुशासन संहिता को मानेंगी। (ix) उन श्रम-संघों के सम्बन्ध में जो श्रम के चार केन्द्रीय संगठनों से सम्बन्धित नहीं है, इस प्रकार अलग से विचार करना चाहिये।" यह कसौटियाँ

विस्तृत तथा सुविचारित हैं। यदि इनका अनुसरण किया गया तो ट्रेड यूनियनों की नींव दृढ़ हो जायँगी। प्राप्त अनुभव के आधार पर वे इस विषय पर अधिनियम बनाने का आधार भी बन सकती हैं।

भविष्य की योजना—वर्तमान में भारतीय श्रमिक आन्दोलन में कुछ आधारभूत दोष हैं और स्थिति सुधारने के लिए इन दोषों को दूर करना बहुत आवश्यक है। इस समय एक ही उद्योग में एक ही क्षेत्र से अनेक ट्रेड यूनियनें हैं। बहुत अधिक ट्रेड यूनियन होने से श्रमिक का पक्ष कमजोर पड़ जाता है और श्रमिक के अधिकारों की रक्षा में भी बाधायें आ जाती हैं। इसलिए ट्रेड यूनियनों के संगठन को संगठित करने और इनको एकता के सूत्र में बाँधने की अत्यन्त आवश्यकता है। यह आवश्यक है कि एक क्षेत्र में स्थित किसी मुख्य उद्योग में श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए केवल एक से अधिक ट्रेड यूनियन न हो। यदि एक क्षेत्र के विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले सभी श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करने के लिए एक ट्रेड यूनियन होती तो सर्वोत्तम होता। परन्तु यह संभव नहीं है क्योंकि कभी-कभी विभिन्न उद्योगों में कार्य करने वाले श्रमिकों की समस्याएँ भिन्न होती हैं। साथ ही विभिन्न उद्योगों में काम करने वाले श्रमिक एकता के सूत्र में नहीं बँध पाते हैं जब कि ट्रेड यूनियन आन्दोलन की सफलता इनकी एकात्मकता पर निर्भर करती है। भारत के ट्रेड यूनियन संगठन में दूसरा बड़ा दोष यह है कि यह अपनी सम्पूर्ण शक्ति प्रायः हड़ताल में और मालिकों से सामूहिक माँगें करने में लगा देते हैं। बहुत कम ऐसी यूनियनें हैं जिन्होंने अपने कार्यक्षेत्र को व्यापक बनाया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि सामूहिक रूप से माँग करना और हड़ताल करना ट्रेड यूनियनों का महत्वपूर्ण कार्य है परन्तु इसके साथ ही अन्य कार्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। भारत में ट्रेड यूनियन का कार्यक्रम और विस्तृत करने की आवश्यकता है। इसमें वयस्कों की शिक्षा, सहकारी-आन्दोलन का संगठन, जनसेवा कार्य इत्यादि भी सम्मिलित किये जाने चाहिये। इससे ट्रेड यूनियनों की उपयोगिता बढ़ जायगी।

ट्रेड यूनियन आन्दोलन का एक बहुत बड़ा दोष केन्द्रीय संगठनों का बाहुल्य है। कुल १५३१ यूनियनों में से आई० एन० टी० यू० सी, ए० आई० टी० यू० सी० हिन्द मजदूर सभा और यूनाइटेड टी० यू० सी० से संयोजित यूनियनों की संख्या क्रमशः ६१७, ५५८, ११६, और २३७ और उनके सदस्यों की संख्या क्रमशः ६·७२ लाख, ४·२३ लाख, २·०४ लाख, और १·५६ लाख १६५६ के अन्त में थी। इन केन्द्रीय संगठनों को एक शक्तिशाली संस्था में संगठित करना सम्भव है। इसमें संदेह नहीं कि इन केन्द्रीय संगठनों के राजनीतिक

उद्देश्यों में बहुत अधिक अंतर है परन्तु जहाँ तक श्रमिकों की स्थिति में सुधार करने और श्रमिकों के वास्तविक हितों की रक्षा करने का प्रश्न है इनका आधार-भूत आर्थिक कार्यक्रम समान है। यदि यह केन्द्रीय संगठन एक में मिल जाँय तो श्रमिक के हितों की वर्तमान की अपेक्षा कहीं अच्छे रूप में रक्षा की जा सकती है। यदि इन संगठनों को आरंभ में पूर्णतया एक में मिला देना संभव न हो तो कम से कम समान हितों की कुछ समस्याओं को हल करने के लिए इनमें परस्पर सहयोग तो हो ही सकता है। इससे स्थिति में सुधार होगा और भविष्य में इन संगठनों का एकीकरण करने के लिए मार्ग खुल जायगा।

अध्याय ३४

रेल यातायात

भारतीय रेलों ने उल्लेखनीय प्रगति की है। १८५३ में भारतीय रेलवे लाइन की लम्बाई केवल २० मील थी, १६०० में यह २४,७५२ मील हुई और १९५१-५२ में इसका प्रसार ३४,११६ मील और १९५६-५७ में ३४,७४४ मील हो गया, जिसमें ३४,२६१ मील सरकारी प्रबन्ध के अन्तर्गत था। १९०० में भारतीय रेलों से १७ करोड़ ५० लाख यात्रियों ने यात्रा की, ४ करोड़ ३० लाख टन सामान ढोया गया। १९५६-५७ में यात्रियों की संख्या १३८ करोड़ ३० लाख और ढोये जाने वाले माल की मात्रा १२ करोड़ ५० लाख टन हो गई। १६ अप्रैल १९५३ को भारतीय रेलों ने अपनी उपयोगी सेवाओं के १०० वर्ष पूरे किये। ठीक १०० वर्ष पूर्व १६ अप्रैल १८५३ को प्रथम भारतीय रेल ने बम्बई शहर से थाने तक २१३/४ मील की दूरी तय की थी। यद्यपि रेलवे संगठन में कुछ त्रुटियाँ हैं और कुछ दोष भी हैं परन्तु फिर भी जिस गति से उसने प्रगति की है उस पर भारतीय रेलवे गर्व कर सकती है।

मुख्य विशेषताएँ—भारतीय रेलवे के विकास में कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। (१) भारत में रेल का कार्य निजी उद्योग के रूप में प्रारम्भ किया गया। रेल-उद्योग करने वालों को सरकार ने कुछ सुविधाएँ दीं जैसे इन्हें भूमि मुफ्त दी गई और पूँजी की वसूली की गारन्टी दी गई। इससे रेलवे निर्माण के व्यय में वृद्धि हुई और सारे देश को इसका भार वहन करना पड़ा। ऐसे समय में जब रेलों का निर्माण करने के लिए उद्योगपति पूँजी लगाने को प्रस्तुत नहीं थे यह सुविधायें देना संभवतः अत्यन्त आवश्यक था परन्तु यदि इस ओर किंचित् सावधानी से कार्य लिया जाता तो इनको काफी कम भी किया जा सकता था। रेलों का प्रबन्ध निजी उद्योगपतियों के हाथ में होने से इसकी काफी आलोचना की गई है। आलोचकों ने प्रबन्धकों द्वारा पक्षपात किये जाने और कच्चे माल के निर्यात तथा तैयार माल के आयात के भाड़े में रियायतें देने की शिकायतें कीं, क्योंकि बन्दरगाहों से देश के अन्दर सामान लाने और बन्दरगाहों तक सामान पहुँचाने के लिए रेल के भाड़े की दर अन्य दरों की अपेक्षा कम रखी गई थी। एकवर्थ समिति (Acworth Committee) ने सुझाव दिया कि राष्ट्रीय हित में रेल के निजी उद्योग को क्रमशः राज्य को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। इस दिशा में १९२५ में प्रथम प्रयास किया गया। सरकार ने ईस्ट इण्डिया और जी. आई. पी. रेलवे

को अपने अधिकार में ले लिया परन्तु इस प्रक्रिया को पूरा होने में २० वर्ष लगे और जहाँ तक ब्रिटिश भारत का सम्बन्ध है १९४४ में निजी उद्योग समाप्त कर राज्य ने इसको पूर्णतया अपने अधिकार में ले लिया। १९५० में संघीय वित्तीय एकीकरण के पश्चात् भूतपूर्व रियासतों की रेलों को भी भारत-सरकार ने अपने हाथ में ले लिया और अब रेलवे एकमात्र राजकीय उद्योग बन चुका है।

रेल उद्योग निजी उद्योगपतियों के हाथ में होने की अपेक्षा सरकार के हाथ में होने से अनेक लाभ हैं—(अ) इससे साधनों की अनावश्यक हानि और विभिन्न रेलवे-प्रबन्धों में प्रतियोगिता समाप्त हो जाती है। (ब) राजकीय उद्योग होने के कारण देश के औद्योगिक और कृषि साधनों के विकास के महत्व को दृष्टि में रखते हुए रेल के भाड़े की उचित दर निश्चित की जा सकती है और (स) इस उद्योग से जो लाभ होगा वह केन्द्रीय धन कोष में जमा हो सकता है।

(२) दो विश्वयुद्धों के कारण, १९३० की आर्थिक मंदी और १९४७ में देश के विभाजन से रेलों पर बहुत भार पड़ा है और उसका परस्पर सम्बन्ध भी विच्छिन्न हो गया। युद्ध के कारण रेलों की कार्यक्षमता पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया, पुराने कल-पुर्जों इत्यादि को नहीं बदला गया और नई मशीनें लगाने की योजना स्थगित कर दी गई। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय ८ प्रतिशत मीटर-गेज के इञ्जन, १५ प्रतिशत मीटर-गेज के वैगन, ४ हजार मील लम्बी पटरियाँ और ४० लाख स्लिपर भारतीय रेलों से लेकर मध्यपूर्वी देशों को भेजे गये। युद्ध के समय रेलों के सामान का और पटरियों का अत्यधिक उपयोग किया गया, उनको न बदला जा सका और न नया सामान लगाया जा सका। इससे रेलों की कार्यक्षमता घट गई। देश का विभाजन हो जाने से रेलों का कुछ सामान पाकिस्तान के भाग में चला गया और शरणार्थियों को लाने-पहुँचाने के कार्य में रेलों पर और अधिक भार पड़ा। गत कुछ वर्षों में रेलों पर आवश्यकता से अधिक भार कुछ कम किया गया है, पुराने सामान को बदला गया है और सामान की मात्रा बढ़ाई गई है परन्तु इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है।

(३) अतीत में इञ्जनों, बायलरों, डिब्बों इत्यादि के लिए भारतीय रेलों को आयात पर निर्भर करना पड़ता था। इससे देश का बहुत-सा धन विदेश चला जाता था और देश को विदेशी विनिमय साधनों को गम्भीर क्षति होती थी। परन्तु इधर कुछ वर्षों से स्थिति में सुधार हुआ है और अब देश में ही इञ्जन, डिब्बे इत्यादि बनने लगे हैं। भारतीय कारखानों में डिब्बों का उत्पादन बढ़ रहा है और रेलवे की आवश्यकता की अधिकाधिक पूर्ति की जा रही है। चित्तरञ्जन के इञ्जन बनाने के कारखाने में इञ्जन के लगभग ७० प्रतिशत कल पुर्जों

का उत्पादन किया जाता है और केवल ३० प्रतिशत का आयात करना पड़ता है।

(४) भारत में अनेक रेलें थीं परन्तु पुनर्वर्गी-करण योजना लागू करके इनको ७ क्षेत्रों में संगठित किया गया है। एकीकरण से पहिले भारत में ३५ रेलवे थीं जिनमें से २२ सरकार के अधिकार मे थीं। रेलवे बोर्ड की जाँच करने के लिये नियुक्त समिति (१६५०) की सिफारिश पर भारत सरकार ने भारतीय रेलों को ६ क्षेत्रों में संगठित करने का सिद्धान्त स्वीकार कर लिया। दक्षिणी रेलवे का १४ अप्रैल १६५१, पश्चिमी और केन्द्रीय रेलवे का ५ नवम्बर १६५१ को और शेष तीन उत्तरी, उत्तरी पूर्वोत्तर और पूर्वी रेलवे का १४ अप्रैल १६५२ को उद्घाटन हुआ। पहली अगस्त १६५५ से सातवें क्षेत्र का निर्माण पूर्वी रेलवे को दो क्षेत्रों में विभाजित करके किया गया : (१) पूर्वी रेलवे जिसमें पुरानी ई० आई० आर० का मुगलसराय तक का भाग (सियालदह डिविजन को लेकर) सम्मिलित थी, और (२) दक्षिणी पूर्वी रेलवे जिसमें सम्पूर्ण बी० एन० आर० सम्मिलित थी। इस प्रकार भारतीय रेलवे को निम्न सात क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया।

(१) दक्षिणी रेलवे—इसमें एम० एन्ड एस० एम०, एस० आई० और मैसूर राज्य रेलवे सम्मिलित है।

(२) पश्चिमी रेलवे—इसमें भूतपूर्व बी० बी० सी० आई०, सौराष्ट्र, राजस्थान तथा जैपुर रेलवे और जोधपुर रेलवे का कुछ भाग सम्मिलित कर दिया गया है।

(३) केन्द्रीय रेलवे—इसमें जी० आई० पी०, एन० एस०, सिन्धिया राज्य और धौलपुर राज्य रेलवे सम्मिलित है।

(४) उत्तरी रेलवे—इसमें ई० पी०, जोधपुर और बीकानेर रेलवे, ई० आई० आर० के इलाहाबाद, लखनऊ और मुरादाबाद डिवीजन और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे का दिल्ली रेवारी-फजिल्का क्षेत्र सम्मिलित है।

(५) दक्षिणी पूर्वी रेलवे—इसमें बी० एन० आर० शामिल है।

(६) उत्तरी पूर्वी रेलवे—इसमें ओ० टी० एन्ड आसाम रेलवे, ई० आई० आर० का कुछ भाग और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे का फतेहगढ़ क्षेत्र है।

(७) पूर्वी रेलवे—इसमें पुरानी ई० आई० का मुगलसराय तक का भाग और सियालदह डिवीजन सम्मिलित है।

७ क्षेत्रों का वर्गीकरण इस प्रकार हुआ है कि जिसमें विभिन्न क्षेत्रों का कार्य कम व्यय के साथ चलाया जा सके और विभिन्न क्षेत्रों में यातायात की

उचित सुविधा प्राप्त हो। विभिन्न क्षेत्रों के रेल पथों का विस्तार २३३१ मील से लगाकर (जो कि पूर्वी रेलवे का है) ६३३६ मील तक है। (जो कि उत्तरी रेलवे का है) इस बात का ध्यान रखा गया है कि कर्मचारियों और अन्य सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान पर कम से कम हटाना पड़े और केवल ईस्ट इंडिया और बी० बी० एन्ड सी० आई० रेलवे को छोड़कर जहाँ तक सम्भव है वर्तमान रेलवे व्यवस्था को बिना छिन्न भिन्न किए एक या दूसरे भाग में सम्मिलित कर लिया जाए।

रेलवे के पुनर्वर्गीकरण योजना की आलोचना की गई है। कहा गया है कि (अ) पुनर्वर्गीकरण से एक रेलवे के कर्मचारियों को दूसरी रेलवे में परिवर्तित किया गया, उनमें अनेक को नौकरी से अलग कर दिया गया, (ब) इससे कम से कम दो रेलवे—ईस्ट इन्डियन और बी० बी० एन्ड० सी० आई० रेलवे—तोड़ी गई जिससे अनेक जटिल समस्याएँ उत्पन्न हो गई, और (स) इससे भारतीय व्यापार एवम् उद्योग को अनेक कठिनाइयाँ हुई हैं। रेलवे के पुनर्वर्गीकरण जैसे बड़े परिवर्तन में थोड़ा-बहुत सम्बन्ध विच्छेद होना और कुछ कर्मचारियों को नौकरी से अलग कर दिया जाना अनिवार्य था। उससे बचा नहीं जा सकता था। परन्तु इतने से ही पुनर्वर्गीकरण की योजना अवांछनीय और अनुपयुक्त सिद्ध नहीं होती क्योंकि इस योजना के लागू हो जाने से जो लाभ होंगे वह इससे होनेवाली हानियों की अपेक्षा कहीं अधिक हैं। यह भी कोई तर्क नहीं, जैसा कि कुछ समितियों ने सुझाव दिया था, कि यह योजना पाँच वर्ष बाद लागू की जाय और सरकार को इस समय इसे स्थगित कर देना चाहिए था। यदि पुनर्वर्गीकरण की नीति स्वीकार कर ली गई है तो इसे जितना शीघ्र लागू किया जाय उतना ही अच्छा है। इस योजना के लागू करने से तीन निश्चित लाभ हैं:—(क) इससे वह सभी लाभ प्राप्त हो सकेंगे जो प्रबन्ध व्यवस्था बड़े पैमाने पर संगठित करने से होते हैं। (ख) इससे एक ही काम अनेक बार करने से छुटकारा मिल जायगा और हानिकारक प्रतियोगिता भी नहीं हो सकेगी और (ग) इससे रेलवे की आर्थिक स्थिति दृढ़ होगी और कार्य के स्तर में सुधार किया जा सकेगा। इस व्यवस्था के पश्चात् रेल के भाड़े और किराये की दर, यात्रियों की सुविधाओं, मजदूरों के वेतन और सुविधाओं इत्यादि के सम्बन्ध में सारे देश में समान नीति लागू की जा सकेगी। यह कोई छोटी सफलता नहीं।

(५) भारतीय रेलवे की कार्यक्षमता अभी भी बहुत नीचे स्तर की है। युद्ध आरंभ होने के पूर्व की कार्यक्षमता के स्तर तक भी अभी भारतीय रेलवे नहीं पहुँच सकी है। इस बात का प्रमाण माल के डिब्बों का चक्कर लगाकर अपने

स्थान पर पहुंचने में दस अथवा ग्यारह दिन के समय का लगना है जब कि युद्ध के पूर्व केवल नौ दिन लगते थे। रेल के सामान के अभाव के अतिरिक्त कार्य प्रबन्ध में देर लगना भी माल के एक स्थान से दूसरे स्थान तक देर से पहुँचने का प्रधान कारण है। समय की पाबन्दी तथा माल के डिब्बों के प्रयोग सूचक अंक बहुत नीचे स्तर पर हैं। छोटी लाइन की स्थिति और भी बिगड़ी हुई है।

भारतीय रेलवे में कोयले का व्यय भी बहुत अधिक है। वर्तमान समय में १०५ लाख टन कोयला ३०½ करोड़ रुपये की लागत का प्रयोग में आता है। रेलवे फ्यूल जाँच कमेटी ने विभिन्न उपायों द्वारा २०% बचत करने का सुझाव दिया था। यदि यह सम्भव हो सका तो रेलवे को प्रति वर्ष ६ करोड़ रुपये की बचत अगले पाँच वर्षों में सम्भव हो सकेगी। इसके अतिरिक्त अन्य मितव्ययिता के उपायों की पूरी जाँच होनी चाहिए और इनका प्रयोग होना चाहिये जिसमें रेलवे का व्यय कम हो जाय तथा आय में वृद्धि हो जायगी।

रेलवे की वित्त व्यवस्था—एकवर्थ समिति के सुझाव पर १९२४ में रेलवे की वित्त व्यवस्था केन्द्रीय सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से भिन्न कर दी गई। १९२४ के पृथक्करण समझौते में यह व्यवस्था की गई थी कि रेलवे में लगी हुई पूँजी पर ब्याज के साथ ही व्यवसाय में लगी पूँजी का एक प्रतिशत, अतिरिक्त लाभांश का ⅕ भाग और रेलवे के सुरक्षित कोष में ३ करोड़ रुपया जमा कर देने के बाद बचे अत्यधिक अतिरिक्त लाभांश का ⅓ भाग राजस्व के नाम में जमा करेगी। महत्वपूर्ण रेलों की हानि का भार केन्द्रीय सरकार वहन करेगी। रेलवे के सुरक्षित कोष में से सामान्य राजस्व दिया जायगा और यदि आवश्यकता पड़ी तो टूट-फूट के लिये पूँजी और रेलवे की आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने के लिए भी इसमें से धन लिया जायगा। रेलवे के सामान को बदलने और नया सामान मँगाने के लिए १ अप्रैल १९२४ से टूट-फूट के लिए एक भिन्न सुरक्षित कोष बनाया गया है। केन्द्रीय सरकार की सामान्य वित्त व्यवस्था से रेलवे की वित्त व्यवस्था को भिन्न करने के दो लाभ हुये हैं: (अ) अतीत में सामान्य वित्त की कठिनाइयों और अनिश्चितता पर ही रेलवे का भविष्य निर्भर करता था। इस कारण वह पहले से ही अपने विकास की योजना निर्माण नहीं कर पाते थे। अनुमान है कि पृथक्करण समझौते के अनुसार वित्त व्यवस्था पृथक् कर देने से रेलवे की स्थिति अधिक सुरक्षित हो जायगी और इसके प्रसार करने के लिये तथा इसमें सुधार करने के लिए निश्चित धन राशि प्राप्त हो जायगी। (ब) अतीत में यह निश्चित नहीं था कि केन्द्रीय राजस्व को रेलवे से कितनी आय

होगी परन्तु पृथक्करण समझौते के अनुसार इसके अन्तर्गत धन राशि निश्चित कर दी गई है।

पृथक्करण समझौते में संशोधन किया गया जो १ अप्रैल, १९५० से लागू हुआ। इस संशोधन के अनुसार (१) जनता को रेलवे का हिस्सेदार माना गया है और जो ऋण ली गई पूँजी रेलवे में लगाई गई है उस पर सरकार को (अर्थात् जनता को) ४ प्रतिशत का निश्चित रूप से लाभ मिलेगा। यह धन रेलवे की आय में से केन्द्रीय सरकार को दिया जाता है। पहले १९२४ के समझौते के अनुसार सामान्य राजस्व में दी जाने वाली धन राशि की कोई निश्चित निर्धारित मात्रा नहीं थी पर इस संशोधन से यह निश्चित कर दिया गया कि रेलवे में जो कुछ पूँजी लगी है उसका एक निर्धारित प्रतिशत सामान्य राजस्व में दिया जायगा। (२) समझौते में रेलवे विकास कोष स्थापित करने की व्यवस्था की गई है। इस कोष से (अ) नई रेलवे लाइनों का निर्माण करने में वित्तीय सहायता दी जायगी। इन नई लाइनों से आय होना आवश्यक नहीं है, (ब) यात्रियों की सुविधा के लिए व्यय किया जायगा और (स) श्रम कल्याण कार्य इत्यादि में व्यय किया जायगा। (३) समझौते के संशोधन के अनुसार प्रथम पाँच वर्षों में रेलवे के टूट-फूट कोष में कम से कम १५ करोड़ रुपया संग्रह किया जाना चाहिए और शेष अतिरिक्त आय से एक ऐसे कोष का निर्माण किया जाना चाहिए जिससे आर्थिक सन्तुलन रखा जाय। रेलवे का सामान अधिक महँगा होने के कारण १९५० के पृथक्करण समझौते के पश्चात् से टूट-फूट के कोष में ३० करोड़ रुपये की नियत धनराशि संग्रह कर दी गई है।

पुराने समझौते में सामान्य राजस्व के अन्तर्गत जमा की जानेवाली धन-राशि निश्चित नहीं थी परन्तु नये समझौते में यह रकम निश्चित कर दी गई है। इससे रेलवे का योजनाबद्ध विकास किया जा सकता है, सुरक्षित कोष का निर्माण किया जा सकता है और पुनर्वास तथा प्रसार का कार्यक्रम कार्यान्वित किया जा सकता है। टूट-फूट के कोष में प्रति वर्ष जमा की जाने वाली धनराशि में इस आधार पर वृद्धि कर दी गई है कि कल पुर्जों, मशीन, इञ्जन इत्यादि बदलने के व्यय का मूल व्यय से और उपयोग में लाई जाने वाली सम्पत्ति के जीवन काल से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब तक इन्हीं दो आधारों पर टूट-फूट के कोष में योगदान निर्धारित किया जाता था। नये समझौते के अनुसार व्यय का भार बढ़ाने का उद्देश्य रेलवे को अत्यधिक पूँजी संग्रह करने से रोकना है। विकास कोष की स्थापना के समय यह बात मान ली गई है कि भविष्य में रेलवे का विकास केवल व्यवसायिक दृष्टिकोण से सीमित नहीं रखा जा सकता है। देश के आर्थिक विकास

में रेलवे को जिसका राष्ट्रीकरण किया जा चुका है एक महत्वपूर्ण और निश्चित योगदान देना है।

स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् रेलवे की वित्तीय स्थिति में निरन्तर सुधार हुआ है। वास्तविक आय जो कि १९४८-४९ में ४२·३४ करोड़ रुपये थी १९५१-५२ में बढ़कर ६१·७५ करोड़ रुपया हो गई है और १९५८-५९ के वजट के अनुसार ७६·९२ करोड़ रुपया अनुमान किया गया है। १९५१-५२ में सामान्य आय के प्रति ३३·४१ करोड़ रुपया दिया गया था और १९५८-५९ में ४९·५८ करोड़ रुपयों के दिये जाने का अनुमान किया गया है जब कि १९४८-४९ में केवल ७·३४ करोड़ रुपये ही दिये गये थे। इतने पर भी रेलवे की अतिरिक्त आय जो कि १९४८-४९ में १९·९८ करोड़ रुपये थी १९५१-५२ में बढ़कर २८·३४ करोड़ रुपये और १९५८-५९ के बजट अनुमान के अनुसार २७·३४ करोड़ रुपये मानी गई हैं। यह सारी रकम विकास कोष में जमा कर दी गई है जब कि १९४८-४९ में केवल १० करोड़ रुपये ही इस कोष में जमा किये गये थे। रेलवे की वित्त स्थिति में इस सुधार का कारण यह है कि (१) यात्रियों की संख्या में और माल के यातायात में वृद्धि हुई है और (२) रेलवे के किराये तथा भाड़े में भी वृद्धि हुई है। देश के औद्योगिक विकास में वृद्धि होने से और आर्थिक कारोबार बढ़ाने से रेलों द्वारा यातायात भी बढ़ा है। वास्तव में रेलें बढ़ते यातायात की माँग पूरी कर सकने में असमर्थ रहीं हैं, यातायात बढ़ने के साथ ही रेल का किराया भी बढ़ा है। १९४८-४९ में रेलवे को यात्रियों से ८४ करोड़ रुपयों और १९५१-५२ में १०९·८८ करोड़ रुपयों की आय हुई। १९५८-५९ के बजट में लगाये हुए अनुमान के अनुसार यह आय १२४.७३ करोड़ रु० होगी। इसी प्रकार माल होने से आय जो कि १९४८-४९ में १०८-२९ करोड़ रुपये थी, १९५१-५२ में बढ़कर १५६·७९ करोड़ रुपये हो गई और १९५८-५९ में अनुमान है कि २५०·५० करोड़ रुपये हो जायगी।

रेल से यातायात कम होने का वास्तविक कारण १९५१-५२ और १९५५-५६ के बीच यह था कि १९४८ से रेल के किराये में और भाड़े में अत्यधिक वृद्धि हुई है। युद्ध के तुरन्त पश्चात् रेल के किराये और भाड़े में इतनी वृद्धि नहीं हुई जिसका यातायात पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता परन्तु १९५१ में रेल के किराये तथा भाड़े में पर्याप्त वृद्धि हो जाने से यात्रियों और माल से होनेवाली आय कम हो गई।

	यात्रियों से होनेवाली आय (करोड़ रुपयों में)	माल ढोने का आय (करोड़ रुपयों में)
१९४८-४९	८४'००	१०८'२९
१९४९-५०	८६'२९	१३०'३७
१९५०-५१	९७'८४	१४३'०१
१९५१-५२	१०९'८८	१५६'७९
१९५२-५३	१००'३८	१४६'१२
१९५३-५४	१००'००	१४७'१८
१९५४-५५	१०२'६२	१५८'६९
१९५५-५६	१०७'७१	१८०'२८
१९५६-५७	११६'३३	२०३'९६
१९५७-५८ (संशोधित)	१२०'९०	२३१'००
१९५८-५९ (वजट)	१२४'७३	२५०'५०

पिछले तीन वर्षों में यात्रियों तथा माल के यातायात में औद्योगिक विकास के कारण वृद्धि होने से स्थिति में उन्नति हुई है।

रेलवे के किराये और भाड़े की दर सम्बन्धी नीति—रेलों के किराये और भाड़े का उद्योग, कृषि, व्यापार और वाणिज्य के विकास में और स्वयं रेलों की वित्तीय स्थिति को दृढ़ बनाने में बहुत महत्व है। यदि भाड़ा अधिक होगा तो उससे उत्पादन व्यय पर प्रभाव पड़ेगा और उत्पादन व्यय में वृद्धि होगी। इससे देश के औद्योगीकरण को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा। इसके विपरीत यदि भाड़े की दर निश्चित करने में त्रुटि रह गई है तो उससे उद्योगों के स्थाननिर्धारण पर और औद्योगीकरण के ढांचे पर बुरा प्रभाव पड़ता है। रेल का किराया और भाड़ा अधिक होने से यातायात को प्रोत्साहन नहीं मिलता है, यातायात रेलों के द्वारा न होकर अन्य साधनों से होता है जिससे रेलवे को क्षति पहुँचती है। यदि भाड़ा कम है तो इससे औद्योगिक तथा कृषिक विकास में अवश्य सहायता मिलेगी, परन्तु यदि इससे रेलवे को हानि पहुँचती है और वह अपना व्यय पूरा करने के पश्चात् उचित लाभ नहीं उठा सकती है तो यह व्यावसायिक सिद्धान्तों के प्रतिकूल तथा अनुचित है। इसलिए रेल के किराये तथा भाड़े की दर सम्बन्धी नीति ऐसी होनी चाहिए जिससे रेलवे के हित में और उद्योग तथा कृषि के हितों में सन्तुलन स्थापित किया जा सके और जिससे देश में प्राप्त साधनों के आधार पर देश का कृषि तथा औद्योगिक विकास पूरी तीव्रता से किया जा सके, पंचवर्षीय योजना में

निर्धारित लक्ष्य पूरे किये जा सकें और रेलवे की वित्तीय स्थिति पर्याप्त सुदृढ़ रखी जा सके।

१६४८ से पहले भारत में रेलवे के किराये तथा भाड़े की दरें इसके अनुकूल नहीं थीं और उसकी कड़ी आलोचना की गई है

(१) भारतीय रेलवे में किराये तथा भाड़े की दर निर्धारित करते समय दूरी का ध्यान नहीं रखा गया। इससे लम्बी यात्रा करने वालों को या काफी दूर सामान भेजने वालों को बहुत अधिक भाड़ा देना पड़ता था। इससे माल की खपत के लिए बाजार की स्थिति तथा अन्य कारणों के अनुकूल रहते हुए भी उद्योगों को कच्चे माल के स्रोतों से दूर स्थापित करने को प्रोत्साहन न मिला। उद्योग के लिए रेलों के भाड़े की दर कुछ कम थी, साथ ही विशेष स्टेशनों के बीच रियायतें भी दी गई थीं परन्तु इससे व्यापार और उद्योगों को विशेष लाभ नहीं हुआ।

(२) भारत से कच्चे माल को विदेशों को निर्यात और विदेशी माल के आयात को सस्ता करने के लिए रेलवे ने देश के किसी भाग से बन्दरगाहों तक और बन्दरगाहों से देश के अन्य उपयोग के केन्द्रों तक का किराया कम रखा। भारत में विदेशी सरकार की इस त्रुटिपूर्ण नीति से भारतीय उद्योग को क्षति पहुँची और विदेशी उद्योगों को अधिक प्रोत्साहन मिला।

(३) भारतीय रेलवे के कुछ भागों में किराये की दरें मीलों के आधार पर निश्चित की गई और ब्लाक रेट की प्रणाली अपनाई गई अर्थात् एक रेल द्वारा कम दूरी तक माल ढोने पर प्रति मील अधिक किराया वसूल किया गया। इसका उद्देश्य यह था कि माल कुछ दूर ढोने के बाद दूसरी रेल से न ढोया जाय बल्कि लम्बी यात्राओं में उसी रेल का उपयोग करें। इसके परिणामस्वरूप ब्लाक-रेट नीति से बचने के लिए सामान को आवश्यकता से अधिक दूर तक ले जाना पड़ता था। इससे लागत बढ़ती थी और यातायात के साधनों पर भी अनुचित भार पड़ता था।

(४) एक ही सामान के लिए विभिन्न रेलों की विभिन्न दरें थीं। इससे व्यापारियों को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इसके अतिरिक्त विभिन्न सामानों के भाड़े की दरों में भी काफी अंतर था।

१६४८ में रेल के किराये तथा भाड़े की दरों की कुछ त्रुटियाँ दूर कर दी गई। किराया प्रति मील की दर से निर्धारित किया गया, साथ ही अनाज, दाल, आटा और बीज इत्यादि की दरें निश्चित कर दी गई। इसके लिए सर्वप्रथम दूसरे समूह की रेलों—आसाम, ईस्ट इन्डिया, जी० आई० पी० और ओ० टी० रेलवे—

में दर निश्चित की गई और तत्पश्चात् पहले समूह की रेलों में। दोनो समूहों में इस अंतर का कारण यह था कि दूसरे समूह की रेलों की दरें पहले समूह की रेलों की अपेक्षा पहले से ही कम थीं और यदि दोनों समूह की रेलों की दरें एक साथ बढ़ा दी जातीं तो इससे अधिक कठिनाई होती है।

रेल के किराये तथा भाड़े की दरों में इस प्रारम्भिक परिवर्तन के पूरे हो जाने के बाद १ अप्रैल १९५२ को कुछ और परिवर्तन किये गये। दूरी के आधार पर किराये की दर निर्धारित करने की नीति त्याग दी गई। शेष दरों का प्रमाणीकरण हुआ और इस प्रक्रिया में उनमें वृद्धि की गई। लोहे और इस्पात उद्योग के लिए निश्चित विशेष दरों को खत्म करके नई संशोधित दरें लागू की गई जो स्टैन्डर्ड तटकर की दर से कम रखी गई। दक्षिण को चीनी के यातायात की रियायती दरें खत्म कर दी गई। कोयले के भाड़े में ३० प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई और यह कहा गया कि पहले की दर व्यय से बहुत कम थी। १९५५-५६ के बजट में भाड़े की दरों में अन्य परिवर्तन किये गये। अन्न तथा खाद का प्रति गाड़ी भाड़ा कम कर दिया गया तथा विभिन्न श्रेणियों का यात्रियों के लिये किराया ६०० मील से अधिक दूरी के लिये कम कर दिया गया और प्रथम ३०० मील की यात्रा का किराया बढ़ा दिया गया पर ३०१ से ६०० मील की दूरी के किराये में कोई परिवर्तन नहीं किया गया।

इससे रेलवे को अनावश्यक हानि उटानी पड़ी जब कि रेलों द्वारा कुल जितने सामान का यातायात होता है उसका ४० प्रतिशत कोयला होता है। यह सुझाव दिया गया कि कोयले के भाड़े की दर अधिक होने से रेलवे को लाभ होगा इससे रेलवे के हितों की रक्षा होगी।

रेलवे भाड़ा पर जांच कमेटी—जो कमेटी जून १९५५ में नियुक्त की गई थी उसने १९५८ के आरम्भ में सरकार को अपनी रिपोर्ट दी। सरकार के विचाराधीन होने के कारण अभी तक वह कार्यान्वित नहीं की गई है। कमेटी यह सिपारिश की है कि किराये की दरे निम्मतर श्रेणी से उच्चतम श्रेणी तक वृद्धिमान आधार पर होनी चाहिये। इस विचार को कार्यान्वित करने के लिये कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुँची कि सबसे सरल और संतोषप्रद ढंग आधार रूप में एक दर निश्चित करना और अन्य दरें इसी पर के प्रतिशत वृद्धि के आधार पर नियत करना होगा। इसके लिये कमेटी ने एक सामान्य दर जो कि मान दण्ड होगा नियत किया है जिसे (Class 100 rate) वर्ग १०० दर कहा जायगा। कमेटी ने वर्तमान वर्ग ६ को सबसे अधिक सुविधाजनक समान्य (Norm) और अन्य वर्गों को इसके ऊपर तथा नीचे माना है। इसी प्रकार गाड़ी भर माल की दरे

भी १०० के नये वर्ग के आधार पर प्रतिशत अंकों में व्यक्त किये गये हैं। प्रत्येक वर्ग कितने प्रतिशत होगा व्यक्त कर दिया गया है। प्रत्येक वस्तु के लिये गाडी-भर माल के आधार पर वर्गीकरण किया जाना चाहिये और साथ ही साथ छोटी मात्राओं (smalls) का भी वर्गीकरण होना आवश्यक है। कमेटी ने छोटी मात्रा में माल की दरों में गाड़ी भर माल की दरों की अपेक्षा १५ से लगाकर ३६ प्रतिशत वृद्धि करने की अनुमति दी है।"

कमेटी ने यह मत दिया था कि (i) सीमा कर रद्द कर दिये जाने चाहिये पर नये दरों के बनाते समय इस बात को विचाराधीन रखना चाहिये, (ii) थोड़ी दूरी के लिये अतिरिक्त भाड़ा वसूलना अनुचित समझा जाना चाहिये; (iii) घाट सम्बन्धी और स्थानान्तरण सम्बन्धी वसूली बन्दी कर दी जानी चाहिये। (iv) भाड़ा वसूलने की न्यूनतम दूरी २५ मील तक बढ़ा दी जानी चाहिये और चाहे माल एक रेल अथवा कई रेलों द्वारा ले जाया जाय एक ही बार उसकी बुकिंग होनी चाहिये; (v) माल गाड़ियों द्वारा भेजे जाने के लिये न्यूनतम वजन २० सेर होना चाहिये; और (vi) जो १ रु० १२ आ० प्रति गाड़ी माल पर न्यूनतम सम्मिलित वसूली की जाती है बन्द कर दी जानी चाहिये।

कमेटी ने यह भी सिपारिश की है कि ३०० मील की दूरी की प्रथम सीढ़ी को भाड़े की दर नियत करने के लिये चार भागों में बाट देना चाहिये; जैसे १ से २५ मील तक, २६ से ७५ मील तक; ७६ से १५० मील तक; और १५१ से ३०० मील तक। स्पष्ट रूप से उसने यह सिपारिश की है कि "कर्मचारियों की यह निश्चित नीति होनी चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो सके थोड़ी थोड़ी दूरी के लिये रेल का प्रयोग न किया जाय वरन् अन्य परिवहन के साधनों का उसके स्थान प्रयोग बढ़े।"

इस बात को विचाराधीन रखते हुये कि (१) दरे लम्बी दूरी तक लेजाने वाले माल पर भार स्वरूप न हो, (२) उनमें सीमा सम्बन्धी तथा अन्य सम्बन्धों में जो वसूली की जाती है सम्मिलित हो; (३) आय और व्यय के बीच जो ३०० करोड़ रुपयों का व्यवधान है उनसे पूरा हो जाय। कमेटी ने निम्न दरों के लागू किये जाने की सिपारिश की है :—

मील—		प्रतिमील प्रतिमन पाइयो की इकाई में दरे
१ से २५ तक	...	३·६०
२६ से ७५ तक	...	१·४०
७६ से १५० तक	...	१·२०
१५१ से ३०० तक	...	१·०५

मील—		प्रतिमील प्रतिमन पाइयो की इकाई से दरें
३०१ से ५०० तक	...	०.८५
५०१ से ८०० तक	...	०.७०
८०१ से १२०० तक	...	०.६०
१२०१ से आगे तक	...	०.५०

कमेटी की सिपारिशें (i) रेलवे की भाड़े की दरों को सरल और सुगम बना देगी और इस प्रकार उनकी अनेकों जटिलतायें और असंगतायें दूर हो जायँगी; (ii) उनसे रेलवे की आय में वृद्धि होगी जिसकी बहुत आवश्यकता है; (iii) रेलवे को इसमें आवश्यक सुविधा प्राप्त होगी और सड़क द्वारा छोटी दूरी क परिवहन को प्रोत्साहन मिलेगा। परन्तु उद्योगों की उत्पादन लागत पर रेल के किराये का अत्यधिक और अनुचित भार पड़ेगा। वर्तमान मूद्रा स्फीति की दशा में इससे हानि होगी। बाहर भेजे जाने वाले माल के सम्बन्ध में तो किराये की बढ़ी हुई दरें भारतीय माल की विदेशी बाजारों में स्पर्धा शक्ति क्षीण कर देगी जिससे विदेशी विनिमय की कठिनाइयों के और भी अधिक बढ़ जाने का भय होगा।

जनवरी १९४८ में यात्रियों के लिए भारतीय रेलों में प्रति मील किराये की समान दर निश्चित की गई। परन्तु कुछ रेलों में किराये की दर कम थी। उसे भी अन्य रेलों की किराये की दर के समान ही कर दिया गया। १९५१ में रेल का किराया २० से २५ प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया।

१९५५-५६ के बजट में किराये की दरें निम्न प्रकार निश्चित की गई हैं

	पाइ प्रति मील प्रति यात्री		
	१--१५० मील	१५१--३०० मील	३०१ मील और इससे अधिक
एयर कन्डीशन श्रेणी	३४	३४	३२
प्रथम श्रेणी	१८	१६	१५
द्वितीय श्रेणी (मेल/एक्सप्रेस)	११	१०½	९½
„ „ (साधारण)	९½	९	८½
त्रितीय श्रेणी (मेल/एक्सप्रेस)	६¼	६	५
„ „ (साधारण)	५¼	५	४½

रेलों का पुनः संगठन करने से रेल के किराये तथा भाड़े में जो सुधार किया जा सका उससे (१) रेल का किराया निर्धारित करने का आधार सरल हो गया, (२) रेल की दरों में जो अव्यवस्था फैली हुई थी वह दूर हो गई, और (३)

रेलवे का विकास कर सकने के लिए अधिक धन भी प्राप्त हुआ। रेल के किराये के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि सुधार करने से किराये और भाड़े में कुछ वृद्धि कर दी गई है। इससे उद्योगों का उत्पादन व्यय बढ़ा है और यात्रियों तथा सामान के यातायात से प्राप्त होनेवाली आय घटी है।

रेलों की कार्य प्रणाली में दोष—फेडरेशन आफ इन्डियन चेम्बर्स आफ कामर्स ऐंड इन्डस्ट्री ने अपने स्मारक पत्र में भारतीय रेलवे कार्य प्रणाली के अनेकों दोषों और त्रुटियों की ओर ध्यान आकृष्ट कराया था, जैसे गाड़ी के डिब्बों का न मिलना, बहुत दिनों तक माल के यातायात में प्रतिबन्ध का लगाना, यातायात में अधिक समय लगना, थोड़े सामान के यातायात की सुविधा में अभाव, माल के डिब्बों की माँग करने और प्राप्त करने में समय का लम्बा व्यवधान, कुछ जंकशनों में लाइनों का अभाव, बड़ी और छोटी लाइनों में परस्पर अदला बदली की सुविधाओं का अभाव, कुछ रास्तों में लाइनों का अभाव, मार्ग में माल का चोरी होना और खो जाना या चोरी हुए माल की हानि निश्चित करने में अधिक देर लगना, और कर्मचारियों की कार्यक्षमता में सामान्यतः अभाव इत्यादि। इस सम्बन्ध में मुख्य समस्या तो यह है कि कृषि और उद्योगों की आवश्यकता के अनुसार रेलवे की सुविधा कम है। इस देश में आर्थिक व्यवस्था विकासोन्मुख है, यहाँ कृषि एवं उद्योगों के उत्पादन में निरन्तर वृद्धि हो रही है और वर्तमान यातायात सुविधायें पूर्णरूपेण अपर्याप्त हैं। फेडरेशन ने इस सम्बन्ध में निम्न सिफारिश की है।

(१) रेलवे के विस्तार और सुधार के लिए ४०० करोड़ रुपयों का प्रथम पंचवर्षीय योजना में नियत करना अपर्याप्त था और कम से कम १०० करोड़ रुपये प्रति वर्ष और अधिक नियत करना चाहिये था। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्तर्गत १४८० करोड़ रुपये व्यय किये जाने की माँग रेलवे बोर्ड ने की थी जिसे योजना आयोग ने घटा कर ११२५ करोड़ रुपये कर दिया है। यह धन भारतीय रेलवे की आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त न होगा।

(२) प्रथम योजना में रेलवे के वर्तमान सामान की मरम्मत पर अधिक जोर दिया गया था जो गत बीस वर्षों से बदले भी नहीं गये। यद्यपि यह बहुत आवश्यक है, फिर भी अब अधिक ध्यान रेलवे के विस्तार पर दिया जाना चाहिये। विस्तार इतना होना चाहिये कि न केवल यातायात की आवश्यकतायें ही पूर्ण हो सकें, वरन् भविष्य में बढ़ी हुई आवश्यकता को भी पूरा कर लेने की पर्याप्त शक्ति हो। यद्यपि द्वितीय योजना में अधिक जोर विस्तार पर दिया गया है फिर भी यह अपर्याप्त है।

(३) रेलवे के कार्य करने की क्षमता में वृद्धि होनी चाहिए। देश के औद्योगीकरण में प्रोत्साहन देने के लिये आवश्यक है कि रेल द्वारा यातायात की सुविधा सस्ती हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि रेलवे का चालू व्यय कम हो। भारतीय रेलवे की कुल किराये भाड़े से प्राप्त आय १९४८ की २१३ करोड़ रुपयों से बढ़कर ४०७·४८ करोड़ रुपये १९५८-५९ के बजट में अनुमान की गई हैं। कुल व्यय १७३ करोड़ से बढ़कर २९८·३५ करोड़ रुपये हो गया है। इससे यह पता लगता है कि बढ़ी हुई आय का अधिकांश व्यय की वृद्धि में प्रयुक्त हुआ है और यह सम्भव है कि किराया और भाड़ा घटाया जा सके।

(४) माल के यातायात में सुविधा प्रदान करने के लिए ऐसे अस्थायी उपायों से कार्य लेना चाहिए जैसे मुकामा घाट, आगरा और साबरमती और अन्य स्थानों पर मशीनों द्वारा माल को स्थानान्तरित करना, कन्वेयर प्रणाली का प्रयोग करना और मुगलसराय वाल्टेयर, भागलपुर आदि जंकशनों पर माल की गाड़ियों की अदला-बदली की गति में तीव्रता लाना क्योंकि इन स्थानों पर बड़ी भीड़ रहती है। जिन रास्तों पर लाइनों के अभाव के कारण कठिनाई हो जाती है वहाँ अधिक लाइनों का खोलना और विशेष प्रकार के माल के डिब्बों की संख्या बढ़ाना।

(५) व्यापारियों को मार्ग में माल के चोरी हो जाने और खो जाने और बहुत देर में हानि मिलने के कारण बहुत कठिनाई उठानी पड़ती है। रेलवे व्यवस्था को इस प्रकार की सधी हुई चोरियों के रोकने और रेलवे कर्मचारियों की असावधानी और चरित्रहीनता के कारण गाड़ी में माल के जाने की रोक थाम के लिये विशेष प्रयत्नशील होना आवश्यक है। हानि जल्दी चुकाने के उपायों को भी सोचना आवश्यक होगा। विभाग का विकेन्द्रीय करण करना, कुल माल के खो जाने पर हानि तुरन्त चुकाना, इस दशा पर कि यदि एक वर्ष के भीतर ही भीतर माल मिल गया तो पाया हुआ हर्जा रेलवे को वापिस दे देवें। ऐसी क्लेमस एडवाइसरी कमेटी की स्थापाना करना जिसके सदस्य उन उद्योगों और व्यापारों के प्रतिनिधि हो जो क्लेम्स विभाग के कर्मचारी से सम्बन्धित है आदि कुछ ऐसे उपाय हैं जिनके प्रयोग में लाने से रेलवे के दोष मिट सकते हैं।

रेलवे के कर्मचारी इस बात का प्रयत्न कर रहे हैं कि रेल के कार्य प्रणाली की क्षमता बढ़ जाय और सुविधायें भी बढ़ जाँय, माल की सधी चोरियों और उनके खोने पर रोक थाम करने के लिए रेलवे करपशन इनक्वारी कमेटी की नियुक्ति की गई है जो शीघ्र ही अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष उपस्थित करने वाली है। रेलवे के चालू व्यय पर रोक थाम में सहायता करने के लिये

और रेलवे का विकास करने के लिए, विकास में वैज्ञानिक ढंग का प्रयोग करने के लिये तथा बड़ी-बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये, जिन्हें पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत रेलवे को पूर्ण करना है, रेलवे बोर्ड की सदस्य संख्या चार के स्थान पर पाँच कर दी गई है।

योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना में ४०० करोड़ रुपये के व्यय का प्रस्ताव रेलवे के नये सामान के क्रय करने तथा पुराने की मरम्मत के के लिये किया गया था। वास्तव में यह आशा की जाती है कि प्रथम योजना के समाप्त होने तक लगभग ४३२ करोड़ रुपया व्यय हो जायगा। गन्त्रयानादि और और सर्वांग सयंत्र पर व्यय प्रस्तावित धन से बहुत अधिक हो गया है। गन्त्रयानादि पर अधिक व्यय होने के कारण यात्रा और ढुलाई १९५३-५४ और १९५४-५५ के बीच साढ़े आठ प्रतिशत बढ़ गई और आशा की जाती है कि योजना के अन्तिम वर्ष में नौ प्रतिशत बढ़ जायेगी। प्रथम योजना के आरम्भ के समय रेलवे के पास ८२०९ इन्जन, १९२२५ यात्रियों के डिब्बे और २२२४४१ माल के डिब्बे थे। इनमें से २११२ इन्जन, ७०११ यात्रियों के डिब्बे और ३९५८४ माल के डिब्बे पुराने थे। प्रथम योजना में १०३८ इन्जनों और ५६७४ यात्रियों के डिब्बे और ४९१४३ माल के डिब्बों के क्रय करने का प्रबन्ध किया गया था। वास्तव में उपर्युक्त संख्या से कुछ अधिक इन्जन और माल के डिब्बे और कुछ कम यात्रियों के डिब्बे प्रथम योजना के अन्तर्गत क्रय किए जा सकेंगे। इतनी अधिक मरम्मत और नये सामान के क्रय किए जाने के पश्चात् भी भारतीय रेलवे का सामान बहुत पुराना और पुराने ढंग का है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आरम्भ में ९२९२ इन्जन, २३७७९ यात्रियों के डिब्बे और २९६०४९ माल के डिब्बे काम में आते हुये होंगे जिनमें से २८१३ इन्जन और ६३०५ यात्रियों के डिब्बे और ४९५९८ माल के डिब्बे बहुत पुराने घिसे हुये होंगे और उनके स्थान पर नये लाने आवश्यक होंगे। इससे यह पता लगता है कि रेलवे के विस्तार की इतनी आवश्यकता होते हुये भी उनकी मरम्मत और उनके स्थान पर नये सामान लाने की जरूरत बहुत बड़ी है।

द्वितीय योजना के अन्तर्गत ११२५ करोड़ रुपया भारतीय रेलवे पर व्यय किया जायगा जिसमें से ७५० करोड़ सामान्य आय में से, २२५ करोड़ रेलवे के अवक्षरण कोष से, १५० करोड़ रेलवे की आय से प्राप्त होगा। रेलवे बोर्ड के १४८० करोड़ रुपये के व्यय किये जाने के प्रस्ताव के स्थान पर ११२५ रु० का व्यय किया जायगा।

द्वितीय योजना में १६०७ मील के रंकाथ के दुगने किये जाने का, २६५

छोटी लाइन को बड़ी लाइन में परिवर्तित कर देने का, लगभग ८२६ मील तक बिजली पहुँचाने, १२६३ मील तक पीडब्वाल्स सुविधा देने का, ८४२ मील नई लाइन बिछाने, २००० मील लाइन की मरम्मत करवाने और २२५८ इन्जनों को क्रय करने तथा ११३६४ यात्रियों के डिब्बों और १०७,२४७ माल के डिब्बों को क्रय करने का आयोजन किया गया है।

भारतीय रेलवे १२ करोड़ टन माल के ढोने के स्थान पर १९५५-५६ में ११ करोड़ ५० लाख टन माल ढोयेगी और इस प्रकार ५० लाख टन माल के ढोये जाने की कमी रह जायेगी। यदि द्वतीय योजना के अन्त तक जो ६ करोड़ २ लाख टन माल के ढोये जाने की आवश्यकता बढ़ जायेगी उसका विचार किया जाय तो हम कह सकते हैं कि १९६०-६१ तक १८ करोड़ ८ लाख टन के ढोये जाने की आवश्यकता होगी। ऐसा भय है कि जितना धन रेलवे के विकास के लिये नियत कर दिया गया है उसके प्रयोग से रेलवे इतना माल न ढो सके और जिन सुविधाओं के प्रदान करने का इरादा किया गया है वे आवश्यकता से १०% गन्तयानादि के सम्बन्ध में और ५% अपनी शक्ति के सम्बन्ध में कम कर देनी पड़े।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के आधार पर योजना आयोग के मतानुसार (मई १९५८) "जो कार्यक्रम ११२५ करोड़ रुपयों के व्यय का बनाया गया था उसमें अब मूल्यों में वृद्धि हो जाने के कारण १०० करोड़ रुपयों के और अधिक व्यय होने का अनुमान किया गया है। इस समय ११२५ करोड़ रुपयों की मात्रा बढ़ाई जा नहीं सकती। इसलिये रेलवे को योजना के अन्तर्गत कुछ विकास योजनाओं को स्थगित करना पड़ेगा। विदेशी विनिमय की कठिनाइयाँ भी इसका एक कारण होगी। जिन विकास योजनाओं को स्थगित करने का इरादा है वे (१) तम्बाराम त्रिलूपुरम क्षेत्र तथा कलकत्ते के अन्तर्गत सियालदा क्षेत्र में बिजली पहुँचाने की योजना; (२) मीटर गेज कोच फैक्ट्री (३); इन्टीगरल कोच फैक्ट्री के प्रसाधन विभाग तथा (४) गुना और उज्जैन के बीच नई रेल के लाइन बिछाने की योजनायें हैं।"

"अपने ध्येय को पूरा कर लेने के प्रश्न का जहाँ तक सम्बन्ध है यह आशा की जाती है कि १९६०-६१ तक रेलवे ४२० लाख टन माल ढोकर अतिरिक्त आय प्राप्त कर सकेगी। पर क्या यह आय पर्याप्त होगी। निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। विदेशी विनिमय तथा अन्य कठिनाइयों के कारण विकास योजनाओं के कार्यान्वित करने में ढील देने के कारण ढुलाई की मात्रा योजना के अन्तिम वर्ष तक आरम्भ में किये गये अनुमान से जो कि ६१० लाख टन था कम

हो जायगी पर हो सकता है कि ४२० लाख टन से अधिक हो। कुछ भी हो योजना में की गई रेल द्वारा माल ढोने की मात्रा के अनुमान में कुछ परिवर्तन तो अवश्य ही होगा। जहाँ तक यात्रियों के ढोने के ध्येय से सम्बन्ध है—अर्थात् ३ प्रतिशत प्रति वर्ष की वृद्धि—वह सम्भवतः पूरी हो जायगी। १९५५-५६ की अपेक्षा १९५६-५७ में रेल के यात्रियों में प्रतिशत वृद्धि ६·७ हुई थी। अगर यही रही तो रेल में भीड़ की समस्या और भी अधिक खराब हो जायगी।"

द्वितीय योजना में भारतीय रेलवे की माल ढोने और यात्रियों के आने-जाने की शक्ति में वृद्धि की व्यवस्था की गई है। परन्तु वृद्धि देश की आवश्यकता से बहुत कम सम्भव हो सकेगी। केवल सरकार को ही नहीं वरन् जनता को भी अधिक मात्रा में यातायात की सुविधा की आवश्यकता पड़ेगी। प्रथम योजना में भी जनता को यातायात की सुविधा में कमी का अनुभव हुआ था। द्वितीय योजना में तो स्थिति और भी खराब होगी। रेलवे के सम्बन्ध में यही सर्व प्रधान आलोचना है। विदेशी विनिमय की कठिनाइयों तथा मूल्यों में वृद्धि होने पर भी योजना में रेलवे के विस्तार के प्रति ध्यान अधिक रखना चाहिये था और व्यय के लिये अधिक धन नियत करना चाहिये था।

अध्याय ३५

सड़क यातायात

भारत में सड़कों का बहुत अभाव है। १६०० में सड़कों की लम्बाई कुल १,७६,००० मील थी और १६५२ में २,५६,००० मील थी। प्रथम योजना के अन्त तक कुल सड़कों की लम्बाई बढ़कर ३१६,००० मील हो गई जिसमें से १२१,००० मील पक्की सड़क थी। इनमें से केवल ⅓ भाग पक्की सड़कें हैं और शेष कच्ची। एक ऐसे देश में जिसका क्षेत्रफल १,१३६,००० वर्गमील है, जिसकी जनसंख्या लगभग ३५ करोड़ ७० लाख है और जिसके उद्योग तथा कृषि का काफी विकास हो चुका है २६५,००० मील सड़कें बहुत कम हैं। भारत में प्रति वर्ग मील में बहुत ही कम सड़कें हैं, अन्य देशों की तुलना में यह स्थिति अत्यन्त शोचनीय है। भारत के प्रति वर्ग मील क्षेत्रफल में सड़कों की लम्बाई ०·२ है जब कि इन्गलैण्ड में २·०, बेलजियम में ३·३, फ्रांस में २·४ और अमरीका में १·१ है।

इसमें कुछ सन्देह नहीं कि देश के आर्थिक विकास में सड़कों का विशेष महत्व है। सड़कें होने से ही ग्रामों से कच्चा माल और कृषि उत्पादन कारखानों, कस्बों और नगरों तक पहुँचाया जाता है और बन्दरगाहों तथा कारखानों से माल ग्रामों तक भेजा जाता है। देश के विभिन्न भागों के व्यक्तियों के लिए सड़कें यातायात की सुविधा प्रदान करती हैं। सड़कों की सुविधा से ही व्यक्ति एक दूसरे से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। वर्तमान काल में परस्पर सम्पर्क स्थापित करने के लिए यातायात के द्रुतगामी साधनों की और अच्छी सड़कों की अत्यन्त आवश्यकता है। रेलों तथा विमानों की सहायता से देश के बड़े-बड़े नगरों और व्यापारी केन्द्रों से सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है परन्तु देश के दूर-दूर के स्थानों तक पहुँचने के लिए और उनका लाभ उठा सकने के लिए अच्छी सड़कों का होना अत्यन्त आवश्यक है। युद्ध के समय यदि सड़कें अच्छी हैं तो सेना को शीघ्र एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया ले जाया जा सकता है, युद्ध-सामग्री आवश्यक स्थानों तक पहुँचाई जा सकती है और इस प्रकार देश की शत्रु के आक्रमण से रक्षा की जा सकती है। वास्तव में भारत की कुछ प्राचीन बड़ी सड़कें इसी उद्देश्य से बनाई गई थीं। यदि देश में अच्छी सड़कों का जाल बिछा हो तो उसका शांतिकाल में तथा युद्ध के समय हर स्थिति में विशेष महत्व होता है।

अतीत में दिल्ली से कलकत्ता, कलकत्ते से मद्रास, मद्रास से बम्बई और बम्बई से दिल्ली को मिलाने वाली चार बड़ी सड़कों के चारों ओर छोटी बड़ी सड़कों का जाल फैला हुआ था। इन चार बड़ी सड़कों को बारहों मास कार्य में नहीं लाया जा सकता है। पुल न होने के कारण और टूट-फूट तथा सामान्यतया स्थिति खराब होने से इन सड़कों का बरसात में उपयोग नहीं किया जा सकता है। इन बड़ी सड़कों को देश के ग्रामों से मिलाने वाली प्रदेशीय सड़कों तथा अन्य छोटी-छोटी सड़कों की स्थिति और भी खराब है।

देश की आज सबसे बड़ी आवश्यकता यह है कि सड़कें बढ़ाई जायँ। राष्ट्रीय सड़कें वर्तमान समय की भाँति केवल पूर्व से पश्चिम तक के क्षेत्र में ही न फैलें वरन् इनका प्रसार उत्तर से दक्षिण तक भी किया जाय। इसके साथ ही इन सड़कों को और प्रदेशीय तथा अन्य छोटी सड़कों को सभी ऋतुओं में कार्य में लाने योग्य बनाने की आवश्यकता है। मोटर यातायात के लिए भी कुछ सड़कों का होना आवश्यक है। इसके लिए सड़कों के मोड़ सुगम होने चाहियें, जहाँ से सड़क निकाली जाय वह भूमि पक्की होनी चाहिए और सड़कों को कंकर तथा डामर या सिमेंट के प्रयोग से पक्का बनाना चाहिए। इन सड़कों की सतह को चिकना होना चाहिये। इसके साथ ही बैलगाड़ियों तथा यातायात के अन्य साधनों के लिए भी ऐसी सड़कें होनी चाहियें जो मोटर की सड़क की भाँति अधिक व्ययशील तो न हों परन्तु ऐसी हों जिनको वर्ष भर प्रयोग में लाया जा सकता है। यह बहुत आवश्यक है कि सड़कों के निर्माण की सुसम्बद्ध योजना निर्माण की जाय जिसमें बड़ी राष्ट्रीय सड़कों, प्रदेशीय सड़कों और ग्रामों इत्यादि को मिलाने वाली छोटी-छोटी सड़कों को विशेष महत्व दिया जाय।

भारत में सड़कों के विकास की ओर बहुत कम ध्यान दिया गया है, इसके कई कारण हैं :—(१) सरकार ने और स्थानीय संस्थाओं ने सड़कों के विकास का महत्व नहीं समझा। नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों की देख-रेख में अनेक सड़कें हैं परन्तु इन संस्थाओं ने सड़कों के विकास की ओर उचित ध्यान नहीं दिया। प्रदेशीय तथा केन्द्रीय सरकारों ने भी अन्य विकास कार्यों को इसकी अपेक्षा प्राथमिकता दी है। इधर कुछ वर्षों से ही सड़कों के विकास की आवश्यकता और इसके महत्व की ओर केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों का ध्यान गया है और दोनों सरकारों ने इसके लिए योजनाएँ बनाई हैं, (२) सड़कों के निर्माण के लिए आवश्यक बहुत प्रकार के सामान और मशीनों का भारत में अभाव है और इनका आयात करने के लिए हमें विदेशों पर निर्भर करना पड़ता है। अब भारत में सिमेंट तथा सड़क-निर्माण के अन्य सामानों का उत्पादन होने लगा है साथ

हाँ सड़क कूटनेवाले, भाप से चलनेवाले इञ्जनों तथा डिजिल इञ्जनों का भी भारत में उत्पादन आरम्भ हो गया है परन्तु फिर भी एस्फाल्ट के लिए विदेशों पर ही निर्भर करना पड़ता है। आशा है कि पेट्रोल शोधशालाओं का निर्माण पूरा हो जाने पर देश की आवश्यकता पूर्ण करने के लिए एसफाल्ट प्राप्त हो जायगा; (३) देश में वित्त का अभाव है। नगर पालिकाओं और जिला बोर्डों की देख-रेख में जो सड़कें हैं वह वित्त के अभाव के कारण अच्छी दशा में नहीं रह पातीं। राज्य सरकारों के पास विकास के लिए कोष है परन्तु उनका उपयोग सड़कों के निर्माण में कम और अन्य कार्यों में अधिक किया गया है। यही स्थिति केन्द्रीय सरकार की भी है।

सड़क कोष—सड़क विकास समिति (१९२७) की सिफारिश पर १९२९ में सड़क विकास कोष स्थापित किया गया और प्रति गैलन पेट्रोल पर कर ४ आने से बढ़ाकर ६ आने कर दिया गया जिसमें से प्रति गैलन दो आना सड़क विकास कोष में जमा किया गया। बाद में पेट्रोल पर अतिरिक्त कर लगाकर सड़क विकास कोष में दो आने की जगह ढाई आना जमा किया गया। परन्तु दुर्भाग्यवश सड़क विकास कोष के धन का उचित उपयोग नहीं किया गया है। सड़क विकास कोष स्थापित हो जाने के बाद राज्य सरकारों ने अन्तर-राज्य तथा अन्तर-जिला सड़कों के विकास में स्वयं अपने बजट से व्यय कम कर दिया। इसके साथ ही ग्रामों को मिलाने वाली छोटी-छोटी सड़कों को अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया। इस प्रकार सड़क विकास कोष निर्माण का उद्देश्य ही व्यर्थ हो गया। सड़कों का विकास करने के लिए उपलब्ध साधनों में अपनी ओर से सहायता देने की अपेक्षा राज्य सरकारों ने अपने व्यय में कटौती कर दी।

भारत सरकार ने सड़क विकास कोष के धन को व्यय करने में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये। सरकार ने यह व्यवस्था की कि (१) इस कोष का धन सड़कों के निर्माण तथा सुधार में और पुलों के निर्माण तथा सुधार में व्यय किया जाय परन्तु इस कोष का वर्तमान सड़कों की मरम्मत और देखभाल में उपयोग नहीं किया जा सकता है, और (२) सड़क विकास कोष में राज्य के योगदान का कम से कम २५ प्रतिशत छोटी-छोटी सड़कों में व्यय किया जाय और उन सड़कों पर २५ प्रतिशत से अधिक व्यय न किया जाय जो रेल मार्ग की प्रतियोगी हैं। यह सब होते हुए भी यह सत्य है कि सड़क विकास कोष से प्राप्त होने वाला धन आवश्यकता से कम है और १९५०-५१ के अंत तक २० करोड़ रुपये के व्यय की योजनाओं को स्वीकृति प्रदान की जा चुकी थी और १७ करोड़ रुपया व्यय किया जा चुका था। १९५१-५२ से दिसम्बर १९५५ तक २७ करोड़ रुपये के व्यय की

योजनाओं को स्वीकृति दी जा चुकी थी और मार्च १९५५ तक लगभग १२ करोड़ रुपया उनके कार्यान्वित करने में व्यय किया जा चुका था।

सरकार अपनी वर्तमान आय में से सड़कों के निर्माण में पर्याप्त व्यय नहीं कर सकती है साथ ही इस कार्य के लिए सड़कों का उपयोग करने वालों पर लगाए गये करों से भी पर्याप्त आय नहीं होती है। इसलिए यह आवश्यक है कि सड़कों के निर्माण के लिए ऋण लिया जाय। यह सोचना बिल्कुल निरर्थक है कि सड़कों पर व्यय किये जाने वाले रुपयों से प्रत्यक्ष रूप में ऐसी आय नहीं होती है जिससे इस कार्य के लिए उपलब्ध ऋण का व्याज चुकाया जा सके, इसलिए यह व्यय अनुत्पादक है और इसको नहीं करना चाहिए। यह संभव है कि सड़कों के विकास से प्रत्यक्ष रूप में कोई आय न हो परन्तु इससे निस्सन्देह देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है और साथ ही जनता की कर देने की शक्ति में वृद्धि होती है। भारतीय सड़क एवम् यातायात संघ ने कुछ वर्ष पहले एक जाँच की जिससे पता चला कि एक विशेष क्षेत्र में सड़क का विकास करने से १२ लाख रुपये का वार्षिक लाभ हुआ जब कि सड़क निर्माण में तथा उसकी देखभाल में केवल ४½ लाख रुपया वार्षिक व्यय किया गया। इससे स्पष्ट है कि सड़कों पर व्यय किये गये प्रति १०० रुपयों पर जनता को २७७ रुपये का लाभ होता है। सड़कों के विकास से जनता समृद्धिशाली बनती है, सरकार की आय में वृद्धि होती है, इसलिए ऋण लेकर सड़कों पर निर्माण करने में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

नागपुर योजना—१९४३ में विभिन्न राज्यों के मुख्य इञ्जीनियरों की नागपुर में एक बैठक हुई और देश की न्यूनतम आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए एक सड़क निर्माण-योजना निर्माण की गई। इस योजना का विशेष महत्व है क्योंकि इसके पश्चात भारत में सड़कों के निर्माण की सभी योजनाओं पर इसका प्रभाव पड़ा है। नागपुर योजना में सड़कों को चार श्रेणियों में विभक्त किया गया है:—(१) राष्ट्रीय सड़कें, (२) राज्य की सड़कें, (३) जिलों की बड़ी छोटी सड़कें और (४) ग्रामों की सड़कें। योजना में इन चार प्रकार की सड़कों का १० वर्ष के अन्दर सुनियोजित और सुसम्बद्ध आधार पर विकास करने का सुझाव दिया गया था जिससे पक्की सड़कों की लम्बाई लगभग ६६,४०० मील से १,२२,००० मील तक और अन्य सड़कों की लम्बाई १,१२,००० से २,०७,५०० मील तक बढ़ाई जा सके। इसके साथ ही योजना में वर्तमान सड़कों में सुधार करने का भी सुझाव दिया गया। नागपुर योजना का उद्देश्य यह था कि विकसित कृषि क्षेत्र का कोई भी ग्राम मुख्य सड़क से ५ मील से अधिक दूर न पड़े और कोई

भी गाँव चाहे कहीं हो सड़क से २० मील से अधिक दूर न पड़े। इस योजना के अनुसार युद्ध पूर्व के मूल्यों में ५० प्रतिशत वृद्धि के आधार पर निर्माण-कार्य में ३७२ करोड़ रुपया लगेगा जिसमें से ६६.५ करोड़ रुपया राष्ट्रीय सड़कों पर और ३०५.५ करोड़ रुपया अन्य सड़कों पर व्यय किया जायगा। यदि मूल्य युद्ध पूर्व के स्तर से २०० प्रतिशत चढ़े मान लिये जावें जिससे व्यय का अनुमान वर्तमान समय के मूल्य के अधिक निकट आ सके तो, जैसा कि योजना-आयोग ने बताया है, नागपुर योजना को कार्यान्वित करने में कुल ७४४ करोड़ रुपया व्यय होगा जिसमें से १३३ करोड़ रुपया राष्ट्रीय सड़कों के लिए और ६११ करोड़ रुपया अन्य सड़कों पर व्यय किया जायगा।

रेल मार्ग से सम्बन्ध—भारत में सड़कें अपर्याप्त होने और सड़कों की स्थिति दोष पूर्ण होते हुए भी १९३० के आसपास सड़क यातायात से रेलवे को गहरी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। निजी बस सर्विसों की ओर रेल की अपेक्षा अधिक यात्री आकर्षित हुए जिसमें अधिकतर कम आय वाले व्यक्ति थे। इसके साथ ही हल्के सामान को लाने लेजाने के लिए भी मोटरों को सुविधाजनक समझा गया। मोटर यातायात प्रायः और सुगमता से हो जाता है इससे रेल को गहरी हानि उठानी पड़ी। अनेक रेलवे जाँच समितियों ने रेलवे तथा सड़क यातायात की प्रतियोगिता पर विचार किया और रेलवे को सड़क की प्रतियोगिता से रक्षा करने के अनेक सुझाव दिए। रेलवे ने सस्ते वापसी टिकटों के रूप में रियायत देनी शुरू कर दी, कुछ विशेष समय के लिये टिकट दिये, अच्छी सर्विस और कम किराये की व्यवस्था की। परन्तु इससे प्रतियोगिता का जोर कम नहीं हुआ और यह आशंका की जाने लगी कि सड़क यातायात से रेलवे को गहरी क्षति पहुँचेगी।

रेलवे के हितों की रक्षा करने के लिए सरकार ने अनेक उपायों का आश्रय लिया और १९३९ में मोटर गाड़ी कानून लागू किया गया जिसमें यह व्यवस्था की गई कि सभी मोटरों तथा बसों के लिए लाइसेन्स लिया जाय। कानून में बसों को रखने तथा अधिक यात्री न बैठाने और बसों की चाल इत्यादि पर नियंत्रण की शर्तें माननी अनिवार्य कर दी गईं। बसों का बीमा आवश्यक कर दिया गया। इस कानून से यात्रियों के हितों की रक्षा के साथ ही हानिकारक प्रतियोगिता को रोकने का प्रयत्न करके रेलवे के हितों की रक्षा की भी व्यवस्था की गई। परन्तु सड़क यातायात की ओर से प्रतियोगिता प्रचलित रही और १९४६ में इस प्रतियोगिता को रोकने के लिए एक त्रिदलीय संगठन का निर्माण करने की नीति अपनायी गई। इस संगठन में मोटर मालिकों, राज्य सरकार और रेलवे

के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई। परन्तु इस योजना को आशा के अनुकूल सफलता नहीं मिली। बाद में भारत सरकार ने सड़क यातायात कार्पोरेशन कानून (१६४८) लागू किया जिसके स्थान पर १६५० में एक और व्यापक कानून लागू किया गया।

वर्तमान में रेल और सड़क की प्रतियोगिता समाप्त हो गई है क्योंकि (१) यातायात का अभाव है और वर्तमान समय में रेल और मोटर यातायात को साथ साथ कार्य करके लाभ उठाने का काफी अवसर है; (२) कुछ तो सरकार के प्रतिबन्धों के कारण और कुछ मोटरों के तथा उनके विभिन्न-कल-पुर्जों के मूल्य अधिक होने से सड़क यातायात का व्यय बढ़ गया है; और (३) अनेक राज्यों में यातायात का राष्ट्रीकरण कर देने से रेलवे तथा रोडवेज में अधिक उचित सम्बन्ध स्थापित हो गया है।

राज्य द्वारा सचालित सड़क यातायात के क्षेत्र निश्चित हैं और मोटरें यात्रियों तथा सामान को उसी क्षेत्र के अन्दर लाती ले जाती हैं। इस बात पर महत्व दिया गया है कि यातायात इस प्रकार संचालित किया जाय जिससे रेल-सड़क यातायात का सुसम्बद्ध विकास हो। यातायात इस प्रकार नियोजित हो कि यात्रियों तथा सामान को रेलवे केन्द्रों तक पहुँचाया जाय जहाँ से आगे का यातायात रेलवे सँभालेगी। जहाँ तक रोडवेज का सम्बन्ध है यात्रियों को दी जानेवाली सुविधाएँ बढ़ी हैं, अधिक भीड़-भाड़ पर नियंत्रण रखा गया है और गाड़ियाँ अच्छी दशा में रखी गई हैं।

यह योजना १६४६ में बम्बई में प्रारम्भ की गई और १६४८ से १६५० तक ढाई वर्ष में यातायात के मार्गों की संख्या ८ से ४६५ तक बढ़ गई। आरम्भ में २४० मील तक यातायात की व्यवस्था थी। १६५० में यह व्यवस्था १५,०३६ मील तक फैल गई और १६४८ से १६५० तक क्रमशः कुल १,०८,७७२ और २,६१६,२४७ मील के बीच यातायात किया गया। इसके बाद के वर्षों में इस दिशा में प्रगति धीमी रही है परन्तु सभी दृष्टिकोणों से रोडवेज ने उन्नति की है। उत्तर प्रदेश में १६४७-४८ में ३१ सरकारी रोडवेज सर्विसें चालू हुई जो १६५५-५६ में ३३७ हो गईं। यह यातायात व्यवस्था ६,००० मील तक फैली हुई है। यह अनुमान लगाया गया है कि कुल १०,००० मील के क्षेत्र में यात्रियों के यातायात का राष्ट्रीकरण करने में २,३०० बसों की आवश्यकता होगी। द्वितीय योजना के अन्तर्गत इस यातायात सुविधा का विस्तार ६६६४ मील हो जायगा और उसमें १६०० बसें होंगी।

बम्बई में राजकीय रोडवेज ने ८ से ६ पाई प्रति मील किराया वसूल

किया। इससे पहले इस क्षेत्र में किराये की यही दर वसूली गई थी, परन्तु गुजरात में मोटर-मालिकों ने रेलवे की प्रतियोगिता में किराया कम वसूला था। बम्बई में यद्यपि किराया कम नहीं किया गया है परन्तु रोडवेज की सर्विस में निस्सन्देह काफी सुधार हुआ है और जनता को राष्ट्रीकरण से पहले की अपेक्षा अधिक सुविधाएँ प्रदान की गई हैं। जहाँ तक उत्तर प्रदेश का सम्बन्ध है रोडवेज का अपर तथा लोअर क्लास का किराया अक्टूबर १९५२ में क्रमशः ९ पाई और ७½ पाई से बढ़ाकर १०½ पाई और ८ पाई प्रति मील कर दिया गया। किराये में वृद्धि करने का उद्देश्य मोटर इत्यादि के कल-पुर्जों तथा अन्य सामानों की बढ़ी मूल्यों को पूर्ण करना था। परन्तु चूँकि केन्द्रीय कारखाने स्थापित कर देने से मरम्मत इत्यादि में पहले की अपेक्षा कम व्यय करना पड़ता है इसलिए १९५३ में किराये में कमी कर दी गई। अब किराये की दर अपर क्लास के लिए १०½ पाई प्रति मील से घटाकर ९ पाई प्रति मील कर दी गई और लोअर क्लास के लिए किराये की दर ८ पाई से घटाकर ७½ पाई कर दी गई। अक्तूबर १९५२ से पहले किराये की यही दर थी। लोअर क्लास का किराया अब भी रेल के तीसरे दर्जे के किराये से अधिक है। रेल में तीसरे दर्जे का १५० मील का किराया यदि डाकगाड़ी या एक्सप्रेस से सफर किया जाय तो ६⅔ पाई प्रति मील है और यदि सामान्य गाड़ी से सफर किया जाय तो दर ५⅔ पाई प्रति मील है परन्तु आशा की जाती है कि भविष्य में रोडवेज किराया और घटायेंगी।

राजकीय रोडवेज प्रणाली सन्तोषजनक रीति से चल रही है परन्तु (१) गाड़ियों को रखने तथा मरम्मत इत्यादि करने का व्यय अधिक है और रोडवेज को उतना लाभ नहीं होता है जितना की आशा थी। (२) अभी कुछ दिशाओं में यात्रियों को और अधिक सुविधाएँ प्रदान की जा सकती हैं। परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि रोडवेज ने सड़क यातायात की अवस्था में काफी सुधार किया है और भारत में रोडवेज यातायात व्यवस्था का प्रसार करने के लिए कोई बाधा नहीं है।

निजी उद्योग की कठिनाइयाँ—भारत के सड़क यातायात के विकास में अनेकों कारणों से बाधायें पहुँची हैं: (१) मोटर गाड़ियों को बहुत अधिक कर देना पड़ता है जिससे व्यक्तियों की इस कार्य को करने की शक्ति टूट जाती है। मोटर गाड़ी कर जाँच कमेटी ने यह बात कही थी कि भारत में मोटर गाड़ियों का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों पर संसार भर में सब से अधिक कर लगाया जाता है। इसी रिपोर्ट के अनुसार प्रत्येक लारी पर प्रति वर्ष कुल कर मद्रास में ६,०७७ रुपये, बम्बई में ५,००० रुपये से लगा कर ५,२५८ रु० तक

और अन्य राज्यों में औसत कर लगभग ५,१३४ रु० था। इस कमेटी ने यह भी अनुमान लगाया था कि माल ढोने वाली लारियाँ केन्द्रीय और स्वदेशीय राज्यों को जितना कर देती हैं, (स्थानीय करों को छोड़ कर) यदि वे २० हजार मील से अधिक यात्रा करती हो तो वह रेल द्वारा प्रति टन प्रति मील ढुलाई के औसत किराये से सौ प्रतिशत अधिक था। पिछले तीन वर्षों में लारियों पर यह भार वास्तव में अनेकों राज्यों में और अधिक बढ़ा ही है।

(२) प्रादेशिक सरकारों ने सड़कों पर बहुत कम धन व्यय किया है और उनकी देख-रेख भी ठीक नहीं होती। इससे व्यक्तियों को बस चलाने के कार्य में बड़ी कठिनाई पड़ती है। "मोटर गाड़ी कर जाँच कमेटी ने पता लगाया था कि 'क' राज्यों को १९४९ में रजिस्टर की हुई मोटर गाड़ियों और वस्तुओं से प्राप्त २३'२६ करोड़ रुपयों के लगभग थी जब कि सड़कों की मरम्मत पर केवल ११'७ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जो कि वसूल किये हुये कर के आधे से भी कम है। यह स्थिति बड़ी विचित्र है कि सड़क यातायात पर कर इतना अधिक है कि यात्रियों और माल ढोने में उनका प्रयोग करने में बाधा पड़ती है, पर फिर भी मोटर गाड़ियों से वसूल हुये कर के धन का पूरा प्रयोग सड़कों के बनाने में नहीं किया जाता।" सड़क की ठीक मरम्मत न होने से सड़क यातायात के व्यय में भी वृद्धि हो जाती है। कमेटी ने अनुमान लगाया था कि एक बस साधारण खराब और बहुत खराब सड़कों पर एक वर्ष में ३५००० मील चलाने में व्यय अच्छी सड़क में चलाने में व्यय की अपेक्षा २९०० रु० अधिक होगा।

(३) १९३९ में मोटर गाड़ी एक्ट ने उन लंबी यात्राओं पर जो उस समय बम्बई और कलकत्ते, बम्बई और देहली, बंबई और पेशावर और बम्बई और मद्रास आदि के बीच प्रचलित थी प्रतिबन्ध लगा दिये हैं। इस एक्ट की योजना है कि सड़क यातायात को राज्यों के छोटे-छोटे क्षेत्रों में ही सीमित कर दिया जाय जिससे कि कोई मोटर राज्य की एक सीमा से दूसरी सीमा तक बिना अनेकों यातायात अधिकारियों की आज्ञा के न जा सके। ऐसी आज्ञा बहुत ही कम दी जाती है। ऐसी स्थिति में अन्तर प्रदेशीय यातायात की कोई सम्भावना ही नहीं हो सकती। मोटर गाड़ियों के चलाये जाने के क्षेत्र को सीमित करने के अतिरिक्त क्षेत्रों के कर्मचारियों को यह अधिकार भी प्रदान किया हुआ है कि वे अपनी इच्छा के अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में चलाई जाने वाली मोटर बसों की संख्या भी सीमित कर सकते हैं। मोटर गाड़ी एक्ट ने छोटे-छोटे क्षेत्रों में अनेकों अधिकारियों को बनाकर सड़क के यातायात को छोटे-छोटे भागों में विभाजित करके तथा प्रतिबन्ध लगा

कर निहित स्वार्थ का अवसर प्रदान कर दिया है। इसके परिणाम स्वरूप सड़क यातायात के वैज्ञानिक ढंग पर विकास में बाधा पड़ी है।

(४) जिस प्रकार सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण विभिन्न राज्य द्वारा किया गया है उससे राष्ट्रीयकरण की योजना के अन्तर्गत अधिक महत्वशाली योजनाओं पर जो धन व्यय किया जाना चाहिये था वही नहीं रोका गया वरन् व्यक्तियों को यह कार्य करने में बड़ी भारी बाधा भी पहुँची है। इस दोष को रोकने के लिये योजना आयोग ने १९५३ में प्रादेशिक राज्यों से अपनी-अपनी लाइसेंस देने की नीति को सुधारने की आशा दी थी क्योंकि वह व्यक्तियों को सड़क यातायात का कार्य करना आरम्भ करने में बहुत बाधक थी परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रादेशिक राज्यों ने इस आशा को अनसुनी कर दिया है क्योंकि कि इनके सड़क यातायात के राष्ट्रीयकरण के कार्य-क्रम में कोई परिवर्तन नहीं दिखाई देता। अपनी आशा को मनवा सकने के लिये योजना आयोग को अपनी आशा निश्चित शब्दों में निश्चित निर्देशों सहित भेजनी चाहिये थी। स्थिति के अपने अन्तिम परीक्षण में योजना-आयोग केन्द्रीय मन्त्रालय के सहयोग से इस परिणाम पर पहुँचा है कि द्वितीय योजना में माल और यात्रियों के सम्बन्ध में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण आवश्यक है।

माल की ढुलाई के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त निम्न हैं:—

१. सड़क द्वारा ढोने वाली संस्थाओं के राष्ट्रीयकरण की कोई योजना १९६१ तक अर्थात् द्वितीय योजना के अन्त तक नहीं सोची जानी चाहिये।

२. १९३९ के मोटरगाड़ी एक्ट के अनुसार कम से कम तीन वर्ष के लिये ऐसी संस्थाओं को जो पनप सकती हैं परमिट स्वतन्त्रता पूर्वक देना चाहिये। मोटरगाड़ी एक्ट के अन्तर्गत अधिक से अधिक पाँच वर्ष तक का परमिट देकर प्रोत्साहन देना चाहिये।

यात्रियों के यातायात के लिये निम्न सिद्धान्तों की सिफारिश की गई है—

(१) जो प्रादेशिक राज्य यात्रियों के यातायात सेवा संस्थाओं का राष्ट्रीयकरण करना चाहें उन्हें योजना आयोग के समक्ष क्रमिक कार्य-क्रम बनाकर विचार करने के लिये रखना चाहिये जिससे वह कार्यक्रम को योजना में सम्मिलित कर सके। इस कार्य-क्रम को उन्हें १९६०-६१ तक जिन क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण करना है उनका निश्चित रूप से विवरण दिया जाना चाहिये। इसका विचार आयोग द्वारा तभी हो सकता है जबकि शर्तें प्रादेशिक राज्यों द्वारा स्वीकार कर ली जायँ।

(२) राष्ट्रीयकरण योजना के बाहर की सड़कों पर यातायात के लिये

परमिट कम से कम तीन वर्षों के लिये १९३९ के मोटर गाड़ी एक्ट के अनुसार दिया जाय।

(३) उन क्षेत्रों में जो स्वीकृत राष्ट्रीयकरण योजना के अन्तर्गत आते हैं परमिट अधिक से अधिक समय तक के लिये, जो कि विस्तार के कार्य-क्रम के अन्तर्गत मोटरगाड़ी एक्ट की सीमा के अन्दर ही है, दिये जाने चाहिये।

(४) जहाँ पर सरकार के सहयोग की सम्भावना है एक त्रिदलीय संस्था स्थापित की जानी चाहिये जिसमें प्रादेशिक सरकारें, रेलवे और इस कार्य में संलग्न व्यक्ति सम्मिलित हों।

(५) उन क्षेत्रों में जिन्हें पूर्णतया व्यक्तिगत लोगों के अधिकार में छोड़ दिया जाय प्रतिस्पर्धा दलों को विशेष प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये।

राज्यों में सड़कों के विकास में बाधा डालने वाली अनेक कठिनाइयों में से एक तो निर्देशन करने वाले उपयुक्त कर्मचारियों का अभाव है जिनका कार्य मोटर द्वारा परिवहन की व्यवस्था पर ध्यान देना, सड़कों के नियोजित विकास की अपेक्षा विशेष हो। १९५८ के आरम्भ में भारत सरकार ने एक कमेटी इस मामले की जाँच करने के लिये श्री० एम० आर० मसानी की अध्यक्षता में नियुक्त की थी। सरकार ने १९५८ के आरम्भ में एक अन्तर-राज्य यातायात आयोग की भी नियुक्ति की थी जिसको मोटरगाड़ी (संशोधित) एक्ट की ६३ ए धारा के अनुसार नियन्त्रण तथा निर्देशन के सम्बन्ध में बहुत विस्तृत अधिकार प्राप्त है और जिससे यह आशा की जाती है कि (१) वह परिवहन की गाड़ियों के संचालन तथा उनके विकास सम्बन्धी योजनाओं को तैयार करे और अपनी योजनाओं में माल लादने वाली गाड़ियों का जो कि अन्तर्राज्यों में यह कार्य कर रही है विशेष ध्यान रक्खें, (२) इस सम्बन्ध में जो कुछ भी झगड़े अथवा मतभेद उत्पन्न हो उन सब को निबटायें और उन पर निर्णय लें; (३) और दो अथवा दो से अधिक राज्यों में पड़ने वाले मार्गों पर मोटर गाड़ी चलाने, नये परमिट देने, पुरानों को फिर से चालू करने तथा रद्द करने के सम्बन्ध में राज्य विशेष के यातायात अधिकारी को अथवा क्षेत्र विशेष के यातायात अधिकारी को निर्देश दें।" इस आयोग से आशा की जाती है कि यह अन्तर राज्य यातायात की सुविधाओं का प्रभावशाली रूप से विकास करने में सफल होगा।

योजना के अन्तर्गत—जब कि प्रथम पंचवर्षीय योजना आरंभ हुई भारत में ९७५४६ मील पक्की सड़कें और १५१००० मील कच्ची सड़कें थी। योजना के अन्तर्गत पहिले ११० करोड़ रुपया व्यय करने के लिये रक्खा गया था जो कि बाद में बढ़ाकर १३५ करोड़ रुपया कर दिया गया जिसमें से प्रथम योजना काल

में लगभग १३४३ करोड़ रुपये वास्तव में खर्च कर दिये गये थे। इसके परिणाम स्वरूप २४००० मील नयी भूमि के समतल सड़कें, और ४४००० मील नीची सड़कें बनवाई गई और इस प्रकार सड़कों की लम्बाई १२१००० मील पक्की और १९५००० मील कच्ची अर्थात् कुल ३१६००० मील हो गई जब कि नागपुर योजना का ध्येय केवल १२३००० मील पक्की तथा २०८००० मील कच्ची अर्थात् कुल ३३१००० मील सड़कों का ही था।

इसके अतिरिक्त अनेकों सड़कों के बीच के व्यवधानों को मिलाने तथा पुलों के बनाने की भी व्यवस्था की गई थी। "पहली अप्रैल १९४७ को जब कि भारत सरकार ने राजपथ कही जाने वाली सड़कों के विकास तथा बनाये रखने का वित्तीय दायित्व अपने ऊपर लिया उस समय लम्बी लम्बी दूरी तक सड़कों के व्यवधान पड़े हुये थे तथा मुख्य-मुख्य स्थानों पर अनेकों सड़कों पर पुल नहीं थे। प्रथम योजना के आरम्भ तक ११० मील सड़कें दो सड़कों के बीच के व्यवधान को जोड़ने के लिये तथा तीन बड़े-बड़े पुल बनवाये गये और १००० मील सड़कों की मरम्मत करवाई गई। प्रथम योजना काल के आरम्भ में ही केन्द्रीय सरकार ने सड़कों के विकास तथा सुधार का कार्य-क्रम आरम्भ किया जिसके अन्तर्गत १२५० मील बीच की गायब सड़कों तथा ७५ बड़े-बड़े पुलों का बनवाना तथा ६००० मील सड़कों की मरम्मत करवाना सम्मिलित था। इसमें से योजना काल में ६४० मील बीच की गायब सड़के तथा ४० पुल तथा २५०० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत पूरी हो जाने की आशा की गई थी। योजना के खत्म होते-होते ६३६ मील बीच की गायब सड़के, ३० बड़े-बड़े पुल और ४००० मील पुरानी सड़कों की मरम्मत हो पाई थी। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितनी बीच की गायब सड़कों के बनवाने का ध्येय बनाया गया था वह लग भग पूरा हो गया और वर्तमान राजपथों की मरम्मत का काम सोची हुई मात्रा से लगभग दुगना कर लिया गया। योजना में २७.८० करोड़ रुपये राजपथों पर व्यय के लिये नियत किये गये थे जिसमें से २७.६२ करोड़ रुपये व्यय कर दिये गये।

प्रथम योजना में सड़कों द्वारा यातायात पर १२$\frac{1}{3}$ करोड़ रुपये व्यय किये गये। राज्यों ने ३००० मोटर गाड़ियाँ और बढ़ाई जिससे कुल मोटर गाड़ियों की संख्या जो सरकार की ओर से यातायात की सेवा में लगी हुई थी ११००० हो गई। प्रथम योजना के अन्त तक मोटर द्वारा जनता की यातायात सेवा का २५% सरकारी विभाग द्वारा किया जाने लगा था। माल परिवहन व्यक्तिगत एजेन्सियों के ही अधिकार में रहा।

द्वितीय योजना में (सड़कों के विकास के लिये) २४६ करो रुपयों के

व्यय की व्यवस्था की गई है जिसमें से ८२ करोड़ रुपये केन्द्रीय सरकार द्वारा और १६४ करोड़ रुपये राज्यों द्वारा व्यय किया जायगा। यह रकम केन्द्रीय सड़क कोष से प्राप्त होने वाले १५ करोड़ रुपयों के अतिरिक्त है। द्वितीय योजना के पूरे होने पर यह आशा की जाती है कि पक्की सड़के बढ़ कर १४३,००० मील और कच्ची सड़कें २३५,००० मील अर्थात् कुल योग ३७८,००० मील हो जायगा। यह मात्रा नागपुर योजना से कहीं अधिक है।

द्वितीय योजना का कार्यक्रम पहिली योजना ही की तरह बड़े-बड़े पुलों का निर्माण तथा बड़े-बड़े राजपथों को मिला देने वाली सड़कों के निर्माण का और पुरानी सड़कों की मरम्मत का ही है। इस योजना के अन्तर्गत आरंभ किये हुये निर्माण कार्य पर कुल व्यय लगभग ८७'५ करोड़ रुपये का है। यह व्यय निम्न प्रकार का है।

प्रथम योजना के अपूर्ण निर्माण कार्य पर जिसमें बनिहाल टनल सम्मिलित है—	३०'०	करोड़ रुपया
बड़े-बड़े राज पथों को मिलाने वाली सड़कों पर (६०० मील)	१०'५	,,
बड़े-बड़े पुलों के निर्माण पर (६०)	२०'०	,,
छोटे-छोटे पुलों के निर्माण पर	५'०	,,
पुरानी सड़कों की मरम्मत पर	७'०	,,
सड़कों के (१२ फीट से २२ फीट) चौड़ी कराने पर (३००० मील)	१५'०	०
कुल	८७'५	०

द्वितीय योजना काल में वास्तविक व्यय लगभग ५५ करोड़ रुपये का अनुमानित किया गया है। राष्ट्रीय राजपथों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने कुछ महत्वशाली सड़कों का निर्माण प्रथम योजना में करवाना आरंभ कर दिया था। वह कार्य इस योजना में प्रचलित रहेगा और लगभग ६ करोड़ रुपया इस पर व्यय हो जायगा। कुल मिला कर केवल १५० मील नई सड़क बनाई जायेंगी और लगभग ५०० मील सड़कों को उच्चस्तल कर दिया जायगा।

द्वितीय योजना में १३½ करोड़ रुपयों की राज्यों की सड़क यातायात संबन्धी विकास कार्य-क्रमों के लिये व्यवस्था की गई है। १९५० के रोड ट्रान्सपोर्ट कारपोरेशन एक्ट के अन्तर्गत राज्य सरकारों को कारपोरेशन स्थापित करने की सलाह दी गई है और रेलवे योजना के अन्तर्गत १० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई है कि

रेलवे इन कारपोरेशनों में सम्मिलित हों। इसके अतिरिक्त यातायात मन्त्रालय की योजना में देहली ट्रान्सपोर्ट सरविस के लिये एक ३ करोड़ रुपये का कार्य-क्रम भी स्वीकृत कर लिया गया है। इस प्रकार सरकारी सड़क यातायात पर कुल विनियोग द्वितीय योजना में १७ करोड़ रुपयों के लग भग होता है।"

१९५६-५७ में कुल सड़कों के कार्य क्रम पर व्यय ४२·७१ करोड़ रुपया था और १९५७-५८ के लिये संशोधित अनुमान ४४·३२ करोड़ रुपयों का है इस प्रकार प्रथम तीन वर्षों से कुल व्यय १२६·२६ करोड़ रुपया होता है। बचे हुये दो वर्षों के लिये ११६·८६ करोड़ रुपया रह जायगा। अन्तिम दो वर्षों के लिये बजट में इस रकम की व्यवस्था सम्भव हो सकेगी इसमें संदेह मालूम पड़ता है। इसके अतिरिक्त लोहे की कमी के कारण पुलों के निर्माण में बाधा पड़ने का भय भी है। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि योजना के विकास कार्य-क्रम में कुछ कमी अवश्य ही आयेगी।

अध्याय ३६

जल यातायात

भारतीय यातायात अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत के पास १२,५०० जी० आर० टी० (ग्रास रजिस्टर्ड टनेज) के जलयान थे। प्रथम योजना के आरम्भ में भारत के पास ३,९०७०७ जी० आर० टी० के जलयान थे जिनमें से २,१७,२०२ जी० आर० टी० भारतीय तटों पर और १,७३,५०५ जी० आर० टी० के जलयान विदेश में व्यापार कार्य में व्यस्त थे। प्रथम योजना के अन्त में कुल टनेज ४,८०,००० जी० आर० टी० था जिसमें से २,४०,००० जी० आर० टी० तटीय व्यापार तथा समीपवर्ती देशों से व्यापार का था और २४०००० जी० आर० टी० दूर विदेशी व्यापार का। लायड के जलयान के रजिस्टर के अनुसार ३० जून, १९५७ को समस्त संसार का कुल टनेज १,१०२ करोड़ जी० आर० टी० था जबकि १९५५ के अन्त में १,००६ करोड़ जी० आर० टी० ही था। इस प्रकार भारत का कुल टनेज संसार के टनेज के ½% से कुछ अधिक था जब कि भारत का विदेशी व्यापार संसार के कुल व्यापार का २% से अधिक था। अन्तर्राष्ट्रीय समुद्री मार्गों के द्वारा भारतीय जलयान भारत के समुद्री व्यापार का केवल ५०% व्यापार कर पाते हैं। इसका यह अर्थ है कि भारतीय जल यातायात के विकास में अभी बहुत लम्बा मार्ग पूर्ण करना है।

भारत के लिए जिसका समुद्री तट ४,१६० मील (अण्डमन द्वीप सम्मिलित करके) तक विस्तृत हुआ है और जो बहुत बड़ी मात्रा में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कर सकता है वास्तव में जलयान का बहुत अधिक महत्व है। यदि हमारे पास अपने जलयान हों तो भारतीय उद्योग का यातायात व्यय कम हो जायगा और विदेशी बाजारों में उसकी प्रतियोगिता शक्ति में वृद्धि हो जायगी। यदि सामान का भारतीय जलयानों के द्वारा यातायात किया जाय तो हम उतनी विदेशी विनिमय मुद्रा बचा सकते हैं जिसको अन्यथा इन जलयानों में व्यय करना पड़ता है। इसके साथ ही भारत को अपने समुद्रतटीय क्षेत्र की रक्षा करने के लिये और युद्ध के समय अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली जल सेना की आवश्यकता है। संकट के समय व्यापारी जलयान प्रतिरक्षा की दूसरी पंक्ति का कार्य देते हैं। यह सहायक सेना के रूप में ही सहायक नहीं होते बल्कि इनसे नौ-सेना को शिक्षा दी जा सकती है और युद्ध के समय आवश्यक सामान समुद्र पर पहुँचाने के लिए इनकी अत्यन्त आवश्यकता पड़ सकती है।

मुख्य विशेषताएँ—भारतीय जल यातायात के विकास की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं :—

(१) भारत में ग्रेजी शासन के समय भारतीय जलयानों को ब्रिटिश तथा विदेशी जलयानों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा और उसे विकास करने का अवसर हीं नहीं दिया गया। १६२० के लगभग अनेक जलयान कम्पनियाँ बनी परन्तु प्रतियोगिता का सामना न कर सकने के फलस्वरूप नष्ट हो गईं। इन कम्पनियों के नष्ट होने में विदेशी जलयान कम्पनियों की भाड़े की दर सम्बन्धी नीति का भी बहुत योगदान रहा है। इन विदेशी कम्पनियों ने भारतीय कम्पनियों से प्रतियोगिता के कारण भाड़े की दर घटा दी और जब यह कम्पनियाँ बन्द हो गईं तब भी भाड़े की दर में पुनः वृद्धि कर ली। इसके साथ इन कंपनियों ने यह व्यवस्था की कि यदि किसी व्यापारी ने एक निश्चित समय तक नियमित रूप से इनके जलयानों के द्वारा ही सामान भेजा और मँगाया तो उस अवधि में यह जितना भाड़ा देगा उसका एक अंश उसे वापिस कर दिया जायगा। इन विदेशी कंपनियों की प्रतियोगिता का केवल सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी ही सामना कर सकी। विदेशी कम्पनियों ने इसे नष्ट करने की अनेक चार चेष्टा की परन्तु वह सफल नहीं हो सके। इससे सिंधिया कम्पनी को भारी क्षति उठानी पड़ी। सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी के दृढ़ रहने पर १६२४ में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इसे ७५ हजार टन सामान प्रतिवर्ष ले जाने की अनुमति दी गई। भारतीय जलयान कम्पनियों के नष्ट हो जाने का एक कारण यह था कि विदेशी कंपनियों की प्रतियोगिता शक्ति बहुत बढ़ी-चढ़ी थी और दूसरा कारण यह था कि भारतीय कम्पनियों के पास वित्त की उपयुक्त व्यवस्था नहीं थी और इनका कुल व्यय भी बहुत अधिक था। थोड़े बहुत परिवर्तन के साथ यह प्रतियोगिता स्वतन्त्रता मिलने तक चलती रही और स्वतन्त्रता मिलने से भारतीय जल यातायात का भारत के तटीय व्यापार में महत्व बढ़ गया है और साथ ही विदेशी व्यापार में भी एक सीमा तक इसने अपना विशेष स्थान बना लिया है।

(२) ब्रिटिश शासनकाल में सरकार ने भारतीय जल यातायात को कुछ भी सहायता नहीं दी और स्वतन्त्र व्यापार नीति का बहाना लेकर भारतीय उद्योग को टाल दिया गया और अपने लिए स्वयं मार्ग बनाने को छोड़ दिया गया। इसका यह परिणाम हुआ कि इस अवधि में भारतीय जल यातायात ने विशेष प्रगति नहीं की। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् भारत सरकार ने इस ओर ध्यान दिया है। भारत सरकार ने जलयान उद्योग को ऋण तथा अन्य आर्थिक

सहायता दी। सरकार ने जलयान निर्माताओं से जिस मूल्य पर जलयान क्रय किए भारतीय जलयान कम्पनी को उससे कम मूल्य पर वेचे और अन्तर को अपने कोष से दिया। लाइसेन्स की प्रथा लागू करके १९४८ में भारत के तटीय व्यापार पर नियंत्रण स्थापित किया गया और १९५० में तटीय व्यापार केवल भारतीय जलयानों के लिये सुरक्षित कर दिया गया। इसके फलस्वरूप भारतीय समुद्र तट पर १९४८ में जितने टनों के जलयान व्यापार करते थे उसमें ५३ प्रतिशत की वृद्धि हो गई और १९५२-५३ तक व्यापार में १०० प्रतिशत की वृद्धि हुई। एक जल यातायात बोर्ड स्थापित किया गया है जिसका कार्य जल यातायात के कार्य का संचालन करना है। सरकार की सहायता प्राप्त करके अब भारतीय कम्पनियाँ विश्व जल यातायात सम्मेलन की सदस्य हैं।

१९४७ में भारत सरकार ने प्रस्ताव रखा कि तीन जल यातायात कार्पोरेशन बनाये जायँ, प्रत्येक के पास १० करोड़ रुपये की पूँजी हो और तीनों कार्पोरेशन तीन मार्गों मे व्यापार इत्यादि करें। परन्तु १९५५ तक मार्च १९५० में १० करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी का केवल एक कार्पोरेशन, पूर्वी कार्पोरेशन लिमिटेड, स्थापित किया जा सका था। सरकार ने दो करोड़ रुपये की नियमित पूँजी का केवल ३/४ भाग दिया और शेष पूँजी मैनेजिंग एजेन्टों ने लगाई। जून १९५६ में दूसरे कार्पोरेशन (पश्चिमी शिपिंग कार्पोरेशन) की स्थापना हुई। यह पूर्ण रूप से राज्य के अधिकार में है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन से आगामी पाँच वर्षों के अन्दर यह आशा की जाती थी कि ४०,००० जी० आर० टी० व्यापार और अधिक कर सकेगा। परन्तु वह केवल २१,६०० जी० आर० टी० व्यापार प्रथम तीन वर्षों में बढ़ा पाया। सरकार ने जलयान उद्योग को और अधिक वित्तीय तथा अन्य प्रकार की सहायता दी है। इसलिये यह आशा करना सर्वथा युक्ति संगत होगा कि कुछ समय में भारतीय जल यातायात उन्नति की चरम सीमा पर पहुँच जायगा।

(३) प्रारम्भ में देश-विदेश व्यापार में भारतीय जलयानों ने भी भाग लिया। परन्तु उनमें से अधिकतर छोटे थे और अधिकतर सेलिंग वेसिल, टग्स, बारजेज, कोस्टर्स इत्यादि थे। अतीत में एक सबसे बड़ी कठिनाई यह थी कि देश में जलयान उद्योग नहीं था जिससे जलयानों का व्यय अत्यधिक हो गया था। अब विशाखापट्टम् में जलयान कारखाना है। यह जून १९४१ में स्थापित किया गया था। यह आशा की जाती थी कि २,१५,००० जी० आर० टी० में से जो कि प्रथम योजना के प्रथम तीन वर्षों में प्राप्त कर लेना चाहिए था हिन्दुस्तान

शिपयार्ड १ लाख जी० आर० टी० की पूर्ति करेगा। परन्तु शिपयार्ड की उन्नति बड़ी धीमी रही है और प्रथम तीन वर्षों में वह केवल ३५,८०४ जी० आर० टी० ही की पूर्ति करने में समर्थ हो सका है। भारतीय जल यातायात कम्पनियों को विशाखापट्टम् शिपिङ्ग यार्ड से अधिकाधिक संख्या में जलयान के पाने की आशा की जा सकती है। इसमें सबसे कठिनाई जलयान के विभिन्न कल-पुर्जों की प्राप्ति में कठिनाई है जिन्हें विदेशों से मँगाना पड़ता है। जैसे ही यह कठिनाई दूर हो जायगी और शिपयार्ड की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जायगी, भारतीय जलयानों के टनेज के विस्तार में वास्तविक सहायता पहुँच सकेगी।

(४) भारतीय जल यातायात के विकास में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि हमारे देश में जलयानों को बन्दरगाह की उचित सुविधायें नहीं मिल पाती हैं। भारत के पाँच बड़े बन्दरगाहों, कलकत्ता, बम्बई, मद्रास, कच्छ और विशाखापट्टम में पेट्रोल, जलयान में जलानेवाला कोयला इत्यादि को छोड़कर केवल दो करोड़ टन सामान प्रतिवर्ष उतारा लादा जा सकता है। १९४९-५० में पेट्रोल तथा जलयान में जलने वाले कोयले को सम्मिलित करके इन बन्दरगाहों में दो करोड़ टन सामान लादा उतारा गया। प्रथम योजना के अन्तर्गत विकास के कारण माल लादने उतारने की शक्ति बढ़कर दो करोड़ पचास लाख टन हो गई है। बन्दरगाहों पर यथाशक्ति कार्य हो रहा है। जलयानों को बहुत देर तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है। माल डॉक में पड़ा रहता है इसके पूर्व कि लादा जा सके। यह प्रस्ताव किया गया है कि बन्दरगाह की सुविधाओं का विस्तार किया जाय और काण्डला और मंगलौर के दो नये बन्दरगाह बनाये जा रहे हैं। बन्दरगाहों पर आवश्यक सामान, आकाशदीप तथा अन्य सुविधायें बढ़ाई जा रही हैं।

पुनर्निर्माण नीति उपसमिति—पुनर्निर्माण नीति उपसमिति (१९४७) ने भारतीय जल यातायात की पूर्णतया जाँच की और निम्नलिखित सिफारिशें कीं :—

(१) भारत को प्रति वर्ष १ करोड़ टन सामान लाने ले जाने के लिये और ३० लाख यात्रियों को ले जाने के लिये छोटे जलयानों को छोड़कर २० लाख टन के जलयानों की आवश्यकता होगी।

(२) हमारा उद्देश्य है कि १९५७ तक भारत के तटीय व्यापार का १०० प्रतिशत, भारत-बर्मा लंका तथा अन्य पड़ोसी देश से व्यापार का ७५ प्रतिशत, दूर देशों से भारत के व्यापार का ५० प्रतिशत और धुरी राष्ट्रों द्वारा किये जाने वाले व्यापार का ३० प्रतिशत सँभाला जाय।

(३) भारत सरकार की नीति का उद्देश्य भारतीय जल यातायात का प्रसार होना चाहिए और दरों में कमी और वृद्धि होने से इसकी रक्षा की जानी

चाहिए। इन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए जल यातायात बोर्ड को पूरे अधिकार देने चाहिएँ।

पुनर्निर्माण नीति उपसमिति ने जो लक्ष्य निर्धारित किये थे भारतीय जल यातायात का स्तर वहाँ तक नहीं पहुँच पाया है। यह निजी उद्योग तथा भारत सरकार के लिए अत्यन्त खेद की बात है। वर्तमान में भारतीय जल यातायात का टनेज केवल ५ लाख टन है जब कि समिति ने २० लाख टन का सुझाव दिया था। भारतीय जलयान कुल विदेशी व्यापार का केवल ५ प्रतिशत पूरा करते हैं जब कि समिति ने सुझाव दिया था कि भारतीय जलयानों को अपने कुल विदेशी व्यापार का ५० प्रतिशत स्वयं करना चाहिये। केवल तटीय व्यापार के सम्बन्ध में समिति की अभिलाषा पूर्ण हुई है।

भारतीय जल यातायात के प्रसार एवम् संगठन के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देने के लिये जल यातायात के मालिकों की परामर्शदात्री समिति की १९५२ के मध्य में एक बैठक हुई। समिति ने अनेक सुझाव दिये। समिति ने सुझाव दिया है कि भारत में जलयानों की संख्या बढ़ाई जानी चाहिये परन्तु पंचवर्षीय योजना में इस कार्य के लिए जितने धन की व्यवस्था की गई है वह अपर्याप्त है। सरकार को अधिक से अधिक २ प्रतिशत वार्षिक ब्याज पर भारतीय जलयान कम्पनियों को ऋण देना चाहिए और ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए जिससे पूँजी सरलता से चुकाई जा सके। समिति ने यह भी सुझाव दिये कि (१) पुराने जलयानों के स्थान पर नये जलयानों को खरीदने के लिए जो लाभांश जमा किया गया है उस पर आय कर न लगाया जाय, (२) भारतीय जलयानों में जलने वाले तेल पर चुङ्गी न लगाई जाय और (३) जलयानों का सामान बेचने वाले स्टोरों पर बिक्री-कर न लगाया जाय।

यह भी सुझाव दिया गया है कि तटीय व्यापार करनेवाला जलयान बेड़ा सन्तुलित होना चाहिये। इसमें विभिन्न आकार प्रकार के जलयान होने चाहिये जो तटीय व्यापार की विशेष वस्तुओं जैसे नमक, कोयला और तेल लाने ले जाने के उपयुक्त हों। कुछ लोगों का विचार है कि नमक और कोयला ले जाने के लिए ६,००० से ८,००० डी० डब्लू० टी० के जलयान अधिक उपयुक्त होते हैं और खाद्यान्न की सामग्री इत्यादि का यातायात करने के लिए छोटे आकार के जलयानों का प्रयोग किया जा सकता है।

इस समिति ने बताया कि भारतीय बन्दरगाहों में सामान लादने और उतारने की अच्छी व्यवस्था नहीं है। विशेषकर कोयला लादने के लिए बर्थों (जलयान खड़े होने का स्थान) का अभाव है और कुछ टूटी-फूटी स्थिति में हैं

और उससे कार्य अच्छी प्रकार नहीं लिया जा सकता है। समिति ने सुझाव दिया कि बन्दरगाहों में माल लादने और उतारने इत्यादि का कार्य तीव्र गति से करने के लिए मशीनें लगाने की और वर्तमान सामान को और बढ़ाने की आवश्यकता है।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—प्रथम पंचवर्षीय योजना में भारतीय जलयानों की संख्या बढ़ाने पर और बन्दरगाहों इत्यादि की सुविधाएँ बढ़ाने पर जोर दिया गया था। योजना में कहा गया था कि तटीय व्यापार में जो पुराने और घिसे-पिटे जलयान प्रयुक्त किये जा रहे हैं जलयान कम्पनियों को उन्हें बदलने में सहायता देने के लिए केन्द्रीय सरकार ने विशाखापटनम में जलयानों के निर्माण हेतु रुपया लगाया है। आशा की जाती है कि पंचवर्षीय योजनाकाल में ही विशाखापट्टम के कारखाने से कुल १ लाख जी० आर० टी० के जलयान प्राप्त किये जा सकेंगे। इनमें से ६० हजार जी० आर० टी० के जलयानों से पुराने घिसे-पिटे जलयानों को बदला जायगा और शेष जलयान विशेष कर तटीय व्यापार में प्रयुक्त किये जायँगे। विशाखापटनम कारखाने से जलयान कम्पनियों के हाथ जलयान उचित मूल्यों पर बेचे जायेंगे। यदि निर्माण व्यय में और बिक्री मूल्य में कुछ अन्तर रहेगा तो उसके लिए सरकार जलयान निर्माण उद्योग को आर्थिक सहायता देगी। इस प्रकार जलयान निर्माण कार्य का प्रसार करने का विशाखापटनम कारखाने के विकास से गहरा सम्बन्ध है जिससे विशाखापटनम की उत्पादन शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जा सके। योजना के अनुसार तटीय व्यापार को सुरक्षित बनाए रखने के लिए कम से कम ३ लाख जी० आर० टी० के जलयानों का होना अत्यन्त आवश्यक है। इसमें यह व्यवस्था की गई थी कि पाँच वर्ष के अन्दर भारतीय जलयान कम्पनियों को ४ करोड़ रुपया ऋण दिया जायगा और जलयान कम्पनियाँ अपने साधनों से शेष २ करोड़ रुपया एकत्रित करेंगी। अनुमान था कि इस ६ करोड़ रुपये से भारतीय जलयान कम्पनियों के पास पर्याप्त जलयान हो जायँगे। पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत विदेशी व्यापार के लिए १,००,००० डी० डब्लू० टी० के जलयानों की और आवश्यकता समझी गई थी जिसमें ईस्टर्न शिपिंग कार्पोरेशन के लिए आवश्यक ६० हजार डी० डब्लू० टी० के जलयानों को सम्मिलित नहीं किया गया था जिसके लिए सरकार ने अपने भाग के ४·४ करोड़ रुपये की व्यवस्था कर दी थी।

प्रथम योजना में १९५५-५६ तक ६ लाख जी० आर० टी० तक जलयानों के बढ़ाने का विचार किया गया था। पर वास्तव में योजना काल के अन्त तक कुल ४,८०,००० जी० आर० टी० का कार्य किया जा सका। जो ध्येय ६,००,०००

जी० आर० टी० का सोचा गया था वह तो तभी पूरा हो सका जब कि योजना काल में ही मँगाये हुये जहाज प्राप्त हो सके।

जल यातायात उद्योग के सम्बन्ध में जो प्रथम योजना के अन्तर्गत व्यवस्था की गई है उसकी लोगों ने निम्न आलोचना की है: (१) सन् १९५६ तक ६,००,००० जी० आर० टी० के जलयानों की वृद्धि पुनर्निर्माण नीति-उपसमिति की सिफारिश की तुलना में बहुत कम है। समिति ने सिफारिश की थी कि १९५८ तक २० लाख टन के जलयान हो जाने चाहिएँ परन्तु इस कार्य में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। वित्त के साथ ही आवश्यक सामान का अभाव है और, व्यवहारिक दृष्टि से पंचवर्षीय योजना समिति के कार्यक्रम को अपना लक्ष्य नहीं बना सकती थी। योजना में व्यावहारिक दृष्टिकोण के आधार पर लक्ष्य निर्धारित किये हैं। (२) भारतीय जलयान समिति ने सुझाव दिया है कि सरकार तटीय एवम् विदेशी व्यापार में जो रुपया व्यय करेगी वह जलयानों और अन्य सामान के बढ़े हुए मूल्यों को देखते हुए बहुत कम है। पंचवर्षीय योजना में जो लक्ष्य निर्धारित किया गया है उसको पूरा करने में भी कहीं अधिक रुपया लगेगा; (३) सरकार ऋण दी गई पूँजी पर कितना ब्याज वसूल रही है और ऋण के साथ जो शर्तें लगी हैं उनसे ऋण लेना उद्योग के लिए असुविधाजनक हो गया है। उद्योग को यह ऋण महँगा पड़ता है। यह सुझाव दिया गया है कि सरकार को २० वर्ष के लिए ऋण देना चाहिए और पहले ५ वर्षों में उस पर कुछ ब्याज नहीं लेना चाहिए। छठे वर्ष से ३ प्रतिशत वार्षिक ब्याज वसूल किया जा सकता है और इसी समय से ऋण ली गई पूँजी भी किश्तों में चुकानी आरम्भ हो जायगी; (४) योजना की अन्य सुविधाओं की कुछ चर्चा नहीं की गई है, जैसे जलयान में जलने वाले तेल पर से चुङ्गी हटाना, जलयान सामान के स्टोर पर से बिक्री-कर हटाना और आय-कर पर रियायत देना। जल यातायात उद्योग ने इन सुविधाओं की माँग की है। इनके बिना भारतीय जल यातायात की तेजी से प्रगति नहीं की जा सकती है।

द्वितीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया है कि ९० हजार जी० आर० टी० के घिसे-पिटे जलयानों को निकाल कर ३० लाख जी० आर० टी० के जलयानों की वृद्धि की जाय। इस प्रकार दूसरी योजना के अन्त तक कुल टनेज ९ लाख जी० आर० टी० हो जाना चाहिए। योजना का ध्येय है (१) तटीय व्यापार की आवश्यकताओं को रेलवे द्वारा प्राप्त माल और यात्रियों की मात्रा को ध्यान में रखते हुए पूर्ण करना; (२) भारत के विदेशी व्यापार का अधिक से अधिक भाग

भारतीय जलयानों के लिए प्राप्त करना; (३) टैंकों का बेड़ा तैयार करने के लिए केन्द्र स्थापित करना।

नीचे लिखे निश्चित ध्येय को पूरा कर लेने के पश्चात् भारत का १२ से १५ प्रतिशत समुद्रपार देशों से व्यापार और आस-पास के देशों से व्यापार का ५०% भारतीय जलयानों के भाग में आ जायगा जब कि वर्तमान में इन व्यापारों का केवल ५ और ४० प्रतिशत उनके भाग में हैं।

जी० आर० टी०

	योजना के पहले	प्रथम योजना के अन्त में	द्वितीय योजना के अन्त में
तटीय और निकटस्थ	२१७२०२	३१२२०२	४१२२००
समुद्र पार	१७३५०५	२८३५०५	४०५५०५
ट्रेम्प			६००००
टैन्कर्स		५०००	२३०००
सेलवेज टग			१०००
कुल	३६०७०७	६००७०७	६०१७०७

प्रथम योजना में १६.५ करोड़ रुपया जल यातायात के लिये नियत किया गया था। बाद में यह धन बढ़ा कर २६.३ करोड़ रुपया कर दिया गया। योजना काल में वास्तविक व्यय १८.७१ करोड़ रुपये किया गया। द्वितीय योजना में जल यातायात के विकास के लिये ४५ करोड़ रु० की व्यवस्था की गई है। जल यातायात के विकास के लिये ४५ करोड़ रुपयों के व्यय की व्यवस्था यद्यपि की गई है फिर भी क्योंकि पिछली योजना का ८ करोड़ रुपया बचा हुआ है इसलिये केवल ३७ करोड़ रुपया ही इस योजना में विकास कार्यों के लिये प्राप्त होगा।

योजना आयोग के द्वितीय पंचवर्षीय योजना के कार्यों तथा यानीसफलता के मत के अनुसार (मई १६५८) जितने व्यय की द्वितीय योजना में व्यवस्था की गई है उसका व्यय तो हो ही चुका है और उसके फलस्वरूप जो जल यातायात का कार्य होगा (टनेज मिलेगा) वह लगभग १८०००० जी० आर० टी० होगा जबकि योजना का ध्येय ३६०,००० जी० आर० टी० टनेज प्राप्त करने का था, जिसमें ६०००० जी० आर० टी० टनेज पुराने जहाजों के स्थान पर नये प्रयोग में ले आने के कारण प्राप्त होने वाला था। अपने ध्येय को पूरा कर सकने के लिये लगभग ४५ करोड़ रुपयों की और आवश्यकता होगी।

बन्दरगाह—प्रथम योजना की रूपरेखा जब उपस्थित की गई थी उसमें बन्दरगाहों के विकास अथवा सुधार का कोई स्थान नहीं था। इस अभाव की पूर्ति की महत्ता समझी गई और जब योजना की संशोधित रूपरेखा बनाई गई तो उसमें ३३ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की गई थी। बाद में यह मात्रा बढ़ा कर ३६'१६ करोड़ कर दी गई थी। चूँकि बन्दरगाहों के सुधार का कार्यक्रम देर से आरम्भ हुआ, इसलिये योजना-काल में व्यय की मात्रा केवल २७'५७ करोड़ रुपयों की हो पाई। कुछ भी हो यह विकास कार्यक्रम जो आरम्भ किया गया बड़े महत्व का था। काण्डला के नये बन्दरगाह के बनवाने के अतिरिक्त जिस पर १२'१ करोड़ रुपयों की व्यवस्था की जा चुकी थी, इस कार्यक्रम के अन्तर्गत मुख्य योजनाएँ बम्बई और कलकत्ता में थी जिनके लिये योजना में ११ तथा ८ करोड़ रुपयों की व्यवस्था क्रमशः की गई थी। योजना के अन्त तक काण्डला पर ८'५ करोड़ रुपये बम्बई पर ११ करोड़, और कलकत्ता पर ३'५ करोड़ रुपये व्यय किये जा चुके थे।

"मुख्य मुख्य बन्दरगाहों की क्षमता प्रथम योजना काल में २०० करोड़ टन से बढ़ कर २५० करोड़ टन हो गई। १६५०-५१ में कुल माल जो इन मुख्य बन्दरगाहों द्वारा उतारा अथवा चढ़ाया गया १८०'२ करोड़ टन था जिसमें ११२'५ करोड़ टन आयात का माल और ६७'७ करोड़ टन निर्यात का माल सम्मिलित था। १६५५-५६ में अनुमान है कि उतारे और चढ़ाये जाने वाले कुल माल की मात्रा २२० करोड़ टन थी जिसमें १३० करोड़ टन आयात और ६० टन निर्यात का माल था।"

लगभग २२६ छोटे-छोटे बन्दरगाह २६०० मील के तट पर फैले हुये हैं जिनमें १५० बन्दरगाहों से माल आता-जाता है। १६५१-५२ में इन बन्दरगाहों द्वारा ३७'६ करोड़ टन माल उठाया गया, और १६५४ तक यह मात्रा बढ़ कर ४१'५ करोड़ टन हो गई। प्रथम योजना में इन छोटे-छोटे बन्दरगाहों के विकास कार्यक्रम में मद्रास, सौराष्ट्र, बम्बई, उड़ीसा आदि मुख्य स्थान सम्मिलित किये गये थे। कुल व्यय जो किया गया था वह २ करोड़ रुपयों से कुछ ही कम था।

द्वितीय योजना का साधारण ध्येय है कि प्रथम योजना में जो कार्य आरम्भ किया जा चुका है उसे पूर्ण कर दिया जाय और सर्व सुविधाओं का प्रबन्ध करके डॉकों को आधुनिक रूप प्रदान कर दिया जाय ताकि देश के आर्थिक और औद्योगिक विकास के कारण जो आवश्यकतायें हों पूर्ण की जा सकें। ४० करोड़ रुपये की व्यवस्था बड़े-बड़े बन्दरगाहों के सुधार कार्यक्रम के लिये की जा चुकी है। जो निर्माण कार्य आरम्भ किये जायेंगे, जिनमें प्रथम योजना के अधूरे कार्यों

को पूर्ण करने का कार्य भी सम्मिलित होगा, उनमें लगभग ७६ करोड़ रुपया व्यय होगा। योजना में व्यवस्थित ४० करोड़ रुपये के अतिरिक्त कुछ धन बन्दरगाहों के अपने निजी कोषों से भी प्राप्त होगा। योजना में निर्धारित धन सरकार की ओर से काण्डला में लगाया जायगा और पोर्ट ट्रस्ट की सहायता के लिये दिया जायगा। वर्तमान रियायती ऋण की पोर्ट ट्रस्ट के लिये सुविधा दूसरी योजना काल में भी रहेगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बड़े-बड़े बन्दरगाहों के सुधार के कार्यक्रम में कलकत्ते में १६·६ करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, बम्बई में २६·३ करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, कोचीन में ४·० करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली और काण्डला में १४·० करोड़ रुपया व्यय किये जाने वाली, योजनाएँ हैं।

भारत में लगभग १५० छोटे बन्दरगाह हैं जिनमें से १८ विशेष महत्व के हैं। उनका सुधार अत्यन्त आवश्यक है। प्रथम योजना में छोटे-छोटे बन्दरगाहों के सुधार की योजनाएँ सम्मिलित की गई थीं जिनका कुल व्यय २·४१ करोड़ रुपया नियत था, इसमें से १ करोड़ केन्द्रीय कोष से प्राप्त होना था और शेष बन्दरगाहों के कर्मचारियों को अपनी ओर से एकत्रित करना था। द्वितीय योजना में छोटे-छोटे बन्दरगाहों के सुधार के लिए ५ करोड़ रुपया नियत किया गया है।

अध्याय ३७

हवाई यातायात

वर्तमान युग में देश के औद्योगिक, आर्थिक और अन्य कार्यों का मूलाधार 'गति' है और यातायात के मूलाधार हैं यात्रियों एवम् सामान का तीव्र गति से यातायात कर सकने वाले साधन। भारत जैसे विशाल देश में हवाई यातायात का विशेष महत्व है। विमानों द्वारा यात्रा करने से समय की बहुत बचत होती है, अनेक असुविधाओं से बचा जा सकता है; व्यापारी, सरकारी कर्मचारी तथा अन्य लोग बड़ी कुशलता से कार्य कर सकते हैं, अपने कारखानों से सम्पर्क रख सकते हैं, दूर-दूर स्थित कार्यालयों से सम्बन्ध बना रह सकता है और नियंत्रण के साथ ही साथ उनका अच्छी प्रकार निरीक्षण किया जा सकता है। संकटकाल में, बाढ़ अथवा भूकम्प के समय हवाई यातायात का महत्व और भी अधिक हो जाता है। इसके अतिरिक्त शांतिकाल में नागरिक उड्डयन के कर्मचारी जो अनुभव प्राप्त करते हैं उसका युद्ध के समय सदुपयोग किया जा सकता है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और देश विभाजन के पश्चात् भारत की हवाई कम्पनियों ने यात्रियों तथा सामान का यातायात करने में, निरीक्षण करने में और सरकार के निर्देश पर शरणार्थियों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने में प्रशंसनीय कार्य किया। हवाई यातायात का यथासंभव विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है; इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते हैं।

विकास—यह खेद का विषय है कि भारत में हवाई यातायात अभी अपनी प्रारम्भिक अवस्था में है। यद्यपि भारत में १६११ से ही विमानों का उपयोग आरम्भ हो गया था और प्रथम विश्वयुद्ध के समय इस दिशा में कुछ प्रगति भी की गई थी परन्तु भारतीय हवाई यातायात में द्वितीय विश्वयुद्ध के समय और उसके पश्चात् ही विशेष प्रगति की जा सकी। भारत के हवाई यातायात के विकास में कुछ उल्लेखनीय बातें हुई हैं: (१) १६२७ में नागरिक उड्डयन विभाग स्थापित किया गया और १६२८ में दिल्ली, कलकत्ता, बम्बई और करांची में 'फ्लाइंग क्लब' खोले गये। विमान-चालकों और टेकनीशियनों के शिक्षण की व्यवस्था की गई और इम्पीरियल एयरवेज सर्विस का १६२६ में दिल्ली तक प्रसार करने का प्रबन्ध किया गया। भारत में हवाई यातायात के विकास का यही प्रारंभकाल था; (२) १६३२ में टाटा एयरवेज लिमिटेड ने इलाहाबाद,

कलकत्ता और कोलम्बो के मध्य हवाई यातायात आरंभ किया और तत्पश्चात् करांची और मद्रास तक इसका प्रसार कर दिया। देश के कुछ मार्गों पर इण्डियन नेशनल एयरवेज ने भी यातायात कार्य शुरू कर दिया; (३) १९३८ में एम्पायर एयरमेल योजना लागू की गई जो युद्ध प्रारम्भ होने पर स्थगित कर दी गई परन्तु तत्पश्चात् बहुत सीमित पैमाने पर इसे फिर लागू किया गया; (४) १९४६ में कुछ सुसंगठित विश्वासनीय निजी व्यवसायिक संस्थाओं को आवश्यक सरकारी सहायता देकर देश के अन्दर तथा विदेश से हवाई यातायात की सुविधा का विकास एवम् प्रसार करने को प्रोत्साहन देने के लिए भारत सरकार ने एक निश्चित उड्डयन नीति निर्धारित की। १९४६ में हवाई यातायात लाइसेंसिंग बोर्ड स्थापित किया गया। यह निश्चित किया गया कि लाइसेन्स देते समय बोर्ड इन बातों पर पर विचार करेगा : (अ) कम्पनी की वित्त स्थिति, (ब) कार्यक्षमता का उचित स्तर, (स) यातायात की माँग और (द) जनता की आवश्यकता के अनुकूल कम्पनी की हवाई यातायात का विकास कर सकने की क्षमता। बोर्ड को लाइसन्स-प्राप्त कम्पनियों के किराये तथा भाड़े की अधिकतम तथा न्यूनतम दर निर्धारित करने का अधिकार दिया गया। बोर्ड ने अपने कार्यकाल में अनेक कम्पनियों को लाइसेन्स दिये। इसका परिणाम यह हुआ कि हवाई यातायात में बहुत सी कम्पनियाँ चालू हो जाने से जटिलता आ गई और इनमें परस्पर हानिकारक प्रतियोगिता चलने लगी। इससे कम्पनियों को क्षति भी उठानी पड़ी; (५) भारत सरकार ने टाटा के सहयोग से विदेशी हवाई यातायात के लिए एयर इण्डिया इन्टरनेशनल की स्थापना की। टाटा के साथ यह समझौता किया गया कि इस नई कम्पनी में ४९ प्रतिशत शेयर सरकार लेगी जो ५१ प्रतिशत तक बढ़ाये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त ५ वर्ष तक यदि घाटा हुआ तो इस घाटे को भी सरकार पूर्ण करेगी।

हवाई यातायात जाँच समिति (१९५२)—हवाई यातायात जाँच समिति ने, जो राजाध्यक्ष कमेटी के नाम से अधिक प्रसिद्ध है, भारतीय हवाई कम्पनियों की स्थिति और उनकी समस्याओं की पूर्ण जाँच की और इस परिणाम पर पहुँची कि हवाई यातायात लाइसेन्सिग बोर्ड ने अपना कार्य सन्तोष-जनक रीति से नहीं किया और बिना किसी प्रकार का भेद किये कम्पनियों को लाइसेन्स दिये, जिसका परिणाम यह हुआ कि दो वर्ष के अन्दर ११ कम्पनियों को लाइन्सेस मिल गये जब कि संपूर्ण कार्य केवल चार कम्पनियाँ अच्छी प्रकार चला सकती थीं। इतनी अधिक कम्पनियाँ होने से उन्हें हानि उठानी पड़ी, इसके साथ ही हवाई कम्पनियों ने सतर्कता से कार्य नहीं किया और कम्पनी के सङ्गठन इत्यादि में बहुत अधिक

रुपया व्यय किया जब कि यातायात की स्थिति को देखते हुए यह उचित नहीं था। कम्पनियों का उत्पादन व्यय भी पेट्रोल के मूल्य १ रुपया १४ आना प्रति गैलन (१९४६) से बढ़कर १९४९ में २ रुपया ९ आना प्रति गैलन हो जाने से, बढ़ गया।

समिति हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष में नहीं थी। समिति का मत था कि हवाई यातायात के क्षेत्र में समय के अनुकूल परिवर्तनशील नीति की और साहस-पूर्वक नयी योजना कार्यान्वित करने की आवश्यकता है परन्तु यदि हवाई कम्पनियों को सरकार अपने अधिकार में ले लेगी तो इसकी संभावना कम हो जायगी। इस कारण समिति ने सिफारिश की कि वर्तमान कम्पनियों का चार कम्पनियों में एकीकरण किया जाय और बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा हैदराबाद में उनके अड्डे स्थापित हों। इससे हानिकारक प्रतियोगिता कम हो जायगी और कम्पनियों में कार्य का वितरण भी वैज्ञानिक तथा क्षेत्रीय आधार पर किया जा सकेगा। समिति ने सुझाव दिया कि उड़ान के घण्टों में कमी करने के लिए वर्तमान कम्पनियों की मार्गों को निर्धारित कर दिया जाय, विमानों की संख्या घटा दी जाय, अतिरिक्त कर्मचारियों की छटनी की जाय, और हवाई यातायात के संचालन-व्यय, उचित लाभांश और विमानों का प्रयोग करनेवाले यात्रियों की व्यय शक्ति पर विचार करके किराये तथा भाड़े की दर में वृद्धि की जाय। समिति ने सिफारिश की कि स्टैन्डर्ड-व्यय के आधार पर हवाई कम्पनियों को सरकार आर्थिक सहायता दे।

राष्ट्रीयकरण—हवाई कंपनियाँ स्वेच्छा से एकीकरण के लिए प्रस्तुत नहीं हुईं जैसी कि हवाई यातायात जाँच समिति को आशा थी। हवाई यातायात में अव्यवस्था के कारण कम्पनियों को भारी क्षति उठानी पड़ी और उनकी स्थिति डाँवाडोल होने लगी। यद्यपि जाँच समिति ने राष्ट्रीयकरण के विरुद्ध अपनी राय प्रकट की थी परन्तु हवाई कम्पनियों की बिगड़ती दशा को देखते हुए सरकार ने राष्ट्रीय करण करने का निश्चय किया। यह तर्क किया गया कि (१) राष्ट्रीयकरण हो जाने से उड़ान में जो समय व्यर्थ नष्ट होता है वह कम हो जायगा, एक ही कार्य अनेक बार नहीं करना पड़ेगा और हानि भी कम हो जायगी; (२) राष्ट्रीयकरण से संयुक्त प्रबन्ध होने से हवाई यातायात की कार्यक्षमता बढ़ेगी और (३) नागरिक उड्डयन का अच्छा सङ्गठन किया जा सकेगा जिससे युद्ध जैसे संकट काल में विमान चालकों, टेकनीशियनों इत्यादि के अभाव का सामना नहीं करना पड़ेगा।

हवाई कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के लिये संसद ने १९५३ का हवाई यातायात कार्पोरेशन कानून पास किया है जिसके अन्तर्गत १ अगस्त १९५३ को दो कार्पोरेशन स्थापित किये गये जिनमें से एक देश के अन्दर के हवाई यातायात

और दूसरा विदेशी यातायात सर्विसों का प्रबन्ध करेगा। मुआवजे के सम्बन्ध में बहुत विवाद चला। यह कहा गया कि मुआवजा मूल मूल्य में से टूट-फूट का व्यय घटाकर नहीं वरन् विमानों, विमान के अतिरिक्त कल-पुर्जों इत्यादि के वर्तमान बाजार-भाव के आधार पर दिया जाय। अनुमान था कि मुआवजे के वर्तमान आधार पर डेकोटा विमान लगभग ५०,००० रुपये में लिया जा सकता है जब कि उसका बाजार-भाव तीन लाख रुपया है, और स्काई मास्टर विमान ४ से ६ लाख रुपये में लिया जा सकता है जबकि बाजार में उसकी वर्तमान कीमत ३० लाख रुपया है। कानून में 'गुडविल' के लिए, कंपनियों द्वारा कर्मचारियों की शिक्षा में और नवीन मार्ग खोलने इत्यादि में व्यय किए गए धन का उचित मुआवजा देने की कोई व्यवस्था नहीं की गई थी। परन्तु यदि इन सब के लिए मुआवजा दिया जाय तो व्यय बहुत बढ़ जायगा और राष्ट्रीयकरण से हवाई यातायात में सुधार करने का उद्देश्य पूर्ण नहीं हो सकेगा। साथ ही राष्ट्रीयकरण से उस घाटे की पूर्ति नहीं की जा सकेगी जिससे वर्तमान कंपनियाँ पीड़ित हैं।

मुआवजे की समस्या १९५५ में ६·०१ करोड़ रुपया देकर सदा के लिये निश्चित कर दी गई। जहाँ तक राष्ट्रीयकरण के परिणामस्वरूप बेकारी का प्रश्न था, यह निश्चित कर लिया गया कि वे सब कर्मचारी जो ३० जून १९५२ के पूर्व कम्पनियों द्वारा नियुक्त किये गये थे उनकी बदली कारपोरेशन में कर दी गई और इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जा रहा है कि कर्मचारियों को पुनर्व्यवस्था और विस्तार के कार्य-क्रम में खपा लिया जाय।

वर्तमान स्थिति—१९५३ के आरम्भ में भारत में ९ हवाई कंपनियाँ थीं जिनके पास २१⅚ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी और टूट-फूट के कोष में ३ करोड़ रुपये से कुछ कम थे। इन कम्पनियों के विमान कुल २८,००० मील के क्षेत्र में चलते थे। जून १९५२ के अन्त तक भारत में ६७७ रजिस्टर्ड विमान थे, जिनमें २०३ विमानों को योग्यता के प्रमाण-पत्र दिये जा चुके थे। हवाई अड्डों पर कार्य करने वाले लाइसेन्स-प्राप्त विमान चालकों की संख्या ५५७ थी तथा ए लाइसेन्स प्राप्त चालकों की संख्या ५९२, ए–१ के लाइसेंस-प्राप्त विमान चालकों की संख्या १९, और बी. लाइसेन्स प्राप्त विमान चालकों की संख्या ४२९ थी। इससे पहले वर्ष की तुलना में इञ्जीनियरों तथा 'ए' लाइसेन्स-प्राप्त विमान चालकों की संख्या में वृद्धि हुई परन्तु ए—१ चालकों और बी. लाइसेन्स प्राप्त चालकों की संख्या घटी।

१९५२ और ५३ में हवाई यात्रा की स्थिति में अवनति होती रही और यात्रियोंकी संख्या और यातायात के माल की मात्रा में कमी आई जिसके कारण १९५२

में यात्रियों की संख्या घटकर ४·०४ लाख और ढुलाई के माल की मात्रा घट कर ८४·८ लाख पौंड हो गई जबकि यह संख्या १९५२ में क्रमशः ४·३ लाख एवं ८६·०४ लाख पौंड थी। इसका कारण कुछ तो जनता के पास धन की कमी और कुछ भारतीय हवाई सर्विस की दुर्व्यवस्था थी। यद्यपि डाक की मात्रा १९५२ में बढ़कर ८४ लाख पौंड और १९५३ में ८८ लाख पौंड हो गई फिर भी यात्रियों और यातायात के माल की कमी का घाटा इससे पूर्ण न हो सका।

भारत में हवाई कम्पनियों के कार्य के असंतोषजनक होने के अनेक कारण हैं : (१) हवाई कम्पनियों के कार्य-संचालन का व्यय बहुत अधिक है। इसमें विमानों में प्रयुक्त होनेवाले पेट्रोल और विमानों की देख-रेख इत्यादि का व्यय सम्मिलित है। कुल संचालन व्यय का ५० प्रतिशत पेट्रोल, विमान के कल-पुर्जों और स्टोर में व्यय होता है और ४० प्रतिशत पारिश्रमिक तथा वेतन में। श्रम न्यायालय के निर्णय के अनुसार पारिश्रमिक और वेतन अधिक निर्धारित किये गये हैं और पेट्रोल, स्टोर इत्यादि के व्यय में वृद्धि हवाई कम्पनियों की शक्ति के बाहर है। संचालन व्यय अधिक होने का एक कारण तो सरकार की नीति का दोष है और कुछ दोष उन परिस्थितियों का है जिन पर हवाई कंपनियों का कोई नियंत्रण नहीं और इसके लिए कम्पनियों को दोषी भी नहीं ठहराया जा सकता है; (२) हवाई कम्पनियों की संख्या यातायात को देखते हुए आवश्यकता से अधिक है, इस कारण किसी भी कम्पनी को पर्याप्त कार्य नहीं प्राप्त होता। इस दोष के लिए हवाई यातायात लाइसेन्सिंग बोर्ड उत्तरदायी है। बोर्ड ने अनेक कम्पनियों को उद्योग चालू करने की अनुमति दी और आवश्यकता का ध्यान रखे बिना विमानों की संख्या बढ़ाने दी; (३) कम्पनियों की कार्यक्षमता को देखते हुए कार्य पर्याप्त नहीं है परन्तु यह व्यवसाय ऐसा है जिसमें कुछ विमान चालकों, इञ्जीनियरों और टेकनीशियनों को नियुक्त करना पड़ता है। इसके फलस्वरूप कम्पनियों को आवश्यकता से अधिक कर्मचारियों का भार वहन करना पड़ता है; (४) किराये और भाड़े की जो न्यूनतम और अधिकतम दरें सरकार ने निश्चित कर दी हैं वह पर्याप्त नहीं हैं। प्रति यात्री से प्रत्येक मील के लिए अधिक से अधिक ४ आना किराया वसूल किया जा सकता है परन्तु रात में चलनेवाली डाक सर्विस के लिए किराये की दर २½ आना प्रति मील है। यह किराया भारतीय वायुयान कम्पनी के व्यय से बहुत कम है। यदि एक विमान पूर्ण वर्ष में १५०० घण्टे चलाया जाय तो प्रति घण्टे का स्टेन्डर्ड व्यय ५८६ रुपया होता है। इसलिए प्रत्येक सीट का प्रति मील का किराया विमान की ७ प्रतिशत जगह भरने

तालिका नं० १

अनुसूचित भारतीय हवाई सेवाओं के आंकड़े

वर्ष	यात्रा मीलों में (दस-लाख में)	यात्रियों की संख्या	यातायात माल की मात्रा (दस लाख पौं० में)	डाक की मात्रा (दस लाख पौंड में)
१९४६	४·५२	१०५२५१	१·८८	१·०३
१९४७	९·३६	२५४९६०	५·६५	१·४०
१९४८	१२·६५	३४११८६	११·९७	१·५८
१९४९	१५·१०	३५७४१५	२२·५०	५·०३
१९५०	१८·९०	४५२८६९	८०·०१	८·३६
१९५१	१९·५०	४४९४६२	८७·६६	७·१८
१९५२	१९·५६	४२४४८०	८६·०४	८·३८
१९५३	१९·२०	४०३९९२	८४·८२	८·८५
१९५४	१९·८०	४३१५९५	८६·४१	१०·६७
१९५५	२१·२७	४६९०००	९८·२०	११·४८
१९५६	२३·४८	५५९०००	९६·२३	१२·६९
१९५७	२३·३४	५९४०००	८५·०९	१२·९४

के आधार पर ४½ आना होना चाहिए। चूँकि किराया कम है इसलिए हवाई कम्पनियों को हानि होना स्वाभाविक ही है।

राष्ट्रीयकरण के पश्चात् हवाई सेवाओ की स्थिति में बहुत सुधार हुआ है। उड़ने का विस्तार १९५४ को १९८ करोड़ मी० से बढ़कर १९५७ में २३३·४ करोड़ मील हो गया। मेल तथा यात्रियों की संख्या भी बढ़ी है। मेल की मात्रा १९५४ में १०६·७ करोड़ पौंड थी जो कि १९५७ में बढ़ कर १२९·४ करोड़ पौंड हो गई और यात्रियों की संख्या जो कि १९५४ में ४३१५९५ थी बढ़ कर १९५७ में

५६४००० हो गई। लादने वाले माल की मात्रा १९५६ में ९६२·३ करोड़ पौंड थी जो कि १९५७ में थोड़ा घट गई और ८५०·९ करोड़ पौंड हो गई। इस उन्नति का अंशतः कारण आपसी विनाशकारी प्रतिद्वन्द्विता का समाप्त हो जाना तथा कुशलता संगठन रहा है जो कि कारपोरेशन की व्यवस्था के कारण संभव हो सका है, और अंशतः औद्योगिक और आर्थिक विकास रहा है जिसके कारण हवाई सेवाओं की अधिक मांग की गई है।

दोनों एयर कारपोरेशनों ने बहुत ही सन्तोषजनक उन्नति की है। उन्होंने कार्य-क्षेत्र बढ़ाया है और जनता को बहुत सी सुविधायें प्रदान की हैं। "ये कारपोशन अपनी वायुयान संबन्धी कार्यों के एकीकरण तथा उनके कुशल संगठन में व्यस्त रहे हैं। इण्डियन एअर लाइन्स अपने ९३ हवाई जहाजों, ६७ डकोटा, १२ वाइकिंग, ६ स्काई मास्टर और ८ हेरौन्स के द्वारा देश के प्रमुख केन्द्रों को सम्बन्धित करते हैं और उसके हवाई मार्गों का विस्तार १९,९८५ मील है। दि एयर इण्डिया इन्टरनेशनल अपने वायुयानों द्वारा जिसमें ५ सुपर कान्सटेलेशन्स, ३ कान्सटेलेशन्स और १ डकोटा है १५ देशों तक अपने कार्यों को प्रसारित किये हुये है। उसके हवाई मार्ग का विस्तार २३,४८२ मील है।"

इण्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन का कुल कार्य-क्षेत्र तीन भागों में विभाजित कर दिया गया है। प्रत्येक भाग एक मैनेजर के अधिकार में है और बम्बई, कलकत्ता और देहली के किसी न किसी अड्डे से नियंत्रित होगा। आई० ए० सी० को निरन्तर घाटा हो रहा है। १९५४-५५ में इस घाटे की रकम ९०·१५ लाख रुपया, १९५५-५६ में ११९·४० लाख रु० और १९५६-५७ में १०८·७९ रुपया थी। परन्तु इसके विपरीत एयर इन्डिया इन्टरनेशनल को निरन्तर लाभ होता रहा है। आई० ए० सी० के घाटे का कारण अंशतः कर्मचारियों की अत्यधिक सख्या का होना है तथा अंशतः सेवा की अत्यधिक लागत और वे कठिनाइयाँ है, जो इसे उन प्राइवेट कम्पनियों से मिली थी जिन्हें इसने ले लिया था।

हवाई भाड़ा—अपनी आर्थिक स्थिति को सुधारने के लिये तथा हानि बचाने के लिये ए० आई० सी० ने अपने भाड़े की दर में वृद्धि की घोषणा १५ जून, १९५८ से एअर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल की सलाह के अनुसार की। किसी-किसी मार्ग के भाड़े में वृद्धि १०% हुई है और अब बम्बई से कलकत्ते का किराया बजाय २२० रु० के २४२ रु० हो गया है। इस भाड़े की वृद्धि से ए० आई० सी० को ३० लाख रुपये वार्षिक अतिरिक्त आय होगी। इससे हवाई सेवा पर लगाये

टेक्स के कारण तथा पेट्रोल पर लगाये टेक्स तथा अन्य टेक्सों के कारण हवाई सेवा की लागत में वृद्धि का प्रभाव घटाया जा सकेगा—

ए० आई० सी० के लिये एअर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल ने हवाई भाड़े में वृद्धि की सिपारिश की और निम्न दरों का सुझाव दिया :

मील		प्रति मील प्रति यात्री भाड़ा आना पाई में
१ से ३० तक	...	०—६—६
३१ से १०० तक	...	०—५—०
१०१ से २०० तक	....	०—४—६
२०१ से ५०० तक	...	०—४—६
५०१ से ६०० तक	...	०—४—३
६०० से ऊपर	...	०—४—०

काउन्सिल की सिफारिश का आधार—"आर्थिक दृष्टिकोण से अधिकतम संख्या में यात्रियों को अधिक काम में आने वाले मार्गों की सेवा का प्रयोग करने का प्रोत्साहन देना था ताकि कम प्रयोग में लाये जाने वाले मार्गों से होने वाले घाटे के कारण जो सेवा की लागत और आय में अन्तर होता था वह न रहे और हवाई यात्रा के लाभों के कारण लोगों के मन में हवाई यात्रा करने की इच्छा स्थायी रूप से उत्पन्न हो जाय।" अधिक अच्छा होता यदि सरकार टेक्सों की मात्रा कम करके उनकी सहायता करती और कारपोरेशन अपना खर्च कम करने का प्रयत्न करते। हवाई यात्रा के भाड़े के बढ़ जाने से उसकी सर्वप्रियता के घट जाने का भय है। एयर ट्रान्सपोर्ट काउन्सिल की अल्पसंख्यक रिपोर्ट ने भी यह संकेत किया है कि, "भारत में हवाई यात्रा की ऊँची दरों के कारण हवाई यात्रा के प्रति आकर्षण के नष्ट होने का भय है और इस बात की आशंका है कि लोग बहुत बड़ी मात्रा में हवाई जहाजों द्वारा यात्रा के स्थान पर रेल द्वारा यात्रा करना अधिक पसन्द करने लगेंगे।"

योजना के अन्तर्गत—प्रथम योजना के अन्तर्गत वायुयान कारपोरेशन के निमित्त ६·५ करोड़ रुपयों का व्यय नियत किया गया था। पर वास्तव में प्रथम योजना में १५·४ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जिसमें ६ करोड़ रुपयों की रकम एयर क्राफ्ट खरीदने के लिये सम्मिलित थी। कुछ धन की मात्रा भूमि पर यातायात के साधन खरीदने, वर्तमान दफ्तरों के सुधार तथा नये दफ्तरों के खोलने पर भी व्यय की गई थी।

द्वितीय योजना में ३०.५ करोड़ रुपये व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है जिसमें से १६ करोड़ रुपया तो इन्डियन एअर लाइन्स कारपोरेशन पर और १४.५ करोड़ एयर इन्डिया इन्टरनेशनल पर व्यय किया जायगा। व्यय के मुख्य शीर्षक निम्न हैं :—

	करोड़ रुपये में
मुआवजे का चुकाना	५.१४
एअर क्राफ्टों का क्रय	१५.३४
इन्डियन एअर लाइन्स के कार्य में हानि	७.००
इन्डियन एअर लाइन्स के दफ्तर और कर्मचारियों के आवास	०.५०
एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के कारखाने का विस्तार	१.६५
इन्डियन एअर लाइन्स के आवश्यक सामान	०.५०
एअर इन्डिया इन्टरनेशनल के ऋणपत्रों का चुकाना	०.०६
कुल	३०.५३

इन्डियन एअर लाइन्स के बेड़े को आधुनिक बनाने के निमित्त व्यय का प्रबन्ध किया जा रहा है। कारपोरेशन ने ५ वाई काउन्टों के क्रय करने के लिए प्रथम योजना में ही आर्डर दे रक्खा था और आशा की जाती है कि १६५७ के मध्य तक वे आ जायेंगे और अन्य जहाजों के क्रय करने के लिये आर्डर दिये जाने के सम्बन्ध में छानबीन की जा रही है। इन्डिया इन्टरनेशनल के लिए यह व्यवस्था की गई है कि कुछ टर्बो-प्राप या जेट एअर क्राफ्ट बढ़ी हुई माँग को पूर्ण करने के लिये तथा अतिरिक्त सेवा के लिये क्रय किए जायँ। हवाई सेवाओं के विस्तार के कार्यक्रम को निश्चित करते समय अनेकों बातों का ध्यान में रखना आवश्यक होगा जैसे कि क्रय किये जाने वाले एअरक्राफ्टों के प्रकार, उनको चलाने का व्यय, किराये-भाड़े की दर, संगठन की कुशलता, हानि रोकने की सम्भावना, सेवाओं की सुरक्षा, और देश के सभी मार्गों को कुशल हवाई सेवा द्वारा एक दूसरे से सम्बन्धित कर देने की आवश्यकता इत्यादि।

अध्याय ३८

यातायात का परस्पर सम्बन्ध और नियोजन

भारतीय यातायात व्यवस्था में सुसम्बन्ध स्थापित करने और उसका नियोजन करने की दृष्टि से यातायात की सभी प्रकार की सुविधाओं का प्रसार होना चाहिए, यातायात के विभिन्न साधनों में होने वाली अनुचित प्रतियोगिता को रोकना चाहिए और उपभोक्ता के लिए यातायात के व्यय को कम किया जाना चाहिए।

भारत की सबसे बड़ी समस्या यह है कि देश की आवश्यकताओं को देखते हुए यातायात के वर्तमान साधन पूर्णतया अपर्याप्त हैं। यदि प्रति व्यक्ति को प्राप्त यातायात की सुविधा की भारत के बराबर क्षेत्रफल और जनसंख्या वाले अन्य देशों से तुलना की जाय तो ज्ञात होगा की भारतीयों को अन्य देशों के नागरिकों की अपेक्षा यातायात की बहुत कम सुविधा प्राप्त है। यदि रेलवे और हवाई मार्ग की लम्बाई दूनी कर दी जाय और जलयानों की माल ढोने की शक्ति को चार गुना बढ़ा दिया जाय तब भी इसे बहुत अधिक नहीं कहा जा सकता है, हाँ इससे देश की आवश्यकता अवश्य पूर्ण हो सकती है।

किसी भी देश के यातायात की सुविधा में वृद्धि का उसके औद्योगिक और आर्थिक विकास से निकट सम्बन्ध होता है। देश के आर्थिक विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसमें यातायात की सुविधा पर्याप्त हो, सस्ती हो और यातायात की गति तीव्र हो। उद्योगों के लिए यातायात व्यय उत्पादन का महत्वपूर्ण अंग है इसलिए उद्योगों का व्यय घटाने के लिए यातायात का व्यय घटाने की अत्यन्त आवश्यकता है। यातायात व्यय कम होने से उद्योगों की प्रतियोगिता शक्ति बढ़ेगी और माल का उपभोग भी बढ़ेगा। किसी भी देश की प्रगति में उसके यातायात की व्यवस्था, रेलवे, सड़कों और हवाई जहाजों तथा जलयान कम्पनियों की किराया एवं भाड़ा नीति और उसमें विभिन्न प्रकार के सामानों के यातायात की सुविधा का विशेष योग होता है। यदि यातायात नीति दोषपूर्ण है तो उद्योगों का स्थानीकरण भी दोषपूर्ण होगा। यातायात पर केवल उद्योगों का विकास निर्भर नहीं करता है किन्तु औद्योगिक विकास के प्रकार पर भी यातायात का प्रकार और उसका विकास निर्भर करता है।

पंचवर्षीय योजना में बताया गया है कि आगामी कुछ वर्षों में देश में

खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ने से और सिन्द्री में रसायनिक खाद का अधिक उत्पादन होने से इन वस्तुओं का आयात कम करना पड़ेगा, जिसके कारण बन्दरगाहों से इन वस्तुओं को देश के विभिन्न भागों में पहुँचाने के लिए यातायात की कम आवश्यकता होगी और ऐसी स्थिति में देश के अन्दर हुए उत्पादन को नियत स्थानों तक पहुँचाने के लिए यातायात की व्यवस्था में वृद्धि करनी पड़ेगी। दूसरी ओर राजगंगपुर के सिमेंट के कारखाने से जिसने १६५२ के आरम्भ से उत्पादन आरम्भ कर दिया है और विजयवाड़ा में स्थित आन्ध्र सिमेंट कम्पनी के प्रसार से उपभोग के केन्द्रों में ही उत्पादन व्यवस्था का प्रसार होने के फलस्वरूप यातायात की सुविधा की माँग कम हो जायगी। साधारणतया योजना को कार्यान्वित करने का प्रभाव यह होगा कि यातायात की सुविधाओं को बढ़ाने की माँग बढ़ेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि (अ) यातायात की सुविधा का प्रसार किया जाय, (ब) यातायात की सुविधाओं को बढ़ाने के कारणों का पता लगाया जाय और (स) यातायात की अन्य व्यवस्था करके वर्तमान व्यवस्था पर पड़े अनुचित भार को कम किया जाय।

भारत में वास्तविक कठिनाई यह है कि पंचवर्षीय योजना के होते हुए भी विकास की गति बहुत धीमी है। पंचवर्षीय योजना के समाप्त हो जाने के पश्चात् भी यातायात की सुविधाएँ देश की आवश्यकता को देखते हुए कम ही रहेंगी। यातायात की सुविधा में तीव्र गति से प्रगति न होने के अनेक कारण हैं :

(१) वित्त का अभाव है, इस कारण अधिक सड़कों का निर्माण करने में, अधिक रेलवे लाइन बिछाने में और रेलवे के लिए अधिक रोलिंग स्टाक क्रय करने में, सड़कों के लिए मोटर तथा बस क्रय करने में और विमान तथा जलयानों को क्रय करने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। केवल प्रसार योजना की माँग पूर्ण करने के लिए ही नहीं किन्तु वर्तमान में चालू गाड़ियों, बसों और जलयानों को बदलने के लिए, जो कि प्रायः बेकार हो चुके हैं, अधिक गाड़ियों, बसों और जलयानों की आवश्यकता है। इसलिए हमें अपने सभी उपलब्ध वित्त साधनों का यातायात की वर्तमान स्थिति के सुधार में और उसके प्रसार में सुसम्बद्ध उपाय से व्यय करना चाहिए। दूसरी कठिनाई यह है कि यातायात के साधनों के लिए आवश्यक सामग्री के मूल्य बहुत बढ़े हुए हैं। यदि वित्त आवश्यकता पूर्ण भी हो जाय तब भी उससे इतनी अधिक मूल्यों पर सभी आवश्यक सामग्री नहीं क्रय की जा सकती। वित्त अभाव और सामानों का अधिक मूल्य होने के कारण भारत में यातायात की सुविधा के प्रसार में बाधा उत्पन्न हो जाती है।

(२) सड़क बनाने और रेलवे लाइन बिछाने के लिए आवश्यक सामान का अभाव है। इसके साथ ही मोटरों, रेलों के डिब्बों, इञ्जनों, जलयानों, विमानों और इनके अलग कल पुर्जों तथा स्टोर का भी बहुत अभाव है। इनमें से अधिकांश के लिए भारत को विदेशों से आयात पर निर्भर करना पड़ता है। इधर कुछ वर्षों से भारत में इञ्जनों, जलयानों इत्यादि के उत्पादन में वृद्धि हुई है परन्तु अभी बहुत लम्बा मार्ग तय करना है। भारतीय यातायात के विकास की समस्या का (अ) सड़क अथवा रेल के निर्माण के लिए आवश्यक सामग्री का उत्पादन करनेवाले उद्योगों के विकास से और (ब) मोटर तथा जलयानों का निर्माण करनेवाले उद्योगों के विकास से गहरा सम्बन्ध है। उद्योगों के धीरे-धीरे विकास होने से यातायात की सुविधा की प्रगति भी सीमित हो गई है।

(३) कुशल कारीगरों, इंजीनियरों, विमान चालकों इत्यादि का बहुत अभाव है, यातायात की व्यवस्था का विकास करने के लिए इनका अभाव नहीं होना चाहिए। इसलिए इनकी संख्या को बहुत अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। सरकार ने कारीगरी की शिक्षा के लिए विशेष व्यवस्था की है और यातायात की सुविधाओं का प्रसार उसी गति से होगा जिस गति से कारीगरों और अन्य कुशल कर्मचारियों के अभाव की पूर्ति होगी।

यातायात में सुसम्बन्ध स्थापित करने की नीति का उद्देश्य है कि उपभोक्ता को यातायात में कम से कम व्यय करना पड़े। इसका तर्कसंगत परिणाम यह निकला कि हमें यातायात के उन सभी साधनों को समाप्त कर नये साधनों का उपयोग करना पड़ेगा जो उपयुक्त नहीं हैं; समय की माँग पूर्ण नहीं कर सकते हैं और पुराने हैं। उपभोक्ता के लिए सड़क यातायात रेलवे की अपेक्षा अधिक सस्ता और सुविधाजनक है क्योंकि सड़कों से आसपास के सभी क्षेत्र लाभ उठा सकते हैं और रेलवे स्टेशन तक माल ले जाने और वहाँ से लाने में जो अनावश्यक व्यय होता है उसकी बचत हो जाती है। इसका तात्पर्य यह है कि सड़क यातायात के प्रसार और विकास से या तो रेल यातायात बन्द हो जायगा या उसका क्षेत्र संकुचित हो जायगा। यदि मोटर, ट्रक और बसें बैलगाड़ियों से अधिक बचत वाले और तीव्रगति चल सकने वाले साधन हैं तो इसका तात्पर्य है कि नगरों और कस्बों में बैलगाड़ियों का अस्तित्व ही रह जायगा। यदि भाप से चलनेवाले जलयान हवा से चलने वाले जलयानो से अधिक बचत वाले हैं तो हवा से चलने वाले जलयानों की आवश्यकता ही नहीं रह जाती। परन्तु व्यवहारिक क्षेत्र में इस प्रकार का तीव्र परिवर्तन न तो संभव है और न इसकी सलाह दी जा सकती है क्योंकि (१) पूँजी इस समय ऐसे साधनों में लगी हुई है जो आधुनिक

साधनों की तुलना में कुशल साधन नहीं कहे जा सकते। यदि इन साधनों को बिल्कुल समाप्त कर दिया जाय या इनका कार्यक्षेत्र संकुचित कर दिया जाय तो इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र को गहरी क्षति पहुँचेगी। ऐसी स्थिति में यातायात के पुराने साधनों के स्थान पर नये साधनों का उपयोग करना एक धीमी प्रक्रिया है। इसमें काफी अधिक समय लगेगा। यातायात के कुशल और उपयुक्त साधनों का धीरे-धीरे उपयोग बढ़ाया जायगा और अकुशल तथा अपेक्षाकृत कम उपयुक्त साधनों को धीरे धीरे हटाया जायगा। यह प्रक्रिया तब तक प्रचलित रहेगी जब तक उद्देश्य पूरा नहीं हो जाता; (२) भारत में कुछ समय तक हवा से चलने वाले जलयानों और बैलगाड़ियों का उपयोग करना पड़ेगा अन्यथा यातायात की माँग और उसकी पूर्ति का अन्तर और बढ़ता जायगा। भारत में यातायात की कुल व्यवस्था ऐसी है कि हम अभी काफी समय तक अकुशल और पुराने साधनों को समाप्त नहीं कर सकते।

इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए इस दिशा में सर्वोत्तम नीति यह होगी कि वर्तमान के यातायात के साधनों को प्रचलित रखा जाय और (अ) कार्य को सुनियोजित करके, कुछ साधनों के अत्यधिक कार्य भार को हल्का करके और अनेक साधनों की उपयुक्त शक्ति का उपयोग करके यातायात की वर्तमान व्यवस्था का दुरुपयोग बचाया जाय; (ब) यातायात से विभिन्न साधनों की परस्पर अनुचित प्रतियोगिता को रोका जाय, साथ ही एक ही प्रकार के साधन की विभिन्न इकाइयों की अनुचित प्रतियोगिता को समाप्त किया जाय; और (स) रेलवे, सड़क, जल यातायात तथा हवाई कंपनियों को उचित लाभ के साथ ही साथ उपभोक्ताओं के लिये यातायात सस्ता किया जाय।

वर्तमान में रोडवेज और रेलवे, रेलवे और जल यातायात और रेलवे तथा वायु यातायात में तीव्र प्रतियोगिता नहीं है। यातायात के सभी साधनों का अभाव है और सभी साधनों के कार्यक्षेत्र पर्याप्त हैं इसलिए कुछ अपवादों को छोड़कर व्यापार हथियाने के लिए इनमें कोई प्रतियोगिता नहीं है। इसके साथ ही विभिन्न साधनों का किराया इस प्रकार निर्धारित किया गया है कि प्रतियोगिता नहीं हो सकती है। सरकारी बसें वर्तमान में बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में भिन्न-भिन्न किराया वसूलती हैं। बम्बई का किराया ८ से ९ पाई प्रति मील है और उत्तर प्रदेश का ७½ से ९ पाई प्रति मील है, जब कि रेल की तीसरी श्रेणी का किराया साधारण या डाक गाड़ी से १५० मील तक क्रमशः ५¾ और ६⅔ पाई प्रतिमील है। वायुयान का किराया प्रायः ४ आना प्रति मील है और रात की डाक सर्विस से किराया २½ आना प्रति मील है। जब कि रेलवे की प्रथम

श्रेणी का किराया २½ से २¾ आना प्रति मील है। बसों और रेलों में कुछ क्षेत्रों में अवश्य प्रतियोगिता चलती है पर बड़े पैमाने पर कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है। वायुयान से यात्रा अभी अवश्य कुछ महंगी है और रेलवे यात्रा से कुछ अधिक भयप्रद भी है। कुछ उच्च श्रेणी के यात्रियों के अतिरिक्त वायु यातायात से रेलवे को कुछ हानि नहीं हैं परन्तु भविष्य में जैसे-जैसे सड़क और वायु यातायात अधिक सस्ता और कम भयप्रद होता जायगा वैसे-वैसे रेलवे से प्रतियोगिता भी बढ़ती जायगी।

भारत के कुछ भागों में जलयानों द्वारा तटीय यातायात में और रेलवे यातायात में प्रतियोगिता चलती है और देश के विमानों की तटीय व्यापार में जलयानों से प्रतियोगिता चलती है परन्तु तटीय जलयान व्यापार को नियमित कर देने से यह प्रतियोगिता कम हो गई है। भविष्य में पुनः प्रतियोगिता बढ़ने की सम्भावना है, परन्तु इनमें अनुचित प्रतियोगिता बढ़ने का कोई कारण नहीं है। भविष्य में रेलवे लाइन से समकोण बनाती हुई सड़कों का निर्माण करके और सड़कों के प्रसार की ऐसी योजना बनाकर कि उनसे विभिन्न बन्दरगाहों में जल यातायात की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके यातायात के विभिन्न साधनों के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकने की पूर्ण सम्भावना है। रेलवे तथा जल यातायात के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिए एक योजना बनाई गई है जिसमें व्यवस्था की गई है कि मँगलौर बन्दर से रेल सम्बन्ध चिकामगलुर होते हुए मद्रास से सम्बन्धित किया जाय।

यदि यातायात के सभी साधनों का राष्ट्रीकरण किया जाय तो इनमें परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित कर सकना सुगम हो जायगा। यदि सभी साधनों की स्वामी सरकार हो और वही इनको चलाये तो सड़कों को जोड़ने और एक स्थान पर कई प्रकार के यातायात उपलब्ध होने इत्यादि में व्यर्थ रुपया नहीं लगाना पड़ेगा। निजी उद्योग होने पर ऐसा आवश्यक हो जाता है। सरकार ने सड़क यातायात का एक सीमित क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण किया है जिसके कारण इन क्षेत्रों में रोडवेज और रेलवे के मध्य कोई अनुचित प्रतियोगिता नहीं है। राष्ट्रीयकरण किये हुये सड़क यातायात से रेलवे को सहायता मिलती है। यह सड़कें विभिन्न क्षेत्रों को रेलवे मार्ग से सम्बन्धित करती हैं। सड़क यातायात को निश्चित क्षेत्र में एक विशेष दूरी तक सीमित करके और रोडवेज़ सर्विस को उन सड़कों पर चालू करके जहाँ रेलवे यातायात की सुविधा नहीं है यह परिणाम निकला है। रेलों से यात्रियों की सुविधा का प्रबन्ध बढ़ा है और किराये में भी वृद्धि हुई है और इससे दोनों में अनुचित प्रतियोगिता की हानियों को समाप्त कर दिया गया

है। यद्यपि राष्ट्रीकरण कर देने से अनुचित प्रतियोगिता तो समाप्त की जा सकती है परन्तु यह व्यवस्था सभी स्थितियों में सुविधाजनक सिद्ध नहीं हो सकती। भारतीय रेलों और वायुयान कम्पनियों का कुछ थोड़े छोटे मार्गों को छोड़कर पूरी तरह राष्ट्रीकरण किया जा चुका है और सड़क यातायात का बहुत सा भाग भी राज्य सरकारें ले चुकी हैं, परन्तु कुछ क्षेत्रों में सड़क यातायात और पूरा जल यातायात अभी निजी उद्योगपतियों के हाथ में है। यातायात के सभी साधनों का राष्ट्रीकरण करना सम्भव नहीं है क्योंकि (१) आवश्यक कर्मचारियों का अभाव है और (२) हानि होने का डर है। यह हानि विशेषकर जल यातायात में अधिक हो सकती है क्योंकि इसका पूर्ण विकास नहीं हो सका है और उसे विदेशी जलयान कम्पनियों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। यह कहना अनुचित न होगा कि राष्ट्रीकरण से हानिकारक प्रतियोगिता की समस्या सुलझाई जा सकती है। इसके साथ ही इसमें एकाधिकार के दोष भी उत्पन्न हो सकते हैं जैसे उपभोक्ता के हितों की उपेक्षा, कार्य व्यय में वृद्धि और अकुशल कार्य। यदि हानिकारक प्रतियोगिता को समाप्त करने से नई समस्याएँ उत्पन्न हो जायँ तो इस व्यवस्था को उपयुक्त नहीं कहा जा सकता।

यातायात का पूर्ण राष्ट्रीकरण न हो सकने पर भी यातायात के विभिन्न साधनों में निम्नलिखित उपायों से परस्पर उचित सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है:—(१) कानून द्वारा प्रत्येक प्रकार के यातायात के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करके, विभिन्न साधनों के अधिकतम और न्यूनतम किराये की दर निश्चित करके और विभिन्न साधनों द्वारा यात्रियों को दी जानेवाली न्यूनतम सुविधाओं और सामान के यातायात की सुविधाओं को निश्चित करके; (२) यातायात के विभिन्न साधनों के कार्य के निरीक्षण के लिए और उनमें उचित सम्बन्ध स्थापित करने के लिये केन्द्रीय यातायात परिषद् स्थापित करके। यातायात की व्यवस्था में परिस्थितियों के अनुसार शीघ्र परिवर्तन हो जाता है इसलिये यातायात के विभिन्न साधनों के तथा उपभोक्ताओं के हितों की केवल कानून द्वारा ही रक्षा की जा सकती है। इससे किराये की दरों में घटने-बढ़ने की सम्भावना समाप्त हो सकती है और जनता को असुविधा हो सकती है परन्तु यह कठिनाइयाँ पर्याप्त अधिकार दिये जाने पर और सन्तोषजनक रीति से कार्य कर सकने के लिए व्यापक क्षेत्र देने पर राज्य यातायात परिषद् दूर कर सकती है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में ५५७ करोड़ रुपया यातायात और संचार विभाग के लिये नियत किया गया था। यह धन योजना के कुल व्यय का २३·६% था। द्वितीय योजना के अन्तर्गत १३८५ करोड़ रुपया, जो कि कुल योजना के

व्यय का २८.९% है, यातायात और संचार विभाग पर व्यय करने के लिये नियत किया गया है। इस १३८५ करोड़ रुपये में से रेलवे, सड़क, सड़क यातायात, बन्दरगाहों, जल यातायात और हवाई यातायात पर क्रमशः ९०० करोड़ (कुल व्यय का १८.८%), २४६ करोड़ (५.१%), १७ करोड़ (०.४%), ४५ करोड़ (०.९%), ४८ करोड़ (१.०%) और ४३ करोड़ (०.९%) व्यय किया जायगा। प्रथम योजना के अन्तर्गत ५५७ करोड़ रुपये के कुल व्यय में से इन्हीं शीर्षकों पर क्रमशः २६८ करोड़ (११.४%), १३० करोड़ (५.५%), १२ करोड़ (०.५%), ३४ करोड़ (१.४); २६ करोड़ (१.१%) और २४ करोड़ रुपया (१.०%) व्यय किया गया था। इन आंकड़ों से ज्ञात होता है कि कुल व्यय का प्रतिशत व्यय रेलवे पर बढ़ा दिया गया है और अन्य साधनों पर कुछ घटा दिया गया है।

	१९५०-५१ की स्थिति	१९५५-५६ में अनुमानित स्थिति	१९६०-६१ तक ध्येय
रेलवे—			
(१) पैसेन्जर गाड़ियाँ (मील दस लाख में)	९५	१०८	१२४
(२) माल जो लादा गया (दस लाख टनों में)	९१	१२०	१६२
सड़क—			
(१) राष्ट्रीय राजपथ (हजार मीलों में)	१२.३	१२.९	१३.८
(२) सरफेस्ड रोड्स (हजार मीलों में)	९७	१०७	१२५
जहाज—			
(१) तटीय और पड़ोसी से सम्बन्धित टेन्करों को सम्मिलित करते हुये (लाख जी. आर. टी.)	२.२	३.२	४.३
(२) समुद्र पार ट्रैम्प टनेज को सम्मिलित करते हुये (लाख जी. आर. टी.)	१.७	२.८	४.७
बन्दरगाह—			
सेवा करने की शक्ति (दस लाख टनों में)	२०	२५.०	१२५

ऊपर दिये गये आँकड़ों से यह ज्ञात होता है कि द्वितीय योजना के अन्तर्गत सर्वतोन्मुखी विकास का प्रयत्न किया जायगा। १९५५-५६ की तुलना में सब से अधिक प्रतिशत वृद्धि १९६०-६१ में समुद्र पार की जल यातायात के सम्बन्ध

में की जायगी। जल यातायात के सम्बन्ध में ६८%, रेलवे में १५%, तटीय जल यातायात में ३४% और बन्दरगाहों पर माल उतारने चढ़ाने की शक्ति में ३०% की वृद्धि की जायगी।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का मुख्य ध्येय यातायात सम्बन्ध में यह था, कि यथासम्भव गत १० वर्षों से अत्यधिक कार्य में आने वाले प्रसाधनों को बदल कर नया कर दिया जाय। रेलवे के सम्बन्ध में यह कार्य बहुत कठिन था। जल यातायात, बन्दरगाहों, प्रकाशस्तम्भों, वायु यातायात आदि के सम्बन्ध में भी इस कार्य के लिए बहुत बड़ी धनराशि नियत करनी आवश्यक थी। प्रथम योजना काल में क्योंकि कृषि और उद्योगों की उत्पत्ति में वृद्धि हो गई थी इसलिये यातायात की सुविधा के अभाव का अनुभव विशेषकर योजना के तीसरे वर्ष से होने लगा था। इस स्थिति को सम्भालने के लिये अतिरिक्त धन का अनुमान रेलवे, सड़कों, जल यातायात, नदियों और वायु यातायात के लिये किया गया और इनके विकास के कार्य-क्रम में भी वृद्धि की गई। रेलवे के गंत्रयानादि के क्रय का कार्य-क्रम बढ़ाया गया और उन क्षेत्रों में लाइनें बढ़ाने के लिये विशेष प्रयत्न किया गया जहाँ रेल यातायात की माँग अधिक थी। एक अन्तर्विभागीय अन्वेषण वर्ग द्वारा यातायात के सभी साधनों के पारस्परिक विकास सम्बन्धी प्रश्न पर और मुख्यतः सड़क यातायात के विकास सम्बन्धी प्रश्न पर जो बढ़ती हुई माँग के हिसाब से बहुत दिनों से पिछड़ा हुआ था विचार किया गया। सड़क यातायात के व्यक्तिगत भाग में विकास सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिये उपाय किये गए और लाइसेन्स देने की नीति को अधिक उदार बनाया गया। भारतीय जल यातायात की सहायता के उपाय भी किये गये।

यद्यपि प्रसाधनों के नवीनतम करने के कार्य अभी शेष हैं फिर भी द्वितीय योजना में देश के यातायात साधनों के समुचित विकास की (विशेष कर रेलवे की जिसके द्वारा सदा से अधिकतम यातायात की सुविधा प्रदान की गई है) व्यवस्था की जा रही है। रेलवे के विकास के कार्य-क्रम का देश के औद्योगिक विकास के साथ विशेषकर बड़े-बड़े उद्योगों, जैसे स्पात, कोयला, सिमेंट आदि, के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखना आवश्यक होगा। द्वितीय योजना विभिन्न यातायात के साधनों के बीच पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करने का भी प्रयत्न करती है। सड़क यातायात की सुविधा में जो सरकार द्वारा प्रदान की जा रही है रेलवे द्वारा अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने की व्यवस्था की जा रही है। रेलवे और तटीय जल यातायात तथा रेलवे और नदी द्वारा यातायात के सामंजस्य पर और भी विशेष ध्यान दिया गया है। इस प्रकार द्वितीय योजना के अन्तर्गत मुख्य-मुख्य

यातायात साधनों और उनके पारस्परिक सामंजस्य के अधिकतम विकास की ओर विशेष ध्यान दिया गया है ताकि प्रत्येक अपने-अपने क्षेत्र के कार्य को अच्छे से अच्छे ढङ्ग से पूर्ण कर सके। इस स्थिति का निष्कर्ष यह है कि आगामी पाँच वर्षों में सभी प्रकार के यातायात साधनों की माँग बहुत अधिक बढ़ेगी, इसलिये यह प्रस्ताव किया गया है कि प्रतिवर्ष यातायात और संचार के विकास के कार्य-क्रम पर विचार किया जाये ताकि जहाँ कहीं आवश्यक हो ऐसे उपायों को अपनाया जाय जिनसे यातायात की कठिनाइयों के कारण योजना के अन्य कोई कार्य-क्रम में बाधा न पड़े।

अध्याय ३६

विदेशी व्यापार

भारत के विदेशी व्यापार को युद्धकाल में और युद्धकाल के पश्चात् अनेक परिवर्तनों का सामना करना पड़ा है। द्वितीय विश्वयुद्ध के समय यातायात की कमी होने से, कच्चे माल, रसायनिक इत्यादि का अभाव होने से, विदेशी विनिमय मुद्रा की कठिनाई और सरकार के अनेक नियंत्रण आदेशों से भारत के विदेशी व्यापार में बहुत बाधा हुई। युद्ध के पश्चात्काल में अगस्त १६४७ को देश का विभाजन हो जाने से भारत का विदेशी व्यापार छिन्न-भिन्न हो गया। विभाजन के पूर्व भारत में कपास, जूट, तिलहन, खाल, चमड़ा इत्यादि का पर्याप्त मात्रा में उत्पादन होता था और देश की आवश्यकता पूरी करने के उपरान्त इनका निर्यात किया जाता था। विभाजन के पश्चात् भारत में इनमें से अधिकतर कच्चे माल की कमी हो गई। इसका परिणाम यह हुआ कि इनका निर्यात घट गया, जो उद्योग इन पर निर्भर करते थे वह अपना उत्पादन नहीं बढ़ा सके और हमें अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए अधिक मूल्य पर कपास और अन्य आवश्यक कच्चा माल विदेशों से आयात करना पड़ा। विभाजन के पूर्व पाकिस्तान के कुछ भागों से देश की खाद्यान्न की आवश्यकता की पूर्ति होती थी। विभाजन से देश के कुछ सबसे अधिक उपजाऊ क्षेत्र पाकिस्तान के भाग में चले गये जिससे देश को खाद्यान्न की कमी का भी सामना करना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप भारत को खाद्यान्न का बहुत बड़ी मात्रा में विदेशों से आयात करना पड़ा। विभाजन के पूर्व पाकिस्तान भारत का एक अंग था और पाकिस्तान के क्षेत्र भारत के स्वदेशी व्यापार क्षेत्र थे परन्तु विभाजन से वह क्षेत्र विदेशी बन गये। यद्यपि स्वदेशी व्यापार अब भी विदेशी व्यापार की अपेक्षा अधिक है फिर भी उक्त परिवर्तनों से घरेलू तथा विदेशी व्यापार के सापेक्षिक महत्त्व में काफी परिवर्तन आ गया है।

आयात-निर्यात व्यापार का सन्तुलन—विश्वयुद्ध से पहले और विश्वयुद्ध के समय भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति अनुकूल थी। इसमें अतिरिक्त बचत हुई थी परन्तु युद्ध के पश्चात् काल में विदेशी व्यापार का सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल होता गया। जैसा तालिका १ में दर्शाया गया है, १६५१-५२ में आयात-निर्यात की यह प्रतिकूल स्थिति २२१·६५ करोड़ रुपये तक पहुँच गई। पर सौभाग्यवश १६५२-५३ से लगाकर १६५५-५६ तक असंतुलन १०० करोड़ रुपये

से कम का ही रहा और १९५६-५७ में ही केवल पुनः बढ़ कर २३१·३३ करोड़ रुपया हो गया। युद्ध से पूर्व यह आवश्यक था कि विदेशी व्यापार की स्थिति अनुकूल हो और अतिरिक्त बचत रहे जिससे ऋण का व्याज चुकाया जाय, रेलवे और सिंचाई के साधनों का वार्षिक भत्ता दिया जाय, असैनिक कार्यालयों का,

तालिका नं० (१)

भारत का कुल आयात और निर्यात

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आयात	निर्यात	असंतुलन
१९५१-५२	९५४·५९	७३२·९४	—२२१·६५
१९५२-५३	६७०·०७	५७८·०७	— ९२·००
१९५३-५४	५७२·०७	५३०·६६	— ४१·३९
१९५४-५५	६५६·४४	५९३·९८	— ६२·४६
१९५५-५६	६७८·९९	५९७·४३	— ८१·५६
१९५६-५७*	८३३·४३	६०२·०९	—२३१·३३

*अनुमानित

तालिका नं० (२)

मात्रा, मूल्य तथा आयात निर्यात व्यापार संबंधी अनुपातिक निर्देशांक

आधार १९५२–५३=१००

	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७	१९५७-५८
आयात						
मात्रा निर्देशांक	१००	९३	११०	११६	१३७	१५२
मूल्य निर्देशांक	१००	९२	८९	८७	९०	९९
निर्यात						
मात्रा निर्देशांक	१००	१००	१०५	११५	११०	१२०
मूल्य निर्देशांक	१००	९२	९८	९०	९४	९४
आयात निर्यात व्यापार के अनुपातिक सम्बन्ध का निर्देशांक	१००	१००	११०	१०३	१०४	९५

सेना और जहाजों का, इण्डिया आफिस और भारत के लिये स्टोर खरीदने का व्यय दिया जाय और छुट्टी के भत्ते का भुगतान किया जाय। युद्ध आरम्भ होने के पहले के चार वर्षों में इन मदों में औसतन कुल ३ करोड़ ५ लाख पौंड व्यय हुआ।

परन्तु अब यह आवश्यक नहीं है कि आयात-निर्यात व्यापार का सन्तुलन बराबर अनुकूल ही हो क्योंकि (१) पंचवर्षीय योजना के बड़े पैमाने पर आर्थिक नियोजन करने पर प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन असंभव नहीं है। योजना सफल बनाने के लिए देश को बड़ी संख्या में मशीनों, कच्चे माल इत्यादि का आयात करना पड़ता है। बिना इस सामग्री के योजना को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता है। (२) युद्ध काल में भारत के नाम काफी पौण्ड-पावना जमा हो गया। एक बार कुल पावना १७३३ करोड़ रुपया हो गया था। (३) भारत ने अमरीकी सरकार, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष इत्यादि से जो ऋण लिये हैं उनकी रकम में से भी प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के घाटे की पूर्ति की जाती है। परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन देश की दुर्बलता का चिन्ह है और यदि इसमें एक सीमा से अधिक वृद्धि होती है या घाटा काफी लम्बे समय तक चलता है तब अवश्य यह चिन्ता का विषय बन जाता है।

भारत सरकार ने १६४८ में मुद्रास्फीति को रोकने के लिए और उपभोक्ताओं एवम् उद्योगों की मांगों की पूर्ति करने के लिए उदार आयात नीति अपनायी। इसका परिणाम यह हुआ कि आयात की मात्रा बढ़ गई और १६४८-४६ में ५४३·८५ करोड़ रुपये का आयात किया गया। इसके विपरीत औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि न होने से, कच्चे माल की कमी होने से और निर्यात की जाने वाली अन्य वस्तुओं के अभाव से भारत का निर्यात व्यापार न बढ़ सका।

ये सब अनुकूल परिस्थितियाँ १६५१ के आरम्भ में प्रायः समाप्त होने लगीं। कुछ मामलों में तो पहले ही समाप्त होने लगी थीं। अवमूल्यन का लाभ अस्थायी सिद्ध हुआ। सरकार ने १६५१ के आरम्भ में अपनी व्यापार नीति बदली और निर्यात को प्रोत्साहन देने की अपेक्षा जो कुछ साधन उपलब्ध थे उनका उपयोग स्वदेश की माँग पूरी करने में किया जाने लगा। कुछ वस्तुओं का जैसे अलौह-धातुओं और कच्ची खाल का निर्यात बिल्कुल बन्द कर दिया गया; अनेक वस्तुओं जैसे सूती कपड़े, कपास, तेल और तिलहन के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिये। कुछ वस्तुओं जैसे जूट के सामान, सूती कपड़े इत्यादि पर निर्यात-कर बढ़ा दिया और काली मिर्च, कच्चे ऊन इत्यादि पर नये निर्यात कर लागू कर दिये गये। विश्व में शान्ति स्थापित होने की सम्भावना के बढ़ने के साथ ही पश्चिमी

देशों को पुनः शास्त्रीकरण की और स्टाक एकत्र करने की योजना को कार्यान्वित करने की गति मंद पड़ गई और १६५१ के मध्य तक भारतीय वस्तुओं की माँग में हुई वृद्धि समाप्त हो गई। कुछ भारतीय वस्तुओं की माँग में संकुचन आने से मन्दी के लक्षण दृष्टिगोचर हुए इससे भारतीय निर्यात व्यापार बहुत घट गया। १६५२ के आरम्भ में कीमतें वास्तव में गिर गईं। १६४६-५० और १६५१-५२ में व्यापार सन्तुलन की अनुकूल स्थिति अब प्रतिकूल हो गई। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतें भी घट गईं इससे १६५१-५२ में व्यापार सन्तुलन की स्थिति और बिगड़ी और २२१·६५ करोड़ रुपये का घाटा उठाना पड़ा। १६५२-५३ से स्थिति कुछ सुधरी क्योंकि कुछ तो सरकार की नीति से और कुछ स्टाक जमा हो जाने के करण खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं के आयात में कमी कर दी गई। यद्यपि भारत को आयात की गई वस्तुओं की कीमत निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की कीमत की अपेक्षा अधिक चुकानी पड़ी फिर भी व्यापार-सन्तुलन में (जैसा तालिका १ में दर्शाया गया है) १६५२-५३ में केवल ६२·०० करोड़ रुपये का ही घाटा उठाना पड़ा। १६५३-५४ और १६५४-५५ में व्यापार का हमारे विरुद्ध असन्तुलन और अधिक घट कर ४१·३६ करोड़ रुपये तथा ६२·४६ करोड़ रुपये क्रमशः हो गया। परन्तु फिर स्थिति ने पलट खाया। और हमारे विरुद्ध असंतुलन की मात्रा १६५५-५६ में ८१·५६ करोड़ तथा १६५६-५७ में २३१·३३ हो गई और ऐसा अनुमान है कि १६५७-५८ में यह मात्रा बढ़कर और भी अधिक हो जायगी। इस वृद्धि का कारण प्रथम योजना के अन्तिम वर्ष में तथा द्वितीय योजना के प्रथम दो वर्षों में आयात की मात्रा में अत्यधिक वृद्धि है जो कि विकास योजनाओं को पूरा करने के लिये की गई थी और आयात के नीति के दृढ़ता से संशोधित करने के पहिले बड़ी सरलता और उदारता से आयात लाइसेन्स देना था। यदि आयात के साथ-साथ निर्यात की मात्रा में भी वृद्धि हुई होती तो भी कोई लाभ न होता परन्तु यह सम्भव न हो सकता था क्योंकि, भारत में ही निर्यात की वस्तुओं के अतिरेक की मात्रा में कमी आ गई थी, (२) कर के आधिक्य तथा मजदूरी बढ़ने से निर्यात की कुछ वस्तुओं का मूल्य अन्य वस्तुओं की अपेक्षा अधिक बढ़ गया था, और (३) विदेश की बाजारों में तीव्र स्पर्धा के कारण तथा अन्य कारणों में भारतीय वस्तुओं की मांग घट गई थी। सबसे अधिक अहित की बात तो यह थी कि आयात निर्यात अनुपात निर्देशांक हमारे विपक्ष से बढ़ रहा था। १६५४-५५ में ११० था (तालिका न० २) और १६५६-५७ में १०४ हो गया तथा १६५७-५८ में उससे घट कर ६५ होने का भय था। इसका कारण यह था कि भारत को आयात माल की औसत कीमत निर्यात माल से प्राप्त औसत कीमत की अपेक्षा अधिक देनी पड़ी।

भुगतान का सन्तुलन (Balance of Payment)—प्रत्यक्ष आयात और निर्यात के आधार पर भुगतान का सन्तुलन निश्चित किया जा सकता है। इसमें वस्तुओं का आयात-निर्यात, अप्रत्यक्ष आयात और निर्यात जैसे ऋण और दान, यातायात का व्यय, डाक, बीमा तथा अन्य कार्यों के लिए व्यय, भ्रमणार्थियों और विदेशी लोगों द्वारा खर्च की गई मुद्रा इत्यादि सम्मिलित है। अप्रत्यक्ष मदों में युद्ध के बाद के वर्षों में वृद्धि हुई है और इससे भुगतान के सन्तुलन में कुल जितना घाटा है उसमें कुछ कमी हुई जैसा निम्न तालिका में दर्शाया गया है —

तालिका ३

भुगतान का सन्तुलन
(करोड़ रुपयों में)

	१९५१-५२	१९५२-५३	१९५३-५४	१९५४-५५	१९५५-५६	१९५६-५७
वास्तविक व्यापार बचत	−२३२'८	−३१'१	−५२'१	−८७'२	−१०९'५	−४३९'५
अप्रत्यक्ष मदों से वास्तविक बचत	+७०'२	+९१'३	+९९'५	+९३'२	+१२६'४	+१४७'०
वर्तमान स्थिति	−१६२'६	+६०'२	+४७'४	+६'०	+१६'९	−२९२'५

"भुगतान के संतुलन पर बहुत अधिक प्रभाव भारतीय आर्थिक व्यवस्था की विकास योजनाओं की प्रगति पर लक्षित हुआ। प्रथम योजना के अधिकांश काल में भुगतान के संतुलन के हिसाब में निरन्तर अतिरेक होता रहा। १९५६-५७ में यह प्रवृत्ति पूर्णरूपेण उलट गई और चालू हिसाब में २९२'५ करोड़ रुपयों का घाटा हुआ और देश के विदेशी विनियम कोष से २१९ करोड़ रुपये लेने पड़े। इसका मुख्य कारण आयात में वृद्धि थी विशेषकर मशीन आदि के मगाने के कारण जो कि विनियोग की दर में अत्यधिक वृद्धि का परिणाम थी। राजकीय क्षेत्र में विनियोग का स्तर पहिले की अपेक्षा निश्चय ही बहुत बढ़ा हुआ था और साथ ही साथ लोगों के मन में सफलता की आशा भी भरी हुई थी और इसके कारण व्यक्तिगत क्षेत्र में भी विनियोग अधिक मात्रा में हुआ था। इस विनियोग व्यय के कारण हुआ विदेशों में व्यय अधिक अवधि के सरकार द्वारा लिये ऋणों के द्वारा और अधिकांश तो रक्षित कोष को कम करके पूरा किया गया।"

आयात

द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारत में निर्यात की अपेक्षा आयात पर अधिक रोक लगी क्योंकि भारत सरकार ने विनिमय नियंत्रण की कठोर नीति अपनायी और कुछ वस्तुओं के आयात पर बिल्कुल रोक लगा दी गई। इसके साथ ही एक कारण यह भी था कि भारतीय उत्पादक युद्ध सामग्री के और स्वदेश की आवश्यकता पूर्ति के लिए अन्य वस्तुओं के उत्पादन में व्यस्त थे। निर्यात के लिए भारत के पास कुछ बचता नहीं था। इसके साथ ही यातायात के साधनों की कमी और अधिक भाड़े के कारण भी भारत में यातायात घट गया। १९४२-४३ में समुद्री मार्ग से भारत का आयात सबसे कम केवल ११०.५ करोड़ रुपये का रहा। जैसे ही विदेशों की युद्ध-कालीन माँग कम हुई और औद्योगिक उत्पादन बढ़ने लगा तो भारत को निर्यात करने के लिए वस्तुएँ उपलब्ध हो गईं। इसी बीच यातायात की स्थिति में भी सुधार हुआ और भारत को सामान पहुँचाने के लिए जहाज भी मिलने लगे। १९४८ में भारत सरकार ने मुद्रास्फीति को रोकने के लिए और भारतीय उपभोक्ताओं तथा उद्योगों की माँगों की पूर्ति करने के लिए उदार आयात नीति अपनायी। इसके फलस्वरूप १९४८-४९ में भारत ने ६४३.८५ करोड़ रुपये के माल का आयात किया और १९५१-५२ में आयात ९५४.५९ करोड़ रुपये तक पहुँच गया तालिका १ के अनुसार। १९५२-५३ में और १९५३-५४ में स्थिति बदली और आयात क्रमशः ६७०.०७ करोड़ और ५७२.०६ करोड़ रुपये तक घट गया।

इन दो वर्षों में आयात में कमी होने का कारण यह है कि (१) सितम्बर १९४९ में रुपये का अवमूल्यन कर देने से आयात की कीमत बढ़ गई और (२) लन्दन में राष्ट्र मण्डलीय प्रधान मंत्री सम्मेलन के निश्चय के अनुसार, जिसमें यह तय किया गया था कि डालर अभाव की पूर्ति करने के लिये राष्ट्रमण्डलीय देश आयात घटाकर निर्यात बढ़ाने के लिए यथा सम्भव प्रयत्न करेंगे, भारत सरकार ने भी आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिए। १९५१-५२ में आयात सर्वाधिक (९५४.५९ करोड़ रुपये) रहा क्योंकि इस वर्ष देश की आवश्यकता पूरी करने के लिये बड़ी मात्रा में खाद्यान्न और कपास का आयात किया गया। इसके पश्चात् के दो वर्षों में स्थिति सुधरी। इसका मुख्य कारण यह था कि खाद्यान्न तथा अन्य वस्तुओं के आयात में कमी हुई। १९५४-५५, १९५५-५६ और १९५६-५७ में आयात की मात्रा बढ़ा कर ६५६.४४ करोड़ रुपया ६७८.९९ करोड़ रुपया और ८३३.४३ करोड़ रुपया हो गई। इसका मुख्य कारण प्रथम और द्वितीय योजना के अन्तर्गत आर्थिक विकास था। मात्रा के निर्देशांक १९५४-५५ में ११०, १९५५-५६ में ११६, १९५६-५७ में १३७ हो गये और ऐसी

सम्भावना है कि १९५७-५८ में १५२ हो जायगा। आरम्भ में अर्थात् १९५४-५५ और १९५५-५६ में मूल्यों के निर्देशांक में इतनी वृद्धि नहीं हुई थी क्योंकि आयात निर्यात अनुपात के निर्देशांक भारत के पक्ष में थे।

खाद्यान्न—विभाजन के पूर्व भारत को कुछ खाद्यान्न का वर्मा तथा अन्य देशों से आयात करना पड़ता था। परन्तु विभाजन के पश्चात् खाद्यान के लिए विदेशों पर ही हमें अधिक निर्भर करना पड़ा। यद्यपि भारत कृषि प्रधान देश है और यहाँ देश की खाद्यान्न की आवश्यकता पूरी करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए थी परन्तु कृषि उत्पादन में गिरावट आने से और सरकार का 'अधिक अन्न उगाओ' आन्दोलन असफल हो जाने से हम अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए विदेशों पर निर्भर करने लगे। खाद्यान्न का आयात १९४८ से पहले तीन वर्षों में २२·५ लाख टन से बढ़कर २७·५ लाख टन हो गया। १९४९ में ३७·५ लाख टन और १९५१ में ४०·५ लाख टन खाद्यान्न का आयात किया गया। १९५० मे खाद्यान्न का आयात २२·३ लाख टन तक घट गया परन्तु देश की घरेलू माँग पूरी करने में कठिनाई होने से १९५१ में आयात बढ़ाना पड़ा। योजना आयोग इस परिणाम पर पहुंचा कि कुछ समय तक भारत में लगभग ३० लाख टन खाद्यान्न की कमी रहेगी और यदि सरकार का 'अधिक अन्न उगाओ' आन्दोलन सफल नहीं हुआ तो भारत को कम से कम इस कमी को पूरा करने के लिए आयात पर निर्भर करना ही पड़ेगा।

यह बड़े सौभाग्य की बात थी कि भारत में खाद्यान्न की पैदावार १९५३-५४ में ६८८·७ करोड़ टन और १९५४-५५ में ६७१·१ करोड़ टन हुई जिसके कारण आयात की मात्रा में ७·५ लाख टन से अधिक की कमी १९५४ में और ७·५ लाख टन से कुछ कम की कमी १९५५ में सम्भव हो सकी परन्तु क्योंकि आगे चल कर देश की ही पैदावार में कमी आ गई और विभिन्न भागों के अन्न की कमी के लक्षण दिखाई पड़ने लगे इसलिये आयात में १५ लाख टन से कुछ ही कम की वृद्धि १९५६ में और ३७·५ लाख टन की वृद्धि १९५७ में हुई। यह आशा की जाती है कि १९५८ में २५ लाख टन के लगभग आयात किया जायगा।

कपास और उत्पादित माल—देश का विभाजन हो जाने से भारत में कपास की कमी हो गई। भारत की मिलों में १९४९ में ४२ लाख गाँठों की और १९५१ में ३८ लाख गाँठों की खपत हुई परन्तु इस अवधि में उत्पादन २२·५ लाख से ३० लाख गाँठ तक ही बढ़ सका। इस कारण भारत को आयात पर निर्भर करना पड़ता है। आयात की मात्रा प्रतिवर्ष १० लाख से १२·५ लाख गाँठों तक रही है। परन्तु कपास का उत्पादन बढ़ाकर आयात में कमी सम्भव

हो सकी है। भारत में घटिया प्रकार की कपास पैदा होती है परन्तु मिलों में अधिकतर अच्छे प्रकार की कपास का उद्योग होता है। इसीलिए यह आवश्यक है कि अच्छी कपास का उत्पादन बढ़ाया जाय जिससे इसका आयात घटाया जा सके। कपास का आयात भारत को बहुत महँगा पड़ा है।

अतीत में भारत ने सूत और कपड़े का बहुत बड़ी मात्रा में आयात किया। युद्धकाल में और युद्ध के पश्चात् काल में सूत और कपड़े का बहुत कम मात्रा में आयात किया गया है और भारत के आयात व्यापार की यह प्रमुख वस्तुएँ भी नहीं रहीं। इससे भारतीय सूती कपड़ा उद्योग के बढ़ते महत्व पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। सरकार की नीति है कि सभी प्रकार के कपड़ों और सूत इत्यादि के आयात को प्रोत्साहन न दिया जाय केवल (१) छाते का और कुछ विशेष प्रकार का कपड़ा और (२) कर्घों इत्यादि के लिए आवश्यक सूत का ही आयात किया जाय। इस नीति के परिणाम स्वरूप भारत ने बहुत कम कपड़े और सूत का आयात किया।

मशीनें—भारत को मशीनों तथा अन्य टेकनिकल सामानों के लिए विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। १९३८-३९ में भारत ने १९·७ करोड़ रुपये की मशीनों का आयात किया, १९४७-४८ में ५९·१ करोड़ रुपये की और १९४८-४९ में ८०·९ करोड़ रुपये मशीनों का आयात किया गया। यह आयात युद्धकाल के उद्योगों की आवश्यकता पूरी करने और उनके प्रसार तथा उनको नया रूप देने के लिए किया गया। औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने के लिए और देश का औद्योगीकरण करने के लिए बड़ी मात्रा में मशीनों आयात करना आवश्यक है। १९५५-५६ में भारत ने रेल के इन्जनो को सम्मिलित करते हुये १२०·२ करोड़ रुपये की मशीनों का आयात किया और १९५६-५७ में यह संख्या बढ़कर ११५·८ करोड़ रुपये हो गई। मशीनों का आयात करने में कई कठिनाई हैं : (१) आयात की गई मशीनों के दाम बहुत ऊँचे हैं, भारतीय उद्योग इतना रुपया लगा सकने की स्थिति में नहीं हैं, (२) मशीनों के नियत स्थान में पहुँचाने तक बहुत समय लग जाता है, और (३) वित्त की कमी होने के कारण बहुत से भारतीय उद्योग कारखानों में लगी मशीनें पुरानी और बेकार हो जाने पर भी नई मशीनें खरीद सकने में असमर्थ है। भविष्य में जब भारत अपनी आवश्यकता की मशीनों का स्वयं उत्पादन करने लगेगा तब मशीनों का आयात कम किया जा सकेगा। यह खेद की बात है कि भारत में अभी तक मशीनों का उत्पादन करने के लिए कोई संगठित उद्योग नहीं है। वर्तमान में भारत में केवल सूती कपड़ा उद्योग की और कृषि की कुछ मशीनों और औजारों का उत्पादन होता है। देश के तेजी से औद्योगीकरण करने के लिए यह आवश्यक है कि मशीनों का उत्पादन करनेवाला

उद्योग स्थापित किया जाय। द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने इस दिशा में कार्य आरम्भ कर दिया है।

व्यापार का संगठन (Compositon of Trade)—भारत के आयात व्यापार के संगठन में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। १९३८-३९ में आयात की जाने वाली महत्वपूर्ण सामग्री में प्राप्त आँकड़ों के अनुसार मशीनें, तेल, सूत तथा सूती कपड़े, खाद्यान्न तथा आटा, और कपास प्रमुख थे। १९४८-४९ में खाद्यान्न का अधिकतम आयात हुआ और मशीनें दूसरी श्रेणी में आती हैं। आटा, सूत तथा सूती कपड़े का विशेष आयात नहीं हुआ जब की जूट और कपास के आयात में वृद्धि हुई। १९५१-५२ में कपास का क्रम मशीनों के बाद हो गया परन्तु १९५२-५३ में कपास को पुनः पूर्व महत्व प्राप्त हो गया। १९५३-५४ में खाद्यान्न अधिक उत्पन्न होने के कारण इनका आयात बहुत कम हो गया। इस समय भारत के आयात में मशीनों का प्रथम स्थान है, इसके बाद धातु और तेल (Mineral oils) आते हैं। इसका कारण यह है कि अब भारत में औद्योगीकरण को अधिक महत्व दिया जा रहा है। कपास, रसायनिक द्रव, और औषधियों को अब तीसरा चौथा और पाचवाँ स्थान आयात व्यापार में क्रमशः हो गया है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले कुछ वर्षों में खाद्यान्न, पेय, तम्बाकू और अन्य तैयार माल का महत्व कुछ गिरने लगा था और कच्चे माल का आयात-व्यापार में महत्व अधिक बढ़ रहा था। १९४९-५० में कच्चे माल के आयात में कुछ कमी हुई और तैयार माल का आयात बढ़ा। १९४९-५० में इस प्रकार के किंचित परिवर्तन होने के अतिरिक्त प्रकृति प्रायः कच्चे माल के महत्व को बढ़ाने और तैयार माल के आयात में कमी करने की रही है। युद्ध काल की प्रवृति से इसमें केवल इतना अंतर है कि खाद्यान्न पेय और तम्बाकू का आयात घटने की अपेक्षा अधिक बढ़ा है। तैयार माल के महत्व में कमी होने और कच्चे माल के आयात में वृद्धि होने के लक्षण भारत के विदेशी व्यापार के सन्तोषजनक लक्षण हैं। इसका तात्पर्य यह है कि देश के औद्योगीकरण में वृद्धि हो रही है। पहले भारत अपने कच्चे माल का निर्यात उसके कच्चे रूप में ही कर दिया करता था परन्तु अब अधिकतर कच्चे माल को तैयार वस्तु के रूप में निर्यात किया जाता है। भारत का क्रमशः औद्योगीकरण होने से यह प्रवृति और अधिक दृढ़ होगी।

विभिन्न देशों के साथ व्यापार—भारत के आयात-व्यापार में विभिन्न देशों के सापेक्षिक महत्व में कुछ परिवर्तन हुआ है। १९३८-३९ में सबसे महत्वपूर्ण स्थान ब्रिटेन का था और उसके बाद बर्मा, जापान इत्यादि देशों का। हमारे देश के व्यापार में अमरीका का कोई महत्वपूर्ण स्थान नहीं था। परन्तु

युद्धकाल में अमरीका का महत्व अन्य देशों की अपेक्षा अधिक बढ़ा लिया। कि १९४८-४९ में यह स्थिति फिर बदली और भारत के आयात-व्यापार में ब्रिटेन ने पुनः प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया। परन्तु १९५१-५२ और १९५२-५३ में अमरीका ने पुनः भारत के आयात व्यापार में प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया और १९५२-५३ में हमारे आयात का २८·५% माल अमरीका से और २१·८% ब्रिटेन से देश में आया। इसी अवधि में अमरीका के इस प्रमुत्व का कारण केवल यह है कि भारत ने अपने खाद्यान्न का अभाव दूर करने के लिये वहाँ से खाद्यान्न का आयात किया। क्योंकि १९५४-५५ में खाद्यान्न का आयात घट गया इसलिए अब आयात में प्रथम स्थान अमरीका के बजाय ब्रिटेन का हो गया है।

यदि भविष्य में खाद्यान्नो के आयात को बढ़ाना हमारे लिये आवश्यक है तो अमेरिका का स्थान हमारे आयात व्यापार अधिक महत्वपूर्ण हो सकता है।

निर्यात

अनेक कठिनाइयाँ होते हुए भी युद्ध के समय भारत का निर्यात व्यापार उतना नहीं गिरा जितना उसका आयात व्यापार गिरा। यद्यपि निर्यात (पुनः निर्यात को अलग करके) १९४२-४३ में १८७·६ करोड़ रुपयों तक गिर गया परन्तु स्थिति में सुधार होते ही १९४७-४८ में ३६५·३ करोड़ रुपये तक पहुँच गया। इसका कारण यह था कि (१) युद्ध सामग्री के लिए भारत में उत्पन्न कच्चे माल और तैयार माल की आवश्यकता थी और (२) विश्व के बाजार से जापान का सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से भारतीय उत्पादकों को विदेशी बाजार पर और विशेषकर सूती कपड़े के बाजार पर अपना अधिकार जमाने का अवसर मिल गया। १९४८-४९ में भारत के ४५८·७२ करोड़ रुपये के माल का निर्यात किया गया (तालिका १), १९४९-५० में ५०६·०२ करोड़ रुपये का, १९५०-५१ में ६०१·३५ करोड़ रुपये के माल का निर्यात किया गया। १९५१-५२ में ७३२·९४ करोड़ रुपये का निर्यात हुआ, यह निर्यात की सर्वाधिक मात्रा थी। बाद में यह स्थित बदली और निर्यात व्यापार में कमी आई। १९५३-५४ में निर्यात केवल ५३०·६६ करोड़ रुपये का ही हुआ। यद्यपि आगे चल कर निर्यात की मात्रा १९५६-५७ में बढ़ कर ६०२·०६ करोड़ रुपया हो गई (तालिका नं० १) फिर भी आयात की अपेक्षा इसमें कम वृद्धि हुई है। इसका कारण (१) देश में निर्यात की जाने वाली कुछ वस्तुओं की कमी (२) निर्यात पर सरकार द्वारा लगाये अनेक प्रतिबन्ध और (३) सरकार की निर्यात नीति है जिसके अन्तर्गत अनेक वस्तुओं पर, जैसे जूट के सामान पर, निर्यात-कर की दर घटा दी गई है, निर्यात के लिए अनेक वस्तुओं

की जैसे तिलहन तथा कपास की मात्रा निर्धारित कर दी है और अन्य वस्तुओं के निर्यात के लिए सुविधाएँ दी गई हैं।

जूट का सामान—भारत के निर्यात-व्यापार में जूट के सामान का सदा से प्रथम स्थान रहा है परन्तु १९५६-५७ में वह स्थान चाय द्वारा ले लिया गया क्योंकि इस वर्ष जूट का निर्यात केवल ९० करोड़ रुपये का हुआ जब कि चाय का १०८·२ करोड़ रुपयों का इसका कारण (१) भारतीय उद्योग की कठिनाइयाँ; (२) सरकार की दोष पूर्ण कर नीति और (३) विदेशों की माँग में कमी इत्यादि थे।

विदेशी विनिमय मुद्रा कमाने में भारतीय जूट उद्योग का प्रमुख स्थान है परन्तु खेद का विषय है कि उद्योग को अपना निर्यात बढ़ा सकने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है: (१) सरकार ने इस पर बहुत अधिक निर्यात कर लगाया जिसे हाल में ही कम किया गया है, (२) मजदूरी अधिक होने से और मजदूरों को दी जानेवाली सुविधाओं की लागत अधिक होने से जूट के माल का उत्पादन व्यय भी बहुत अधिक है, और (३) अन्य देशों के उत्पादकों की कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। एक समय ऐसा था जब जूट के उत्पादन में भारत का एकाधिकार था, परन्तु अब वह स्थित नहीं रही क्योंकि विश्व में कुल जूट उद्योग का ⅓ भाग भारत के बाहर अन्य देशों में स्थित है। कागज, कपड़ा इत्यादि का उपयोग होने से भी जूट के सामान की माँग कम हो गई है परन्तु फिर भी पैकिंग के लिए जूट के थैले सबसे सस्ते पड़ते हैं। जूट उद्योग काफी समय पहले स्थापित होने और सुसंगठित होने के कारण विश्व बाजार में अब भी अपना उचित स्थान बनाये रखने में समर्थ है। यदि इस ओर सतर्कता से कार्य किया गया तो उद्योग की शक्ति बढ़ने से उत्पादित माल के प्रकार में सुधार हो सकने की और उत्पादन व्यय कम होने की पूरी संभावना है।

चाय—चाय का भी भारत के निर्यात व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान है। १९५६-५७ में चाय का निर्यात १०८¼ करोड़ रुपयों का हुआ जब कि १९५५-५६ में १०९⅞ करोड़ रुपयों का, १९५४-५५ में १४७⅜ करोड़ रुपयों का और १९५२-५३ में ८१ करोड़ रुपयो का ही हुआ था।

भारत ने अपने को १९५३ में अन्तर्राष्ट्रीय चाय बाजार विस्तार बोर्ड से अलग कर लिया और भारत सरकार ने उसके स्थान पर अमरीका में एक चाय काउन्सिल की स्थापना की है जो कि भारतीय चाय की बिक्री बढ़ाने का प्रयास करेगी। इस संस्था के प्रयत्न से ही अंशतः १९५३-५४ में चाय का निर्यात बढ़ा। यद्यपि भारत अब अन्तर्राष्ट्रीय चाय बिक्री विस्तार बोर्ड का सदस्य नहीं है फिर चाय समिति द्वारा चाय के निर्यात की मात्रा जो हमारे देश के लिये नियत की

गई है वह प्रतिबन्ध लागू है। ३१ मार्च १९५५ को अन्तर्राष्ट्रीय चाय समझौता जिसका भारत भी एक सदस्य रहा है समाप्त हो गया। यह आशा की जाती है कि यह समझौता पाँच वर्ष के लिये फिर से लागू कर दिया जायगा। १९५३ ५४ में भिन्न देशों के लिये निर्यात की मात्रा स्टेन्डर्ड निर्यात के १३५% पर नियत कर दी गई थी जिसके आधार पर भारत को ४७ करोड़ १ लाख १० हजार पौण्ड, पाकिस्तान को ४ करोड़ ७२ लाख ६० हजार पौण्ड, लंका को ३३ करोड़ ९६ लाख ४० हजार पौण्ड और इन्डोनेशिया को २३ करोड़ ४३ लाख ६० हजार पौण्ड चाय निर्यात करने का अधिकार प्राप्त था। अन्तर्राष्ट्रीय चाय समिति ने यह निश्चय किया है कि १९५४-५५ में भिन्न देशों की निर्यात मात्रा स्टेन्डर्ड निर्यात की १३५% ही रहेगी। १९५५-५६ में अन्तर्राष्ट्रीय चाय समझौते के अन्तर्गत जो निर्यात की मात्रा नियत की जायगी उसके आधार पर ४१ करोड़ पौण्ड का निर्यात कर दिया गया था। भारत सरकार ने निर्यात की मात्रा १९५६-५७ और १९५७-५८ के लिये ४५'३३ करोड़ पौण्ड और ४९'०९ करोड़ पौण्ड क्रमशः नियत कर दी थी।

सूत और सूती सामान—सूती समान के निर्यात में वृद्धि हुई है। १९४८-४९ में ३४ करोड़ १० लाख गज कपड़े का निर्यात किया गया, १९४९-५० में ७० करोड़ १० लाख गज और १९५०-५१ में १ अरब २७ करोड़ गज कपड़े का निर्यात किया गया। निर्यात की वृद्धि के लिए प्रोत्साहन देनेवाली समिति (Export Promotion Committee) ने सिफारिश की है कि प्रतिवर्ष ८० करोड़ गज कपड़े का निर्यात किया जाय परन्तु १९५०-५१ में निर्यात इससे कहीं अधिक बढ़ गया। भारत सरकार ने लाइसेन्स देने में उदार नीति अपनाकर तथा अन्य सुविधाएँ प्रदान कर निर्यात को प्रोत्साहन दिया है। १९५०-५१ में किये गये निर्यात से यह आशा हुई कि भारत सूती कपड़ों का निर्यात करने वाले देशों में प्रमुख हो जायगा परन्तु अभाग्यवश स्वदेशी बाजार में कपड़े की अधिक कीमत हो जाने और कपड़े का प्रायः अभाव हो जाने से सरकार घबरा गई और कपड़े के निर्यात व्यापार को हतोत्साह किया जाने लगा जिसके फलस्वरूप १९५१-५२ में केवल ३८ करोड़ ३७ लाख १० हजार गज कपड़े का निर्यात किया जा सका। निर्यात घटने का एक कारण यह भी है कि भारतीय माल अपेक्षाकृत घटिया था, पैकिंग अच्छी नहीं थी और भारतीय उत्पादक नमूने के अनुसार कपड़ा भेज सकने में असफल रहे। मजदूरी अधिक होने से, मशीनें पुरानी और घिसी-पिटी होने से और उत्पादन के अकुशल तरीकों का उपयोग होने से भारत में कपड़े का उत्पादन व्यय अन्य देशों की अपेक्षा अधिक है जिससे भारतीय उद्योग की प्रतियोगिता शक्ति कम हो गई। यदि कपड़ा उद्योग अपना उत्पादन व्यय कम कर ले और उत्पादन के प्रकार

में सुधार कर ले तो निर्यात की मात्रा बढ़ सकने की बहुत संभावना है। विश्व कपड़ा सम्मेलन (१६५२) में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल ने प्रतिवर्ष एक अरब गज कपड़े का निर्यात करने की इच्छा प्रकट की थी।

यद्यपि हाल में निर्यात की मात्रा बढ़कर ८५ करोड़ गज १६५७ में हो गई फिर भी चाहे हुये ध्येय १०० करोड़ गज से कम ही है इसके अतिरिक्त १६५८ में निर्यात के घटने की आशंका है जो कि किसी तरह ६५ करोड़ गज से बढ़ नहीं सकता। अखिल भारतीय निर्यात संघ के मतानुसार, "सूडान के द्वारा सूती कपड़े बनाने के लिये ओ० जी० एल० के० प्रयोग को बन्द कर देने के कारण भारत के उस देश से कपड़े के व्यापार पर विशेष प्रभाव पड़े। इन्डोनेशिया से राजनीतिक झन्डे चल रहे हैं। जिसके कारण भारत से निर्यात की यात्रा कर पिछले स्तर पर कायम रखने की कम सम्भावना है। कनाडा ने अपनी कपड़ा आयात नीति को संकुचित बना दिया है। ब्रिटेन निरन्तर भारत पाकिस्तान और हांगकांग से कपड़े के निर्यात को कम करने का प्रयत्न कर रहा है"। इन सब कारणों के फलस्वरूप भारत से सूती कपड़े के निर्यात की मात्रा कम ही रहेगी।

व्यापार का संगठन—भारत के निर्यात व्यापार संगठन में आयात की अपेक्षा कम परिवर्तन हुए हैं। भारत में निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के महत्व की दृष्टि से क्रम इस प्रकार रहा—१६३८-३६ में जूट का सामान, कपास, चाय, बीज और पटसन; १६४८-४६ में जूट का सामान, चाय, सूत और सूती सामान, कपास, तेल और चमड़ा और १६५२-५३ में जूट का सामान, चाय, सूत और सूती सामान, कच्ची धातु, कपास और तेल, १६५३-५४ तथा १६५५-५६ में जूट और जूट का सामान, चाय, सूत और सूती कपड़े, कच्ची धातु, कामाया चमड़ा और खाल, कपास। १६५६-५७ में जूट के सामान का स्थान चाय ने ले लिया। सिवाय इसके वस्तुओं के निर्यात व्यापार की महत्त के क्रम में अन्य कोई परिवर्तन नहीं हुआ। इससे यह प्रकट होता है कि भारत के निर्यात व्यापार में जूट के सामान और चाय का सदा प्रभुत्व रहा है; निर्यात की दूसरी विशेषता यह है कि कपास और पटसन अपना महत्व खो चुके हैं और ऐसी आशा भी की जाती थी क्योंकि देश विभाजन के पश्चात भारत में इन दोनों वस्तुओं की कमी पड़ गई और अब भारत को इनके आयात पर निर्भर करना पड़ता है। यद्यपि कुछ वस्तुओं का, जैसे सूती सामान और सूत, चमड़ा और तेल, निर्यात की दृष्टि से महत्व कम हो गया है और यह निर्यात की प्रमुख वस्तु नहीं रहे परन्तु फिर भी इन की स्थिति में अन्य की अपेक्षा अधिक सुधार हुआ है और अब भारत के निर्यात में इनका महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है। परन्तु यह बात ध्यान देने योग्य है कि निर्यात

व्यापार कुछ विशेष वस्तुओं पर ही निर्भर करता है और विदेशों की भांति इसका कार्यक्रम विस्तृत नहीं है। जहाँ अनेक वस्तुओं का निर्यात किया जाता है।

विभिन्न देशों से व्यापार—भारत के निर्यात व्यापार में ब्रिटेन और अन्य राष्ट्र मण्डलीय देशों का निरन्तर प्रमुत्व रहा है। १९३८-३९ में हमारे निर्यात व्यापार का ५२.१% राष्ट्र मण्डलीय देशों से और ४७.७ प्रतिशत अन्य देशों से हुआ। इसके पश्चात् अन्य देशों की खपत में कुछ वृद्धि हुई और राष्ट्र मण्डलीय देशों की खपत घटी। १९४७-४८ तक कुल भारतीय निर्यात व्यापार का ५१.३% व्यापार राष्ट्रमण्डलीय देशों से किया गया और ४८% अन्य देशों के साथ। तब से बराबर यही स्थिति रही है और इसमें बहुत कम परिवर्तन हुआ है। १९५६-५७ में भारत ने अपने कुल निर्यात का ५२% राष्ट्र मण्डलीय देशों को भेजा और ४८% अन्य देशों को भेजा। राष्ट्र मण्डलीय देशों में भी ब्रिटेन का प्रमुख स्थान है। ब्रिटेन के अतिरिक्त अन्य राष्ट्र मण्डलीय देशों को निर्यात करने में भारत को (१) इन देशों में आयात पर लगे हुए अनेक प्रतिबन्धों और (२) अन्य उत्पादकों की बड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है। इससे निर्यात व्यापार में काफी बाधा पड़ती है।

सरकार की आयात नीति

सरकार की आयात नीति अनेक बातों से प्रभावित है, (१) भारत के निर्यात व्यापार से विदेशी विनिमय के सीमित साधन जुट पाते हैं। सरकार की नीति यह रही है कि आयात विदेशी मुद्रा विनिमय के उपलब्ध स्रोतों तक ही सीमित रहे। यह नीति बिल्कुल उचित है क्योंकि ऐसा न होने पर सरकार या तो विदेशी मुद्रा का ऋण लेने के लिए विवश हो जाती अथवा रुपये का विनिमय अर्घ घटाने के लिए। यह दोनों ही बातें देश के लिए घातक सिद्ध होतीं। (२) सरकार ने मुद्रास्फीति-निरोधक नीति अपनायी जिसके अनुसार भारत में मूल्य घटाने के लिए आयात को प्रोत्साहन दिया गया है। (३) देश के औद्योगिक और कृषि साधनों का विकास करने की आवश्यकता है। देश के साधनों का विकास करने की दृष्टि से भारत सरकार ने औजारों, मशीनों, कच्चे माल और रसायनिकों के आयात को प्रोत्साहन दिया है। पिछले कुछ वर्षों से भारतीय उद्योग की विदेशी प्रतियोगियों से रक्षा करने की दृष्टि से उपभोग की वस्तुओं के आयात को नियंत्रित किया गया है और उन वस्तुओं के आयात पर प्रतिबन्ध लगा दिया है जिनका भारत में उत्पादन किया जा सकता है और जिनकी लागत विदेशी माल

की लागत से अधिक नहीं है। इस प्रकार केवल तटकर संरक्षण की नीति को ही नहीं किन्तु आयात नीति के द्वारा भारतीय उद्योग की रक्षा करने की नीति को भी मान्यता दी गई है। (४) यह नीति भी अपनायी गई है कि उपभोक्ता को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये अधिक से अधिक प्रकार की वस्तुएँ उपलब्ध हो सकें।

सरकार की आयात नीति में अनेक परिवर्तन हुए हैं। पहले उदार नीति अपनाई गई, फिर प्रतिबन्ध लगाये गये और पुनः उदार नीति अपनाई जा रही है। १९४८ में 'सामान्य लाइसेन्स ११' (Open General Licence XI) लागू किया गया जिसमें सुलभ मुद्रा के देशों से उपभोग की अनेक आवश्यक वस्तुओं के आयात करने की अनुमति दी गई। भारत में बढ़ती कीमतों को रोकने के उद्देश्य से सितम्बर १९४८ में आयात नीति में और अधिक उदारता लाई गई। परन्तु इस नीति के अनुसार आयात की मात्रा वित्तीय साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गई इसलिए आयात पर प्रतिबन्ध लगाना पड़ा। मई १९४९ में सामान्य लाइसेन्स प्रणाली (O. G. L. XI) रद्द कर दी गई और संशोधित सामान्य लाइसेन्स प्रणाली (O. G. L. XV) लागू की गई जिसके अनुसार सुलभ मुद्रा के देशों से कुछ ही वस्तुओं का बिना लाइसेन्स आयात करने की अनुमति दी गई। पौण्ड पावने के समझौते (Sterling Balances Agrement) के आधार पर सारी स्थिति की पुनः समीक्षा की गई और इस बात के प्रयत्न किये गये कि आयात उतना ही किया जाय जितनी निर्यात से आय हो और जितनी धनराशि ब्रिटेन से पौण्ड पावने के हिसाब में भारत को वापस मिले। अगस्त १९४९ में सामान्य लाइसेन्स प्रणाली (O. G. L. XV) रद्द कर दी गई और इसके स्थान पर नई सामान्य लाइसेन्स प्रणाली (O. G. L. XVI) लागू की गई। इससे भारत में आयात पर पहले से भी अधिक कड़े प्रतिबन्ध लगाये गये जिससे आयात और कम हो गये।

१९५०-५१ में आयात नीति में फिर परिवर्तन हुआ। सामान्य लाइसेन्स प्रणाली (O. G. L. X.) जिसके अनुसार पाकिस्तान से आयात की अनुमति दी गई थी सितम्बर १९४९ में रद्द कर दी गई थी परन्तु पाकिस्तान से पुनः व्यापार आरम्भ किया गया। उद्योगों की कच्चे माल की आवश्यकता पूरी करने के लिए बहुत सी वस्तुओं के लिए दीर्घकालीन आयात नीति बनाई गई। खाद्यान्न और कच्चे माल इत्यादि के लिये सामान्य लाइसेन्स २० और २१ लागू किये गये। क्योंकि प्रतिबन्धित आयात नीति से देश को हानि पहुँच रही थी इसलिए उसमें संशोधन किया गया और आयात के प्रति उदार नीति अपनाई गई और

जून १९५१ में सामान्य लाइसेन्स २३ जारी किया गया जिसमें ऐसी वस्तुएँ सम्मिलित कर ली गईं जिनका या तो भारत में बड़ी मात्रा में उत्पादन नहीं होता था या जो देश की आवश्यकता पूर्ति के लिये आवश्यक थीं। सामान्य लाइसेन्स २३ में लोहा तथा इस्पात, तारों के रस्सों, पीतल के सामान, ताँबे का तार, बोतल, लिखने का कागज, बिजली के तार इत्यादि सम्मिलित करके लाइसेन्स देने का क्षेत्र बढ़ा दिया गया।

१९५३ की आयात नीति में सरकार ने कुछ वस्तुओं के 'लाक्षणिक आयात' की प्रणाली लागू की जिसका उद्देश्य उद्योगपतियों का ध्यान उत्पादित माल की किस्म सुधारने और लागत कम करने की ओर आकर्षित करना था। लाक्षणिक आयात की नीति कुल चुनी हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में १९५४ तक चलती रही। बहुत वस्तुओं के आयात में बहुत उदार नीति वर्ती गई और इससे यह आशा की जाती थी कि इस उदारता के फलस्वरूप विदेशी मुद्रा का व्यय प्रति वर्ष लगभग ८ करोड़ रुपये के और बढ़ जायगा। आयात नियंत्रण की प्रणाली में भी कुछ परिवर्तन किया गया। मात्रा के नियंत्रण से अधिक आयातकर का प्रयोग भारत के आयात व्यापार के नियंत्रण में किया गया। इस दृष्टिकोण से बहुत सी वस्तुओं की आयात मात्रा में उदारता दिखाते हुये भी ऐसी वस्तुओं पर जैसे पेन्सिल, पुराने अखबार, देशी शराब, ऊनी कपड़े, वेकुआम फ्लास्क, ब्लेड और खेलने के ताश आदि पर आयात कर बढ़ा दिया गया। १९५४-५५ के प्रथम पाँच महीनों की आयात कर वसूली की आय ६० करोड़ रुपया हुई जिससे पूरे वर्ष भर में १४४ करोड़ रुपये प्राप्त होते जब कि बजट का अनुमान १७७·५ करोड़ रुपयों की आय का किया गया था। अतिरिक्त आयात कारों से सरकार की आय में वृद्धि की, तथा उद्योगों को परोक्ष रूप से सहायता मिलने की आशा की जाती थी पर उनसे उपभोक्ताओं को कोई लाभ नहीं था क्योंकि उन्हें घाटा पूरा करने के लिये आयात की हुई वस्तुओं का और देश में निर्मित वस्तुओं का अधिक मूल्य देना पड़ता था। प्रति वर्ष ८ करोड़ रुपये तक के आयात किये हुए माल के कारण भारतीय बाजार में विदेशी वस्तुओं की वृद्धि तो अवश्य हुई पर इतनी नहीं कि देश में उन वस्तुओं की कमी पूरी हो सकती।

आयात नियंत्रण जाँच समिति की सिफ़ारिशों के अनुसार आयात नियंत्रण में काफी सुधार किया गया है। जाँच समिति का मत है कि आयात नियंत्रण का आधार उद्देश्य यह होना चाहिए कि (१) उतना ही आयात किया जाय जितनी विदेशी मुद्रा है, (२) विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों का कृषि तथा उद्योग के विकास के लिए और उपभोक्ताओं की अवश्यकता पूरी करने के लिए

आवश्यक वस्तुओं में सामान रूप से वितरण हो, और (३) विशेष वस्तुओं के मूल्यों के उतार-चढ़ाव पर नियंत्रण रखा जा सके; समिति ने सुझाव दिया कि व्यवसायिक वस्तुओं का ४०० करोड़ रुपये तक आयात किया जाना चाहिये जो शांति काल का निम्नतम स्तर है। विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों की दृष्टि से समिति ने आयात को ६ भागों में विभाजित किया है। सरकार ने समिति के साधारण अभिस्तावों को मान लिया है परन्तु ४०० करोड़ रुपये की सीमा को स्वीकर नहीं किया है, साथ ही सरकार ने अपनी आयात नीति के आधारस्वरूप आयात के ६ नहीं किन्तु सुविधा की दृष्टि से कम भाग किए हैं। समिति की सिफारिशों के आधार पर आयात लाइसेन्स प्रणाली को सरल बनाया है और व्यर्थ समय नष्ट होने से बचने के लिये यह व्यवस्था की गई है कि (अ) पहले जितने लाइसेन्स दिये गये थे अब उसके कई गुने अधिक लाइसेन्स दिये जायँगे; (ब) लाइसेन्स के कार्य का विकेन्द्रीकरण कर दिया गया है। अब बन्दरगाह वाले शहरों से आयात लाइसेन्स प्राप्त किया जा सकता है। चुङ्गी के अधिकारियों को नियमों का अर्थ लगाने के सम्बन्ध में व्यापक अधिकार दिये गए हैं; (स) अब चुङ्गी अधिकारियों तथा आयात-नियंत्रण अधिकारिओं के कार्यों में उचित सम्बन्ध स्थापित हो गया है। अतीत में चुङ्गी अधिकारी आयात लाइसेन्स देने वाले अधिकारिओं द्वारा किये गये सामान के वर्गीकरण को सदैव स्वीकार नहीं करते थे। इससे इस कार्य में काफी देर लग जाती थी और व्यापारियों को हानि होती थी। परन्तु वित्त और वाणिज्य मंत्रालय के बीच उचित सम्बन्ध स्थापित करने से और चुङ्गी अधिकारी की सहायता के लिए बन्दरगाह सलाहकार समिति नियुक्त करने से स्थिति काफी सुधर गई है।

१९५५-५६ की आयात नीति की विशेषता यह थी कि आयात की मात्रा के सम्बन्ध में प्राप्त विदेशी मुद्रा के अन्तर्गत उदारता दिखाई गई थी और इस बात का ध्यान रक्खा गया था कि (१) औद्योगीकरण के विस्तार कार्य को चालू रखने के लिये मशीनें और कच्चा माल अधिक मात्रा से मँगाया जाय; (२) उन वस्तुओं की आयात मात्रा जिनका अधिकाधिक उत्पादन अपने देश में बढ़ता जा रहा है क्रम से निरन्तर घटाई जाय; और (३) छोटे उद्योगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए छोटे-छोटे औजारों की मँगाने की अनुमति दी जाय। १९५४ के अंत से 'एकाधिकार आयात' (Monopoly Imports) की नीति वर्ती जा रही है। इसके अनुसार कुछ चुनी हुई वस्तुयें विशेष मात्रा में व्यापार के अन्तर्गत मँगाई जाती हैं। वस्तुओं का चुनाव और मात्रा सरकार द्वारा निश्चित की जाती हैं। इसके निश्चित करने में उपभोक्ताओं का हित और घरेलू उत्पादकों का हित ध्यान

में बराबर रक्खा गया था। और नये और पुराने आयात करने वालों तथा उपभोक्ताओं के हितों में अधिक अच्छा संतुलन स्थापित हो गया था।

क्योंकि भारत में विदेशी विनिमय की कठिनाइयों ने गंभीर रूप धारण कर लिया और पौण्ड पावने की मात्रा १९५६ के अप्रैल के आरम्भ में ७४८ करोड़ रुपये थी घट कर मार्च १९५७ में ५२७ करोड़ रुपये और १९५७ के दिसम्बर तक २९८ करोड़ रुपये ही रह गई आयात पर प्रतिबन्ध लगाना अत्यावश्यक हो गया। जनवरी से जून १९५१ तक की आयात नीति के अन्तर्गत प्रत्येक वस्तु पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। ये प्रतिबन्ध कच्चे माल, मशीनरी तथा उत्पादन के प्रयोग में आने वाली लगभग सभी वस्तुओं पर लगा दिये गये थे। परन्तु पहिले के किये गये सौदे इतनी अधिक मात्रा में थे कि आयात प्रतिबन्ध की यह नीति विशेष सफल न हो सकी। इसका प्रभाव औद्योगिक उत्पादन पर पड़ा और उनको मात्रा घट गई जिससे निर्यात की मात्रा के भी घट जाने की आशंका होने लगी। इसका परिणाम यह हुआ कि १९५८ में आयात नीति को कुछ उदार बना दिया गया और ऐसी वस्तुओं के आयात की मात्रा की सीमा जैसे कपड़े, रसायनिक वस्तुयें मशीन के पुर्जे, कुछ रसायनिक द्रव, औद्योगिक गोंद, रेजिन, और मिटाने वाले रबड़ आदि बढ़ा दी गई। किन्हीं कच्चे मालों के प्रति अधिक उदारता दिखाई गई। उपभोक्ताओं की वस्तुओं तथा उत्पादन के काम आने वाली वस्तुओं के प्रति नियन्त्रित मात्रा की नीति चालू रक्खी गई। कुछ वस्तुओं की मात्रा अवश्य बढ़ा दी गई जैसे फोटोग्राफी के सम्बन्ध की वस्तुयें तथा कागज आदि। साथ ही साथ कुछ वस्तुओं की मात्रा घटा भी दी गई थी जैसे तारकोल से बने रंग। किन्हीं मोटर गाड़ियो के पुर्जे इस्पात के औजार इत्यादि क्योंकि देशी कारखाने इन वस्तुओं की मांग पूरी कर सकते थे। इसके अतिरिक्त दो और आवश्यक परिवर्तन हुये। पहिला कि विदेशी विनिमय के बजट बनाने की रीति फिर से चालू कर दी गई और 'वास्तव में प्रयोग करने वालों' के लिये तथा 'नये लोगों' के लिये वस्तुओं के आयात की मात्रा की सीमा अधिक उदारता से नियत की गई। विदेशी विनिमय सम्बन्धी बजट के कारण व्यापार का नियोजन अधिक अच्छी तरह करना सम्भव हो सकेगा और वास्तव में प्रयोग करने वालों को उदारता से लाइसेन्स देने के कारण उत्पादकों की कठिनाइयाँ घट जायगी।

पहले सरकार की आयात नीति की आलोचना इस बात पर की जाती थी कि उसमें बार बार परिवर्तन किया जाता है और कोई दीर्घकालीन नीति भी नहीं है। यह भी दोष सरकार की नीति पर आरोप किया गया है कि देश के औद्योगिक तथा आर्थिक विकास सम्बन्धी हितों का भी ध्यान इसमें नहीं रक्खा गया है। इन

दोशों को बहुत कुछ दूर कर दिया गया है और सरकार की आयात नीति बहुत कुछ स्थिर और विचारपूर्ण बना दी गई है। आवेदनों का ढंग सरल कर दिया गया है और उन पर कार्यवाही जल्दी की जाने लगी है। आयात नियंत्रण की तालिकाओं को और अधिक युक्ति संगत बना दिया गया है। पुराने 'कोटा सार्टिफिकेट' के स्थान पर अब नये 'कोटा सार्टिफिकेट' दिये जाने लगे हैं जिन पर साफ-साफ 'सुपर राइटर गोथिक पिन प्वाइन्ट' छापों से छपा रहता है जिस पर कोई अदला-बदली नहीं की जा सकती। आयात लाइसेन्सों का इस प्रकार कोई दुरुपयोग नहीं किया जा सकता। देश के आयात व्यापार में नये आयात करने वालों का भाग बढ़ा दिया गया है और उन्हें भी अधिक प्रकार की वस्तुओं के आयात के लिये जिनका वे पहिले आयात नहीं कर सकते थे लाइसेन्स दिया जाने लगा है। इससे यह दोष कि नये आयात व्यापारियों के साथ न्यायपूर्ण वर्ताव नहीं किया जाता निराधार हो गया है। वस्तुओं का वास्तविक प्रयोग करने वालों को भी लाइसेन्स दिया जाता है जिससे उन उत्पादकों का कार्य जो कच्चा माल मंगाते हैं सरल हो गया है और नये आयात करने वालों की कुछ मात्रा निश्चित कर दी जाती है ताकि आयात व्यापार में प्रतियोगिता की भावना किसी सीमा तक बनी रहे। पुराने आयात करने वाले व्यापारियों को लाइसेन्स प्राप्त करने का अधिकार है क्योंकि उनके पास आवश्यक व्यवस्था तथा अनुभव है। पर अब तीनों के हितों का इस ढंग से संतुलन कर दिया गया है कि उनमें पारस्परिक विरोध नहीं उठता। आयात लाइसेन्स देने के पहिले और आयात की मात्रा निश्चित करने के पहिले विदेशी विनिमय का बजट न बनाना बड़ी भारी भूल थी। यह अन्य कारणों में से यह भी अत्यधिक आयात का तथा विदेशी विनिमय के संकट का एक कारण था। आशा की जाती है कि विदेशी विनिमय के बजट बनाने की रीति के फिर से चालू हो जाने के कारण भविष्य में इस प्रकार का संकट न पड़ेगा।

निर्यात को बढ़ावा

विदेशों को भारतीय सामान का निर्यात उतना नहीं बढ़ा है जितनी बढ़ सकता था क्योंकि भारतीय व्यापारी इस बात को नहीं समझते हैं कि इस समय विदेशी बाजार को प्रभावित करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही सरकार की निर्यात नीति भी अनिश्चित और प्रतिगामी रही है। हमारे निर्यात व्यापार में एक प्रमुख त्रुटि यह है कि मुख्यतः तीन-चार वस्तुएँ निर्यात की जाती हैं जैसे जूट और जूट का बना सामान, सूत और सूत का बना सामान तथा चाय जिसके

परिणाम स्वरूप यदि किसी एक वस्तु के निर्यात में कमी आई तो देश को भारी क्षति उठानी पड़ती है। इसलिए निर्यात नीति में सर्वप्रथम और सबसे बड़ा सुधार यह होना चाहिए कि निर्यात की जाने वाली वस्तुओं की संख्या बढ़ाई जाय। इसमें चीनी, सामान्य बिजली का सामान, बिजली की मोटर और ट्रान्सफार्मर, बाइसिकिल, डीज़ल इंजिन, कृषि सम्बन्धी औज़ार इत्यादि को सम्मिलित करना चाहिए। विदेशी बाजार में इनमें से बहुत सी वस्तुओं को बड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ेगा परन्तु कुछ सावधानी बरतने से इन वस्तुओं का निर्यात बढ़ाया जा सकता है और इस प्रकार व्यापार की स्थिति को स्थायी बनाया जा सकता है।

अतीत में निर्यात प्रायः घटता रहा है क्योंकि भारतीय उत्पादकों ने वस्तुओं की किस्म का ध्यान नहीं रखा और जो सामान निर्यात किया वह नमूने के अनुकूल नहीं था। सामान का पैकिंग भी घटिया प्रकार का था और साथ ही कीमत भी अधिक थी। निर्यात बढ़ाने के लिए भारतीय उत्पादकों को विदेशों में उपभोक्ताओं की माँग का अध्ययन करना पड़ेगा और विदेशी बाजार से निरन्तर सम्पर्क रखना पड़ेगा। निर्यात को बढ़ावा देने के लिए नियुक्त समिति (जो गोरवाला समिति के नाम से विख्यात है) ने निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए अनेक सुझाव दिए। सरकार तथा व्यापारियों दोनों को इन सुझावों के अनुसार कार्य करना चाहिए। विदेशों में भारतीय व्यापार कमिश्नर नियुक्त हैं और सरकार तथा भारतीय उत्पादक कभी-कभी व्यापार प्रतिनिधि मण्डल विदेश भेजा करते हैं परन्तु इतना होते हुए भी विदेशी बाजार से निरन्तर सम्पर्क नहीं रहता। जब तक विदेशी बाजार से प्रत्यक्ष और नियमित सम्पर्क स्थापित नहीं होता तब तक निर्यात को प्रोत्साहित कर सकना संभव नहीं है। यह सुझाव दिया गया है कि निर्यात प्रवर्तक संचालक मण्डल स्थापित किया जाय जो इन सब बातों की देख रेख करे और निर्यात के सम्बन्ध में खोजकार्य संगठित करे। गोरवाला समिति ब्रिटिश निर्यात व्यापार खोजकार्य संगठन जैसी संस्था की स्थापना के पक्ष में नहीं है। परन्तु यह ब्रिटिश संगठन बहुत अच्छा कार्य कर रहा है और यदि इस प्रकार का एक संगठन भारत में भी स्थापित कर दिया जाय तो इससे निर्यात व्यापार को बढ़ाने में बहुत सहायता मिलेगी। निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए और उसका विकास करने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि समय आने पर उचित और शीघ्र कार्यवाही हो, कार्य की विधि सरल हो और खोज कार्य की सहायता से निर्यात में वृद्धि की जाय।

कुछ वस्तुओं पर निर्यात कर लगा देने से, उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल पर और मशीनों पर आयात कर लगा देने और औद्योगिक कच्चे माल

तथा बिजली इत्यादि पर बिक्री कर लगा देने से भारतीय निर्यात व्यापार में काफी बाधा हो गई है। अन्य देशों में सरकार निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए आयात कर वापस कर देती है और अन्य आर्थिक सहायता देती हैं। गोरवाला समिति ने शिफारिश की है कि यदि आयात किए गए कच्चे माल की सहायता से तैयार माल का पुनः निर्यात किया जाय तो आयात कर वापस कर देना चाहिए। निर्यात कर को सरकारी आय का स्थायी स्रोत नहीं बनाना चाहिए। निर्यात कर का उद्देश्य सरकार की आय बढ़ाना नहीं बल्कि देश के व्यापक हितों की रक्षा करना होना चाहिए।

निर्यात संवर्धन कमेटी की रिपोर्ट अगस्त १६५७ में निकली। उसने यह सिपारिश की कि सतत प्रयत्न द्वारा भारत के निर्यात को ७०० या ७५० करोड़ रुपये तक प्रतिवर्ष निकट भविष्य में बढ़ाया जा सकता है यद्यपि द्वितीय योजना में ६१५ करोड़ रुपये तक ही बढ़ाने का ध्येय बनाया गया था। इसके लिये कमेटी ने सुझाव दिया कि निर्यात कर कम मात्रा में लगाना चाहिये और जल्दी जल्दी उसकी वसूली नहीं की जानी चाहिये। निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर वसूले हुये बिक्री कर तथा उत्पादन कर किसी एक निश्चित दर के हिसाब से लौटा देना चाहिये। निर्यात किसी एक एजेन्सी द्वारा नियत कर देना चाहिये, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा सरकारी। निर्यात के लिये साख की सुविधा का प्रबन्ध किया जाना चाहिये। भारतीय जहाजों को भारतीय माल के ले जाने तथा विदेशों से ले आने में उत्तरोत्तर अधिक भाग लेना चाहिये ताकि परोक्ष निर्यात की मात्रा भी बढ़ सके। कमेटी ने निर्यात किये जाने वाले माल के गुणों पर विशेष जोर दिया। कमेटी ने निम्न बातों का निर्यात नीति में समावेश करने के लिये सिपारिश की। (१) सभी क्षेत्रों में उत्पादन की मात्रा में निरन्तर वृद्धि करना विशेष कर कृषि उद्योग में। (२) मूल्यों को पूर्ण स्पर्धा के स्तर पर रखना, (३) देश के उपभोग की चिन्ता न करते हुये निर्यात को प्रोत्साहन देना, (४) निर्यात बाजारों और निर्यात माल में परिवर्तन करना, (५) निर्यात की जाने वाली वस्तुओं के नये प्रयोगों के सम्बन्ध में खोज करना तथा उनके अनुसार वस्तुओं का प्रयोग करना।

निर्यात संवर्धन कमेटी की सिपारिशों का ध्येय भारतीय निर्यात को प्रोत्साहन देना है। जिन सहायताओं के दिये जाने की सिपारिश कमेटी ने की है यदि उचित रीति से सरकार द्वारा दी जायगी तो निर्यात एजेन्सियाँ तथा भारतीय रिजर्व बैंक भारतीय निर्यात में वृद्धि करने में समर्थ हो सकेंगे। परन्तु कमेटी की सिपारिशे दो दृष्टिकोणों से अवास्तविक प्रतीत होती हैं। (१) भारतीय

निर्यात की मात्रा ७०० करोड़ से लगा कर ७५० करोड़ रुपयों तक निकट भविष्य में बढ़ जायगी, ऐसी सम्भावना तो भारतीय माल की तुलना में विदेशी माल के मूल्यों तथा उसके विरुद्ध विदेशी बाजारों की प्रतिस्पर्धा को देखते हुये मालूम नहीं पड़ती, और (२) देश के भीतर उपभोग की मात्रा जिसकी चिन्ता न करते हुये निर्यात बढ़ाया जा सकता है वह भी तो बहुत सीमित ही है। भारत में उपभोक्ताओं के त्याग की बात करना तो बड़ा सरल है परन्तु जब अधिकांश उपभोक्ता जीवन स्तर के सामान्य मापदण्ड से निम्न स्तर पर पहिले ही से रह रहे है तो अब और अधिक त्याग का अवसर नहीं हो सकता। हाँ यदि उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा दिया जाय जिनकी मांग विदेशों में है और उनकी उत्पादन लागत कम रक्खी जाय तब निश्चय ही हमारा निर्यात पर्याप्त मात्रा में बढ़ सकता है।

निर्यात संवर्धन काउंसिल्स (Export Promotion Councils) निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिये अनेकों निर्यात संवर्धन काउन्सिलें अनेक वस्तुओं के लिये स्थापित कर दी गई है जैसे सूती कपड़े, रेशम, रेयन, प्लास्टिक, इन्जिनियरिंग का सामान, कालीमिर्च, तम्बाकू, चमड़ा और चमड़े के बने सामान, लाख अबरक इत्यादि। कुछ निर्यात संवर्धन काउन्सिलों ने अपने डेलीगेशन विदेशों में भेजे है और विदेश की बाजारों के सम्बन्ध में बातों की जानकारी प्राप्त की है और उसे व्यापार और उद्योगों के प्रतिनिधियों को इसकी सूचना दी है। कुछ ने अपने शाखा कार्यालय विदेशों में खोले हैं। वे ऐसे उपायों को पता लगाते हैं जिनके द्वारा निर्यात में वृद्धि की जा सकती है।

निर्यात जोखिम बीमा कारपोरेशन (Export Risks Insurance Corporations) भारतीय निर्यात की वृद्धि में बाधा डालने वाली एक कठिनाई निर्यात सम्बन्धी बीमा सुविधा का आभाव था। इस अभाव की पूर्ति के लिये ४ अक्टूबर १९५७ को निर्यात जोखिम बीमा कारपोरेशन की स्थापना ५ करोड़ रुपये की पूजी से जो कि सरकार द्वारा ही दिया गया हुई। इसके डाइरेक्टरों के बोर्ड में सात सदस्य हैं एक इसका चेयरमैन है और एक मैनेजिंग डाइरेक्टर। यह कारपोरेशन सामान्य बीमा करने वालों की तरह जोखिम का बीमा नहीं करता वरन् विदेशी आयात करने वालों का खास कर गारन्टी करता है और उस सम्बन्ध में जो जोखिम हो उसकी जिम्मेदारी लेता है। इसका सारे कार्य का आधार लाभ हानि की भावना से युक्त है और इसका मुख्य आशय भारतीय माल के निर्यात को प्रोत्साहन देता है।

मार्च १९५८ के अन्त तक कारपोरेशन ने ११·२३ करोड़ रुपये के मूल्य का काम १६५ प्रस्तावों द्वारा प्राप्त किये जो कि ४६·२० करोड़ रुपये के निर्यात

के सम्बन्ध में थे। इनमें से ७८ प्रस्तावों को स्वीकार किया गया और ३·८३ करोड़ रुपयों के अंकित मूल्य की पालिसियाँ दी गई जो १७·३४ करोड़ रुपये के निर्यात के सम्बन्ध में थी। सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि अभी तक कारपोरेशन की सेवाओं का उपयोग मध्यम और निम्न स्तर के निर्यात करने वालों द्वारा ही किया गया है, इनका बड़े निर्यात करने वालों के समान विदेशों से व्यापारिक सम्बन्ध अथवा साख प्रबन्ध नहीं है। ७८ पालिसियों में से ३० पालिसिया १ से लगाकर २ लाख रुपये तक की, २१ पालिसियाँ २ लाख से ५ लाख रुपये तक की, और १२ पालिसियाँ ५ लाख रुपये से अधिक मात्रा की थीं। परन्तु यह आशा की जाती है कि किसी किसी निर्यात में बड़े निर्यात करने वाले लोग भी कारपोरेशन की सेवाओं का उपयोग करेंगे। कारपोरेशन के कार्य के सम्बन्ध में ये आलोचनायें की जाती हैं कि (१) इसने प्रीमियम की बहुत अभी दर लागाई है और (२) साधारण कारणों पर आवेदन अस्वीकार कर दिये गये हैं।

सरकारी व्यापार कारपोरेशन (State Trading Corporation) सरकारी व्यापार कारपोरेशन की स्थापना मई १९५६ में पूर्णतया सरकारी संस्था के रूप में १ करोड़ रुपये की अधिकृत पूँजी से की गई। इसकी स्थापना इसलिये की गई कि वह "समय समय पर जिन वस्तुओं के सम्बन्ध में कम्पनी निश्चय करे उनके भारत में आयात भारत से निर्यात की व्यवस्था करे स्वयं उनका आयात निर्यात करे, उन वस्तुओं का क्रय विक्रय तथा परिवहन और सामान्य व्यापार भारत में अथवा संसार के अन्य देशों में करे तथा वे सब कार्य करे जो उनसे सम्बन्धित रखती हो या जो उपर्युक्त ध्येय की पूर्ति में सहायक हों।" सरकारी व्यापार कारपोरेशन से निम्न लाभों की आशा की जाती है—(१) साम्यवादी देशों से व्यापार एक नये ढंग का कार्य है जिसे व्यक्तिगत व्यापारिक संस्थायें करने की आदी नहीं है; (२) देश की वर्तमान विदेशी व्यापार व्यवस्था नई परिस्थितियों को जो उत्पन्न हो गई है सम्भाल नहीं सकती इसलिये इस अभाव की पूर्ति सरकारी व्यापार कारपोरेशन से होगी; (३) कारपोरेशन को एक बहुत बड़ी संस्था के व्यापार करने की सुविधायें प्राप्त हैं; और (४) कारपोरेशन के समान बड़ी संस्था जब कि निर्यात व्यापार से लाभ न हो और अल्प काम में हानि हो रही हो तो भी निर्यात कर सकती है और विदेशी विनिमय प्राप्त कर सकती है।

सरकारी व्यापार कारपोरेशन लोहा और मैगनीज़ का निर्यात कर रहा है और अनेकों वस्तुओं का जैसे सीमेन्ट, सोडाऐश, कास्टिक सोडा, कच्चा रेशम खाद और जिप्सम आयात निर्यात कर रहा है। यह सीमेन्ट के वितरण में सरकारी एजेन्ट का काम कर रहा है। अपने कार्य के प्रथम वर्ष में ३० जून १९५७ तक

कारपोरेशन ने कुल १० करोड़ रुपयों का कार्य किया था। यह रकम कमीशन एजेन्सी के आधार पर किये गये कार्यों जैसे सीमेन्ट का वितरण के अतिरिक्त था। इसका कुल लाभ ३५.४२ लाख रुपयों का हुआ था जिसका व्योरा निम्न प्रकार है—

लोहा	...	२१.६२ लाख रुपया
मैंगनीज़	...	१०.४५ " "
क्रोम	...	०.३६ " "
जूते	...	१.५६ " "
कास्टिक सोडा	...	१.२० " "
कच्चा रेशम	...	१.१६ " "
काफी	...	१.२४ " "
अन्य	...	१.६४ " "

सोडा ऐश और अन्य कपड़ों पर ३.८२ लाख रुपयों का घाटा हुआ। वास्तविक लाभ ३२.६३ लाख रुपयों का हुआ।

सरकारी एजेन्सी के रूप में सीमेन्ट वितरण का ५५ करोड़ रुपयों का कार्य कारपोरेशन ने किया जिस पर ६६ लाख रुपया कमीशन प्राप्त हुआ। "भारत सरकार ने कारपोरेशन को निर्माण करने वालों से तथा विदेशों से आयात करके प्राप्त करने तथा देशी और विदेशी सीमेन्ट को समान मूल्य पर (गन्तव्य स्थान के रेल के भाड़े को सम्मिलित करते हुये) वितरित करने का कार्य दिया था। इस सेवा के लिये कारपोरेशन को कुल कार्य के १¼% दिया गया था। विदेशों से आयात किये सीमेन्ट पर कुल घाटा ४८ लाख रुपयों का हुआ जो कि अनुमान से इसलिये बहुत कम था कि आयात की मात्रा बहुत काफी मात्रा में घट गई। इसीलिये सीमेन्ट के हिसाब में ५.०१ करोड़ रुपयों का अतिरेक दिखलाई पड़ता है।"

सरकारी व्यापार कारपोरेशन के काम करने के सम्बन्ध में निम्न आलोचनायें की गई हैं—(१) भारतीय निर्यात को बढ़ाने में इसने कोई कार्य नहीं किया है वरन् इसने वर्तमान व्यापार के ढंगों को विनाश कर दिया है जिससे देश की बहुत बड़ी हानि हुई है; (२) इसके कार्य करने का व्यय अनुमान से कहीं अधिक हुआ है; और (३) इस प्रकार की संस्थाओं का जो अत्यन्त आवश्यक गुण अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना लेने का बदलने का है इसमें नहीं दिखाई पड़ा है। यदि सरकारी व्यापार कारपोरेशन को सीमेन्ट के आयात करने तथा वितरण करने का कार्य न दिया गया होता तो वह भारत के आयात

निर्यात की व्यवस्था करने के अपने कर्त्तव्य का जिसके लिये उसकी स्थापना की गई थी कोई उदाहरण न दे सकता।

पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत—पिछले कुछ वर्षों में भारत के विदेशी व्यापार की प्रवृति पर विचार करके उपयुक्त व्यापार नीति निर्धारित करने के लिए प्रथम पंचवर्षीय योजना में पाँच सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया था- (१) योजना में निर्धारित उत्पादन और उपभोग के लक्ष्यों को पूरा किया जाय; (२) निर्यात का उच्च स्तर रखा जाय; (३) निर्यात व्यापार में जो घाटा हो उसको देश के विदेशी मुद्रा विनिमय के साधनों से पूरा किया जा सके; (४) निर्यात और आयात को सरकार की वित्त तथा मूल्य सम्बन्धी नीति के अनुरूप किया जाय; और (५) निश्चित व्यापार नीति निर्धारित की जाय।

यह आशा की जाती थी कि योजना की अवधि में कृषि सम्बन्धी कच्चे माल, जैसे जूट और कपास, और सूती सामान, जूट के सूत, जूट का सामान, कच्चा मैंगनीज, तेल, कोयला, काली मिर्च, तम्बाकू, नारियल की जटा से उत्पादित माल और ऊनी माल का उत्पादन बढ़ेगा। इससे भारत को निर्यात करने के लिए पर्याप्त माल उपलब्ध होगा और विदेशी मुद्रा भी अधिक मात्रा में प्राप्त की जा सकेगी। इसके अतिरिक्त उद्योगों का विकास होने से बिजली के सामान, मशीनों के औज़ार, साइकिल, कुछ रसायनों, दियासलाई, सिमेंट, साबुन और कागज इत्यादि का निर्यात किया जा सकेगा। यह सुझाव भी दिया गया है कि उभय पक्षीय व्यापार समझौतों और क्षेत्रीय व्यापार समझौतों के द्वारा भी निर्यात की मात्रा बढ़ाई जाय परन्तु वर्तमान परिस्थितियों में इन समझौतों का कार्यक्षेत्र सीमित है।

योजना आयोग का अनुमान था कि १९५०-५१ और १९५५-५६ के बीच भारत के निर्यात व्यापार में १० प्रतिशत की और आयात में १८ प्रतिशत की वृद्धि होगी। इसका अर्थ यह है कि विदेशी मुद्रा विनिमय के घाटे को देश के साधनों की सीमा के अन्दर रखने के लिए निर्यात तथा आयात पर कड़ा नियंत्रण होना चाहिये। यह अनुमान लगाया गया है कि १९५१ की कीमतों के आधार पर पंचवर्षीय योजना की अवधि में विदेशी मुद्रा में १३३ करोड़ रुपयों की वृद्धि होगी और आयात बढ़ने के कारण १०८ करोड़ रुपयों की कमी भी होगी इस प्रकार विदेशी मुद्रा में २५ करोड़ रुपयों की वृद्धि होगी। परन्तु इसमें उस विदेशी मुद्रा की बचत सम्मिलित नहीं है जो तेल शोधशालाओं से और दक्षिणी पूर्वी एशिया के साथ व्यापर बढ़ने से प्राप्त होगी, न विदेशी मुद्रा की वह धनराशि सम्मिलित है जिसकी योजना के अंतिम वर्ष में मशीनों तथा अन्य सामानों का आयात करने में

आवश्यकता होगी। इसलिए योजना आयोग का अनुमान था कि १९५५-५६ तक विदेशी मुद्रा विनिमय की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं होगा।

द्वितीय योजना में निर्यात की मात्रा में तुरन्त वृद्धि के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से ज्ञात है कि योजना काल में कोई विशेष उन्नति की सम्भावना नहीं है। भारत की निर्यात आय थोड़ी सी वस्तुओं से ही प्राप्त होती है। उनमें से तीन—चाय, जूट का सामान, और सूती कपड़े मिलाकर कुल निर्यात का आधे के बराबर हैं। मुख्य निर्यात की वस्तुओं को बढ़ती हुई विदेशों की प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। इससे अल्प काल में निर्यात की मात्रा में वृद्धि की सम्भावना बहुत सीमित है। यद्यपि नई वस्तुओं के निर्यात का प्रयत्न करना चाहिये और निर्यात की मुख्य वस्तुओं के बाजारों के विस्तृत करने का प्रयत्न करना चाहिये पर यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि जब तक देश का औद्योगीकरण किसी सीमा तक नहीं हो जाता और देश में उत्पादन की मात्रा भी नहीं बढ़ जाती तब तक निर्यात की मात्रा में वृद्धि नहीं हो सकती। इसलिये द्वितीय योजना में औद्योगीकरण की तीव्र गति को विचाराधीन रखते हुये आयात की मात्रा को न्यूनतम स्तर पर लाने में और निर्यात की मात्रा बढ़ाने में विशेष सावधानी की आवश्यकता है द्वितीय योजना के अनुसार भारत के निर्यात को १९६०-६१ तक ६१५ करोड़ रुपयों तक बढ़ाना सम्भव हो सकता है। इस वर्ष योजना के अनुसार आयात की मात्रा ६५५ करोड़ रुपयों की होगी।

अध्याय ४०

तटकर नीति और संरक्षण

१६२३ से पहले भारत सरकार ने स्वतन्त्र व्यापार (free trade) की नीति अपनायी। इसकी वित्त-नीति (fiscal policy) राजस्व की आय की आवश्यकता के आधार पर निर्धारित की जाती थी। १६२३ में पहली बार अनेक उद्योगों को तटकर-संरक्षण दिया गया। स्वतन्त्र व्यापार की नीति को संरक्षण देने की नीति में बदलने के अनेक कारण हैं। (१) प्रथम विश्वयुद्ध से भारत के औद्योगिक विकास की संभावनाओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा। सरकार द्वारा राजस्व की आय बढ़ाने के लिये अधिक आयात कर लगाने से अनेक नवीन और पहले से ही स्थापित उद्योगों ने तेजी से प्रगति की। इससे इस बात पर प्रकाश पड़ा कि तटकर संरक्षण मिलने पर भारत में उद्योगों का विकास किस सीमा तक संभव है। औद्योगिक आयोग (१६१६-१८) ने भारत के औद्योगिक विकास की संभावनाओं की जाँच की और वह इस परिणाम पर पहुँचा कि लोहे और इस्पात और मशीनों के लिए विदेशों के आयात पर निर्भर करने के कारण, पूँजी लगाने में संकोच होने, वैज्ञानिक ज्ञान का अभाव होने और टेकनिशियनों की कमी होने के कारण देश का औद्योगिक विकास नहीं हो पा रहा है। आयोग ने इस बात का संकेत किया कि देश के औद्योगिक साधनों का विकास करने की अत्यन्त आवश्यकता है। परन्तु चूँकि भारत की वित्त नीति का विषय आयोग के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत नहीं था इसलिए आयोग ने यह सिफारिश नहीं की कि भारत सरकार को तटकर संरक्षण की नीति अपनानी चाहिए। इस पर भी आयोग ने अपनी जाँच में जिन तथ्यों पर प्रकाश डाला उनसे तटकर संरक्षण की राष्ट्र की माँग को और भारतीय औद्योगिक साधनों के पूर्ण विकास की माँग को बहुत बल मिला। (२) १६१६ के राजनीतिक सुधारों से यह ज्ञात हुआ कि जब तक वित्त नीति निर्धारित करने की स्वतन्त्रता नहीं है और देश को आर्थिक तथा औद्योगिक साधनों के विकास का अधिकार नहीं है तब तक राजनीतिक प्रगति संभव नहीं। राजनीतिक सुधारों के पश्चात् १६२१ में ब्रिटिश सरकार ने संसद के दोनों सदनों की संयुक्त प्रवर-समिति की सिफारिश के अनुसार वित्त सम्बन्धी स्वशासन समझौते (Fiscal Autonomy Convention) को स्वीकार कर लिया। इस समझौते के अनुसार यह निश्चित हुआ कि यदि भारत सरकार और विधान मण्डल एक विशेष

वित्त निर्धारित कर लें तो, विशेष परिस्थितियों को छोड़कर, अन्यथा ब्रिटिश सरकार का भारत-मंत्री (Secretary of State for India) भारतीय वित्त नीति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस व्यवस्था से भारत सरकार द्वारा १६२३ में तटकर संरक्षण की नीति अपनाने के लिए मार्ग बन गया और (३) अनेक यूरोपीय देशों में तटकर नीति सफल रही और स्वतन्त्र व्यापार नीति धीरे-धीरे खत्म हो रही थी। सारी दुनिया में यह अनुभव किया गया कि स्वतन्त्र व्यापार नीति से पिछड़े हुए देशों का औद्योगिक विकास नहीं किया जा सकता है बल्कि यदि कुछ परिस्थितियों में उदीयमान और नये विकासशील उद्योगों को तटकर संरक्षण दिया जाय तो उनके विकास कर सकने की संभावना है। उद्योगों को संरक्षण देने के विश्वव्यापी आन्दोलन से भारत के तटकर संरक्षण की माँग को पर्याप्त बल मिला।

वित्त अयोग (१६२१)—१६२१ में सर इब्राहीम रहीमतुल्ला की अध्यक्षता में वित्त आयोग नियुक्त किया गया। इस आयोग को भारत सरकार की तटकर नीति की और 'इम्पीरियल प्रिफरेंस' के सिद्धान्त को लागू करने की संभावनाओं की जाँच करने का कार्य सौंपा गया। आयोग ने बताया कि यद्यपि भारत कृषि प्रधान देश है परन्तु उत्पादन करने के लिए इसमें अनेक प्राकृतिक सुविधाएँ हैं। यहाँ कच्चा माल बहुतायत से है, श्रम सस्ता है और उद्योगों का विकास करने के लिए पर्याप्त बिजली प्राप्त की जा सकती है। सूती कपड़े और जूट के दो बड़े उद्योगों के अनुभव से यह ज्ञात हो गया कि भारत अपने प्राकृतिक साधनों का पूरा-पूरा लाभ उठा सकने में समर्थ है। उद्योगों में संरक्षण सम्बन्धी भेद करने के लिए आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिये—

(१) उद्योग को प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हों, जैसे कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में हो, बिजली सस्ती हो, श्रम पर्याप्त मात्रा में मिले या उत्पादित माल की स्वदेश में काफी खपत हो सकती हो। ये सुविधाएँ विभिन्न उद्योगों के लिए विभिन्न सापेक्षिक महत्त्व की होंगी परन्तु इसकी उचित जाँच की जाय और इनके सापेक्षिक महत्त्व को निर्धारित किया जाय। विश्व के सफल उद्योगों को अन्य उद्योगों की अपेक्षा कुछ विशेष सुविधाएँ हैं जिन पर उनकी सफलता निर्भर करती है। कोई भी उद्योग जिसे अन्य की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ उपलब्ध नहीं हैं उनसे समान स्तर पर प्रतियोगिता नहीं कर सकता है। इसलिए भारतीय उद्योग को प्राप्त प्राकृतिक सुविधाओं की सावधानी से जाँच करनी चाहिए जिससे यह निश्चित हो जाय कि किसी भी ऐसे उद्योग को संरक्षण नहीं मिलेगा जो बाद में देश पर स्थायी भार बन जाय।

(२) संरक्षण प्राप्त करने वाला उद्योग ऐसा होना चाहिए जो संरक्षण न मिलने पर या तो बिल्कुल विकास नहीं करेगा या देश की स्थिति को देखते हुए जितनी शीघ्रता से उसका विकास अपेक्षित है नहीं हो पायेगा। जिस सिद्धान्त के आधार पर संरक्षण देने की सिफारिश की गई है यह उसी का उप सिद्धान्त कहा जा सकता है। संरक्षण देने का मुख्य उद्देश्य यह है कि या तो ऐसे उद्योगों का विकास किया जाय जो बिना संरक्षण के विकास नहीं कर सकते हैं या विकासशील उद्योगों का तीव्र गति से विकास हो।

(३) ऐसे उद्योग को संरक्षण दिया जाय जो अंत में बिना संरक्षण के भी विश्व-बाजार में प्रतियोगिता का सामना कर सके। इस शर्त के पूरे होने की संभावना का अनुमान लगाने के लिए प्रथम सुझाव में वर्णित प्राकृतिक सुविधाओं पर सावधानी से विचार करना चाहिए। इस सुझाव का महत्व बिल्कुल स्पष्ट है। संरक्षण से हमारा तात्पर्य ऐसे उद्योगों को अस्थायी संरक्षण देने से है जो अंत में बिना संरक्षण के चलाये जा सकते हैं।

इन तीन प्रमुख सुझावों के साथ ही वित्त आयोग ने तटकर संरक्षण देने के लिए कुछ अन्य आवश्यक बातों पर भी प्रकाश डाला है। आयोग का मत था कि ऐसे उद्योगों को संरक्षण के सम्बन्ध में प्राथमिकता देनी चाहिए जिनका उत्पादन व्यय कम हो सकता हो और जिनके द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन किये जाने की संभावना हो। इसके साथ ही ऐसे उद्योगों को जो एक निश्चित समय में देश की पूरी आवश्यकता की पूर्ति कर सकने में समर्थ हो प्राथमिकता मिलनी चाहिए। पूर्व वर्णित तीनों सुझावों की पूर्ति न होते हुए भी राष्ट्रीय प्रतिरक्षा और विशेष सैनिक महत्व के उद्योगों को और साथ ही आधारभूत एवम् मुख्य उद्योगों को संरक्षण दिया जाना चाहिए। आयोग ने बाजार में आवश्यकता से कहीं अधिक विदेशी माल जमा होने और सहायता प्राप्त आयातों से देशी उद्योग को होने वाली हानि को रोकने के लिए भी संरक्षण देने की सिफारिश की और सुझाव दिया कि संरक्षण के लिए आवेदन-पत्र देने वाले उद्योगों की स्थिति की जाँच करने के लिए और इस सम्बन्ध में सरकार का परामर्श देने के लिए तटकर-बोर्ड नियुक्त किया जाय।

वित्त आयोग द्वारा निश्चित संरक्षण नीति असङ्गत है। संरक्षण देने के लिए उद्योगों में भेद करने के सुझाव की कड़ी आलोचना की गई है —

(१) यदि कोई उद्योग पहले सुझाव की पूर्ति करता है कि उसको प्राकृतिक सुविधाएँ पर्याप्त मात्रा में प्राप्त हैं तो इसके साथ ही उसका बिना संरक्षण के विकास न कर सकना अथवा जिस प्रगति से देश के हित के लिए उसका विकास होना

चाहिये न हो सकना आवश्यक नहीं है। ऐसा उद्योग बिना संरक्षण के भी विकास कर सकता है। यदि किसी उद्योग को वह सभी प्राकृतिक सुविधाएँ प्राप्त हैं जिनकी आयोग अपेक्षा करता है तो बिना तटकर संरक्षण के उसकी स्थापना न हो सकने का कोई कारण नहीं। दूसरा सुझाव लागू होने के लिए उद्योग को कुछ असुविधाएँ होनी चाहिएँ जिनको बिना संरक्षण के दूर नहीं किया जा सकता है और ये असुविधाएँ ऐसी हो सकती हैं जिससे पहला सुझाव इस उद्योग पर लागू न हो। व्यवहारिक जगत में तटकर-बोर्ड के लिए दोनों सुझावों का अलग करना और लागू करना कठिन हो गया इसलिए इन सुझावों को केवल सामान्य रूप में ही लागू किया गया। यदि इन दोनों सुझावों को पूर्णतया लागू किया जाय तो किसी भी भारतीय उद्योग को तटकर संरक्षण प्राप्त नहीं हो सकता।

(२) जहाँ तक तीसरे सुझाव का सम्बन्ध है, जिसमें कहा गया है कि उद्योग को अंत में बिना संरक्षण के विश्व बाजार की प्रतियोगिता का सामना करने योग्य होना चाहिए, यह कहा जा सकता है कि यह सुझाव या तो बिल्कुल व्यर्थ है या बिल्कुल असङ्गत। यदि प्रथम सुझाव उद्योग पर लागू हो जाता है तो यह सुझाव पूर्णतया व्यर्थ है क्योंकि उस स्थिति में तटकर बोर्ड की भविष्य-वाणी का कोई महत्व नहीं रहता। यदि तटकर बोर्ड दूसरे सुझाव पर जोर देता है कि उद्योग की स्थिति अत्यन्त खराब है और उसे संरक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है तो ऐसी स्थिति में बोर्ड की यह आशावादी घोषणा कि एक निश्चित अवधि में उद्योग बिना संरक्षण के भी चल निकलेगा केवल भविष्यवाणी ही रह जाती।

(३) आयोग के पूर्व वर्णित तीनों सुझावों में उन उद्योगों के विकास के महत्व पर ध्यान नहीं दिया गया है जिनका अभी पूर्ण उद्‌भव नहीं हो पाया है या जो अभी अपरिपक्व स्थिति में हैं। संरक्षण देने का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि जो उद्योग वर्तमान समय में चल रहे हैं उनका विकास किया जाय और उनको सहायता दी जाय। इसका उद्देश्य यह भी है कि जो उद्योग अभी चालू नहीं किये गये हैं परन्तु जिनको चालू किया जा सकता है उनकी स्थापना की जाय और विकास में सहायता दी जाय। तटकर संरक्षण का उद्‌देश्य देश का औद्योगिक विकास करने के लिए सभी औद्योगिक संभावनाओं का पूर्ण उपयोग करना है। ऐसे नये उद्योगों को छोड़ देने से भारत में तटकर संरक्षण का कार्यक्षेत्र बहुत संकीर्ण कर दिया गया है।

(४) वित्त आयोग ने सुझाव दिया है कि केवल तदर्थ तटकर-बोर्ड स्थापित किये जायँ। आयोग ने स्थायी तौर पर तटकर-बोर्ड स्थापित करने की सिफारिश

नहीं की जो केवल उद्योगों के संरक्षण के दावों की जाँच नहीं करता बल्कि संरक्षित उद्योगों की देख-रेख भी करता।

सरकार ने वित्त आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और इन्हीं सुझावों पर आधारित तटकर संरक्षण नीति फरवरी १६२३ को अपना ली गई और जुलाई १६२३ में तटकर-बोर्ड स्थापित किया गया। तटकर-बोर्ड ने अनेक उद्योगों के संरक्षण प्राप्त करने के दावों की जाँच की और इसकी सिफारिशों के अनुसार लोहे तथा इस्पात और अन्य सम्बन्धित उद्योगों को, सूती कपड़ा और रेशम के कीड़े पालन के उद्योगों को, बाँस, कागज, दियासलाई, चीनी, भारी रसायनिकों और सोने के तार खींचने वाले उद्योगों को संरक्षण दिया गया। कोयला, सिमेंट, काँच और तेल उद्योगों को तटकर संरक्षण नहीं दिया गया।

उद्योगों में भेद करके संरक्षण देने की नीति से कई प्रतिबन्धों एवं असंगताओं के होते हुए भी बहुत अच्छा परिणाम निकला। भारतीय लोहा तथा इस्पात उद्योग, सूती कपड़ा उद्योग, चीनी तथा अन्य उद्योगों की आज की प्रगति का श्रेय संरक्षण की इसी नीति को है। तटकर संरक्षण नीति की सफलता इस बात से प्रकट होती है कि इन उद्योगों का उत्पादन बढ़ा है और कुछ कारखानों को छोड़कर अन्य भारतीय कारखानों का उत्पादन व्यय विदेशी कारखानों के उत्पादन व्यय की प्रतियोगिता का सामना कर सकता है (इनके विकास के कारण १६४१ में लोहा तथा इस्पात उद्योग का, १६४७ में कागज उद्योग का और १६५० में चीनी तथा सूती कपड़ा उद्योग का संरक्षण वापिस ले लिया गया) परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि वित्त आयोग के तीनों सुझाव विशेष सफल रहे। वास्तव में इनको लागू करने पर अनेक दोष प्रकट हुए और उनके कारण उद्योगों के विकास में बहुत बाधा हुई। सिमेंट, काँच और कोयला जैसे अनेक ऐसे उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया गया जिनको वास्तव में संरक्षण की आवश्यकता थी। रसायनिक उद्योग को बहुत कम समय के लिए संरक्षण दिया गया और इसलिए उसे विकास कर सकने का पूरा अवसर नहीं मिला। सरकार ने अधिकतर आयात करों के रूप में संरक्षण दिया, केवल लोहे तथा इस्पात उद्योग को आर्थिक सहायता दी गई है। अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार ने वित्तीय सहायता देने या रेलवे का भाड़ा कम करने के तटकर बोर्ड के दिये सुझावों को बिल्कुल अस्वीकार कर दिया जिससे भारत में तटकर संरक्षण का कार्यक्षेत्र बहुत संकुचित हो गया। इसके साथ ही ओटावा समझौते के अन्तर्गत इम्पीरियल प्रिफरेंस स्वीकार करके तटकर संरक्षण का क्षेत्र और भी संकुचित कर दिया।

संरक्षण का भार—तटकर की नीति की भी कड़ी आलोचना की गई

हैं। यह कहा गया है कि (१) संरक्षण के देने से भारत की राजस्व की आय में काफी कमी आ गई। (२) आयात-कर के रूप में अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि होने से भारतीय कर प्रणाली और अधिक प्रतिगामी (regressive) हो गई है। (३) तटकर संरक्षण से उपभोक्ताओं को क्षति पहुँची। यदि संरक्षण न दिया जाता तो वह आयात किये गये सामान को सस्ते मूल्य में क्रय कर सकता था। चूँकि निर्धन जनता को अपनी आय का अधिकांश आयात किये गये सामान पर व्यय करना पड़ा जिसकी कीमतें तटकर संरक्षण होने से बढ़ गई थीं इसलिए भारत में सम्पत्ति के असमान वितरण की स्थिति और बिगड़ गई। इन तर्कों को शीघ्र ही स्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों से बहुत कुछ कहा जा सकता है। यह नहीं कहा जा सकता कि गरीब जनता, विशेषकर गाँव में रहने वाली जनता, अपनी आय का अधिकांश आयात किये गये सामान पर व्यय करती है और इसलिए तटकर संरक्षण नीति ने उसे और अधिक निर्धन बना दिया है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि उपभोक्ता वर्ग को इस संरक्षण से महँगा सामान खरीदने के फलस्वरूप हानि उठानी पड़ी क्योंकि संरक्षण न होने पर आयात किये गये माल को वह सस्ती कीमत में खरीद सकते थे। परन्तु यह कहना सही नहीं कि इससे सम्पत्ति के असमान वितरण की स्थिति और बिगड़ गई।

संरक्षण की नीति के प्रभाव से सरकार की चुङ्गी (customs) से प्राप्त होने वाली आय घट गई है और आयात कर लगाने से कर प्रणाली भी कुछ प्रतिगामी हो गई है परन्तु इन बातों पर अन्य सम्बन्धित बातों से अलग करके विचार नहीं किया जा सकता है। सारी स्थिति को समझने के लिए हमें सभी परिस्थितियों पर विचार करना पड़ेगा। यदि ऐसा किया जाय तो स्थिति इतनी दयनीय मालूम नहीं होगी जितनी तटकर संरक्षण के आलोचकों ने अंकित की है। तटकर संरक्षण से देश के औद्योगिक साधनों का विकास होता है और इसके साथ ही संरक्षित उद्योगों में और अन्य उद्योगों में रोजगार बढ़ता है। इससे राष्ट्रीय आय (national dividend) बढ़ती है, उपभोक्ता की आय बढ़ती है और सरकार का राजस्व बढ़ता है। देश के विकास के लिए सरकार तथा उपभोक्ताओं को कुछ काल के लिए त्याग करना पड़ता है परन्तु प्रश्न यह है कि संरक्षण नीति लागू करने से क्या दीर्घकाल में भी वह हानि उठाते हैं। ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि तटकर संरक्षण का अन्तिम उद्देश्य केवल उत्पादकों को नहीं बल्कि उपभोक्ताओं को भी सहायता देना है। इसलिए संरक्षण नीति के कारण जो त्याग करना पड़ता है उसे इस नीति के विरुद्ध तर्क के रूप में नहीं दिया जा सकता है।

अस्थाई तटकर-बोर्ड—द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभकाल से यह अनुभव किया गया कि भारत में अनेक महत्वपूर्ण उद्योगों का अभाव है। चूँकि युद्धकाल की आवश्यकता की पूर्ति के लिए इन उद्योगों को स्थापित करना आवश्यक था इसलिए सरकार ने १९४० में घोषित किया कि युद्धकाल में स्थापित उद्योगों का यदि ठोस व्यवसायिक आधार पर संगठन किया गया तो उन्हें उपयुक्त संरक्षण दिया जायगा। इससे भारत में तटकर संरक्षण का कार्यक्षेत्र बढ़ गया और सरकार की तटकर नीति को भी बिल्कुल नया रूप मिल गया। परन्तु दीर्घकालीन तटकर नीति निर्धारित करने में और इसका संचालन करने के लिए स्थाई संस्था का निर्माण करने में काफी समय लग जाता इसलिए भारत-सरकार ने ३ नवम्बर १९४५ को अस्थाई तटकर-बोर्ड स्थापित किया और इसे युद्धकाल में स्थापित किये गये उद्योगों के संरक्षण दिये जाने के दावों की जाँच-पड़ताल करने का कार्य सौंपा। यह बोर्ड दो वर्ष के लिए स्थापित किया गया और इसे किसी भी उद्योग को ३ वर्ष तक संरक्षण देने की सिफारिश करने का अधिकार प्राप्त था। उद्योगों को संरक्षण देने की सिफारिश करने में बोर्ड की सहायता के लिए कुछ शर्तें निर्धारित कर दी गईं, जैसे (१) उद्योग व्यवसायिक आधार पर संगठित किया गया हो और इसी दृष्टि से चलाया जाता हो और (२) (अ) उद्योग की प्राकृतिक एवम् आर्थिक सुविधाओं तथा इनकी लागत को ध्यान में रखते हुए यह संभव प्रतीत होता हो कि निश्चित समय में उद्योग पर्याप्त विकास कर लेगा और उसे राज्य की सहायता या तटकर संरक्षण की आवश्यकता नहीं रहेगी, (ब) उद्योग ऐसा है जिसे राष्ट्रीय हित में सहायता एवम् संरक्षण देना वांछित है और इस सहायता का जनता पर अधिक भार नहीं पड़ेगा। यदि उद्योग की संरक्षण की माँग उचित सिद्ध हुई अर्थात् जब (१) और (२) शर्तें लागू हो गईं तो बोर्ड यह सिफारिश करेगा कि (क) उद्योग को किस दर पर और किस वस्तु के सम्बन्ध में संरक्षण दिया जाय, (ख) उद्योग को संरक्षण देने के लिए या सहायता देने के लिए और क्या अतिरिक्त उपाय हो सकता है, और (ग) संरक्षण या अन्य उपाय किस अवधि तक (३ वर्ष से अधिक नहीं) लागू रखे जा सकते हैं।

अस्थाई तटकर-बोर्ड का पथ-प्रदर्शन करने के लिए भारत सरकार ने जो नया सूत्र निकाला वह पूर्व-नीति से काफी भिन्न था जिसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि अपनी आर्थिक सुविधाओं पर आधारित उद्योग की वास्तविक या संभावित लागत क्या होगी। यह कहा गया है कि यह सूत्र काफी व्यापक है और तटकर संरक्षण देने के सम्बन्ध में राष्ट्रीय हित को प्रमुख स्थान देता है।

संरक्षण के लिए अस्थायी तटकर बोर्ड के पास ४६ मामले आये। बोर्ड ने

इनमें से ४२ मामलों को अपनी सिफारिश के साथ सरकार के पास भेजा। इनमें से ३८ उद्योग युद्धकाल में स्थापित किये गये थे और ४ उद्योग—सूती कपड़ा, इस्पात, कागज और चीनी उद्योग—युद्ध के पहले से चालू थे। युद्धकाल में स्थापित उद्योगों के लिये बोर्ड ने उचित संरक्षण की सिफारिश की। बोर्ड ने यह सिफारिश की कि चीनी उद्योग को संरक्षण दिया जाय और सूती कपड़ा उद्योग, इस्पात तथा कागज उद्योगों का संरक्षण वापस ले लिया जाय।

पुनः संगठित तटकर-बोर्ड—नवम्बर १९४७ में तटकर बोर्ड का पुनः सङ्गठन किया गया और स्थायी तटकर-बोर्ड के कार्यों के अतिरिक्त इसको कुछ नये कार्य भी सौंपे गये जैसे (१) बोर्ड देश में उत्पादित माल के उत्पादन व्यय की जाँच करेगा, इसकी थोक, फुटकर तथा अन्य कीमतों को निर्धारित करेगा और सरकार को आवश्यकता पड़ने पर इस सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट देगा, (२) बोर्ड सस्ते विदेशी माल के विरुद्ध भारतीय उद्योग को संरक्षण देने के सम्बन्ध में सरकार को परामर्श देगा; (३) बोर्ड संरक्षण के प्रभावों की या सरकार द्वारा दी गई अन्य सहायताओं के प्रभाव की आवश्यकता पड़ने पर जाँच पड़ताल करके संरक्षित उद्योग की प्रगति पर सदैव दृष्टि रखेगा। बोर्ड इस की जाँच करता रहेगा कि संरक्षण देने की सभी शर्तों को पूरी तरह से लागू किया गया है और संरक्षित उद्योग कुशलतापूर्वक चलाये जा रहे हैं।

पुनः सङ्गठित तटकर बोर्ड के कार्य की कुछ विशेषताएँ इस प्रकार हैं—

(१) बहुत से ऐसे उद्योगों को तीन वर्ष तक के लिए संरक्षण दिया गया जिन्हें पहले भी संरक्षण दिया गया था। अनेक उद्योगों को सरकार ने एक या दो वर्ष तक के लिए और संरक्षण दिया और कुछ उद्योगों को तीन वर्ष तक के लिए। इससे बहुत कुछ अंश में संरक्षण का उद्देश्य ही नष्ट हो गया क्योंकि उद्योगपति इस बात के प्रति निश्चित नहीं थे कि भविष्य में भी तटकर संरक्षण मिलेगा और इसी अनिश्चितता के कारण उन्होंने कोई उद्योग स्थापित नहीं किया यद्यपि वह लाभदायक सिद्ध हो सकता था। इसी कारण सरकार की अल्पकाल के लिए संरक्षण देने की नीति बहुत हानिकारक सिद्ध हुई।

(२) पुनःसङ्गठित तटकर बोर्ड ने अनेक नए उद्योगों को भी संरक्षण देने की सिफारिश की जैसे साइकिल के पुर्जे, आटा पीसने की चक्की (Grinding wheels), काँच, काँच के बर्तन, सोडा ऐश, सूती कपड़ा उद्योग की मशीनें, मशीन स्क्रू, जिपफास्टनर, प्लास्टिक, पेन्सिल और बटन इत्यादि बनाने के उद्योग। इससे भारत के औद्योगिक विकास की एक कमी पूरी हो गई।

(३) अनेक उद्योगों को विभिन्न कारण बताकर संरक्षण देने से इन्कार कर

दिया गया जैसे लिवर एक्सट्रैक्ट, कौपर सल्फेट, स्लेट और स्लेट पेन्सिल को इस कारण संरक्षण नहीं दिया गया कि इन वस्तुओं की भारत में 'बिक्री कीमत' आयात किए गए सामान की कीमत से कम है। स्टर्लाइस्ड कैटगट (Sterlized Catgut) और बिजली के पंखों के उद्योगों को इस कारण संरक्षण नहीं दिया गया कि वर्तमान में राजस्व कर से इन उद्योगों को पर्याप्त संरक्षण मिला हुआ है और यदि उद्योगपति चाहें तो इन उद्योगों का वर्तमान स्थिति में विकास कर सकते हैं। मिल्क पाउडर और छोटे औजार इत्यादि बनाने के उद्योगों को इस आधार पर संरक्षण नहीं दिया गया कि वर्तमान स्थिति में इन उद्योगों को किसी भी दशा में संरक्षण की आवश्यकता नहीं है।

(४) अनेक उद्योगों, जैसे फासफोरस, फासफोरिक एसिड, पोटेसियम परमेंगनेट, स्टील वेल्ट एण्ड लेसिंग और चीनी उद्योगों को जिन्हें पहले संरक्षण दिया गया था अब उनकी यह सुविधा वापस कर ली गई। जहाँ तक चीनी उद्योग का सम्बन्ध है तटकर बोर्ड ने शुगर सिन्डीकेट की कड़ी आलोचना करते हुए बताया कि चीनी उद्योग ने अपने एकाधिकार का पूरा लाभ उठाया और अपने सदस्यों को उपभोक्ताओं की हानि करके खूब लाभ दिया, इसके साथ ही सिन्डीकेट ने उत्तर प्रदेश और बिहार शुगर कमीशन के नियन्त्रण का विरोध किया, विकास कर सकने तथा कुशलता बढ़ा सकने में असफल रहा और कई बार अभाव की आशंका पैदा कर दी। अस्थायी तटकर बोर्ड की सिफारिश के आधार पर लोहा तथा इस्पात, सूती कपड़ा और कागज उद्योगों का संरक्षण पहले ही समाप्त कर दिया गया था। चीनी उद्योग की संरक्षण सुविधा खत्म करने के साथ ही संरक्षण खत्म करने की प्रवृति भी जोर पकड़ गई। कुछ मामलों में यह तर्क दिया गया कि उद्योग अपना पर्याप्त विकास कर चुका है और अब संरक्षण की आवश्यकता नहीं रही। कुछ के बारे में यह कहा गया कि अभी तो वर्तमान राजस्व कर पर्याप्त संरक्षण है और अपनी अन्य सुविधाओं का प्रबन्ध कर के उत्पादन व्यय घटाना उत्पादकों का कार्य है। संरक्षण खत्म करने से यह आशा की जाती थी कि उपभोक्ता को लाभ होगा और उसे सस्ती कीमत पर चीजें मिल जायँगी। संरक्षण खत्म करने की प्रवृत्ति को १६२३ के वित्त आयोग की सिफारिश से काफी बल मिला। वित्त आयोग ने सिफारिश की थी कि संरक्षण प्राप्त करने वाले उद्योग एक निश्चित अवधि में अपना पर्याप्त विकास कर सकते हैं और उस अवधि के बाद उन्हें संरक्षण की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। परन्तु कुछ विशेषज्ञों का मत है कि संरक्षण प्राप्त उद्योग को अपना विकास करने के लिए २५ से ३० वर्ष का समय चाहिए और इससे पहले ही संरक्षण खत्म कर देना अनुचित है।

(५) तटकर बोर्ड ने केवल आयात कर के द्वारा ही नहीं बल्कि आर्थिक तथा अन्य सरकारी सहायता, जैसे कुछ उद्योगों की मदद के लिए विकास कोष का निर्माण इत्यादि करने की व्यवस्था करके संरक्षण देने की सिफारिश की। इससे भारत के तटकर संरक्षण का कार्यक्षेत्र काफी व्यापक हो गया।

(६) तटकर बोर्ड ने अनेक उद्योगों में जाँच पड़ताल की और औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, उद्योगों का विकास करने और भ्रष्टाचार रोकने के लिए अनेक सुझाव दिये।

वित्त आयोग (१६५०)—नये वित्त आयोग ने तटकर संरक्षण की समस्या पर अधिक सन्तुलित और विस्तृत दृष्टिकोण से विचार किया और सुझाया कि तटकर संरक्षण के प्रश्न पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया जा सकता है। चूँकि तटकर संरक्षण उद्योग और कृषि नियोजन का एक अंग है इसलिए इस पर अन्य सम्बन्धित समस्याओं के साथ ही विचार किया जा सकता है। वित्त आयोग ने तटकर-संरक्षण की सिफारिश की और इस उद्देश्य से उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया—

(१) प्रतिरक्षा तथा तत्सम्बन्धित उद्योग।

(२) आधारभूत और प्रमुख उद्योग।

(३) 'अन्य उद्योग'।

उद्योग के प्रथम श्रेणी के सम्बन्ध में आयोग ने तटकर-संरक्षण प्रदान करने की सिफारिश की, चाहे जनता पर इसका कितना ही भार क्यों न पड़े। इस सम्बन्ध में यही नीति उचित भी है। देश में शान्ति और समृद्धि के लिए ये उद्योग अत्यन्त महत्व के हैं और लागत चाहे कितनी ही हो इन उद्योगों का किसी भी संकट का सामना करने के लिए पूर्ण विकास होना जरूरी है। दूसरी श्रेणी के आधारभूत और प्रमुख उद्योगों के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की कि इन उद्योगों को दिये जाने वाले संरक्षण का प्रकार, उसकी मात्रा और शर्तों को निर्धारित करने का तटकर अधिकारियों को पूर्ण अधिकार देना चाहिए। इन उद्योगों का अधिक महत्व होने के कारण आयोग ने तटकर-संरक्षण को करने की शर्तों की सिफारिश नहीं की। तीसरे श्रेणी के अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में आयोग ने निम्न दो शर्तें दीं कि (अ) उद्योग की आर्थिक सुविधाओं और उनकी वास्तविक या संभावित लागत को ध्यान में रखते हुए यह निश्चित हो कि उचित अवधि में उद्योग अपना पर्याप्त विकास कर लेगा और बिना संरक्षण तथा सहायता के सफलतापूर्वक चलाया जा सकेगा। (ब) इस प्रकार के उद्योग को संरक्षण देना राष्ट्रीय हित में है और उसकी प्रत्यक्ष एवम् परोक्ष सुविधाओं को

ध्यान में रखते हुए इस प्रकार के संरक्षण का अथवा अन्य प्रकार की सहायता का जनता पर अधिक भार न पड़ेगा। अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में निम्न दो शर्तों की आयोग ने सिफारिश की—

(क) उद्योग को प्राप्त आर्थिक सुविधाओं और उसके सम्भावित अथवा वास्तविक उत्पादन लागत को विचाराधीन रखते हुए यह आशा की जा सके कि उपयुक्त समयावधि में वह उद्योग इतना विकसित हो जायगा कि बिना संरक्षण अथवा सहायता के वह सफलतापूर्वक चलता रहे; और अथवा,

(ख) वह ऐसा उद्योग हो जिसके लिये राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से उसे सहायता अथवा संरक्षण प्रदान करना वाँछनीय हो और उससे प्राप्त प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष लाभों की तुलना में सहायता अथवा संरक्षण का भार जनता पर अत्यधिक न हो।

आयोग ने अनेक अन्य बातों पर भी अपनी राय प्रकट की है जिससे तटकर अधिकारियों को मामले सुलझाने में सहायता मिलेगी—

(१) आयोग ने सुझाव दिया है कि यदि उद्योग को अन्य आर्थिक सुविधाएँ प्रा हैं, जैसे स्वदेश का बाजार, श्रम इत्यादि तो संरक्षण देने के लिए यह शर्त नहीं होनी चाहिए कि उद्योग को अपने क्षेत्र में ही कच्चा माल प्राप्त हो जाय।

(२) यद्यपि साधारण तौर पर एक संरक्षण प्राप्त उद्योग को अपनी स्वदेशी बाजार की आवश्यकता पूरी करने में समर्थ होनी चाहिए परन्तु इसे संरक्षण देने की आवश्यक शर्त नहीं बना देना चाहिए। तटकर अधिकारियों को अल्पकाल में केवल इस बात पर ही विचार करना उचित होगा कि उद्योग के विकास की संभावना कैसी है ताकि निश्चित अवधि में वह स्वदेश की माँग के अधिकांश की पूर्ति कर सके।

(३) यदि कच्चे माल का उत्पादन करनेवाले उद्योगों को संरक्षण देने से अन्य उद्योगों के मार्ग में बाधा आ जाती है तो इन संरक्षित उद्योगों द्वारा उत्पादित माल की खपत करने वाले उद्योगों की हानि को पूरा करने के लिए कोई नियम नहीं बनाया जा सकता है। यदि उद्योग संरक्षित है तो कच्चे माल का उत्पादन करनेवाले उद्योग को संरक्षण देने से उत्पन्न असुविधाओं को पहले से दिये हुए संरक्षण के अतिरिक्त 'पूरक संरक्षण' देकर दूर किया जा सकता है।

(४) जिन उद्योगों की पूर्ण रूप से स्थापना नहीं की गई है या जो अभी बिल्कुल आरम्भिक स्थिति में है उन्हें भी उसी प्रकार संरक्षण की सुविधा दी जानी चाहिए जैसी पहले से ही स्थापित उद्योगों को दी जाती है।

वित्त आयोग ने सिफारिश की है कि 'तटकर आयोग' नाम की स्थायी संस्था स्थापित की जाय। इस प्रकार की स्थाई संस्था विभिन्न परिस्थितिओं से अनुभव प्राप्त करेगी, संरक्षित उद्योग की देख-रेख करेगी और सरकार को संरक्षण नीति जारी रखने या अन्य सम्बन्धित निर्णय करने में सलाहकार का काम भी करेगी। वित्त आयोग इस पक्ष में नहीं है कि 'तटकर अयोग' योजना आयोग का एक विभाग बन जाय। आयोग ने सुझाव दिया है कि तटकर आयोग का एक अर्ध-अदालती रूप होने के कारण इसका सङ्गठन पृथक् होना चाहिए। तटकर आयोग की सिफारिशों को महत्वपूर्ण बनाने के लिए वित्त आयोग ने यह सिफारिश की है कि आयोग की रिपोर्ट पर सरकारी निर्णय तथा उसके प्रकाशन इत्यादि के सम्बन्ध में एक विशेष विधि अपनानी चाहिए।

वित्त आयोग की सिफारिश काफी व्यापक है। आयोग ने प्रतिरक्षा तथा अन्य फौजी उद्योगों को और इसके साथ ही आधारभूत एवं प्रमुख उद्योगों को सर्वथा उचित महत्व दिया है। ये उद्योग देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। आयोग ने स्पष्ट शब्दों में ऐसे उद्योगों को संरक्षण देने की आवश्यकता बताई है जो अभी आरंभिक स्थिति में हैं या जिनको अभी स्थापित नहीं किया जा सका है। इससे यह बात निश्चित हो गई कि ऐसे उद्योगों की स्थापना हो सकती है जिनकी भविष्य में विकास कर सकने की बड़ी सम्भावनाएँ हैं परन्तु जो संरक्षण के अभाव में स्थापित नहीं किये जा सकते हैं। वित्त अयोग ने न केवल उद्योगों को संरक्षण देने पर जोर दिया है बल्कि स्पष्ट शब्दों में इस बात की आवश्यकता बताई है कि संरक्षण देने के बाद उन उद्योगों के विकाश और उन्नति की देख-भाल की जाय और संरक्षण प्राप्त करने के बाद उत्तरदायित्व का निर्वाह कराया जाय।

'अन्य उद्योगों' के सम्बन्ध में संरक्षण देने की जो दो शर्तें दी गई हैं यद्यपि वह १६२१ के वित्त आयोग द्वारा दिये गये संरक्षण सम्बन्धी भेद करने के तीनों सुझावों से अधिक व्यापक हैं और उनकी विशेष आलोचना भी नहीं की जा सकती है फिर भी उन्हें सन्तोष जनक नहीं कहा जा सकता है। अतीत की भाँति वित्त आयोग ने भी दो बातों पर विशेष जोर दिया है कि इस प्रकार संरक्षण का अथवा अन्य प्रकार की सहायता का जनता पर अधिक भार न पड़े और उद्योग एक निश्चित अवधि में अपना पर्याप्त विकास कर ले जिससे बिना संरक्षण एवम् सहायता के चलाया जा सके। पर कोई भी तटकर अधिकारी इस प्रश्न पर निश्चित निर्णय नहीं दे सकता है।

तटकर आयोग—१६५१ के तटकर आयोग कानून के अन्तर्गत एक

स्थायी तटकर-आयोग स्थापित करने की व्यवस्था की गई है जिसमें अध्यक्ष सहित तीन सदस्य होंगे। भारत सरकार ने २१ जनवरी १९५२ को तटकर-आयोग की नियुक्ति की। इस आयोग को अतीत की सभी तटकर-निर्धारण समितियों से अधिक अधिकार दिये गये हैं। तटकर आयोग की मुख्य विशेषताएँ निम्न-लिखित हैं—

(१) तटकर आयोग पहले से ही स्थापित उद्योगों के अतिरिक्त उन उद्योगों की संरक्षण प्राप्त करने की माँग पर भी विचार करने का अधिकारी है जिनमें अभी उत्पादन आरंभ नहीं हुआ है परन्तु संरक्षण मिलने पर उत्पादन आरंभ कर सकने की संभावना है। आयोग अतीत में केवल पूर्व-स्थापित उद्योगों की माँग पर ही विचार कर सकता था।

(२) प्राथमिक संरक्षण और विशेष वस्तुओं की कीमतों के अतिरिक्त, चाहे वह वस्तुएँ संरक्षित उद्योग की हों या असंरक्षित उद्योग की, आयोग अन्य मामलों में स्वयं जांच पड़ताल आरंभ कर सकता है। पहले दो अपवादों के सम्बन्ध में जाँच केवल सरकार के कहने पर ही की जा सकती है।

(३) आयोग संरक्षण कार्य की जाँच करेगा और समय पर इसकी रिपोर्ट सरकार को देगा।

(४) तटकर निर्धारित करने के और संरक्षित उद्योगों के कर्तव्यों को निश्चित करने के सामान्य नियमों को बनाने और उनमें संशोधन इत्यादि करने का आयोग को पूर्ण अधिकार दिया गया है। तटकर-बोर्डों को यह व्यापक अधिकार प्राप्त नहीं था।

(५) आयोग प्रत्येक उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार संरक्षण की अवधि निश्चित करने को स्वतंत्र है और इस पर युद्ध के पश्चात् नियुक्त तटकर-बोर्डों की तरह यह प्रतिबन्ध नहीं लगा है कि संरक्षण की अवधि तीन वर्ष से अधिक न हो।

(६) तटकर आयोग कानून में यह व्यवस्था की गई है कि आयोग द्वारा रिपोर्ट दिये जाने के तीन महीने के अन्दर सरकार संसद को सूचित करे कि उसने रिपोर्ट पर क्या कार्यवाही की है और कोई कार्यवाही न करने पर सरकार इस बात का स्पष्टीकरण दे कि कार्यवाही क्यों नहीं की जा सकी।

कानून में ऐसी व्यवस्था की गई है कि सरकार अनेक ऐसे मामलों को जाँच करने और रिपोर्ट देने के लिए आयोग को सौंप सकती है, जैसे (१) उद्योग को प्रोत्साहन देने के लिए संरक्षण, (२) आयात-निर्यात पर चुंगी (Customs) तथा अन्य करों में भेद, (३) सस्ते मूल्य पर माल से बाजार पाट देने और संरक्षित

उद्योगों द्वारा संरक्षण का दुरुपयोग करने के विरुद्ध कार्यवाई, (४) संरक्षण का कीमतों के सामान्य स्तर पर और जीवन-निर्वाह की लागत पर प्रभाव, (५) व्यापार एवम् वाणिज्य समझौतों के अन्तर्गत तटकर में रियायत करने का किसी विशेष उद्योग के विकास पर प्रभाव और (६) संरक्षण देने से उत्पन्न अव्यवस्था। इससे स्पष्ट है कि तटकर आयोग को एक स्वतंत्र और शक्तिशाली संस्था के रूप में नियुक्त किया गया है। इसके कार्य से देश को लाभ होना चाहिए।

आयोग के कार्य की सबसे कड़ी आलोचना यह की गई है कि आयोग ने संरक्षण मात्रा का निर्धारण करने में बड़ी संकीर्णता का प्रदर्शन किया है, क्योंकि प्रायः उसकी मात्रा स्वदेशीय उत्पत्तियों के कारखाने के बाहर के उपयुक्त मूल्य तथा उसके सी० आई० एफ० मूल्य, तथा आयात किये हुये माल के जहाज से उतरने पर के मूल्य की तुलना के आधार पर निश्चित की गई है। इन बातों को और उपभोक्ताओं की रुचि को विचाराधीन रख कर आयोग कभी-कभी संरक्षण की मात्रा निश्चित करता है। इतनी संकीर्णता से संरक्षण की मात्रा के निर्धारित करने में जैसा कि कच्चे रेशम, हाइड्रो क्वीनीन, ग्लूकोज इत्यादि के सम्बन्ध में किया गया है, विकासवादी आर्थिक व्यवस्था के लिये आवश्यक सुविधाओं का ध्यान रखना कठिन है। इससे तटकर नीति के पुनर्परीक्षण की आवश्यकता प्रतीत होती है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत बड़ी मात्रा तथा छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के विकास पर विशेष जोर दिया गया है; इसलिये तटकर नीति के बदलने की तो और भी अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है।

तटकर आयोग के कार्यों की परीक्षा करने से पता लगेगा कि ४० से अधिक उद्योगों में से जिन्हें संरक्षण प्राप्त था, लगभग आधे से अधिक को संरक्षण आय-कर (Revenue duty) को समान मात्रा के संरक्षण कर के रूप में परिवर्तित करके दिया गया है। अन्य उद्योगों के सम्बन्ध में जैसे सोडा ऐश, पेन्सिल, फाउन्टेन पेन की स्याही, रेशम के कीड़े पालना, आर्टसिल्क और रुई, बाईसिकिल, स्टार्च, विशेष प्रकार की चक्कियों को प्रचलित आय कर में वृद्धि द्वारा संरक्षण प्रदान किया गया है।

"१९५६-५७ में तटकर आयोग ने ६ तटकर सम्बन्धी और चार मूल्य सम्बन्धी जाँच की। तटकर जाँचों में से दो ऐसे उद्योगों के सम्बन्ध में थी जो प्रथम बार संरक्षण चाहती थी और बाकी ऐसे उद्योगों के सम्बन्ध में थी जिन्हें पहिले से ही संरक्षण प्राप्त था। सरकार ने कर संरक्षण जारी रखने तथा और बहुत साधारण परिवर्तनों के साथ उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने की सिफारिशों

को पूर्णतया स्वीकार कर लिया।" हाल में जो दो जाँच तटकर आयोग ने की है वे मोटरों और इस्पात के मूल्यों के सम्बन्ध में की गई है। इस समय जिन मुख्य उद्योगों को संरक्षण भारत में प्राप्त है वे मोटर, साइकिल निर्माण, रुई के कपड़े बनाने की मशीनों के निर्माण का उद्योग, चक्की के पाट बनाने का उद्योग, रुई और ऊन लपेटने का उद्योग, लकड़ी के स्क्रू बनाने का उद्योग तथा प्लाई वुड और टी चेस्ट बनाने के उद्योग हैं।

भारत और हैवना चार्टर—वित्त आयोग ने इस बात पर विचार किया है कि हैवना चार्टर की पुष्टि की जाय या नहीं। सारी सम्बन्धित बातों पर विचार करने के पश्चात् आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि भारत को चार्टर की पुष्टि तभी करनी चाहिए जब (१) अन्य आर्थिक महत्त्व के देशों ने जिनमें अमरीका और ब्रिटेन भी सम्मिलित हैं इसकी पुष्टि कर ली हो और (२) यह उस समय की देश की आर्थिक स्थिति के अनुकूल कार्यवाई हो।

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संघ के हैवना चार्टर और तटकर तथा व्यापार समझौते (General Agreement on Tariff and Trade) में अन्य देशों के साथ भारत ने भी हस्ताक्षर किये हैं। तटकर तथा व्यापार समझौते का उद्देश्य स्वतन्त्र व्यापार का विकास करना और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में भेदभाव के व्यवहार को दूर करना है। इस समझौते में यह व्यवस्था की गई है कि समझौता करनेवाले पक्ष यदि किसी विशेष वस्तु के सम्बन्ध में परस्पर सुविधाएँ दें तो तुरन्त ही ये सुविधाएँ सभी सदस्यों को बिना किसी शर्त के समान रूप से दी जायँगी। परस्पर समझौता-वार्ता करके जो सुविधाएँ प्राप्त की जायँ वह सभी सम्मिलित देशों के लिए भी हों। इस प्रकार तटकर तथा व्यापार समझौते के अन्तर्गत सब से अधिक लाभ उठाने वाले राष्ट्र द्वारा बहुपक्षीय कार्यवाही की व्यवस्था की गई है। इम्पीरियल प्रिफरेन्स प्रणाली को तटकर तथा व्यापार समझौते में सम्मिलित नहीं किया गया है।

हैवना चार्टर और तटकर तथा व्यापार समझौता अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में लगे हुए अनेक प्रतिबन्धों और तटकर व्यवस्थाओं को दूर करने के प्रशंसनीय प्रयत्न हैं। यदि ये बाधाएँ दूर हो जाँय तो अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में काफी स्वतन्त्रता आ जायगी और इससे विश्व का आर्थिक विकास अधिक सन्तुलित हो जायगा। इससे विदेशी विनिमय मुद्रा की कठिनाई भी हल हो जायगी। यदि व्यापार की स्वतन्त्रता नहीं है तो अनेक देशों को विदेशी विनिमय मुद्रा की कठिनाई का सामना करना पड़ता है। यद्यपि अमरीका, कनाडा और अन्य देशों ने अपने तटकर (आयात-निर्यात कर) कुछ सीमा तक कम कर दिए हैं और इसके लिये

अनेक देशों ने तटकर घटाने के उद्देश्य से पारस्परिक व्यापार समझौते भी किये हैं जिनकी सब देशों ने पुष्टि नहीं की है क्योंकि (अ) तटकर संरक्षण हटा देने से राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है जो सम्बन्धित देश प्रायः सहन नहीं कर सकते हैं और (ब) हैवना चार्टर के पश्चात् भी परस्पर सन्देह और अविश्वास बना हुआ है।

सितम्बर १९५० में इंगलैंड के टोरक्वे सम्मेलन (Torquay Conference) में जो कि तीसरा सम्मेलन था—प्रथम और द्वितीय सम्मेलन जेनेवा (१९४७) और अनेकी (Annecy) में हुये थे— भारतीय प्रतिनिधि ने बताया कि तटकर तथा अन्य सुविधाओं पर समझौता करते समय भारत तीन सिद्धान्तों से प्रभावित होता है, (१) सुविधायें ऐसी हों जो घरेलू अर्थ-व्यवस्था के हित में हों, (२) सुविधाओं का ऐसी वस्तुओं से सम्बन्ध न हो जो पहले से ही संरक्षित हैं या जिनको अगले तीन वर्षों में संरक्षण दिया जानेवाला है और (३) सुविधाओं से सरकार की आय को भारी क्षति न पहुँचे।

टोरक्वे में तटकर समझौते के फलस्वरूप भारत को १९४८-४९ के व्यापार सम्बन्धी आँकड़ों के आधार पर निर्यात पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में क्रमशः १८५ लाख और १५३ लाख रुपए का तटकर संरक्षण मिला। इसके बदले में भारत ने भी ८९ लाख और ३७७ लाख रुपये का क्रमशः प्रत्यक्ष एवं परोक्ष तटकर संरक्षण दिया। तटकर तथा व्यापार समझौता सम्मेलन में, जिसका सातवाँ अधिवेशन नवम्बर १९५२ में जेनेवा में हुआ था, भारत को बहुत कम तटकर संरक्षण दिया गया।

अनेकी, जनेवा और टोरक्वे में जिस समय बातचीत हो रही थी भारतीय प्रतिनिधि देश के भावी औद्योगिक विकास की प्रगति का अनुमान न लगा सके। इसका परिणाम यह हुआ कि बहुत सी वस्तुओं के सम्बन्ध में जैसे कृषि में काम आने वाले ट्रैक्टर, सेफटीरेजर ब्लेड, वायरलैस रिसीवर, कोलतार से बने रंग, और मोटरों और टार्चों में काम आने वाले बिजली के बल्ब इत्यादि के सम्बन्ध में तत्कालीन तटकर स्थिति को ही लागू मान लिया गया। कुछ ही दिनों में पिछले समझौते के अन्तर्गत प्रतिबन्धों से मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता का अनुभव हुआ। फरवरी १९५४ में सरकार ने तटकर तथा व्यापार समझौते सम्बन्धी अधिकारियों से प्रार्थना की कि उन्हें आठ वस्तुओं के सम्बन्ध में समझौते के अनुसार जो प्रतिबन्ध लागू हैं, उनसे मुक्ति प्राप्त कर लेने के लिये बातचीत करने का अधिकार प्रदान किया जाय। वे आठ वस्तुएँ निम्न थीं: मछली, शराब, टूथपेस्ट और पाउडर, लीथोफोन, तारकोल से बने रंग, फाउन्टेन पेन, शीशे के

दाने और नकली मोती, और सेफ्टीरेजर ब्लेड। सरकार को समझौते के प्रतिबन्धों से मुक्ति केवल शराब, तारकोल से बने रंग, शीशे के दाने तथा नकली मोती और सेफ्टीरेजर ब्लेड के सम्बन्ध में ही मिल पाई। इन चार में से तीन वस्तुओं पर १९५४ के भारतीय (तटकर द्वितीय बार संशोधित) ऐक्ट के अन्तर्गत आयात कर बढ़ा दिया गया है। भारतीय उद्योगों के उपयुक्त विकास के लिये जितनी छूट दी गई अपर्याप्त थी। इन वस्तुओं के सम्बन्ध में मिली छूट के बदले में भारत को भी कुछ वस्तुओं के लिये छूट देनी पड़ी।

तटकर तथा व्यापार समझौते के एक बहुत बड़े दोष को जेनेवा में हुए नवें सम्मेलन में जो कि १९५५ में २८ अक्टूबर से १० मार्च तक हुआ था दूर किया गया। इस पुनर्परीक्षित समझौते के अनुसार उन देशों को जिनका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है इस बात की अनुमति प्रदान की गई कि वे कुछ शर्तों पर अपनी दी हुई छूटों को यदि ऐसा करना उनके आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है तो वापस कर सकते हैं। दूसरा दोष जो मिटाया गया वह यह था कि पहले व्यापार की मात्रा पर नियंत्रण केवल भुगतान संतुलित सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर करने के लिये किया जाता था, परन्तु अब पिछड़े हुये देश अपने आर्थिक विकास के लिये भी उस उपाय का प्रयोग कर सकते हैं। १९५५ के सितम्बर में भारतीय संसद ने तटकर तथा व्यापार समझौते को स्वीकार कर लिया। इस सम्बन्ध में वातचीत के फल स्वरूप समझौते को मानने वाले लगभग २२ देशों ने ६० अन्य देशों से मई १९५६ में पारस्परिक व्यापार समझौते किये जिसके अन्तर्गत २ अरब ५० करोड़ डालर के मूल्य का व्यापार आता है। अब समस्त संसार के कुल व्यापार का तीन चौथाई तटकर तथा व्यापार समझौते के अन्तर्गत आ गया है। यह समझौता वास्तव में व्यापार प्रतिबन्धों के घटाने तथा उसे अधिक स्वतंत्र बनाने में बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।

"१९५७ के जनेवा सेसन में जी० ए० टी० टी० ने एक बहुत ही महत्वपूर्ण निर्णय लिया। यह निर्णय तीन अथवा चार अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त विशेषज्ञों के एक पेनेल की स्थापना के सम्बन्ध में था जिसका काम संसार के व्यापार की प्रकृतियों की जाँच करना, उसकी व्याख्या करना तथा विशेष रूप से मध्यवर्ती काल में संसार के व्यापार की सफलता की सम्भावनायें बतलाना था।" यह निर्णय औद्योगिक दृष्टि से प्रगतिशील देशों की अपेक्षा पिछड़े हुए देशों की निर्यात व्यापार विकास की गति के धीमी होने पर चिन्ता प्रकट करने का परिणाम था।

अध्याय ४१

भारतीय चलन मुद्रा का इतिहास

मुगल काल से भारत में सोने, चाँदी और तांबे के सिक्के प्रयोग में आते थे। कोई भी व्यापारी उस काल में सोना चाँदी या ताम्बा देकर टकसाल से सिक्के वास्तविक ढलाई व्यय के उपरान्त ५% मुद्रण लाभ देकर बनवा सकता था। इससे हुआ लाभ निश्चित दर से व्यापारी और सरकार के बीच बाट किया जाता था। मुगल कालीन भारत में चाँदी का रुपया ही प्रधान मूल्य का मान दण्ड था और कानून द्वारा असीमित मात्रा में ग्राह्य था। मुगल शासन व्यवस्था ने कोई प्रयत्न सोने और चाँदी के बीच तथा चाँदी और ताँबे के बीच विनिमय दर के निश्चित करने का नहीं किया गया उस जमाने में ताँबा सांकेतिक मुद्रा के रूप में आजकल की तरह काम में नहीं लाया जाता था। चाँदी और ताँबा का विनिमय दर बाजार की अवस्था पर निर्भर रहता था जिससे व्यापार, मूल्यों, और सामान्य आर्थिक सम्बन्ध में बराबर परिवर्तन होते रहते थे। मुद्रा के मूल्य में निरन्तर परिवर्तन होते थे क्योंकि बराबर मूल्यवान धातुओं का आयात और निर्यात होता रहता था और मुगल शासन मूल्य स्तर में स्थिरता स्थापित करने में असमर्थ था।

जब मुगल राज्य का विध्वंश हुआ बहुत सी स्वतंत्र रियासतें क़ायम हो गई। प्रत्येक राज्य ने अपने निजी सिक्के चलाकर अपनी स्वतंत्रता का परिचय दिया। जब ईस्ट इन्डिया कम्पनी का भारत में आगमन हुआ तो उसे यह अनुभव हुआ कि वह अपना व्यापार स्वतंत्र सिक्कों के बाहुल्य के बीच कर नहीं सकती। इसलिये कम्पनी ने सोने और चाँदी के सिक्के स्वयं चालू किये। इन सिक्कों का निश्चित भार था और उनके बीच विनिमय दर कानून द्वारा निश्चित थी। व्यवहार में सोने और चाँदी के सिक्कों का एक साथ चलन सफल सिद्ध न हुआ और १८०६ में कम्पनी ने लन्दन एक प्रपत्र भेजा जिससे यह बताया गया था कि सोना अति मूल्य न था। इस्टइन्डिया कम्पनी ने यह अनुभव किया कि उस स्थिति में चाँदी की एक धातुमान मुद्रा ही भारत के लिये आदर्श होगी। इसलिये चाँदी के स्वतंत्र मुद्रण के लिये टकसाल खोल दी गई। चाँदी के प्रमाणिक सिक्के में ११/१२ शुद्ध चाँदी रक्खी गई और उसका वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य के बराबर रक्खा गया।

एक धात्विक रजत मुद्रा

प्रत्येक प्रेसीडेन्सी की अलग-अलग मुद्रायें चलन में थीं जो कि अपनी ही सीमा में कानूनी ग्राह्य थीं। इससे राज्यों के पारस्परिक व्यापार में बहुत बाधा पड़ी। १८३३ में चार्टर एक्ट पास हुआ जिसके अनुसार कानूनी और अधिशासी अधिकारियों का केन्द्रीकरण कर दिया गया। इसका देश की मुद्रा चलन पर बहुत ही अच्छा प्रभाव पड़ा और स्थानीय मुद्राओं का स्थान एक केन्द्रीय मुद्रा ने करेन्सी एक्ट १८३५ के अनुसार ले लिया। इस नियम के अन्तर्गत :(क) टकसालें चाँदी की स्वतंत्र ढलाई के लिये खोल दी गई। (ख) समस्त अंग्रेजी भारत में रुपया ($\frac{११}{१२}$ शुद्ध चाँदी वाला) प्रमाणिक मुद्रा घोषित कर दिया गया। (ग) रुपये का वास्तविक मूल्य उसके अंकित मूल्य के बराबर रखा गया, (घ) स्वर्ण मुद्रा कानूनी ग्राह्य नहीं मानी गई परन्तु (ङ) स्वर्ण के स्वतंत्र मुद्रण की आज्ञा दे दी गई और सोने की मुहरे ५,१०,१५ और ३० रुपये मूल्य की ढाली जा सकती थी।

स्वर्ण के स्वतंत्र मुद्रण की आज्ञा सम्भवतः इसलिये दे दी गई थी कि सरकार को सोने के मुद्रणलाभ का घाटा न उठाना पड़े। परन्तु क्योंकि स्वर्ण अब कानूनी ग्राह्य नहीं था इसलिये स्वर्ण से प्राप्त मुद्रण लाभ धीरे धीरे घटने लगा। इस लाभ को न जाने देने के लिये सरकार ने स्वर्ण मुद्रा की ढलाई को प्रोत्साहित करने का प्रयत्न आरम्भ किया। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कार्य मुद्रण लाभ को २% से घटाकर १%, १८३७ में किया गया। परन्तु इतने से आवश्यक प्रोत्साहन न मिल सका इसलिये १८४१ में में यह घोषणा कर दी गई कि सरकारी खजानों में १ स्वर्ण मोहर १५ चाँदी के रुपयों के बदले में स्वीकार कर ली जायगी इस घोषणा से स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। आस्ट्रेलिया और कैलीफोर्निया में सोने की नई नई खानों का पता लग जाने से भारत की मुद्रास्थिति पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। स्वर्ण जो अभी तक अवमूल्यत था (१ सोने की मुहर के बदले १५ रुपया मिलता था) अब अधिमूल्यत हो गया और सरकार को इससे बहुत घाटा हुआ और १८३५ के करेन्सी एक्ट के अन्तर्गत जो भुगतान करने थे उनके कारण भी हानि उठानी पड़ी। स्वर्ण यद्यपि कानूनी ग्राह्य नहीं था परन्तु घोषणा के अनुसार सरकार स्वीकार करने के लिये बाध्य थी। स्वर्ण के बाहुल्य तथा उसके चाँदी में बदले जाने की बढ़ती हुई माग के कारण कठिनाई में पड़ जाने से सरकार ने १८४१ की घोषणा को १८५८ में रद्द करने की घोषणा कर दी।

भारत में कृषि, वन, खनिज तथा श्रम आदि साधनों का बाहुल्य था परन्तु

उसका इन साधनों के अनुकूल औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी विकास नहीं हुआ था क्योंकि देश में राजनैतिक स्थिरता, जनता में जोखिम उठाने की प्रवृत्ति की बहुत अधिक कमी थी तथा देश का आर्थिक संगठन नितान्त अव्यवस्थित था। १८वीं शताब्दी में जब कि भारत की आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी इंगलैण्ड औद्योगिक क्रान्ति के कारण बड़ी तीव्र गति से आगे बढ़ रहा था और इस ओर उसे आशातीत सफलता भी इसलिये मिल रही थी कि व्यापार के कारण देश में अपार सम्पत्ति एकत्रित थी, यातायात तथा बैंकिंग प्रणाली उन्नतशील थी, अंग्रेजों में जोखिम उठाने का उत्साह था और सरकार की नीति सहायक थी।

१८५० और १९१४ की समयावधि में भारतीय अर्थ व्यवस्था में अनेकों परिवर्तन हुये जिसके कारण देश की मुद्राचलन पद्धति में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया। देश में हुये अनेकों आर्थिक परिवर्तनों में से पहिला तो यही था कि देश प्रचलित आर्थिक वस्तु व्यवस्था का स्थान द्रव्य व्यवस्था ले रही थी। पहिले जागीरदार लोग अपने असामियों से अन्न तथा अन्य वस्तुयें प्राप्त करते थे। परन्तु अब नकद देने की अंग्रेजी पद्धति सरकार द्वारा प्रचलित कर दी गई थी। ज्यों ज्यों अंग्रेजों के अधिकार में अधिकाधिक राज्य आते गये त्यों त्यों भुगतान द्रव्य में बढ़ता गया। दूसरे भारत की सरकार को प्रतिवर्ष ब्रिटिश सरकार को 'होम चार्ज' का व्यय भुगतान करना पड़ता था और इसके लिये नकद की आवश्यकता पड़ती थी। इन कारणों से यह आवश्यक हो गया कि लगान नकद वसूल किया जाय। अन्त में इस काल में भारत के विदेशी व्यापार को बहुत बड़ा प्रोत्साहन मिला जिसके कारण भी नकद द्रव्य की मात्रा बढ़ गई। यद्यपि चलन मुद्रा की माँग बहुत बढ़ी हुई थी परन्तु उसकी पूर्ति माँग के अनुकूल नहीं हो सकी क्योंकि विभिन्न देशों की मुद्रा की आवश्यकता के बराबर चाँदी की उत्पत्ति नहीं थी। भारत में मुद्रा का इस प्रकार जो अभाव था वह इस बात से और भी बढ़ गया कि देश में साख मुद्रा थी ही नहीं। इस कठिनाई को पार करने के लिये सरकार ने ब्याज कमाने वाले ट्रेजरी नोट प्रचलित किये। परन्तु ये सफल न हुये क्योंकि पहिले तो उनका मूल्य बहुत अधिक था और दूसरे वे जिस कार्यालय से निर्गमित किये गये थे उसी में ही केवल स्वीकार किये जा सकते थे (कलकत्ता, बम्बई और मद्रास)।

स्वर्ण विनिमय मान

क्योंकि चाँदी का एक धातुमान देश की आवश्यकता के अनुसार अपर्याप्त था इसलिये सरकार के समक्ष दो उपाय इस कठिनाई को पार करने के लिये थे

एक स्वर्ण को चलन में ले आना और दूसरे देश में पत्र मुद्रा का प्रयोग आरम्भ कर देना। सरकार ने स्वर्ण को चलन में लाने तक अनेकों प्रणालियों पर विचार किया परन्तु वे सब अनुपयुक्त प्रतीत हुये क्योंकि द्विधातुमान की स्थिति में स्वर्ण और चाँदी के मूल्यों में अन्तर आने पर दोनों प्रकार की मुद्राओं के बीच निश्चित विनिमय अनुपात में आवश्यक परिवर्तन करना अनिवार्य हो जाता। ऐसे परिवर्तन सुगम नहीं होते और उनके करने में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती है। स्वर्ण को रजत मुद्रा का सहायक मुद्रा के रूप में प्रचलित तो किया नहीं जा सकता था क्योंकि सारे लेन देन की बातें तो चाँदी के मूल्य के आधार पर की जा चुकी थी और स्वर्ण का अनायास ही प्रयोग आरम्भ कर देने में किसी न किसी पार्टी के लिये हानिकारक अवश्य सिद्ध होता। इन बातों को विचाराधीन रखते हुये सरकार ने पत्र मुद्रा के निकासी की बात चाँदी की मुद्रा के सहायतार्थ निश्चित की। परन्तु पत्र मुद्रा की निकासी से भी कोई विशेष मुद्रास्थिति में लाभ नहीं हुआ और स्वर्ण मुद्रा की माँग जारी रही और अन्त में सरकार को १८६४ में यह विज्ञप्ति जारी की (i) पौण्ड और अर्ध पौण्ड जिनकी आस्ट्रेलिया और इंगलैण्ड के टकसाल से निकासी होती थी उनको भारत और अन्य ब्रिटिश अधीनस्थ राज्यों में १० रु० और ५ रु० पर क्रमशः स्वीकार किया जायगा और (ii) और यदि कोई व्यक्ति पौण्ड और अर्धपौण्ड को सरकार से अपने पावने के सम्बन्ध में स्वीकार करेगा उनको भी १० रु० और ५ रु० की दर पर भुगतान कर दिया जायगा। परन्तु क्योंकि पौण्ड का विनिमय दर १० रु० और ५ रु० से अधिक था इसलिये इस विज्ञप्ति का कोई प्रभाव न पड़ा और मुद्रा की कमी बनी रही। सरकार ने इसलिये एक आयोग की नियुक्ति की ताकि वह इस मामले की जाँच करें।

मेन्सफील्ड आयोग १८६६—इस आयोग ने देश की मुद्रा की माँग की पूर्ति करने के उपायों पर विचार किया और सिफारिश की कि (i) १५ रु०, १० रु० और ५ रु० के मूल्य के सोने के सिक्कों की निकासी की जाय (ii) चलन में सोने चाँदी और पत्र मुद्रा रक्खी जाय और (iii) सरकार सर्वत्र स्वीकार किये जाने वाले नोटों के प्रचलित करने की सम्भावना पर विचार करें। सरकार ने मेन्सफील्ड आयोग की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया। केवल इतना ही किया कि पौण्ड की विनिमय दर १० रु० ८ आना कर दी। परन्तु यह सोने के भारत में प्रवाहित होने के लिये प्रर्याप्त कारण सिद्ध न हुआ और मुद्रा की कठिनाइयाँ ज्यों कि त्यों बनी रही।

१८७३ तक रुपये का विदेशी मूल्य लगभग १ शि १०½ पेन्स पर स्थिर

बना रहा परन्तु १८७३ के पश्चात् विनिमय मूल्य में अनायास संसार के मुख्य देशों द्वारा चाँदी का मुद्रा के लिये प्रयोग छोड़ देने के कारण तथा सोने की तुलना में चाँदी की उत्पत्ति बढ़ जाने के कारण बहुत उथल पुथल हुई। परन्तु इंगलैण्ड के स्वर्णमान पर रहते हुये भी भारत रजत-मान पर स्थिर रहा जिसका परिणाम यह हुआ कि भारत को चाँदी अथवा सोने या दोनों धातुओं के मूल्यों में परिवर्तन होने के कारण अपनी आर्थिक स्थिति में बहुत अनावश्यक परिवर्तन अनुभव करने पड़े। १८७३ के पश्चात् सोने की इकाई में चाँदी के मूल्य के गिरने के कारण सरकार की वित्त व्यवस्था पर बहुत अधिक भार पड़ा। ऐसी अवस्था में लोगों की यही भावना थी कि देश में स्थायी मुद्रामान स्थापित होना चाहिये और इसके लिये एक कमेटी नियुक्त की गई।

हरशैल कमेटी १८९२—इस कमेटी ने सिफारिश की कि (i) रुपया भारत में पूर्णरूप से कानूनी ग्राह्य मुद्रा रहनी चाहिये (ii) सोने और चाँदी के स्वतंत्र मुद्रण के लिये टकसाल बन्द की जानी चाहिये, और (iii) सरकार को यह स्वतंत्रता रहनी चाहिये कि यदि जनता को आवश्यकता है तो १ शि० ४ पेन्स प्रति रुपये की दर से सरकारी खजानों से स्वर्ण लेकर रुपये मुद्रण करें। १८९३ का एक्ट हरशैल कमेटी की सिफारिशों को सम्मिलित करते हुये पास किया गया परन्तु १८९३ के पश्चात् सरकार की नीति भारत में मुद्रामान के सम्बन्ध में अस्थायी और अनिश्चित ही रही। इसका व्यापारियों पर बुरा प्रभाव पड़ा और टकसालों के बन्द कर देने से मुद्रा अभाव का संकट बढ़ गया। चाँदी के मूल्य में कमी होने से रुपये के विनिमय दर में गड़बड़ी पड़ गयी।

इसके परिणाम में १८९८ में फाउलर कमेटी की नियुक्ति की गई और उसने यह सिफारिश की कि (i) अंग्रेजी पौण्ड का फिर से भारत के चलन पद्धति में स्थान दिया जाय और उसे कानूनी ग्राह्य कर दिया जाय; (ii) भारतीय टकसालों को सोने का अपरमित मुद्रण करने के लिये खोल दिया जाय और उन पर वे ही शर्तें लागू की जाय जो कि रायल मिन्ट की आस्ट्रेलिया स्थित शाखाओं पर लागू किये गये हैं, (iii) रुपये की विनिमय दर १ शि० ४ पेन्स पर स्थिर कर दी जाय, (iv) रुपये को अपरिमित कानूनी ग्राह्य मुद्रा रक्खा जाय, (v) सरकार सोने के बदले में रुपया दे अवश्य पर नये रुपयों की ढलाई तब तक न की जाय जब तक कि सोने का अंश चलन पद्धति में जनता की आवश्यकता से अधिक न समझा जाय और (vi) सरकार निर्यात के लिये सोना दे यदि रुपये के विनिमय मूल्य की प्रवृत्ति स्वर्ण बिन्दु के नीचे गिरने की लक्षित होने लगे। इस कमेटी के सिफारिशों के आधार पर १८९९ का एक्ट पास कर दिया गया। और उसके

अंतर्गत (क) पौण्ड और अर्धपौन्ड समस्त अंग्रेजी भारत में कानूनी ग्राह्य कर दिये गये, (ख) सोने के मुद्रण के लिये एक टकसाल खोली गई, और (ग) रुपये के मुद्रण लाभ को अलग रखने के दृष्टिकोण से एक स्वर्ण कोष की स्थापना की गई।

इस प्रकार भारत में मुद्रामान धीरे धीरे अपने आदर्श स्वर्णमान से हटता गया और ऐसा रूप धारण करता गया कि उसे हम स्टर्लिंग विनिमय मान कह सकते हैं परन्तु उसे स्वर्ण विनिमय मान का नाम प्रदान किया गया है (पंगु-मान भी कहा गया है)। १६०२ में स्वर्ण मुद्रण टकसाल स्थापित करने की योजना को खत्म कर दिया गया और १६०४ में स्वर्ण कोष को लन्डन भेज दिया गया। वहाँ इसे स्टर्लिंग सिक्यूरिटीज में रक्खा गया और इससे अलग एक पत्र मुद्रा कोष की स्थापना की गई जो आंशिक रूप में भारत में तथा इंगलैन्ड में रक्खा गया। इससे यह स्पष्ट है कि स्वर्ण-विनिमय मान की स्थापना वैज्ञानिक और नियोजित ढंग पर नहीं हुई और जो हुआ वह भारत के मुद्रा-मान में अनेकानेक परिवर्तनों का परिणाम है। इस प्रणाली का कार्य काउन्सिल बिलो तथा रिवर्स काउन्सिल बिलों के क्रय विक्रय पर निर्भर था। १८६३ के पहिले काउन्सिल बिल केवल 'घरेलू व्यय' (Home charges) का भुगतान करने के लिये बेचे जाते थे परन्तु १८६३ के बाद उनकी बिक्री सामान्य व्यापारिक आवश्यकता के लिये भी होने लगी। भारतीय माल का आयात करने वाला अंग्रेज सेक्रेटरी आफ स्टेट को पहिले पौण्ड में भुगतान करता था तब सेक्रेटरी एक उसके बराबर के मूल्य का काउन्सिल ड्राफ्ट देता था और भारतीय निर्यात करने वाले को भारत में स्थित (Paper currency reserve) पत्र मुद्रा कोष के दूसरे अंश से जिसे स्वर्ण मान कोष का रुपये वाली शाखा भी कहा जाता था भुगतान कर दिया जाता था। १६०४ में सेक्रेटरी आफ स्टेट ने यह घोषणा की कि काउन्सिल बिल अपरिमित मात्रा में १ शि० ४$\frac{1}{8}$ पेन्स प्रति रुपये की दर से विक्रय किये जायगे। इस प्रकार रुपये की विनिमय पर इस स्तर से आगे बढ़ने न दी गई। तात्कालिक भुगतान के लिये टेलीग्राफिक फार्म में भी बिल प्राप्त थे और इस प्रकार के भुगतान को टेली-ग्राफिक ट्रान्सफर कहते थे। रिवर्स काउन्सिल एक ऐसी हुन्डिया थी जिन्हें भारत सरकार सेक्रेटरी आफ स्टेट के नाम लिखती थी और वे १ शि० ३$\frac{29}{32}$ पेन्स प्रति रुपया की दर से बेची जाती थी।

चेम्बरलेन आयोग १६१३—जोजेफ आस्टिन चेम्बरलेन की अध्यक्षता में इस आयोग की नियुक्ति इसलिये की गई कि वह विभिन्न निधियों तथा अवशेषों (reserves and balances) रखने के स्थान, विनिमय

प्रणाली तथा प्रयोगों के सम्बन्ध में जाँच करे और बतायेकि वर्तमान ढंग भारत के हित में लाभकारी है अथवा नहीं। आयोग के मत में स्वर्ण विनिमय मान भारत के लिये सबसे अधिक उपयुक्त था। उनकी यह धारणा थी कि देश के अन्दर स्वर्ण के चलन को प्रोत्साहन देना भारत के लिये हितकर नहीं था और भारत की जनता न तो स्वर्ण मुद्रा चाहती ही थी और न उसकी आवश्यकता ही थी। भारत में स्वर्ण के मुद्रण के लिये टकसाल की आवश्यकता नहीं थी परन्तु यदि भावुकता उसके पक्ष में थी और यदि सरकार उसका व्यय उठाने के लिये तत्पर थी तो पौण्ड और अर्धपौण्ड के मुद्रण के लिये एक टकसाल खोली जा सकती है। यदि टकसाल खोलना सम्भव न हो सके तो सरकार को अपनी विज्ञप्ति को जिसे १९०६ में वापस ले लिया गया था पुनः लागू कर देना चाहिये ताकि बम्बई की टकसाल पत्र-मुद्रा तथा रुपये के बदले में स्वर्ण स्वीकार करने लगे।

जहाँ तक स्वर्ण-मान निधि का सम्बन्ध था उसके लिये कोई अधिकतम मात्रा निर्धारित नहीं की जा सकती पर उसका अधिकांश स्वर्ण में ही होना चाहिये। उनके मतानुसार इस निधि को रखने का सबसे उपयुक्त स्थान लन्डन था। उन्होंने यह सिफारिश की कि इस निधि की रुपये वाली शाखा को खत्म कर दिया जाय। उन्होंने सिफारिश की कि पत्र-मुद्रा पद्धति को प्रतिभूतियों (securyties) के आधार पर अधिक पत्र मुद्रा की निकासी कर के बना देना चाहिये। चलन पद्धति के एक अंश के रूप में पत्र-मुद्रा का प्रयोग प्रोत्साहित किया जाना चाहिये और ५०० रु० के नोटों को देश भर में चालू कर देना चाहिये। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि जब आवश्यकता पड़े भारत सरकार सेक्रेटरी आफ स्टेट के नाम हुण्डियों १ शि० ३ २९/३२ पे० प्रति रुपया की दर से विक्रय करे। फरवरी १९१४ में इस आयोग की रिपोर्ट छपी और जुलाई १९१४ में युद्ध छिड़ गया। इसलिये आयोग की बहुत सी सिफारिशों को सरकार कार्यान्वित नहीं कर सकी, परन्तु स्वर्ण मान कोष की रजत शाखा को हटा दिया। और युद्ध छिड़ जाने के कारण रिवर्स काउन्सिल बिलों की माँग बढ़ जाने से उनको विक्रय करने के लिये बड़ी तत्परता से तैयार हो गयी।

भारत सरकार की त्रुटिपूर्ण मुद्राचलन नीति प्रथम महासमर काल में तथा उत्तर महासमर काल में १९१४-१९३९ उद्योग तथा व्यापार के लिये बहुत बड़े भार का कारण बन गयी। चेम्बर लेन आयोग ने जैसा कि हम ऊपर बता चुके हैं स्वर्ण विनिमय मान के प्रयोग को सुधारने की सिफारिश की थी परन्तु वे कार्यान्वित न हो सकी क्योंकि आयोग की रिपोर्ट फरवरी १९१४ में छपी और प्रथम

महासमर जुलाई १९१४ में आरम्भ हो चुका था। स्वर्ण विनिमय मान जो १९१७ तक चालू रहा संतोषप्रद ढंग से कार्य न कर सका। संसार की चाँदी की उत्पत्ति में कमी आ जाने से और मुद्रा के लिये उसकी माँग बढ़ जाने से चाँदी का मूल्य २७⅞ पेन्स प्रति आउन्स १९१४ में हो गया, १९१७ के अगस्त में ४३ पेन्स हुआ और उसी वर्ष सितम्बर में ५५ पेन्स तक बढ़ गया। "४३ पेन्स प्रति आउन्स मूल्य जरा विचारणीय है क्योंकि इस मूल्य पर रुपये का विनिमय मूल्य उसके पाटमान के बराबर हो गया था। यदि मूल्य ४३ पेन्स प्रति आउन्स से ऊपर बढ़ता तो रुपये का विनिमय मूल्य १ शि० ४ पेन्स पर स्थिर नहीं रक्खा जा सकता था रुपये का मूल्य स्वर्ण में इससे कहीं अधिक होता और यदि सरकार १ शि० ४ पेन्स से अधिक प्रत्येक रुपये के लिये न देती तो रुपया या तो गला लिया जाता या निर्यात कर दिया जाता। ४३ पेन्स के उपरान्त चाँदी के मूल्य में प्रत्येक वृद्धि पर सरकार को विनिमय दर उसी के अनुसार बढ़ानी पड़ती। स्वर्ण विनिमय मान जिसका संतोषजनक रीति से काम में आना काउन्सिल ड्राफ्ट की अपरिमित बिक्री पर और रुपये के सांकेतिक मुद्रा बने रहने पर निर्भर करता था नष्ट भ्रष्ट हो गया। रुपये का विनिमय मूल्य अब उसके वास्तविक मूल्य के साथ साथ उसी तरह बढ़ने लगा जैसा कि १८७३-१८९३ में बढ़ा था।" इसका परिणाम यह हुआ कि रुपये की विनिमय दर बढ़कर अगस्त १९१७ में १ शि० ५ पे०, अप्रैल १९१८ में १ शि० ६ पे० मई १९१९ में १ शि० ८ पे० अगस्त १९१९ में १ शि० १० पे०, सितम्बर १९-१९ में २ शि० और दिसम्बर १९१९ में २ शि० ४ पे० बढ़कर हो गयी। सरकार को १९१७ में लाचार होकर स्वर्ण विनिमय मान का त्याग करना पड़ा और निरन्तर बढ़ने वाली रुपये की विनिमय दर ने देश के व्यापार और उद्योग को महान धक्का पहुँचाया तथा भारतीय चलन का आधार निधि के धात्विक अंश को जो ७९% १९१४ में थी घटाकर १९१९ में ५०% कर दिया।

बेबिन्गटन स्मिथ कमेटी १९१९—बेबिन्गटन कमेटी ने जिसकी नियुक्ति भारत की चलन पद्धति और विनिमय युद्ध के प्रभावों की जाँच करने के लिये की गई थी निम्न सिफारिशें की —(१) समय का विनिमय मूल्य २ शि० (स्वर्ण) पर निश्चित कर दिया जाय; (२) रुपये को अपरिमित कानूनी ग्राह्य मुद्रा बनाये रखना चाहिये परन्तु उसके साथ ही साथ पौंड को भी १० रु० प्रति पौंड की दर से अपरिमित कानूनी ग्राह्य मुद्रा घोषित कर देना चाहिये यद्यपि सरकार पौंड के बदले में रुपया देने के लिये बाध्य न होगी, (३) देश के यह अधिक हित में न होगा कि स्वर्ण मुद्रा का प्रयोग प्रोत्साहित किया जाय फिर भी एक स्वर्ण टकसाल की स्थापना बम्बई में कर देनी

चाहिये और स्वर्ण मुद्रा को थोड़ी-थोड़ी मात्रा में निकासी करनी चाहिये; (४) रुपये के मुद्रण से प्राप्त लाभ को स्वर्ण मान निधि में रखते जाना चाहिये जिसका आधा भारत में रक्खा जाना चाहिये, (५) पत्र मुद्रा का धात्विक आधार कम से कम कुल पत्र मुद्रा चलन के ४०% नियत कर देना चाहिये और अधिकतम विश्वासाधित निकासी को १२० करोड़ रुपयों पर निश्चित कर देना चाहिये, और (६) चाँदी के स्वतंत्र रूप से आयात तथा निर्यात की अनुमति दे दी जानी चाहिये।

श्री डी० एम० दयाल ने अपने अस्वीकृति सूचक प्रपत्र में रुपये के विनिमय मूल्य को २ शि० (स्वर्ण) पर निश्चित करने का विरोध किया क्योंकि उनके मत से यह भारत के व्यापार तथा उद्योग के लिये हानिकारक थी और उसके स्थान पर उन्होंने यह सिफारिश की कि पुरानी दर १ शि० ४ पेन्स वाली लागू की जानी चाहिए। भारत सरकार ने अधिक संख्या से अनुमति प्राप्त रिपोर्ट को दुर्भाग्यवश स्वीकार कर लिया और रुपये की विनिमय दर २ शि० पर नियत कर दी और इसी दर पर रिवर्स काउन्सिल वेचने का निश्चिय किया। इस दर पर पौंड की माँग रुपये के बदले बहुत अधिक बढ़ गयी और उसे कायम रखने के अपने निष्फल प्रयत्न में भारतीय खजाने को ५० करोड़ रुपयों का घाटा हुआ और इसमें अतिरिक्त अर्थ व्यवस्था भी संकट में पड़ी। "पहिले तो सरकार ने २ शि० (स्वर्ण) की दर को कायम रखना चाहा बाद में १९२० की २४ जून से २८ सितम्बर तक २ शि० (पौन्ड) की दर कायम रखने का प्रयत्न किया जब कि रुपये का बाजार मूल्य नीचे गिर चुका था।" अन्त में रुपये की विनिमय दर को २ शि० (स्वर्ण) पर कायम रखने के सारे प्रयत्न त्याग दिये गये और सरकार ने अपने प्रयत्न इस बात पर सीमित कर दिया कि भारत में मुद्रा का संकुचन किया जाय ताकि आन्तरिक और वाह्य मूल्यों में कुछ समानता आ सके। परिणाम स्वरूप रुपये का विनिमय मूल्य गिरा "और विनिमय दर जो कि दिसम्बर १९५० में १ शि० ५ पे० तक गिर चुकी थी मार्च १९२१ में और अधिक गिर कर १ शि० २$\frac{7}{8}$ पे० (अर्थात् १ शि० स्वर्ण से कम) हो गयी। १९२२ से व्यापार कर, संतुलन भारत के पक्ष में लक्षित होने लगा और रुपये का पौन्ड में मूल्य बढ़ने लगा और धीरे-धीरे युद्ध से पूर्व का स्तर अर्थात् १ शि० ४ पेन्स (पौन्ड में) जनवरी १९२३ में हो गया। अक्टूबर १९२४ में और अधिक बढ़ा और १ शि० ६ पे० (अर्थात् १ शि० ४ पे० स्वर्ण) हो गया और सरकार का प्रयत्न इसकी वृद्धि को इस दर के आगे बढ़ने से रोकने की दिशा में निर्देशित हुआ।" यह घोर निष्क्रियता की भाँति १९२५ तक जब कि इङ्गलैन्ड स्वर्ण मान पर आ गया चलती रही।

हिलटन यंग कमीशन १९५५ :—इस आयोग ने भारत के लिये स्वर्ण पाट मान की सिफारिश की। जिसकी मुख्य विशेषतायें निम्न थी— (i) मुद्रा अधिकारियों के लिये यह अनिवार्य कर दिया जाना चाहिये कि वे स्वर्ण का क्रय विक्रय एक निश्चित पद पर और कम से कम ४०० आउन्स (१०६५ तोला) की इकाइयों में करे। किस कार्य के लिये स्वर्ण की आवश्यकता है इस बात पर कोई प्रतिबन्ध न हो परन्तु स्वर्ण के विक्रय के सम्बन्ध में ऐसी शर्तें होनी चाहिये कि सामान्यतः मुद्रा अधिकारियों को मुद्रा के भी अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं के लिये स्वर्ण देने की आवश्यकता न पड़े; पौन्ड और (ii) अर्धपौन्ड कानूनी ग्राह्य बने रहे परन्तु रुपया पूर्ण रूप से कानूनी ग्राह्य रहे; (iii) सरकारी सेविंग सार्टिफिकेट निर्गमित किये जाँय ताकि आम जनता की समझ में यह बात आ जाय कि स्वर्ण मूल्य का मानदण्ड हो और स्वर्ण और रुपया परस्पर परिवर्तनीय है। लोग इन सर्टिफिकेटों को खरीद कर अपनी बचत का विनियोग कर सकते हैं। ३ अथवा ५ वर्ष पश्चात् वे अपना मूल धन मय ब्याज के रुपयों, अथवा स्वर्ण के रूप में अपनी इच्छानुकूल प्राप्त कर सकते हैं; (iv) वर्तमान पत्र-मुद्रा रुपयों में परिवर्तनीय रहे परन्तु अब जो नये नोटों की निकासी होगी वे कानूनी तौर पर रुपयों में परिवर्तित न किये जायँ। पत्र मुद्रा को रुपयों में परिवर्तित करने की सुविधा बराबर दी जाय; (v) एक रुपये के नोटों की जो कि पूर्णतया कानूनी ग्राह्य होंगे पर कानूनी तौर पर रुपये में परिवर्तित न किये जायंगे निकासी की जाय; और (vi) स्वर्णमान निधि तथा पत्र-मुद्रा निधि एक साथ मिला दिये जायँ। आयोग ने सिफारिस की कि रुपये की विनियोग दर १ शि० ६ पेन्स (स्वर्ण) पर नियत कर दी जाय जिससे रुपये का मूल्य स्वर्ण की मात्रा में ८·४७५१२ ग्रेन शुद्ध सोने के बराबर हो जायगा। सर परषोत्तमदास ठाकुरदास ने अपने अस्वीकृति सूचक प्रपत्र में यह सुझाव दिया कि रुपये की विनियम दर १ शि० ४ पे० पर नियत की जानी चाहिये न कि १ शि० ६ पे० पर जैसा कि आयोग ने सिफारिस की है।

सरकार ने आयोग की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और १९२७ के करेन्सी एकट में वे सब सम्मिलित कर लिये गये जिसके अनुसार रुपये की विनिमय दर १ शि० ६ पे० पर नियत हो गई। इसके लिये सरकार को कानूनी तौर पर इस बात के लिये बाध्य किया गया कि (i) २१ रु० ३ आ० १० पा० प्रति तोला की दर से चालीस तोले वजन की (१५ आउन्स) सोने की ईंटे खरीदे और (ii) बम्बई में भुगतान करने के लिये शुद्ध सोना अथवा लन्दन में

भुगतान करने के लिये पौन्ड जो १०६५ तोला (४०० औन्स) से कम मात्रा में न हो बेचे। मुद्रा नियंत्रक को इस बात की अनुमति होगी कि वह चाहे सोना या पौन्ड बेचे। एक्ट ने पौन्ड और अर्धपौन्ड को चलन पद्धति से वहिष्कृत कर दिया परन्तु सरकार को इस बात के लिये बाध्य किया कि मुद्रा कार्यालयों से तथा खजानों में उनको उनके पाट मान पर स्वीकार करे।

पौण्ड विनिमय-मान

१६२७ के करेन्सी एक्ट ने स्वर्ण पाटमान की स्थापना वास्तव में नहीं की जैसा कि हिल्टनयंग आयोग की सिफारिश थी वरन् यथार्थ ये पौण्ड विनिमय-मान की स्थापना की थी। २१ सितम्बर १६३१ तक जब कि इंगलैण्ड ने स्वर्ण विनिमय मान का परित्याग किया पौण्ड स्वर्ण में परिवर्तनीय था इसलिये इस काल में यह उसे स्वर्ण विनिमय मान भी कह सकते हैं। इस प्रकार आयोग की सिफारिश का वास्तविक परिणाम स्वर्ण विनिमय मान की स्थापना की। जिसकी उसने कटु आलोचना की थी। इंगलैण्ड के स्वर्ण मान के परित्याग कर देने के पश्चात् भारत पौण्ड विनिमय मान पर था और सरकार ने रुपये के विनिमय मूल्य का राशि ६ पेन्स (पौण्ड) पर स्थिर रखने का प्रयत्न किया था। आयोग की सिफारिश के अनुसार सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों का बड़ा ही भयंकर परिणाम भारतीय आर्थिक व्यवस्था को उठाना पड़ा (i) रुपये का अधिमूल्यन लगाया, १२½% हो गया था जिससे भारतीय निर्यात करने वालों को घाटा उठाना पड़ा और उसका परिणाम यह हुआ कि निर्यात घट गया। (ii) इस काल में बहुत बड़ी मात्रा में सोने का भारत से निर्यात हुआ। इसका कारण यह था कि सोने का मूल्य रुपयों की इकाइयों में बढ़ गया था क्योंकि पौंड का मूल्य स्वर्ण की मात्रा घट गया था और रुपये का विनिमय मूल्य पौंड की इकाइयों में स्थिर रक्खा गया था। इसका अर्थ यह हुआ कि जितना ही अधिक पौंड प्रत्येक तोला सोने के लिये दिया जाता उतने ही अधिक रुपये उसके बदले में प्राप्त होते क्योंकि रुपये और पौंड का विनिमय दर स्थिर रक्खा गया था। २१ सितम्बर १६३१ को इंगलैण्ड के स्वर्ण-मान में परित्याग कर देने के पश्चात् तथा रुपये के विनिमय दर के १ शि० ६ पेन्स पर स्थिर कर देने के पश्चात् सोने का मूल्य २१ रु० प्रति तोला से २५ रु० प्रति तोला हो गया और १६३१ का दिसम्बर में ३० रु० प्रति तोला के अंदर ही मूल्य पहुँच गया था। सरकार के अधिकारियों ने उस समय यह बताया कि सोने के निर्यात के कारण घरेलू व्यय का भुगतान भुगतान करने में तथा भुगतान संतुलन को देश के पक्ष में रखने में बड़ी सहायता

मिली, परन्तु जनता ने सोने के निर्यात की आलोचना की क्योंकि इससे देश की आर्थिक व्यवस्था क्षीण होती थी। इस प्रकार का कठिनाई में किये हुये सोने के निर्यात से यह प्रकट होता था कि देशवासियों की आर्थिक स्थिति बिगड़ रही थी और वे अपने पास के सोने को अपनी जीविका चलाने के लिये बेच रहे थे। यदि सरकार ने यह सोना खरीद लिया होता तो उसका प्रयोग भविष्य में मुद्रा के आधार के लिये काम में ला सकती थी; और (iii) १९२७ में एक्ट ने दोहरी निधियों की स्थापना की और मुद्राचलन को साख नियंत्रण से विलग कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप देश में ऐसे समय में जब कि अधिक मुद्रा की आवश्यकता होती थी मुद्रा का अभाव होता था और जब मुद्रा की आवश्यकता कम होती थी तो मुद्रा का बाहुल्य होता था। १९३५ के पश्चात् ही जब कि आयोग की सेन्ट्रल बैंक के स्थापना की सिफारिश फलवती हुई और रिजर्व बैंक की स्थापना हुई भारतीय मुद्रा की सोच हीनता मिट पायी और व्यापार तथा उद्योग की आवश्यकता के अनुसार चलन में मुद्रा की मात्रा नियोजित की जा सकी।

रिजर्व बैंक आफ इंडिया एक्ट १९३४ के अनुसार बैंक के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया था कि वह किसी भी व्यक्ति से तुरन्त लन्दन में भुगतान करने के लिये १ शि० ५ ४९/६४ पेन्स कम से कम और १ शि० ६ ३/१६ पेन्स अधिक से अधिक प्रति रुपया की दर से, कम से कम १०००० पौण्ड की मात्रा में खरीदें और बेंचे। ब्रिटिश सरकार ने इस सुविधा का लाभ भारत में युद्ध सम्बन्धी व्यय की व्यवस्था करने में उठाया और रिजर्व बैंक को पौण्ड दे कर उसके बदले में रुपये लिये। इसका परिणाम यह हुआ कि लन्दन में बहुत सा पौण्ड भारत के आदेय के रूप में इकट्ठा हो गया जिसका एक रुपया मूल्य १७३३ करोड़ रुपया हो गया था तथा भारत के चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ गई। भारत के चलन में पत्र-मुद्रा जिसकी मात्रा १९४२-४३ में ६४४ करोड़ रुपया बढ़ कर १९४४-४५ में १०८५ करोड़ रुपया, और १९४७-४८ में १३०४ करोड़ रुपया हो गई। इस काल में मुद्रा की कुल मात्रा की पूर्ति ११९८ करोड़ रुपयों से १९२२ करोड़ रुपये और फिर २३०३ करोड़ रुपये बढ़कर हो गई। इसके परिणाम स्वरूप भारत में मुद्रा स्फीति हो गयी और थोक मूल्यों का निर्देशांक यदि १९३९ अगस्त को आधार मान ले तो १९४०-४१ में ११४.८, १९४३-४४ में २३६.५ और १९४७-४८ में ३०७.० हो गया। यदि ब्रिटिश सरकार कोई दूसरा उपाय युद्ध सम्बन्धी व्यय की व्यवस्था करने का किया होता जैसे भारतीय पूँजी और द्रव्य बाजार में ऋण लेकर तो रुपये के विनिमय मूल्य में इतनी अधिक कमी और उसके परिणाम में मूल्य स्तर का इतना अधिक बढ़ना बचाया जा सकता था।

मुद्रा की पूर्ति अब भारत में लचीली हो गई है और नवम्बर से मई तक जब मुद्रा की अधिक आवश्यकता होती है उसका प्रसार हो जाता है और जून से अक्टूबर तक जब मुद्रा की माँग कम होती है उसका संकुचन हो जाता है रिजर्व बैंक की स्थापना के पहिले भारत का इम्पीरियल बैंक जिसे अब स्टेटबैंक आफ-इन्डिया कहा जाता है पत्र मुद्रा विभाग से ऋण ले लिया करता था। ताकि उससे वह बाजार में मुद्रा अभाव जनित संकट को पार कर ले परन्तु यह प्रणाली सुगमता से नहीं चल पाती थी। रिजर्वबैंक के अधिकार में साख तथा मुद्रा के एक साथ आ जाने से और उसके द्वारा कुशलता पूर्वक साख तथा मुद्रा चलने का प्रबन्ध किये जाने से सामयिक उतार चढ़ाव में बहुत कमी आ गई है।

१६४६ के आर्डिनेन्स द्वारा ५०० रु० से अधिक मूल्य वाले बैंक के नोटों के चलन से वहिष्कृत किये जाने के कारण भारतीय चलन पद्धति को बड़ा अवाञ्छनीय धक्का सहना पड़ा। १६४७ दिसम्बर में इन नोटों की मात्रा निम्न प्रकार थी ५०० रु० के मूल्य वाले नोट ३ लाख रुपयों के, १००० रु० के मूल्य वाले नोट १'१२ करोड़ रुपयों के, और १०,००० रु० के मूल्य वाले नोट २१ लाख रुपयों के इन्हीं मूल्यों के नोटों की मात्रा १६४५ में २६ लाख रुपये, ११३.३७ करोड़ रुपये और १२'४६ करोड़ रुपये क्रमशः थी ' ऊँचे मूल्य वाले नोटों के वापस ले लेने से जनता के भारतीय मुद्रा चलन में विश्वास को गहरा धक्का पहुँचा और व्यापारियों को बड़ी कठिनाई हुई जिनको सौ-सौ रुपये के नोटों के बण्डलों का एक स्थान से दूसरे स्थान लादे हुये जाना पड़ा।

स्वर्ण समानता मान

२१ सितम्बर १६३१ से १ मार्च १६४७ तक भारतवर्ष में पौन्ड विनिमय मान प्रचलित रही क्योंकि रुपये को पौन्ड से संग्रथित कर दिया गया था और ब्रिटेन से स्वर्ण मान नहीं था। जब भारतवर्ष १ मार्च १६४७ को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य हो गया भारत में स्वर्ण समानता मान लागू हो गया क्योंकि भारतीय रुपये का मूल्य स्वर्ण की मात्रा में तथा अमरीका के डालरों की इकाइयों से नियत किया गया। इस प्रणाली में भारत के रिजर्व बैंक के लिये यह अनिवार्य नहीं है कि रुपये के बदले में कई विदेशी मुद्रा जो स्वर्ण में परिवर्तनीय हो, परन्तु चूकि रुपये का विदेशी मूल्य स्वर्ण के मूल्य पर आधारित है इसलिये इस प्रणाली को स्वर्ण समानता मान कहना युक्ति संगत प्रतीत होता है। ऐसा कहा जाता है कि इस प्रणाली में स्वर्ण मान के सभी लाभ प्राप्त है और शुद्ध स्वर्ण मान की तरह इसमें न तो प्रत्यक्ष रूप से स्वर्ण की आवश्यकता है और न स्वर्ण

विनिमय मान की तरह अप्रत्यक्ष रूप से ही स्वर्ण की आवश्यकता है क्योंकि (i) भारतीय रुपये का मूल्य स्वर्ण की मात्रा में नियत कर दिया गया है और उसके द्वारा अन्य देशों की मुद्राओं में भी जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के सदस्य है नियत हो गया है, (ii) चूँकि किसी देश को यह अधिकार नहीं है कि वह स्वयं अपनी मुद्रा का विनिमय मूल्य परिवर्तित कर ले सिवाय बहुत साधारण सीमा के बीच के प्रणाली से वैसी ही विनिमय स्थिरता प्राप्त होती है जैसी कि स्वर्ण पान में प्राप्त होती थी, (iii) यदि किसी देश के लिये अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की राय से नियत किये हुये विनिमय दर के बनाये रखने से कठिनाई का अनुभव होता है है तो यह कोष उसकी सहायता आवश्यक विदेशी मुद्रा उधार देकर करता है ताकि वह अपनी मुद्रा का विनिमय मूल्य स्थिर रख सके और विदेशी भुगतान ठीक उसी प्रकार कर सके जैसे कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत कर सकता था। (iv) इस प्रणाली में सबसे बड़ा लाभ यह है कि एक देश से दूसरे देश विनिमय दर से स्थिरता बनाये रखने के लिये जो सोना भेजने को जोखिम तथा व्यय उठाना पड़ता था उसकी अब आवश्यकता ही नहीं रह गई है और भारत का रिजर्व बैंक आवश्यक विदेशी विनिमय या तो अपने साधनों के आधार पर अथवा अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष से उधार लेकर दे देता है और (v) यद्यपि विनिमय दर में वैसी स्थिरता प्राप्त है जैसा कि स्वर्ण मान के अन्तर्गत होती फिर भी उसमें लचीलापन इस बात से ले आया गया है कि प्रत्येक देश एक निश्चित सीमा के अन्दर यदि चाहे तो स्वयं विनिमय दर में परिवर्तन कर सकता है और यदि अन्तर राष्ट्रीय मुद्रा कोष से सलाह लेकर करना चाहे तो किसी भी सीमा तक परिवर्तन कर सकता है। यह सुविधा स्वर्ण मान के अन्तर्गत प्राप्त नहीं हो सकती थी। इस प्रकार स्वर्ण समानता मान में शुद्ध स्वर्ण मान के सब गुण ही मौजूद नहीं है वरन् कुछ अधिक गुण भी है और उसके कोई भी अवगुण जैसे स्वर्ण के जमा करने के सम्बन्ध में कोष रखना तथा एक देश से दूसरे देश भेजने का व्यय उठाना आदि नहीं है।

भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष का सदस्य बन जाने के कारण रिजर्व बैंक एक्ट की ४० वी और ४१ वी धाराओं में अप्रैल १९४७ में संशोधन द्वारा परिवर्तन कर दिया गया है और अब रिजर्वबैंक के अपरिमित मात्रा में निश्चित दर पर पौन्ड बेचने और खरीदने के लिये बाध्य होने के स्थान पर उसे विदेशी विनिमय ऐसी दर पर और ऐसी शर्तों पर बेचने तथा खरीदने का अवसर दिया गया है जो केन्द्रीय सरकार द्वारा समय समय पर नियत की जावे। बृटिश सरकार ने इस सुविधा का अनैतिक प्रयोग भारत पर पौन्ड पावने का भार लादने के लिये तथा

देश में मुद्रा स्थिति लाने के लिये किया था इसलिये इस संशोधन का भारत में स्वागत हुआ। भूत काल में रिजर्वबैंक को ४०० की मुद्रानिधि में जो उसे रखना पड़ता था स्वर्ण पाट, स्वर्ण मुद्रा तथा पौन्ड प्रतिभूतियाँ सम्मिलित करनी पड़ती थीं। जब से भारत अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य हो गया रिजर्वबैंक को यह अधिकार में दिया गया कि वह पौन्ड प्रतिभूतियों के अतिरिक्त अन्य प्रतिभूतियाँ भी मुद्राकोष में रख सकता है। अन्तराष्ट्रीय मुद्रकोप द्वारा रुपये का विनिमय मूल्य प्रचलित १ शि० ६ पेन्स की दर पर स्वीकार कर लिया गया परन्तु उसे अब स्वर्ण से संग्रथित कर दिया गया और भारतीय रुपया अब ३०·२२५ सेन्ट के बराबर अमरीकी डालर की इकाइयो में और ०·२६८६०१ ग्राम शुद्ध सोने की मात्रा में समझा गया।

रुपये की विनिमय दर बहुत कुछ स्थिर रही यद्यपि उस पर समय-समय पर दबाव पड़ता रहा और इसका श्रेय रिजर्व बैंक के अधिकारियों को तथा भारत की अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष की सदस्यता को है क्योंकि इस कोष ने बड़ी उदारता के साथ विदेशी मुद्रायें रिजर्व बैंक को रुपये का विनिमय मूल्य स्थिर रखने के लिये दिया। २० सितम्बर १९४९ को भारतीय रुपये का पौन्ड के तथा पौन्ड क्षेत्र की मुद्राओं (पाकिस्तान को छोड़ कर) के साथ ही साथ अवमूल्यन हुआ इसका कारण यह नहीं था कि रुपये के मूल्य में कोई गड़बड़ी थी अथवा रिजर्व बैंक के लिये रुपये के विनिमय दर को बनाये रखना असम्भव हो गया था वरन् यह था कि वृटिश सरकार ने पौन्ड का अवमूल्यन करने का निश्चय किया और भारत ने उसका कामनवेल्थ का एक विश्वस्त सदस्य होने के नाते अनुकरण किया। लगभग ३०½% के अवमूल्यन के पश्चात् भारतीय रुपया अमरीकी मुद्रा की इकाइयों में २१ सेन्ट में बराबर और ०.१८६६२१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण के बराबर हो गया। रुपये का विनिमय मूल्य पौन्ड की इकाइयों में ज्यों का त्यों १ शि० ६ पेन्स प्रति रुपया बना रह गया।

भारत की द्वितीय योजना का प्रबन्ध करने के लिये देश की आर्थिक व्यवस्था को उसके अनुरूप बनाने के विचार से रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट वैंकिंग कम्पनी एक्ट का संशोधन १९५६ में किया गया। इस संशोधन के अनुसार (i) पंच मुद्रा निकासी को मुद्रा निधि को उतनी ही मात्रा के आधार अधिक मुद्रा की निकासी द्वारा अधिक लचीला बना दिया गया और (ii) रिजर्व बैंक को व्यापारी बैंको की साख पर अधिक नियंत्रण रखने का अधिकार मुद्रास्फीति की स्थति के उत्पन्न हो जाने पर उसे रोकने के लिये दिया गया। इस ध्येय से अनुपातिक निधि प्रणाली को बदल कर उसके स्थान पर 'न्यूनतम निधि प्रणाली को

भारतीय चलन पद्धति का स्वर्ण पाट स्वर्ण मुद्रा तथा विदेशी प्रभूतियों की इकाइयों में आधार बनाना स्वीकार किया गया। इस संशोधन के पहिले रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट् के सेक्सन ३२ (२) के अनुसार निकासी विभाग के आदेश का कम से कम २।५ भाग (४० %) स्वर्ण मुद्रा स्वर्ण पाट अथवा विदेशी प्रभूतियों को रखना अनिवार्य था। स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण पाट का मूल्य किसी भी दशा में ४० करोड़ रुपये से कम न होना चाहिये। स्वर्ण का मूल्य २१·२४ रुपये प्रति तोला (८ तोला बराबर ३ औंस के) था। द्वितीय योजना की आवश्यकता के संदर्भ में इस नियंत्रण प्रद व्यवस्था के दृष्टिकोण से संशोधित एक्ट ने अनुपातिक निधि प्रणाली को बदल कर न्यूनतम निश्चित प्रणाली की स्थापना की और यह नियत कर दिया कि विदेशी प्रभूतियाँ कम से कम ४०० करोड़ रुपयों के मूल्य की और स्वर्ण मुद्रा तथा स्वर्ण पाट ११५ करोड़ रुपयों के मूल्य के रक्खे जा सकते हैं जब कि स्वर्ण का मूल्य ६२·५० रु० प्रति तोला माना जाय जो कि समानता दर के अनुसार (३५ डालर प्रति औन्स शुद्ध स्वर्ण) था और जो अन्तर राष्ट्रीय कोष द्वारा स्वीकृत थी। संशोधित एक्ट ने यह भी प्रतिबन्ध हटा लिया कि अधिक से अधिक १०० करोड़ रु० के मूल्य की विदेशी प्रभूतियाँ कम से कम ६ महीने की अवधि तक जो कि समय समय पर बढ़ाई जा सकती थी पर ३ महीने से अधिक काल के लिये एक बार में नहीं केन्द्रीय सरकार की अनुमति से अवश्य रक्खी जाय। इस संशोधन का वास्तविक प्रभाव यह था कि रिजर्व बैंक अधिक मात्रा में मुद्रा की निकासी करने में समर्थ है अथवा उसमें स्थान पर कम से कम अपनी कुछ विदेशी प्रभूतियों का जिनका मूल्य ३०० करोड़ रुपयों से कम नहीं हो सकता था परित्याग करे। परन्तु भारत में बड़ा ही गंभीर विनिमय संकट १९५६ के अन्त तक उत्पन्न हो गया। जिसके कारण मुद्रा निधि को फिर परिवर्तित करना पड़ा ताकि रिजर्व बैंक अपने पास की कुछ विदेशी प्रभूतियों को मुद्रा निधि में रक्खे जाने के लिये निकाल सके जिससे विदेशी विनिमय का व्यवधान पूरा किया जा सके। इसलिये ३१ अक्टूवर १९५७ को जिर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट का संशोधन रिजर्व बैंक आफ इन्डिया अमेन्डमेन्ट आर्डिनेन्स १९५७ की घोषणा द्वारा किया गया और उसे रिजर्व बैंक आफ इन्डिया (द्वितीय संशोधन) एक्ट १९५७ में सम्मिलित कर लिया गया। सेक्सन ३३ के संशोधित रूप के अनुसार स्वर्ण मुद्रा स्वर्ण पाट और विदेशी प्रभूतियों का मूल्य जो किसी भी समय बैंक के निकासी विभाग में जमा हैं किसी भी स्थिति में २०० करोड़ रुपयों से कम नहीं होना चाहिये और साथ ही साथ स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण पाट का मूल्य कभी भी ११५ करोड़ रुपयों के नीचे न जाने पाये। सेक्सन ३७ में दी शर्तें जिसके अनुसार

निकासी विभाग में कम से कम ३०० करोड़ रुपयों के मूल्य की विदेशी प्रभूतियों को रखना अनिवार्य था हटा दी गई। इस संशोधन का प्रभाव विदेशी प्रभूतियों के रखने की न्यूनतम मात्रा को घटा कर ८५ करोड़ रुपया करना था जो कि स्वर्ण मुद्रा और स्वर्ण पाट को मिला कर जिसकी सीमा ११५ करोड़ रुपया थी २०० करोड़ रुपया हो जाता है। १९५६ का संशोधन इसलिये ठीक नहीं था कि उसने मुद्रा निधि को घटा दिया था और उससे रुपये के विनिमय मूल्य के लिये खतरा था, क्योंकि जनता का विश्वास मुद्रा के प्रति अंशतः मुद्रा के आधार रूप में रक्खी निधि पर निर्भर करता है और १९५७ के संशोधन ने स्थिति बिगाड़ दी थी। यह तर्क उपस्थित करना अनुचित है जैसा कि रिजर्व बैंक के अधिकारियों ने किया है कि मुद्रानिधि एक प्राचीन प्रथा का प्रतीक मात्र है और बिल्कुल आवश्यक नहीं है, अथवा जैसा कि उस समय के वित मंत्री ने लोक सभा में कहा कि मुद्रा निधि अपने वर्तमान रूप में मेरे विचार से सरकार की परम्परागत निष्क्रियता के कारण चलाई जा रही है। यह बड़े सौभाग्य की बात है कि भारतीय रुपये की विदेशों में साख आयी है और उसका मूल्य स्थिर है। हमें उसकी रक्षा इस बात से करनी है कि स्थिति संकट का रूप न धारण कर ले। सरकार और रिजर्व बैंक ने इस सम्भावना की ओर से आँखे बन्द रक्खी है।

दूसरी विचारणीय बात भारतीय मुद्रा क्षेत्र में जो हुई वह यह थी कि रिजर्व बैंक आफ इन्डिया एक्ट १९५३ ने (संशोधित) अभी मूल्य वाले नोटें फिर से चालू कर दिया और जो कठिनाई उनके हटा देने से उत्पन्न हो गई थी दूर हो गई। रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ने फिर से १००० रु०, ५,००० रु० और १० ००० रु० के नूल्य के नोटों की निकासी १ अप्रैल १९५४ से कर दी।

यहाँ इस बात का याद दिलाना आवश्यक होगा कि विक्टोरिया तथा सप्तम एडवर्ड के रूपये और अटन्नियां जो शुद्ध चाँदी के थे पहिली अप्रैल १९४१ और ३१ मई १९४२ से क्रमशः वहिष्कृत कर दिये गये और जार्ज षष्ठम के चाँदी के रुपये और अठन्नियाँ १ मई १९४३ से वहिष्कृत कर दी गई। उनका स्थान ऐसे रुपयों अठन्नियों और चवन्नियों द्वारा ले लिया गया जिनकी निकासी १९४० में इसलिये की गई कि सिक्कों का मुद्रण व्यय घट जाय। ये सिक्के जिनमें केवल ५०१० शुद्ध धातु थी और जिनका वास्तविक मूल्य उनके अंकित मूल्य से बहुत कम था बाद में हटा दिये गये और निकासी के सांकेतिक सिक्को ने उनका स्थान ले लिया। चाँदी की पूर्ति के अप्र्याप्त होने, चाँदी के वर्तमान मूल्य स्तर तथा २२६०००००० औन्स चाँदी के जिस भारत ने यूनाइटेड स्टेट से १९४३-४५ में उधार लिया था लौटाने के दृष्टिकोण से भारत सरकार ने १९४६ की मई से

चौथाई मूल्य वाली अठन्नियों और चवन्नियों की निकासी बन्द कर दी (ऐसे रुपयों की भी) और यह निर्णय किया कि शुद्ध निकिल के सिक्के उनका स्थान लें। ये सिक्के चौथाई मूल्य वाले रुपयों के ही वजन के थे (१८० ग्रेन ट्राय) पर उनका व्यास कुछ कम है। मुख्य बात यह है कि ये वैसे ही सांकेतिक सिक्के हैं जैसे कि पत्र मुद्रा और उनका कोई वास्तविक मूल्य नहीं है। इस उपाय से इसमें संदेह नहीं कुछ चाँदी की बचत हो गई परन्तु इसे भारतीय मुद्रा चलन हीन हो गई यद्यपि सौभाग्य से भारतीय जनता का उस पर विश्वास कम नहीं हुआ है। दूसरा उल्लेनीय परिवर्तन भारतीय चलन पद्धति में दशमिक सिक्कों का १ अप्रैल १९५७ से प्रचलन था।

अध्याय ४२

रुपयें का विनिमय अर्घ

देश के विदेशी व्यापार का प्रसार करने के लिए, देश की आर्थिक समृद्धि बढ़ाने और रोजगार बढ़ाने के लिए रुपये के विनिमय अर्घ का बहुत अधिक महत्व है। व्यापार और लेन देन का कार्य सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि विनिमय अर्घ में स्थायित्व हो। यदि रुपये के विनिमय अर्घ में कमी आए तो भारत के अन्य देशों को निर्यात किये जाने वाले सामान के बदले में पहिले की अपेक्षा अधिक रुपया प्राप्त किया जा सकता है। ऐसी स्थिति में यदि निर्यात कर्ता अपने माल के मूल्य में किसी प्रकार का परिवर्तन न कर उन्हें पूर्व स्तर पर ही बनाए रखें तो इससे विदेश के बाजारों में उनकी प्रतियोगिता शक्ति बढ़ सकती है। यदि रुपये का विनिमय अर्घ १ शिलिंग ६ पेन्स से घटाकर १ शिलिंग ४ पेन्स प्रति रुपया कर दिया जाय तो इसका भारतीय निर्यात कर्ता के व्यापार पर प्रभाव पड़ेगा। भारत के निर्यात कर्ता वहाँ जो वस्तु १ शिलिंग ६ पेन्स में बेचकर एक रुपया प्राप्त करते थे वह विनिमय के अर्घ में परिवर्तन हो जाने से १ रुपया २ आना प्राप्त कर सकेंगे। परन्तु यदि निर्यात कर्ता उस वस्तु की केवल एक रुपया कीमत वसूल करने से सन्तुष्ट हो तो वह विदेशों में अपने माल की कीमत घटा कर १ शिलिंग ४ पेन्स कर सकता है। ऐसा करने से अन्य देशों की अपेक्षा उसकी प्रतियोगिता शक्ति बढ़ेगी। यदि रुपये के विनिमय अर्घ में वृद्धि हुई तो इसका परिणाम उल्टा होगा। इसके फलस्वरूप भारतीय निर्यात कर्ता को अपने माल का दाम पहले की अपेक्षा रुपये के रूप में कम मिलेगा, यदि पहले के बराबर रुपये प्राप्त करना चाहेगा तो विदेशों में उसके माल की कीमत बढ़ जायेगी, और उसकी प्रतियोगिता शक्ति शिथिल पड़ जायगी। रुपये के विनिमय अर्घ परिवंतन का भारत के आयात पर उल्टा प्रभाव पड़ेगा। किस समय कौन सी विनिमय अर्घ की दर उपयुक्त होगी यह अनेक बातों पर निर्भर है। विनिमय अर्घ की दर में परिवर्तन से आयात और निर्यात, भुगतान के सन्तुलन और देश की आर्थिक स्थिति की दृढ़ता पर प्रभाव पड़ता है। देश को आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली बनाने में इन सब का विशेष स्थान होता है। इसलिए जब कभी विनिमय अर्घ की दर में परिवर्तन किया जाता है तो पहले सारी स्थिति पर विस्तार से गम्भीरता पूर्वक विचार कर लिया जाता है।

हिल्टन-यंग कमीशन की रिपोर्ट—भारत में विनिमय के अनुपात के

प्रश्न पर १९ वीं शताब्दी से ही विवाद चलता आ रहा था परन्तु १९२६ में हिल्टन यंग कमीशन की रिपोर्ट के पश्चात यह विवाद का मुख्य विषय बन गया। हिल्टन-यंग कमीशन ने सिफारिश की कि रुपये का विनिमय अर्घ १ शिलिंग ६ पेन्स प्रति रुपया निश्चित किया जाय। इससे स्वर्ण के मान में एक रुपया ८.४७५१२ ग्रेन शुद्ध स्वर्ण के बराबर होगा। अपनी इस सिफारिश के समर्थन में कमीशन ने निम्नलिखित तर्क दिये —

(१) भारतीय तथा विश्व-बाजार में विनिमय इस अनुपात पर पहले ही निश्चित हो चुका है और इसी अनुपात पर भारतीय तथा विश्व-बाजार में काफी लेन देन हो चुका है। यदि विनिमय की दर में कुछ परिवर्तन किया गया तो इससे कुछ समय तक एक विषय स्थिति उत्पन्न हो जायेगी और व्यापक अशांति और अव्यवस्था फैल जायगी। क्योंकि जून १९२५ से विनिमय का अनुपात इसी स्तर पर रहा है इसलिए बिना किसी परिवर्तन के इसी अनुपात को मान लेना चाहिए।

(२) भारत में वेतनों और मूल्यों में इसी अनुपात के अनुसार परिवर्तन हो गया है इसलिए यही उपयुक्त अनुपात है।

(३) वस्तुओं के मूल्य के अनुपात में लगान अवश्य कम हो गया है पर संविदा (contract) इसी नए अनुपात के अनुसार निश्चित हो गये हैं।

(४) यह कहना ठीक नहीं है कि १ शिलिंग ४ पेन्स विनिमय का स्वाभविक (natural) अनुपात है क्योंकि अतीत में काफी लम्बे समय तक इसी के अनुसार कारोबार चलता रहा है। विनिमय का अनुपात उस समय की परिस्थितियों पर निर्भर करता है और अब परिस्थितियों के अनुसार उसे १ शिलिंग ६ पेन्स प्रति रुपया होना चाहिए। यदि विनिमय का अनुपात १ शिलिंग ४ पेन्स कर दिया जाय तो इससे भारत सरकार की वित्त-स्थिति पर प्रभाव पड़ेगा और व्यय की रकम पूरी करने के लिए सरकार को अधिक कर लगाने पड़ेंगे।

सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास ने कमीशन की रिपोर्ट पर आपत्ति प्रकट की और सुझाव दिया कि विनिमय का अनुपात १ शिलिंग ४ पेन्स ही निश्चित किया जाय क्योंकि अतीत में काफी लम्बे समय तक इसके अनुसार कारोबार चलाया जाता रहा है और अब इसे स्वाभाविक विनिमय अनुपात समझना चाहिये। यदि अनुपात १ शिलिंग ६ पेन्स निश्चित किया गया तो इसका अभिप्राय यह होगा कि रुपये के विनिमय अर्घ में १२½ प्रतिशत की वृद्धि होगी। इससे विदेशी उत्पादकों को भारतीय बाजार में प्रतियोगिता बढ़ाने में सहायता मिलेगी और भारत के निर्यात व्यापार को क्षति पहुँचेगी।

भारत सरकार ने हिल्टन-यंग कमीशन की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और १९२७ का मुद्रा कानून पारित किया। इसके अनुसार रुपये का विनिमय अनुपात १ शिलिंग ६ पेन्स प्रति रुपया निश्चित किया गया और सरकार को निम्न उत्तरदायित्व दिये गये, (१) सरकार को २१ रुपया ३ आना १० पाई प्रति तोले के हिसाब से सोने की कम से कम चालीस तोले की सिल्लियाँ खरीदनी चाहिए। (२) सरकार बम्बई में निकासी के लिए जो सोना बेचेगी या लन्दन में निकासी के लिए स्टर्लिङ्ग बेचेगी उसकी मात्रा कम से कम ४०० औंस शुद्ध सोना अथवा इतना ही स्टर्लिङ्ग होना चाहिए।

इसके उपरान्त १० वर्ष से अधिक समय तक भारतीय जनता बराबर रुपये का अवमूल्यन करने की माँग करती रही। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने इसी आशय का एक प्रस्ताव स्वीकार किया और अनेक अर्थशास्त्रियों ने भी सुझाव दिया कि रुपये का अवमूल्यन किया जाना चाहिये। रुपये के विनिमय अर्घ में वृद्धि (Overvaluation) कर देने से भारत को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिसकी संक्षिप्त रूप रेखा नीचे दी गई है —

(१) विनिमय अनुपात की इस कृत्रिम दर को बनाए रखने के लिए सरकार को १९३०-३१ तक ५ वर्षों में लगभग १०½ करोड़ रुपये का मुद्रा-संकुचन करना पड़ा। इससे भारतीय वस्तुओं के मूल्य गिर गये जिससे भारतीय किसानों और उत्पादकों को बहुत हानि हुई।

(२) इस नीति को लागू करने के फलस्वरूप देश का मुद्रा-सुरक्षित कोष (currency reserve) खाली हो गया और इस दर को बनाये रखने के लिये सरकार को विशेष प्रयत्न करने पड़े।

(३) कृत्रिम विनिमय अर्घ के कारण १९२९ की आर्थिक मन्दी का भारत पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। विदेशों की अपेक्षा भारत की कीमतों में अधिक कमी आई, व्यापार की शर्तें भारत के अनुकूल न रहीं और व्यापार का सन्तुलन (balance of trade) भारत के अनुकूल होते हुए भी बचत पहले की अपेक्षा बहुत कम रही। इसमें सन्देह नहीं कि देश की आर्थिक स्थिति और मूल्यों का परस्पर सम्बन्ध और व्यापार सन्तुलन अनेक बातों पर निर्भर करते हैं और यह नहीं कहा जा सकता है कि भारत की स्थिति बिगड़ने का कारण केवल रुपये के विनिमय अर्घ में अवांछित वृद्धि कर देना था। परन्तु यह बिल्कुल सही है कि देश की स्थिति बिगाड़ने के लिए अन्य कारणों के साथ यह कारण भी उत्तरदायी है। यदि विनिमय अर्घ की दर १ शिलिंग ४ पेन्स निश्चित की गई होती तो सम्भवतः इतने गम्भीर संकट का सामना न करना पड़ता। १९३१ में जब ब्रिटिश

सरकार ने स्वर्ण-मान का त्याग कर दिया तब रुपये का सम्बन्ध स्वर्ण की बजाय स्टर्लिङ्ग से जोड़ दिया गया परन्तु विनिमय का अनुपात १ शिलिंङ्ग ६ पेन्स स्टर्लिङ्ग प्रति रुपया ही रखा गया। रुपये का विनिमय अनुपात घटाने के लिए सरकार के पास यह स्वर्ण अवसर था पर सरकार इस अवसर का लाभ उठाने से चूक गई और देश को भारी क्षति उठानी पड़ी।

सितम्बर १६४६ में रुपये का अवमूल्यन कर दिया गया। इस समय तक विनिमय के अनुपात के सम्बन्ध में और रुपये का अवमूल्यन करने की माँग पर विवाद चलता रहा। अवमूल्यन की आवश्यकता इसलिए थी कि निर्यात की अपेक्षा हमारा आयात अधिक था अर्थात् व्यापार सन्तुलन प्रतिकूल था जिसको अनुकूल बनाने के लिए निर्यात बढ़ाना और आयात कम करना आवश्यक था। सरकारी नियंत्रण द्वारा आयात की मात्रा घटाई जा सकती है और उत्पादन व्यय घटाकर निर्यात बढ़ाया जा सकता है परन्तु यदि उत्पादन व्यय में कमी कर सकना सम्भव न हो, जैसा कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद भारत में हुआ, तो निर्यात की मात्रा बढ़ाने का एक मात्र उपाय अवमूल्यन करना है। यह दावा किया गया कि निर्यात में वृद्धि करके और आयात को कम करके अवमूल्यन के द्वारा प्रतिकूल व्यापार-सन्तुलन को अनुकूल बनाया जा सकता है। अवमूल्यन के विरोध में यह कहा गया कि विश्वयुद्ध के बाद भारत के निर्यात व्यापार में जो ह्रास हुआ है और अन्तर्राष्ट्रीय खाते में निरन्तर जो घाटा सहना पड़ा है उसका कारण जापान और जर्मन बाजार का हाथ से निकल जाना, देश का विभाजन और विभाजन से विनिमय मुद्रा कमाने के साधन जूट और रुई की क्षति, भारतीय वस्तुओं के लिए पर्याप्त बाजार का अभाव, स्वदेश तथा विदेश में यातायात के साधनों की कठिनाइयाँ और उत्पादन प्रणाली की बुराइयाँ इत्यादि हैं तथा अवमूल्यन कर देने से इन कारणों को दूर नहीं किया जा सकता है। निस्सन्देह यह सच है कि भारतीय आर्थिक व्यवस्था की सभी बुराइयों को अवमूल्यन से दूर नहीं किया जा सकता है परन्तु इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता है कि कठिनाइयों को और बढ़ा देने में विनिमय अर्घ में वृद्धि करने का भी बहुत अधिक हाथ रहा है और यदि १६३१ में ही या उसके बाद रुपये का अवमूल्यन कर दिया जाता तो भारत को इतनी आर्थिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ता।

यह भी कहा गया है कि 'सुलभ मुद्रा क्षेत्र' (soft currency areas) से आयात घटाने में विशेष कठिनाई नहीं होगी और कुछ सीमा तक दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र (hard currency areas) से भी आयात घटाया जा सकता है। आयात पर उचित प्रतिबन्ध लगा देने से भी उक्त क्षेत्रों से आयात घटाया जा सकता है

जैसा कि भारत सरकार ने निश्चय किया है। इसलिए आयात घटाने के लिए अवमूल्यन के अवांछित उपाय को अपनाने की कुछ आवश्यकता नहीं है। अव-मूल्यन के विरुद्ध यह भी कहा गया कि इससे भारत में आयात की जाने वाली वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हो जायगी और इसका प्रभाव विशेषकर खाद्यान्न पर पड़ेगा जिसके लिए भारत को बहुत अंशों में विदेशों पर ही निर्भर करना पड़ता है। इससे भारत के बाजार में वस्तुओं की पूर्ति घट जाने से मुद्रास्फीति की स्थिति और बिगड़ जायगी। इसके विरुद्ध यह कहा गया कि रुपये के विनिमय अर्घ में कमी होने से निर्यात की मात्रा बढ़ेगी और आयात महँगा पड़ेगा, साथ ही इसमें कठिनाई भी होगी परन्तु इस सम्बन्ध में हमें इस बात को ध्यान में रखना होगा कि कुल कितना लाभ होता है। यह बात अवमूल्यन के पक्ष में प्रतीत होती है। इस तर्क में कुछ सत्य नहीं है कि आयात के सम्बन्ध में उदार नीति अपनाने से भारत में मुद्रास्फीति का जोर कम हो गया। कीमतों की दृष्टि से यह प्रतीत होता है कि आयात के सम्बन्ध में उदार नीति अपनाने के एक वर्ष बाद ही मुद्रास्फीति की स्थिति और बिगड़ गई। आयात करने में किसी भी प्रकार उन शक्तियों को रोका नहीं जा सकता है जिन्होंने भारत में मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न कर दी। यह भी कहा गया कि रुपये का अवमूल्यन कर देने से मशीनें, खाद्यान्न, केमिकल तथा उपभोग की अन्य सामग्रियाँ महँगी हो जायँगी और इन सामग्रियों का भारत को आयात करना पड़ता है। जहाँ तक उद्योगों का सम्बन्ध है साधनों के महँगे होने के कारण उत्पादन व्यय में वृद्धि होगी, परन्तु निर्यात बढ़ने और विदेशों के बाजार में भारतीय माल की अधिक खपत होने से उद्योग को अधिक लाभ पहुँचेगा।

यह भी कहा गया है कि भारत के नाम पौण्ड पावना जमा है और रुपये का अवमूल्यन हो जाने से भारत को पौण्ड पावने के बदले जो वस्तुएँ और जो सेवाएँ प्राप्त होती हैं उनकी मात्रा घट जायगी। परन्तु यह संकीर्ण दृष्टिकोण है। किसी भी मुद्रा के विनिमय अर्घ को निर्धारित करने में सारी परिस्थितियों पर विचार करना होता है इसलिए थोड़ी बहुत क्षति का विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है। यदि अवमूल्यन से देश समृद्धशाली बने तो पौण्ड पावने के रूप में जो थोड़ी बहुत क्षति होगी वह आसानी से पूरी हो जायगी।

अवमूल्यन—२० सितम्बर १९४९ को रुपये का अवमूल्यन किया गया। भारत सरकार ने घोषित किया कि अमरीकी मुद्रा में भारतीय रुपये का विनिमय अर्घ ३०·२२५ सेन्ट से घटाकर २१ सेन्ट और सोने में ०·२६८६०१ ग्राम से घटा-कर ०·१८६६२१ ग्राम शुद्ध स्वर्ण कर दिया गया परन्तु पौण्ड स्टर्लिङ्ग में रुपये का

विनिमय अर्घ पूर्वमान के अनुसार १ शिलिङ्ग ६ पेन्स ही रखा गया। भारत सरकार के इस निश्चय का कारण यह था कि ब्रिटेन तथा अन्य राष्ट्र मण्डलीय सरकारों ने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया था। डालर क्षेत्र में इन देशों का व्यापार-सन्तुलन निरन्तर प्रतिकूल होता जा रहा था और इस कठिनाई का सामना करने के लिए डालर में इन देशों की मुद्राओं का विनिमय अर्घ घटाना आवश्यक था।

राष्ट्रमण्डलीय देशों में से केवल पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया और पाकिस्तानी रुपये का मूल्य जो ३०·२२५ सेन्ट प्रति रुपया था ज्यों का त्यों बना रहा। पाकिस्तान की सरकार को बहुत घाटा सहने पर अपनी भूल मालूम हुई और सितम्बर १९५५ में पाकिस्तानी रुपये का भी मूल्य घटाकर २१ सेन्ट प्रति रुपया कर दिया गया।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि रुपये का केवल डालर में अवमूल्यन किया गया परन्तु पौण्ड स्टर्लिंग में रुपये का विनिमय अर्घ बिना किसी परिवर्तन के वही रखा गया जो पहले था, परन्तु भारतीय जनता की माँग से भिन्न था। जनता ने माँग की कि रुपये का डालर, स्टर्लिंग तथा अन्य मुद्राओं में अवमूल्यन किया जाय। इस सम्बन्ध में भारत सरकार की कड़ी आलोचना की गई है और कहा गया कि रुपये का अवमूल्यन भारत सरकार ने स्वयं नहीं किया; किन्तु क्योंकि ब्रिटिश सरकार ने अपना निर्णय पहले ही ले लिया था इसलिए भारत को भी विवश होकर रुपये का अवमूल्यन करना पड़ा। यह भी कहा गया कि भारत सरकार को रुपये का अवमूल्यन पौण्ड स्टर्लिङ्ग की अपेक्षा अधिक करना चाहिये था। भारत सरकार की नीति के समर्थन में यह कहा गया कि भारत का ७५ प्रतिशत निर्यात व्यापार उन देशों से होता है जिन्होंने अपनी मुद्राओं का अवमूल्यन कर दिया है, और इन देशों में भारत के अनेक प्रतिद्वन्द्वी थे, जैसे लंकाशायर का कपड़ा, लंका की चाय, पूर्वी अफ्रीका की मूङ्गफलियाँ, दक्षिणी अफ्रीका का मैंगनीज और डण्डी का जूट का सामान इत्यादि। ऐसी स्थिति में यदि अवमूल्यन न किया जाता तो भुगतान के सन्तुलन में घाटे की स्थिति और बिगड़ गई होती जो पहले ही से खराब थी। इसलिए भारत को अपने बचाव के लिए रुपये का अवमूल्यन करना आवश्यक हो गया। यह कहना सही है कि भारत में अवमूल्यन का अपना एक विशेष महत्व है। यह भी बताया गया है कि भारत सरकार पौण्ड स्टर्लिङ्ग से अधिक मात्रा में रुपये अवमूल्यन कर सकने में असमर्थ थी। पौण्ड स्टर्लिङ्ग का ३०½ प्रतिशत तक अवमूल्यन किया गया। यदि भारत

ने रुपये का इससे अधिक अवमूल्यन किया होता तो उससे भारत के व्यापार पर बुरा प्रभाव पड़ता और आर्थिक क्षति पहुँचती।

अवमूल्यन का प्रभाव—आशा के अनुसार ही भारतीय व्यापार सन्तुलन पर अवमूल्यन का अनुकूल प्रभाव पड़ा। भुगतान का संतुलन जो कि १९४८-४९ में १८३.४५ करोड़ रुपया से प्रतिकूल था, अब भी प्रतिकूल ही रहा परन्तु घाटा १९४९-५० में कम होकर ११८·८६ करोड़ रुपया और १९५०-५१ में घट कर केवल २२·०१ करोड़ रह गया। इस सुधार का कारण केवल अवमूल्यन ही नहीं है। इस पर भारत सरकार की व्यापार नीति का भी प्रभाव पड़ा जिसके अनुसार आयात व्यापार पर कड़ा नियंत्रण रखा गया। परन्तु यह कहा जा सकता है कि स्थिति और कीमतों में सुधार करने में अवमूल्यन का विशेष योगदान रहा। अभाग्यवश भारत थोड़े समय तक ही अवमूल्यन का लाभ उठा सका। भुगतान की प्रतिकूलता फिर १९५१-५२ में बढ़कर २०९·६३ करोड़ रुपये हो गई। इसका एक कारण यह भी था कि पाकिस्तान ने अपनी मुद्रा का अवमूल्यन नहीं किया था जिसका परिणाम यह हुआ कि आयात किए गये सामान, विशेषकर जूट और रुई, के लिए कीमतें अधिक देनी पड़ीं। इन वस्तुओं का आयात घटा देना पड़ा। इसका परिणाम यह हुआ आयात की गई इन वस्तुओं से निर्मित माल का उत्पादन व्यय बढ़ गया और उनका पर्याप्त मात्रा में न उत्पादन हो सका और न निर्यात। इससे भारत आशा के अनुसार अवमूल्यन का लाभ उठा सकने से वंचित रह गया।

यह विचारणीय बात है कि भारत के सम्बन्ध में अवमूल्यन से प्राप्त लाभ का इतना शीघ्र अन्त हो गया पर अन्य २८ राष्ट्र जिन्होंने भी अवमूल्यन किया था निरन्तर लाभ उठाते रहें हैं। अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष ने अपनी ३० अप्रैल १९५० की रिपोर्ट में यह संकेत किया है कि अवमूल्यन के ६ महीने पश्चात् विश्व के अन्य राष्ट्रों ने ७० करोड़ डालर स्वर्ण अथवा डालर रिजर्व के रूप में यूनाइटेड स्टेट्स से प्राप्त किये। स्टर्लिङ्ग क्षेत्र का ही स्वर्ण और डालर रिजर्व जून १९४९ में १ अरब ६८ करोड़ ८० लाख डालर की मात्रा से २ अरब ४२ करोड़ २० लाख डालर १९५० की जून में हो गया। यूरोपीय तथा अन्य राष्ट्र मण्डलीय देशों को अवमूल्यन का लाभ इसलिये मिलता रहा कि इन देशों में उत्पादन की मात्रा बराबर बढ़ती रही और वे भारत के विपरीत निर्यात बढ़ाते रहे। भारत में आयात किये हुये माल की ऊँची कीमत, मुद्रास्फीति की स्थिति, सरकार की दोषपूर्ण औद्योगिक नीति तथा अन्य ऐसे कारणों से औद्योगिक उत्पादन अधिक नहीं बढ़ाया जा सका और पर्याप्त मात्रा में निर्यात नहीं किया जा सका।

सरकार का आठ-सूत्री कार्यक्रम—रुपये के अवमूल्यन के साथ ही

सरकार ने आठ सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की जिसमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं— (१) विदेशी-विनिमय में देश के व्यय को न्यूनतम करने के उद्देश्य से व्यापार की नई नीति अपनाई जाय; (२) १९४९–५० के चालू वर्ष में बजट के व्यय की रकम में ४० करोड़ रुपये की कमी की जाय और आगामी वर्ष ८० करोड़ रुपये की कमी की जाय; (३) आवश्यक वस्तुओं, खाद्यान्न इत्यादि की कीमत में १० प्रतिशत की कमी की जाय; (४) उन देशों से आयात किए गये औद्योगिक सामान की कीमतों को घटाने के लिए देश की लेन देन की शक्ति का पूरा लाभ उठाया जाय जिन देशों की मुद्रा की कीमत भारत की तुलना में बढ़ गई है, (५) राष्ट्रीय बचत और उसको उद्योग में लगाने के आन्दोलन को बढ़ाया जाय और ग्राम्य क्षेत्रों में बैंकिंग की उपयुक्त व्यवस्था करने के लिए सरकारी सहायता की व्यवस्था की जाय; (६) युद्ध के समय कमाये गये लाभ पर कर की अदायगी के झगड़ों को स्वेच्छापूर्वक हल कर सकने की सुविधा बढ़ाई जाय; (७) दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र को निर्यात किए जानेवाले सामान पर चुंगी (customs) लगाई जाय; (८) कानूनी तथा अन्य उपायों से साख निर्माण की सुविधाओं पर प्रतिबन्ध लगाकर सट्टेबाजी से कीमतों के बढ़ने की प्रवृत्ति को रोका जाय। इस विस्तृत कार्यक्रम का उद्देश्य भारत में मुद्रास्फीति को रोकना था जो आयात नीति के सरकारी प्रतिबन्धों और रुपये का अवमूल्यन करने से आयात घट जाने के कारण जोर पकड़ती जा रही थी। परन्तु यह आठ सूत्री कार्यक्रम कागजी-योजना मात्र रहा। इसे कभी व्यवहारिक रूप नहीं दिया जा सका। अवमूल्यन के पश्चात भारत में मुद्रास्फीति और अधिक बढ़ गई और उपभोक्ताओं को बहुत कठिनाइयाँ सहनी पड़ी। भारत सरकार का अधिक-अन्न-उपजाओ आन्दोलन उतना सफल नहीं हुआ जितनी आशा की जाती थी। भारत को विदेशों से खाद्यान्न मँगाने में बहुत अधिक व्यय करना पड़ा। अवमूल्यन से आयात की गई वस्तुओं की कीमतें बहुत अधिक बढ़ गईं।

पुनर्मूल्यन (Revaluation)—अवमूल्यन के पश्चात भारत की आर्थिक स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक बिगड़ गई और मुद्रास्फीति की समस्या को हल करना ही प्रमुख समस्या बन गई। मुद्रास्फीति के कारणों को दूर करने के लिये यह सुझाव दिया गया कि रुपये का पुनर्मूल्यन किया जाना चाहिये अर्थात् रुपये के विनिमय अर्घ में वृद्धि की जानी चाहिए। डाक्टर जान मथाई ने यह तर्क दिया कि यदि रुपये के पुनर्मूल्यन का मुख्य उद्देश्य मुद्रास्फीति को रोकना है तो यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या इसके लिए देश के अन्दर ही कोई कार्यवाही करना उपयुक्त नहीं होगा? इसका उत्तर यह है कि वर्तमान में मुद्रास्फीति को रोकने के

लिए स्वदेश में जिन तरीकों का उपयोग किया जा सकता है सम्भवतः वह उपयोग शीघ्र ही लागू नहीं किये जा सकते। कर इतने अधिक लगा दिये गये हैं कि अब उनसे हानि होने लगी है, स्वेच्छा से बचत करने की योजना सफल होना अत्यन्त कठिन है और अनिवार्य बचत की योजना लागू करने में अनेक प्रशासन सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ेगा। सरकार द्वारा अधिक प्रयत्न करने पर भी सरकारी व्यय में बचत कर सकने की कोई सम्भावना नहीं है। साख पर नियंत्रण रखकर अन्य देशों ने मुद्रास्फीति को रोकने का प्रयत्न किया परन्तु इस प्रश्न को भारत में लागू करने की सम्भावना बहुत कम है। सट्टेबाजी में रुपया विशेष रूप से ऐसे सूत्रों में लगाया जाता है जिनको कानूनी मान्यता प्राप्त नहीं है। इसके लिए प्रायः बुलियन बेचकर या बैंकिंग प्रणाली के अन्तर्गत न आनेवाले साहुकारों से रुपया उधार लेकर लगाया जाता है। कर से बचने की नियत से छिपाकर रखा हुआ रुपया भी प्रायः सट्टेबाजी के ही काम में लाया जाता है। यदि सरकार या रिजर्व बैंक इन सूत्रों से प्राप्त होने वाले रुपयों पर नियंत्रण रखने की कोशिश करे तो सफलता मिलना संभव नहीं है। जिन विकास योजनाओं को इस समय लागू किया गया है उनके उत्पादन की स्थिति तक पहुँचने में काफी समय लगेगा और दूसरी ओर कच्चे माल के अभाव से और पूँजी के अभाव से वर्तमान उद्योगों के प्रसार में रुकावट पैदा हो गई है। कीमतों पर नियंत्रण रखने की नीति प्रशासन की दृष्टि से अत्यन्त कठिन है परन्तु वास्तव में यह मुद्रास्फीति को रोकने का उपाय नहीं है यह केवल मुद्रास्फीति के कुछ लक्षणों को दूर करता है। इन सारी बातों को ध्यान में रखते हुए भारत में मुद्रास्फीति को रोकने के लिए डाक्टर मथाई ने रुपये के पुनर्मूल्यन का सुझाव दिया।

रुपये के पुनर्मूल्यन के विरोधियों का मत है कि विश्व की वर्तमान अस्थिर स्थिति इसके लिए उपर्युक्त नहीं है और भारत इस सम्बन्ध में अलग कोई निर्णय नहीं कर सकता। श्री चिन्तामणि देशमुख ने अप्रैल १९५१ में संसद में बताया कि रिजर्व बैंक के विशेषज्ञों का मत है कि रुपये का १५ प्रतिशत पुनर्मूल्यन करने से भुगतान के सन्तुलन में लगभग ५० करोड़ रुपये का घटा होगा, यदि ३० प्रतिशत पुनर्मूल्यन किया जाय तो प्रायः १ अरब ३५ करोड़ रुपये का घाटा होगा। यदि मुद्रा का पुनर्मूल्यन न किया जाय तो सम्भवतः स्थिति पर नियंत्रण रखा जा सकेगा। यह खेद की बात है कि वित्त मन्त्री ने उन बातों पर प्रकाश नहीं डाला जिनके अधार पर रिजर्व बैंक के विशेषज्ञ उक्त निराशाजनक परिणाम पर पहुँचे। सम्भवतः भारत के निर्यात को वे जितना वास्तव में है उससे अधिक परिवर्तन-शील (Elastic) समझे थे। जिन वस्तुओं का भारत निर्यात करता है उनमें से कुछ

निम्नलिखित हैं— जूट का सामान, सूती कपड़ा, चाय, चमड़ा, तिलहन, मसाले, अबरक, मैगनीज और लाख। १६५१ में जूट और रुई की वस्तुओं की माँग की काफी संभावना थी और विश्व बाजार की कीमतें भारतीय कीमतों से कहीं ऊँची थीं। जूट और रुई की वस्तुओं का बाजार भारत के लिए खुला था। इसी कारण भारत सरकार निर्यात की मात्रा में भारी कमी किए बिना इन वस्तुओं पर अधिक निर्यात कर लगा सकी। यदि रुपये का पुनर्मूल्यन करने से रुपये में इन वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है और निर्यात कर या तो नहीं लगाया जाता या उसकी दर में कमी कर दी जाती है तो ऐसी संभावना है कि इन वस्तुओं की भारतीय कीमतें फिर भी विश्व बाजार की कीमतों के अन्दर ही रहतीं। इस सम्बन्ध में एक यह महत्वपूर्ण बात ध्यान देने योग्य है कि रुपये का पुनर्मूल्यन करने से इन वस्तुओं का उत्पादन करने के लिए पाकिस्तान से कच्चा माल सस्ते दामों में मिल सकता था। इससे उत्पादन व्यय कम हो जाता और यह आवश्यक नहीं था कि इनकी निर्यात कीमतें रुपये के विनिमय अर्घ के बराबर ही बढ़तीं। यही बात कुछ सीमा तक चमड़े और तिलहन पर लागू होती थी। यह संभव था कि हमारी चाय और कुछ छोटी-मोटी वस्तुओं की निर्यात-मात्रा गिर जाती। परन्तु फिर भी यह असंभव था कि रुपये का ३०% पुनर्मूल्यन करने से भारत को भुगतान की अदायगी में १३५ करोड़ रुपये का घाटा उठाना पड़ता।

पुनर्मूल्यन की नीति के विरुद्ध यह भी कहा गया है कि पाकिस्तान अपने कच्चे माल की कीमतें बढ़ा देगा और इससे भारत रुपये का पुनर्मूल्यन करने के लाभ से वंचित रह जायगा; मशीनों इत्यादि का विक्रय करनेवाले देश जिनके माल की व्यक्तिगत और सरकारी योजनाओं के लिये अत्यन्त आवश्यकता है और जो मूल्य वसूलने में भेदभाव करते हैं, क्योंकि उनकी संख्या कम है, रुपये के पुनर्मूल्यन के लाभ का अधिकांश स्वयं ले लेंगे और भारत को अधिक लाभ नहीं हो सकेगा। परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि रुपये का पुनर्मूल्यन हो जाने से ही उक्त परिणाम होंगे। वर्तमान समय में भारत को मशीन इत्यादि सामान का निर्यात करने वाले और जूट तथा रुई का निर्यात करनेवाले पाकिस्तानी व्यापारी जो कच्चा माल देते हैं अपनी क्षमता के अनुसार अधिकतम कीमतें वसूल रहे हैं और केवल रुपये का पुनर्मूल्यन हो जाने से वह कीमतों को और अधिक बढ़ा सकने में असमर्थ होंगे।

रुपये का वर्तमान मूल्य चाहे वह उचित या अनुचित जो कुछ भी रहा हो अब स्थिर सा हो गया है। अन्य राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ पाकिस्तान द्वारा रुपये के अवमूल्यन न करने से भारत के लिये कुछ कठिनाई अवश्य हो गई थी। पर यह कठिनाई भी सितम्बर १६५५ में पाकिस्तानी रुपये के अवमूल्यन से और

भारत के रुपये के बराबर आ जाने से दूर हो गई। वर्तमान परिस्थिति में रुपये के पुनर्मूल्यन का प्रश्न ही नहीं उठता, जब तक कि भारत के विदेशी व्यापार की स्थिति में ऐसा परिवर्तन न हो जाय कि पुनर्मूल्यन करना अत्यन्त आवश्यक हो जाय अथवा विश्व के अन्य देश अपनी मुद्रा का मूल्य बदल दें और उसके परिणाम स्वरूप भारत के लिये भी पुनर्मूल्यन पर फिर से विचार करना आवश्यक न हो जाय। वर्तमान परिस्थिति में तो रुपये के विनिमय मूल्य का प्रश्न ऐतिहासिक महत्व का ही रह गया है।

अध्याय ४२

विदेशी विनिमय संकट

भारतीय विदेशी विनिमय संकट का अर्थ यह है कि जितना धन हमें विदेशों से अपने निर्यात, प्राप्त ऋण, सहायतार्थ प्राप्त धन तथा विदेशियों द्वारा भारत में किये गये व्यय के लिये प्राप्त होता है उससे कहीं अधिक मात्रा में धन का विदेशों को उनसे किये गये आयात, ऋण के भुगतान, अन्य भुगतान तथा भारत द्वारा विदेशों में किये गये व्यय के लिये देने का प्रबन्ध करना है। पिछले दो वर्षों से भारत में ऐसा ही संकट उत्पन्न हो गया है। १९५६-५७ में जब कि भारत का दायित्व पक्ष १२०५.७ करोड़ रुपया और आदेय पक्ष ८९८.९ करोड़ रुपया था भारत के भुगतान संतुलन में ३०६.८ करोड़ रुपयों का घाटा था, जो कि १९५७-५८ में और अधिक बढ़कर ३७६.९ करोड़ रुपया हो गया क्योंकि दायित्व पक्ष में १२८५ करोड़ रुपया और आदेय पक्ष में ९०८.२ करोड़ रुपया हो गया था। इसके परिणामस्वरूप विदेशी आदेय पक्ष १९५६-५७ में २३० करोड़ रुपयों से और १९५७-५८ में २४२ करोड़ रुपयों से कमी आ गयी।

भारत के पौंड पावने की मात्रा जो कि देश के विभाजन के पहिले १७३३ करोड़ रुपये और विभाजन के पश्चात् १५१६ करोड़ रुपये थी धीरे-धीरे घटती रही है। फिर भी १९५५ के अन्त में उसकी मात्रा ७३५ करोड़ रुपये और १९५६ के मार्च महीने के अन्त में ७४६ करोड़ रुपये थी। परन्तु विदेशी विनिमय संकट के कारण पौंड पावने की मात्रा घट कर २६७ करोड़ रुपया १९५८ के मार्च के अन्त में और अगस्त १९५८ के अन्त में १८७ करोड़ रुपया हो गयी।

यह आशा की जाती थी कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना द्वारा दिये गये औद्योगीकरण पर जोर के कारण व्यक्तिगत क्षेत्रों द्वारा सरकारी तथा मशीनरी, कच्चे माल तथा तांत्रिक ज्ञान के आयात में वृद्धि होने से भारत के विदेशी विनिमय साधनों पर भार आदि अधिक बढ़ जायगा। योजना आयोग की आशा थी कि सम्पूर्ण योजना अवधि में अर्थात् १९५६-५७ से १९६०-६१ तक में कुल विदेशी विनिमय घाटा ११०० करोड़ रुपयों का होगा। द्वितीय योजना ने इस घाटे को २०० करोड़ रुपयों तक भारत के पौंड पावने की सहायता से पूरा करने का विचार किया था। यह आशा की जाती थी कि लगभग १०० करोड़ रुपयों का विनियोग विदेशी पूँजीपतियों द्वारा भारत के व्यक्तिगत क्षेत्र में किया जायगा और सरकार

योजना काल में ८०० करोड़ रुपये ऋण लेने में विदेशी सरकारों तथा संस्थाओं से विदेशों से प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगी।

यह संकट योजना बनाने वालों द्वारा अब द्वितीय योजना काल में विदेशी विनिमय की मात्रा का अनुमान कम लगाने तथा विदेशों से प्राप्त विदेशी विनिमय के साधनों का अनुमान अधिक लगाने के कारण की गई भूल का परिणाम है। यहाँ यह बता देना आवश्यक होगा कि योजना आयोग के अनुमान अंशतः स्वेज संकट, जिसके कारण अधिकांश योजनाओं की लागत बढ़ गई थी तथा पाकिस्तान और भारत के पारस्परिक सम्बन्ध में अनायास तनाव आ जाने के कारण भारत की सुरक्षा पर विदेशी विनिमय के आधार पर अधिक व्यय करने से प्रभावित हुये थे। परन्तु इन दोनों बातों का पूरा विचार रक्खा जाय फिर भी द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में भी विदेशी विनिमय की मात्रा का अनुमान, नितान्त निराधार है। प्रथम योजना काल में २९८ करोड़ रुपये भारत को विदेशी साधन के रूप में कोलम्बो प्लान, फोर्ड फाउन्डेशन, वर्ल्ड बैंक तथा कुछ विदेशों द्वारा सहाय्य के अन्तर्गत प्राप्त हुये थे जिसमें से भारत केवल २०४ करोड़ रुपयों का ही प्रयोग मार्च १९५६ तक कर सका यह आशा करना कि ८०० करोड़ रुपये विदेशी स्रोतों के रूप में द्वितीय योजना काल में प्राप्त होंगे जबकि प्रथम योजना काल में २९८ करोड़ रुपये ही प्राप्त हुये थे उचित नहीं मालूम पड़ता। योजना आयोग भी यह समझने में भूल कर गया कि खाद्यान्न का आयात भारत के विदेशी विनिमय स्रोतों के लिये अत्यधिक भार उपस्थित करेगा जैसा कि द्वितीय योजना के प्रथम और द्वितीय वर्ष में ही लक्षित होता था।

योजना आयोग तथा सरकार की दूसरी बड़ी भूल जिसने इतना हमें इतने संकट में डाल दिया वह वार्षिक विदेशी विनिमय बजट का न होना था। योजना बनाने वालों को यह बात स्पष्टता समझनी चाहिये थी कि द्वितीय योजना में जिस मात्रा के विनियोग की आशा की गई थी उससे योजना के प्रारम्भिक काल में विदेशी विनिमय की माँग बहुत अधिक बढ़ जायगी। यदि विदेशी विनिमय का वार्षिक बजट बना लिया गया होता तो यह सम्भव होता कि हम अपने आयात का एक निश्चित क्रम बना लेते ताकि वे सारी गड़बड़ियाँ जो उपस्थित हुई न होने पातीं। यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि १९५५ के मध्य तथा १९५६ में मशीनों, कच्चे माल तथा उपभोक्ता की वस्तुओं के आयात के लिये व्यक्तिगत व्यापारियों द्वारा बड़ी मात्रा के लाइसेन्स प्राप्त कर लिये गये थे और यही सारे संकट का कारण था। व्यक्तिगत व्यापारियों को इसके लिये दोषी ठहराना अनुचित है क्योंकि वस्तु का निर्माण करने वालों तथा व्यापारियों के

लिये आवश्यक लाइसेन्स लेना नितान्त स्वाभाविक था जबकि द्वितीय योजना ने वृद्धिमान आर्थिक क्रियाओं की आशा दिलाई थी। भारतीय व्यापारियों ने सरकार को व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग की मात्रा बढ़ा कर पूर्ण सहयोग दिया इसलिये मशीनरी कच्चा माल तथा उपभोक्ता की वस्तुओं का अधिक आयात होना स्वाभाविक था। सारी कठिनाई इसलिये उत्पन्न हुई कि सरकार ने १९५६-५७ तथा १९५७-५८ के लिये विदेशी विनिमय बजट नहीं बनाया और इसलिये आयात तथा आयात लाइसेन्स देने का कोई उपयुक्त क्रम नहीं बना सका। इसका परिणाम इसलिये भारत के विदेशी विनिमय स्रोतों को महान घाटा हुआ। यह अनुमान लगाया गया है कि भारत को माल की पूर्ति करने वाले विदेशों को दिसम्बर १९५७ के अन्त तक ८०० करोड़ रुपयों से लगाकर १००० करोड़ रुपयों तक देना था। यह भुगतान विदेशी विनिमय में अगले ३ वर्षों में करना ही होगा। हमारे सामने अब समस्या ३५० करोड़ रुपया प्रतिवर्ष विदेशी विनिमय के रूप में इन दायित्वों का भुगतान करने के लिये विदेशी विनिमय की चालू आवश्यकता की मात्रा के अतिरिक्त प्राप्त करने की थी।

गम्भीर प्रश्न तो यह है कि इस संकट से मुक्ति पाने के लिये किया क्या जाना चाहिये? अखिल भारतीय आर्थिक सम्मेलन के ४० वें अधिवेशन में जो कि १९५७ में दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुई थी जी० बी० आर० शिनाय ने यह तर्क उपस्थित किया था कि विदेशी विनिमय के संकट को दूर करने के लिये भारतीय रुपये का अवमूल्यन किया जाना चाहिये। यह उन्होंने इस विचार से कहा था कि रुपये के आन्तरिक मूल्य में, जो कि बहुत अधिक मात्रा में गिर गया था क्योंकि विभिन्न वर्ग की वस्तुओं का मूल्य भारत में ३½ से लगा कर ६ गुना तक युद्ध काल के पूर्व के मूल्यों की तुलना में बढ़ गया था और वाह्य मूल्य में जो कि १ शि० ६ पेन्स पर जो कि १९२७ में नियत कर दिया गया था स्थिर रहा है समानता होनी चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि रुपये का अवमूल्यन रुपये के वाह्य और आन्तरिक मूल्यों में समानता ले आयेगा परन्तु हमें तो भारतीय विदेशी विनिमय संकट को दूर करना है। रुपये का अवमूल्यन इस समस्या को हल नहीं कर सकेगा वरन् उसे और अधिक जटिल बना देगा क्योंकि आयात की हुई मशीनों कच्चे माल और खाद्यान्न का मूल्य रुपयों में बढ़ जायगा और इस प्रकार द्वितीय योजना की वित्त व्यवस्था करने में अधिक बाधायें उपस्थित हो जायगी। यह भी कहा गया है कि आयात की वस्तुओं का भारत भूमि पर आ जाने पर मूल्य और उनके बाजार मूल्य में अन्तर है और रुपये का अवमूल्यन इस अन्तर को दूर कर देगा और आयात की हुई वस्तुओं

का मूल्य बढ़ न पायेगा। परन्तु आयात की हुई वस्तुओं के भारत में आ जाने पर मूल्य तथा उनके बिक्री मूल्य में अन्तर सभी वस्तुओं के सम्बन्ध में तो है नहीं और यदि रुपये का अवमूल्यन किया गया तो उन वस्तुओं के सम्बन्ध में जिनमें यह अन्तर नहीं है द्वितीय योजना की लागत बढ़ा देगा। क्योंकि अधिकांश वस्तुयें जैसे मशीनें, कच्चा माल और खाद्यान्न इस वर्ग में आती हैं रुपये का अवमूल्यन इसलिये कोई संतोष प्रद हल इस समस्या का नहीं है। इससे किसी सीमा तक निर्यात बढ़ सकता है क्योंकि भारतीय वस्तुओं का रुपये में बढ़ा हुआ मूल्य निश्चय ही उनके निर्यात में बाधक है। परन्तु भारतीय मूल्यों का ऊँचा स्तर एक मात्र अथवा मुख्य कारण भारतीय निर्यात के कमी का नहीं है। वस्तुओं के गुण तथा रूप को भी बाजारों में जहाँ भारतीय माल बिकता है आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यह भी प्रश्न है कि क्या हम जितनी मात्रा चाहिये उतना निर्यात कर भी सकते हैं? अवमूल्यन इन मामलों में सहायक नहीं हो सकता और सम्भवतः निर्यात भी अधिक नहीं बढ़ा सकता। जो कुछ भी हो अवमूल्यन बड़ा ही निराशावादी उपाय है और उसका प्रयोग तब तक नहीं करना चाहिये जब तक स्थिति उतनी निराशजनक न हो जाय। वर्तमान स्थिति ऐसी नहीं मालूम होती।

भारत सरकार एक ओर उपभोक्ताओं की तथा अनावश्यक वस्तुओं के आयात को कम करने तथा निर्यात को बढ़ाने की दोहरी नीति का अनुसरण कर रही है और दूसरी ओर विदेशी सहायता ने अपने विदेशी विनिमय के साधनों को बढ़ा रही है। इसमें संदेह नहीं कि यह नीति विदेशी विनिमय की कमी को पूरा कर देगी। परन्तु आयात पर प्रतिबन्ध वस्तुओं का आधिक्य निर्यात करने के लिये न होने देगा क्योंकि ऐसी दशा में लोग देश में ही उत्पादित वस्तुओं का उपभोग आयात की हुई वस्तुओं के स्थान पर करेंगे और इससे विदेशी विनिमय की आमदनी हमारी घट जायगी। इसके अतिरिक्त मशीन कच्चे माल तथा उपभोक्ताओं की आवश्यक वस्तुओं का आयात घटाने की एक सीमा है जिसके आगे यदि द्वितीय योजना को कार्यान्वित करना है और लोगों को उपभोक्ता की वस्तुओं की न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करना है। इस सीमा पर तो हम पहिले से ही पहुँच चुके है।

जहाँ तक निर्यात का सम्बन्ध है इनको बढ़ाने के लिये व्यक्तिगत और सरकारी प्रयत्न किये गये हैं। "सरकार ने अनेकों उपाय निर्यात बढ़ाने के किये हैं जिनमें से बहुत सी वस्तुओं पर निर्यात कर में कमी करना अथवा हटा देना, सूती कपड़ों और अण्डी तथा अलसी के बीजों के सम्बन्ध में स्वतंत्र रूप से लाइसेन्स देना, मूँगफली की मात्रा का जिसके निर्यात पर अभी तक रोक लगी हुई थी

निश्चित करना, तथा आयात की वस्तुओं के लिये आवश्यक वस्तुओं पर वसूले तटकर तथा वस्तु कर की वापसी की कार्य प्रणाली को सरल करना आदि अधिक प्रभाव शाली उपाय थे। एक निर्यात जोखिम बीमा कारपोरेशन की भी स्थापना की गई।" परन्तु ये उपाय पर्याप्त सिद्ध नहीं हुये और भारत के निर्यात को उसके वर्तमान स्तर से जो कि ६०० करोड़ रु० से लगाकर ७५० करोड़ रुपये तक प्रति वर्ष बढ़ाया नहीं जा सका जैसा कि द्वितिय योजना में सोचा गया था। इसके कारण निम्न थे—(i) भारत में आरोपित ऊँचे करके कारण निर्यात की भारतीय वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि (ii) निर्यात वस्तुओं के निर्माण के लिये कच्चे माल, रसायनिक द्रव्य तथा मशीनरी की आवश्यक मात्रा में अप्राप्यता, (iii) भारतीय काल की गुणों की दृष्टि से हीनता तथा उत्पादकों और निर्यात करने वालों की निर्यात भी वस्तुओं की पेकिंग तथा अन्य निर्यात बढ़ाने के लिये आवश्यक बातों के सम्बन्ध में असावधानी, (iv) यू० एस० ए० तथा योरप द्वारा अपने आयात इन दिनों घटाने की नीति तथा पूर्वीय तथा दक्षिण पूर्वीय देशों की निर्यात द्वारा आय की कमी, और (v) चीन तथा जापान द्वारा विशेष रूप से विदेशी बाजार में गहरी प्रति द्वन्दता का उपस्थित करना आदि। फिर भी यह कहा जा सकता है कि भारतीय निर्यात के बढ़ जाने की पूरी सम्भावना है यदि (क) निर्यात वस्तुओं को और भी अधिक छूट तटकरों और केन्द्रिय वस्तुकरों से प्रदान की जाय, (ख) कम्पनियों की आय पर आरोपित करों को घटा दिया जाय, (ग) उपयुक्त वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिये सरकार द्वारा सहायता दी जाय और (घ) आयात किये हुये कच्चे माल तथा मशीनों पर जिनकी निर्यात वस्तुओं के उत्पादन में आवश्यकता है तथा अन्य निर्यात की जाने वाली वस्तुओं का रेल का भाड़ा उपयुक्त सीमा तक कम कर दिया जाय।

भारत को अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष वर्ल्डबैंक तथा विदेशी सरकारों से उपयुक्त मात्रा में ऋण दिया गया है। सितम्बर १९५८ में योजना मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्द ने लोक सभा में कहा था कि भारत को अपनी द्वितीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये विदेशों से ८५९ करोड़ रुपयों की सहायता मिल गई हैं जिसमें से ४०० करोड़ रुपये यू० एस० ए० से, १२३ करोड़ रुपये सोवियट संघ से, और ७५ करोड़ रुपये पश्चिमी जर्मनी से प्राप्त हुये हैं। परन्तु इतने पर भी हमारे विदेशी विनिमय की कमी पूरी नहीं हो पाई और वह आज भी चल रही है।

इस समस्या को सुलझाने का एक प्रभावशाली ढंग भारत में विदेशी पूँजी के प्रवाह को प्रोत्साहन देना होगा। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि हाल के वर्षों में विदेशी पूँजी का भारत में प्रवाह बहुत कम हुआ है। रिजर्व बैंक आफ इन्डिया

की गणना के अनुसार १६५५ के दिसम्बर महीने के अन्त में विदेशी व्यापार विनियोग की मात्रा ४८१ करोड़ रुपये थी जो कि १६४८ के जुलाई के कारणों से १६३ करोड़ रुपये से अधिक थी। इसमें से १६५४ और १६५५ में हुई वृद्धि की मात्रा ६१ करोड़ रुपये थी। विदेशी व्यापार विनियोग के १६३ करोड़ रुपयों की वृद्धि जो कि वास्तव में केवल १६० करोड़ रुपयों की वृद्धि थी क्योंकि ३५ करोड़ की वृद्धि तो कम्पनियों के आदेयों के पुनर्मूल्यन का परिणाम था—७½ वर्ष की अवधि में होने से वार्षिक औसत बहुत ही कम ठहरता है। परन्तु जैसा कि भारतीय औद्योगिक डेलीगेशन ने—जिसने हाल में ही यू० एस० ए० कनाडा यू० के० फ्रान्स और पश्चिमी जर्मनी का दौरा किया है—बताया है कि यदि भारत में विदेशी पूँजी के लिये उचित वातावरण उत्पन्न कर दिया जाय तो विदेशी पूँजी के भारत में अधिक मात्रा में प्रवाहित होने की बहुत सम्भावना है। यह सुझाव भारत सरकार के समक्ष एक बड़ी द्विविधा की बात उपस्थित करता है। यदि विदेशी पूँजी को आकर्षित करने के लिये करों को घटा दिया जाय तो योजना का अपने वर्तमान् रूप में कार्यान्वित किया जाना और भी अधिक कठिन हो जायगा क्योंकि सरकार की आय घट जायगी और यदि करों को घटाया नहीं जाता तो विदेशी पूंजी के भारत में प्रवाहित होने की सम्भावना नहीं होती और योजना का कार्यान्वित होना कठिन हो जायगा। इस समस्या का सुझाव यह है कि द्वितीय योजना को विनियोग की दर घटा कर काट देना चाहिये ताकि सरकार की कम आय द्वितीय योजना के कार्यान्वित करने के लिये पर्याप्त हो सके। द्वितीय योजना को काट देने से सरकार के लिये यह सम्भव हो सकेगा कि वह करों में ऐसी कमी कर सके जिससे विदेशी पूँजी आकर्षित हो। एक बार यदि भारत सरकार कर घटाने की आवश्यकता मान लेती है तब फिर कौन-कौन से कर घटाये जाने चाहिये इसका सुझाव उपस्थित कठिन न होगा। एप्लाइड इकनमिक रिसर्च की नेशनल काउन्सल ने हाल के अपने एक अध्ययन में बताया है कि विदेशी व्यवसायिक संस्थाओ में व्यवस्था सम्बन्धी कर्मचारियों पर कर भार हल्का होना चाहिये और करों से मुक्ति प्रदान करने वालों उपायों जैसे घर जाने का अवकाश और बिना किराये के रहने का स्थान देना आदि पर से प्रतिबन्ध हटा लेना चाहिये। क्योंकि विदेशी कम्पनियों के विनियोग पर कर भारत में संसार भर से अधिक है इसलिये काउन्सिल ने यह सुझाव उपस्थित किया है कि विदेशी कम्पनियों पर आरोपित सूपरटैक्स को ३ आना प्रति रुपया घटा देना चाहिये और विदेशी कम्पनियों के लाभ द्वारा प्राप्त आय पर से तो सूपरटैक्स को पूर्ण रूप से हटा देना चाहिये। अधिक आय

पर, बोनस पर, सम्पत्ति कर तथा सक्सन २३ ए० के अनुसार कम्पनियों पर आरोपित करों में भी परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी। विदेशी पूंजीपतियों ने भारतीय औद्योगिक डेलीगेशन ने बताया था कि अपनी सरकार को भारतीय करों को देने के पश्चात् जो ५% की रायल्टी सरकार द्वारा उन्हें प्रदान की गई थी उससे उनके हिस्से में आय का केवल १'८% ही बचता था। यह आय विदेशी विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिये बहुत ही नगराय था। यदि आवश्यक कर छूट प्रदान कर दी जाय, और यदि विदेशी पूंजीपतियों के अधिकारियों द्वारा अनावश्यक परेशानियों से रक्षा की जाय, तो यह सम्भव है कि भारत में विदेशी पूंजी का प्रवाह बढ़ जाय। यह एक प्रभावशाली ढंग से हमारी विदेशी विनिमय कठिनाइयों को दूर करने में समर्थ हो सकेगा।

अध्याय ४४

पौण्ड पावना

द्वितीय विश्व युद्ध के समय और उसके बाद भारत के नाम पौण्ड पावना जमा होता गया जो भारतीय रिजर्व बैंक के हिसाब में लन्दन में जमा है। साधारण तौर पर केन्द्रीय बैंक विदेशी मुद्रा रखते हैं परन्तु पौण्ड पावने की स्थिति इस विदेशी मुद्रा से कुछ भिन्न है क्योंकि भारतीय रिजर्व बैंक आसानी से पौण्ड पावने को खर्च नहीं कर सकता। यह राशि भारत और ब्रिटेन की सरकारों की सहमति से ही खर्च की जा सकती है।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय और उसके बाद भारत के नाम पौण्ड पावना जमा होने के अनेक कारण हैं (१) ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रिजर्व बैंक कानून की एक व्यवस्था का उपयोग किया जिसके अनुसार रिजर्व बैंक पौण्डों का रुपयों में विनिमय करने को विवश था। ब्रिटिश सरकार ने यह धनराशि अपने युद्ध के लिए भारत में व्यय की। इस प्रकार लन्दन में पौण्ड भारत के हिसाब में जमा होते गये और इसके परिणामस्वरूप जो मुद्रास्फीति बढ़ी उससे भारतीय जनता को अनेकों कष्टों का सामना करना पड़ा। (२) भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार की ओर से जो कुछ व्यय किया वह पौण्डों में चुकाया गया। यह पौण्ड भी भारत के पौण्ड पावने के हिसाब में जमा हो गये। (३) युद्धकाल में भारत के अनुकूल व्यापार सन्तुलन से और विनिमय नियंत्रण से जिसके अनुसार भारत को अपनी विदेशी मुद्रा का हिसाब रिजर्व बैंक को सौंप देना पड़ता था भारत के पौण्ड पावने के हिसाब में और वृद्धि हुई। इस प्रकार यह पौंड पावने की राशि भारत द्वारा विवश होकर की गई बचत के समान है क्योंकि भारतीयों को पौण्ड पावना जमा होने की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप फैली मुद्रास्फीति के कारण अपने रुपयों के मूल्य के बराबर पर्याप्त सामान नहीं मिल सकता था।

पावना घटाने का प्रयत्न—ब्रिटिश सरकार ने पौण्ड पावने की राशि को कम करने का प्रयत्न किया परन्तु वह असफल रही। ब्रिटिश सरकार की इस नीति से देश में काफी असन्तोष फैला। वास्तव में पौंड पावने को घटाने की माँग का आँग्ल-अमरीकी ऋण समझौते में निहित अमरीकी प्रस्ताव ने समर्थन किया। ब्रिटिश सरकार ने पावना घटाने के सम्बन्ध में अपने पक्ष में यह तर्क दिये कि—

(१) युद्ध का भार भारत की अपेक्षा ब्रिटेन पर कहीं अधिक पड़ा और चूँकि

युद्ध में दोनों साथ साथ थे और जापान के विरुद्ध लड़ाई में भारत की सुरक्षा का ही प्रश्न मुख्य रूप से निहित था इसलिये भारत सरकार को ही युद्ध के व्यय का अधिकांश भार स्वयं वहन करना चाहिये। चूँकि युद्ध में व्यय होने के कारण पौंड पावना जमा हुआ इसलिए उसमें कटौती करनी चाहिए जिससे व्यय का अधिकांश भार भारत वहन करे। परन्तु यह तर्क नहीं है। यह सत्य है कि युद्ध भारत और ब्रिटेन ने साथ-साथ लड़ा और भारत की जापानी आक्रमण से रक्षा की गयी। परन्तु यह भी उतना ही सत्य है, जैसा कि तब भारत के वायसराय ने भी स्वीकार किया, कि बिना भारत के सहयोग के ब्रिटेन की हार हो सकती थी और इसके भयंकर परिणाम होते। इसके साथ ही त्याग की समानता का मान देश की आर्थिक स्थिति होनी चाहिए जिसका ज्ञान देश के प्रति व्यक्ति की औसत आय और उसके रहन-सहन के स्तर से होता है। यह स्पष्ट है कि ब्रिटेन की जनता का स्तर भारतीय जनता से अधिक ऊँचा है। १६३६-४० में भारत का युद्ध सम्बन्धी व्यय केवल ५० करोड़ रुपया था और जापान के युद्ध में शामिल होने से पहले यह व्यय बढ़कर ७५ करोड़ रुपये हो गया। जापान के युद्ध में शामिल होने से भारत का युद्ध सम्बन्धी व्यय बहुत बढ़ा और १६४४-४५ में ४५० करोड़ रुपया हो गया। इससे स्पष्ट है कि जापान के युद्ध में भाग लेने के बाद भारत ने बहुत अधिक व्यय का भार वहन किया।

(२) ब्रिटिश सरकार का दूसरा तर्क यह था कि भारत ने ब्रिटिश सरकार को अधिक कीमत पर सामान बेचा जिससे यह पावना जमा होता गया और चूँकि यह कार्य अनुचित था इसलिये इसे पौंड पावना घटाकर ही ठीक किया जाना चाहिए। ब्रिटेन की राष्ट्रीय व्यय की जाँच करनेवाली संसदीय समिति ने पौंड पावने के प्रश्न की जाँच की और यह बात स्वीकार की कि भारत ने ब्रिटिश सरकार को उचित कीमत पर सामान बेचा है और इसमें किसी प्रकार का अनुचित लाभ नहीं लिया गया है। वास्तव में भारत ने ब्रिटिश सरकार को सामान बाजार-कीमत पर नहीं बल्कि बाजार कीमत से कम और नियंत्रित कीमत पर दिया। भारत को पहले सामान प्राप्त करना पड़ता था और तब ब्रिटिश सरकार के हाथ बेचना पड़ता था। इसलिए इस तर्क के आधार पर पौंड पावना घटाना किसी भी रूप में उचित नहीं है।

(३) पौण्ड पावना घटाने के सम्बन्ध में यह भी कहा गया कि ब्रिटेन को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है और वह पौण्ड पावना चुका सकने की स्थिति में नहीं है। यह बताया गया कि ब्रिटेन ऐसा निर्यात कर सकने में असमर्थ है जिसका उसको कुछ प्रतिफल न मिले। यह सत्य है कि युद्ध के

पश्चात् ब्रिटेन को बहुत कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, परन्तु यदि भारत और ब्रिटेन का मिलान किया जाय तो पता चलेगा कि भारत की स्थिति अपेक्षाकृत बहुत खराब है। इसलिए पौण्ड पावना घटाने का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस बीच में ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय भारत की राष्ट्रीय आय से काफी अधिक बढ़ी। यह अनुमान लगाया गया है कि यदि पौंड पावने की मद में से १० से १२ करोड़ पौंड प्रतिवर्ष चुकाया जाय तो इससे ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय में १ से १½ प्रतिशत की कमी आती है। यह कमी बहुत अधिक नहीं।

पौंड पावने के सम्बन्ध में बारबार जो प्रयत्न किये गये उनसे भारत में भारी असन्तोष फैला परन्तु अंत में ब्रिटिश सरकार की चेतना लौटी और अगस्त १९४८ मे वित्त मंत्री ने भारतीय संसद को बताया कि ब्रिटिश सरकार ने पौंड पावने के विवाद को समाप्त कर भारत को युद्ध कार्य में व्यय हुई ५ करोड़ ५० लाख पौंड की राशि चुकाना स्वीकार कर लिया है। भारत सरकार ने इसका यह ठीक अर्थ लगाया है कि इस धन राशि की वसूली द्वारा दोनों सरकारों के बीच पौंड पावने का हिसाब पूर्ण रूप से चुकता हो जायगा और पौंड पावना घटाने का प्रश्न फिर भविष्य में कभी नहीं उठेगा।

पौंड पावना समझौते

ब्रिटिश सरका के साथ समझौते के अनुसार ग्रेटब्रिटेन में भारत का जो हिसाब रुका हुआ था वह चालू खर्च के लिए खोल दिया गया। पौंड पावने की इस राशि में प्रतिवर्ष खर्च के लिए कुछ अंश देने के सम्बन्ध में १९४७ से अनेक समझौते किये गये।

१९४७ का समझौता—१४ अगस्त १९४७ को भारत सरकार और ब्रिटेन की सरकार के बीच ३१ दिसम्बर १९४७ तक के लिये एक वित्त समझौता किया गया। समझौते की शर्तों के अनुसार, जो १५ जुलाई से लागू हुईं, रिजर्व बैंक ने बैंक आफ इंगलैंड में दो खाते खोले थे—नम्बर १ (यह चालू खाता था) और नम्बर २ (यह बन्द खाता था)। १४ जुलाई १९४७ को भारतीय रिजर्व बैंक के नाम में कुल १ अरब १६ करोड़ पौंड जमा कर दिये गये। यह राशि नम्बर २ खाते में जमा हो गयी। शेष राशि ६ करोड़ ५० लाख पौंड नम्बर १ खाते में जमा कर दी गयी। इनमें से ३ करोड़ ५० लाख पौंड चालू खर्च के लिए और ३ करोड़ पौंड सुरक्षित कोष में जमा कर दिये गये। समझौते में यह व्यवस्था की गयी कि नम्बर १ खाते की राशि किसी भी सुलभ या दुर्लभ मुद्रा क्षेत्र से लेन-देन में काम लायी जा सकेगी और वर्तमान की आवश्यकता पूर्ति के लिए इसका

पूरा उपयोग किया जा सकेगा। यदि समझौते की तिथि के बाद चालू लेन-देन के लिए कुछ भी रकम पौंड में प्राप्त हो और यदि नम्बर २ खाते में से समझौते की धारा ४ और ७ के अनुसार कोई भी रकम मशीनों इत्यादि में व्यय की गई हो तो उसे नम्बर १ खाते में जमा कर दिया जायगा। नम्बर २ खाते की रकम चालू कारोबार में खर्च नहीं की जा सकती है। उसे केवल कुछ पूँजी की अदला-बदली में ही प्रयुक्त किया जा सकता है जिसके लिए दोनों देशों की सरकारें सहमत हों। इस व्यवस्था के अनुसार यह आवश्यक हो गया कि नम्बर १ खाते के व्यय पर नियंत्रण रखा जाय। यद्यपि भारत स्टर्लिंग क्षेत्र में ही रहा है फिर भी पौंड और पौंड क्षेत्र की मुद्राओं की अदायगी पर वही प्रतिबन्ध लगाये गये जो उन क्षेत्रों पर लागू हैं जिन्हें पौंड क्षेत्र नहीं कहा जाता है।

१९४८ का समझौता—१५ फरवरी १९४८ को ब्रिटिश तथा भारत सरकार के बीच पत्र-व्यवहार के द्वारा १९४७ के वित्त समझौते की अवधि ३० जून १९४८ तक बढ़ा दी गई। अवधि बढ़ाने के समझौते के अनुसार नम्बर २ खाते में जमा से १ करोड़ ८० लाख पोन्ड ३० जून १९४८ तक चालू खर्च के लिए नम्बर १ खाते में जमा कर दिया गया। पौण्ड पावना समझौता जिस पर १५ फरवरी १९४८ को हस्ताक्षर किये गये थे कुछ परिवर्तनों के साथ पुनः ३० जून १९५१ तक बढ़ा दिया गया।

जिस समय १९४८ का समझौता तीन वर्ष के लिए बढ़ाया गया तब यह निश्चय किया गया कि ८ करोड़ पौंड जो नम्बर १ खाते में जमा हैं ३० जून १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष के चालू खर्च के लिए दिया जायगा और जुलाई १९४८ से जून १९४९ तक कोई नयी रकम नहीं दी जायगी। इस बात पर दोनों पक्ष सहमत हुए कि अगले हर वर्ष में अर्थात् जुलाई १९४९ से जून १९५० और जुलाई १९५० से जून १९५१ तक ४ करोड़ पौंड चालू खर्च के लिए दिया जायगा। इस प्रकार भारत ने यह सोचा कि तीन वर्ष के अन्दर चालू खर्च के लिए १६ करोड़ पौंड की प्राप्ति हो जायगी। परन्तु अप्रत्याशित रूप से अत्यधिक आयात हो जाने के कारण चालू खर्च के लिए जो रकम बची वह अपर्याप्त रही। भारत सरकार का एक प्रतिनिधि मण्डल इंगलैंड गया और ब्रिटिश सरकार जून १९४९ को समाप्त होने वाले वर्ष के लिए ८ करोड़ १० लाख पौंड चुकाने के लिए सहमत हो गयी। पूर्व समझौते में इस वर्ष के लिए कोई रकम नहीं रखी गई थी। यह भी निश्चय किया गया कि मई १९४९ में रद्द हो जाने से पूर्व सरकारी लाइसेंस नम्बर ११ (O. G. L. XI) के अन्तर्गत देयधन चुकाने को ५ करोड़ पौंड और दिया जायगा। इसके साथ ही जून १९५० और जून १९५१ को समाप्त होनेवाले प्रतिवर्ष के लिए दी जाने वाली धनराशि ४ करोड़ पौंड से ५ करोड़ पौंड कर दी गयी।

भारत सरकार ने ब्रिटिश सरकार को गोदामों और कारखानों के लिए जिनकी कीमत ३७ करोड़ ५० लाख पौंड आँकी गयी है १० करोड़ पौंड कीमत चुकाई। इसके साथ ही केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों द्वारा दी जाने वाली पेन्शनों के सम्बन्ध में भारत सरकार ने क्रमशः १४ करोड़ ७६ लाख पौंड और २ करोड़ ५ लाख पौंड के साठ साल में अदा होने वाले वार्षिकी-पत्रों को पूँजी रूप में खरीदकर चुकाया। यह रकम भारतीय पौंड पावने की राशि में से चुकायी जिसके फलस्वरूप पावना इतना ही कम हो गया।

१९५१ का समझौता—पौंड पावना समझौते की अवधि जो जून १९५१ को समाप्त हो गयी थी, ३० जून १९५७ तक बढ़ा दी गई। इसके बाद यह समझौता समाप्त हो गया। इस समझौते के अन्तर्गत (१) ३१ करोड़ पौंड की रकम नम्बर २ खाते में से नम्बर १ खाते में जमा की गई। यह रकम भारतीय रिजर्व बैंक के नाम मुद्रा के सुरक्षित कोष के रूप में जमा हुई। (२) यह भी व्यवस्था की गयी कि १ जुलाई १९५१ से आरम्भ होने वाले वर्ष के बाद अगले ६ वर्षों में से प्रत्येक वर्ष में अधिक से अधिक ३ करोड़ ५० लाख पौंड नम्बर २ से नम्बर १ खाते में जमा किया जायगा। परन्तु इसमें यह शर्तें लगायी गयीं कि (अ) इस रकम की अदला-बदली इस उद्देश्य से की जायगी कि नम्बर १ खाते में न्यूनतम रकम ३४ करोड़ पौंड बनी रहे या दोनों सरकारों के बीच बातचीत होने के बाद इसमें कम राशि भी जमा रह सकती है, (ब) यदि ३ करोड़ ५० लाख पौंड में से कुछ अंश १२ महीने की अवधि में नम्बर १ खाते में जमा नहीं की गई तो उसे अगले वर्ष में जमा की रकम में जोड़ दिया जायगा, (स) यदि भारत सरकार को यह अनुभव हो कि १२ महीनों के अन्दर किसी समय नम्बर २ खाते से ३ करोड़ ५० लाख पौंड से अधिक जाने वाली रकम की आवश्यकता है तो अगले वर्ष में नम्बर १ खाते में जमा की जाने वाली रकम में से ५० लाख पौंड तक दोनों सरकारों में बिना किसी प्रकार के विचार विमर्श के लिया जा सकता है। यदि भारत सरकार का अनुमान हो कि इससे अधिक रकम की आवश्यकता होगी तो इस सम्बन्ध में दोनों सरकारें परस्पर विचार विमर्श करेंगी और (द) ३० जून १९५७ को नम्बर २ खाते में जो जमा रकम बचेगी वह स्वाभाविक ही नम्बर १ खाते में जमा कर दी जायगी।

१९५१ के समझौते के अनुसार जो कार्य हुआ उससे पता चलता है कि चालू खर्च के लिए जो पौंड प्राप्त थे उनका उपयोग नहीं किया जा सका। जून १९५१ के अंत तक जो रकम जमा की गई थी उसमें से १ जुलाई १९५१ को नम्बर १ खाते में ६ करोड़ पौंड की रकम खर्च न हो सकने से बच गयी थी। इसके बाद जून १९५२ और जून १९५३ में ३ करोड़ ५० लाख पौंड और जमा कर देने

से चालू खर्च के नम्बर १ खाते में १६ करोड़ पौंड की रकम जमा हो गयी। यदि भारत ने इस सारी रकम का उपयोग कर लिया होता तो पौंड पावने की कुल रकम जो १ जुलाई १९५१ को लगभग ८५७ करोड़ रुपये (६४ करोड़ ३० लाख ६० हजार पौंड) थी, ६४४ करोड़ रुपये (४८ करोड़ ३० लाख ६० हजार पौंड) रह जाती। परन्तु ३ जुलाई १९५३ को भारत के नाम पौंड पावने की वास्तविक रकम ७१२ करोड़ रुपया (५३ करोड़ ३६ लाख ८० हजार पौंड) जमा थी। इस प्रकार नम्बर १ खाते में ५ करोड़ ६ लाख २० हजार पौंड की रकम खर्च होने से बच रही। ३ करोड़ ५० लाख पौंड प्रतिवर्ष के हिसाब से चार वर्ष में नम्बर २ खाते से नम्बर १ खाते में जून १९५७ तक १४ करोड़ पौंड जमा हो जायँगे। इस तरह जून १९५७ के अंत तक चालू खर्च के लिये १९ करोड़ ६ लाख २० हजार पौंड की रकम मिलेगी।

फरवरी १९५२ में भारत तथा ब्रिटिश सरकार के बीच पत्र-व्यवहार के फलस्वरूप १९५१ के पौंड पावना समझौते की अवधि ३० जून १९५७ तक बढ़ा दी गयी थी। जुलाई १९५३ में दोनों सरकारों ने विधिवत समझौते पर हस्ताक्षर करके वर्तमान समझौतों को निश्चित रूप दे दिया। १९५३ का समझौता केवल विधि के निर्वाह के लिए किया गया। इसमें पौंड पावने की अदायगी के सम्बन्ध में पूर्व समझौतों में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया। नम्बर २ खाते से नम्बर १ खाते में पौंड की राशि १९५१ के समझौते के अनुसार बदली जायगी और ३० जून १९५७ को नम्बर २ खाते में जो कुछ रकम शेष होगी वह स्वभाविक ही चालू खर्च के लिए नम्बर १ खाते में जमा हो जायगी।

आलोचनाएँ—पौंड पावना समझौते के सम्बन्ध में आलोचकों का मत है कि चालू व्यय के लिए जो रकम निर्धारित की गई है वह भारत की आवश्यकताओं को देखते हुए अपर्याप्त है। पूर्व के समझौते अल्पकालिक थे जिससे इस राशि का उपयोग करने के लिए दीर्घकालिक योजना नहीं बनायी जा सकी थी। परिणाम यह हुआ है कि भारत की जनता के अपार कष्ट सहने के बाद जो पौंड पावने की राशि जमा हुई वह उपभोग के सामान का क्रय करने में या कुछ अन्य कार्यों में व्यय होती गयी और इसका उपभोग मशीनों, टेकनिकल सामान और अन्य उत्पादन में सहायक सामानों का आयात करने में नहीं किया जा सका। १९५३ का समझौता दीर्घकालिक है और इस रूप में पूर्व समझौतों से अधिक अच्छा है। परन्तु इसके अन्तर्गत भी चालू खर्च के लिये जो वार्षिक रकम निर्धारित की गई है वह पर्याप्त नहीं है। कुछ वर्षों में तो भारत को जो थोड़ी-बहुत रकम पर्याप्त हुई उसका भी उपयोग नहीं किया जा सका। परन्तु इसका

तात्पर्य यह नहीं है कि वह रकम आवश्यकता से अधिक थी। इससे केवल यह पता चलता है कि समझौता अल्पकालिक होने के कारण भारत इस राशि के व्यय की कोई योजना नहीं बना सका इसलिए यह बकाया बच रही। भारत में यह प्रायः सुझाया गया है कि पौंड पावना समझौते में यह शर्त भी रखी जाय कि भारत को चालू खर्च के लिए प्रति वर्ष जो राशि दी जायगी उसके कुछ अंश से ब्रिटिश सरकार उचित कीमत पर बड़ी मशीनें इत्यादि खरीद कर भारत को दे। परन्तु ब्रिटिश सरकार ने यह शर्त कभी स्वीकार नहीं की। इस कारण इस पौंड पावने की राशि का भारत के औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देने में उपयोग नहीं किया जा सका।

पूर्व समझौतों के अनुसार प्रतिवर्ष जितनी राशि भारत को चालू खर्च के लिए दी गई यदि उसका निश्चित अवधि के भीतर उपयोग नहीं किया गया तो बाद में आवश्यकता पड़ने पर उस धन को व्यय नहीं किया जा सकता था और न तो आवश्यकता पड़ने पर अधिक धन दिया जाता था। इससे समझौता कुछ स्थिर सा हो गया था इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन नहीं किया जा सकता था। बाद के समझौतों में यह दोनों दोष दूर कर दिए गये हैं और यदि एक वर्ष में निर्धारित रकम खर्च न की जा सकी तो उसे अगले वर्ष के लिए निर्धारित चालू खर्च की रकम में जोड़ दिया जाता है और कभी आवश्यकता पड़ने पर निर्धारित राशि से अधिक भी प्राप्त किया जा सकता है।

समझौतों के विरुद्ध एक गंभीर आरोप यह लगाया जाता है कि भारत के नाम जमा पौंड पावने की राशि पर भारत को बहुत कम ब्याज दिया जाता है। ब्याज की औसत दर ०·७८ प्रतिशत प्रतिवर्ष पड़ती है। आज जब कि भारत तथा ब्रिटेन में बैंक के ब्याज की दर बढ़ा दी गई है और प्राय: सभी ब्याज बढ़े हैं तब पौंड पावने की राशि पर भारत को दिया जाने वाला ब्याज बहुत कम है। भारत सरकार ब्रिटिश सरकार से यह ब्याज की दर बढ़वाने में असफल रही है और न वह यह अनुमति प्राप्त कर सकी है कि इस पावने को अधिक आय वाले ऋणपत्रों में लगाया जाय।

यह कहा गया है कि भारत में ब्रिटेन के युद्ध सम्बन्धी कार्यों में और पेन्शन इत्यादि में बहुत अधिक धन खर्च किया गया है जिससे पौंड पावने की राशि घट गई है। परन्तु इस आलोचना में विशेष तथ्य नहीं है।

बार-बार यह सुझाव दिया जाता रहा है कि पौंड पावने राशि को भारत में ब्रिटिश कारखाने इत्यादि को अनिवार्य रूप से लेने (Compulsory acquisition) में खर्च किया जाय परन्तु यह कार्य भारत की औद्योगिक नीति के विरुद्ध है

भारत की औद्योगिक नीति में देश के विकास के लिए विदेशी उद्योगों को उपयुक्त स्थान दिया गया है। इस सुझाव का भारत सरकार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

भारत के नाम जमा पौंड पावने की कुल रकम विभाजन से पहले १,७३३ करोड़ रुपये थी और विभाजन के पश्चात् १,५१६ करोड़ रुपये थी। इसमें से अधिकांश उपभोग के सामानों और अन्य सामानों पर खर्च किया गया और दिसम्बर १९५१-५२ में रिजर्व बैंक के हिसाब में पौंड पावने के रकम ६६१ करोड़ रुपयों से घट गई। यह कमी होने की प्रवृति जुलाई १९५२ तक चलती रही और पौण्ड पावना केवल ६७३ करोड़ रुपयों का ही रह गया। इसके बाद से स्थिति बदली और १९५३ के तीसरे चरण में पौंड पावना लगभग ७०० करोड़ रुपया हो गया। १९५५ के अन्त में पौंड पावना ७३५ करोड़ रुपया हो गया था जबकि १९५४ में केवल ७३१ करोड़ रुपया था। हाल के विदेशी विनिमय के संकट के फलस्वरूप करेन्सी के सुरक्षित कोष को छोड़कर भारत के पौण्ड पावने लगभग समाप्त हो गये हैं। १९५६-५७ के प्रारम्भ में पौण्ड पावने की राशि ७४८ करोड़ रुपया थी किन्तु १९५८-५९ के प्रेरणा में यह घटकर २६७ करोड़ रुपया की हो गई।

अध्याय ४५

हुण्डी बाजार

अतीत में भारतीय द्रव्य बाजार में उचित रीति से संगठित हुण्डी बाजार का अभाव रहा है। हुण्डी बाजार का किसानों तथा व्यापारिक बैंकों के लिए बहुत अधिक महत्व है। हुण्डी बाजार से सामान को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने में सहायता मिलती है क्योंकि सामान के विक्रेता को खरीद से कीमत मिलने के पहले ही उसके सामान की कीमत मिल जाती है। फसल को अन्यत्र भेजने के लिए किसानों को अल्पकालिक वित्त सहायता दी जाती है। बैंक व्यवस्था में अल्पकाल के लिए जमाधन को हुण्डी बाजार के द्वारा कई कार्यों में लगाया जा सकता है। भारतीय केन्द्रीय बैंकिंग जाँच समिति (१९३१) ने हुण्डी बाजार के महत्व को समझकर उसका विकास करने के लिए अनेक सुझाव दिये परन्तु कुछ समय पहले तक भारतीय रिजर्व बैंक ने इसे बढ़ावा देने के सम्बन्ध में कुछ भी कार्यवाही नहीं की। हुण्डियों के लिए पहले मुलतानी हुण्डी के रूप में स्वदेशी बाजार की सुविधा प्राप्त थी परन्तु अनुमान है कि इस प्रकार की हुण्डियों का कुल कारोबार किसी समय भी १० करोड़ रुपये से अधिक नहीं बढ़ सका जबकि व्यस्त कारोबार के समय भारतीय द्रव्य बाजार को १५० करोड़ रुपये की आवश्यकता होती है।

उचित रीति से संगठित हुण्डी बाजार का अब तक विकास नहीं हो पाया है क्योंकि (१) १९३७ और १९४१ में रिजर्व बैंक ने स्वदेशी बैंकरों को हुण्डियों के भुनाने की इस शर्त पर सुविधा देने की स्वीकृति दी कि वे अपना अन्य कार्य लेन देन से अलग करलें, और एक निश्चित अवधि के भीतर अन्य कार्य करना छोड़ दें, तथा अपना हिसाब किताब इस ढंग पर लिखकर तैयार करें कि उनका परीक्षण आडिटर द्वारा हो सके और रिजर्व बैंक भी उसे देख सके। ये प्रस्ताव बैंकरो को स्वीकार नहीं हुए क्योंकि वे अपना अन्य कार्य छोड़ने को तैयार न थे। स्टैन्डर्ड मुद्दती हुण्डी (Usance bill) न होने से और विभिन्न प्रकार की हुण्डियों को जारी करने के तरीकों और शर्तों में बहुत अधिक विभिन्नता होने से रिजर्व बैंक हुण्डी बाजार का विकास कर सकने में असमर्थ रहा है। परन्तु भारतीय रिजर्व बैंक को केवल अनुकूल परिस्थितियों की प्रतीक्षा करने की अपेक्षा हुण्डी के प्रामाणिक रूप का विकास करने के लिए कार्यवाही करनी चाहिए थी। रिजर्व बैंक ने इस प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया और हुण्डी बाजार का विकास न हो सका,

(२) रिजर्व बैंक की स्थापना के पहले भी हुण्डी बाज़ार का विकास नहीं हो सका क्योंकि भारत में इम्पीरियल बैंक तब केन्द्रीय बैंक और व्यापारिक बैंक के कार्य करता था और इस कारण अन्य व्यापारिक बैंक व्यापार नीति के कारण अपने प्रतिद्वन्दी बैंक को बताना नहीं चाहते थे; (३) नकद रुपया उधार देने (Cash Credits) की प्रणाली ने, जिसके अन्तर्गत व्यापारिक बैंक अपने ग्राहकों की आवश्यकता पूर्ति करते हैं, हुण्डी बाजार के अभाव का अनुभव नहीं होने दिया। यह व्यवस्था ऋण देने और लेने वाले के लिए सुविधाजनक होती है। इन सब कारणों ने मिलकर भारत में एक सुव्यवस्थित हुण्डी बाजार के विकास में बाधा डाली है।

पिछले कुछ वर्षों में हुण्डी क्षेत्र की प्रवृत्ति, यथासम्भव स्वयं भुगतान हो जाने वाली हुण्डियों के द्वारा सामयिक मुद्रा के प्रसार करने को महत्ता देने की रही है। बचत कम होने, कीमतें ऊँची होने, आयात अधिक मात्रा में होने और सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी ऋणपत्रों (Securities) को रिजर्व बैंक के हाथ बेच देने से अनुसूचित बैंकों की स्थिति ऐसी नहीं रही कि व्यापार सम्बन्धी मांगों की पूर्ति कर सकें। ऐसा करने के लिए अनुसूचित बैंक को अनेक-कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इसलिए यह आवश्यक है कि स्टैंडर्ड हुण्डियों का विकास करके इन कठिनाइयों को दूर करने का दृढ़ प्रयत्न किया जाय।

रिजर्व बैंक की योजना—जनवरी १९५२ में रिजर्व बैंक ने भारत में सीमित हुण्डी बाजार स्थापित करने की योजना घोषित की। रिजर्व बैंक की योजना का उद्देश्य भारतीय द्रव्य बाजार को कुछ साख सम्बन्धी सुविधा देना था। अतीत में अनुसूचित बैंक अपनी सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति सरकारी तथा अन्य मान्यता प्राप्त ऋणपत्रों को रिजर्व बैंक के हाथ बेचकर कर दिया करते थे या भारतीय रिजर्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (अ) के अन्तर्गत सरकारी ऋणपत्रों के बदले रिजर्व बैंक से कुछ धन उधार ले लिया करते थे। नई योजना के अनुसार भारतीय रिजर्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (सी) के अन्तर्गत अनुसूचित बैंकों को रिजर्व बैंक से सहायता प्राप्त होती है।

योजना की मुख्य विशेषता यह है कि अनुसूचित बैंक ऋण, ओवर ड्राफ्ट इत्यादि के बदले जो डिमांड प्रामेसरी नोट्स प्राप्त करते हैं उनका एक अंश मुद्दती प्रतिज्ञा पत्र में बदल सकते हैं जिनके भुगतान की अवधि ९० दिन होती है। व्यापारिक बैंक सामान्यतः ऐसे ऋणों के सम्बन्ध में आंशिक पुनर्भुगतान की अनुमति प्रदान करते हैं। योजना में यह व्यवस्था की गई है कि अनुसूचित बैंकों

द्वारा दी गई ऋण इत्यादि की रकम के एक अंश के बदले बैंक डिमांड प्रामेसरी नोट्स ले लें जिस से ऋणी भविष्य में अपनी आवश्यकतानुसार उस रुपये से लेन-देन कर सके। साथ ही ऋण के शेष अंश के बदले बैंक आगामी तीन महीनों में ऋणी की न्यूनतम आवश्यकता की पूर्ति के लिए उससे मुद्दती प्रतिज्ञा पत्र लेते हैं जिनकी भुगतान की अवधि ९० दिन होती है। अनुसूचित बैंक रिजर्व बैंक से भारतीय रिजर्व बैंक की कानून की धारा १७ (४) (सी) के अन्तर्गत मुद्दती हुण्डी के आधार पर ऋण ले सकता है। अनुसूचित बैंकों को इस प्रकार की हुण्डियाँ रिजर्व बैंक को सौंपते समय (अ) प्रत्येक हुण्डी का विवरण देना पड़ता है जिसमें हुण्डी लेने वाले का नाम, रकम, भुगतान की तिथि और मिति काटे की दर इत्यादि होती हैं; (ब) यह प्रमाणित करना पड़ता है कि हुण्डीवाला हुन्डी की रकम का भुगतान करने में समर्थ है। रिजर्व बैंक अनुसूचित बैंकों के साथ साख व्यापार आरंभ करते समय केवल जमानत की ही जाँच नहीं करता वरन् यह भी जाँच करता है कि बैंक का कार्य किस प्रकार चलाया जा रहा है और इस बात की देख-रेख करता है कि मन्दे कारोबार के समय बैंक अपनी क्षमता से अधिक व्यापार तो नहीं करता। रिजर्व बैंक बिना कारण बताये किसी भी अनुसूचित बैंक की हुन्डी लेने से इन्कार कर सकता है।

आरम्भ में यह योजना केवल उन्हीं बैंकों तक सीमित रखी गई थी जिनका जमाधन १० करोड़ रुपये से कम नहीं था। प्रत्येक ऋण की रकम कम से कम २५ लाख रुपये निर्धारित की गई थी और इसी प्रकार प्रत्येक हुन्डी की न्यूनतम रकम एक लाख रुपये निर्धारित की गई थी। जून १९५३ में यह योजना ऐसे अनुसूचित बैंकों तक प्रसारित कर दी गई जिनका जमा धन (जिसमें विदेश में जमा धन भी सम्मिलित किया गया है) ५ करोड़ अथवा इससे अधिक है और उसे १९४९ के बैंकिंग कम्पनी ऐक्ट की २२ वीं धारा के अनुसार लाइसेन्स प्राप्त है। जुलाई १९५४ में यह योजना उन सब अनुसूचित बैंकों तक प्रसारित कर दी गई जिन्हें १९४९ से बैंकिंग कम्पनी ऐक्ट के अनुसार लाइसेन्स प्राप्त था चाहे उनका जमा धन कुछ भी हो। प्रत्येक ऋण की न्यूनतम मात्रा २५ लाख से घटाकर १० लाख रुपये कर दी गई और प्रत्येक हुन्डी की मात्रा एक लाख से घटा कर ५०,००० रुपया कर दी गई। इससे यह योजना अधिक लोकप्रिय हो गई और एक्ट की धारा १७ (४) (स) के द्वारा दी गई सुविधाओं का तब से प्रयोग भी अधिक हुआ है और १९५६ के आरम्भ में लगभग ४५ बैंक उसमें सम्मिलित हो सकते थे जब कि केवल २७ बैंक ही योजना के आरम्भ में भाग ले सकते थे।

इस प्रणाली को लोकप्रिय बनाने के लिए और हुन्डी-बाजार का शीघ्र

विकास करने के लिए रिजर्व बैंक ने इस योजना के अनुसार अनुसूचित बैंकों को बैंक दर से ½ प्रतिशत कम में अर्थात ३ प्रतिशत ऋण दिया। ऋण को मुद्दती हुन्डी में बदलने के लिए जितने रुपये के स्टाम्प लगाये जाते हैं रिजर्व बैंक उनका आधा व्यय स्वयं देता है जिससे हुन्डी बाजार के विकास को और प्रोत्साहन मिल सके। यद्यपि २ आना प्रति हजार रुपये के हिसाब से स्टाम्प सस्ता है पर रिजर्व बैंक ने इसका आधा व्यय अपने ऊपर लेकर सुविधा प्रदान की जिससे हुन्डी बाजार के विकास को प्रोत्साहन मिले। पर दुर्भाग्य से ये सुविधायें पहिली मार्च १६५५ से अंशतः वापस ले ली गईं और अब अनुसूचित बैंकों को इस योजना के अन्तर्गत बैंक दर से ¼ प्रतिशत कम दर पर अर्थात ३¼ प्रतिशत पर ऋण मिलेगा और रिजर्व बैंक स्टाम्प पर व्यय नहीं देगा। १६५६ के मन्दी काल में (मई से लेकर सितम्बर तक) अनुसूचित बैंकों के साख में बहुत कम संकुचन हुआ अतएव बैंक ने नवम्बर १६५६ में उधार देने की दर में ¼% की वृद्धि करके उसे ३½% की दर के बराबर कर दिया जो सरकारी तथा अन्य स्वीकृति प्रतिभूतियों पर ली जाती है। प्रामिसरी नोट पर स्टाम्प ड्यूटी बढ़ जाने के फलस्वरूप उधार लेने की प्रभावपूर्ण दर बढ़ कर ४% हो गई। मई १६५७ में एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि बैंक रेट फिर से बढ़ाकर ४% कर दी गई। परिणामतः बैंकों द्वारा उधार लेने की दर में भी इसी प्रकार वृद्धि हुई। इस प्रकार की उधार ली हुई राशि में वास्तविक वृद्धि ०·२०% हुई क्योंकि तीन महीने की अवधि वाले प्रामिसरी नोट की स्टाम्प ड्यूटी एक हजार रुपये या उसके किसी अंश पर घटाकर ५० नया पैसा कर दी गई। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप, इस योजना के अन्तर्गत सरकारी तथा अन्य स्वीकृति प्रतिभूतियों के बल पर ऋण लेने की अपेक्षा उधार लेने की लागत बढ़ गई है। सरकार तथा अन्य प्रतिभूतियों के आधार पर उधार लेने की दर ४% ही रही।

रिजर्व बैंक की योजना १६५३ की व्यवस्था से बिल्कुल भिन्न है जिसके अनुसार इम्पीरियल बैंक सरकार के मुद्रा विभाग से ऋण को मुद्दती प्रतिज्ञा पत्र में बदलकर १२ करोड़ रुपया उधार ले सकता था। परन्तु रिजर्व बैंक की योजना का आधार पूर्व व्यवस्था ही है जिससे उसे प्रेरणा मिलती रही। पहली योजना के अनुसार इम्पीरियल बैंक को ऋण देते समय सरकार का मुद्रा विभाग यह प्रतिबन्ध लगाता था कि (अ) हुन्डी स्वदेशी होनी चाहिये जिसका उद्देश्य व्यापार हो, (ब) यदि हुन्डी में उसके उद्देश्य उल्लेख न हो तो इम्पीरियल बैंक को यह प्रमाणित करना चाहिये कि यह सुविधा व्यापार के लिए दी जा रही है, और (स) ऋण रियायती ब्याज पर दिया गया हो, जिसकी दर परिवर्तनशील हो।

योजना १६ जनवरी १९५२ को घोषित की गई। उसके बाद अनुसूचित बैंकों को इस योजना का कार्य समझने में कुछ समय लगा और कुछ देर भी हुई। परन्तु १९५२ में अनुसूचित बैंकों ने रिजर्व बैंक से १०० ऋण लिए जिनकी कुल रकम ८१.४५ करोड़ रुपये थी। १९५३ में रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को भारतीय रिजर्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (सी) के अनुसार केवल ६५.८४ करोड़ रुपया ऋण दिया। यह कहना कि "अनुसूचित बैंकों ने स्थिति अपेक्षाकृत अधिक अच्छी होने के कारण रिजर्व बैंक से ऋण नहीं लिया" पर्याप्त नहीं है। यह योजना अपने सीमित विस्तार और महँगी होने के कारण अधिक लोकप्रिय नहीं हुई। यह इस बात से स्पष्ट है कि रिजर्व बैंक को योजना अधिक प्रिय बनाने के लिए उसका विस्तार करना पड़ा।

यद्यपि योजना के अन्तर्गत उधार लेना अधिक महँगा था फिर भी १९५६ व १९५७ में रिजर्व बैंक द्वारा अनुसूचित बैंकों को उधार दिया गया ऋण क्रमशः ४३६.८२ करोड़ रु० तथा ४१४.८१ करोड़ रु० था जो भूत काल की अपेक्षा कहीं अधिक है। रिजर्व बैंक के अनुसार इसका कारण यह था कि बैंकें सरकारी तथा अन्य स्वीकृति प्रति भूतियों के आधार पर यथा सम्भव उधार नहीं लेना चाहती थी। तथा निम्नतम तरल सम्पत्ति सम्बन्धी परिनियत दायित्वों को पूरा करना चाहती थीं।

आलोचना—आलोचना को रिजर्व बैंक की इस योजना में अनेक दोष दिखाई दिये है—(१) यह कहा गया है कि हुन्डी बाजार के लिये यह उपयुक्त योजना नहीं है। यह योजना व्यापारिक हुन्डियों पर नहीं बल्कि अनुसूचित बैंकों के ऋण के बदले ली गई मुद्दती हुन्डियों पर आधारित है। यह व्यस्त कारोबारी समय में साख का प्रसार करने का केवल उपाय मात्र है। महाजनों इत्यादि की हुन्डियों को इस योजना में सम्मिलित नहीं किया गया है जब कि Shroff Committee ने ऐसा करने का सुझाव दिया था। जब तक उनको इस योजना में सम्मिलित नहीं किया जाता और अनुसूचित बैंकों को उनकी हुन्डियाँ स्वीकार करने को प्रोत्साहित नहीं किया जाता और रिजर्व बैंक से इनको भुनाने की सुविधा नहीं दी जाती तब तक भारत में उपयुक्त हुन्डी बाजार का विकास नहीं हो पायेगा। (२) यह योजना अनुसूचित बैंकों के लिए अधिक खर्चीली है। ऋणों (Demand loans) को मुद्दती हुन्डियों में बदलना और सभी प्रकार की रिजर्व बैंक को देना अनुसूचित बैंकों के लिये बहुत असुविधाजनक कार्य है; साथ ही इसमें व्यय भी अधिक होता है। अनुसूचित बैंकों को जो हानि और असुविधा सहनी पड़ती है उसको ब्याज या स्टाम्प में दी गई रियायत से पूरा नहीं किया जा सकता है।

१ मार्च १९५६ से इन सुविधाओं को आंशिक वापसी तथा तदनन्तर बैंक दर की वृद्धि ने उधार लेना और भी महँगा कर दिया। (३) रिजर्व बैंक की ऋण देने की नीति ऐसी है जिससे रिजर्व बैंक द्वारा कुछ बैंकों में भेदभाव करने और उनके साथ अनुसूचित व्यवहार किये जाने की सम्भावना रहती है। रिजर्व बैंक ऋण देते समय केवल जमानत और विनियोग की ही नहीं बल्कि बैंक के कार्य संचालन की भी जाँच करता है। इससे भारत में सुसम्बन्धित हुन्डी बाजार के विकास के लिये उपयुक्त वातावरण नहीं हो पाता है।

प्रथम और द्वितीय योजना के कारण आर्थिक कार्यों में वृद्धि होने से अनुसूचित बैंकों ने जो ऋण रिजर्व बैंक से लिया है उसकी मात्रा में वृद्धि हुई है। परन्तु यह कहना ठीक न होगा कि क्योंकि यह योजना बहुत सफल हुई है और क्योंकि अनुसूचित बैंकों के आय स्रोतों में वृद्धि हुई इसलिये जो सुविधायें रिजर्व बैंक ने इसके प्रोत्साहन के लिये दी थीं उनका वापस ले लेना उचित होगा।

अध्याय ४६

रिजर्व बैंक

भारत में रिजर्व बैंक का कार्य शेयर होल्डरों (हिस्सेदारों) के बैंक के रूप में १अप्रैल १६३५ से चालू हुआ। १६३४ में भारतीय रिजर्व बैंक कानून स्वीकृत हुआ था। इससे पहले प्राय: इस प्रश्न पर विशेप रूप से विवाद चला कि क्या वास्तव में भारतीय इम्पीरियल बैंक से सारा काम नहीं चलाया जा सकता है? पहले इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कार्यों को करता था। इसके साथ ही यह प्रश्न भी उठा कि रिजर्व बैंक शेयर होल्डरों का बैंक हो या राजकीय बैंक हो।

आवश्यकता—मुद्रा पर सरकार के दोहरे नियंत्रण और इम्पीरियल बैंक के असन्तोषजनक कार्य के कारण केन्द्रीय बैंक की आवश्यकता का अनुभव हुआ। हिल्टनयंग आयोग ने बैंकिंग की उस प्रणाली में निहित दोषों पर प्रकाश डाला जिसमें मुद्रा और साख पर दो भिन्न संस्थाओं का नियंत्रण होता है जिनकी नीतियों में काफी भेद होना संभव है और जिसमें मुद्रा तथा बैंकिंग के सुरक्षित कोषों की अलग-अलग व्यवस्था की जाती है। यह सुझाया गया कि केन्द्रीय बैंक व्यवस्था लागू हो जाने से यह दोष दूर हो जायगा।

दूसरी ओर १६३५ में जो वैधानिक परिवर्तन किये गये उनसे यह आवश्यक प्रतीत होने लगा कि देश की वित्तीय व्यवस्था को दृढ़ बनाना चाहिये। विधान की सफलता इस बात पर निर्भर करती थी कि भारत स्वदेश तथा विदेश में अपनी वित्ताय स्थिति सुदृढ़ बनाये और साथ ही साख बनाये रखने में पूर्णतया समर्थ सिद्ध हो।

यदि इम्पीरियल बैंक को केन्द्रीय बैंक के पूर्ण अधिकार दे भी दिए जाते तब भी वह इस कार्य को पूरी तरह सन्तोषजनक रीति से नहीं चला पाता क्योंकि भारतीय ज्वाइंट स्टाक तथा अन्य बैंकों को उस पर पूरा विश्वास नहीं था और इससे पूर्व इम्पीरियल बैंक इन बैंकों से प्रतियोगिता करता रहता था। केन्द्रीय बैंक के अधिकार मिल जाने से इम्पीरियल बैंक इन ही बैंकों का एक प्रकार से संरक्षण और ऋण लेने का अन्तिम सहारा बन जाता। केन्द्रीय बैंक तभी सफल हो सकता है जब उसका अन्य बैंकों पर प्रभाव हो और अन्य बैंकों को उसकी कार्यक्षमता पर पूरा विश्वास हो। यदि इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक बन जाता तो वह अपने

साधारण बैंकिंग कारोबार को चालू नहीं रख सकता था परन्तु इस बैंक का संचालन मण्डल इस कारोबार को छोड़ने के लिए उत्सुक नहीं था। इसीलिये यह निश्चय किया गया कि भारत में रिजर्व बैंक स्थापित किया जाय। रिजर्व बैंक ने बिल्कुल नये सिरे से कार्य आरम्भ किया और अपनी एक परम्परा स्थापित की।

विधान—रिजर्व बैंक ने अपना कार्य शेयर होल्डरों के बैंक के रूप में आरम्भ किया। इसके शेयरों की कुल पूँजी ५ करोड़ रुपये थी। प्रत्येक शेयर १०० रुपये का था जिसका पहले ही पूरा भुगतान कर देना पड़ता था। यह आवश्यक था कि बैंक की संचालन शक्ति कुछ लोगों के हाथों में जाने से रोकी जाय। इसके लिये यह योजना बनाई गई कि देश के पाँच क्षेत्रों (बाद में बर्मा से अलग हो जाने से केवल बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली, और मद्रास, के चार क्षेत्र रह गये) में दर्ज शेयर होल्डरों का बराबर मूल्य के शेयर बेचे जायँ। परन्तु इतना होते हुए भी धीरे-धीरे सारे शेयर बम्बई क्षेत्र में ही केन्द्रित हो गये। मार्च १९४० में रिजर्व बैंक ऐक्ट में संशोधन किया गया। इस संशोधन के अनुसार संशोधन की तिथि के बाद यदि नये शेयर खरीद कर किसी व्यक्ति के पास कुल शेयर २०,००० रुपये से अधिक के हो जायेंगे तो उनका नाम शेयर होल्डर की सूची में दर्ज नहीं किया जायेगा। परन्तु इससे शेयरों को बम्बई क्षेत्र में केन्द्रित होने से नहीं रोका जा सकता। रिजर्व बैंक के राष्ट्रीकरण से यह दोष दूर हो गया।

बैंक का सारा कार्य केन्द्रीय संचालन मण्डल चलाता है जिसमें एक गवर्नर, दो डिप्टी गवर्नर, १० संचालक या डाइरेक्टर (जिनमें से चार संचालन चार स्थानीय मण्डलों का प्रतिनिधित्व करते हैं) और एक सरकारी अफसर होता है। इन सबको केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती है। चारों क्षेत्रों (बम्बई, कलकत्ता दिल्ली, मद्रास) में चार स्थानीय मण्डल हैं जिनमें तीन-तीन सदस्य होते हैं। ये सदस्य क्षेत्रीय, आर्थिक, सहकारिता और साहुकारी के हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं। राष्ट्रीकरण से पहले केन्द्रीय संचालक मण्डल में १६ सदस्य थे जिसमें एक गवर्नर और दो डिप्टी गवर्नर केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती थी, सरकार द्वारा नियुक्त चार संचालक, विभिन्न क्षेत्रों में शेयर होल्डरों द्वारा निर्वाचित आठ संचालक और एक केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त सरकारी अफसर होते थे। पहले स्थानीय मण्डलों में आठ सदस्य होते थे जिनमें से पाँच उस क्षेत्र के शेयर होल्डरों में से चुने जाते थे और तीन सदस्यों को केन्द्रीय सरकार नियुक्त करती थी।

कार्य

किसी भी अन्य केन्द्रीय बैंक की तरह रिजर्व बैंक का मुख्य कार्य देश में मुद्रा और साख पर नियंत्रण रखना, रुपये के विनिमय मूल्य की व्यवस्था करना और सरकार के बैंकिंग के कारोबार को चलाना है।

बैंक का सबसे महत्व पूर्ण और कठिन कार्य देश में मुद्रा तथा साख पर नियंत्रण रखना है। रिजर्व बैंक को इस बात का ध्यान रखना पड़ता है कि चलन (Circulation) में रुपये की मात्रा न तो बहुत कम हो और न बहुत अधिक। रिजर्व बैंक व्यवसायी बैंकों के साख-प्रसार के कार्य का निरीक्षण करता रहता है और ऐसी व्यवस्था करता है जिससे संकट काल में योग्य सदस्य बैंकों को सहायता देकर बन्द होने से बचाया जा सके।

नोटों का निर्गम—नोटों के निर्गम का केवल भारतीय रिजर्व बैंक को अधिकार है। बैंक आफ इंगलैंड की भाँति भारतीय रिजर्व बैंक के भी दो विभाग हैं—निर्गम विभाग और बैंकिंग विभाग। नोटों के निर्गम में सबसे महत्वपूर्ण और ध्यान देने योग्य बात यह है कि मुद्राप्रणाली में जनता का कितना विश्वास है। इसलिए भारत के रिजर्व बैंक कानून में यह व्यवस्था की गई है कि जितने नोटों के निर्गम हो उसके ४० प्रतिशत के बराबर सोने के सिक्के, स्वर्ण पाटमान (बुलियन) और स्टर्लिंग (पौंड) होने चाहिएँ जिसमें २१ रु० ३ आना ८ पाई प्रति तोले के हिसाब से किसी भी समय कम से कम ४० करोड़ रुपये का सोना होना चाहिए। शेष ६० प्रतिशत रुपये की प्रतिभूतियों (Rupee Securities), सिक्कों और विनिमय-पत्रों (Bills of Fxchange) इत्यादि के रूप में होना चाहिए। परन्तु भारत सरकार को रुपयों की प्रतिभूतियों ५० करोड़ रुपये या कुल के एक चौथाई (इनमें जो अधिक हो) से अधिक नहीं होनी चाहिए।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अर्थ प्रबन्धन को सुविधाजनक बनाने लिये रिजर्व बैंक (संशोधन) अधिनियम १९५६ ने अनुपातिक व्यवस्था के स्थान पर निम्नतम सुरक्षित कोष निश्चित कर दिया। इसके अनुसार बैंक कम-से-कम ४०० करोड़ रु० की विदेशी प्रतिभूतियाँ (जो सरकार की पूर्व अनुमति से कठिनाई के समय ३०० करोड़ रु० तक की जा सकती थी) तथा ११५ करोड़ की स्वर्ण मुद्रा व स्वर्ण (अर्थात कुल ५१५ करोड़ रु०) रखने के लिये बाध्य थी। स्वर्ण की कीमत ६२·५० रु० प्रति तोला थी जो अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की सहमति के अनुसार था। ३१ अक्टूबर १९५७ को एक अध्या देश द्वारा उपयुक्त अधिनियम में पुनः संशोधन किया गया। बाद में इसका स्थान रिजर्व बैंक आफ इण्डिया

द्वितीय संशोधन) अधिनियम १९५७ ने ले लिया।" इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत निर्गम विभाग में स्वर्ण-मुद्रा, स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियों का कुल मूल्य २०० करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिये। इसमें से स्वर्ण मुद्रा-और स्वर्ण मूल्य किसी भी समय ११५ करोड़ रु० से कम नहीं होना चाहिये। धारा ३७ की यह व्यवस्था कि निर्गम विभाग में विदेशी प्रतिभूतियों की मात्रा ३०० करोड़ रु० से कम न होनी चाहिये, हटा दी गई। विदेशी विनिमय संकट का सामना करने लिये ऐसा किया गया। किन्तु यह बहुत ही सख्त कदम था तथा जनता के विश्वास खोने या कम होने पर रुपये के मूल्य के लिये गंभीर संकट उत्पन्न हो सकता है।

नोटों के निर्गम के सम्बन्ध में एक गम्भीर दोष यह रहा है कि १९४५-४६ से उनकी रकम में बहुत अधिक वृद्धि हुई है। १९५१ में १२०५$\frac{3}{4}$ करोड़ रु० के नोट प्रचलन में थे। १९५७ में कुलचालू नोट १५१८ करोड़ रु० के थे। इसका उत्तरदायित्व वास्तव में रिजर्व बैंक पर नहीं है। रिजर्व बैंक कानून में एक ऐसी व्यवस्था थी जिसके अन्तर्गत ब्रिटिश सरकार अपना युद्ध का खर्च चलाने के लिए भारत में स्टर्लिङ्ग (पौंड) के बदले रुपये ले सकती थी। ब्रिटिश सरकार ने इसका लाभ उठाया और रिजर्व बैंक को परिणाम-स्वरूप में अधिक नोट जारी करने पड़े। इसके साथ ही औद्योगिक तथा अन्य आर्थिक कार्यों में वृद्धि हुई और देश की राष्ट्रीय आय भी बढ़ी। इस स्थिति में आर्थिक विकास के कार्यों को आगे बढ़ाने के लिए नोटों की संख्या में वृद्धि करना आवश्यक हो गया। रिजर्व बैंक का वास्तविक दोष यह है कि उसने उस समय जनता को यह नहीं बताया कि ब्रिटिश सरकार स्टर्लिङ्ग को रुपयों में भुनाने के लिए रिजर्व बैंक कानून की उक्त धारा का लाभ उठा रही है। रिजर्व बैंक ने जनता को इस तथ्य से अनभिज्ञ रखा और पर्याप्त क्षति हो जाने के पश्चात् ही जनता को यह घटना मालूम हो सकी। इसके साथ ही यह कहना अनुचित न होगा कि स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद रिजर्व बैंक अपनी मुद्रास्फीति को रोकने की नीति के होते हुए भी चलन में आए नोटों की संख्या आवश्यकतानुसार कम कर सकने में असमर्थ रहा है।

साख पर नियंत्रण—कानून के अनुसार यह आवश्यक है कि अनुसूचित बैंक चालू देयधन का ५ प्रतिशत और निश्चितकालीन देयधन का २ प्रतिशत रिजर्व बैंक के जमा खाते में रखें। इस व्यवस्था का उद्देश्य व्यवसायी बैंकों द्वारा दिये गये माल पर नियंत्रण रखना है। परन्तु भारत में व्यवसायी बैंक इस व्यवस्था के अनुसार निर्धारित प्रतिशत से कहीं अधिक नकदी अपने पास और रिजर्व बैंक में जमा रखते हैं; इससे यह व्यवस्था साख पर नियंत्रण रखने में विशेष लाभकर सिद्ध नहीं हुई है। १९४९ के बैंकिंग कम्पनी कानून में गैर अनुसूचित

बैंकों के लिये यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वह भी अपने चालू और निश्चित कालीन देयधन (demand and time liabilities) का अनुसूचित बैंकों के बराबर प्रतिशत अपने पास रोकड़ में रक्खें। कानून के लागू होने के दो वर्ष बाद बैंकिंग कम्पनियों के लिए यह अनिवार्य कर दिया गया है कि वे अपने चालू और निश्चित कालीन देयधन का २० प्रतिशत नकदी, स्वर्ण या किसी भी कानूनी तौर पर स्वीकृति ऋणपत्र में जमा रखें। कानून में संशोधन करने के बाद रिजर्व बैंक को कुछ अधिकार दिये गए हैं। इन अधिकारों के अन्तर्गत रिजर्व बैंक कठिनाइयों से ग्रस्त अनुसूचित बैंकों को यह सुविधा दे सकता है कि वह अपने चालू और निश्चित कालीन देयधन का क्रमशः ५ प्रतिशत और २ प्रतिशत कोष में यदि नहीं रख सकते तो न रखें। यह सुझाव दिया गया है कि कानून को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देयधन के इस प्रतिशत को शीघ्र बदला जा सके। यदि केन्द्रीय बैंक चाहता है कि साख का कारोबार संकुचित किया जाय तो बिना पूर्व सूचना दिये यह प्रतिशत बढ़ाया जा सके और यदि साख के व्यापार का अधिक प्रसार करना है तो प्रतिशत घटाया जा सके।

रिजर्व बैंक को इस बात का अधिकार है कि वह रक्षित कोष का अनुपात तत्कालीन देयधन (Demand Liabilities) का २०% और निश्चित कालीन देयधन का ८% कर ले और यदि रिजर्व बैंक आवश्यक समझे तो विशेष परिस्थिति में जमाधन को रोक ले। इस अधिकार के कारण केन्द्रीय बैंकिंग संस्था को भारत में बैंको की साख पर अधिक प्रभावशाली नियंत्रण प्राप्त हो सकेगा। इससे जब घाटे का अर्थ प्रबन्धन (deficit financing) के कारण मुद्रास्फीति होगी तब उस दशा में बैंकों की साख में अनावश्यक वृद्धि पर रोक लगाना सम्भव हो सकेगा।

बाजार में क्रय-विक्रय (Open Market Operations)—रिजर्व बैंक अपनी बाजार में क्रय विक्रय करने की नीति से, अर्थात् बाजार में प्रतिभूतियों के क्रय विक्रय और बैंक-दर की नीति से व्यवसायी बैंकों और मुद्रा बाजार पर वास्तविक नियन्त्रण रखता है। रिजर्व बैंक कानून के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को उन विनिमय-पत्रों या हुन्डियों और प्रतिज्ञा पत्रों को खरीदने, बेचने और उन पर ऋण देने का पूरा अधिकार है। रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ऐक्ट के अन्तर्गत रिजर्व बैंक को उन हुन्डियों अथवा प्रतिज्ञा पत्रों को बेचने, खरीदने और पूर्व प्रापण (discounting) करने का अधिकार है जो मान्य व्यापार के कारण उद्‌भुत हैं और जिनका भुगतान भारत में हो सकता है, तथा जिन पर दो या दो से अधिक मान्य हस्ताक्षर हों जिनमें से एक हस्ताक्षर अनुसूचित बैंक या सहकारी बैंक के होने

आवश्यक है। इन हुन्डियों इत्यादि को ९० दिन के अन्दर भुनाया जा सकता है। रिजर्व बैंक को कृषि तथा अन्न के विक्रय के लिए वित्तीय व्यवस्था करने को प्रयुक्त की जाने वाला ६ महीने के मियाद की हुन्डियों के क्रय-विक्रय का अधिकार है। परन्तु यह हुन्डियाँ भारतीय होनी चाहिएँ। अब ६ महीने की अवधि बढ़ा कर १५ महीने कर दी गई है। इसके साथ ही रिजर्व बैंक को केन्द्रीय एवम् राज्य सरकारों द्वारा जारी ऋणपत्रों के व्यापार में ९० दिन की अवधि वाली हुन्डियों को खरीदने तथा बेचने का अधिकार है।

रिजर्व बैंक साख पर प्रभावशाली नियन्त्रण रखने के लिये खुले बाजार में क्रय-विक्रय करने की प्रक्रिया का पूरा लाभ उठाता है। इस अधिकार की भी कुछ सीमाएँ हैं :—(१) भारत द्रव्य बाजार (Money Market) अभी अविकसित स्थिति में है और (२) रिजर्व बैंक कुछ खास प्रकार की प्रतिभूतिओं को ही खरीद एवम् बेच सकता है और चूँकि अधिकाँश प्रतिभूतियाँ सरकारी हैं इसलिए इनके क्रय-विक्रय में रिजर्व बैंक पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है। रिजर्व बैंक सरकार की साख नष्ट होने के भय से सरकारी ऋणपत्रों को बड़ी मात्रा में नहीं बेच सकता।

बैंक-दर-नीति—बैंक दर की नीति पहले विशेष सफल सिद्ध न हो सकी क्योंकि आरम्भ से ही रिजर्व बैंक को परिस्थिति वश बैंक दर निरन्तर ३ प्रतिशत बनाए रखनी पड़ी। चूँकि रिजर्व बैंक दर बढ़ाने में असमर्थ था इसलिए यह साधन एक प्रकार से व्यर्थ हो रहा। यदि रिजर्व बैंक को बैंक दर में परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता भी होती तब भी भारत का द्रव्य बाजार ऐसी स्थिति में नहीं था जिससे वह इस परिवर्तन का द्रव्य बाजार की अन्य दरों पर प्रभाव डाल पाता।

बैंक की दर १५ नवम्बर १९५१ को ३ प्रतिशत से बढ़ाकर ३½ प्रतिशत कर दी गयी। इसका एक कारण यह भी था कि ब्रिटेन तथा अन्य सरकारों ने भी अपने बैंक की दरों को बढ़ा दिया था। १६ मई १९५७ से यह दर बढ़ा कर ४ प्रतिशत कर दी गई। यह आशा करना अनुचित न होगा कि भविष्य में भारत में बैंकों की दर की नीति पहले से अधिक प्रभावशाली सिद्ध होगी। बैंक दर को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए रिजर्व बैंक की व्यापारिक बैंकों को वित्तीय सहायता देने की नीति में भारी परिवर्तन किया गया है। पहले रिजर्व बैंक बाजार भाव पर अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों से सरकारी प्रतिभूतियाँ इत्यादि खरीद लिया करता था। इस प्रक्रिया से इन बैंकों को धन मिलता था और यह साधन उनके लिये बहुत सस्ता और सुविधाजनक था। अनुसूचित और सहकारी बैंकों ने भी भारतीय रिजर्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (ए) के अन्तर्गत सरकारी तथा

अन्य मान्यता प्राप्त प्रतिभूतियों को भुनाने का कार्य किया; इन प्रतिभूतियों के आधार पर रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त किया। परन्तु यह साधन बहुत सीमित क्षेत्र में अपनाया गया। बैंक दर में परिवर्तन होने के साथ ही रिजर्व बैंक ने घोषित किया कि वह अनुसूचित बैंकों की सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सरकारी प्रतिभूतियाँ नहीं खरीदेगा परन्तु भारतीय रिजर्व बैंक कानून की धारा १७ (४) (ए) के अन्तर्गत सरकारी तथा अन्य मान्यता प्राप्त प्रतिभूतियों पर बैंक दर के अनुसार ऋण देगा। इस तरीके से अनुसूचित तथा सहकारी बैंकों ने रिजर्व बैंक से १९५७ में क्रमशः ३५३·७८ करोड़ रुपये और ९·६८ करोड़ रुपये ऋण लिये जबकि १९५१ में ७६½ करोड़ और ५½ करोड़ रुपया लिया था। पिछले दो वर्षों में ऋण की मात्रा बहुत अधिक बढ़ गई है क्योंकि आर्थिक कार्य बहुत बढ़ गया है।

विशेष साख नियंत्रण—रिजर्व बैंक के अधिकारी इस निर्णय पर पहुँचे कि मूल्यों-विशेष कर खाद्यान्न के मूल्यों की मुद्रा-स्फीति जनक वृद्धि इन वस्तुओं की जमानत पर व्यापारिक बैंकों को अत्यधिक उधार देने के कारण हुई है। साख की मात्रा पर लगे सामान्य प्रतिबन्ध तथा उधार का महँगा होना भी जब पर्याप्त सिद्ध न हुआ तो उन्होंने साख नियंत्रण की योजना लागू की। इस नीति को लागू करने के लिये अनुसूचित बैंकों को बैंकिंग कम्पनीज (संशोधन) अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत निर्देश दिये गये। सबसे पहले १७ मई १९५६ को सभी अनुसूचित बैंकों को यह निर्देश दिया गया कि वे मंजूर किये गये ऋणों की मात्रा न बढ़ायें तथा किसी भी दल को चावल और धान के बल पर ५०,००० रु० से अधिक उधार न दें। बाद में खाद्यान्न, चीनी तथा सूती वस्त्र जैसी वस्तुओं के सम्बन्ध में अन्य अनेक निर्देश जारी किये गये, वापिस लिये गये तथा पुनः जारी किये गये।

रिजर्व बैंक के अधिकारियों के अनुसार, साख-नियंत्रण की उपर्युक्त नीति निम्न कारणों से उचित थी। (i) १९५६ में बैंक साख १५३ करोड़ रु० के उच्च स्तर से बढ़ गया था, और इससे मुद्रा स्फीति का प्रभाव बढ़ रहा था। (ii) १९५५-५६ को मन्दी में (मई-अक्टूबर) बैंक द्वारा उधार दी गई राशि घटने के बजाय बढ़ गई। (iii) ७ जून १९५७ को बैंकों द्वारा उधार दी गई राशि ९४० करोड़ रु० तक पहुँच गयी। जून १९५५ में यह राशि ६१३ करोड़ रु० थी। रिजर्व बैंक के अनुसार मन्दी के समय में उधार दी गई राशि ८०० करोड़ रु० से अधिक नहीं होनी चाहिये। अनुसूचित बैंकों से यह आशा की गई कि वे उसे घटाकर इस स्तर तक ले आयेंगी। अनुसूचित बैंकों के पक्ष में यह कहा जा सकता

है कि उनमें से अनेकों के इस नीति के पक्ष में न होने पर भी उन्होंने साख कम करने का भरसक प्रयत्न किया। फलतः सितम्बर १९५७ में यह राशि घट कर ८४५ करोड़ रु० हो गई। १९५७-५८ की क्रिया शील अवधि (नवम्बर से अप्रैल तक) बैंकों द्वारा उधार दी गई राशि धीरे धीरे बढ़कर जनवरी १९५८ में ९१० करोड़ रु० फरवरी १९५८ में ९३२करोड़ रु० तथा मार्च १९५८ में ९६२½ करोड़ रु० हो गई।

साख नियंत्रण की इस नीति से मुद्रास्फीति जनक प्रभाव कम नहीं हुआ। इसके कारण निम्नलिखित थे, (i) द्वितीय पंचवर्षीय योजना की औद्योगिक तथा आर्थिक क्रियाओं के विस्तार के फलस्वरूप बैंकों द्वारा उधार दी गई राशि में वृद्धि होना स्वाभाविक था। अतएव १९५६ में उधार में १५३ करोड़ रु० की वृद्धि कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी। १९५७ में तो इसे और अधिक बढ़ना चाहिये था। (ii) खाद्यान्न, चीनी तथा सूती वस्त्र के आधार पर दिया गया उधार सट्टेबाजी के लिये नहीं था। उसका उद्देश्य खाद्यान्नों के स्थानान्तरण का अर्थ प्रबन्धन तथा चीनी और सूती वस्त्रों में बिना किये भण्डारों का अर्थप्रबन्धन था। सट्टे बाजी के लिये उधार पर नियंत्रण करने से उत्पादक उद्देश्यों के लिये भी साख कम हो जायगी। भारत में सामान्य साख नियंत्रण तथा विशिष्ट साख नियंत्रण का भेद बनावटी तथा अवास्तविक है।

यदि यह मान भी लिया जाय कि उधार अधिकतर सट्टेबाजी के लिये लिया जाता है तो भी निम्न कारणों से विशिष्ट-साख नियंत्रण की नीति सही नहीं थी। (i) इस प्रकार के विनियोग के लिये बैंक ५-६ प्रतिशत या अधिक से अधिक १०% तक उधार देते हैं। यदि वे उधार देना बिल्कुल बन्द भी कर दें तो इससे कोई महत्व पूर्ण अन्तर नहीं पड़ेगा। (ii) खाद्यान्नों का आसंचयन देश के इस क्षेत्र में होता है जो बैंक प्रणाली से दूर है। बैंकों का साख केवल वहीं प्रभाव डाल सकता है जहाँ उनके द्वारा करना होता हो। (iii) इस नीति के पीछे यह अनुमान था कि भारत में मूल्यों की वृद्धि अधिक मुद्रा प्रसार के कारण थी। यह अनुमान ही गलत था अतएव उस पर आधारित नीति का असफल होना स्वाभाविक ही था। यह नीति जिन वस्तुओं पर लागू की गई उनके मूल्य भी कम नहीं हुये तथा उद्योग और बैंकिंग व्यवस्था के व्यर्थ ही कठिनाइयाँ उठानी पड़ी।

हुँडी बाजार—रिजर्व बैंक ने हुँडियों के क्रय विक्रय की योजना जनवरी १९५२ में लागू की जिसकी पिछले अध्याय में विस्तार पूर्वक चर्चा की गई है। १९५७ में इस योजना के अन्तर्गत रिजर्व बैंक ने अनुसूचित बैंकों को ४१४·८१ करोड़ रुपये का ऋण दिया जब कि १९५३ में ६५·८४ करोड़ रुपया दिया था।

रिजर्व बैङ्क के विरुद्ध यह गंभीर आरोप लगाया गया कि वह देश में हुँडी बाजार का विकास कर सकने में असफल रहा। उक्त कार्यवाही यद्यपि काफी देर से आरंभ की गई है परन्तु कालान्तर भारतीय द्रव्य बाजार को संगठित करने में सहायक होगी।

विनिमय अर्घ—कानून के अनुसार रिजर्व बैङ्क पर रुपये के विनिमय अर्घ का स्तर बनाए रखने का विशेष उत्तरदायित्व है। रिजर्व बैंक लन्दन में तुरन्त निकासी करने के लिए किसी भी व्यक्ति से स्टर्लिङ्ग (पौंड) एक निश्चित दर पर खरीद और बेच सकता है। यह निर्धारित किया गया है कि रुपये की पौंण्ड में विनिमय दर एक शिलिंग ५$\frac{४९}{६४}$ पेन्स से कम और एक शिलिंग ६$\frac{३}{१६}$ पेन्स से अधिक न हो और विनिमय १० हजार पौण्ड स्टर्लिङ्ग की राशि से कम एक बार में न हो। इसी व्यवस्था के आधार पर ब्रिटिश सरकार ने रिजर्व बैंक को पौण्ड दिए और भारत में युद्ध का व्यय पूरा करने के लिए विनिमय में रुपये लिए। इससे भारत में मुद्रास्फीति बढ़ी और ब्रिटेन पर भारत का पौंड पावना भी बढ़ता गया। कानून की इस व्यवस्था से देश को भारी क्षति पहुँची। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य बन जाने से १९४७ में इस कानून में संशोधन किया गया। अब रिजर्व बैंक विदेशी मुद्रा विनिमय केवल उन्हीं दरों पर कर सकता है जिनको केन्द्रीय सरकार समय-समय पर निर्धारित करती है। इसलिए अब पहले की तरह एक निश्चित दर में स्टर्लिङ्ग का क्रय विक्रय करना अनिवार्य नहीं रहा है।

सरकारी कारोबार—रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य यह है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को ऋण (ways and means advances) दे जिसे ९० दिन के अन्दर वापस कर दिया जाना चाहिए, सरकारी ऋणपत्रों को खरीदे और बेचे, जनता से कर्ज लेने का प्रबन्ध करे और सरकार की ओर से द्रव्य प्राप्त करे। सरकार अपने कोष का कुछ भाग बिना व्याज के रिजर्व बैंक में रखती है। बैंक ने सरकारी लेन-देन का कार्य बड़ी सफलता पूर्वक किया है। रिजर्व बैंक ने जिस तरीके से इस कार्य को किया है उसके प्रति सरकार और जनता को एक बार भी असन्तोष प्रकट करने का अवसर नहीं मिला।

कृषि साख विभाग—यह रिजर्व बैंक का एक विशेष विभाग है जिसके कार्य निम्न हैं; (१) कृषि-साख सम्बन्धी प्रश्नों का अध्ययन करने के लिए कुछ विशेषज्ञों को नियुक्त करे जिनसे केन्द्रीय और राज्य सरकारें, प्रदेशीय सहकारी बैंक तथा अन्य बैंक समय-समय पर विचार विमर्श कर सकें और (२) कृषि साख से सम्बन्धित बैंक के कार्यों, राजकीय सहकारी बैंकों और कृषि साख से सम्बन्धित किसी भी अन्य बैंक या संगठन से अपने सम्बन्धों का उचित सामञ्जस्य स्थापित

करे। पहले रिजर्व बैंक का यह विभाग केवल कुछ रिपोर्ट जारी किया करता था और कृषि साख के पुनर्संगठन के लिए कुछ भी महत्वपूर्ण कार्य नहीं किया गया। इस कमी के कारण रिजर्व बैंक की कड़ी आलोचना हुई है कि इसने कृषि साख को उचित रीति से संगठित करने के कार्य की ओर उचित ध्यान नहीं दिया जब कि कानून के अनुसार यह उसका उत्तरदायित्व था। पिछले दो वर्षों में बैंक ने इस कमी को पूरा करने के लिए कुछ प्रयत्न किये हैं।

कृषि कार्य से सम्बन्धित विनिमय अधिपत्रों या हुन्डियों के भुगतान का समय ६ से १५ महीने कर दिया गया है। साथ ही अब इस बात की आवश्यकता नहीं रही कि सहकारी बैंक रिजर्व बैंक से लिए गए ऋणों का निश्चित तिथि तक भुगतान कर दें अर्थात अब यह जरूरी नहीं है कि बिना ऋण की अवधि का विचार किये भुगतान ३० सितम्बर तक कर दिया जाय। अब प्रत्येक ऋण का भुगतान प्रायः १२ महीने में हो जाना चाहिये परन्तु विशेष परिस्थितियों में यह अवधि १५ महीने कर दी जाती है। साख शेष ऋण की रकम तक ही सीमित है। पहले इसका सम्बन्ध ऋण की कुल रकम से होता था। सहकारी संस्थाओं के लिए ब्याज की दर बैंक दर के बढ़ने पर भी डेढ़ प्रतिशत रखी गई है। ग्राम्य बैंकिंग जाँच समिति के सुझाव के अनुसार स्टेट बैंक आफ इन्डिया को और अधिक शाखायें खोलने की अनुमति दी गई है और रुपये की निकासी की भी सुविधाएँ बढ़ गई हैं। रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ऐक्ट के १९५१ और १९५३ के संशोधन से ग्राम्य ऋण के क्षेत्र में रिजर्व बैंक का कार्य और अधिक विस्तृत हो गया है। ऐक्ट के संशोधन में "कृषि सम्बन्धी फसली प्रक्रियायें तथा कृषि उत्पत्ति की बिक्री" का अर्थ अधिक विस्तृत कर दिया गया है और अब इसके अन्तर्गत मिश्रित कृषि कार्य तथा किसानों अथवा किसानों की संस्थाओं द्वारा कृषि उत्पत्ति का विधायन (Processing) भी सम्मिलित कर लिया गया है। अल्पकालीन ऋण की अवधि बढ़ाकर १५ महीने कर दी गई है और बैंक को यह अधिकार दे दिया गया है कि वह मध्यकालीन ऋण अधिक से अधिक पांच वर्ष की अवधि तक का दे सकता है। इसके अतिरिक्त सहकारी बैंकों के अधिपात्रों आदि का पुनःपूर्वप्रापण (Rediscounting) करने का अधिकार भी रिजर्व बैंक को प्राप्त हो गया है और कुटीर उद्योगों तथा छोटे उद्योगों के उत्पादन तथा बिक्री कार्यों को वित्तीय सहायता देने की अनुमति भी प्रदान कर दी गई है।

उपर्युक्त सुविधायें देने के अतिरिक्त रिजर्व बैंक परोक्षरूप से खेती के लिये दीर्घकालीन ऋण का भी प्रबन्ध करता है। रिजर्व बैंक १९४८ में भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों (Debentures) को कुछ शर्तों पर १०% तक खरीदने के लिये

तैयार था। १६५० में यह सीमा भी बढ़ा कर २०% तक कर दी गई। यह योजना अब और अधिक विस्तृत कर दी गई है।

१६५५ के रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ऐक्ट (संशोधन) के अन्तर्गत रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ने (१) राष्ट्रीय-कृषि साख-कोष (दीर्घकालीन कार्यों के लिये) और (२) राष्ट्रीय-कृषि-साख (स्थायित्व) कोष स्थापित कर दिया है। दीर्घकालीन कार्य कोष में आरम्भ में ह्‌ा १० करोड़ रुपया, जो कि सरकार से प्राप्त होगा, जमा कर दिया जायगा और जुलाई १६५५ से ५ वर्ष तक प्रति वर्ष ५ करोड़ रुपया रिजर्व बैंक द्वारा जमा किया जायगा। यह कोष राज्य सरकारों को प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में सहकारी समितियों को शेयर पूँजी प्रदान करने के लिये, राज्य सहकारी बैंकों को कृषि कार्यों के सम्बन्ध में केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों को, और केन्द्रीय भूमि बन्धक बैंकों के ऋण पत्रों के खरीदने के लिए ऋण रूप में दिया जायगा। ३० जून १६५७ के अन्त में यह कोष २० करोड़ रुपया था तथा सहकारी संस्थाओं की हिस्सा पूंजी में योगदान देने के लिये १२ राज्य-सहकारी के कुल ४·५८ करोड़ रु० का ऋण दिया गया। स्थायित्व प्रदान करने वाला कोष, जिसमें प्रति वर्ष १ करोड़ रुपया पांच वर्षों तक ३० जून १६५६ से जमा किया जाया करेगा राज्य सहकारी बैंकों को ऋण रूप में कम से कम १५ महीने की अवधि के लिये और अधिक से अधिक ५ वर्ष की अवधि के लिये दिया जायगा ताकि उससे वे बैंक विनिमय अधिपत्रों और प्रतिज्ञा पात्रों के सम्बन्ध में जिनको पूर्वप्रापण रिजर्व बैंक में कराया है, यदि कुछ अकाल, सूखा तथा अन्य किसी प्राकृतिक प्रकोप के कारण देना बाकी रह गया हो तो वे अदा कर सकें। ३० जून १६५७ को इसके द्वारा उधार दी गयी राशि २ करोड़ रु० थी। यह कोष भारतीय कृषि की दीर्घकालीन वित्त की आवश्यकता पूरी करेंगे।

व्यक्तिगत क्षेत्र में वित्तीय सहायता—व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये वित्तीय सहायता सम्बन्धी कमेटी ने, जिसे प्रायः शर्राफ कमेटी कहते हैं, जो रिजर्व बैंक द्वारा अक्टूबर १६५३ में नियुक्त की गई थी और जिसने मई १६५४ में अपनी रिपोर्ट दी जिसमें उसने पंचवर्षीय योजना के व्यक्तिगत क्षेत्र को वित्तीय सहायता प्रदान करने के सम्बन्ध में अनेकों अभिस्ताव किये हैं। जहाँ तक भारतीय रिजर्व बैंक का सम्बन्ध है कमेटी ने यह सिफारिश की है कि (१) हुन्डी बाजार योजना के अन्तर्गत इसे सुविधाओं का विस्तार बढ़ा देना चाहिये; (२) निकासी की सुविधाओं के सम्बन्ध की योजना जो उसने तैयार की है अधिक विस्तृत की जानी चाहिये; (३) सरकार की सलाह से उसे उन लाइसेन्स प्राप्त अनुसूचित बैंकों को वित्तीय सहायता-देने की एक योजना बनानी चाहिये जो अपने पूर्व निश्चित प्रसार कार्य-

क्रम के अनुसार जिसे रिजर्व बैंक ने स्वीकार कर लिया है नई शाखायें खोलने जा रहे हैं ; (४) देशी बैंकरों तथा शर्राफों के रिजर्व बैंक से सीधे-सीधे सम्बन्धित किये जाने के प्रश्न पर सक्रिय रूप से विचार किया जाना चाहिये; (५) जब तक इस प्रकार का देशी बैंकों का सम्बन्ध रिजर्व बैंक से स्थापित नहीं हो जाता, रिजर्व बैंक द्वारा देशी बैंकरों की मुद्दती हुन्डियों के अनुसूचित बैंकों के माध्यम से पूर्व-प्रापणी करने का प्रबन्ध किया जाना चाहिए; (६) रिजर्व बैंक को चाहिये कि जो नियम आदि उसने बैंकिंग के सिद्धान्तानुसार बनाये हैं और जो निर्देश जारी किये हैं उनके छोटे-छोटे बैंकों के सम्बन्ध में प्रयोग करने में किस सीमा तक शिथिल करना वाञ्छनीय हो सकता है, इस बात पर विचार करें (७) रिजर्व बैंक को भारतीय औद्योगिक वित्तीय नियम और राज्य वित्तीय निगम के शेयरों और बैंक को सहकारी अधिपत्रों के समकक्ष रिजर्व बैंक आफ इन्डिया ऐक्ट की धारा १७ (४) (क) के अन्तर्गत ऋण देने के लिये समझना चाहिये; (८) हुन्डी बाजार योजना के अनुरूप मध्यवर्ती अवधि के लिये बैंकों के पूंजी स्रोतों की वृद्धि की सम्भावनाओं का विस्तार करने के लिये रिजर्व बैंक को प्रयत्न करना चाहिए; और (९) बैंक को छोटे उद्योगों को वित्तीय सहायता प्रदान करने के लिए एक विशिष्ट विकास निगम की स्थापना के लिये आगे आना चाहिये। यदि ये सिफारिशें कार्यान्वित कर दी जाँय तो व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये प्राप्त वित्तीय सहायता की मात्रा बहुत अधिक बढ़ जायगी।

परन्तु अभी तक रिजर्व बैंक के लिये यह सम्भव नहीं हो सका है कि उपर्युक्त सिफारिशों को कार्यान्वित कर सके। हुन्डी बाजार योजना और अधिक विस्तृत कर दी गई और भारतीय औद्योगिक वित्तीय निगम तथा राज्य वित्तीय निगम के शेयर और बॉड आदि धारा १७ (४) (क) के अन्तर्गत ऋण देने के लिये समकक्ष समझे जाने लगे हैं। व्यक्तिगत उद्योग क्षेत्र में मध्यम आकार के उद्योगों के वित्त प्रदान करने के लिये ५ जून १९५८ को एक पुनर्वित्त निगम (Refinance Corporation) की स्थापना की गई जिसका विस्तृत विवरण 'औद्योगिक वित्त निगम' अध्याय में दिया गया है। अब औद्योगिक वित्त में रिजर्व बैंक के लिये काफी कार्य-क्षेत्र है।

राष्ट्रीयकरण

१९४८ के भारतीय रिजर्व बैंक कानून के अन्तर्गत पहली जनवरी १९४९ को रिजर्व बैंक का राष्ट्रीकरण किया गया और तब से यह बैंक सरकारी संस्था बन गयी। इसका तात्पर्य यह है कि रिजर्व बैंक की स्थापना से पहले

जो लोग सरकारी केन्द्रीय बैंक का समर्थन करते थे, सही सिद्ध हुए। परन्तु गैर सरकारी की अपेक्षा सरकारी बैंक की विशेषताओं के सम्बन्ध में पहले के इन समर्थकों ने जो तर्क दिये थे उनकी अपेक्षा अब अन्य कारणों के आधार पर सरकारी केन्द्रीय बैंक का समर्थन किया जाता है। यह सत्य है कि रिजर्व बैंक के राष्ट्रीकरण से उनको जिस परिणाम की आशा थी वह पूरा हुआ।

रिजर्व बैंक के राष्ट्रीकरण का अनेक कारणों से समर्थन किया गया है—(१) राष्ट्रमण्डल के अनेक देशों में, जिनमें ब्रिटेश भी शामिल हैं, केन्द्रीय बैंकों का राष्ट्रीकरण हो चुका है और केन्द्रीय बैंकों को सरकारी बैंकों का रूप देने के लिए विश्वव्यापी आन्दोलन भी है। भारतीय रिजर्व बैंक का इसी आधार पर राष्ट्रीकरण किया गया। (२) युद्ध काल के अनुभव ने भारतीय रिजर्व बैंक की स्वतंत्रता का असली चित्र प्रस्तुत किया। रिजर्व बैंक वित्त मंत्रालय के आधीन सरकारी विभाग सा बन गया। रिजर्व बैंक का राष्ट्रीकरण हो जाने से उस स्थिति को कानूनी मान्यता मिल गयी। (३) जब रिजर्व बैंक निजी संस्था थी तब बैंक के शेयर कुछ ही लोगों के अधिकार में आ गये थे और द्रव्य तथा बैंकिंग का संचालन करने के लिए बैंक को जो बहुत अधिक अधिकार प्राप्त हैं, उनके दुरुपयोग की पूरी संभावना थी। १६४६ के बैंकिंग कम्पनी कानून में रिजर्व बैंक को नियंत्रण तथा संचालन के अनेक अधिकार प्राप्त हैं और यदि बैंक एक निजी संस्था के रूप में होता तो इन अधिकारों के दुरुपयोग की अधिक आशंका थी। (४) पंचवर्षीय योजना को लागू करने के लिए यह आवश्यक है कि योजना आयोग और भारतीय रिजर्व बैंक के सम्बन्ध बिल्कुल स्पष्ट और सुलझे हुए हों। यह तब तक संभव नहीं था जब तक बैंक सरकारी संस्था के रूप में कार्य न करता। द्रव्य संग्रहीत करने में और मुद्रा और साख का नियंत्रण करने में रिजर्व बैंक विशेष योगदान देता है जिसकी योजना की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति करने में विशेष महत्व है।

इसके विरुद्ध भारतीय रिजर्व बैंक के राष्ट्रीकरण की आलोचना भी की गई है। यह कहा गया है कि (१) यह भारत सरकार की सामान्य नीति के अनुकूल नहीं है। १६४८ में सरकार की औद्योगिक नीति यह थी कि राष्ट्रीकरण किया जाय परन्तु, जैसा हम अन्यत्र लिख चुके हैं, बाद में इस नीति को बदल दिया गया और राष्ट्रीकरण हमारा मुख्य आधार नहीं रहा। यदि उद्योगों और अन्य संस्थाओं का राष्ट्रीकरण किया गया होता तो रिजर्व बैंक का राष्ट्रीकरण बिल्कुल उचित होता; (२) रिजर्व बैंक का राष्ट्रीकरण करके हम बैंक का कार्य चलाने वाले अनुभवी व्यापारियों के पथ प्रदर्शन का लाभ उठाने से वंचित रह गये। अतीत

की भांति एक केन्द्रीय संचालन मण्डल है और क्षेत्रीय परिषदें तो हैं परन्तु इनके सदस्य सभी सरकार से नियुक्त होते हैं और वित्त सम्बन्धी विशेष अनुभव प्राप्त गैर सरकारी व्यक्ति नहीं हैं; (३) अतीत में रिजर्व बैंक का कार्य स्वतन्त्र दृष्टिकोण से प्रभावित होता था और अनेक बार बैंक द्वारा विरोध किए जाने पर वित्त मंत्रालय की भूलें सुधारी गई। इससे दोनों संस्थाओं में सुन्दर सन्तुलन रहता था। परन्तु अब वैसे रिजर्व बैंक को स्वशासन का अधिकार प्राप्त है पर वास्तव में उसकी स्वतन्त्रता नष्ट हो चुकी है। अब यह वित्त मन्त्रालय के हाँथों में है और वह इसका जैसा प्रयोग चाहता है कर सकता है। इससे यह भय है कि मन्त्रालय की भूल की बैंक पर प्रतिक्रिया होने से राष्ट्र की हानि हो सकती है।

अध्याय ४७

व्यापारिक बैंक

स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया एक्सचेंज बैंक, भारतीय अनुसूचित और गैर अनुसूचित बैंक सभी व्यापारिक बैंकों की श्रेणी में आते हैं। इन सभी बैंकों में बैंकिंग के साधारण कार्य, जैसे रुपया जमा करना, एक व्यक्ति या कार्पोरेशन के नाम जमाधन को दूसरे व्यक्ति अथवा कार्पोरेशन के नाम बदलना, भुगतान के लिए विनिमय पत्रों, सरकारी बोंडों को और व्यापारियों की जमानतों को जमाधन में बदलना, इत्यादि किये जाते हैं। इसके साथ ही यह बैंक जेवरात इत्यादि की सुरक्षा और ट्रस्टी इत्यादि का कार्य भार सँभालते हैं। यद्यपि भारतीय इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक नहीं है परन्तु भारतीय बैंकिंग व्यवस्था में इसका एक विशेष स्थान है। यह बैंक सरकारी कारोबार करता है, जहाँ रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं हैं वहाँ रिजर्व बैंक की ओर से कार्य करता है और भारतीय मुद्रा बाजार में लोच बनाये रखने में सहायता देता है। एक्सचेंज बैंक अधिकतर भारत के विदेशी व्यापार, बन्दरगाह से उपभोग के केन्द्रों तक के स्वदेशी व्यापार और देश के अन्दर कच्चे माल के उत्पादन केन्द्रों तक के व्यापार को ही वित्तीय सुविधा देते हैं। एक्सचेंज बैंकों, भारतीय अनुसूचित बैंकों और गैर अनुसूचित बैंकों के कार्य के ढंग में कुछ अन्तर है परन्तु मूल रूप में यह समान प्रकार के कार्य करते हैं और इनकी प्रवृत्तियाँ भी प्रायः समान ही हैं।

१९५७ के अन्त में स्टेट बैंक ऑफ इन्डिया के ६२०, विनिमय बैंक के ६७, अन्य अनुसूचित बैंकों के २५७६ तथा गैर-अनुसूचित (non-scheduled) बैंकों के १११३ कार्यालय थे, जिनमें इनके प्रधान कार्यालयों और शाखाओं की संख्या भी सम्मिलित है। सन् १९५१ के अन्त में इनकी संख्यायें क्रमशः ३९१, ६४, २१९१ तथा १४७३ थीं। इस प्रकार भारत में सभी बैंकों के कुल कार्यालयों की संख्या सन् १९५७ के अन्त में ४,३७६ हो गई जब कि १९५१ में इनकी संख्या ४११९ थी।

१९५१ और १९५७ के बीच स्टेट बैंक आफ इन्डिया के कार्यालयों की संख्या २२९ और बढ़ गई, एक्सचेन्ज बैंकों की तथा अन्य अनुसूचित बैंकों की संख्या भी क्रमशः ३ और ३८५ बढ़ गई। इसी बीच में गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या ३६० कम हो गई। स्वतन्त्रता के पश्चात् जो बैंकों के कार्यालयों की संख्या

में कमी की प्रवृत्ति आ गई थी वह १६५४ में बदल गई जब वर्ष के अन्त तक कार्यालयों की संख्या बढ़ कर ४०३२ हो गई जबकि १६५३ के अन्त तक केवल ४०२१ कार्यालय ही थे। सभी बैंकों के कुल कार्यालयों की संख्या में वृद्धि होने की प्रतिगामी प्रवृत्ति १६५७ तक जारी रही जब कुल संख्या ४३७६ थी। भविष्य में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति सम्भाव्य है।

बैंकों की संख्या में कमी के कारण लोगों को बैंक की सेवाओं की सुविधा में तो अवश्य कमी आई पर वास्तव में इससे बैंकों ने शक्ति संग्रह की। जैसा निम्न तालिका में दर्शाया गया है, १६४६ और १६५३ के बीच यदि हम बैंकों के जमा धन, प्राप्त पूँजी, रक्षित कोष आदि को देखें तो हमें उनकी प्रगति का अनुमान हो जायगा।

(करोड़ रुपयों में)

	१६४६	१६५३	१६५४	१६५५
		अनुसूचित बैंक		
जमा धन	३३·१	३२·६	३२·७	३२·७
रक्षित कोष	२२·६	२७·५	२७·६	२८·२
कुल जमा	६४७·७	६४४·६	७४८·२	८२१·६
		गैर-अनुसूचित बैंक		
जमा धन	५·७	८·५	८·३	७·६
रक्षित कोष	२·२	३·६	४·१	४·२
कुल जमा	४०·०	५६·४	६४·७	६८·६

तालिका से यह पता लगता है कि अनुसूचित बैंकों की प्रगति गैर अनुसूचित बैंकों की अपेक्षा अधिक अच्छी रही। १६५३ में दोनों प्रकार के बैंकों की स्थिति १६४६ की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। उनके रक्षित कोष प्राप्त पूँजी से अधिक थे। १६५३ में भारतीय अनुसूचित बैंकों का रक्षित कोष प्राप्त पूँजी के अनुपात में ८४% था। १६५१ में रक्षित कोष $\frac{3}{4}$, १६४६ में $\frac{2}{3}$ से कुछ अधिक था। गैर अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में रक्षित कोष का प्राप्त पूँजी से अनुपात कोई विशेष नहीं बदला है और $\frac{1}{3}$ के लगभग है।

१६५३ के अन्त और १६५७ के अन्त के बीच के समय में भारतीय बैंकों की स्थिति और अधिक सुदृढ़ हुई। भारतीय अनुसूचित बैंकों की प्रदत्त पूँजी, रक्षित कोष तथा वास्तविक निक्षेपों में पुनः वृद्धि होकर क्रमशः ३४·५, ३०·६ तथा ११०१·१ करोड़ रुपये सन् १६५७ के अन्त तक हो गई। गैर अनुसूचित बैंकों की प्रदत्त पूँजी, रक्षित कोष तथा वास्तविक निक्षेपों में सन् १६५७ के अन्त तक

क्रमशः ६'०, २'६ तथा ४८५ करोड़ रुपयों की कमी हो गई। यह गैर अनुसूचित बैंकों की संख्या में तीव्रगति से कमी होने के कारण थी। भारतीय अनुसूचित तथा गैरः अनुसूचित बैंकों की स्थिति में पर्याप्त सुधार हुआ है, क्योंकि सन् १९५७ के अन्त तक अनुसूचित बैंकों का रक्षित कोष प्रदत्त पूँजी का ८८% से अधिक तथा गैर अनुसूचित बैंकों का रक्षित कोष प्रदत्त पूँजी का ४८% था।

मुख्य विशेषताएँ—भारत में कुछ बड़े-बड़े बैंक हैं और अन्य-छोटे-छोटे बैंक हैं जिनमें बहुत अधिक अन्तर है। सन् १९५७ के अन्त तक २८ बड़े अनुसूचित बैंकों (जिनकी पूँजी तथा रक्षित धन ५.० लाख रुपये या अधिक थी) की प्रदत्त पूँजी और सुरक्षितकोष ५६'३ करोड़ तथा कुल जमा १०७१'७ करोड़ रुपये थी जब कि शेष ४८ बैंकों के पास कुल प्रदत्त पूँजी और सुरक्षितधन ८'८ करोड़ तथा कुल जमा ८३'० करोड़ रुपये थी। गैर अनुसूचित बैंकों की स्थिति यह है कि ५.० लाख या अधिक पूँजी अथवा सुरक्षित कोष वाले १बैंक की कुल पूंजी और रक्षित कोष ६० लाख रुपये और जमा धन ६० लाख रुपये थी। ५ लाख से ५.० लाख के बीच पूँजी और सुरक्षित कोष वाले ५५ बैंकों में ४'३ करोड़ रुपये की पूँजी और सुरक्षित कोष था, और ६'४ करोड़ रुपये जमा धन था और शेष २६२ गैर अनुसूचित बैंकों के पास प्राप्त पूँजी और रक्षित कोष ४'१ करोड़ रुपया और कुल जमाधन २१'२ करोड़ रुपया था। भारतीय अनुसूचित और गैर अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में एक साथ विचार करने पर पता चलेगा कि सन् १९५७ में ६६% बैंकों में से प्रत्येक की पूँजी और प्रारक्षण (reserve) ५ लाख रुपये से कम तथा कुल पूँजी एवं प्रारक्षण की केवल ५% और कुल बैंकों के जमा धन की १½ प्रतिशत ही थी। जबकि ऐसे बैंकों—जिनकी पूँजी तथा प्रारक्षण ५.० लाख रुपये अथवा अधिक थी की मात्रा कुल बैंको की संख्या का ७½ प्रतिशत और कुल पूँजी तथा प्रारक्षण की ७६¾% तथा कुल जमा का ८८% थी। बैंकिंग की शक्ति के केन्द्रीयकरण से यह आभास मिलता है कि भारत आर्थिक दृष्टि से कितना पिछड़ा हुआ है और यह स्थिति भारत में बैंकिंग व्यवस्था के विकास के अनुकूल नहीं है। यदि कुछ बहुत बड़े और कुछ बहुत छोटे बैंकों की अपेक्षा, जैसा कि वर्तमान में है, समान आकार के अनेक बैंक होते तो उससे देश का अधिक हित संभव था।

दूसरी विशेषता यह है कि देश के हर भाग में बैंकिंग की सुविधा समान रूप से विकसित नहीं हो पाई। कुछ राज्यों में अधिक बैंक हैं और अन्य में आवश्यकता से कम हैं। इसके साथ ही बैंक अधिकतर बड़े कस्बों और शहरों में केन्द्रित हैं और छोटे कस्बों तथा ग्राम्य क्षेत्रों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया

गया है। निम्न तालिका १ से स्पष्ट होता है कि बैंकिंग की सुविधा खण्ड 'क' राज्यों में खण्ड 'ख' और 'ग' राज्यों की अपेक्षा अधिक विकसित है। खण्ड 'क' के राज्यों बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश में सबसे अधिक बैंक हैं। इसके बाद पश्चिमी बंगाल, पंजाब, मध्य प्रदेश और बिहार का नम्बर आता है। खण्ड 'ख राज्यों में से त्रिवांकुर-कोचीन, राजस्थान और मैसूर में बैंक व्यवस्था अपेक्षाकृत अधिक विकसित है जबकि खण्ड 'ग' राज्यों में दिल्ली, अजमेर और हिमांचल प्रदेश में अन्य राज्यों की अपेक्षा बैंक व्यवस्था की अधिक सुविधा है यदि हम बैंक के कार्यालयों पर जनसंख्या के दृष्टिकोण से विचार करते हैं तब हमें यह ज्ञात होता है कि ऐसे कस्बों में जिनकी जनसंख्या २५ हजार अथवा इससे अधिक है २६५७ कार्यालय (अर्थात् कुल का केवल ६१½%) तथा उन कस्बों में जिनकी जनसंख्या ५ हजार और २५ हजार के बीच में हैं केवल १३४० कार्यालय हैं। सन् १६५७ के अन्त में ५० हजार से अधिक जनसंख्या वाले कस्बों में २०२२ कार्यालय १७६ स्थानों पर थे तथा ५० हजार से कम जनसंख्या वाले कस्बों में २३५४ कार्यालय ११५८ स्थानों पर थे। छोटे कस्बों और ग्राम्य क्षेत्रों की ओर उचित ध्यान न देकर बैंकों के बड़े कस्बों और शहरों में केन्द्रित हो जाने से (१) कस्बों के बैंकों में परस्पर गहरी प्रतियोगिता हुई है, (२) ग्राम्य क्षेत्रों के प्रति उदासीनता अपनायी गयी है और (३) देश के आर्थिक विकास के लिए ग्राम्य जनता की बचत का संग्रह कर सकने में बैंक असफल रहे हैं।

तालिका १

१६५५ में विभिन्न राज्यों में बैंकों की शाखाओं का विवरण

राज्य	शाखायें	राज्य	शाखायें	राज्य	शाखायें
वर्ग १		वर्ग २		वर्ग ३	
आन्ध्र	१८२			अजमेर	१२
आसाम	३७	हैदराबाद	६७	भोपाल	६
बिहार	१५६	मध्यभारत	६४	कुर्ग	६
बम्बई	५७७	मैसूर	१३१	कच्छ	६
मध्य प्रदेश	१६६	पटियाला संघ	७६	दिल्ली	१०८
मद्रास	७८०	राजस्थान	११८	हिमांचल प्रदेश	३
उड़ीसा	१७	सौराष्ट्र	६७	मणिपुर	१
पंजाब	२१५	त्रिवांकुर कोचीन	५७१	पान्डिचेरी	४
उत्तर प्रदेश	४२६			त्रिपुरा	३
पश्चिमी बंगाल	२४६			विन्ध्य प्रदेश	६
कुल	२८०५	कुल	११५४	कुल	१५८

अध्याय ४८

एक्सचेंज बैंक

भारत में जितने भी एक्सचेंज बैंक हैं सभी विदेशी बैंकों की शाखायें हैं। इन बैंकों से (१) भारत के आयात और निर्यात व्यापार की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति की जाती है, (२) बन्दरगाहों से देश के अन्दर उपभोग के केन्द्रों तक और केन्द्रों से बन्दरगाहों तक माल लाने ले जाने का आन्तरिक व्यापार किया जाता है और (३) इन बैंकों में बचत जमा की जाती है, हुण्डियाँ भुनाई जाती हैं और अन्य व्यापारिक बैंकों की तरह व्यापार, उद्योग एवम् वाणिज्य के लिए ऋण भी दिया जाता है। १९५७ के अन्त में भारत में १७ एक्सचेन्ज बैंक थे जिन्हें अब विदेशी बैंक कहते हैं, जिनकी ६७ शाखायें थीं। इनके पास १९६४ करोड़ रुपये जमा धन था जिसमें से चालू पूँजी १२०.६ करोड़ रुपये और स्थायी पूँजी ७५.८ करोड़ रुपया थी। अतीत में एक्सचेन्ज बैंक भारत में लेनदेन के लिए आवश्यक धन की पूर्ति विदेशों में प्राप्त जमाधन से करते थे परन्तु कुछ वर्षों से भारत की बचत को आकर्षित करने के लिए इन बैंकों ने भारतीय जनता को सुविधाएँ दी हैं।

१९५७ में एक्सचेन्ज बैंकों के पास नकद तथा रिजर्व बैंक में जमा जितनी रकम थी वह कुल जमाधन का केवल ६ प्रतिशत थी। यह स्थिति भारतीय अनुसूचित बैंकों की स्थिति से भी गिरी हुई है, परन्तु यह कोई दुर्बलता का लक्षण नहीं है, इसके विपरीत इससे प्रकट होता है कि एक्सचेन्ज बैंक ऐसी रकम नहीं रखते हैं जो व्यर्थ पड़ी रहे। वह अपने साधनों का उचित प्रयोग करते हैं। इन बैंकों की वित्तीय स्थिति काफी दृढ़ है। १९५७ में एक्सचेन्ज बैंकों ने ऋण (Loans and advances) और हुण्डी भुनाने से सम्बन्धित १८४.४ करोड़ रुपये (अर्थात् कुल जमाधन के ९४ प्रतिशत) का कारोबार किया और ४४.४ करोड़ रुपये (अर्थात् कुल जमाधन का २२.६ प्रतिशत) का विनियोग किया। इसके विपरीत भारतीय अनुसूचित बैंकों के विनियोग और ऋण का है। इन बैंकों ने विनियोग और ऋण में कुल जमाधन का क्रमशः ३६.६ और ५७.७ प्रतिशत क्रमशः लगाया। १९४६ और १९४२ के बीच एक्सचेन्ज बैंकों के पास जमाधन सभी बैंकों के कुल जमाधन का १८ प्रतिशत से बढ़कर २० प्रतिशत हो गया और इनके द्वारा दिया गया ऋण २४ से २६ प्रतिशत तक बढ़ गया परन्तु विनियोग

सभी व्यापारिक बैंकों के कुल विनियोग का पहले १३ प्रतिशत था जो उक्त अवधि में गिरकर १२ प्रतिशत रह गया। १९५३ के अन्त में कुल बैंकों का जमाधन १८%, उधार दिया हुआ धन २४% और विनियोग १२% हो गया। १९५७ के अन्त में स्थिति कुछ बिगड़ी जब कि विदेशी विनिमय बैंकों के पास सब अनुसूचित बैंकों के योग के अनुपात में कुल जमाधन का लगभग १५% कुल ऋण का २२% और कुल विनियोग का ६% ही रह गया। इसका कारण यह बताया जाता है कि पिछले दो वर्षों में भारतीय अनुसूचित बैंकों ने अपने जमाधन विनियोग तथा ऋण में दी हुई रकम में तीव्र गति से वृद्धि की है। इससे प्रकट होता है कि अन्य व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा अब एक्सचेन्ज बैंकों के जमाधन और उनके द्वारा दिये गये ऋण की रकम से अधिक वृद्धि हुई। इन एक्सचेन्ज बैंकों में से दो बैंक अधिकतर भ्रमणार्थियों के यातायात से सम्बन्ध रखते हैं, कुछ अपना अधिकांश कारोबार भारत में ही करते हैं और शेष बैंक जिनकी संख्या अपेक्षाकृत अधिक है अपना अधिकांश कारोबार विदेशों में करते हैं और भारत में उनकी पूँजी का बहुत थोड़ा अंश लगा हुआ है। इन एक्सचेन्ज बैंकों में सबसे बड़े बैंक लायड बैंक, चार्टर्ड बैंक आफ इण्डिया आस्ट्रेलिया एन्ड चाइना, नेशनल बैंक आव इण्डिया और मर्केन्टायल बैंक आफ इण्डिया है।

व्यापार के वित्तीय साधन—एक्सचेन्ज बैंक यद्यपि भारत में सभी प्रकार के बैंकिंग के कार्य करते हैं परन्तु इनका मुख्य कार्य भारत के आयात-निर्यात व्यापार को वित्तीय सहायता देना है। यद्यपि आधारभूत सिद्धान्त समान है फिर भी आयात तथा निर्यात व्यापर को वित्तीय सहायता देने में कुछ भिन्नता है। निर्यात व्यापार के कागजात (Documents on Acceptance) अधिकतर बैंक और आयात कर्ता की स्वीकृति मिल जाने पर आयात कर्ता को दे दिये जाते हैं। कभी-कभी कागजात (Documents on Payment) नकद रुपया मिलने पर दिये जाते हैं। निर्यात व्यापार में भारतीय निर्यातकर्त्ता इस बात पर ध्यान देते हैं कि उनके माल का खरीदार लन्दन के किसी एक बैंक द्वारा भारत में अपनी साख स्थापित करे। निर्यातकर्त्ता ऐसी साख व्यवस्था की मांग करता है जिसका उल्लङ्घन न किया जा सके क्योंकि इस रीति से जब तक वह माल भेजने का प्रबन्ध करे तब तक खरीदार अपना निश्चय नहीं बदल सकता है। जब खरीदार साख स्थापित कर लेता है तब लन्दन बैंक की भारतीय शाखा या उसका प्रतिनिधि जो इस सम्बन्ध में सारी व्यवस्था करता है निर्यात कर्त्ता को सलाह देता है। तब निर्यात कर्त्ता साख के अन्तर्गत हुन्डी तैयार करता है और आवश्यक कागजात के साथ भारत में अपने बैंक को देता है। अधिकतर हुन्डी बैंक और आयात कर्त्ता की

स्वीकृति मिल जाने पर लन्दन बैंक के द्वारा विदेशी आयात कर्त्ता को दे दी जाती है और कभी-कभी यह हुन्डियाँ नकद रुपया मिलने पर भी दी जाती है। हुन्डी की अवधि प्रायः ६० दिन की होती है। परन्तु इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। भारतीय बैंक इन हुन्डियों को साख स्थापित करनेवाले बैंक को भेज देता है। फिर यह हुन्डियाँ स्वीकृति के लिए प्रस्तुत की जाती हैं, इनमें सम्बन्धित एक्सचेन्ज बैंक की ओर से हस्ताक्षर किये जाते हैं और लन्दन द्रव्य बाजार में इन्हें भुनाया जाता है। इस प्रकार बैंकों का धन बराबर काम में लगा रहता है। यदि बैंकों के पास नकदी पर्याप्त हो तो यह बैंक इन हुन्डियों को सामान्य रूप से भुनाने की पूरी अवधि तक रोक रखते हैं।

दूसरी ओर आयात व्यापार के कागजात अधिकतर नकद रुपया लेकर दिये जाते हैं। भारत में जो आयात किया जाता है वह निर्यात करनेवाले देश में भारत की साख के अन्तर्गत दर्शनी या मुद्दती हुन्डी के द्वारा होता है। मुद्दती हुन्डी की ३० दिन की अवधि काफी लोकप्रिय है क्योंकि इस बीच माल के आवश्यक कागजात हवाई जहाज द्वारा प्राप्त हो जाते हैं और जहाज भी माल लेकर नियत स्थान पर पहुँच जाता है। इसकी सामान्य विधि यह है कि निर्यातकर्त्ता किसी विदेशी एक्सचेन्ज बैंक, जैसे लन्दन के एक्सचेन्ज बैंक, में माल बन्धक रख कर हुन्डी को भुना लेता है जिसके फलस्वरूप हुन्डी का मालिक एक्सचेन्ज बैंक बन जाता है। इसके बाद यह हुन्डी यदि मुद्दती हुन्डी है तो एक्सचेन्ज बैंक की भारतीय शाखा को भेज दी जाती है। भारतीय शाखा इसे आयातकर्त्ता की स्वीकृति के लिए भेजती है (इसमें हुन्डी बैंक की भारतीय शाखा में रहती है और आयात कर्त्ता को नहीं दी जाती है) और यदि हुन्डी दर्शनी है तो आयात कर्त्ता को रुपये का भुगतान करने पर दे दी जाती है। आयातकर्त्ता प्रायः हुन्डी को स्वीकार करके बैंक से भुगतान के पहले माल दे देने के लिए आवेदन पत्र भेजता है। इसके लिए उसे अमानत (Trust receipt) देनी पड़ती है। इसके बाद बिल्टी तथा अन्य कागजात आयात कर्त्ता को दे दिये जाते हैं जो एक्सचेन्ज बैंक के ट्रस्टी रूप में माल पर अपना कब्जा कर सकते हैं। माल गोदाम में रख दिया जाता है और उसके बिक जाने पर हुन्डी का भुगतान कर दिया जाता है। यह ध्यान देने योग्य बात है कि माल को बन्धक रखने की व्यवस्था करने के बाद ही आयातकर्त्ता को उस पर अधिकार दिया जाता है। जिन फर्मों की प्रसिद्धि अपेक्षाकृत कम है उनका सामान बैंक में रख लिया जाता है जिस पर अधिकार नियंत्रण बैंक का ही रहता है और वही उसकी बिक्री करता है। बिक्री के इस रुपये से बैंक उधार दिये गये रुपये का भुगतान करता है। एक्सचेन्ज बैंक प्रायः उन्हीं फर्मों

को अपना ग्राहक बनाते हैं जिनकी स्थिति अच्छी होती है और व्यापार क्षेत्र में जिनकी कुछ प्रसिद्धि भी होती। उनका माल रेहन रख लिया जाता है और आयात कर्त्ता जैसे-जैसे रुपया चुकाता है वैसे-वैसे अपना माल उठाता जाता है।

आलोचना—भारत में एक्सचेन्ज बैंकों के कार्य की कड़ी आलोचना की गई है। यह कहा जाता है कि (१) यह बैंक विदेशी हैं और इन पर विदेशियों का ही नियंत्रण है। इनके कारण भारतीय आयात एवम् निर्यात व्यापार की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति करने के वैधानिक अधिकार से भारतीय वंचित रह जाते हैं। कुछ भारतीय बैंक, जैसे इम्पीरियल बैंक, विदेशी मुद्रा विनिमय का कार्य भी करते हैं परन्तु उनका यह कारोबार बहुत कम है। इस क्षेत्र में कुल जितना कारोबार है यह बैंक उसका केवल १५ प्रतिशत संभालते हैं; (२) एक्सचेन्ज बैंकों ने भारतीय कम्पनियों की अपेक्षा भारत में विदेशी कम्पनियों को विशेष सुविधा दी। भारतीय कम्पनियों को सुविधा देने से पहले इन्होंने बराबर इस बात पर जोर दिया कि कारोबार विदेशी जहाजी कम्पनी, बीमा कम्पनी इत्यादि को दिया जाय। इससे भारतीय और विदेशी कम्पनियों में भेद किया जाने लगा जबकि भारतीय कम्पनियों को अधिक सुविधायें मिलनी चाहिये थीं; और (३) कुछ समय पहले तक एक्सचेन्ज बैंकों पर अन्य भारतीय व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा रिजर्व बैंक का अधिक नियंत्रण नहीं था। इससे उन एक्सचेन्ज बैंकों से लेन-देन करने वालों को असुविधा का सामना करना पड़ा। परन्तु बैंकिंग कम्पनी का कानून द्वारा विदेशी बैंकों के सम्बन्ध में विशेष व्यवस्था करके उक्त दोष को दूर कर दिया गया है।

बैंकिंग कम्पनी कानून (१९४९)—इस कानून की अनेक व्यवस्थायें जैसे लाइसेन्स, ऋण पर प्रतिबन्ध, नई शाखाओं की स्थापना, जाँच इत्यादि एक्सचेंज बैंकों पर भी उतनी ही लागू होती हैं जितनी अन्य व्यापारिक बैंकों पर। इसके अतिरिक्त भारतीय लेन-देन करने वालो के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से विदेशी बैंकों के सम्बन्ध में कुछ विशेष व्यवस्थायें की गई हैं, (१) भारत के बाहर जो बैंक रजिस्टर हुए हैं (incorporated) उनकी पूरी चुकता पूँजी और सुरक्षित कोष कम से कम १५ लाख रुपये होना चाहिए; परन्तु यदि इनकी शाखायें बम्बई या कलकत्ते में हैं तो उनके पास कम से कम २० लाख की पूँजी और सुरक्षित कोष होना चाहिए। इस प्रकार चुकता पूँजी और सुरक्षित कोष की न्यूनतम रकम भारतीय व्यापारिक बैंकों की अपेक्षा एक्सचेंज बैंकों के लिए अधिक निर्धारित की गई है। (२) भारत के बाहर रजिस्टर हुए बैंकों के बन्द हो जाने (liquidation) पर रिजर्व बैंक में उसका जितना धन जमा है उस पर सबसे पहले भारतीय लेन-देन-कर्त्ताओं का अधिकार होगा। (३) भारत के बाहर रजिस्टर

हुए बैंकों में से प्रत्येक को वर्ष के अन्त में अपनी भारतीय शाखा द्वारा किये गये लेन-देन तथा हानि-लाभ का ब्यौरा तैयार करना पड़ेगा। और (४) प्रति तिमाही के अन्तिम दिन इस प्रकार के सभी बैंकों के पास उनके चालू और मुद्दती देय का ७५ प्रतिशत पावना होना चाहिए।

इस व्यवस्थाओं से भारतीय लेनदेन कर्त्ताओं के हितों की रक्षा की गई है। इससे एक्सचेंज बैंकों का कार्य भी पहले से अच्छी प्रकार चला परन्तु वर्तमान परिस्थिति में भारतीय व्यापारिक बैंक विदेशी एक्सचेंज बैंकों का स्थान ग्रहण कर सकने में समर्थ नहीं हैं क्योंकि (१) पूँजी की कमी है, (२) कुशल कर्मचारियों का अभाव है और (३) यदि भारतीय बैंक विदेशों में अपनी शाखाएँ स्थापित करें तो वहाँ की पूँजी को आकर्षित कर सकना संभव नहीं है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए कुछ समय तक विदेशी एक्सचेंज बैंकों को भारत से अलग नहीं किया जा सकता है और भारतीय बैंकिंग, व्यापार तथा उद्योग के हितों की रक्षा केवल रिजर्व बैंक द्वारा इन एक्सचेंज बैंकों के कार्य का सावधानी से संचालन करके ही की जा सकती है।

अध्याय ४६

स्टेट बैंक

भारतीय स्टेट बैंक की स्थापना पहिली जुलाई १६५५ को स्टेट बैंक आफ इन्डिया एक्ट १६५५ के अनुसार जिसे राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृति ८ मई १६५५ को मिली थी, हुई। स्टेट बैंक की जिसने इम्पीरियल बैंक का स्थान ले लिया है स्वीकृत पूंजी ५० करोड़ रुपया और पहिली जुलाई १६५५ को निर्गमित पूंजी ५.६२५ करोड़ रुपया थी। एक्ट के अनुसार इम्पीरियल बैंक के शेयर होल्डरों को उनके पूरा मूल्य देकर प्रत्येक खरीदे शेयर के लिये १७६५ रु० १० आना और आंशिक मूल्य देकर खरीदे शेयर के लिये ४३१ रु० १२ आना ४ पाई हरजाने के तौर पर देने की आशा है। स्टेट बैंक के शेयरों का मूल्य ३५० रु० प्रति शेयर निश्चित कर दिया गया है। भारत का रिजर्व बैंक ५५% शेयर स्वयं खरीदेगा और ४५% शेयर दूसरों को वेचेगा।

इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया—इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया जिसका स्थान स्टेट बैंक ने लिया, देश का सबसे बड़ा व्यापारी बैंक १६२१—१६५५ के काम में अपने सम्मानित स्थान पूंजी, जमाधन, उधार दिये ऋण आदि के दृष्टिकोण से माना जाता था। इसकी स्थापना १६२१ में कलकत्ता बम्बई और मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंकों के एकीकरण के द्वारा हुई थी। एकीकरण के समय बैंक की पूंजी ३.७५ करोड़ रुपयों से बढ़कर ५.६२ करोड़ रुपये हो गई और व्यापारिक बैंको के कार्यों के अतिरिक्त उसे कुछ सेन्ट्रल बैंक के कार्य भी करने पड़ते थे पहिली जुलाई १६५५ से यह बैंक स्टेट बैंक द्वारा अधिकृत कर लिया गया।

१६२१-३५—१६२१ से १६३५ के बीच भारतीय इम्पीरियल बैंक ने (१) साधारण व्यापारिक बैंकों के कार्य जैसे बचत जमा करना, ऋण देना, एक स्थान से दूसरे स्थान तक रुपया भेजना और जेवरात इत्यादि कीमती सामान को सुरक्षित रखना इत्यादि किये परन्तु कुछ विशेषता होने के कारण सरकार ने इसके व्यापारिक बैंकिंग कार्य में कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये और यह निर्धारित कर दिया कि यह बैंक ६ महीने से अधिक समय के लिए ऋण नहीं दे सकेगा, अचल सम्पत्ति के आधार पर ऋण नहीं देगा, और अपने ही शेयरों की जमानत पर भी ऋण नहीं देगा। यह भी निश्चित कर दिया कि यह बैंक अपने ग्राहक

की उचित मांग की पूर्ति के अतिरिक्त विदेशी मुद्रा विनिमय का कारोबार नहीं करेगा।

(२) जहाँ तक यह मुद्रा की व्यवस्था कर सकता था और द्रव्य बाजार की दर का संचालन कर सकता था इसने केन्द्रीय बैंकिंग संस्था का कार्य किया। भारतीय व्यापारिक बैंक और एक्सचेंज बैंक अपना धन इम्पीरियल बैंक में जमा रखते थे। इसने देश के निकास गृहों (Clearing houses) की भी व्यवस्था की। यद्यपि इम्पीरियल बैंक ने एक निश्चित बैंक दर घोषित की थी और व्यापारिक बैंक अपना धन उसके पास जमा रखते थे फिर भी वह एक पूर्ण अधिकार प्राप्त केन्द्रीय बैंक नहीं था और इसका द्रव्य बाजार पर उतना नियंत्रण नहीं था जितना पूर्णतया केन्द्रीय बैंक होने के लिए आवश्यक है। भारत के व्यापारिक बैंक काफी शक्तिशाली थे और एक्सचेंज बैंक के अतिरिक्त सभी बैंकों का इम्पीरियल बैंक पर विश्वास नहीं था क्योंकि इसके मालिक विदेशी थे और इसका प्रबन्ध भी विदेशियों के हाथ में था। इससे इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक का स्थान न ले सका।

(३) इम्पीरियल बैंक ने सरकारी कारोबार की भी व्यवस्था की। इसमें सरकारी रुपया जमा होता था, सरकार की ओर से यह रुपये का लेन देन करता था, सरकार को ऋण (ways and means advances) देता था। सरकारी ऋण की व्यवस्था करता था और वह सभी कार्य करता था जो सरकारी कारोबार के सम्बन्ध में आवश्यक होते हैं। इससे इम्पीरियल बैंक के पास बहुत सी ऐसी रकम जमा रहती थी जिस पर ब्याज नहीं देना पड़ता था इससे इस बैंक की काफी आलोचना की गई।

१९३५-५५—भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात इम्पीरियल बैंक के महत्व और कारोबार में काफी परिवर्तन हुआ है। इम्पीरियल बैंक आफ इण्डिया संशोधन कानून (१९३४) से अन्तर्गत इम्पीरियल बैंक के ऋण देने के कारोबार में जो प्रतिबन्ध लगे हुये थे हटा दिये गये। इसके अनुसार इम्पीरियल बैंक अब ६ महीने से अधिक समय के लिए ऋण दे सकता है और अपने शेयरों तथा अचल सम्पत्ति के आधार पर भी ऋण दे सकता है इसके साथ ही इम्पीरियल बैंक अब विदेशी मुद्रा विनिमय कार्य भी कर सकता है।

जहाँ रिजर्व बैंक की शाखायें नहीं हैं इम्पीरियल बैंक रिजर्व बैंक के एजेन्ट का कार्य करता है और चूँकि यह सबसे बड़ा बैंक है और अन्य बैंकों में इसका एक विशेष स्थान है इसलिए यह भारतीय द्रव्य बाजार का मुख्य संचालक भी है। व्यापारिक संस्थाएँ, व्यापारिक बैंक और व्यक्ति निजी आवश्यकता पूर्ति के लिए

इम्पीरियल बैंक से ऋण (Advances and loans) और हुन्डी भुनाने इत्यादि की सुविधा प्राप्त करते हैं। भारतीय द्रव्य बाजार की दर में इम्पीरियल बैंक की हुन्डी दर और ऋण की दर का विशेष स्थान है।

सरकारी कारोबार चलाने के लिए इम्पीरियल बैंक को कमीशन मिलता है १९३५ से १९४५ तक के लिए १० वर्ष का पहला समझौता किया गया था। इस समझौते के अनुसार कुल लेन-देन पर प्रतिवर्ष पहले २५० करोड़ रुपयों की रकम पर कमीशन की दर १ प्रतिशत का $\frac{१}{१६}$ और शेष के लिए १ प्रतिशत का $\frac{१}{३२}$ निर्धारित की गई। १९४५ में इन दरों में संशोधन किया गया। १९४५-५० के ५ वर्षों के लिए यह निश्चित किया गया कि इम्पीरियल बैंक को वार्षिक लेन-देन की कुल रकम के प्रथम १५० करोड़ रुपये के लिए १ प्रतिशत का $\frac{१}{१६}$ दूसरे १५० करोड़ रुपयों के लिए १ प्रतिशत का $\frac{१}{३२}$, फिर अगले ३०० करोड़ रुपये पर एक प्रतिशत का $\frac{१}{६४}$ और शेष रकम पर १ प्रतिशत का $\frac{१}{१२८}$ कमीशन दिया जायगा। इम्पीरियल बैंक की इस आधार पर कड़ी आलोचना की गई है कि इसे सरकारी कारोबार से बहुत कमीशन प्राप्त होता है जो अन्य व्यापारिक बैंकों को नहीं मिलता है। ग्राम्य बैंक व्यवस्था जाँच समिति (१९५०) ने इसकी जाँच की और यह पता लगाया कि १९४५ के समझौते के अन्तर्गत कमीशन की दर बहुत कम है और सरकारी कारोबार को चलाने में इम्पीरियल बैंक को भारतीय रिजर्व बैंक से प्राप्त कमीशन से कहीं अधिक खर्च करना पड़ता है। मार्च १९४९ को समाप्त होने वाले ३ वर्षों में इम्पीरियल बैंक को सरकारी कारोबार में ८·८४ लाख रुपये का घाटा उठाना पड़ा जब कि मार्च १९४५ को समाप्त होने वाले ३ वर्षों में इसे ५५·८५ लाख रुपये का लाभ हुआ।

इसको दृष्टि में रखते हुये और भारतीय इम्पीरियल बैंक को उन छोटे २०० केन्द्रों में अपनी शाखायें खोलने को प्रोत्साहित करने के लिए जहाँ सरकारी लेन देन का कार्य काफी होता है ग्राम्य बैंक व्यवस्था जाँच सिमित ने कमीशन की दर बढ़ाने की सिफारिश की। परिणाम स्वरूप भारतीय रिजर्व बैंक इस बात के लिए सहमत हो गया कि १९५० के समझौते के अन्तर्गत १९५० से १९५५ तक के ५ वर्षों में इम्पीरियल बैंक को दिये जाने वाले कमीशन की दर बढ़ा दी जाय। इसके अनुसार अब कमीशन की दर पहले १५० करोड़ रुपयों के लिए एक प्रतिशत का $\frac{१}{१६}$ दूसरे ३०० करोड़ रुपयों के लिए १ प्रतिशत का $\frac{१}{३२}$, ३०० करोड़ रुपयों से १२०० करोड़ रुपयों तक के लिए एक प्रतिशत का $\frac{१}{६४}$ और १२०० करोड़ रुपयों से अधिक के लिए १ प्रतिशत का $\frac{१}{१२८}$ निर्धारित की गई। इस परिवर्तन का परिणाम यह हुआ कि अब १५१ करोड़ से ४५० करोड़ रुपयों के कारोबार के

लिए कमीशन की दर १ प्रतिशत का $\frac{१}{३२}$ रहेगी जब कि १९४५ के समझौते के अन्तर्गत यह दर केवल ३०० करोड़ रुपयों तक ही सीमित थी। इसके साथ ही सबसे कम कमीशन दर अर्थात १ प्रतिशत का $\frac{१}{६४}$ अब १,२०० करोड़ रुपयों से अधिक के लेन देन पर लागू होगी जबकि १९४५ के समझौते के अनुसार यह ६०० करोड़ रुपयों से अधिक के लेन देन पर लागू थी।

जुलाई १९५५ में जिस समय इम्पीरियल बैंक स्टेट बैंक आफ इन्डिया को समर्पित किया गया इम्पीरियल बैंक की ४६१ शाखायें थी जबकि १९५१ में केवल ४२२ शाखायें थीं, १९५२ में ४०८ और १९५१ में ३९१ और १९५० में ३८२ थीं और अकेले इस बैंक के पास कुल बैंकों के जमाधन का २३ प्रतिशत, कुल बैंकों द्वारा दिये ऋण (advances) और हुण्डियों का २० प्रतिशत और कुल विनियोग का २५ प्रतिशत विनियोग था। इम्पीरियल बैंक के पास ५·६२ करोड़ रुपया शेयरों की पूँजी और ६·३५ करोड़ रुपयों का सुरक्षित कोष था। इस प्रकार इम्पीरियल बैंक के पास कुल ११·९७ करोड़ की पूँजी और सुरक्षित कोष था। इससे भारतीय द्रव्य बाजार में इम्पीरियल बैंक के प्रमुख स्थान का आभास हो जाता है।

स्टेट बैंक आफ इण्डिया

स्टेट बैंक का प्रबन्ध कार्य एक केन्द्रीय परिषद द्वारा किया जायगा जिसमें एक प्रधान एक उप प्रधान २ मैनेजिंग डाइरेक्टर तथा १६ अन्य डाइरेक्टर होंगे। इन १६ डाइरेक्टरों में से ६ शेयर होल्डरों द्वारा जिनमें रिजर्व बैंक सम्मिलित किया जायगा और ८ सरकार द्वारा रिजर्व बैंक की राय से प्रादेशिक तथा आर्थिक हित का प्रतिनिधित्व करने के लिये मनोनीति किये जायेंगे इनमें से दो कम से कम ऐसे व्यक्ति होंगे जिन्हें सहकारी संस्थाओं की कार्य प्रणाली का तथा ग्राम्य आर्थिक समस्याओं का विशिष्ट ज्ञान होना आवश्यक होगा और उनमें से एक एक केन्द्रिय सरकार तथा रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त किये जायेंगे। इसके अतिरिक्त स्थानीय परिषद भी होंगे जैसे कि वर्तमान में बम्बई कलकत्ता और मद्रास में स्थापित है।

ऐक्ट की वे व्यवस्थायें जो कि स्टेट बैंक को कुछ कार्यों के करने अथवा अन्य के न करने के सम्बन्ध में निर्देश देती हैं, प्रधानतः इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया एक्ट की व्यवस्थाओं के ही आधार पर बनाई गई हैं जिनके अनुसार स्टेट बैंक को एक व्यापारिक बैंक की तरह काम करने की सुविधायें प्रदान की गई हैं। जहाँ तक आवश्यक समझा गया है संशोधन और परिवर्तन इस दृष्टिकोण से नियमों में कर लिया गया है कि बैंक ग्राम्य अर्थ प्रबन्ध के क्षेत्र में बैंकिंग के सिद्धान्तों का बिना उलङ्घन किये हुये इस नई स्थिति में अपना कर्त्तव्य पूरा कर

सके, और साथ ही साथ अन्य बैंकिंग संस्थाओं के शेयरों की खरीद कर उनकी पूँजी सम्बन्धी कारोबार में गौण रूप से सहयोग दे सके। इस एक्ट में अन्य बैंकों के स्टेट बैंक में मिल जाने की सुविधा जनक सरल व्यवस्था भी दी गई है। इस व्यवस्था का तात्पर्य ऐसे बैंकों को स्टेट बैंक द्वारा अपने में विलयन कर लेने की सुविधा प्रदान करना है जो कि भूतकाल में विभिन्न राज्य सरकारों के सहयोग में उत्पन्न हो गये हैं और चल रहे हैं अथवा जो स्वतंत्र इकाइयों की स्थिति में आगे चल नहीं सकते। स्टेट बैंक रिजर्व बैंक का ऐकाकी प्रतिनिधि के रूप में ऐसे स्थानों पर काम करेगा जहाँ पर रिजर्व बैंक की शाखा नहीं है और स्टेट बैंक की शाखा है।

इम्पीरियल बैंक आफ इन्डिया का राष्ट्रीयकरण इसलिये किया गया क्योंकि (१) जनता यह आलोचना करती थी कि वह उस प्राचीन युग की व्यवस्था का प्रतीक था जबकि इम्पीरियल बैंक विदेशियों के हित साधन के लिये उन्हीं के नियंत्रण में कारोबार करता था, (२) ग्राम्य क्षेत्रों तक बैंकिंग सुविधाओं के पहुँचाने की आवश्यकता समझी जा रही थी जो कि इम्पीरियल बैंक नहीं कर सकता था। १९५० में ग्राम्य बैंकिंग जाँच कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि इस कार्य का आरम्भ करने के लिये इम्पीरियल बैंक को ५ वर्ष के भीतर २७४ शाखायें खोलने के लिये सलाह दी जाय। यह सफल न हो सका। रिजर्व बैंक की सलाह से इम्पीरियल बैंक १ जुलाई १९५१ से ३० जून १९५५ तक के ५ वर्षों के भीतर ११४ शाखायें खोलने के लिये राजी हुआ इसमें नई शाखायें और ट्रेजरी कार्यालय सम्मिलित समझे जायँगे। परन्तु ३० जून १९५५ तक अर्थात् राष्ट्रीयकरण के ठीक पहिले तक इम्पीरियल बैंक केवल ६३ कार्यालय खोल सका और ५१ खुलने से रह गये। यह आशा की जाती है कि राष्ट्रीयकरण के परिणाम स्वरूप नई शाखाओं के खोलने के कार्य में शीघ्रता की जायगी; और (३) भारतीय बैंकिंग संस्थाओं तथा द्रव्य बाजार का विकास करना भी आवश्यक समझा गया जो कि सरकारी संस्था द्वारा ही कुशलता पूर्वक किया जा सकता था।

यद्यपि स्टेट बैंक की कार्य प्रणाली इम्पीरियल बैंक पर मुख्यतः आधारित है फिर भी इसकी कुछ विशेषतायें हैं जैसे (१) एक्ट में यह व्यवस्था है कि केन्द्रीय सरकार स्टेट बैंक को जनता के हित सम्बन्धी नीतियों के सम्बन्ध में आवश्यक उपयुक्त निर्देश दे सकती है; (२) स्टेट बैंक पर नियम के अनुसार यह अनिवार्य कर दिया गया है कि प्रथम ५ वर्षों के भीतर ४०० नई शाखायें खोले, पर सरकार को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि यदि वह आवश्यक समझे तो यह अवधि बढ़ा सकती है; और (३) एक "अनुकूलन तथा विकास कोष" की स्थापना कर दी

गई है जिसमें ५५% स्टेट बैंक के शेयर रिजर्व बैंक के पास होने के कारण जो लाभांश (dividend) मिलेगा जमा किया जायगा। इस रकम में से निश्चित सीमा के अतिरिक्त जो घाटा शाखाओं के कार्यालयों को होगा पूरा किया जायगा। इम्पीरियल बैंक घाटा सहने के कारण नई शाखायें अधिक नहीं खोल सका। यह कठिनाई इस कोष की स्थापना से दूर कर दी गई है।

विकास कार्य क्रम—स्टेट बैंक आफ इन्डिया एक्ट के सेक्शन १६ (५) के अनुसार सरकार ने २७२ केन्द्रों के स्थापना की, १६५७ के अन्त तक स्टेट बैंक की शाखाओं के खोलने के लिये व्यवस्था रक्खी है। ये प्रायः ऐसे स्थान हैं जहाँ पर या तो जिले का खजाना है अथवा विशिष्ट सरकारी खजाना है। इनके अतिरिक्त स्टेट बैंक ने भारतीय इम्पीरियल बैंक से ५१ अपूर्ण रूप से स्थापित केन्द्रों को ले लिया था। १६५७ में स्टेट बैंक ने शाखा कार्यालय ६१ केन्द्रों में खोले। इस प्रकार १ जुलाई १६५५ से कुल खोली गई शाखाओं की संख्या १५७ हो गई। इनमें से ११३ तो सरकार द्वारा स्वीकृति प्रदान २७२ शाखाओं में से है और ४४ इम्पीरियल बैंक से लिये हुये अपूर्ण रूप से व्यवस्थित ५१ शाखाओं में से हैं। १६५७ के दिसम्बर के अन्त तक स्टेट बैंक आफ इन्डिया के ६२० कार्यालय हो गये थे जिनमें प्रधान कार्यालयों की संख्या भी सम्मिलित हैं। १६५६ में इनकी संख्या ५३६;१६५५ में ४८० और १६५१ में ३६१ थी। विकास का कार्य क्रम बन रहा है पर जैसी आशा की गई थी उस गति से नहीं।

उत्तरीय शाखाओं पर अधिक प्रभावशाली नियंत्रण रखने के दृष्टिकोण से तथा अधिक विस्तृत रूप से बैंकिंग सुविधा जनता का प्रदान करने के लिये स्टेट बैंक ने केन्द्रीय सरकार की अनुमति से अपने कार्य व्यवस्था को १ जनवरी १६५८ से एक नया केन्द्र बना कर तथा नई दिल्ली से एक प्रधान कार्यालय की स्थापना करके की है इस नये केन्द्र के अन्तर्गत जम्मू काश्मीर राज्य पंजाब, राजस्थान, उ० प्र० के पश्चिमी इलाके और दिल्ली तथा हिमांचल प्रदेश के केन्द्रीय राज्य आते हैं।

किन्हीं बड़े बड़े स्टेट-एशोशियेट के बैंकों के स्टेट बैंक मिला लेने का प्रस्ताव, जिसकी सिफारिश आफ इन्डिया रूरल क्रेडिट सर्वे कमेटी ने की थी। सरकार के विचाराधीन है। इसी प्रकार छोटे-छोटे स्टेट-एशोशियेट बैंकों के भी मिलाने का प्रस्ताव भी विचाराधीन है।

ग्राम्य वित्त व्यवस्था—स्टेट बैंक आफ इन्डिया ग्राम्य वित्त व्यवस्था में उत्तरोत्तर अपनी रुचि प्रदर्शित कर रहा है। कृषि सम्बन्धी वित्तीय व्यवस्था के सम्बन्ध में स्टेट बैंक के कार्यों की जाँच रिजर्व बैंक द्वारा निर्मित गैर सरकारी कमेटी ने १६५७ में की थी जिसका ध्येय स्टेट बैंक के लिये सहकारी और कृषि

सम्बन्धी विकास वित्तीय व्यवस्था के प्रति विकास कार्य की योजना बनाना था। अपनी रिपोर्ट में कमेटी ने यह सिफारिश की थी कि कृषि के लिये ऋण देने के सम्बन्ध में, सलाह कार्य तथा समायोजन कार्य पूर्ववत रिजर्व बैंक आफ इन्डिया का उत्तरदायित्व समझा जाना चाहिये और स्टेट बैंक को कृषि उत्पत्ति के विनिमय सम्बन्धी बढ़ते हुये खर्च को पूरा करने का प्रयत्न करना चाहिये। भारत का स्टेट बैंक इस कार्य को पहिले से ही कर रहा है।

औद्योगिक वित्त व्यवस्था—स्टेट बैंक ने अन्य संस्थाओं के सहयोग से जो अग्रगामी योजना ६ केन्द्रों में प्रारम्भ की थी वह २७ अन्य केन्द्रों में भी लागू कर दी गई। इसके अतिरिक्त स्टेट बैंक ने एक अति उदार ऋण योजना भी आरम्भ की जिसके अन्तर्गत उधार लेने की विधि को बहुत सरल कर दिया गया ताकि छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाली औद्योगिक इकाइयाँ इस सुविधा का अग्रगामी केन्द्रों में अधिकाधिक लाभ उठा सके। स्टेट बैंक अब कुछ औद्योगिक इकाइयों को सहायता देने के लिये तैयार है यदि उसे यह विश्वास दिला दिया जाय कि वे ऐसी जमानतें दे सकेंगे। जिन्हें स्टेट बैंक स्वीकार कर लेना जब कि वे किन्हीं तांत्रिक तथा व्यवस्था सम्बन्धी परिवर्तन कर ले। नेशनल स्माल स्केवा इन्डस्ट्रीज कारपोरेशन प्राइवेट लिमिटेड के सहयोग से बनाई हुई स्टेट बैंक की योजना के अन्तर्गत यह सम्भव है कि कोई छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाली उद्योग संस्था जिसे कारपोरेशन के द्वारा सरकार के अधिकार में किसी कम्पनी को अथवा सरकार के किसी विभाग को अथवा सरकारी एजेन्सी को या अन्य एजेन्सियों को माल देने की आज्ञा प्राप्त हो गई है इसके लिये कच्चे माल के मूल्य के बराबर पूरी द्रव्य की मात्रा बैंक के नाम कर देने पर प्राप्त कर सके। यह इस लिये सम्भव भी है क्यों कि ऋण का वह अंश जो बैंक देगा यदि साधारण तया दिये जाने वाले ऋण की मात्रा से अधिक है तो कारपोरेशन द्वारा उसको गारन्टी मिलनी आवश्यक भी है। इसके अतिरिक्त यह प्रस्ताव भी किया गया है कि यह बैंक अनुभव प्राप्त करने के लिये स्टेट फाइनेन्सियल कारपोरेशन के एजेन्ट की तरह अग्रगामी केन्द्रों में छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों के लिये श्रम करेगा।

इस ऋण सम्बन्धी उदार योजना के आरम्भ होने के बाद से अग्रगामी केन्द्रों में स्टेट बैंक द्वारा दिये गये ऋणों की मात्रा में बहुत वृद्धि हुई है। इस प्रकार दिसम्बर १६५७ में बैंक ने १८६ ऋणों के देने की अनुमति दी थी। कुल ८०·२४ लाख रुपयों का यह ऋण था जबकि १६५६ के दिसम्बर के अन्त में केवल २५ ऋण १०·६५ लाख रुपयों के दिये गये थे।

१९५७ में स्टेट बैंक आफ इन्डिया एक्ट का संशोधन किया गया जिसके अनुसार उद्योगों को व्यक्तिगत क्षेत्र से भी स्टेट बैंक साधारण अवधि के लिये ऋण दे सके। इससे देश के औद्योगीकरण को द्वितीय योजना के अनुसार प्रोत्साहन मिल सकेगा। इस संशोधन के पहिले स्टेट बैंक आफ इन्डिया को ६ महीने से अधिक अवधि के लिये ऋण देने का अधिकार नहीं था और न स्थायी सम्पत्ति के आधार पर ऋण देने का ही अधिकार था। हाल के संशोधन ने इन प्रतिबन्धों को मिटा दिया है और स्टेट बैंक को ६ महीने से अधिक काल के लिये ऋण देने का अधिकार प्रदान कर दिया है। फिर भी स्टेट बैंक ७ वर्ष से अधिक काल के लिये ऋण अब भी नहीं दे सकता। इस प्रतिबन्ध की आवश्यकता इसलिये पड़ी कि रीफाइनेन्स कारपोरेशन द्वारा ऋणों की सुविधा ३ से लगाकर ७ वर्ष तक के लिये निश्चित थी। यह संशोधन, स्टेट बैंक को यह भी अनुमति देता है कि रिजर्व बैंक की सलाह से केन्द्रीय परिषद के निर्देशानुसार किसी भी आर्थिक संस्था के जो केन्द्रीय सरकार द्वारा विज्ञत है शेयर तथा डिबेन्चर खरीद सकता है। इस संशोधन का तात्कालिक ध्येय यह है कि स्टेट बैंक को रीफाइनेन्स कारपोरेशन के शेयर पूंजी में योगदान दे सकें।

जमाधन-ऋण तथा विनियोग

स्टेट बैंक भारत का अकेला सबसे बड़ा व्यापारिक बैंक है। १९५७ के दिसम्बर माह के अन्त तक इसका जमाधन विनियोग और ऋण की मात्रा क्रमशः ३६६ १/३ करोड़ रुपया, १८३ १/२ करोड़ रुपया, तथा १७३ १/२ करोड़ रुपया थी, जबकि सब अनुसूचित बैंकों को मिलाकर इन मदों की मात्रा क्रमशः १२६७ १/२ करोड़ रुपया, ४८३ ३/४ करोड़ रुपया और ८१६ १/२ करोड़ रुपया थी। १९५७ में नकद विनियोग और ऋण का जमाधन से अनुपात स्टेट बैंक के सम्बन्ध में ११ १/४% ५०% और ४७ १/४% क्रमशः था। अन्य अनुसूचित बैंकों की तुलना में यह स्थिति अधिक अच्छी थी।

१९५७ में स्टेट बैंक आफ इन्डिया के जमा धन १२४ करोड़ रुपयों से बढ़ गया (२४२ करोड़ रुपयों से ३६६ करोड़ रुपये हो गया।) यह वृद्धि किसी एक बैंक के सम्बन्ध में बहुत बड़ी वृद्धि है। इसका कारण यह है कि यू० एस० पबलिक ला ४८० फण्ड के अन्तर्गत भारतीय रुपये इस बैंक के पास जमा कर दिये गये बैंक के स्टेट के अन्तर्गत ऋण तथा खरीदी हुँडियो में लगभग ३३ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई है जब कि १९५६ में केवल ३४ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई थी। इसका अर्थ यह हुआ कि अन्य व्यापारिक बैंकों के विरुद्ध स्टेट बैंक की उन्नति

किसी भी तरह घट कर नहीं रही। इसके अतिरिक्त जमाधन की मात्रा में ऋण की रकम से अधिक वृद्धि होने के कारण बैंक अपनी विनियोग तथा नकद कर स्थिति अधिक सुदृढ़ बनाने में सफल हुआ है (विनियोग ७६·५ करोड़ रुपये और नकद १२·६ करोड़ रुपये)।

करोड़ रुपयों में
३१ दिसम्बर को

	१९५५	१९५६	१९५७
पूँजी	५·६२	५·६२	५·६२
रक्षितकोष	६·३५	६·३७	६·६२
जमाधन	२२५·६६	२४२·१२	३६६·५२
दूसरे बैंकों से लिया ऋण	५·००	१७·२७	१६·५०
उधार दिया ऋण तथा खरीदी हुण्डियाँ	१०५·८१	१४०·१६	१७३·४८
विनियोग	११६·९७	१०६·८७	१८३·४३
नकद	३०·९१	२८·८४	४१·५२
जमाधन का अनुपात			
ऋण से	४६·८%	५७·९%	४७·३%
विनियोग से	५१·७%	४४·१%	५०·०%
नकद	१३·७%	११·९%	११·३%

लाभ—स्टेट बैंक को १९५७ में १·८७ करोड़ रुपयों का लाभ मिला। यह मात्रा १९५६ के लाभ की तुलना में ३१ करोड़ रुपयों से अधिक है। इस लाभ का कारण यह है कि बैंक की कुल आय ८·६६ करोड़ रुपयों से जो कि १९५६ में थी १९५७ में बढ़कर ११·८२ करोड़ रुपये हो गई। इस आय में से ८·२५ करोड़ रुपये ब्याज तथा (discount) द्वारा प्राप्त हुये थे। ब्याज की दर अभी होने के कारण स्टेटबैंक ने अन्य बैंकों के समान अधिक लाभ प्राप्त किया। डिविडेन्ड की मात्रा १६% प्रतिवर्ष ही बनी रही। जिसमें केवल ९० लाख रुपया खर्च हुआ। इस लाभ में से २५ लाख रुपये रक्षितकोष में स्थानान्तरित कर दिये गये जब कि १९५६ में केवल २·५ लाख रुपये ही स्थानान्तरित किये गये थे। रक्षित कोष इस प्रकार ६·३७ करोड़ रुपयों से बढ़कर ६·६२ करोड़ रुपये हो गया। जब कि कर्मचारियों का बोनस ४० लाख रुपयों से घटा कर ३२ लाख रुपये कर दिया गया उनके हित कोष की रकम १० लाख ही कायम रक्खी गई। बैंक के डाइरेक्टरों ने एक स्टाफ कोआपरेटिव हाउसिंग फन्ड कायम किया है जिसमें आरम्भ में ही १० लाख रुपया रक्खा गया है। इसका प्रयोग कर्मचारियों को मकान बनाने के लिये ऋण देना है। यह ऋण कम वेतन वालों को दिया जायगा इसलिये ब्याज की दर बहुत ही साधारण रक्खी जायगी।

अध्याय ५०

भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंक

भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंक भारतीय कम्पनी कानून के अन्तर्गत रजिस्टर्ड संस्थायें हैं। भारतीय कम्पनी कानून की व्याख्या के अनुसार बैंकिंग कम्पनी का मुख्य कार्य चालू खाते में या अन्य खातों में रुपया जमा करना और चेक, ड्राफ्ट तथा आर्डर द्वारा जमा रुपया वापस करना है। १६४६ के कानून में बैंकिंग कम्पनी की परिभाषा और स्पष्ट रूप से दी गई है। इसके अनुसार बैंकिंग का अर्थ है जनता का जमाधन ऋण देने और विनियोग के लिए स्वीकार करना जिसे माँग करने पर चेक, ड्राफ्ट या आर्डर इत्यादि के द्वारा वापस किया जाता है।

भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों में इम्पीरियल बैंक, अन्य अनुसूचित बैंक (अर्थात् ऐसे बैंक जिनकी पूंजी और सुरक्षित कोष ५ लाख रुपये या अधिक हैं) और गैर-अनुसूचित बैंक शामिल हैं। भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंक वह सभी कार्य करते हैं जो विदेशों में व्यापारिक बैंक करते हैं। यह (१) दीर्घकालीन (fixed), चालू (current) और बचत जमाधन (Savings deposits) स्वीकार करते हैं; (२) हुण्डियों को भुनाते हैं, सामान, स्टाक, सोना, जेवरात, बुलियन और अचल सम्पत्ति इत्यादि पर ऋण (advances) देते हैं और सरकारी ऋणपत्रों आदि में रुपया लगाते हैं; (३) अपने ग्राहक की ओर से रुपया एक स्थान से दूसरे स्थान को भेजते हैं; साथ ही एक खाते से दूसरे खाते में जमा करते हैं; (४) अपने ग्राहकों की ओर से ऋणपत्र, शेयर इत्यादि बेचते-खरीदते हैं और (५) जेवरात, बहुमूल्य कागजात इत्यादि अपने पास सुरक्षित रखते हैं।

शेयरों की पूंजी, सुरक्षित कोष और जमाधन भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों के मुख्य देय हैं और नकद रुपया, ऋण, भुनाई हुई हुन्डियाँ, सरकारी तथा अन्य ऋणपत्र और अन्य अचल सम्पत्ति इनके मुख्य पावने हैं। व्यापारिक बैंकों को अपने पावने और देय में सन्तुलन स्थापित करना पड़ता है। जमाधन के नकदी ऋण तथा विनियोग के अनुपात से व्यापारिक बैंकों की स्थिति का पता लगाया जा सकता है। यदि पूंजी तथा सुरक्षित कोष का जमाधन से अनुपात अधिक है तो स्पष्ट है कि बैंक की स्थिति मजबूत है। कुल जमाधन और नकदी के अनुपात से भी बैंक की क्षमता जानी जाती है। यदि अन्य बातें समान रहें तो जिस बैंक के पास नकद द्रव्य अधिक होगा रुपया जमा करने वाले व्यक्तियों का उस पर ही अधिक

विश्वास भी होगा। परन्तु नकद द्रव्य अधिक होने का अर्थ यह है कि नकद धन जमा रखा जाय और उससे कुछ आय न हो। इसीलिए बैंक अपनी नकदी, विनियोग और ऋण इत्यादि में सन्तुलन रखते हैं।

मुख्य प्रवृत्तियाँ—देश की आर्थिक स्थिति तथा अन्य अनेक कारणों पर निर्भर होने के कारण भारतीय ज्वाइंट स्टाक बैंकों में अपने विकास की अवधि में अनेक परिवर्तन हुए :—

(१) आरम्भ में विदेशी व्यापारिक संस्थाओं ने अपने व्यापार का संचालन करने के लिए व्यापारिक बैंकों का कार्य किया और इस प्रकार व्यापारिक बैंकिंग का कार्य विदेशी संस्थाओं के हाथ में रहा। तत्पश्चात् बैंकों की पृथक रूप से स्थापना हुई। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में भारत में केवल ६ ज्वाइंट स्टाक बैंक थे (जिनकी पूंजी और सुरक्षित कोष ५ लाख रुपये या अधिक थे)। इन बैंकों की कुल पूँजी और सुरक्षित कोष १'२८ करोड़ रुपये था और जमाधन ८ करोड़ रुपये था। इन ६ बैंकों में से केवल दो बैंक, इलाहाबाद बैंक और पंजाब नेशनल बैंक जिनकी स्थापना क्रमशः १८६५ और १८६४ में हुई, आज तक कार्य कर रहे हैं और भारत के बड़े बैंकों में से हैं। इलाहाबाद बैंक का प्रबन्ध आरम्भ से ही अभारतीयों के हाथ में रहा है और १६२७ से इसका प्रबन्ध चार्टर्ड बैंक आफ इन्डिया, आस्ट्रेलिया ऐन्ड चाइना करता है जो स्वयं एक्सचेन्ज बैंक है। इन ६ बैंकों में से केवल तीन बैंकों का प्रबन्ध भारतीयों के हाथ में था जिनमें पंजाब नेशनल बैंक भी शामिल है।

(२) भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंकों को स्वदेशी आन्दोलन से प्रेरणा मिली। इसके साथ ही प्रथम और द्वितीय विश्व युद्धों और देश के आर्थिक विकास से भी इनको प्रोत्साहन मिला। १६०६ और १६१३ के बीच उन बैंकों की संख्या जिनकी पूँजी और सुरक्षित कोष ५ लाख रुपये से अधिक था ६ से १८ हो गयी। इन बैंकों की कुल चुकता पूँजी और सुरक्षित कोष ४ करोड़ रुपये और कुल जमाधन २२ करोड़ रुपये था। १६२१ तक इस प्रकार के बैंकों की संख्या २५ तक बढ़ गयी जिनकी कुल चुकता पूँजी और सुरक्षित कोष ११ करोड़ रुपये और कुल जमाधन ७१ करोड़ रुपये था। १६३६ तक इनकी संख्या ५१ तक पहुँच गई जिनकी कुल चुकता पूँजी और सुरक्षित कोष १३½ करोड़ रुपये और जमाधन लगभग १०१ करोड़ रुपये था। द्वितीय विश्व युद्ध का भारतीय ज्वाइन्ट स्टाक बैंक व्यवस्था के विकास पर बहुत प्रभाव पड़ा। १६३६-४१ में इन बैंकों की प्रगति धीमी रही। यदि नये खुलने से बैंकों की संख्या में वृद्धि, उनकी नयी शाखाएँ और उनके जमाधन की दृष्टि से देखा जाय तो १६४२-४६ में प्रगति विशेष तेज रही।

अनुसूचित बैंकों की संख्या, जिसमें इम्पीरियल बैंक और एक्सचेन्ज बैंक भी शामिल हैं, जून १९३९ में ५१ से, जून १९४६ में ९३ हो गयी और इनकी शाखाओं की संख्या जिनमें इनके प्रधान कार्यालय भी शामिल हैं १,३२८ से ३,१०६ हो गई। युद्ध आरम्भ होते समय इनका जमाधन २३८ करोड़ रुपये था जो बढ़कर १९४६ में १,०९७ करोड़ रुपये हो गया।

(३) भारत में ज्वाइन्ट स्टाक बैंक की प्रगति के साथ ही अनेक कारणों से बहुत से बैंक फेल हो गये क्योंकि (अ) उनके पास पूँजी और सुरक्षित कोष पर्याप्त नहीं था, (ब) प्रबन्ध त्रुटिपूर्ण था और अनुभवी कुशल कर्मचारियों का अभाव था, (स) शीघ्र लाभ कमाने की इच्छा से ऐसी मदों में रुपया लगाया गया जिनमें हानि की अधिक संभावना थी, और (द) कारोबार का अच्छी तरह संचालन करते रहने पर भी दुर्भाग्य का सामना करना पड़ा। ३१ दिसम्बर १९४६ और ३१ दिसम्बर १९५२ के बीच इम्पीरियल बैंक की शाखाओं की संख्या ६४ तक बढ़ गई। पहले कुल ३५८ शाखाएँ थीं जो बढ़कर ४२२ हो गई। परन्तु अनुसूचित बैंकों की संख्या में २६० की कमी हुई (२,४४१ से घट कर २१८१ रह गये)। इसी प्रकार गैर-अनुसूचित बैंकों की संख्या २,०२९ से घटकर १३५१ हो गई अर्थात् ६७८ की कमी हुई। स्वेच्छापूर्वक और अनिवार्यतः शाखाएँ बन्द कर देने से और कई अन्य कारणों से शाखाओं की संख्या घट गयी। इधर कुछ वर्षों से १९४९ के बैंकिंग कम्पनी कानून के अन्तर्गत कड़े प्रतिबन्ध लगा देने से और रिजर्व बैंक द्वारा भली प्रकार देख-रेख के कारण बैंकों के फेल होने की गति मन्द हो गई है। मार्च १९५० से रिजर्व बैंक ने इन बैंकों का नियमित रूप से निरीक्षण करना आरम्भ किया और १९५५ के अन्त तक ४५३ बैंकों का निरीक्षण पूरा किया जिसमें से २४७ बैंकों का पुनर्परीक्षण भी एक से अधिक बार हुआ। रिजर्व बैंक ने इन बैंकों को अपनी स्थिति सुधारने के लिए अपनी कार्य प्रणाली में सुधार करने का सुझाव दिया। रिजर्व बैंक के इस सतर्क निरीक्षण से फेल होने वाले बैंकों की संख्या घट गई। १९५७ के अन्त में ३३५ बैंक अपने विकास क्रम की रिपोर्ट देते थे जिनमें से २४२ प्रतिमाह और बाकी हर तीसरे महीने।

यद्यपि फेल होने वाले बैंकों की संख्या घट गई और बैंकिंग-कार्य की स्थिति में सुधार हुआ है परन्तु रिजर्व बैंक की जाँच से पता चलता है कि कुछ दोष अब भी हैं जिनमें प्रमुख यह हैं: अनुभवी और शिक्षित कर्मचारियों की कमी है, हिसाब उचित रीति से नहीं रखा जाता है, संचालन मन्डल बैंकों के मामलों की ओर उचित ध्यान नहीं देता है, प्रधान कार्यालय का विभिन्न शाखाओं पर नियंत्रण ढीला पड़ गया है, बैंक काफी पुराना होते हुए भी उसकी सुरक्षित पूँजी की स्थिति

असन्तोषजनक रही है, विनियोग की स्थिति अच्छी न रही और बचत को आकर्षित करने के लिए अन्य बैंकों की अपेक्षा ब्याज की दर बढ़ा दी है। लगातार ऋण लेते रहने से कुछ बैंकों के पास नकद द्रव्य की स्थिति बिगड़ गई। कुछ बैंकों ने, विशेषकर गैर-अनुसूचित बैंकों ने, अपने साधनों की अपेक्षा कहीं अधिक ऋण दिये।

बैंकों का फेल होना बहुत घातक है क्योंकि (१) बैंक से लेन-देन करने वालों को गहरी क्षति उठानी पड़ती है, और (२) बैंकिंग प्रणाली पर लोगों का विश्वास कम हो जाता है जो भारत जैसी पिछड़ी हुई आर्थिक व्यवस्था वाले देश के लिए, जहाँ साख को क्षति पहुँचने से सारा कारोबार छिन्न-भिन्न हो जाता है, बहुत हानिकारक है। बैंकों को बन्द होने से बचाने के लिए और व्यापारिक बैंकों को बैंकिंग के मान्य सिद्धान्तों के अनुकूल कार्य कराने के लिए रिजर्व बैंक को बहुत अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा। बैंकों को बन्द होने से बचाने और उनकी स्थिति में सुधार करने की क्षमता ही केन्द्रीय बैंक के रूप में रिजर्व बैंक की सफलता की कसौटी है।

वर्तमान स्थिति—१९५७ के अन्त में भारत में ४०६ ज्वाइन्ट स्टाक बैंकिंग कम्पनियाँ थी जबकि १९५३ में उनकी संख्या ५०४ थी और १९५१ में केवल ३९८। १९५७ में उनके कुल कार्यालयों की संख्या जिनमें स्टेट बैंक आफ इन्डिया के अन्य अनुसूचित बैंकों, तथा अन्य-अनुसूचित बैंकों के प्रधान कार्यालयों की संख्या सम्मिलित है ६२०, २५७६ तथा १११३ क्रमशः थी। १९५३ यही संख्यायें क्रमशः ४२२,२१८१ और १३५७ थी और १९५५ में ३६१,२,१६१ और १४७३ थी। भारतीय अनुसूचित बैंकों की अपने कार्यालयों की संख्या घटाने की प्रवृत्ति जो कि १९५३ तक चालू रही—वह १९५३ से १९५७ के बीच उलट गई और उनके कार्यालयों की संख्या ३९५ अदद से बढ़ गये। स्टेट बैंक आफ इन्डिया के कार्यालयों की संख्या भी १९८ अदद से बढ़ गई। जो अनुसूचित बैंक नहीं थे उनमें कार्यालयों की संख्या पहिले की तरह ही इस काल में २५३ अदद से घट गई।

तालिका नं० १ और नं०२ के अनुसार भारतीय अनुसूचित बैंकों ने उन्नति की है जैसा कि उनके पूँजी और रक्षित कोष के आंकणों से विदित होता है। १९५३ में पूँजी तथा रक्षित कोष ६०·१ करोड़ रुपया था और १९५७ में बढ़कर यह ६५·१ करोड़ रुपया हो गया। परन्तु गैर अनुसूचित बैंकों की स्थिति इसके विपरीत रही क्योंकि बैंकों की संख्या घट गई थी इसलिये उनकी पूँजी और रक्षित कोष की रकम भी १२·४ करोड़ रुपयों से जो कि १९५३ में थी घटकर १९५७ में ८·९ करोड़ रुपये रह गई।

१९५७ के अन्त में भारतीय अनुसूचित बैंकों के रक्षित कोष उनकी प्राप्त पूँजी के अनुपात में ४% से लगाकर ८८·७% के लगभग बढ़ गये। परन्तु गैर अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में यह वृद्धि २½% से लगाकर ४८·३% तक ही हुई। यद्यपि रक्षित कोष रखने की मात्रा के सम्बन्ध में हमारे देश में कोई कानून लागू नहीं है फिर भी प्रचलित नियम एक न्यूनतम सीमा प्राप्त पूँजी और रक्षित कोष के बराबर इंगित करते हैं।

तालिका १

अनुसूचित बैंकों का विकास

३१ दिसम्बर को करोड़ की इकाइयों में

	१९५३	१९५४	१९५५	१९५६	१९५७
पूँजी	३२·६	३२·७	३२·७	३१.१	३४·५
रक्षित कोष	२७·५	२७·६	२८·२	२८.०	३०·६
जमाधन	६४४·६	७१६·९	७८९·०	८७६.७	११०१·१
नकद	६४·९	९०·१	८५·४	७६.६	९०·३
विनियोग :—					
(i) सरकारी सेक्यूरिटीज	२८७·५	२९९·३	३३५·६	३२३.७	३९२·७
(ii) अन्य	२२·०	२३·७	२६·७	२८.१	४६·६
ऋण और हुन्डिया	३३५·९	३७७·९	४३९·७	५५६.७	६३५·१
जमा से अनुपात					
नकद	१०·१%	१२·६%	१०·८%	८·८%	२%
उधार	५२·१%	५२·७%	५५·७%	६३·५%	५७·७%
विनियोग	४८·०%	४५·१%	४५·९%	४०·१%	३९·९%

कुल जमाधन के अनुपात में नकद रकम का अनुपात १९५० की तुलना में १९५३ में घट गया था और १९५४ में बढ़ गया था और आगे चलकर फिर घटा (तालिका नं० १ और नं० २) १९५७ में भारतीय अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में उसका अनुपात ८·२% और गैर अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में केवल ७·९%

जमाधन—पिछले कुछ वर्षों में इन बैंकों के जमाधन, ऋण और विनियोग में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। युद्ध के समय अनुसूचित बैंक अपनी समृद्धि की चरमसीमा पर थे। १९४७-४८ में इनमें जमाधन की रकम १,०५०½ करोड़

रुपया थी जबकि १६३६-४० में यह रकम २३४½ करोड़ रुपया थी। जमाधन की रकम में गिरावट आयी है। भारतीय अनुसूचित बैंकों का जमाधन १६५० में ६८२½ और १६५१ में ६६२½ करोड़ रुपये से घटकर १६५२ में ६५१ करोड़ रुपया हो गया। १६५५ वर्ष प्रथम सब बैंकों की जमाधन की मात्रा १००० करोड़ रुपयों

तालिका नं० २

गैर-अनुसूचित बैंकों का विकास

३१ दिसम्बर को करोड़ रुपयों की इकाइयों में

	१६५३	१६५४	१६५५	१६५६	१६५७
पूँजी	८·५	८·३	७·६	७·७	६·०
रक्षित कोष	३·६	४·१	४·२	४·४	२·६
जमाधन	५६·४	६३·६	६८·१	७२·७	४८·५
नकद	४·६	५·६	६·२	६·०	३·८
विनियोग :—					
(i) सरकारी सिक्यूरिटीज़	२०·१	२१·२	२४·६	२५·५	१३·२
(ii) अन्य	४·२	५·०	५·७	६·६	४·३
ऋण और हुण्डियाँ	३६·८	३८·१	३८·०	४२·६	३३·२
जमाधन से अनुपात					
नकद	७·७%	६·२%	६·१%	८·३%	७·६%
ऋण	६७·०%	५६·६%	५५·८%	५८·६०%	६८·५%
विनियोग	४०·७%	४१·२%	४४·८%	४४·२%	३६·२%

के ऊपर बढ़कर १०४४ करोड़ रुपया हो गई यद्यपि भारतीय अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में उसकी मात्रा केवल ७८६ करोड़ रुपया हुई थी। युद्ध के समय जमाधन में काफी वृद्धि हुई क्योंकि सरकार ने युद्ध के सामान पर अधिक खर्च किया और इससे ठेकेदारों, औद्योगिक फर्मों तथा अन्य संस्थाओं के हाथ में अधिक नकद रुपया रहा। इधर कुछ वर्षों से जमाधन में गिरावट आने लगी है क्योंकि (१) भारतीय द्रव्य बाजार में द्रव्य का अभाव है और जिन व्यक्तियों ने रुपया जमा किया था उन्होंने औद्योगिक तथा अन्य कार्यों के लिए अपना रुपया वापस

निकाल लिया है; (२) मशीन इत्यादि खरीदने के लिए जो रुपया बैंकों में जमा किया गया था उसकी मशीनें खरीद ली गयी हैं और (३) औद्योगिक तथा आर्थिक कारोबार में तेजी आने से रुपया विनियोग में लगा दिया गया।

बैंकों के जमाधन में १९५७ में अप्रत्याशित वृद्धि हुई और उसकी मात्रा २४५ करोड़ रुपया हो गई जब कि १९५६ में यह मात्रा केवल ७७ करोड़ रुपया थी। इस मात्रा में से २२४ करोड़ रुपयों की वृद्धि भारतीय अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में थी। १९५७ में यही नहीं हुआ कि कुल बैंकों का मिलाकर जमाधन १००० करोड़ रुपयों की सीमा पार कर गया वरन् पहिली बार भारतीय अनुसूचित बैंकों के जमाधन की मात्रा भी इस सीमा के आगे हो गई (११०१ करोड़ रुपये)। यह जमाधन में वृद्धि निम्न कारणों से हुई—(१) सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों में द्रव्य की अधिक मात्रा व्यय करने के कारण बैंकों का जमाधन भी बढ़ा, (२) अमरीका के सयुक्त राज्य अधिकारियों द्वारा भारत के अधिकार में ऐसे कोषों के रख देने के कारण जो कि भारतीय सरकार ने अमरीका से आयात किये हुये अन्न के मूल्य में दिया था, (३) आयात सम्बन्धी कड़े नियंत्रण के कारण व्यापारिक संस्थाओं के रक्षित कोषों के धन को अस्थायी रूप से नियत समय के लिये बैंकों में जमा करने के कारण, तथा (४) उसी वर्ष व्याज की दर के नियत समय के जमाधन तथा बचत के जमाधन पर बढ़ जाने के कारण चालू जमाधन से रकम निकाल कर नियत समय के जमाधन के खाते में रखने की लोगों की प्रवृत्ति के कारण।

कुल जमाधन में कमी की अपेक्षा कुल जमाधन के अनुपात में स्थायी जमाधन की मात्रा में विशेष महत्वशाली परिवर्तन हुआ है। "१९३९ और १९४४ के बीच स्थायी जमाधन का और कुल जमाधन का अनुपात $\frac{1}{2}$ से गिरकर $\frac{1}{3}$ से भी कम हो गया क्योंकि स्थायी जमा खाते में चालू जमाखाते की अपेक्षा कम रुपया जमा हुआ। इसका एक कारण यह है कि युद्ध के समय स्थायी जमाधन पर व्याज की दर कम हो गयी। यही प्रवृत्ति युद्ध पूर्व की मँदी के समय भी थी। इसका उद्देश्य प्रायः यही था कि जनता स्थायी जमाखाता न खोलकर अपना धन चालू जमाखाते में जमा करे। दूसरा कारण यह है कि जनता अपनी बचत को ऐसी सम्पत्ति जैसे सोना, शेयर या भू-सम्पत्ति इत्यादि में बदलना नहीं चाहती थी क्योंकि इनके दाम चढ़े हुए थे। इसलिए बचत बिल्कुल नकद में रखी गई जिससे दाम घटने पर उक्त सम्पत्ति खरीदी जा सके। इस प्रवृत्ति को इस आशा से और भी बल मिला कि युद्ध समाप्त होने के बाद इन सम्पत्तियों के भाव घटेंगे। तीसरा कारण यह है कि युद्धकाल में उद्योगों को उपयुक्त मशीन इत्यादि

सामान मिलने की कठिनाई के कारण बचत को औद्योगिक प्रसार में नहीं लगाया जा सका और वर्तमान कारखानों की उत्पादन शक्ति का उपयोग कर अधिक उत्पादन करने में ही यह रुपया लगाया गया। पिछले कुछ वर्षों में स्थायी जमाधन की रकम में कुछ वृद्धि हुई है। १९५७ में अस्थायी और स्थायी जमाधन की मात्रा सब बैंकों को विचाराधीन रखते हुये बराबर बराबर थी जबकि १९५६ में स्थायी ४४% और अस्थायी ५६% थी। भारतीय अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में स्थायी जमाधन का कुल जमाधन सर्वत्र की तुलना में अनुपात १९५७ में ५१% था जब कि १९५६ में यह अनुपात ४४% और अस्थायी जमाधन का कुल जमाधन के सम्बन्ध में अनुपात ४९% और ५६% क्रमशः थे। गैर अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में अस्थायी जमाधन ¼ और स्थायी जमाधन ¾ कुल जमाधन का था। क्योंकि भारतीय अनुसूचित बैंकों ने अपने ग्राहकों को सुविधायें दीं इसलिये उनके पास स्थाई जमाधन की मात्रा बढ़ गयी और उन्हें व्यापार तथा उद्योगों की सहायता करने के लिए आवश्यक पूँजी प्राप्त हो गयी जिसके लिए उन्होने सुविधाएँ बढ़ाई थीं।

भारतीय रिजर्व बैंक ने इस विषय में जाँच की कि जमाधन के मालिक कौन-कौन हैं। १९५७ में अस्थायी जमाधन का ४७% रुपया व्यापारिक आर्थिक, कारखाने चलाने वाली संस्थाओं का था, सरकार और अर्ध सरकारी संस्थाओं का १२½% और व्यक्तिगत २३% था। परन्तु स्थायी जमाधन में व्यापारिक संस्थाओं का २२% सरकारी तथा अर्ध सरकारी संस्थाओं का २६⅓% तथा व्यक्तिगत लोगों का ४३¼% से ऊपर था। बचत का जमाधन प्रायः व्यक्तिगत था और कुल योग का ८५½ % था।

ऋण और विनियोग—१९५० में अनुसूचित बैंकों की ऋण और विनियोग की रकम लगभग बराबर थी। यह जमाधन की क्रमशः ४७·५ और ४८·९ प्रतिशत थी। १९५१ में स्थिति बदली और ऋण की रकम कुल जमाधन की ६० प्रतिशत तक बढ़ गई और विनियोग की रकम ४२ प्रतिशत तक घट गई। १९५२ में ऋण की रकम के अनुपात में कुछ गिरावट आई और विनियोग की रकम में वृद्धि हुई परन्तु अनुसूचित बैंकों का ऋण और हुन्डी भुनाने का कारोबार कुल जमाधन का ⅔ और विनियोग ⅓ ही रहा। हाल में ऋण देने की मात्रा में जमाधन की तुलना में कमी के कारण भी बैंकों के विनियोग की मात्रा के बढ़ाने में सहायक हुआ है। १९५६ में इसमें १८ करोड़ रुपयों की कमी आ गई थी (४१३ करोड़ से घटकर ३९४·८ करोड़ हो गया था) परन्तु १९५७ में उसमें ८९ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई (३९४·८ करोड़ रुपया से बढ़ कर ४८३·७ करोड़ रुपया हो गई)। यह

वृद्धि वर्ष के अन्तिम भाग में हुई। जमाधन के अनुपात में यह वृद्धि नगण्य थी। भारतीय बैंक जिनके यहाँ अधिकांश जमाधन रक्खा गया था इस वृद्धि के लिये उत्तरदायी थे। भारतीय बैंकों के सम्बन्ध में इस वृद्धि का अधिकांश भारतीय स्टेट बैंक के विनियोग की मात्रा में हुआ था जिसके कारण जमाधन में इतनी अधिक वृद्धि हुई थी। अन्य बैंकों के विनियोग में बहुत साधारण वृद्धि हुई थी। देश में आर्थिक तथा औद्योगिक सक्रियता बढ़ने और बैंक साख की अधिक मांग होने से अनुसूचित बैंकों के ऋण तथा हुन्डी भुनाने के कारोबार में भी वृद्धि हो गई। ऋण पत्रों के आधार पर इसका वर्गीकरण किया जाय तो पता चलेगा कि ऋण के वितरण का ढाँचा पहिले के समान ही रहा। १९५७ के अन्त में उद्योगों को ४३·६%, व्यापार को ४२·७%, व्यक्तिगत लोगों को ७% तथा कृषि उत्पादन के सम्बन्ध में दिया हुआ ऋण २·७% या जब कि १९५५ के अन्त में इन मदों के सम्बन्ध के आंकड़े क्रमशः ३४·३%, ५०·१%, ८·६% और १·८% थे। १९५७ के अन्त में दिये हुये कुल ऋण का ४३½% निर्मित वस्तुओं और खनिजों के आधार पर, १०½% ज्वाइन्ट स्टाक कम्पनी के शेयरों के आधार पर और ५½% सरकारी तथा ट्रस्टी सिक्योरिटीज के आधार पर दिया गया था।

जहाँ तक विनियोग का प्रश्न है अनुसूचित और गैर-अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में सरकारी ऋणपत्र का स्थान प्रधान है। यद्यपि अनुसूचि बैंकों की विनियोग की मात्रा १९५७ में ८६ करोड़ रुपयों से १९५६ के मुकाबले में बढ़ गई फिर भी जमानत की दृष्टि से ऋणों की प्रवृत्ति पिछले वर्षों के समान ही रही। विनियोग का ८७% सरकारी सिक्योरिटीज में लगाया गया। गैर-अनुसूचित बैंकों के सम्बन्ध में स्थिति लगभग समान ही रही और सरकारी सिक्योरिटीज में विनियोग की मात्रा कुल विनियोग की ७२% रही।

अध्याय ५१

राष्ट्रीय आय

राष्ट्रीय आय का अध्ययन अनेक प्रकार से लाभदायक है। सर्व प्रथम उसके अध्ययन से हमें यह पता लगता है कि देश की स्थिति किसी समय क्या है, और लोगों की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय कितनी है। इससे उनकी आर्थिक स्थिति का पता लग जाता है और यह भी अनुमान लग जाता है कि किस स्तर का उनका रहन सहन हो सकता है। दूसरे, राष्ट्रीय आय के अध्ययन से देश के आर्थिक विकास की उन्मुखता ज्ञात होती है। राष्ट्रीय आय, जनसंख्या की वृद्धि, मूल्य के स्तर इत्यादि का अध्ययन करने से हम यह ज्ञात कर सकते हैं कि देश के लोग आर्थिक दृष्टिकोण से उन्नति कर रहे हैं अथवा नहीं। राष्ट्रीय आय के आँकड़े देश के आर्थिक विकास की उन्मुखता बताने के प्रमुख साधनों में से एक हैं। अन्त में, राष्ट्रीय आय का अध्ययन आर्थिक योजनाओं के लिये बहुत महत्व की बात है। योजना बनाने वालों का ध्येय विनियोग द्वारा एक निश्चित समय में राष्ट्रीय आय के बढ़ाने का होता है।

पूँजी और आय का कोई विशेष अनुपात सब देशों पर सदैव के लिये नहीं लागू हो सकता। यह तो प्रायः आर्थिक विकास की स्थिति तथा भविष्य में विकास के निश्चित ढंग पर निर्भर होता है। जापान का उदाहरण ऐसा है कि जहाँ एक पीढ़ी के काल में ही (१८८५-१९१५ के बीच) कृषि के श्रमिकों की उत्पादकता बिना पूँजी और उसके प्रसाधनों में वृद्धि किये ही खाद, अच्छे बीज, सिंचाई के प्रभावशाली उपायों तथा विनाशी करों की रोक थाम आदि उपायों के प्रयोग से ही दुगनी हो गई। संसार के अन्य अधिक उन्नतिशील देशों में राष्ट्रीय आय में एक इकाई की वृद्धि के लिये दीर्घकाल में तीन या साढ़े तीन गुना पूंजी के प्रयोग की आवश्यकता पड़ी है। परन्तु विशेष देशों में कम समय में निस्सन्देह अनुपात बदला है।

भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना में पूँजी आय का अनुपात ३:१ पूँजी के विनियोग और उत्पत्ति की वृद्धि के बीच दो वर्ष की काल विलम्बना (Time-lag) के हिसाब से माना गया था। १९५०-५१ में राष्ट्रीय बचत (राष्ट्रीय विनियोग) दर ५% आँकी गई थी और यह अनुमान लगाया गया था कि १९५५-५६ तक ६¾ प्रतिशत और १९६०-६१ तक ११% और १९६७-६८ तक ७०% हो जायेगी।

इस अनुमान पर और इस आधार पर कि भारत की जनसंख्या प्रतिवर्ष १¼ प्रतिशत बढ़ रही है यह आशा की गई थी कि १६७७ तक, अर्थात् प्रथम पंचवर्षीय योजना के आरम्भ काल से २७ वर्ष के बाद, लोगों की वार्षिक आय प्रति व्यक्ति दुगुनी हो जायगी और इसके परिणाम स्वरूप उपभोग का स्तर ७० प्रतिशत से कुछ अधिक बढ़ जायगा। पर वास्तविक परिणाम आशा से कहीं अधिक अच्छा हुआ। प्रथम योजना काल में राष्ट्रीय आय में वृद्धि १८ प्रतिशत हुई जो कि अनुमान से ७% अधिक अच्छी हुई। इसके अतिरिक्त प्रथम योजना काल में पूँजी उत्पत्ति अनुपात १·८८:१ हुआ, न कि ३:१ जितने का आरम्भ में अनुमान लगाया था। इस आशातीत सफलता का कारण अच्छी वर्षा तथा बेकार जाने वाली शक्ति के उचित उपयोग के कारण औद्योगिक उत्पत्ति में वृद्धि रही है।

भारत के द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ६,२०० करोड़ रुपये के विनियोग का विचार किया गया है। इसके परिणाम स्वरूप यह आशा की जाती है कि राष्ट्रीय आय प्रथम योजना के अन्त में १०,८०० करोड़ रुपये से द्वितीय योजना के अन्त में १३,४८० करोड़ रूपये हो जायगी अर्थात् २७०० करोड़ रुपये की वृद्धि होगी। इससे पूंजी-उत्पत्ति का अनुपात २.३:१ आता है; तीसरी, चौथी और पाँचवी योजना में यह अनुपात बढ़कर क्रमशः २·६२:१, ३·२६:१ और ३·७०:१ हो जायगा।

प्रणाली— किसी देश की राष्ट्रीय आय की गणना अनेकों प्रकार से की जा सकती है : (क) उत्पादन की आगणन प्रणाली द्वारा (Census of Products Method)। इस प्रणाली में किसी विशेष काल की वास्तविक राष्ट्रीय उत्पत्ति अथवा सब प्रकार के उत्पादनों के मूल्य (सेवाओं को सम्मिलित करते हुये) का योग मालूम कर लिया जाता है। माल अथवा सेवाओं जिनका उत्पादन किया जाता है उनका या तो बिक्री मूल्य अथवा लागत, जिसका अर्थ विभिन्न उत्पादन के साधनों का परिश्रमिक है, लगाया जा सकता है। यदि बिक्री मूल्य लगाया गया तब तो राष्ट्रीय आय बिक्री के मूल्य के हिसाब से आँकी जायगी और यदि दूसरे ढंग से हिसाब लगाया गया तब राष्ट्रीय आय साधनों की लागत के आधार पर आँकी जायगी। (ख) आय आगणन प्रणाली (Census of Incomes Method)। इस प्रणाली में किसी देश के निवासियों की आय अथवा प्राप्ति, पारिश्रमिक, ब्याज, लगान, लाभ इत्यादि चाहे जिस रूप में हो जोड़ ली जाती है। (ग) व्यय, विनियोग और बचत आगणन प्रणाली (Census of Expenditure, Investment and Savings Method)। इस प्रणाली में हम व्यक्तियों की आय को नहीं जोड़ते वरन् उनके व्यय को जोड़ते हैं। लोगों द्वारा उपयोग की

वस्तुओं पर किये गये व्यय विनियोग तथा बचाकर रक्खी हुई रकम की गणना कर ली जाती है, और इन सब का योग राष्ट्रीय आय के बराबर होता है। परन्तु ऊपर बताई हुई प्रणालियों में से केवल किसी एक का ही प्रयोग करना और अन्य को छोड़ देना सदा सम्भव नहीं हो सकता। भारत ऐसे पिछड़े देश में जहाँ सूचनाओं का आवश्यक आगणन नहीं हुआ है, तीनों प्रणालियों का प्रयोग एक साथ होता है। भारत सरकार द्वारा अगस्त १६४६ में जो नेशनल इनकम कमेटी की नियुक्ति हुई थी, और जिसके प्रधान प्रोफेसर पी० सी महलोनोविस थे, उसने फरवरी १६५४ में अपनी रिपोर्ट दी। उसमें उत्पत्ति आगणन प्रणाली और आय आगणन प्रणाली का प्रयोग किया है। उत्पत्ति आगणन प्रणाली का प्रयोग कृषि, वन, पशु पालन, आखेट, मछली मारना, खनिज पदार्थ खोदना और उद्योगों के सम्बन्ध में किया है। और आय आगणन प्रणाली का प्रयोग व्यापार, यातायात, राज्य प्रबन्ध, व्यवसायिक कला और घरेलू सेवायों आदि के सम्बन्ध में किया गया है। बहुत सी बातों के सम्बन्ध में कमेटी को अपने निजी अनुमान लगाने पड़े क्योंकि उन विषयों की गणना नहीं हुई थी। कमेटी को वर्गीकरण सम्बन्धी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, और अनेकों विषयों के राष्ट्रीय आय की गणना करने में सम्मिलित करने अथवा छोड़ देने के सम्बन्ध में निर्णय करने में भी कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं।

राष्ट्रीय आय का अनुमान—भारत की राष्ट्रीय आय का अनुमान गतवर्षों में अनेकों सरकारी तथा गैर सरकारी लोगों ने किया है पर वे अनुमान विश्वसनीय नहीं हैं। दादा भाई नैरोजी ने अनुमान लगाया था कि १८६८ में भारत में प्रतिव्यक्ति वार्षिक आय २० रु० थी। लार्ड कर्जन ने १८६७-६८ में प्रति व्यक्ति वार्षिक आय का अनुमान ३० रु० लगाया था। फिन्डले शिराज ने १६११ में ४६ रु० और १६२१ में १०७ रु०, १६२२ में ११६ रु० और १६३१ में ६३ रु० अनुमान किया। साइमन कमीशन रिपोर्ट में ११६ रु० का अनुमान किया गया। डा० वी० के० आर० वी० राव ने १६३१-३२ में ६५ रु० और १६४२-४३ में ११४ रु० का अनुमान किया। इस प्रकार के अनेक अनुमान हैं पर सिवाय डा० राव के अनुमान के शेष सब अन्दाज लगाये गये हैं और इसलिये भारतवर्ष की आर्थिक स्थिति का ठीक-ठीक चित्र उपस्थित नहीं करते। इन अनुमानों की अपेक्षादृष्टि से भी नहीं परीक्षा की जा सकती क्योंकि प्रत्येक अनुमान विभिन्न मान्यताओं के आधार पर आँका गया है।

नेशनल इनकम कमेटी ने पहिली बार विश्वसनीय और सापेक्ष परीक्षण योग्य सूचना राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में दी है। कमेटी ने अपने राष्ट्रीय आय के अनु-

मान के आगणन में १०% गलती की सम्भावना रक्खी है। इससे उसके अनुमान अधिक सीमा तक ठीक आते हैं।

भारतवर्ष की जनसंख्या १९४८-४९ में ३५·०३८ करोड़ से बढ़कर १९५६-५७ में ३८·७६८ करोड़ हो गई और इसी अवधि में राष्ट्रीय आय (१९४८-४९ के मूल्य स्तर को स्थिर मानते हुये) ८,६५० करोड़ रुपये से बढ़कर ११,०१० करोड़ रुपये हो गई। प्रति व्यक्ति की वार्षिक आय २४६·९ रु० से बढ़कर २८४ रु० हो गई। नेशनल इनकम कमेटी की गणना अनेक बातों पर प्रकाश डालती है। इन आँकड़ों से एक यह परिणाम निकाला जा सकता है कि कृषि उत्पत्ति के मूल्य के बढ़ जाने से किसानों को अधिक लाभ हुआ और औद्योगिक तथा व्यवसायिक कार्य में संलग्न लोगों को कर भार, श्रमिकों का पारिश्रमिक तथा कच्चे माल के मूल्य में वृद्धि होने के कारण कुछ कठिनाई हुई। दूसरी आकर्षक बात जो इन आँकड़ों से प्रकट होती है वह घरेलू उत्पादन में सरकार का भाग है। १९५३-५४ में सरकारी आर्थिक उपक्रमों और प्रशासन की वास्तविक उत्पत्ति १९४८-४९ की तुलना में २६½% अधिक थी जबकि व्यक्तिगत वृत्त में केवल २०½% की वृद्धि हुई। इनके अतिरिक्त उन आँकड़ों के सम्बन्ध में अन्य विशेष बात व्यक्तिगत आय पर सरकारी ड्राफ्टों का २०% वृद्धि है। इस वृद्धि का प्रधान कारण परोक्ष कर हैं क्योंकि प्रत्यक्ष करों की वर्तमान मात्रा को देखते हुये अधिकाधिक आश्रय परोक्ष करों का ही लिया गया है।

१९५४-५५ में प्रवृत्ति विपरीत हो गई क्योंकि कृषि द्वारा प्राप्ति लगभग ०·६ प्रतिशत कम हो गई क्योंकि इनके उत्पादन तथा मूल्य में भी कमी हो गई थी। खान खोदने, कारखानों तथा छोटे-छोटे उपायों तथा अन्य सेवाओं से प्राप्त आय ३¾% बढ़ गई; व्यापार, यातायात और सूचना से प्राप्त आय २% बढ़ गई। इस परिवर्तन का मुख्य कारण कृषि उत्पत्ति के मूल्य का बहुत अधिक गिरना तथा मध्यस्थ और तृतीय वर्ग के लोगों की आय में सापेक्षित अधिक वृद्धि हो जाना है। १९४८-४९ के मूल्य स्तर के आधार पर ही कृषि आय में कमी दिखाई पड़ती है, जबकि अन्य वर्गों में कुछ वृद्धि हुई है। इससे राष्ट्रीय आय की वृद्धि की दर में कमी का भी एक कारण ज्ञात होता है जो कि १९४८-४९ के मूल्य स्तर के आधार पर १९५४-५५ में केवल २५० करोड़ रु० से बढ़ी जबकि १९५३-५४ में ५७० करोड़ रु० से बढ़ी थी।

१९५४-५५ में राष्ट्रीय आय की वृद्धि (१९४८-४९ के मूल्यों के आधार पर) सभी क्षेत्रों के योग से हुई थी। १९५५-५६ में इस वृद्धि के लिये निम्न क्षेत्र उत्तरदायी थे—(1) खदान, निर्माण तथा छोटे उपक्रमो ने ६० करोड़ रु० की वृद्धि

की; (ii) वाणिज्य, परिवहन तथा संचार ने ६० करोड़ रु० की वृद्धि की तथा (iii) अन्य सेवाओं, जिनमें विभिन्न पेशे तथा सरकारी नौकरियाँ सम्मिलित हैं, ६० करोड़ रु० की वृद्धि की। १९५३-५४ की तुलना में १९५४-५५ में यह वृद्धि क्रमशः ५० करोड़ रु०, ८० करोड़ रु० तथा ७० करोड़ रु० हुई। किन्तु १९५५-५६ में कृषि, पशु-पालन तथा गौण क्रियाओं से प्राप्त आय में १० करोड़ रु० की कमी हुई जबकि १९५४-५५ में १९५३-५४ की तुलना में ५० करोड़ रु० की वृद्धि हुई। यदि चालू मूल्यों के आधार पर देखा जाय तो कृषि, पशु-पालन तथा गौण क्रियाओं में भी १८० करोड़ रु० की वृद्धि हुई है।

१९५५-५६ की तुलना में १९५६-५७ में राष्ट्रीय आय की वृद्धि में कृषि तथा गैर कृषि क्षेत्र का योगदान बराबर था। कृषि, पशु-पालन तथा गौण क्रियाओं से २४० करोड़ रु० की वृद्धि हुई। वाणिज्य, परिवहन तथा संचार से ११० करोड़ रु० की, खदान, निर्माण तथा छोटे उपक्रमों से ८० करोड़ रु० तथा अन्य सेवाओं—सरकारी नौकरियों तथा पेशे आदि—से ६० करोड़ रु० की वृद्धि हुई। यदि हम चालू मूल्यों को देखें तो यह वृद्धि क्रमशः ११६० करोड़ रु०, ५० करोड़ रु०, १२० करोड़ रु० तथा ८० करोड़ रु० थी।

विचारणीय महत्वशाली बात तो यह है कि क्या इस काल में लोगों की वास्तविक आय की भी वृद्धि हुई अथवा नहीं। भारत की राष्ट्रीय आय जो कि १९४८-४९ में ८,६५० करोड़ रुपये थी, और १९५६-५७ में बढ़कर ११,४१० करोड़ रु० हो गई (प्रचलित मूल्यों के आधार पर) परन्तु यदि गणना १९४८-४९ में मूल्य स्तर के आधार पर की जाय तो यह आय ८,६५० करोड़ रु० से बढ़कर १०,०१० करोड़ रु० हो गई। अधिक स्पष्ट रूप से यह बात प्रति व्यक्ति वार्षिक आय के अध्ययन से प्रकट होती है। चालू मूल्यों के आधार पर राष्ट्रीय आय १९५३-५४ में २८१ रु० तक बढ़ गई किन्तु १९५४-५५ व १९५५-५६ में घटकर २५४ रु० तथा २६१ रु० रह गई। १९५६-५७ में यह पुनः बढ़कर २९४ रु० हो गई। १९४८-४९ के मूल्य के आधार पर १९५३-५४ की तुलना में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय की वृद्धि १९५४-५५ में नगण्य थी। इसका कारण यह था कि आय संख्या की वृद्धि राष्ट्रीय आय की वृद्धि की तुलना में अधिक तेजी से हुई। १९५६-५७ में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय बढ़कर २८४ रु० हो गई। इसका कारण यह था कि १९५६-५७ में राष्ट्रीय आय में ५·१% की वृद्धि हुई जबकि पिछले वर्ष यह वृद्धि १·९% थी तथा १९५६-५७ में जन संख्या की वृद्धि दर १·२१% थी जबकि पिछले वर्ष में यह १·२८% थी।

अन्य देशों से तुलना—भारत की प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय संसार में

सबसे कम है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा विभिन्न देशों की राष्ट्रीय आय के अध्ययन के अनुसार जिसमें संसार के देशों को तीन—उच्च, मध्यम और निम्न श्रेणी में विभाजित किया गया है—उच्च श्रेणी वाले देशों (जैसे यू० एस० ए०, कैनाडा, पश्चिमी योरूप, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड) जिनके अंतर्गत संसार की कुल जनसंख्या का १८% आ जाता है उनकी औसत प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १,००० डालर से कुछ ही कम है। अर्जेन्टाइना, यूरुगुवे, दक्षिणी अफ्रीका, इजराइल, सोवियट रूस, और कुछ पूर्वी योरुप के देशों, (जो कि मध्य श्रेणी में आते हैं और जिनके अन्तर्गत १५% संसार को जन संख्या आती है) की प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ३०० डालर से कुछ कम है। निम्न श्रेणी के देशों में एशिया के निर्धन और पिछड़े हुये देश जिसमें भारतवर्ष, दक्षिणी अफ्रीका, और पूर्वी योरुप, लेटिन अमरीका आदि समिलित है जिनके अन्तर्गत संसार की जनसंख्या का ६० प्रतिशत आता है उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय ५४ डालर से कुछ अधिक है। इसलिए भारतवर्ष के सम्बन्ध में सबसे अधिक महत्व की बात तो यह है कि प्रति व्यक्ति वास्तविक तथा द्राव्यिक आय बढ़ाई जाय ।

अध्याय ५२

घाटे का अर्थ प्रबन्धन

भारत के द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १२०० करोड़ रुपये के घाटे के अर्थ प्रबन्धन का आयोजन १९५६-१९६१ तक के पाँच वर्ष के काल में किया गया है। इस नीति के अनुसार ही १९५६-५७, १९५७-५८, तथा १९५८-५९ के केन्द्रीय बजट में नये करों से प्राप्त आय को विचाराधीन रखते हुये भी क्रमशः १८४.७५ करोड़ रुपया (वास्तविक), ३८०.४९ करोड़ रुपया (संशोधित) तथा १९९·३४ करोड़ रुपया (बजट अनुमान) का घाटा रहेगा। इन वर्षों के राज्यीय बजटों का घाटा क्रमशः १०४.७ करोड़ रुपया (बजट अनुमान), ४३.७ करोड़ रुपया (संशोधित) तथा ४१.७ करोड़ रुपया (बजट अनुमान) है। घाटे के अर्थ प्रबन्धन का ठीक ठीक अनुमान लगाने के लिये यह आवश्यक होगा कि केन्द्रीय तथा 'क' और 'ख' राज्यों ने कुल मिलाकर प्रथम योजना काल में कितना घाटा सहन किया है उसे हम समझ लें।

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में केन्द्रीय सरकार का कुल घाटा ३९६·३ करोड़ रुपया था जब कि राज्य सरकारों का घाटा ४९·९ करोड़ रुपया था। इस सम्बन्ध में विशेष ध्यान देने योग्य तीन बातें हैं। (१) घाटे की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के सम्बन्ध में १९५४-५५ से और राज्य सरकारों के सम्बन्ध में १९५५-५६ से व्यापक हो गई। (२) जहाँ तक केन्द्रीय सरकार का प्रश्न है प्रथम योजना काल के ३९६ करोड़ रुपये के कुल घाटे में से १९६ करोड़ रुपया तो रोकड़ बचत (Cash balance) से पूरा कर दिया गया। राज्य सरकारों के कुल ५० करोड़ रुपये के घाटे में से ३९·३५ करोड़ रुपये की इस प्रकार पूर्ति की गई। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की रोकड़ बचत की मात्रा बहुत कम हो गई और भविष्य में घाटे को पूरा करने के लिये अन्य उपायों का सहारा लेना होगा है। (३) द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों का ९५० करोड़ रुपयों का घाटा प्रथम योजना काल में कुल घाटे की मात्रा के दूने से अधिक है। सरकारी मतानुसार द्वितीय योजना के शेष दो वर्षों में २८३ करोड़ रुपया के घाटे का अनुमान किया गया है किन्तु यह ४५० करोड़ रुपयों से लेकर ५०० करोड़ रुपयों तक होगा। इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना काल में कुल घाटा १४००—१४५० करोड़ रुपया होगा जब कि योजना में केवल १२०० करोड़ रुपयों के घाटे की व्यवस्था की गई है। संशोधित अनुमान के अनुसार यह घाटा केवल ९०० करोड़ रुपया ही था।

क्या इस सीमा तक घाटे का अर्थ प्रबन्धन देश के लिये अभीष्ठ है ? यदि मुद्रा प्रसार का चक्र शक्तिशाली हो गया तो क्या भारत सरकार इस स्थिति में होगी कि इसके पहिले कि वे देश की आर्थिक व्यवस्था को अपूर्व (irreparable) हानि पहुँचा सके उनका नियंत्रण कर सके ? ये कुछ महत्वशाली प्रश्न हैं जिन पर सावधानी से विचार कर लेना चाहिये।

घाटे के बजट का अर्थ वह स्थिति है जब कि सरकार के आय और पूँजी के बजट में कुल व्यय की मात्रा इन बजटों में बताये हुये आय के स्रोतों से बढ़ जाय। भारतवर्ष के सम्बन्ध में इसका अर्थ यह होगा कि २५५ करोड़ रुपये की कुल कमी (deficit) आय के सभी स्रोतों के, जैसे कर आय, व्यापारिक सेवाओं द्वारा प्राप्त अनुदान, ऋण, बचत की छोटी छोटी रकम इत्यादि जिनसे केन्द्रीय सरकार आय प्राप्त कर सकती है, उपरान्त होगी। यह कमी या तो बचत की रोकड़ में कमी करके अथवा रिजर्व बैंक के हाथ ट्रेजरी बिल्स बेच कर पूरी की जा सकती है। चूँकि सरकारी रोकड़ बजट की मात्रा पहिले से ही न्यूनतम स्तर पर पहुँच चुकी है इसलिये इसकी सहायता से घाटा दूर करने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिये अब केवल एक ही रास्ता, जो खुला हुआ है, वह ट्रेजरी बिल्स को रिजर्व बैंक के हाथ बेचने का है।

सामान्यतया इसका अर्थ यह होगा कि रिजर्व बैंक और अधिक कागजी मुद्रा छापे और इस प्रकार परिचलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ाये। इस प्रकार घाटे के अर्थ प्रबन्धन से चलन में मुद्रा की मात्रा बढ़ जायगी और यदि समान रूप से वस्तु के उत्पादन में वृद्धि न हुई तो परिणाम स्वरूप मूल्यों में स्फीतिकारी वृद्धि होगी, परन्तु मुख्य बात जिस पर अभी हम विचार करेंगे, वह यह है कि इस सीमा तक घाटे के अर्थ प्रबन्धन का जो कि सरकार करने जा रही है स्वाभाविक परिणाम मुद्रास्फीति होगी। चाहे मुद्रा की मात्रा में कोई वास्तविक वृद्धि भी न हो जब घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा विनियोग किया जाता है तो लोगों की आय बढ़ती है। इस अतिरिक्त आय से लोग वस्तुओं की खरीदारी करते हैं। और यदि उपयोग की वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं की पूर्ति जिनपर लोग अपनी आय का व्यय करते हैं नहीं बढ़ी है तब तो मूल्य में स्फीतिकारी वृद्धि होना अवश्यमभावी हो जायगा। परन्तु यदि सरकार ने यह विनियोग घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा नहीं वरन् आय स्रोतों की वृद्धि द्वारा, चाहे आंतरिक ऋण लेकर अथवा नये करों के आरोप द्वारा; किया है तो मूल्यों में स्फीतिकारी वृद्धि न होगी, क्योंकि जिस आय पर सरकार कर का आरोप करेगी या ऋण रूप में ले लेगी उसके हिसाब से वस्तुओं का उत्पादन हो चुका है। ऐसी स्थिति में यह होगा कि जनता के धन व्यय करने के स्थान पर

सरकार व्यय करेगी। घाटे के अर्थ प्रबन्धन की स्थिति ही दूसरी है क्योंकि ऐसी हालत में वस्तुओं की पूर्ति को उसी मात्रा में निरन्तर इसीलिये बढ़ाया जाता है ताकि मूल्यों में स्फीतिकारी वृद्धि न होने पावे।

सिद्धान्ततः अतिरिक्त मात्रा में धन के विनियोग के कारण वस्तुओं की पूर्ति बढ़ती है और इस प्रकार मूल्य स्तर में स्फीतिकारी वृद्धि को रोकती है। परन्तु भारत की वर्तमान स्थिति को देखते हुये यह आशा करना कि १९५६-५७ के आर्थिक वर्ष में वस्तुओं का उत्पादन इस सीमा तक बढ़ेगा कि ३५५ करोड़ रुपयों के घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा उत्पन्न उपभोक्ताओं की माँग पूरी होगी, युक्तिसंगत नहीं लगता। इसके कई कारण हैं। (१) द्वितीय पंचवर्षीय योजना का अधिक जोर औद्योगिक विकास की दीर्घकालीन योजनाओं पर है। इसके कारण उपभोग की वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति काफी समय के पश्चात् ही बढ़ पायेगी। १९५६-५७ में ही वस्तुओं की अतिरिक्त मात्रा नहीं प्राप्त हो सकेगी। इसलिये मूल्यों में स्फीतिकारी वृद्धि होगी। (२)प्रथम योजना काल में ही उद्योगों की अतिरिक्त शक्ति का प्रयोग हो चुका है। और अप्रयुक्त शक्ति के प्रयोग से उत्पादन बढ़ाने की अधिक सम्भावना नहीं है (३) यद्यपि साधारण प्रकार के श्रमिकों के पूर्ति का बाहुल्य है, फिर भी दक्ष श्रमिकों, पूँजी के प्रसाधनों, विशेष रसायनों और कच्चे माल की बहुत कमी है। इसके कारण उपयोग की वस्तुओं तथा अन्य प्रकार की ऐसी वस्तुओं के उत्पादन में विलम्ब होगा जिन पर लोग अपनी बढ़ी हुई आय जो घाटे के अर्थ प्रबन्धन के कारण उनके हाथ आ जायेगी खर्च किया करते हैं। इससे प्रभावशाली स्फीतिकारी चक्र आरम्भ हो जायेगा। इस बात पर यहाँ जोर देना आवश्यक है कि चाहे चलन में मुद्रा की मात्रा में वृद्धि न भी हो परिणाम यह अवश्य होगा कि चलन में मुद्रा की यही मात्रा होते हुये भी लोग अधिक मात्रा में वस्तुओं का उपभोग कर सकते हैं। इस स्थिति में मुद्रा की कुल मात्रा जिसकी उत्पादित वस्तु कुल मात्रा से अनुपातिक सम्बन्ध जोड़ा जाता है अपने परिचलन प्रवेश के कारण मात्रा में बढ़ जायगी।

मूल्य में स्फीतिकारी वृद्धि का दूसरा कारण उत्पादन की वृद्धिमान लागत होगी जो कि वर्तमान उद्योगों में प्रयुक्त सर्वाङ्ग, तथा प्रसाधनों के घिसे पिटे होने के कारण तथा उनको पहले से ही सम्पूर्ण शक्ति भर काम करने के कारण लागू होगा। एक बार जब मूल्यों में स्फीतिकारी प्रवृत्ति का आरम्भ हो जाता है तब मजदूरी में वृद्धि हो जाती है और उसके कारण उपभोग की वस्तुओं के मूल्यों में भी वृद्धि निश्चय ही होती है। इस वृद्धि का प्रभाव संचयी (cumulative) हो जाता है। भारत में पहिले से ही मजदूर अधिक मजदूरी के लिये आन्दोलन कर रहे हैं।

जो कुछ भी हो हमारे देश के मजदूर इस अवस्था में नहीं हैं कि अपनी वास्तविक मजदूरी को किसी प्रकार भी कम होने दें, अर्थात् अपने उपभोग की वस्तुओं के लिये अधिक मूल्य दें और मजदूरी उतनी ही पाते रहें। यही भारतवर्ष की स्थिति में और केन्स (Keynes) की आर्थिक मान्यताओं में महान अन्तर है जिसके आधार पर हमारे देश में घाटे के अर्थ प्रबन्धन का प्रयोग किया जा रहा है।

इन परिस्थितिओं के कारण यह समस्या, जैसा कि अधिकतर लोग घाटे के अर्थ प्रबन्धन पर विचार करते समय सोचते हैं, विशुद्ध रूप से द्रव्यात्मक ही नहीं है। वास्तव में यह तो भारतीय कृषि और उद्योग की अधिक मात्रा में उपयोग की तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन करने की शक्ति की समस्या है। घाटे के अर्थ प्रबन्धन की सीमा आवश्यक मात्रा में वित्त न प्राप्त कर सकना नहीं है, वरन् देश की अर्थ व्यवस्था की एक वर्ष अथवा कुछ वर्षों की अवधि में उत्पादन की मात्रा बढ़ाते रहने की योग्यता है। चूँकि घाटे के अर्थ प्रबन्ध से लोगों की आय और व्यय तुरन्त बढ़ जाते हैं और उनका उत्पादन नहीं बढ़ पाता, इसलिए पाँच वर्ष के औसत आँकड़ों के आधार पर तर्क उपस्थित करना ठीक नहीं है। हमें प्रत्येक वर्ष की स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए। ऐसा करने से हमें १९५६-५७ में ३५६ करोड़ रुपये के घाटे का अर्थ प्रबन्धन अत्यधिक स्फीतिकारी प्रतीत होता है।

इसमें जोखिम साधारण तथा आकस्मिक ही नहीं है जैसा कि वित्त मन्त्री ने हमें विश्वास दिलाया है, वरन् अत्यधिक है। यदि भारत की दशा सामान्य होती तब तो इतना बड़ा जोखिम उठाना किसी सीमा तक न्यायसंगत होता, पर चूँकि मूल्य-स्तर पहिले से ही असमान्य रूप से ऊँचा है इसलिये हमें इतनी अधिक मात्रा के अर्थ प्रबन्धन का विचार नहीं करना चाहिये जितना कि १९५६-५७ के बजट में दिखाया गया है। घाटे के अर्थ प्रबन्धन की भय रहित सीमा बता देना कठिन है। प्रोफेसर बी० आर० शिनौय ने ३५ से ४७ करोड़ तक की सीमा निर्धारित की है। परन्तु किसी भी दशा में, यदि हम आर्थिक दुर्घटना के लिये तैयार नहीं हैं तो अधिक से अधिक १०० करोड़ रुपया प्रति वर्ष तक घाटे के अर्थ प्रबन्धन की सीमा नियत कर सकते हैं।

भारत के वित्त मंत्री ने बजट पर विवाद का उत्तर देते हुये लोक सभा में यह बताया था कि यदि स्थिति अधिकार के बाहर निकल जायगी तो सरकार को उसके सम्भालने के उपाय मालूम हैं। पर ऐसा करना असगंत और निराधार है। मूल्यों में स्फीतिकारी वृद्धि के हो जाने पर जो उपाय सरकार करेगी उनकी परीक्षा करना यहाँ असंगत न होगा। सर्वप्रथम उपाय वस्तुओं के मूल्य, उत्पादन

तथा वितरण आदि के नियंत्रण का है। सरकारी नियंत्रण केवल एक ही बात में पूर्णतया सफल हो सकते हैं और वह उत्पादित वस्तुओं का अधिक अच्छा वितरण है। यदि अर्थ व्यवस्था के भीतर से ही ज्वालामुखी के समान शक्तियाँ मूल्यों को ऊँचा उठा रही हों तो यह नियंत्रण मूल्य की वृद्धि नहीं रोक सकते। होता यह है कि ऐसी स्थिति में दो बाजार प्रचलित हो जाते हैं, एक तो ऐसा बाजार जिसमें नियंत्रित मूल्य चालू होता है और दूसरा चोर बाजार जहाँ असमान रूप से बढ़े हुये मूल्य चालू रहते हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी नियंत्रण के कारण बाजार में वस्तुओं की पूर्ति में भी छिपा कर रख लेने के कारण कमी आ जाती है। घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा बढ़ी हुई आय के उपयोग की वस्तुओं पर खर्च किये जाने से मूल्यों का स्तर और भी ऊपर उठता है। इससे स्थिति सुधरने के स्थान पर और अधिक बिगड़ती जाती है। यदि हम सब सचरित्र होते और प्रशासन प्रणाली दोष रहित होती और स्फीतिकारी शक्तियाँ अधिक शक्तिशाली न होतीं तब तो सरकारी नियंत्रण किसी सीमा तक सफल न हो सकते थे, अन्यथा मूल्यों में स्फीतिकारी प्रभाव को रोकने के लिये वे अशक्त हैं।

करों में वृद्धि तथा साख नियंत्रण आदि उपाय भी स्फीतिकारी प्रभाव के रोकने में असमर्थ हैं। यदि मूल्य की स्फीतिकारी वृद्धि ऋण सुविधा तथा मुद्रा में प्रसार के कारण होती तब तो साख नियंत्रण का उपाय किसी सीमा तक मूल्यों की वृद्धि रोकने में सफल होता। परन्तु जैसा कि ऊपर हम बता चुके हैं मूल्यों में वृद्धि मुद्रा की मात्रा और ऋण सुविधा के उतने ही बने रहने पर भी मुद्रा के परिचलन प्रवेश में परिवर्तन के कारण हो सकती है। इसलिए ऐसी स्थिति में साख नियंत्रण निरर्थक है। करों में वृद्धि के फलस्वरूप जनता के हाथ से उनकी आय में हुई वृद्धि छीन ली जा सकती है और मूल्यों पर उसका भार घटाया जा सकता है। पर इस परिणाम के लिये करारोप बहुत अधिक मात्रा में करना आवश्यक होगा। ऐसे करारोप के कारण उद्योगों की उत्पादन और लागत बढ़ जाती है क्योंकि इन करों का भार कच्चे माल तथा शक्ति साधनों आदि पर पड़ता है, और इससे मूल्य स्तर नीचे गिरने के स्थान पर ऊपर उठता है। इसके अतिरिक्त इसका प्रभाव व्यापारिक मनोवैज्ञानिक स्थिति पर हतोत्साहित होता है और लाभ की आशा घट जाती है। इसे अर्थशास्त्र की पारस्परिक शब्दावली में देय-पूँजी की सीमान्त कुशलता में ह्रास कह सकते हैं, जिससे व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग की मात्रा घट जाती है। मिश्रित आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत यह एक महत्वशाली प्रश्न है और अतिरिक्त करारोप की योजना असफल होती है।

यदि स्फीतिकारी शक्तियाँ प्रबल होती दिखाई पड़ें तो सरकार उदार

आयात नीति का भी अनुसरण कर सकती है। परन्तु भूतकाल के अनुभव से यह कहा जा सकता है कि ऐसी स्थिति में ठीक ढंग की वस्तुएँ उपयुक्त मूल्य पर सम्भवतः अप्राप्य हो सकती हैं। कुछ भी हो आयात में वृद्धि द्वारा देश के आर्थिक साधनों में वृद्धि, जिस ध्येय से ऐसा किया गया है, सम्भव नहीं हो सकती क्योंकि विदेशी वस्तुएँ देश में निर्मित वस्तुओं से घोर प्रतिद्वन्दिता करेंगी। इस प्रकार हमें विदेशी विनिमय का भी अधिक प्रयोग करना आवश्यक होगा जिसकी पहिले से ही कमी है।

हमारा ध्येय द्रुतगति से आर्थिक विकास करना है। पर यह कार्य कल्पनात्मक नहीं है। भारत ऐसे पिछड़ी अर्थ व्यवस्था वाले देश में विकास की प्रगति द्रव्यिक तथा वित्तीय कारणों की अपेक्षा प्रौद्योगिक कारणों पर अधिक निर्भर है। चाहे पसन्द करें या न करें, हमें विकास की धीमी प्रगति पर ही सन्तोष करना पड़ेगा अन्यथा आर्थिक संकट निश्चित है। यह भय आकस्मिक नहीं वरन् ऐसा है कि महान् स्फीतिकारी शक्तियाँ देश की आर्थिक व्यवस्था को अपने नियत स्थान से हटा कर उसे छिन्न-भिन्न करके विनष्ट कर देंगी।

अध्याय ५३

मुद्रास्फीति

भारत को मुद्रास्फीति द्वितीय विश्वयुद्ध की देन है। युद्ध के समय भारत सरकार तथा मित्र राष्ट्रों ने भारत में काफी धन व्यय किया जिससे प्रचलित मुद्रा की राशि बढ़ी परन्तु जिस तेजी से यह राशि बढ़ी उसी गति से माल एवम् अन्य सेवाओं में वृद्ध न हो सकी। इसके फलस्वरूप वस्तुओं की कीमतें बढ़ गई और थोक भाव के देशनांक में वृद्धि हुई है। १६३६ ४० में थोक भाव का देशनांक १२५'६ था जो १६४३-४४ में बढ़कर २३६'५ और १६४७-४८ में ३०७ हो गया। १६४३-४४ से वस्तुओं के भाव में विशेष वृद्धि हुई और पहली बार देशनांक २३६'५ तक पहुँचा। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय रिजर्व बैंक कानून में स्टर्लिंग को रुपयों में बदल सकने की व्यवस्था का लाभ उठाया, स्टर्लिंग का रुपयों में विनिमय किया और इस रुपये को युद्ध सामग्री पर भारत में ही खर्च कर दिया। इससे भारत में प्रचलित मुद्रा की राशि बढ़ी और परिणाम स्वरूप मुद्रास्फीति की समस्या उत्पन्न हो गई। १६४२-४३ में कुल ६४३'६ करोड़ रुपये के नोट चलन में थे जबकि एक वर्ष पूर्व ३८१'८ करोड़ रुपये के नोट चलन में रहे थे। इस एक वर्ष में २६१'८ करोड़ रुपये के अधिक नोट चलन में आए। १६४२-४३ में २३८'६ करोड़ रुपये के नोट और चलन में आए जिससे कुल प्रचलित मुद्रा ८८२'५ करोड़ रुपया हो गई। १६४२-४३ में कुल प्रचलित मुद्रा में पहले वर्ष की अपेक्षा ४६५ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई और १६४३-४४ में इसमें ४२१ करोड़ रुपये की और वृद्धि हो गई। इसके साथ ही केन्द्रीय तथा प्रदेशीय सरकारों के कुल चालू व्यय (revenue expenditure) में भी वृद्धि हुई। १६४२-४३ में केन्द्रीय तथा प्रदेशीय सरकारों (जो अब खण्ड 'क' के राज्य कहलाते हैं) के व्यय में १५६'२६ करोड़ रुपये की वृद्धि हुई जिससे कुल व्यय की मात्रा ४०७'०५ करोड़ रु० हो गई। १६४३-४४ में ८६'६६ करोड़ रुपये का व्यय और बढ़ा और कुल व्यय ५६३'७१ करोड़ रुपया हो गया। प्रचलित मुद्रा में और सरकार के व्यय में वृद्धि होने से वस्तुओं की कीमतें बढ़ गई। इसमें कुछ संदेह नहीं कि आरम्भ में मुद्रास्फीति द्राव्यिक थी क्योंकि कीमतों में वृद्धि होने का प्रत्यक्ष कारण यह था कि प्रचलित मुद्रा में वृद्धि हुई थी। परन्तु इधर कुछ वर्षों में मुद्रास्फीति का मुख्य कारण केवल द्रव्य नहीं रह गया है क्योंकि सरकार के कुल व्यय की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होते हुए भी कीमतों के

देशनांक में गिरावट प्रारम्भ हो गई है। गत कुछ वर्षों में सरकार द्वारा चालू व्यय में ही वृद्धि नहीं हुई है बल्कि पंचवर्षीय योजना के सम्बन्ध में सरकार ने नई पूँजी भी लगाई है। १९५०-५१ में विगत वर्षों की अपेक्षा प्रचलित मुद्रा बढ़ कर २००५·९ करोड़ रुपया हो गई। केवल १९५१-५२ में पहली बार घट कर १८०१·७९ करोड़ रुपया और १९५२-५३ में घटकर १७६४·७१ करोड़ रुपया हो गई। यह कमी की प्रवृत्ति अस्थायी सिद्ध हुई। १९५३-५४ में फिर मुद्रा की मात्रा बढ़ कर १७९३·९७ करोड़ रुपया, १९५४-५५ में १९२०·६३ करोड़ रुपया, १९५५-५६ में २१८४·३२ करोड़ रुपया, १९५६-५७ में २३१२·८९ करोड़ रुपया तथा १९५७-५८ में २३८७·६३ करोड़ रुपया हो गई। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि मुद्रा के प्रचलन का वस्तुओं की कीमतों पर प्रभाव पड़ता है और एक निश्चित समय में प्रचलित मुद्राराशि में वृद्धि होने से वस्तुओं की कीमतों में भी वृद्धि हो जाती है। इसके विपरीत प्रचलित मुद्रा राशि में वृद्धि रोकने से वस्तुओं की कीमतों का स्तर भी गिरता है। परन्तु पिछले कुछ वर्षों से मुद्रास्फीति की मुख्य विशेषता यह है कि भारतीय उद्योग तथा कृषि क्षेत्र के उत्पादन व्यय में किसी प्रकार की कमी नहीं आयी है और उत्पादन में भी विशेष वृद्धि नहीं हुई है। मजदूरी, खाद्यान्न की कीमतों और कच्चे माल के भाव में वृद्धि हुई है और इससे उत्पादन व्यय बढ़ गया है। इसके परिणाम स्वरूप वस्तुओं की कीमतें बढ़ी हैं और इसके फलस्वरूप मुद्रास्फीति की स्थिति पैदा हो गई है। वस्तुओं की कीमत घटाने और मुद्रास्फीति पर नियंत्रण रखने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादक का उत्पादन व्यय कम हो और उत्पादन बढ़े। हमारे देश में मुद्रास्फीति के प्रसार को रोकने के लिए यही एक उपयुक्त उपाय है।

कीमतों की प्रवृत्ति—भारत में वस्तुओं की अपेक्षा मुद्रा-पूर्ति में अधिक वृद्धि होने के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण कीमतें बढ़ी हैं। जून १९५० के बाद कीमतों के देशनांक में विशेष वृद्धि हुई है। इन परिस्थितियों को जन्म देने में कोरियाई युद्ध का विशेष हाथ है। अमरीका तथा अन्य पाश्चात्य देशों में युद्ध की तैयारी के लिये अधिक से अधिक कच्चे माल तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की प्राप्ति के लिए सारे विश्व में खींचतान मची, इससे भारत द्वारा निर्यात किए जानेवाले सामान की और देश में बिकने वाली वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि हुई। भारत में सट्टेबाजी से भी कीमतें बढ़ीं। जून और अगस्त १९५० के बीच कीमतों का देशनांक ३९५·६ से ४०९·२ हो गया परन्तु अनेक वस्तुओं के मूल्य में प्रायः कुछ परिवर्तन नहीं हुआ। इस बीच खाद्य सामग्री की कीमतों का देशनांक ४०२·८ से ४२६·५, उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल का देशनांक ४९०·७

से ५१३·१ और विविध वस्तुओं का देशनांक जिनमें निर्यात किए जानेवाले सामान भी हैं ६६२·० से ७२७·३ तक बढ़ गया। कोरियाई युद्ध के बाद वस्तुओं के भाव में वृद्धि हुई जिसका एकमात्र कारण अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ थीं। भारत में वस्तुओं की कीमतों में अन्य देशों की अपेक्षा कम वृद्धि हुई। मूल्यों का देशनांक अप्रैल १९५१ में ४५७.५ तक पहुँच गया। यह वृद्धि उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल की कीमतों के बढ़ जाने से हुई। कच्चे माल की कीमत बढ़ने का कारण यह था कि सारे जग में कच्चे माल की मांग बढ़ गई परन्तु पूर्ति अपेक्षाकृत बहुत कम हुई। उद्योग के लिए आवश्यक कच्चे माल की कीमतों में गिरावट आने के साथ ही दिसम्बर १९५१ तक सूचकांक भी ४३३·१ तक गिर गया। फरवरी १९५२ में कीमतें एकाएक घट गई और भारत तथा अन्य देशों में एक प्रकार से मन्दी आ गई। भारत में कीमतों का सूचकांक जनवरी में ४३० था जो फरवरी में ४१६ और मार्च १९५२ में ३७७ हो गया। अस्थायी मन्दी आने का मुख्य कारण यह था कि अमरीका सरकार ने अपनी माल संग्रह की योजना में कमी कर दी। युद्ध विराम वार्ता चलने से यह आशा की जाने लगी कि कोरियाई युद्ध शीघ्र समाप्त हो जायगा। इसका कीमतों पर प्रभाव पड़ा और मन्दी आ गई। दूसरा कारण यह था कि भारत में कोरियाई युद्ध के समय सट्टेबाजी से कीमतें बढ़ी थीं और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में परिवर्तन होने से सट्टेबाजों को धक्का लगा। इस प्रतिकूल परिस्थिति से कीमतें और घटीं। तीसरा कारण यह था कि भारत सरकार ने मुद्रास्फीति-निरोधक नीति लागू की थी जिसका अब प्रभाव प्रकट होने लगा था। इससे कीमतों का स्तर और नीचे गिर गया। ऐसी स्थिति में जब कि अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण कीमतें गिर रही थीं उस समय सरकार कीमतों के निम्न स्तर को बनाये रखने के लिए अनेक उपाय कर रही थी।[1] इस प्रयत्न का भी प्रभाव प्रकट हो रहा था।

परन्तु जैसे ही कोरियाई युद्ध विराम वार्ता असफल होने के चिन्ह प्रकट

---

1 यह उपाय इस प्रकार हैं : (1) सरकार की व्यापार नीति जिससे स्वदेश में उत्पादन बढ़ने के साथ ही बाजार में सामान की पूर्ति बढ़े, (२) कुछ संशोधनों के साथ नियंत्रण लागू रखना, (३) कुछ वस्तुओं पर जैसे तिलहन, वनस्पति तेल, मध्यम और मोटी किस्म के कपड़े पर निर्यात कर लगाना और लगे हुए कर में वृद्धि करना, (४) सरकार की चालू आय (Revenue budgets) में वृद्धि, (५) बैंक की ब्याज की दर में वृद्धि और नवम्बर १९५१ से साख पर अधिक कड़े नियंत्रण की नीति।

होने लगे और शीघ्र समझौता हो सकने की संभावना घटने लगी कीमतों में पुनः वृद्धि होने लगी और सूचकांक जुलाई १९५२ तक ३८४ पर पहुँच गया। १९५२-५३ में सूचकांक ३८०.६ हो गया और तब से ३८५ से लगाकर ३९५ तक में ही बदलता रहा है, केवल नवम्बर १९५२ से फरवरी १९५३ तक के काल में जबकि इस स्तर से कम हो गया था और १९५३ के जून से लगाकर सितम्बर तक के काल के जब कि वह इस स्तर से बढ़ गया था। "आर्थिक सलाहकार द्वारा दिये गये थोक मूल्यों का सूचकांक १९५३ के मार्च के अन्त में ३८५.० था और अगस्त महीने के मध्य तक बढ़कर ४११.९ हो गया। यह स्तर केवल १९५३-५४ में ही अधिकतम नहीं था वरन् १९५२ की फरवरी से लगाकर उस समय तक के बीच अधिकतम था। इस काल में मूल्य स्तर में वृद्धि आन्तरिक कारणों से हुई थी जो कि मुद्रा से सम्बन्धित नहीं थे, जैसे १९५२-५३ में रुई, चीनी और चाय आदि फसलों से कम उत्पादन की आशंका"। मूल्य की वृद्धि को रोकने के लिये सरकार ने आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन को बढ़ाने का प्रयत्न किया। ये उपाय चीनी का आयात करने का निश्चय, मूँगफली के तेल के निर्यात पर नियंत्रण, गरी तथा गरी के तेल के आयात के प्रति उदार नीति का अनुसरण, खजूर के तेल, गरी, चीनी तथा बिनौले के तेल पर लगाये हुये आयात कर में कमी, खाद्यान्न बेचने के लिये सरकारी उचित मूल्य वाली दुकानें खुलवाने का निर्णय, राशन की मात्रा में वृद्धि, तथा केन्द्र से आयात किये हुये प्राप्त गेहूँ का मूल्य जुलाई में १ रु० प्रति मन घटा देना आदि थे। इन उपायों से मूल्यों की वृद्धि में रोक हुई और इसके साथ-साथ आयात में वृद्धि होने से, विशेष कर चीनी तथा स्थानापन्न वनस्पति तेल आदि के और नई फसल के आगमन से, थोक मूल्यों में घटने की प्रवृत्ति लक्षित होने लगी। २ अक्टूबर १९५४ को समाप्त होने वाले सप्ताह में थोक मूल्यों का सूचकांक ३८०.६ हो गया। यह अंक १९५२-५३ के औसत के ठीक बराबर था। थोड़ी सी अस्थायी वृद्धि के बाद सूचकांक निरन्तर घटता रहा और मई १९५५ में ३४२ हो गया।

१९५२ की सरकार की मुद्रास्फीति-निरोधक नीति—मुद्रास्फीति रोकने और कीमतों पर नियंत्रण रखने के लिए भारत सरकार ने अनेक उपाय किये हैं। साधारण रूप से इन उपायों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) ऐसे उपाय जिनका उद्देश्य कार्य कुशलता बनाए रखने के साथ ही सरकारी व्यय को यथा-संभव कम करना और जनता की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कुन्ठित करना था और (२) ऐसे उपाय जिनका उद्देश्य बाजार में आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति बढ़ाना था। सरकारी नीति में विशेष रूप से प्रचलित मुद्रा राशि को कम करने,

कर बढ़ाने, साख पर नियंत्रण रखने और जनता को अधिक बचत करने की प्रेरणा देने पर जोर दिया गया है, सरकार ने अपनी मुद्रास्फीति निरोधक नीति को सफल बनाने के लिए प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि की है। बैंक के ब्याज की दर में वृद्धि होने के साथ ही सरकारी साख-नीति पर नियंत्रण लगाया। इसका परिणाम यह हुआ कि १९५१-५२ में (अक्टूबर से अप्रैल तक) चलन में केवल ८४ करोड़ रुपयों की वृद्धि हुई जबकि १९५०-५१ की इस अवधि में २३५.८ करोड़ की वृद्धि हुई थी।

सरकार की मुद्रास्फीति निरोधक नीति को कुछ सफलता मिली है परन्तु यह सफलता आशा से बहुत कम रही। इसका एक कारण यह है कि सरकारी नीति में मुद्रा पर विशेष जोर दिया गया है परन्तु अब भारत में मुद्रास्फीति का कारण केवल मुद्रा ही नहीं रहा है। दूसरा कारण यह है कि सरकार की अधिक कर लगाने और साख का संकुचन करने की नीति से, जो कि भारतीय मुद्रास्फीति निरोधक उपायों का मुख्य आधार है, अप्रत्यक्ष रूप से उत्पादन पर विपरीत प्रभाव पड़ा है। इन उपायों से उत्पादन की वृद्धि रुक गई। इसके परिणाम स्वरूप बाजार में वस्तुओं की पूर्ति में माँग की अपेक्षा बहुत कमी पड़ गई और इससे देश में मुद्रास्फीति को ही बल मिला है। अधिक कर लगाने से, चाहे वह प्रत्यक्ष कर हो या अप्रत्यक्ष, उत्पादन व्यय बढ़ता है और इससे उत्पादन में वृद्धि नहीं हो पाती है। साख पर नियंत्रण रखने की नीति का और भी बुरा प्रभाव पड़ा है। साख पर नियंत्रण लगा देने से बहुत सी मिलों को कच्चे माल का स्टाक जमा करने के लिए पर्याप्त वित्त सहायता नहीं मिल पाती और साथ ही वह तैयार माल का स्टाक भी जमा नहीं कर पाती हैं। कुछ मिलें बन्द हो गईं और अन्य का उत्पादन घट गया है। मुद्रास्फीति रोकने के लिए अधिक कर और साख-संकुचन को उपयुक्त उपाय समझा जाता है परन्तु भारत की विशेष स्थिति होने के कारण इन उपायों से मुद्रास्फीति को अधिक बल मिला है। इन उपायों को लागू करते समय सरकार को उद्योगों पर अधिक भार नहीं डालना चाहिये था। परन्तु सरकार ने इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया जिससे मुद्रास्फीति की स्थिति सुधरने की अपेक्षा और बिगड़ गई। इसके साथ ही भारत सरकार पंचवर्षीय योजना के कारण घाटे के बजट की नीति अपना रही है। घाटे के बजट की नीति से जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि होती है और इससे मुद्रास्फीति बढ़ती है।

यद्यपि सरकारी स्फीति निरोधक नीति में सफलता की ओर प्रगति रुक रुक कर हुई पर उसे सफलता अवश्य प्राप्त हुई है। "जुलाई १९५२ से भारत की आर्थिक स्थिति में एक विशेष परिवर्तन हो गया है। मुद्रास्फीति बहुत कुछ समाप्त

हो गई थी और पहिली बार युद्ध की समाप्ति के बाद विकास योजनाओं को प्रोत्साहन देने की ओर ध्यान देना सम्भव हो गया। १९५१-५२ के बढ़े हुये कारोबार वाले काल में मुद्रा प्रसार पर नियंत्रण और मन्दे कारोबार वाले बाद के काल में वापस पाये हुये धन ने जनता के हाथ में क्रय शक्ति की मात्रा घटा दी थी फिर भी वस्तुओं की पूर्ति कृषि तथा उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि तथा आयात में वृद्धि के कारण बढ़ गई थी। इस प्रकार कुल मांग और पूर्ति में अन्तर कम रह गया था। इसलिये खाद्य वस्तुओं तथा अन्य वस्तुओं पर नियंत्रण शिथिल करने का तथा सरकारी क्षेत्र में विकास योजनाओं पर व्यय बढ़ाने का अवसर प्राप्त हो गया था"।

मई १९५५ से मूल्यों में वृद्धि—मई १९५५ में थोक मूल्यों का देशनांक घटकर ३४२ हो गया था परन्तु तब से निरन्तर उसमें वृद्धि होती गई और १९५६ के आरम्भ में विशेष रूप से प्रगट हुई। खाद्यानों के सम्बन्ध में मूल्य में वृद्धि विशेष रूप से दिखाई पड़ती है जो कि ८४·८ अंकों से बढ़ गई (मई १९५५ में २७६·१ थी और अप्रैल १९५६ में बढ़कर ३६०·९ हो गई), दूसरा नम्बर औद्योगिक कच्चे माल का था जो कि ७६·४ अंकों से बढ़ गया था (३९६·४ से ४७२·८ हो गया था) और अर्धनिर्मित वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि ४७·४ अंकों की हुई (३२९·६ से ३७७ हो गया था)। निर्मित माल के मूल्य में बहुत साधारण वृद्धि हुई (३७४·६ से बढ़कर ३७५·६ हो गया) और विविध वस्तुओं के सम्बन्ध में तो वास्तव में मूल्य ५४४·६ से घट कर ४९६·७ हो गया। मूल्यों में इस वृद्धि के कारण निम्न थे—(१) सरकार की ज्वार, बाजरा, मक्का आदि कृषि उत्पत्तियों के मूल्यों को गिरने से बचाने की नीति जिससे मूल्य में कमी ही नहीं रुकी वरन् उसमें वृद्धि हुई; (२) सरकारी अन्य उपाय जैसे रुई, तिलहन, वनस्पति तेल और कहवा आदि के निर्यात मात्रा में वृद्धि तथा विभिन्न प्रकार के सूती कपड़ों, तिलहन, ज्वार और वनस्पति तेल आदि के निर्यात के लिये निशुल्क लाइसेन्स प्रदान करने की नीति का लागू करना, तथा चावल, दाल, मक्का, और खली के निर्यात की अनुमति प्रदान करना तथा कपास, जूट, काली मिर्च, वनस्पति तेल और खली पर लगाये हुये निर्यात कर का हटा लेना आदि, जिससे निर्यात को प्रोत्साहन मिला। इन से भारतीय बाजार की पूर्ति कम हो गई और मूल्य बढ़ गये, (३) मूल्यों में यह वृद्धि और भी अधिक प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं पर व्यय बढ़ाने से हुई। केन्द्रीय और राष्ट्रीय सरकार की कुल आय तथा पूँजी व्यय निरन्तर बढ़ रहे हैं। इससे जनता के हाथ में क्रय शक्ति भी बढ़ गई। जनता के लिये द्रव्य की मात्रा में भी वृद्धि की गई थी। इन सब कारणों ने मुद्रास्फीति को बहुत अधिक प्रोत्साहन

दिया; और (४) "व्यापारिक क्षेत्र में यह शंका बनी ही रही कि अगले महीनों में अन्न का तथा औद्योगिक कच्चे माल का उत्पादन उतनी ही प्रगति के साथ जितनी प्रगति से द्वितीय योजना में व्यय करने का विचार है बढ़ाया भी जा सकता है अथवा नहीं। इन कारणों को विचाराधीन रखते हुये व्यापारी अधिक मात्रा में वस्तुओं की बिक्री करने में बड़े सोच विचार से काम ले रहे थे। इतना ही नहीं उनके मन में इस बात की इच्छा प्रबल थी कि वे यथा सम्भव वस्तुओं का संचय कर लें"। १९५६ के आरम्भ में ही वित्त मन्त्री ने लोक सभा में कहा था कि सरकार मुद्रास्फीति को ठीक करने की शक्ति रखती है और उसे दूसरे देशों के उपायों का जो वे मुद्रास्फीति से उत्पन्न अपने देश की समस्याओं का निराकरण करने में कर रहे हैं प्राप्त है। उन्होंने यह भी कहा कि सरकार "अब पूर्णतया उन वित्तीय, द्राव्ययिक तथा भौतिक उपायों से परिचित हो गई है जो प्रारम्भिक मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को रोकने के लिये काम में लाये गये हैं। हमें कुछ निजी अनुभव भी इस सम्बन्ध में प्राप्त हो गया है। १९५२ में यह दोष लगाया गया था कि हमने मुद्रास्फीति निरोधक नीति का आवश्यकता से अधिक प्रयोग किया है। इसलिये हमें विश्वास है कि जब इसका अवसर आयेगा तब हम इसके पहिले कि देश की आर्थिक स्थिति को क्षति पहुँचे मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को रोकने में समर्थ होंगे"। यदि प्रचलित स्थिति का विश्लेषण करें तो हम यह कह सकते हैं कि इसका पूरा करना सम्भव नहीं है।

मुद्रास्फीति रोकने के लिये पाश्चात्य देशों ने द्राव्यिक और वित्तीय उपायों पर नियंत्रण की नीति लागू करने के उपायों पर अधिक भरोसा किया है। उनकी द्राव्यिक नीति के अन्तर्गत निम्न बातें आती हैं जैसे (१) बैंक रेट में वृद्धि करना, (२) विनिमय कार्य निशुल्क करना, (३) सेन्ट्रल बैंकिंग संस्थाओं के पास बैंकों के जमाधन का अनुपात बढ़ाना, (४) विदेशी अधिपत्रों के कारोबार पर नियंत्रण ढीला करना और (५) क्रय-विक्रय (hire-purchase) के आधार पर ऋण प्राप्त करना कठिन कर देना इत्यादि। वित्तीय उपायों के अन्तर्गत निम्न बातें आती हैं जैसे (i) विनियोग पर कर की दर में वृद्धि, (ii) क्रय पर तथा अन्य बातों पर कर की दर बढ़ाना, और (iii) विनियोग को प्रोत्साहित करने के लिये जो करों से की गई थी उसको वापस कर लेना इत्यादि।

उपर्युक्त उपायों से उन देशों को सफलता मिली पर वे भारत के लिये उपयुक्त नहीं हैं क्योंकि—(१) उन देशों में कोई भी बेकार नहीं है पर भारत में बहुत अधिक संख्या में लोग बेकार हैं। विनियोग रोकने का कोई भी उपाय बेकारी बहुत अधिक मात्रा में बढ़ा देगा (२) उन देशों में सब प्रकार की वस्तुओं

को कमी है और उनकी समस्या उपभोग घटाने की है पर भारत में उपभोग का स्तर पहिले से ही नीचा है और उसे अधिक कम करने का अवसर नहीं है। भारत की सबसे अधिक गंभीर समस्या कृषि तथा उद्योगों के उत्पादन को बेचने का बाजार चाहिये, यदि उपभोग में किंचित मात्र भी कमी की गई तो उत्पादन वृद्धि कभी भी नहीं सम्भव है जो कि योजना का आदर्श है; और (३ भारत में साख घटाने का प्रश्न ही नहीं है क्योंकि साख का भाग द्रव्य की पूर्ति में बहुत छोटा है। इसलिये भारत सरकार के समस्त द्राव्यिक, वित्तीय और भौतिक नियंत्रण में से अकेला उपाय जिसका वे प्रयोग कर सकते हैं वह उत्पादन, वितरण तथा वस्तुओं के मूल्यों का भौतिक नियंत्रण ही है। इस देश और विदेशों का अनुभव यह बताता है कि भौतिक नियंत्रण से केवल उपभोक्ताओं के वर्ग विशेष को विशेषकर राजकीय विभागों को नियंत्रित मूल्य पर वस्तुयें प्राप्त होती हैं। अन्य उपभोक्ताओं के लिये वस्तुओं की दुर्लभता बड़ी भयानक और कष्टकर हो जाती है जिसके परिणाम स्वरूप चोर बाजारी और मुनाफा खोरी को प्रोत्साहन मिलता है और मूल्य और अधिक ऊँचा हो जाता है। पिछले अनुभव से हमें यह स्पष्ट रूप से मालूम है कि भौतिक नियंत्रण पर्याप्त न होगा; भारत ऐसे विस्तृत देश के लिये यह उपाय प्रभावशाली नहीं हो सकता क्योंकि यहाँ प्रशासन अधिकारी प्रभावशाली नहीं हैं और इसके अतिरिक्त उन्हें ऐसे आर्थिक कार्यों को करने के लिये कहा जा रहा है जिसे उन्होंने पहिले जबकि नियंत्रण का कोई भी प्रश्न नहीं था कभी नहीं किया था। इसके अतिरिक्त इस प्रकार का नियंत्रण देश की नैतिकता पर आघात पहुँचावेगा जो कि युद्ध के और युद्ध के पश्चात मुद्रास्फीति के प्रभावों से पहिले से ही क्षतविक्षत हो चुका है।

सरकार की मुद्रास्फीति निरोधक नीति को १९५२ में कुछ सफलता प्राप्त हुई थी पर १९५६ में स्थिति नितांत भिन्न हो गई थी इसलिये वे उपाय सफल नहीं हो सकते थे क्योंकि : (१) द्वितीय योजना में घाटे का अर्थ प्रबन्धन पहिली योजना से कहीं अधिक है और मुद्रा स्फीति की प्रवृति को किसी भी ढंग का वित्तीय, द्राव्यिक अथवा भौतिक नियंत्रण का उपाय रोक नहीं सकता जबकि ज्वालामुखी के समान शक्तियाँ मूल्य को ऊपर की ओर ढकेल रही हैं, (२) १९५२ में तथा बाद के वर्षों में विश्व व्यापी मन्दी फैल गई थी जिसके कारण भारत में भी मूल्यों का स्तर नीचे गिर गया था; और (३) १९५२, १९५३ और १९५४ में मानसून बहुत लाभकर थी जिससे कृषि उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि हुई जिससे सरकार की मुद्रा स्फीति निरोधक नीति को कुछ सफलता मिली थी। १९५६ में ये सहायक उपाय तो प्राप्त नहीं थे जो सरकार की मुद्रास्फीति निरोधक नीति को

सफलता प्रदान करते इसलिये वे उतने प्रभावशाली सिद्ध नहीं हो सके जितने कि १९५२ में हुये थे। इसके अतिरिक्त हमारे सम्मुख आज नई समस्याएँ उपस्थित हैं जो कि १९५२ में नहीं थीं। हमारी आर्थिक नीति में ऐसी विरोधी बातें दिखाई पड़ती हैं जैसे "कुटीर उद्योगों के साथ-साथ बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाली फैक्ट्रियों की उन्नति का विचार तथा तीव्र गति से औद्योगीकरण की इच्छा के साथ-साथ धनवानों को मिटा देने की भावना अथवा धनी होने की भावना का विरोध करना"। इन सब बातों के अतिरिक्त हमारी नीति में ऐसी आदर्शवादी बातें भी हैं जैसे मद्यनिषेध जिनके कारण अनुत्पादक कार्य में संलग्न होने से तथा नियम के प्रति सम्मान की भावना घटने से सरकार को एक बड़े आय के स्रोत की हानि होती है।

सितम्बर १९५७ से मूल्य स्तर कुछ कम हुये हैं जब कि १९५२-५३ को आधार मानकर थोक मूल्यों का सामान्य देशनांक १०८·७ हो गया। यह देशनांक अगस्त १९५७ में ११०·९ और जुलाई १९५७ में ११२·४ था। देशनांक का यह गिराव १९५८ में भी रहा किन्तु इसका कारण यह मुद्रा स्फीति विरोधी सरकारी उपाय तथा रिजर्व बैंक की विशिष्ट साख नियंत्रण की नीति न होकर खाद्य स्थिति में हुआ व्यक्तिगत सुधार था। १९५५-५६ की तुलना में १९५६-५७ में खाद्यान्न की उत्पत्ति तथा आयात दोनों में ही वृद्धि हुई। इस सम्बन्ध में निम्न आँकड़े स्थिति स्पष्ट करते हैं।

थोक मूल्यों के देशनांक (आधार १९५२-५३=१००)

	सब वस्तुएँ	खाद्य वस्तुएँ	मद्य तथा तम्बाकू	ईंधन शक्ति तथा सरल स्निग्ध-पदार्थ	औद्योगिक कच्चा माल	मध्य-उत्पत्ति (Intermediate Products)	निर्मित वस्तुएँ (तैयार वस्तुएँ)
जुलाई १९५७	११२·४	११२·१	९२·०	११४·९	१२२·३	१०९·०	१०९·०
दिसम्बर १९५७	१०६·३	१०२·९	९७·३	११४·८	११४·८	१०५·६	१०७·७
मार्च १९५८	१०६·१	१०३·४	९४·४	११४·५	११२·९	१०७·१	१०७·४
जुलाई १९५८	११४·७	११८·४	९२·६	११६·४	११७·६	१११·७	१०७·५

जुलाई १९५७ से मार्च १९५८ तक मद्य और तम्बाकू के मूल्यों में वृद्धि हुई; ईंधन, शक्ति, सरल स्निग्ध पदार्थ, तथा मध्य-उत्पत्ति और निर्मित वस्तुओं

के मूल्य घट गये। इससे स्पष्ट है कि मूल्यों के सामान्य देशनांक को यह कमी अधिकांशतः खाद्य पदार्थों तथा औद्योगिक कच्चे माल के सम्बन्ध में ही हुई जिनके उत्पादन और अनुपात में वृद्धि हुई थी। इस बात के संकेत विद्यमान हैं कि मूल्यों कि यह कमी अस्थायी सिद्ध होगी तथा मूल्य फिर बढ़ने लगेंगे।

उपर्युक्त बातों को विचाराधीन रखते हुये हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में घाटे का अर्थ प्रबन्धन १२०० करोड़ रुपयों से घटाकर इतना कर देना चाहिये कि जिसका आसानी से प्रबन्धन किया जा सके (उदाहरणार्थ अधिक से अधिक ५०० करोड़ रुपया) और इस बात का भरपूर प्रयत्न करना चाहिये कि (१) कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन जितना अधिक से अधिक बढ़ाया जा सके उतना कम से कम समय में बढ़ाया जाय, (२) व्यर्थ जाने वाला सरकारी व्यय बन्द कर दिया जाय और (३) विकास सम्बन्धी व्यय की मात्रा मा जो विभिन्न योजनाओं के अन्तर्गत द्वितीय पंचवर्षीय योजना में की जा रही है कम कर के युक्तिसंगत सीमा तक निश्चित कर दी जाय। धीमी गति से विकास, अधिकार के बाहर मुद्रास्फीत के कारण भयानक हानि उठाने की अपेक्षा अधिक वाञ्छनीय है।

अध्याय ५४

वित्त आयोग रिपोर्ट

संविधान के अनुच्छेद २८० (१) के अन्तर्गत २२ नवम्बर, १६५१ को राष्ट्रपति ने श्री के० सी० नियोगी की अध्यक्षता में एक वित्त आयोग नियुक्त किया। श्री वी० पी० मेनन,[1] न्यायाधीश आर० के० राव और डाक्टर बी० के० मदन आयोग के सदस्य तथा श्री एम० वी० रँगाचारी सदस्य एवम् मन्त्री नियुक्त हुए। आयोग नियुक्त करने का उद्देश्य उन सिद्धान्तों को निर्धारित करना था जिनके आधार पर कुछ करों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय एवम् राज्य सरकारों में बाँटा जा सके और भारत की संचित निधि में से राज्यों को दिये जानेवाले सहायता अनुदानों को निश्चित किया जा सके। आयोग को यह कार्य भी सौंपा गया कि वह इस सम्बन्ध में अपना सुझाव दे कि संविधान के अनुच्छेद २७८ (१) और ३०६ के अन्तर्गत भारत सरकार ने कुछ राज्य सरकारों से जो समझौते किये हैं उनको जारी रखा जाय या उनमें कुछ संशोधन किया जाय। आयोग ने ३१ दिसम्बर, १६५२ को अपनी रिपोर्ट सरकार को दी जिसे भारत सरकार ने पूर्णतया स्वीकार कर लिया।

पहला वित्त आयोग

सिद्धान्त—पहले वित्त आयोग ने यह मानकर अपना कार्य आरम्भ किया कि कुछ करों से प्राप्त होने वाली आय को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में बाँटना पड़ेगा। आयोग ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि आय के कुछ साधन केन्द्रीय सरकार से लेकर राज्य सरकारों को सौंप देने चाहिएँ। यद्यपि अपनी रिपोर्ट में आयोग ने यह दोनों सुझाव दिये कि कुछ करों की आय राज्य सरकारों को दी जाय और राज्य सरकारों को सहायता-अनुदान भी दिए जायँ, परन्तु आयोग ने अपने निष्कर्षों को मुख्यतः पहले सुझाव पर आधारित किया कि कुछ करों की आय केन्द्र से लेकर राज्यों को दे दी जाय। अतीत में आय-कर को विशेष महत्व दिया गया था परन्तु आयोग ने केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के बीच आय के साधनों का वितरण करने में आय-कर को सन्तुलन स्थापित करने

१—श्री वी० पी० मेनन ने १८ फरवरी, १६५२ को आयोग से इस्तीफा दे दिया और आपके रिक्त स्थान पर श्री वी० एल० मेहता नियुक्त किये गये।

वाला साधन मानना अनुचित समझा। राज्यों को प्राप्त होने वाले राजस्व में एक सीमा तक लोच की संभावना रखने और एक सन्तुलित योजना प्रस्तुत करने के लिए आयोग ने प्राप्त आय के वितरण के क्षेत्र को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया। आयोग ने सिफारिश की कि आय-कर से प्राप्त होने वाली वास्तविक आय में राज्यों का भाग बढ़ा देना चाहिये परन्तु इसके साथ ही केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किये जाने वाले कुछ उत्पादन-करों की आय में से भी राज्यों को हिस्सा मिलना चाहिए।

राज्य सरकारों के लिए सहायता-योजना प्रस्तुत करते समय वित्त आयोग ने तीन बातों पर ध्यान रखा: (१) आय के साधन राज्य सरकारों को सौंप देने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार के पास इतनी आय बचनी चाहिये जिससे वह देश की प्रतिरक्षा और आर्थिक स्थिति को दृढ़ बनाने इत्यादि के उत्तरदायित्व का सफलता-पूर्वक निर्वाह कर सके; (२) राजस्व के वितरण में और सहायता-अनुदान निर्धारित करने में सभी राज्यों के लिए एक ही सिद्धान्त लागू हो; और (३) वितरण-योजना इस प्रकार की हो जिससे विभिन्न राज्यों की असमानता को कम किया जा सके।

आय-कर—संविधान के अनुच्छेद २७० के अन्तर्गत आयोग से निम्न-लिखित सिफारिशें करने को कहा गया था : (१) आय-कर से प्राप्त होने वाली कुल राशि का कितना प्रतिशत राज्य सरकारों को दिया जाना चाहिये; (२) राज्य सरकारों को दी जाने वाली रकम का बँटवारा किस प्रकार किया जाय; और (३) कर से प्राप्त होने वाली वास्तविक राशि का कितना प्रतिशत खण्ड 'ग' राज्यों को दिया जाय।

इस विषय पर काफी विवाद हुआ कि राज्यों के अंश का विभिन्न राज्यों में किस आधार पर वितरण किया जाय। इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये गये। कुछ राज्यों का सुझाव था कि वितरण कर-वसूली के स्रोत, आय के उद्गम, करदाताओं के निवास-स्थान, जनसंख्या या औद्योगिक श्रम के आधार पर किया जाय। साथ ही यह भी सुझाव रखा गया कि वितरण प्रति व्यक्ति की आय या राज्य की आर्थिक स्थिति के आधार पर किया जाय। पश्चिम बङ्गाल की सरकार का मत था कि संविधान की २७० वीं धारा के अभिप्राय के अनुसार भारत सरकार को कुल आय में अपना भाग ले लेने के पश्चात शेष उन्हीं राज्यों को वापस कर देना चाहिए जिनमें उसकी वसूली की गई है। वित्त आयोग ने इस दावे को निम्नलिखित कारणों से मानने से इन्कार कर दिया :—

(१) "संविधान में इस बात को मान्यता नहीं दी गई कि वसूल किये गये आय-कर में किसी भी राज्य का अधिकार है और न इस बात को ही माना गया

है कि राज्य को अपने क्षेत्र में वसूल किये गये आय-कर पर अधिकार है। वितरण कोष के एक निश्चित अंश पर राज्य को तब ही अधिकार मिल सकता है जब राष्ट्रपति यह निर्धारित कर दें कि वितरण किस आधार पर किया जायगा"।

(२) "हम इसे ठीक नहीं समझते कि आस्ट्रेलिया और कनाडा में प्रचलित 'मुआविजे' अथवा 'वापसी' के सिद्धान्तों के आधार पर उन सभी संघीय प्रणालियों में लागू करने योग्य कोई 'वैज्ञानिक' सिद्धान्त निकाला जाय जहाँ केन्द्र द्वारा एक सा आय-कर लगाया जाता है लेकिन जिसका एक अंश इकाइयों में बाँटा जाता है। भारत में मुआवजे अथवा वापसी का प्रश्न ही नहीं उठता है क्योंकि यहाँ के भूतपूर्व प्रान्तों को, जो अब खण्ड 'क' के राज्य कहलाते हैं, आय पर कर लगाने का कभी भी अधिकार नहीं था। यहाँ तक कि खण्ड 'ख' के राज्यों में भी विलय होने से मुआवजे के सिद्धान्त को मान्यता नहीं मिली चाहे संघीय सम्पत्ति का प्रश्न हो चाहे केन्द्र को मिलने वाले संघीय राजस्व का"।

(३) "बहुत से राज्यों को कर लगाने का अधिकार प्राप्त होने के कारण बम्बई और कलकत्ते में जो आयकर वसूल किया जाता है वह इन दो राज्यों की कर-आय नहीं कहलाई जा सकती"।

संविधान की २७० वीं धारा की वित्त आयोग ने व्याख्या की है। आयोग का मत है कि इस धारा के अनुसार जिस राज्य में आय-कर नहीं लगाया जा सकता उसका इसमें कोई हिस्सा नहीं है। वर्तमान में जम्मू और काश्मीर की ऐसी ही स्थिति है। वहाँ आयकर लागू नहीं है और इसीलिए जम्मू और काश्मीर राज्य का आय-कर वितरण-कोष पर किसी प्रकार का अधिकार नहीं है।

आयोग ने इस बात को स्वीकार किया है कि वितरण कोष का विभिन्न राज्यों में वितरण करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि संग्रहीत कोष में राज्य ने कुल कितनी रकम दी है और उनको कितनी आवश्यकता है। राज्यों का हिस्सा निश्चित करने के लिए केवल राज्य द्वारा वसूल किये गये कर की मात्रा को आधार मानना उचित नहीं होगा। आय-कर से प्राप्त होने वाली कुल धनराशि का ७५ प्रतिशत बम्बई और पश्चिमी बङ्गाल के दो राज्यों में वसूल किया जाता है और इस धन राशि का अधिकतर अंश बम्बई और कलकत्ता के दो शहरों से वसूल होता है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आय के जिन सक्रिय साधनों पर कर लगाय गया है वह इन्हीं दो राज्यों या इन्हीं दो शहरों में केन्द्रित हैं।

प्रत्येक राज्य की आवश्यकता की जानकारी करने के लिए वित्त आयोग ने न तो औद्योगिक श्रम को आधार माना है और न प्रति व्यक्ति की राष्ट्रीय आय को। इसका कारण यह है कि संग्रहीत कोष में राज्य जितना योगदान देता

है या राज्य को जितनी आवश्यकता है उसका औद्योगिक श्रम के आधार पर ठीक ठीक पता नहीं चलाया जा सकता है। इससे केवल आंशिक संकेत मिल सकता है। जहाँ तक प्रति व्यक्ति की राष्ट्रीय आय का प्रश्न है इस सम्बन्ध में उपयुक्त आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं, इसलिए आयोग ने यह माना है कि वर्तमान स्थिति में राज्य की आवश्यकता का पता लगाने के लिए उसकी जनसंख्या ही उपयुक्त साधन है।

भविष्य में वितरण-कोष में भाग लेने वाले राज्यों की संख्या ६ के बजाय १६ होने के कारण तथा संक्रमणकाल में खंड 'ख' के कुछ राज्यों को आय कर की पूर्ण दरों को लागू करने के सम्बन्ध में दी गई रियायतों को ध्यान में रखते हुये आयोग की इस सिफारिश को भारत सरकार ने मान लिया कि वितरण कोष में राज्यों का भाग ५०% से बढ़कर ५५% कर दिया जाय। आयोग की यह सिफारिश भी मान ली गयी कि राज्य को दिये जाने वाले भाग का २० प्रतिशत उसी अनुपात में बाँटा जाय जिस अनुपात में राज्यों से आयकर संग्रहीत किया गया है। शेष ८० प्रतिशत १९५१ की जनगणना के अनुसार राज्यों की जनसंख्या के आधार पर बाँटा जाय। इसके अनुसार प्रत्येक राज्य के हिस्से का वितरण निम्न तालिका में दिया गया है। तालिका में तुलनात्मक अध्ययन के लिए औटो नेमियर के सूत्र के अनुसार खण्ड 'क' के राज्यों को प्राप्त होने वाले प्रतिशत-अंश का भी ब्यौरा दिया गया है।

औटो नेमियर के सूत्र और वित्त आयोग की योजना के अनुसार निर्धारित प्रतिशत-अंश का तुलनात्मक अध्ययन करने से पता चलेगा कि वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार केवल बम्बई और बिहार राज्यों के प्रतिशत हिस्से में कमी आई। वैसे पश्चिम बङ्गाल और पञ्जाब के प्रतिशत अंश में भी काफी कमी हुई परन्तु उसका कारण विभाजन के पश्चात उनकी जनसंख्या में हुई कमी है। इसके बावजूद कि अब ९ राज्यों के बजाय १६ राज्य हिस्सेदार हैं, बम्बई और बिहार को छोड़कर खण्ड 'क' के शेष राज्यों के प्रतिशत अंश में वृद्धि हुई।

खण्ड 'ग' के राज्यों को आय-कर की कुल आमदनी का एक प्रतिशत मिलता था परन्तु वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार इन राज्यों का हिस्सा एक प्रतिशत से बढ़ाकर २¾ प्रतिशत कर दिया गया।

चूँकि अब सभी राज्यों को एक ही आधार पर अपना-अपना हिस्सा मिलता है इसलिए 'विलीन क्षेत्रों' के सम्बन्ध में बिहार, बम्बई, मध्य प्रदेश और पश्चिम बङ्गाल को जो अतिरिक्त सहायता अनुदान मिल रहे थे उन्हें आयोग की सिफारिश के अनुसार १ अप्रैल, १९५२ से देना बन्द कर दिया गया।

राज्य	औटो नेमियर सूत्र के अनुसार प्रतिशत अंश	वित्त आयोग की योजना के अनुसार प्रतिशत अंश
खन्ड 'क' राज्य		
मद्रास*	१५	१५.२५
बम्बई	२०	१७.५०
पश्चिम बङ्गाल	२० (अ)	११.२५
उत्तर प्रदेश	१५	१५.७५
पंजाब	८ (अ)	३.२५
बिहार	१०	६.७५
मध्य प्रदेश	५	५.२५
आसाम	२	२.२५
उड़ीसा	२	३.५०
खन्ड 'ख' राज्य		
हैदराबाद	–	४.५०
राजस्थान	–	३.५०
त्रिवांकुर-कोचीन	–	२.५०
मैसूर	–	२.२५
मध्य भारत	–	१.७५
सौराष्ट्र	–	१.००
पटियाला संघ	–	०.७५

*मद्रास राज्य की कुल आय का ३६% आन्ध्र के लिये निश्चित कर दिया गया है।

(अ) यह प्रतिशत प्रांत के विभाजन के पूर्व के हैं।

केन्द्रीय उत्पादन कर—संविधान से संसद को यह अधिकार मिला है कि वह अपने द्वारा निर्धारित योगदान के नियमों के अनुसार भारत की संचित-निधि में से केन्द्रीय उत्पादन कर से प्राप्त होने वाली सारी आय या उसका कुछ अंश राज्यों में बाँट सकती है। केन्द्रीय उत्पादन कर पहले आय के महत्वपूर्ण स्रोत नहीं माने जाते थे और १६३७-३८ में इनसे कुल ७.६६ करोड़ रुपये की आय हुई परन्तु इनका महत्व वास्तव में द्वितीय महायुद्ध में बढ़ा। १६५१-५२ में इनसे केन्द्र को ८६ करोड़ रुपये प्राप्त हुए। उत्पादन कर की बढ़ती आय देखकर राज्य सरकारों ने उसमें से अपने हिस्से की माँग की।

आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि "कम से कम आरम्भ में अत्यधिक संख्या के उत्पादन करों का वितरण ठीक नहीं, विशेषकर इसलिए कि उनमें से कुछ से अपेक्षाकृत कम आय होती है और कुछ चुनिन्दा उत्पादन करों का वितरण ठीक है। चुनिन्दा उत्पादन कर ऐसे होने चाहिएँ जो ऐसी वस्तुओं पर लगते हैं जो साधारणतया विस्तृत रूप से उपभोग में आती हैं और जिनसे वितरण के लिए एक अच्छी खासी आमदनी होती है। आय में पर्याप्त सुदृढ़ता तथा चुंगी करों के उतार-चढ़ाव से अपेक्षाकृत बचाव होना चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि तम्बाकू (सिगरेट, सिगार आदि समेत), दियासलाई तथा वनस्पति पर लगने वाले कर वितरण के लिए बहुत ही उपयुक्त हैं। हमारी सिफारिश है कि करों की आय का ४० प्रतिशत राज्यों को दिया जाय। हमने उस रकम के आधार पर राज्यों का हिस्सा निश्चित किया है जो हमारी पूरी योजना के अनुसार उत्पादन करों के वितरण के कारण राज्यों को ही जानी चाहिए"। वित्त आयोग ने इन चुनिन्दा वस्तुओं जैसे तम्बाकू (जिसमें सिगरेट, सिगार इत्यादि सम्मिलित हैं), दियासलाई और वनस्पति पदार्थों पर ही लगाये गये उत्पादन करों से प्राप्त होने वाली आय के ४० प्रतिशत के वितरण की सिफारिश विभिन्न राज्यों की १९५१ की जनगणना के आधार पर की जो निम्न तालिका से स्पष्ट है।

सरकार ने इन सुझावों को स्वीकार कर लिया और इन पर आधारित मार्च १९५३ में केन्द्रीय उत्पादन कर (वितरण कानून) पारित हुआ।

राज्य	कुल आय में से प्रतिशत अंश	राज्य	कुल आय में से प्रतिशत अंश
आसाम	२.६१	उड़ीसा	४.२२
बिहार	११.६०	पटियाला संघ	१.००
बम्बई	१०.३७	पंजाब	३.६६
हैदराबाद	५.३९	राजस्थान	४.४१
मध्य भारत	२.२९	सौराष्ट्र	१.१९
मध्य प्रदेश	६.१३	त्रिवांकुर-कोचीन	२.६८
मद्रास*	१६.४४	उत्तर प्रदेश	१३.२८
मैसूर	२.६२	पश्चिम बंगाल	७.१६

*संयुक्त मद्रास राज्य के हिस्से का ३६% आन्ध्र के लिये निश्चित कर दिया गया।

जूट निर्यात कर—संविधान के अनुसार जूट के निर्यात कर से प्राप्त आय में राज्यों को कोई हिस्सा नहीं मिलता परन्तु अनुच्छेद २७३ के अनुसार पश्चिम बंगाल, आसाम, बिहार और उड़ीसा चार राज्यों को संक्रमण काल के लिए कुछ मुआवजा देने की व्यवस्था की गई है। देशमुख निर्णय (Deshmukh Award) के आधार पर राष्ट्रपति ने इस मुआवजे की रकम निश्चित की थी परन्तु राज्य इतने से सन्तुष्ट नहीं थे। राज्यों की मांग थी कि मुआवजा बढ़ाया जाय। इस सम्बन्ध में वित्त आयोग इस परिणाम पर पहुँचा है कि संविधान के अनुच्छेद २७३ का यह अभिप्राय नहीं है कि जूट के निर्यात कर से प्राप्त होने वाली आय में से राज्यों को उनके हिस्से के बदले जो सहायता अनुदान दिया जाता है उसका निर्यात कर से प्रतिवर्ष प्राप्त होने वाली आय से सम्बन्ध होना चाहिए। आयोग ने इसके लिए निम्नलिखित कारण दिये :—

पहले, यदि संविधान का यह अभिप्राय होता कि अनुच्छेद २७३ में उल्लिखित सीमित अवधि में उस अनुच्छेद में उल्लिखित राज्यों को जूट और जूट से निर्मित वस्तुओं के निर्यात कर के हिस्से की राशि के बराबर सहायता पाने का अधिकार है तो इसके लिए संविधान में स्पष्ट व्यवस्था की गयी होती।

दूसरे, यह अनुच्छेद राष्ट्रपति को धन-राशि निश्चित करने का अधिकार देता है राजस्व का हिस्सा नहीं।

तीसरे, चूँकि जूट कुछ अन्य राज्यों में भी पैदा किया जाता है इसलिए संविधान का यह कभी इरादा नहीं हो सकता कि सहायता-अनुदान का दिया जाना इन्हीं चार राज्यों तक सीमित रखा जाय। उनको सहायता-अनुदान देने का सिर्फ यही कारण था कि आय की उस रकम का मुआविजा दे दिया जाय जो उन्हें पहले मिलती थी।

वित्त आयोग ने पश्चिम बङ्गाल के इस दावे को अस्वीकार किया कि सहायता अनुदान का सम्बन्ध १९५१-५२ में प्राप्त राजस्व से होना चाहिए। वित्त आयोग का मत था कि १९४९-५० में (जो जूट के निर्यात कर में राज्यों को मिलने वाले हिस्से का अंतिम वर्ष है) यदि इन राज्यों के हिस्सों की राशि १९४७ में भारत सरकार द्वारा संशोधन किये जाने से पहले निर्धारित आधार पर निश्चित कर ली जाय और उसी के अनुसार सहायता-अनुदान भी निश्चित कर लिये जाएँ तो अधिक उपयुक्त होगा। इस आधार पर वित्त आयोग ने सिफारिश की कि जूट के निर्यात-कर के हिस्से के बदले १९५२-५३ से राज्यों को निम्न तालिका के अनुसार सहायता अनुदान दिए जायँ जिसे भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया :—

सहायता-अनुदान—संविधान में केन्द्रीय राजस्व की आय में से राज्यों

को अनेक सहायता अनुदान देने की व्यवस्था की गई है। संविधान में 'राजस्व से सहायता अनुदान' की व्याख्या नहीं की गई है। संविधान के अनुच्छेद २८० में कहा गया है कि वित्त आयोग ऐसे नियमों की सिफारिश करेगा जिनके अनुसार भारत की संचित निधि में से राज्यों को सहायता अनुदान दिए जायँगे।

राज्य	देशमुख-निर्णय के अनुसार दी गई धनराशि (रुपये लाखों में)	वित्त आयोग द्वारा निर्धारित धनराशि (रुपये लाखों में)
पश्चिम बङ्गाल	१,०५	१,५०
आसाम	५०	७५
बिहार	३५	७५
उड़ीसा	५	१५

विदेशों में केन्द्रीय सरकारें राज्यों को बिना किसी शर्त के या शर्त के साथ विशेष अनुदान दिया करती हैं। इस सम्बन्ध में कुछ देशों ने जो अनुभव प्राप्त किये हैं उनका वित्त आयोग की सिफारिशों पर प्रभाव पड़ा है।

"कनाडा और आस्ट्रेलिया में बिना शर्त के अनुदानों का परीक्षण किया गया है और ये वहाँ प्रमुख रूप से प्रचलित हैं। इनमें से एक जो हमारे लिए विशेष रुचि का कारण है आस्ट्रेलिया में प्रचलित 'विशेष' अनुदान है। इस देश में, जहाँ हकदार राज्य कहलाने वाले तीन राज्यों को विशेष अनुदान दिये जाते हैं, आम सहायता अनुदान के सिद्धान्तों को जिस हद तक विस्तृत और संवारा गया है उतना शायद और किसी दूसरे देश में नहीं किया गया। ऐसे अनुदानों की पूरी प्रक्रिया के पीछे बजट के स्टैंडर्ड का सिद्धान्त है। यह बुनियादी तौर पर आवश्यकता की कसौटी पर आधारित है लेकिन साथ ही यह व्यवस्था की गयी है कि सहायता पाने वाला राज्य फिजूलखर्ची न करे और आय के अपने साधनों का उपयोग करने के लिए पूर्ण कोशिश करे। यह व्यवस्था प्रदत्त अनुदानों में व्यय को कम करने अथवा कर से आय को बढ़ाने की सम्भावना को ध्यान में रखकर लागू की जाती है। इस व्यवस्था के साथ इन अनुदानों का उद्देश्य यह है कि अनुदान पाने वाले राज्य अपना कार्य सहायता पाने का दावा न करने वाले राज्यों के स्तर से अधिक नीचे न करें। थोड़ा सा अन्तर इस आधार पर रखा जाता है कि किसी राज्य को यह आशा नहीं करनी चाहिए कि उसको उन राज्यों के स्तर के बराबर लाया जाना चाहिए जो अपने ही साधनों पर निर्भर रहते हैं। दूसरे, अपनी स्थिति सुधारने के लिए प्रयास करने के लिए राज्य

को अवसर दिया जाना चाहिये। लेकिन इस प्रणाली का सफल कार्यान्वयन 'राष्ट्र-मंडल अनुदान आयोग' (Commonwealth Grants Commission) द्वारा राज्यों की सफलता तथा उनकी आवश्यकताओं की वार्षिक जाँच और निर्धारण पर निर्भर है"।

"दूसरे देशों में राष्ट्रीय महत्व की समझी जाने वाली विशेष सेवाओं और कार्यों के विकास के लिए भी कुछ निश्चित अनुदान दिये जाते हैं। साधारणतया इन अनुदानों के साथ यह शर्त रहती है कि राज्य संघीय अनुदानों के बराबर अथवा कम-ज्यादा अपने पास से धन राशि लगायें। एक ओर जहाँ कनाडा और आस्ट्रेलिया से शर्त सहित अनुदान बिना शर्त अनुदानों के साथ-साथ चलते हैं वहीं दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका में राज्यों को सहायता देने का तरीका सिर्फ शर्त शुदा अनुदान है। वहाँ विशेष कार्य-क्रमों को सहारा देने के लिए संघीय सहायता दी जाती है"।

"शर्त सहित अनुदानों के क्षेत्र से सम्बन्ध नीति पर जिन अत्यधिक महत्व-पूर्ण कारणों का असर पड़ता नजर आता है वे इस प्रकार हैं—एक ओर इन अनुदानों का इकाइयों की क्षमता अथवा आर्थिक सामर्थ्य के साथ और दूसरी ओर निश्चित सेवाओं के सम्बन्ध में उनकी सापेक्षिक आवश्यकताओं के साथ धीरे धीरे संतुलन स्थापित करना। पहले कारण के अन्तर्गत संघीय अनुदान को राज्य के अंशदान के साथ "संतुलित करने के लिए आवश्यकताओं में परिवर्तन हो सकता है जिससे आर्थिक दृष्टि से कमजोर राज्यों के अंशदान को घटाया जा सके। यह सही है कि अनुदान के पीछे आवश्यकता का सिद्धान्त है और इसका यह अर्थ होता है कि उन राज्यों को जिनमें शिक्षा अथवा सड़क ऐसी विशेष सेवा की कमी है, उन राज्यों की अपेक्षाकृत ज्यादा सहायता मिलेगी जिनकी स्थिति इनसे ज्यादा अच्छी है"।

वित्त आयोग ने भारत के लिए शर्त सहित और बिना शर्त दोनों प्रकार के सहायता अनुदानों की सिफारिश की और कुछ निश्चित सिद्धान्त सुझाये जिनके अनुसार यह अनुदान निश्चित किये जाने चाहिएँ। वित्त आयोग द्वारा सुझाये गये नियमों की संक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित है :—

(१) राज्यों को सहायता अनुदान देने के लिए और उसकी मात्रा निश्चित करने के लिए आवश्यकता का आधार बहुत उचित आधार है। इसलिए यह आवश्यक है कि भिन्न राज्यों के बजट एक विधि से बनाये जायँ जिससे उनकी तुलना की जा सके।

(२) प्रति व्यक्ति की आय के आधार पर निश्चित की जाने वाली किसी

राज्य की अन्य राज्यों की अपेक्षा गरीबी अथवा सम्पन्नता को सहायता अनुदान का आधार नहीं बनाना चाहिए। 'यदि कोई राज्य कर लगाकर अधिकतम राजस्व वसूल करने के लिए तैयार है तो केन्द्रीय सरकार की सहायता का वह उस राज्य की अपेक्षा अधिक अधिकारी है जो इस दिशा में स्वयं पर्याप्त प्रयत्न नहीं करता है'।

(३) उन राज्यों को सहायता अनुदान देने की प्राथमिकता देनी चाहिए जो केन्द्र से सहायता की माँग करने के पूर्व अपनी आय के साधनों का पूरा उपयोग कर लेते हैं और अपने व्यय में कमी कर लेते हैं। 'आर्थिक सहायता देने का तरीका ऐसा होना चाहिए जिससे यह आभास न होने लगे कि केन्द्रीय सरकार ने प्रतिवर्ष राज्यों को बजट सन्तुलित करने में सहायता देने का भार स्वयं अपने ऊपर ले लिया है। यदि सहायता अनुदान केवल राज्यों की पिछड़ी वित्तीय स्थिति के अनुपात में ही दिये जायँ तो इसका अर्थ है कि सहायता अनुदानों के द्वारा सरकार आर्थिक स्थिति को कमजोर और दिवालिया बनाने की नीतियों को प्रोत्साहन देती है और उन राज्यों को जिनकी वित्त स्थिति अच्छी है उनको सतर्क और उपयुक्त वित्त नीतियों के लिए दण्डित करती है'।

(४) 'सहायता अनुदान देने का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य यह है कि विभिन्न राज्यों के बुनियादी समाज सेवा कार्यों का स्तर समान करने में मदद की जाय'। समाज-सेवा कार्य के स्तर के आधार पर सहायता अनुदान दिये जा सकते हैं। समाज सेवा-कार्य का स्तर निश्चित करने के लिए राज्य की जनसंख्या को ध्यान में रखकर उसके क्षेत्रफल, उसकी पिछड़ी हुई आर्थिक स्थिति इत्यादि पर विचार किया जाना चाहिए।

(५) 'यदि सारे राष्ट्र के सम्बन्ध रखने वाले कार्य राज्य की सीमा के अन्दर पड़ते हों और उनको पूरा करने में राज्य की वित्त स्थिति पर अनुचित भार पड़ता हो तो ऐसी स्थिति में राज्य की सहायता के लिए भी सहायता अनुदान दिये जा सकते हैं'। देश के विभाजन जैसी असामान्य स्थिति में राज्य से जिन कार्यों को पूरा करने की अपेक्षा की जाती है उन पर विचार किया जा सकता है।

(६) 'बजट के आधार पर विचार न करके अनुदान किसी बुनियादी महत्व की सेवा के विकास के लिये दिया जा सकता है क्योंकि राष्ट्रीय हित के दृष्टिकोण से अविकसित राज्यों में उस सेवा सुविधा को बढ़ाना आवश्यक है'।

वित्त आयोग ने विभिन्न राज्यों के दावों पर विचार किया और उसने इन राज्यों की बजट की सामान्य आवश्यकताओं, देश विभाजन से उत्पन्न विशेष समस्याओं और पिछले कुछ वर्षों में राज्यों की वास्तविक आय और व्यय से परि-

लक्षित वित्तीय स्थिति ऐसी दो-तीन बातों पर विचार करने के बाद कुछ राज्यों को सहायता अनुदान देने की सिफारिश की।

उक्त आधार पर आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि मद्रास, उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश, हैदराबाद, राजस्थान, मध्य भारत और पटियाला संघ सहायता अनुदान पाने के अधिकारी नहीं हैं और इसीलिये इसने सिफारिश की कि इन राज्यों को कोई सहायता अनुदान न दिया जाय। बम्बई, पश्चिम बंगाल और सौराष्ट्र अनुदान पाने के अधिकार के निकट समझे गये। बम्बई के सम्बन्ध में आयोग ने सिफारिश की कि तम्बाकू पर कर लगाने में जो प्रतिबन्ध है उसे दूर कर दिया जाय जिससे बिक्री कर द्वारा राज्य का राजस्व बढ़ेगा और चूँकि यह अन्य राज्यों की अपेक्षा अधिक विकसित है अतएव उसे किसी प्रकार की सहायता अनुदान की आवश्यकता नहीं है। पश्चिम बंगाल के सम्बन्ध में आयोग का मत था कि विभाजन के कारण व्यय की मदों में कुछ वृद्धि हो गई है इसलिए उसने सिफारिश की कि पश्चिमी बंगाल को ८० लाख रुपये का प्रतिवर्ष सहायता अनुदान दिया जाय। पिछड़ा हुआ राज्य होने के कारण उड़ीसा को दिया जाने वाला सहायता अनुदान ४० लाख से बढ़ा कर ७५ लाख कर दिया गया। सौराष्ट्र को राज्य विस्तार के अनुपात में आय कम होने के कारण आयोग ने ४० लाख रुपये का सहायता अनुदान देने की सिफारिश की।

वित्त आयोग का मत था कि पंजाब और आसाम को सहायता की निश्चय ही बहुत अधिक आवश्यकता है। देश के विभाजन होने से पंजाब की बजट की स्थिति कमजोर हो गई थी और कानून तथा व्यवस्था के क्षेत्र में राज्य पर और नये उत्तरदायित्व आ गये। इन बातों को ध्यान रखते हुये आयोग ने सिफारिश की कि पंजाब को प्रति वर्ष १ करोड़ २५ लाख रुपये का सहायता अनुदान दिया जाय। इसी प्रकार विभाजन के कारण व्यय की मदों में वृद्धि हो जाने से आसाम की बजट की स्थिति भी नाजुक हो गई थी, इसलिए आयोग ने सिफारिश की कि आसाम को दिया जाने वाला ३० लाख रुपये का सहायता अनुदान बढ़ाकर एक करोड़ रुपये कर दिया जाय। मैसूर और त्रिवांकुर-कोचीन की आय के साधन सीमित होने के कारण और इनकी प्रगति की गति बनाए रखने के लिए आयोग ने सिफारिश की कि मैसूर को प्रति वर्ष ४० लाख रुपये के और त्रिवांकुर-कोचीन को ४५ लाख रुपये के सहायता अनुदान दिए जायँ।

प्रायमरी शिक्षा के महत्व को देखते हुए आयोग ने इसके लिए राज्यों को सहायता अनुदान देने की सिफारिश की। ६ और ११ वर्ष के बीच की उम्र वाले स्कूल जाने वाले बच्चों की संख्या के अनुपात पर विचार करते हुए यह

सिफारिश की गयी कि जो बच्चे स्कूल जाने की उम्र के हैं लेकिन स्कूल नहीं जाते उनकी संख्या के अनुपात में अगले हर चार वर्ष में यानी १९५३-५४ में १·५ करोड़ रुपये से लेकर १९५६-५७ तक ३ करोड़ रुपये आठ राज्यों में वितरित किये जायँ।

बम्बई और पश्चिम बंगाल ने वित्त आयोग की सिफारिशों की विशेष आलोचना की। उनका मत था कि आयोग ने कर-संग्रह के स्रोत को उनकी इच्छा के विपरीत बहुत कम महत्त्व प्रदान किया है। कुछ राज्य केन्द्रीय उत्पादन कर की आय में अधिक हिस्सा चाहते थे। सहायता अनुदानों के सम्बन्ध में यह सुझाव दिया गया कि बजट व्यवस्था की अपेक्षा राज्य की आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए था। जैसे कि आयोग ने अपनी रिपोर्ट में स्पष्ट कर दिया था कि सहायता अनुदानों और राजस्व के वितरण के सम्बन्ध में अन्य योजनाएँ भी हो सकती हैं परन्तु भारत की वर्तमान स्थिति को और संघीय वित्त व्यवस्था को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि वित्त आयोग ने जो योजना प्रस्तुत की है वह उपयुक्त है।

द्वितीय वित्त आयोग

द्वितीय वित्त आयोग जून १९५६ में नियुक्त किया गया। इसके अध्यक्ष श्री के० सन्थानम् थे, और इसने अपनी अन्तरिम रिपोर्ट सरकार को नवम्बर, १९५६ में तथा अन्तिम रिपोर्ट सितम्बर, १९५७ में दी। केन्द्र और राज्यों के बीच कर आय को विभाजित करने के ढंग तथा नियमों के बारे में यह आयोग सामान्यतः पहले आयोग से सहमत था यद्यपि इसने कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तावित किये। दूसरा आयोग राज्यों के प्रति अधिक उदार था और उसने राज्यों को देश की कुल आय में से अधिक भाग दिया। द्वितीय आयोग की सिफारिश थी कि राज्यों को १४० करोड़ रु० (जिसमें रेल भाड़े की एक वर्ष की १५ करोड़ रुपये की कर आय सम्मिलित नहीं थी) दिया जाय जबकि पहले आयोग की सिफारिश के अनुसार ३१ मार्च, १९५७ को समाप्त होने वाले पाँच वर्षों में औसत ९३ करोड़ रुपये दिये गये थे। राज्यों की आवश्यकताओं के साथ-साथ प्रतिरक्षा और राष्ट्रीय विकास के प्रति केन्द्र के उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुये राज्यों के साधन हस्तान्तरित करने के लिये एक संगठित योजना प्रस्तावित की गयी। प्रस्तावित योजना में कर आय में से दिये जाने वाले भाग तथा निश्चित सहायता-अनुदानों से प्राप्त राशि के बीच सन्तुलन रखा गया। पहली अप्रैल, १९५७ से राज्यों को मिलने वाली राशि का विवरण निम्न तालिका में दिया गया है यद्यपि प्रति वर्ष प्राप्त होने वाली निश्चित राशि कर आय पर निर्भर करेगी।

उपभोग को अधिक महत्त्व दिया है। इसने आय-कर, केन्द्रीय उत्पादन कर तथा रेल भाड़े पर लगे कर के लिये पहले आयोग से भिन्न आधार अपनाया।

आय-कर—द्वितीय आयोग ने सिफारिश की कि (१) 'वितरण कोष में' राज्यों का भाग ५५% से बढ़ाकर ६०% कर दिया जाय क्योंकि सभी राज्यों ने एक स्वर से इसकी माँग की थी। (२) राज्यों को दिये जाने वाले हिस्से का निर्धारण जनसंख्या के आधार पर होना चाहिये। उसने कर संग्रह को विभाजन के आधार के रूप में क्रमशः हटाने की सिफारिश की। उसने कहा कि आरम्भ में राज्यों के हिस्से का वितरण १०% कर संग्रह के आधार पर और ९०% जनसंख्या के आधार पर किया जाय जबकि पहले आयोग में क्रमशः २०% और ८०% की सिफारिश की थी। केन्द्रीय प्रदेशों को दी जाने वाली राशि आयकर की असली आमदनी का १% निश्चित की गई। आयकर वितरित करने का आधार अब अधिक वैज्ञानिक तथा सभी राज्यों के लिये अधिक न्यायपूर्ण हो गया है क्योंकि आवश्यकता का सही सूचक जनसंख्या है, कर संग्रह का स्रोत नहीं।

केन्द्रीय उत्पादनकर—पहली अप्रेल, १९५२ से पहले केन्द्र और राज्यों के बीच कोई उत्पदानकर नहीं बाँटा जाता था लेकिन प्रथम आयोग ने यह सिफारिश की कि १९५२-५३ से तम्बाकू (जिसमें निर्मित तम्बाकू शामिल है), दियासलाई, वनस्पति पदार्थ पर लगे केन्द्रीय उत्पादनकर की वास्तविक आय का ४०% राज्यों में जनसंख्या के आधार पर बाँटना चाहिये। द्वितीय आयोग ने यह सिफारिश की कि इन तीन करों के अलावा, चीनी, चाय, कहवा, कागज तथा वनस्पति तेल के करों में से भी राज्यों को भाग मिले किन्तु राज्यों का भाग २५% कर दिया जाय। राज्यों के भाग में जो कमी की गई है उसकी पूर्ति बाँटने वाले करों की वृद्धि से हो जायगी और वर्तमान की तुलना में प्रत्येक राज्य को अधिक मिलेगा। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि राज्यों को दिये जाने वाले भाग का ९०% जनसंख्या के आधार पर वितरित किया जाय तथा शेष का प्रयोग सन्तुलन के लिये किया जाय।

राज्य सरकारों द्वारा पहले लगाये हुये बिक्री-कर के स्थान पर अब मिल के बने सूती वस्त्र, चीनी और तम्बाकू (निर्मित तम्बाकू सम्मिलित है) पर अतिरिक्त उत्पादनकर लगाये गये। आयोग ने सिफारिश की है कि प्राप्त राशि का १% केन्द्रीय प्रदेशों को, १½% जम्मू और काश्मीर को दिया जाय तथा अन्य राज्यों को वर्तमान आय का आश्वासन दिया जाय अर्थात् बिक्री कर हटाने से पहले की आय जो सभी राज्यों की कुल मिलाकर ३२½ करोड़ रु० थी। ३२½ करोड़ के बाद शेष धन प्रतिशत के आधार पर वितरित किया जाय। आयोग ने यह प्रतिशत अधि-

कांशतः उपभोग के आँकड़ों के आधार पर निकाले हैं। लेकिन उपभोग के आँकड़े सदोष थे इसलिए दोष को दूर करने के लिए साथ साथ जनसंख्या पर भी विचार किया गया।

सम्पत्तिकर (Estate Duty)—कृषि भूमि को छोड़कर शेष सम्पत्ति पर लगी शुल्क से प्राप्त असली आय राज्यों के बीच उसी अनुपात में अस्थायी लक्ष्य से बाँटी जाती थी जिस अनुपात में 'वितरण कोष' से आयकर बाँटा जाता था। आयोग ने यह प्रस्तावित किया कि असली आय का एक प्रतिशत केन्द्रीय प्रदेशों का भाग होना चाहिये तथा शेष अचल तथा अन्य संपत्ति के बीच उस वर्ष निर्धारित मूल्य उनके कुल के अनुपात में बाँट देना चाहिये। इस प्रकार अचल सम्पत्ति के लिए निश्चित भाग को विभिन्न राज्यों में उनमें स्थित अचल सम्पत्ति के कुल मूल्य के अनुपात में बाँट देना चाहिये। शेष को विभिन्न राज्यों में जनसंख्या के अनुपात में बाट देना चाहिये। अन्य सम्पत्ति का भाग विभिन्न राज्यों के बीच इस अनुपात में बाँटना चाहिये :—

राज्य	प्रतिशत
आन्ध्र प्रदेश	८·७६
आसाम	२·५३
बिहार	१०·८६
बम्बई	१३·५२
केरल	३·७६
मध्य प्रदेश	७·३०
मद्रास	८·४०
मैसूर	५·४३
उड़ीसा	४·१०
पंजाब	४·५२
राजस्थान	४·४७
उत्तर प्रदेश	१७·७१
पश्चिमी बंगाल	७·३७
जम्मू और काश्मीर	१·२४

रेल भाड़े पर कर—"रेल भाड़े पर लगे कर के सम्बन्ध में आयोग का मत यह था कि इस राशि में राज्य का भाग यथासम्भव राज्य की सीमा के भीतर हुई

रेल यात्रा से हुई असली आय के आधार पर निश्चित होनी चाहिये। चूँकि विभिन्न राज्यों की सीमाओं के अन्दर होने वाली रेल यात्रा के सभी आँकड़े सुलभ नहीं है इसीलिए आयोग ने इन आँकड़ों को कुछ अनुमानों पर आधारित किया है। इस कर से होने वाली असली आय का वितरण केन्द्रीय प्रदेशों को देने के लिए ½ प्रतिशत निकाल लेने के बाद होगा।

सहायता-अनुदान

सिद्धान्त—द्वितीय वित्त आयोग ने सहायता-अनुदानों के प्रश्न पर विस्तृत रूप से विचार किया और ऐसे अनुदानों को निर्धारित करने के लिए कुछ सिद्धान्त प्रतिपादित किये :

(१) "सहायता-अनुदान पाने के लिए किसी राज्य का हक तथा इस प्रकार की सहायता की रकम का निर्धारण विस्तृत रूप से उसकी आर्थिक आवश्यकता पर निर्भर होनी चाहिए। एक ऐसे देश में जहाँ केन्द्र और राज्य नियोजित विकास के लिए सहयोग करते हों वहाँ सहायता-अनुदानों को इसी उद्देश्य की पूर्ति करनी चाहिए। स्वयं योजना की प्राथमिकताओं और व्यवस्थाओं से योजना की अवधि के लिए विकास की आवश्यकताएँ निर्धारित होनी चाहिएँ"।

(२) "किसी राज्य के सामान्य राजस्व और उसके सामान्य अनिवार्य व्यय में बीच के अन्तर को, जहाँ तक सम्भव हो, करों के हिस्से से दूर किया जाना चाहिए। सहायता-अनुदान अधिकांशतः सामान्य तथा बिना शर्त अनुदान के रूप में प्रदत्त शेष सहायता की शक्ति में होना चाहिए"।

(३) "मोटे-मोटे कामों के लिए भी अनुदान दिये जा सकते हैं। वे राजस्व के सहायता-अनुदान होने चाहिएँ लेकिन राज्यों का यह कर्तव्य रहना चाहिए कि वे उल्लिखित मोटे कामों को पूरा करने में पूरी रकम खर्च करें। जहाँ ये काम विस्तृत योजना के अन्तर्गत आ गये हों वहाँ ऐसे अनुदानों की आवश्यकता नहीं"।

जैसा कि पहले आयोग ने किया था द्वितीय आयोग ने प्रायमरी शिक्षा के विकास, भवन निर्माण आदि ऐसे मोटे-मोटे कामों के लिए किसी अनुदान की सिफारिश नहीं की लेकिन इसने १४ राज्यों में से ११ के लिए पर्याप्त सहायता-अनुदान की सिफारिश की है। बम्बई, मद्रास और उत्तर प्रदेश के लिए किसी सहायता-अनुदान की सिफारिश नहीं की गयी क्योंकि आयोग की राय में वितरण की प्रस्तावित योजना से उनको अपने चालू तथा योजना व्यय के लिए पर्याप्त साधन मिल जायँगे।

सहायता-अनुदान की धन-राशि—"आयोग ने राज्यों को करों में हिस्सा देकर उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने की कोशिश की है लेकिन इस वितरण से अधिकांश राज्यों का काम नहीं चलेगा और इस कमी को सहायता-अनुदानों से पूरा किया गया है"। ये अनुदान जिनकी सिफारिश की गयी है, पूर्व काल के अनुदानों से कहीं ज्यादा बड़े हैं क्योंकि पहले राज्यों की विकास आवश्यकताओं पर पूर्ण रूप से ध्यान नहीं दिया गया था। इस अनुमान पर कि ३१ मार्च, १९६२ के अन्त तक पाँच वर्षों की अवधि में राज्यों के विकास में राजस्व-व्यय उसी स्तर पर पहुँच जायगा जैसा कि द्वितीय योजना में है और प्रत्येक राज्य की विशेष स्थितियों पर विचार करके आयोग ने निम्नलिखित ढंग से बिना शर्त अनुदान देने की सिफारिश की है:—

(करोड़ रुपयों में)

राज्य	१९५७-५८	१९५८-५९	१९५९-६०	१९६०-६१	१९६१-६२	योग
आन्ध्र प्रदेश	४·००	४·००	४·००	४·००	४·००	२०·००
आसाम	३·७५	३·७५	३·७५	४·५०	४·५०	२०·२५
बिहार	३·५०	३·५०	३·५०	४·२५	४·२५	१९·००
केरल	१·७५	१·७५	१·७५	१·७५	१·७५	८·७५
मध्य प्रदेश	३·००	३·००	३·००	३·००	३·००	१५·००
मैसूर	६·००	६·००	६·००	६·००	६·००	३०·००
उड़ीसा	३·२५	३·२५	३·२५	३·५०	३·५०	१६·७५
पंजाब	२·२५	२·२५	२·२५	२·२५	२·२५	११·२५
राजस्थान	२·५०	२·५०	२·५०	२·५०	२·५०	१२·५०
पश्चिम बंगाल	३·२५	३·२५	३·२५	४·७५	४·७५	१९·२५
जम्मू तथा कश्मीर	३·००	३·००	३·००	३·००	३·००	१५·००
	३६·२५	३६·२५	३६·२५	३९·५०	३९·५०	१८७·७५

ऋण—"आयोग ने अपने सामने प्रस्तुत की गई ऋण की व्यवस्थाओं और शर्तों पर विचार करने के बाद सिफारिश की कि जो ऋण बगैर ब्याज के दिये गये हैं उनमें कोई संशोधन करने की आवश्यकता नहीं। उद्वासित व्यक्तियों के पुनर्वास के लिए दिये गये ऋणों के बारे में उसने सिफारिश की कि १ अप्रैल,

१९५७ से राज्य सरकारें केन्द्र को केवल वही रकमें अदा करें जिन्हें वे उद्‌वासित व्यक्तियों से मूलधन ब्याज और बकाया के सिलसिले में वसूल कर पायें। उसने सुझाव दिया कि ३ प्रतिशत या इससे अधिक ब्याज दर वाले ऋणों की बकाया रकमों को दो ऋणों का रूप दे दिया जाय और दोनों पर ब्याज की दर ३ प्रतिशत रहे। एक के अन्तर्गत उन ऋणों की बकाया रकमें रखी जायें जिनकी अदायगी २० या इससे कम वर्षों में होनी चाहिये थी और १५ वर्ष के अन्त में अदा कर दिया जाय। दूसरे के अन्तर्गत शेष ऋण रखे जायँ जिनकी अदायगी ३० साल के अन्त में की जाय। उसने ३ प्रतिशत से कम ब्याज दर वाले ऋणों को भी दो ऋणों में परिवर्तित करने का सुझाव दिया जिन पर २½ प्रतिशत की ब्याज दर रहे। आयोग ने ऋणों के एकीकरण की जो योजना प्रस्तुत की है उस से राज्यों को कुल मिला कर ५ करोड़ रुपये की वार्षिक बचत होगी"।

राज्यों पर केन्द्र के जो ऋण हैं उनके बारे में आयोग की सिफारिश अभी तक सरकार के विचाराधीन है। बाकी सिफारिशों को सरकार ने स्वीकार करके लागू कर दिया है।

द्वितीय आयोग ने राज्य सरकारों की आवश्यकताओं के साथ उदारता दिखलाई है और वितरित किये जाने वाले करों में उनके हिस्से को काफी बढ़ा दिया है। उसने यह ठीक ही किया है क्योंकि अधिकांश विकास-कार्यक्रमों की जिम्मेदारी राज्यों पर ही है। यद्यपि कुछ राज्यों की अब भी यह भावना है कि उन्हें और अधिक राशि मिलनी चाहिए थी लेकिन आयोग ने जो वितरण किया है वह मोटे तौर से उचित और न्यायपूर्ण है। दूसरे आयोग ने बगैर किसी खास उद्देश्य की शर्त लगाये सहायता अनुदान देकर और केन्द्र के दिये गये ब्याज को घटा कर केन्द्र और राज्यों की निरतंर कलह की सम्भावना को अगर पूरी तरह से नहीं दूर किया तो कम से कम घटा तो दिया ही है। अन्त में, द्वितीय आयोग ने प्रथम आयोग की अपेक्षा कर-वितरण का अधिक आसान आधार अपनाया है और जन-संख्या इसकी सिफारिशों का मुख्य आधार रहा है यद्यपि कुछ मामलों में कर-संग्रह के स्त्रोत तथा उपयोग के स्तर पर भी विचार किया गया है।

अध्याय ५५

कर जाँच आयोग की रिपोर्ट

(Taxation Enquiry Commissiaon's Report)

डाक्टर जान मथाई की अध्यक्षता में अप्रैल १९५३ में निम्नलिखित बातों की जाँच के लिए एक कर जाँच आयोग नियुक्त किया गया :—(१) भारत में जनता पर कर-भार, (२) देश के विकास कार्यक्रमों, इसके लिए आवश्यक साधनों और आय तथा सम्पत्ति की असमानताओं को कम करने के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कर प्रणाली की उपयुक्तता, (३) पूँजी निर्माण तथा उत्पादन उद्योग की रक्षा और विकास पर आय-कर का प्रभाव, और (४) मुद्रास्फीति तथा मुद्रासंकुचन की स्थितियों का मुकाबला करने के लिए करों का आर्थिक उपकरण के रूप में प्रयोग। सरकार ने २८ फरवरी, १९५५ को आयोग की रिपोर्ट प्रकाशित की। यह तीन भागों में है। पहली में पूरी कर प्रणाली पर विचार किया गया है, दूसरी में केन्द्रीय करों पर और तीसरी में राज्य तथा स्थानीय करों पर विचार किया गया है।

सामान्य—आयोग ने देखा कि यद्यपि युद्ध पूर्व काल से सरकार का राजस्व बढ़ा है लेकिन इसका कारण आर्थिक आयों की व्यापक (मुद्रास्फीति जन्य) वृद्धि रही है और करों से प्राप्त होने वाली कुल राजस्व राष्ट्रीय आय के लगभग ७ प्रतिशत के स्तर पर एक सी बनी रही है और "युद्धपूर्व काल के मुकाबले यह अनुपात घटा ही दिखाई देगा यद्यपि तुलना के लिए युद्ध-पूर्व की राष्ट्रीय आय और कर राजस्व के सही-सही आंकड़े नहीं दिये जा सकते"। यद्यपि आयोग ने यह अनुमान नहीं लगाया कि कुल कर राजस्व और राष्ट्रीय आय में क्या अनुपात होना चाहिए परन्तु इसने कई देशों का उदाहरण दिया है जहाँ कुल कर-राजस्व राष्ट्रीय आय का बहुत बड़ा अंश है और यह जान पड़ता है कि आयोग को इस पर कोई आपत्ति न होगी अगर कुल कर-राजस्व निकट भविष्य में राष्ट्रीय आय का ९½ से १०½ प्रतिशत हो जाय।

यद्यपि भारत में कुल कर-राजस्व से प्रत्यक्ष करों का प्रतिशत १९३८-३९ में १२ प्रतिशत से बढ़कर १९४४-४५ में ४५ प्रतिशत हो गया लेकिन १९५३-५४ में यह घट कर २४ ही रह गया। इस वर्ष वस्तु-कर तथा अन्य कर जो मुख्यतः देश के आन्तरिक उपभोग पर लगते हैं, कुल राजस्व के ४५ प्रतिशत थे। राज्य सरकारों द्वारा बिक्री कर लगाये जाने से और केन्द्रीय उत्पादन करों में

अन्य वस्तुओं को शामिल करने तथा इसमें आय बढ़ने से अप्रत्यक्ष करों का भारतीय कर-प्रणाली में एक महत्वपूर्ण स्थान हो गया है।

पूर्वकाल में भारतीय कर प्रणाली का एक गम्भीर दोष यह था कि राज्यों के राजस्व में लचीलापन और पर्याप्तता का अभाव था। आयोग ने देखा कि चूँकि केन्द्रीय राजस्व साधनों में से राज्य सरकारों के हिस्से में वृद्धि हो गयी है और केन्द्र से पर्याप्त अनुदान मिलते हैं इसलिए अब पहले की अपेक्षा केन्द्रीय राजस्व में राज्य सरकारों की वित्तीय दिलचस्पी कहीं ज्यादा बढ़ गयी है और इसी-लिए "सरकारी वित्तीय स्थिति पर संयुक्त रूप से विचार" जरूरी है। लेकिन इतनी ही महत्वपूर्ण दूसरी बात यह है कि इन परिवर्तनों के कारण राज्यों का राजस्व पहले की अपेक्षा काफी ज्यादा लोचदार तथा पर्याप्त हो गया है। लेकिन यह बात स्थानीय निगमों की वित्तीय स्थिति के बारे में नहीं कही जा सकती। आयोग के मतानुसार स्थानीय निगमों के वित्तीय साधनों के बारे में सबसे अधिक उल्लेखनीय बात यह है कि उनका विकास बहुत धीरे-धीरे हुआ है और दूसरे यह कि सम्पत्ति कर, सीमा कर, तथा चुँगी कर ही नगर-निगमों और नगर-पालिकाओं की आय के मुख्य स्रोत हैं और स्थानीय कोष शुल्क (Local fund cess) जिला बोर्डों की आय का मुख्य साधन है। इन सब के कारण स्थानीय निगमों की आय अपर्याप्त है और उसमें लचीलापन नहीं है जैसा कि पहले राज्य की वित्तीय स्थिति में था।

आर्थिक नियोजन के दृष्टिकोण से भारत में सरकारी व्यय को अनुत्पादक से उत्पादक बनाया गया है। आयोग के मतानुसार १९३८-३९ और १९५३-५४ के बीच केन्द्रीय प्रतिरक्षा व्यय कुल केन्द्रीय व्यय के अनुपात में ५४ प्रतिशत से घटकर ४८ प्रतिशत हो गया और प्रशासन पर व्यय १३ प्रतिशत से घट कर ९ प्रतिशत हो गया। यह सही है कि अब भी १९५३-५४ की भाँति गैर-विकास कार्यों में ज्यादा व्यय होता है। भारत की केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के कुल राजस्व के आधार पर एक रुपये में करीब ९ आना ६ पाई गैर विकास कार्यों पर, ३ आना २ पाई सामाजिक सेवाओं पर और ३ आना ४ पाई आर्थिक विकास पर खर्च किया जाता है। लेकिन यह उत्साहवर्धक है कि विकास कार्यों पर होने वाले व्यय का अनुपात बढ़ता जा रहा है और अगर हम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के पूँजीगत बजटों पर भी विचार करें तो स्थिति अच्छी नजर आयेगी। आयोग के अनुसार भारत में आय की असमनताओं को कम करने में सरकारी व्यय का बहुत कम असर पड़ा है क्योंकि राष्ट्रीय आय के अनुपात में यह रकम बहुत कम है (१९५३-५४ में समस्त केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और स्थानीय निगमों का कुल व्यय ११७० करोड़ रुपया था जो राष्ट्रीय आय का

केवल ११ प्रतिशत था) और सामाजिक कल्याण पर, अथवा अल्प आय वाले वर्गों को आर्थिक सहायता देने के व्यय पर बहुत कम महत्व दिया गया है।

कर भार के सम्बन्ध में आयोग की राय है कि यह नहीं कहा जा सकता कि द्वितीय महायुद्ध के आरम्भ के बाद देश में नगर क्षेत्रों की अपेक्षा ग्राम्य क्षेत्रों से अथवा ग्राम्य क्षेत्रों की अपेक्षा नगर क्षेत्रों में आय में कोई विशेष वृद्धि हुई है, यद्यपि विभिन्न क्षेत्रों के अन्तगर्त विभिन्न वर्गों की आय में परिवर्तन हुआ है। आयोग ने यह भी पाया कि (१) यद्यपि ग्राम्य क्षेत्र की अपेक्षा नगर का कर-स्तर आय की सभी अवस्थाओं में कुल मिला कर ऊँचा है, परन्तु बीच की और नीचे की आयों में असमानता अधिक नहीं है; (२) नगर का अप्रत्यक्ष कर ग्राम्य क्षेत्र की अपेक्षा कुछ अधिक प्रगतिशील है; (३) नगर क्षेत्र की अपेक्षा ग्राम्य क्षेत्र में अच्छी आयों पर कर लगाने का अधिक अवसर है; (४) जमीन के लगान का भार अब अधिक नहीं है; और (५) ग्राम्य अर्थ व्यवस्था का गैर मुद्रा वाला विस्तृत क्षेत्र एक साथ कर की सीमाओं और इस क्षेत्र में कर लगाने की सम्भावनाओं की ओर संकेत करता है यदि इसको वांछनीय समझा जाय।

कम्पनियों के बारे में आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि कर लगाने के पहले मुनाफे में करीब ४३ प्रतिशत पर कर लगता है जब कि मुनाफे का वितरित अंश ३४ प्रतिशत और संरक्षित मुनाफा, घिसावट और टूट फूट छोड़ कर २२ प्रतिशत रहता है। वितरित मुनाफे और संरक्षित मुनाफे के तुलनात्मक आंकड़ों से जाहिर है कि वितरित मुनाफे का स्तर बनाये रखने अथवा उसको बढ़ाने की भावना काम कर रही है, जिससे व्यापार की प्रतिकूल स्थिति का संरक्षित मुनाफे पर अनुपात से अधिक भार पड़ता है। सुलभ आंकड़ों से जाहिर है कि संरक्षित मुनाफे की रकम और कुल मुनाफे से इसका अनुपात कर की मात्रा और दर के मुकाबले मुनाफे की मात्रा और दर से प्रभावित होते हैं।

भावी कर नीति—आयोग ने इस बात पर जोर दिया कि आवश्यकता इस बात की है कि कर प्रणाली का लोगों की आय और सम्पत्ति की असमानताओं को दूर करने में प्रयोग किया जाय। इसके लिए उसने सिफारिश की है कि प्रत्यक्ष कर में धीरे-धीरे वृद्धि की जाय और कर वसूल करने के लिए प्रभावशाली ढंग अपनाये जाँय। आयोग ने सिर्फ प्रत्यक्ष कर पर ही ध्यान नहीं दिया—उसने सम्पूर्ण कर प्रणाली को 'विस्तृत तथा गहरी' करने की सिफारिश की है और इसके लिए उसने सुझाव दिया है कि व्यापक रूप से विलास (luxury) तथा अर्धविलास की वस्तुओं पर काफी ऊँची दर से और सार्वजनिक उपभोग की वस्तुओं पर अपेक्षाकृत नीची दरों से कर लगाये जायँ। आयोग एक अत्यधिक आश्चर्य-

जनक परिणाम पर पहुँचा कि इस प्रश्न पर व्यापक रूप से विचार करने के बाद यह आवश्यक है कि करों के द्वारा भारत में सभी वर्गों के उपभोग को सीमित किया जाय। आयोग ने कहा—"विकास कार्य-क्रम और इसके लिए आवश्यक साधनों को विचाराधीन रख कर कुल मिलाकर भारत की अर्थ व्यवस्था के लिए वह कर प्रणाली सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत होती है जो सार्वजनिक क्षेत्र में पूँजी लगाने के लिए साधन बढ़ाये और जिससे निजी क्षेत्र में लगाने के लिए यथा-सम्भव छोटी से छोटी व्यावहारिक पूँजी प्राप्त हो सके। साथ ही साथ इस कर-प्रणाली के अन्तर्गत सभी वर्गों के उपभोग पर यथासम्भव अधिक से अधिक प्रतिबन्ध लगे। लेकिन अल्प आय वाले वर्गों की अपेक्षा लम्बी आय वाले वर्गों के उपभोग पर अधिक प्रतिबन्ध लगे"।

आयोग ने यह मत प्रकट किया कि (क) उपभोग के स्तरों की वर्तमान विषमता का श्रमिकों की भारी संख्या पर बुरा असर पड़ता है, और (ख) अधिक कर भार के फलस्वरूप लम्बी आय वाले वर्गों के काम करने के उत्साह में इतना प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा जितना प्रायः समझा जाता है। इसलिए आयोग ने सुझाव दिया कि व्यक्तिगत वास्तविक आयों की सीमा बाँध दी जाय जो कर देने के बाद देश के प्रति परिवार की वर्तमान औसत आय में लगभग ३० गुने से अधिक न हो। यह एक निश्चित काल में धीरे-धीरे किया जाय। केवल करों में परिवर्तन करने से यह सम्भव नहीं हो सकता, इसके लिये अनेक बातों को ध्यान में रख कर संयुक्त रूप से कार्रवाई करनी पड़ेगी।

अतिरिक्त राजस्व की प्राप्ति निम्नलिखित उपायों से हो सकती है—: (१) आंशिक रूप से निगम कर (Corporation tax) को घटा कर और बचत करने तथा पूँजी लगाने के लिए प्रोत्साहन देने के लिए कुछ और छूट देते हुए आय-कर बढ़ाया जाय, (२) केन्द्रीय उत्पादन कर में काफी वृद्धि की जाय; (३) उचित मूल्य-नीतियों के द्वारा गैर-कर वाले राजस्व को बढ़ाया जाय (व्यापारिक सेवाओं से प्राप्त गैर-कर वाले राजस्व में वृद्धि कर के); (४) कृषि-आय-कर की दरों को बढ़ाया जाय तथा इसका क्षेत्र विस्तृत किया जाय; (५) भूमि के लगान पर थोड़ा और कर लगाया जाय; (६) सम्पत्ति कर का और अधिक विस्तृत उपयोग किया जाय; (७) स्थानीय निगमों द्वारा सम्पत्ति हस्तान्तरण किये जाने पर कर लगाया जाय; और (८) बिक्री कर की दरें बढ़ायी जायँ तथा उसके अन्तर्गत अन्य वस्तुएँ भी सम्मिलित की जायँ।

वस्तु कर के बढ़ते हुए क्षेत्र को देखकर और केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच सहयोग तथा सामञ्जस्य की आवश्यकता का अनुभव करके आयोग ने सिफा-

रिश की कि राज्यों में आपस में और केन्द्र तथा राज्यों के बीच कर-नीति, कानून निर्माण तथा प्रशासन में सामञ्जस्य लाने के लिए संविधान के अनुच्छेद २६३ के अनुसार एक अखिल भारतीय कर-परिषद (All India Taxation Council) का निर्माण किया जाय।

केन्द्रीय कर—जहाँ तक आयकर का संबंध है, कर दाताओं की संख्या आय कर और सुपरटैक्स के निम्न स्तर पर ही केन्द्रित है। इसीलिए आयोग ने यह सुझाव दिया कि कर भार में और अधिक समान अन्तर रखने के लिए आयकर और सुपरटैक्स दोनों की दरों में और अधिक संख्या में सीढ़ियाँ बनाई जायँ। चूंकि आयोग ने अप्रत्यक्ष करों को बढ़ाने का सुझाव रखा था इस लिए उसने अल्पतम आय वाले वर्गों पर प्रत्यक्ष कर का भार ज्यादा बढ़ाने का समर्थन नहीं किया, केवल उसने छूट की सीमा घटा कर ३,००० रुपये कर दी। आयोग ने मध्यम तथा ऊँची आय वाले वर्गों पर कर की दर बढ़ाने की सिफारिश की बशर्ते १½ लाख रुपये से अधिक आय पर कर की अधिकतम दर १३½ आने प्रति रुपये की दर से अधिक नहीं रहे अर्थात् १½ लाख रुपये की आय के ऊपर ८५ प्रतिशत तक की कर-दर रहे। आयोग ने यह भी सिफारिश की कि तीन साल के अन्दर परिवार छूट देने की एक उचित प्रणाली लागू की जाय जिससे छूट की वर्तमान सीमा विवाहित व्यक्तियों के लिए १,५०० रुपये से २,००० रुपये और अविवाहित व्यक्तियों के लिए १,००० रुपये कर दी जाय। परिवार-छूट लागू करने के बाद पति तथा पत्नी अथवा सारे परिवार की आय को मिलाकर आय कर लगाया जाय। अर्जित आय छूट बनाये रखी जाय लेकिन यह एक निश्चित सीमा के (उदाहरण स्वरूप २४,००० रुपये) नीचे दी जाय। बीमा प्रीमियम की अदायगी के लिए कटौती करने तथा प्राविडेन्ट फन्ड के लिए अंश दान देने की वर्तमान प्रणाली सफल सिद्ध हुई है और वास्तव में यह व्यक्तिगत बचत को प्रोत्साहन देने के लिए अत्यन्त उपयुक्त तरीकों में से है। इसको कुल आय के ⅕ हिस्से से बढ़ा कर ¼ हिस्सा कर देना चाहिए लेकिन अविभक्त हिन्दू परिवारों के लिए उच्चतम सीमा १६,००० रुपये और दूसरों के लिए ८,००० रुपये रखी जानी चाहिए। आयोग ने एक अनोखा सुझाव दिया है कि लम्बी आय वाले वर्गों में २५,००० रुपये से ऊपर व्यय की जाने वाली (disposable) आय को कम करने के लिए अतिरिक्त शुल्क (surcharge) तथा अनिवार्य रूप से जमा करने की योजना लागू की जाय। इस योजना में उल्लेखनीय बात यह है कि २५,००० रुपये से ऊपर की सभी आयों पर क्रमिक दरों से अतिरिक्त शुल्क लगाया जाय और इसके बदले

कर-दाता सरकार से उतनी ही रकम का एक दीर्घकालीन ऋण (मान लीजिये ४५ वर्ष के लिए) नाम मात्र की व्याज दर पर ले सकता है।

आयोग ने इस तर्क को स्वीकार नहीं किया कि बोनस शेयर को आय का ही अंश समझा जाय और इस पर कर लगाया जाय और अगर इस पर कर न लगाया गया तो राजस्व की हानि होगी। आयोग के मतानुसार "आयकर के सिलसिले में बोनस शेयर का अर्थ कदापि आय नहीं हो सकता"। लेकिन आयोग ने बोनस हुंडियों (debentures) को आय की परिभाषा के अन्तर्गत रखा है और उनको कर लगाने के योग्य माना है। आयोग ने देखा कि निगम कर (Corporation tax) के मामले में छोटी भारतीय कम्पनियों को जिन्हें वर्तमान कर-छूट मिली हुई है वह उचित है और उसको खंड-आधार पर सभी कम्पनियों के लिए लागू किया जाना चाहिए। आय के प्रथम खंड पर (मान लीजिए कुल आय के पहले २५,००० रुपयों पर) अल्प दर पर कर लगाया जाय और यह अल्प दर गैर भारतीय पब्लिक कम्पनियों पर भी लागू की जाय।

आयोग ने आय छिपाकर कर टालने की महत्वपूर्ण समस्या पर भी विचार किया। उसने सुझाव दिया कि (क) इस व्यापक चोरी के विरुद्ध जनमत उभाड़ा जाय और यह समझाया जाय कि कर टालने से ईमानदार करदाता पर बोझ बढ़ता है, (ख) 'विशेष चेत्र' (special circle) का और विस्तार किया जाय जिससे आयकर आयुक्तों (Income tax commissioners) के सामने प्रस्तुत अधिक कठिन मामलों को विशिष्ट अफसर सफलता पूर्वक निपटा सकें, (ग) जुर्माने की रकम बढ़ाकर टाले गये कर की रकम की तिगुनी कर दी जाय; (घ) प्रत्येक करदाता के लिए यह अनिवार्य कर दिया जाय कि वह हर तीसरे वर्ष अपनी 'वास्तविक आय' (net worth) अर्थात् अपने देने-पावने का खाता पेश करें, और (च) आयकर खोज आयोग (Income-tax Investigation Commission) जैसा विभागेतर संगठन, जिसको मामलों की जाँच करने तथा तय करने के विशेष अधिकार प्राप्त हों और जिसका अध्यक्ष उच्च न्यायालय (High Court) का न्यायाधीश हो, कर टालने के बड़े मामलों पर विचार करने के लिए नियुक्त किया जाय।

सम्पदा कर (Estate duty) के सिलसिले में आयोग ने सिफारिश की कि यद्यपि अभी उपहार-कर (gift tax) लगाना ठीक नहीं, लेकिन मृत्यु से पूर्व की अवधि, जिसमें उपहार पर सम्पत्ति-कर लग जाता है दो वर्ष से बढ़ाकर पाँच वर्ष कर दी जानी चाहिए, और सरकार को छूट की वर्तमान सीमा को घटाने का ध्यान रखना चाहिए।

आयोग ने यह स्वीकार किया कि आयात-करों को घटाना अनिवार्य है और उसने सुझाव दिया कि जैसे की निर्यात का क्षेत्र विस्तृत होगा और अधिक निर्यात कर लगाने का अवसर मिलेगा यह कर दिया जायगा। उसने यह भी सिफारिश की कि निर्यातकर और निर्यात नियंत्रण का मिलाकर आय और आवश्यक वस्तुओं की कीमतों को स्थिर करने में उपयोग किया जाय और भारतीय उद्योग को संरक्षण दिया जाय।

आयोग ने अतिरिक्त राजस्व के लिए खास तौर पर उत्पादन करों पर जोर दिया। उसने तम्बाकू तथा तम्बाकू से निर्मित वस्तुओं, सूती कपड़ा, चीनी, दियासलाई, मिट्टी का तेल, चाय, ऊनी कपड़ा, बिजली के लैम्प, कागज, बिस्कुट तथा 'एइरेटेड वाटर' ऐसी विभिन्न प्रकार की वस्तुओं की एक विशाल संख्या पर उत्पादन कर लगाने अथवा उन पर लगे वर्तमान कर को बढ़ाने की सिफारिश की। उसने कहा कि (१) सभी प्रकार के कपड़ों पर लगे उत्पादन कर में इसकी वृद्धि की जाय, (२) दियासलाई के उत्पादन कर को बढ़ाया जाय लेकिन दियासलाई के छोटे कारखानों पर कम दर लगायी जाय, और (३) १०-१५ रुपये प्रति हजार वाले सिगरेटों पर लगे अतिरिक्त कर (Surcharge) को खत्म किया जाय और इससे होने वाले नुकसान को ४०-५० रुपये प्रति हजार वाले सिगरेटों के कर की दर बढ़ा कर पूरी की जाय। उसने यह भी सिफारिश की कि चीनी, मिट्टी के तेल, खुली तथा बन्द चाय के वर्तमान उत्पादन कर बढ़ायें जायँ और ऊनी कपड़े, बिजली के लैम्प, 'ड्राई' तथा 'स्टोरेज' बैटरी, कागज (हाथ से बने कागज को छोड़कर), सिलाई की मशीन, रंग तथा वार्निश, बिस्कुट, चीनी मिट्टी के बर्तनों, कांच तथा कांच की वस्तुओं, 'एरेटेड वाटर' और वनस्पति तैल (घानियों को छोड़ कर) पर नये उत्पादन कर लगाये जायें। अनुमान है कि नये उत्पादन कर लगाने तथा वर्तमान कर बढ़ाने से केन्द्रीय उत्पादन करों से राजस्व में ४०-४५ प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी।

आयोग ने सिफारिश की कि कुछ आयों पर, जैसे पट्टों के प्रीमियम, पेटेन्ट राइट तथा 'कोपी राइट' की बिक्री से हुई आमदनी, मैनेजिंग एजेंसी खत्म करने से मिले मुआविजे और नौकरी जाने पर मिले मुआविजे पर कर लगना चाहिए। यद्यपि आकस्मिक तथा अनावर्तक आयों की वर्तमान छूट में हस्तक्षेप करना ठीक नहीं लेकिन कुछ प्रकार की आकस्मिक आयों जैसे, शब्द पहेली (Crossword puzzle) से हुई आमदनी पर अलग से कर लगना चाहिए। अगर मालिक किसी कर्मचारी को कोई सुविधाएँ देता है, और अगर वह न देता तो उनके लिये खर्च कर्मचारी को करना पड़ता तो उन सुविधाओं के मूल्य पर कर्मचारी से कर वसूल होना

चाहिए परन्तु आरम्भ में यह कर उन्हीं कर्मचारियों तक सीमित रखा जाय जिनकी कुल वार्षिक आय २४,००० रुपये से ज्यादा है या जो कम्पनी के डायरेक्टर हैं। डायरेक्टरों के सम्बन्ध में वार्षिक आय की शर्त नहीं। कम्पनी के सिलसिले में आयोग ने सिफारिश की कि नुकसान को सिर्फ ६ वर्ष की अवधि के बजाय, जैसा कि इस समय है, अनिश्चित काल के लिए आगे लाने दिया जाय और ऐसे नुकसान की पूर्ति उसी कारोबार की आय से करने के बजाय, जैसा कि इस समय है, दूसरे कारोबार की आय से भी करने की इजाजत रहे। ऐसे नुकसान की पूर्ति एक साल के लिए गैर कारोबारी आय से भी करने दी जाय और करदाता की शक्ति के बाहर की परिस्थितियों में कारोबार बन्द होने पर ही नुकसान की छूट दी जाय। आयोग ने दोनों सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक आधार पर टूट-फूट की छूट देने के लिए अचल पूँजी के लगातार पुनः मूल्यांकन के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। भारत में मशीनों की कीमतें इतनी नहीं बढ़ीं कि कारोबार की इकाइयों का मूल्यांकन ठीक समझा जाय लेकिन पुरानी मशीनों के मुकाबले उनकी जगह में नयी मशीनों को लगाने का खर्च काफी बढ़ा है। इसको ध्यान में रख कर आयोग ने सिफारिश की कि उन उद्योगों के लिए जिनको विकास-छूट (Rebate) नहीं मिलती उनके लिए क्रमशः १६४६ और १६४६ में निश्चित प्रारम्भिक और अतिरिक्त घिसाई छूट पाँच साल और रहने दी जाय। प्रारम्भिक घिसाई छूट मशीनों के लिए मूल लागत के २० प्रतिशत से बढ़ाकर २५ प्रतिशत कर दिया जाय और मशीनों के मूल्य में कमी निश्चित करने में इसका ध्यान रखा जाय।

राज्य कर—राज्यों के करों के क्षेत्र में आयोग ने बिक्री कर पर विशेष ध्यान दिया और कुछ महत्त्वपूर्ण सिफारिशें कीं, जैसे (क) बिक्री कर का सेवाओं तक विस्तार करने से गम्भीर प्रशासन-कठिनाइयाँ पैदा होंगी और इसलिए यह ठीक नहीं; (ख) वायदे के सौदों पर बिक्री कर की अपेक्षा स्टाम्प शुल्क (Stamp duty) के जरिये ज्यादा अच्छी तरह से कर लगाया जा सकता है; (ग) अखबारों पर बिक्री कर लगाना बेकार है; (घ) प्रथम चरण एक-बिन्दु बिक्री कर (First stage single point sales tax) सामान्य रूप से बिक्री कर लगाने के लिए उपयुक्त नहीं है यद्यपि इसका सीमित प्रयोग हो सकता है; (च) सभी राज्यों में छोटी दर के बहु-बिन्दु कर (Multi-point sales tax) से हिसाब-किताब में आसानी हो जायगी लेकिन छोटी दर से राज्यों को उतनी आय नहीं मिलेगी जितनी उन्हें इस समय मिलती है; (छ) बिक्री कर के बजाय क्रय कर मोटर कार तथा ऐसी ही कुछ अन्य चीजों पर जिनका पता फौरन लग सकता है लगाना व्यावहारिक है परन्तु इसके सीमित प्रयोगसे बहुत ही कम आय होगी।

आयोग के अनुसार राजस्व के महत्वपूर्ण साधन के रूप में बिक्री कर की विशेषता इस तथ्य में है कि वस्तुओं और बिक्रेताओं की एक भारी संख्या पर यह लागू है और इसीलिए छोटी दर पर भी काफी आय वसूल करना सम्भव है। ऐसी स्थिति में, जैसा कि कुछ का कहना है, इसकी जगह में उत्पादन कर, आयात कर (Customs) तथा चुँगी (Octroi) के सम्मिलित रूप को आसानी तथा सफलतापूर्वक नहीं लागू किया जा सकता। आयोग ने यह भी पसन्द नहीं किया कि बिक्री कर केन्द्रीय राजस्व की मेढ़ बना दी जाय अथवा राज्यों के लिए इसकी वसूली केन्द्रीय सरकार करे। बिक्री कर मुख्यतः राज्य-कर ही बना रहे। लेकिन आयोग ने सिफारिश की कि जब एक राज्य में बिक्री कर को विक्रेताओं पर लागू करने और उपभोक्ताओं से वसूल करने का भार दूसरे राज्य पर पड़े तो वहाँ राज्य की जिम्मेदारी तथा अधिकार खत्म समझा जाय और केन्द्र की जिम्मेदारी तथा अधिकार समझा जाय। इस प्रकार आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि अन्तर-राज्य बिक्री-कर की जिम्मेदारी केन्द्र पर रहे लेकिन केन्द्रीय सरकार इस बात का ध्यान रखे कि वह अन्तर-राज्य व्यापार और उसमें मुख्य रूप से चलने वाले निर्धारित कच्चे माल की बिक्री पर बिक्री कर लगाने में इस तरह अपने अधिकार का प्रयोग करे कि दोहरा कर न लगने पाये और कर लगाने वाली दो सरकारों के बीच उचित सामञ्जस्य रहे। आयोग ने सिफारिश की कि संविधान में संशोधन किया जाय और कोयला, लोहा, इस्पात, रूई, चमड़ा और खालें अन्तर-राज्य व्यापार में विशेष महत्व की वस्तुएँ निर्धारित की जायँ और इनके लिए किसी राज्य में एक-बिन्दु बिक्री कर के अतिरिक्त दूसरी कोई प्रणाली न रहे।

राज्यों की भावी बिक्री-कर प्रणाली के बारे में आयोग ने सिफारिश की कि इस कर को एक उपयुक्त मात्रा की (अनुचित रूप से बोझ के रूप में नहीं) अल्प आय वाले वर्गों तक पहुँचना चाहिए और इसके अन्तर्गत बहुत से लोगों को आना चाहिए। इसको संभव करने के लिए कर की दर नीची रखी जाय और बहु-बिन्द (multi-point) कर हो। मध्यम तथा लम्बी आय वाले वर्गों और लम्बी आय वाले विक्रेताओं के लिए एक-बिन्दु (Single-point) कर के साथ-साथ बहुबिन्दु (Multi-point) कर भी रहे। ५,००० रुपये सालाना से ज्यादा आय वाले सभी विक्रेताओं को आयोग द्वारा प्रस्तावित संयुक्त प्रणाली के अन्तर्गत बहुबिन्दु कर देना पड़ेगा परन्तु कर की दर ½ प्रतिशत से ज्यादा नहीं होगी। एक बिन्दु कर प्रणाली के अन्तर्गत आय सीमा अपेक्षाकृत ऊँची होगी जैसे ३०,००० रुपये प्रति वर्ष। एक बिन्दु कर की ऊँची दर गरीब वर्गों के जीवन वहन के लिए आवश्यक वस्तुओं को छोड़ कर बाकी सब पर लगेगी। यह जरूरी नहीं कि सभी तरह

की चीजों पर एक सी दर से कर लगाया जाय। विलास (luxurye) की कुछ चीजों पर ऊँची दर पर कर लगाना पड़ेगा। बिक्री कर के इस लचीले ढांचे को अपनाने का अर्थ होगा कि हर राज्य को अधिक आय देने वाली और साथ ही साथ एक आसान और अधिक वैज्ञानिक प्रणाली मिल जायगी।

मोटर गाड़ियों और मोटर स्प्रिट पर कर लगाने के संबंध में आयोग ने कहा कि मोटर गड़ियों पर लगी चुँगी (octroi) और कर के बीच संबंध नहीं है क्योंकि पहली माल पर लगती है और दूसरी गाड़ियों पर। नगरपालिकाएँ जो गाड़ी-कर लगाती हैं वह राज्य सरकार द्वारा मोटर गाड़ियों पर लगाये गये कर में प्रत्युत वृद्धि है। ऐसी बात चुंगी और सीमा कर के साथ नहीं। ऐसी हालत में ठीक यह होगा कि नगर पालिकायें (नगर निगम नहीं) गाड़ी-कर को खत्म करके दोनों करों को एक कर दें और मोटर गाड़ी कर को बढ़ा दिया जाय और आय का एक अंश सम्बन्धित नगर-पालिकाओं को दे दिया जाय।

स्टाम्प शुल्क के बारे में आयोग ने राय दी कि अन्तर-राज्य सौदों से सम्बद्ध कागज-पत्रों पर स्टाम्प शुल्क की एक सी दरें रखना न तो आवश्यक ही है और न वाञ्छनीय। बैंकिंग के विकास के लिए जो भारत में अभी अपनी शैशवावस्था में है, आयोग ने सिफारिश की कि चेकों पर स्टाम्प शुल्क न लगाया जाय। कोर्ट फीस (court fees) के सम्बन्ध में आयोग ने इस सिद्धान्त को स्वीकार किया कि प्रशासन के खर्चों को पूरा करने के आधार पर इसकी दरें निर्धारित की जायँ।

राज्य कर के रूप में तथा किसान पर बोझ के रूप में भूमि-कर से प्राप्त आय (Land Revenue) के महत्व में परिवर्तन हुआ है। इस सिलसिले में आयोग ने सिफारिश की कि आयकर की तुलना में स्वामित्व की शर्तों, प्रारम्भिक राजस्व निर्धारण के तरीके, राजस्व के संशोधन के तरीके और भू-राजस्व के स्थान पर ऐसी अधिक बुनियादी बातों में अल्पतम एकरूपता लाने का लक्ष्य जरूरी और उपयुक्त है। आयोग इस परिणाम पर पहुँचा कि एक बार राजस्व-स्तर का मापदण्ड स्थापित हो जाने पर मूल्य के स्तर के परिवर्तन को ध्यान में रख कर हर दस वर्ष के बाद भू-राजस्व में संशोधन होना चाहिए लेकिन मूल्य में २५ प्रतिशत की घट-बढ़ पर राजस्व में संशोधन की जरूरत नहीं। लम्बी कृषि-आयों पर सभी राज्यों को कृषि आय कर लगाना चाहिए और ३००० रुपये सालाना से अधिक की सभी कृषि आयों पर कृषि आयकर लगना चाहिए। अन्तिम लक्ष्य कृषि आय तथा गैर कृषि आय को मिला कर पूरे पर आय कर लगाना होना चाहिए। मनोरंजन (entertainment) कर के विषय में आयोग ने सिफारिश की कि

वर्तमान खड-दरों के स्थान पर प्रतिशत दरें लागू की जायँ। पुरस्कार प्रतियोगिता तथा लाटरी पर कर लगाने का कार्य केन्द्रीय सरकार को लेना चाहिए। सिंचाई और विकास करों के सम्बन्ध में आयोग ने यह कहा कि अधिकतम कर सिंचाई के फलस्वरूप भूमि की बढ़ी हुई कीमत के ५० प्रतिशत से ज्यादा नहीं होना चाहिए और इसकी वसूली एक उचित दीर्घकालीन अवधि में होनी चाहिए।

स्थानीय कर—आयोग ने देखा कि स्थानीय संस्थाओं की आय उनकी आवश्यकताओं के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। स्थानीय संस्थाओं की जिम्मेदारियाँ बढ़ने के साथ-साथ इनकी आय में वृद्धि नहीं हुई। स्थानीय संस्थाओं को अपनी जिम्मे-दारियों को संतोषजनक रूप से निभाने में समर्थ बनाने के लिए जरूरी है कि उनकी आय के साधन बढ़ाये जायँ। लेकिन आयोग ने इस बात को पसन्द नहीं किया कि संविधान में संशोधन करके कुछ कर स्थानीय संस्थाओं के लिए सुरक्षित कर दिये जायँ। अच्छा तो यह होगा कि ऐसी परम्परा बन जाय जिससे भूमि तथा इमारत पर कर, चुँगी, मशीन-चालित छोड़कर अन्य गाड़ियों का कर, पशु तथा नाव कर, पेशा, व्यापार तथा रोजगार कर तथा अखबारों में प्रकाशित विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों का कर सिर्फ स्थानीय संस्थाओं के उपयोग के लिए रहें। इनके अलावा थियेटर कर, सम्पत्ति हस्तान्तरण कर और सड़कों अथवा आन्तरिक जल-मार्गों पर चलने वाले माल तथा मुसाफिरों पर कर स्थानीय संस्थाओं के लिए निश्चित कर दिये जायँ। आयोग ने स्थानीय संस्थाओं की वित्तीय स्थिति सुधारने के लिए करों का भाग देने के बजाय अनुदान-सहायता देने के तरीके को पसन्द किया है और इसके लिए कुछ सिद्धान्त सुझाए हैं। लेकिन उसने सिफारिश की है कि जहाँ तक मोटर गाड़ी कर तथा भू-राजस्व का संबंध है इनका बँटवारा राज्य सरकारों और स्थानीय संस्थाओं के बीच किया जाय।

आलोचना

आयोग की सिफारिशों में देश के आर्थिक विकास के लिए राजस्व बढ़ाने की आवश्यकता का प्रभाव पड़ा है। भारत की विशाल औद्योगिक तथा कृषि विकास सम्भावनाओं के होते हुए भी यह अब भी आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश है। विकास कार्य में तेजी लाने और देश को समृद्ध बनाने के लिए भारी पैमाने पर पूँजी लगाने की जरूरत है और इसके एक अंश की पूर्ति अनिवार्य रूप से सरकारी आय से होनी चाहिए। आयोग ने सिफारिश की कि सभी दिशाओं में कर वृद्धि की जाय जिससे केन्द्र तथा राज्य सरकारों को ज्यादा आय हो सके। आशा है कि यदि आयोग की बड़ी-बड़ी सिफारिशों को

लागू कर दिया जाय तो भारत में विभिन्न सरकारों की कुल आय तुरन्त १ अरब रुपये से लेकर १½ अरब हो जायगी और बाद में चल कर काफी बढ़ जायगी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जितनी जल्द हो सके देश के आर्थिक साधनों का विकास होना चाहिए, लेकिन हमारी ऐसी पिछड़ी अर्थ व्यवस्था में एक बड़े अन्याय, असहनीय कठिनाइयों और व्यापक प्रतिकूल परिस्थितियाँ पैदा करने का खतरा उठाये बगैर विकास व्यय के लिए अतिरिक्त कर लगा कर साधन एकत्र करने के लिए एक निश्चित सीमा को पार नहीं किया जा सकता। कर देने की क्षमता ऐसी ही एक चीज है। यह दुर्भाग्य का विषय है कि अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने में आयोग ने भारत की जनता की कर देने की क्षमता पर उचित ध्यान नहीं दिया। आयोग ने कर देने की क्षमता की सही परिभाषा दी जब उसने यह कहा कि "कर देने की क्षमता न्याय (equity) की तरह सापेक्षिक सिद्धान्त है। अत्यन्त महत्वपूर्ण आर्थिक दृष्टि से समाज के विभिन्न वर्गों का कर देने की क्षमता का संबंध कर की उस सीमा से है जिसके बाहर उत्पादक प्रयास और क्षमता दोनों को हानि होने लगती है।" लेकिन कर देने की क्षमता की सही परिभाषा देने के बाद आयोग विचलित हो गया और उसने कहा कि (क) दक्षिण-पूर्व एशिया तथा अन्य विदेशों में भारत की अपेक्षा कर-आय का राष्ट्रीय आय से अनुपात ज्यादा है, और (ख) इधर कुछ वर्षों से भारत में लोगों की कर देने की क्षमता बढ़ी है क्योंकि "यह कहना गलत न होगा कि कर देने की क्षमता अर्थ-लाभ-हीन तथा अलोक-प्रिय नीतियों और असफल प्रशासन से घटती है और कल्याणकारी तथा सुयोग्य प्रशासन से बढ़ती है। भारत में सरकारी व्यय कल्याणकारी व्यय की ओर तेजी से बढ़ रहा है लेकिन निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि यह किफायतशारी और दक्षता की ओर भी बढ़ रहा है। फिर भी भारत के सरकारी व्यय में सामाजिक तथा विकास सेवाओं को ज्यादा स्थान मिल रहा है जिससे कर देने की क्षमता की सीमा बढ़ रही है। स्वतंत्रता के बाद सरकार की जिम्मेदारी को अपनी जिम्मेदारी समझने की भावना का जन्म इसका दूसरा कारण है"।

दूसरे देशों का उदाहरण देना बेकार है। उन देशों में कुल सरकारी राजस्व राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा अंश होता है क्योंकि वहाँ कर देने की क्षमता ज्यादा है। इसके अतिरिक्त, जैसा कि आयोग का मत है, कर देने की क्षमता सोचने और इच्छा करने की चीज नहीं है। जहाँ तक कल्याणकारी व्यय का प्रश्न है, हमारे देश में सम्पत्ति के गलत वितरण के फलस्वरूप, देश के जनता की कर देने की क्षमता नहीं बढ़ी। जहाँ तक जनता के

मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण का सवाल है. उसका यहाँ से कोई संबंध नहीं। आयोग ने इस परिणाम पर पहुँचने के लिए, कि कुछ वर्षों में जनता की कर देने की क्षमता बढ़ी है, बहुत ही अनोखा तर्क दिया है। आयोग के ध्यान में मनोवैज्ञानिक परिस्थितियाँ रही होंगी जब उसने जनता की कर देने के क्षमता की वृद्धि की बात कही क्योंकि जहाँ तक ठोस परिस्थितियों (physical conditions) का सवाल है भारत की जनता की कर देने की क्षमता में कोई उल्लेखनीय वृद्धि नहीं हुई।

"अधिक विकसित पश्चिमी देशों में प्रति व्यक्ति आय जनता की न्यूनतम आवश्यकताओं से ज्यादा है और बहुसंख्यक लोगों की आय औसत प्रतिव्यक्ति आय से कहीं ज्यादा है। और इसी आधार पर पूर्ण विकसित अर्थ व्यवस्था में कर देने की अधिकतम क्षमता राष्ट्रीय आय की २५ प्रतिशत निकाली गयी है। इसी आधार पर अधिक विकसित पश्चिमी देशो में भारत की उपेक्षा सरकारी राजस्व बिना कोई प्रतिकूल असर डाले राष्ट्रीय आय का एक बहुत बड़ा अंश है। लेकिन भारत में राष्ट्रीय आय के १९५०-५१ में ९,११० करोड़ रुपये से १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपये हो जाने तथा १९६०-६१ (सभी १९५२-५३ की कीमतों के आधार पर) में १३,४३० करोड़ रुपये हो जाने के अनुमान पर आधारित प्रति व्यक्ति आय १९५०-५१ में २२५ रुपये से बढ़कर १९५५-५६ में २८० रुपये और १९६०-६१ में ३३० रुपये होगी। इसके अलावा भारत में अधिकांश लोगों की आय प्रति व्यक्ति औसत आय से कम है और केवल थोड़े से ही लोगों की आय औसत प्रति व्यक्ति आय से अधिक है। इस प्रकार अधिकांश लोगों में कर देने की क्षमता बिल्कुल नहीं है। केवल दूसरे किस्म के लोगों में कर देने की क्षमता है लेकिन उनकी संख्या इतनी कम है कि अगर उनकी पूरी आय जब्त कर ली जाय तो भी राष्ट्रीय आय से सरकारी कर का अनुपात पश्चिमी देशों के स्तर तक नहीं पहुँचेगा"।[1] इसीलिए हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि अगर अधिकांश कर जिनकी सिफारिश कर जाँच आयोग ने की है लागू कर दिये जाते हैं तो भार भारतीय जनता की कर देने की क्षमता से कहीं ज्यादा बढ़ जायगा और उस को असहनीय और अन्यायपूर्ण कठिनाई झेलनी पड़ेगी।

अतिरिक्त पूँजी संग्रह करने के लिए सभी वर्गों के उपभोग पर अधिक से अधिक नियंत्रण लगाने की सिफारिश करने में आयोग प्राचीन (Classical) आर्थिक सिद्धान्त से बहुत ज्यादा प्रभावित रहा है जिसका परित्याग बहुत पहले

---

१. २५ फरवरी १९५६ के 'कामर्स' (Commerce) के पृष्ठ ३६७ पर लेखक का निबन्ध देखिये।

ही किया जा चुका है। मार्शल (Marshall) तथा पीगू (Pigou) आदि विचारकों ने बचत और पूँजी लगाने की समस्याओं पर विचार करते हुए पूर्ण रोज़गार की स्थिति को आधार बनाया था। यह मान कर चलने से यह सोचना जरूरी हो गया कि धन बचाने के लिए लोग अपने उपभोग में कमी करें और इस प्रकार पूँजी लगाने के लिए साधन सुलभ करें। ऐसी स्थिति में जब सुलभ साधनों से जो पूर्ण रूप से सक्रिय हैं उपभोग और विनियोग (investment) के बीच चुनाव करना है, पूँजी बढ़ाने के लिए उपभोग में कमी करना जरूरी है। लेकिन जैसा कि केन्सियन (Keynesian) सिद्धान्त जोर देता है अगर पूरी सक्रियता नहीं है और साधन निष्क्रिय तथा बेकार हैं तो अतिरिक्त उपभोग तथा अतिरिक्त विनियोग दोनों साथ-साथ चल सकते हैं। केन्सियन सिद्धान्त की यही सीख है। कर जाँच आयोग ने इस पर विचार नहीं किया और इस प्रकार उसने भारी भूल की। यह पूछा जा सकता है कि अगर लोग अपने उपभोग में कमी कर के धन नहीं बचाते तो आर्थिक विकास के लिए आवश्यक धन कहाँ से आयेगा। केन्सियन सिद्धान्त ने दिखाया है कि 'निर्मित' धन से किया गया कोई भी विनियोग (investment) गुणक के सिद्धान्त पर जल्द ही आय का भाग बन जाता है और इससे जनता को अपनी आय में से उपभोग-स्तर को कम किये बगैर अपने आय बचत में और वृद्धि होती है। यह तर्क देना गलत है कि केन्सियन सिद्धान्त भारत तथा दूसरी पिछड़ी अर्थ व्यवस्थाओं में लागू नहीं होता और इसलिए हमें अब भी शास्त्रीय आर्थिक सिद्धान्त के आधार पर सोचना पड़ेगा। इससे ज्यादा निरर्थक बात और कोई नहीं हो सकती। कुछ खास कारण से भारत में केन्सियन प्रणाली के कार्यान्वियन की गति मन्द हो सकती है लेकिन इसको यहाँ उसी प्रकार लागू किया जा सकता है जिस प्रकार विश्व के दूसरे देशों में। एक और महत्वपूर्ण बात है जिसकी कर जाँच आयोग ने पूरी उपेक्षा कर दी है। पूँजी लगाने से उत्पादन में वृद्धि होनी चाहिए और इसको बनाये रखने के लिए और उत्पादन को सम्भव करने के लिए यह जरूरी है कि जो उत्पादन हो वह बिके भी। लेकिन अगर उपभोग कम करने के सम्बन्ध में आयोग की सिफारिश मान ली जाय तो यह असम्भव हो जायगा और उपभोग कम करके विकास में पूँजी लगाने से स्वय विकास को क्षति पहुँचेगी।

यद्यपि आयोग ने कहा है कि करदाता के प्रयास और उद्यम को नष्ट होने से बचाने की पूरी कोशिश होनी चाहिए लेकिन मालिक द्वारा कर्मचारियों को प्रदत्त सुविधा के मूल्य को कर आय के अन्तर्गत शामिल करने, अथवा अनिवार्य रूप से जमा करने के लिए अतिरिक्त कर (surcharge) आदि के सुझावों का

मुख्य रूप से यही असर पड़ेगा। आर्थिक दृष्टि से अविकसित तथा पिछड़े देश में बिना हानिकारक हुए औद्योगिकों (entrepreneurs) पर ऐसे बोझ नहीं लादे जा सकते।

लेकिन आयोग की सिफारिशों में इन दोषों के होते हुए भी उसकी रिपोर्ट महत्वपूर्ण है और इसमें अनेक अच्छे सुझाव हैं। १½ लाख रुपये से ऊपर की आयों पर अधिकतम संपूर्ण आय कर दर को १३½ आना प्रति रुपये से ज्यादा न करने, बीमा प्रीमियम की कटौती (abatement) और प्रोविडेन्ट फन्ड के अंशदान की अधिकतम रकम आय की १/६ से १/५ करने और क्रमशः १९४६ तथा १९४९ में निर्धारित प्रारम्भिक तथा अतिरिक्त घिसाई छूट की प्रणाली जारी रखने की जो सिफारिशें आयोग ने की हैं उनसे देश में औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन मिलेगा। यह सुझाव कि नव स्थापित उद्योगों को कुछ परिस्थितियों में 'कर से छुट्टी' दी जाय और नुकसान को अनिश्चित अवधि तक आगे ले जाने दिया जाय, इसका भी यही परिणाम होगा। कर टालने, बिक्री कर तथा स्थानीय वित्त से सम्बन्धित आयोग ने जो सिफारिशें की हैं वे रिपोर्ट के महत्वपूर्ण अंग हैं। आयोग की कुछ सिफारिशों को भारत सरकार १९५५-५६ और १९५६-५७ की बजटों में लागू कर चुकी है।

अध्याय ५६

कर प्रणाली सुधार पर काल्डॉर रिपोर्ट

प्रोफेसर निकोलस काल्डॉर ने मार्च १९५६ में 'भारतीय कर प्रणाली में सुधार' पर अपनी रिपोर्ट भारतीय सांख्यिकी विद्यापीठ (Indian Statistical Institute) के द्वारा भारत सरकार को दी। प्रोफेसर काल्डॉर को इस विद्यापीठ 'ने निमंत्रित किया था। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में भारतीय कर प्रणाली के सम्बन्ध में क्रान्तिकारी सुझाव दिये हैं। चूँकि भारत सरकार पूँजी लाभ कर (Capital Gains Tax), सम्पदा कर (Wealth Tax), उपहार कर (Gift tax) और व्यय कर (Expenditure tax) पहले ही, यद्यपि कुछ रूपान्तर कर के, लागू कर चुकी है इसलिए काल्डॉर रिपोर्ट को नया महत्व मिल गया है।

काल्डॉर रिपोर्ट में कहा गया है कि "भारत की वर्तमान प्रत्यक्ष कर प्रणाली अपर्याप्त (inefficient) और असमान (inequitable) दोनों है। यह इसीलिए न्यायसंगत नहीं है क्योंकि कर के वर्तमान आधार (आय) की कानूनी परिभाषा दोष पूर्ण है और कर लगाने की क्षमता का क्षेत्र पक्षपातपूर्ण है और कर देने वाले कुछ वर्ग अपनी वास्तविक आय को घटाकर दिखा सकते हैं। वह इसलिए अपर्याप्त है क्योंकि करदाता सीमित विवरण देते हैं और सम्पत्ति के सौदों तथा सम्पत्ति आय जानने के लिए कोई विस्तृत उपाय नहीं है। इसके फलस्वरूप मुनाफे और सम्पत्ति आय को छिपाकर अथवा इसका घटा कर दिखाकर इस कर की चोरी में अपेक्षाकृत आसानी रहती है"। इस बात को ध्यान में रखकर और हमारी कर प्रणाली के दोषों को दूर करने के लिए काल्डॉर रिपोर्ट में भारत में सम्पदा पर वार्षिक कर, पूँजी लाभ पर कर, उपहार कर और व्यक्तिगत व्यय कर लगाने की सिफारिश की गयी है। अन्तिम कर को आय के वर्तमान सुपरटैक्स के स्थान में आंशिक रूप से लागू करने की सिफारिश की गई है।

व्यय कर—व्यय कर करदाता के उपभोग के व्यय पर लगने वाला व्यक्तिगत उपभोग पर कर है। इसमें मालिक की ओर से मिलने वाला खर्च भी शामिल है। काल्डॉर रिपोर्ट के अनुसार यह कर "प्रति वयस्क (बच्चों को आधा वयस्क समझा जाय) १०,०० रुपये वार्षिक से ज्यादा के निजी खर्चे पर प्रति व्यक्ति के आधार पर खंड-प्रणाली के अनुसार क्रमिक रूप में लगाया जाय। १०,००० रुपये

और १२,५०० के बीच २५ प्रतिशत और ५०,००० रुपये से ऊपर ३०० प्रतिशत वार्षिक प्रति वयस्क रहे।" उदाहरण स्वरूप माता, पिता और दो बच्चों का एक परिवार है जो सालाना ४०,००० रुपये खर्च करता है। चूँकि परिवार तीन वयस्क इकाइयों का है इसीलिए खर्च प्रति वयस्क १३,३३३ रुपया आया और कुल कर प्रथम ३,३३३ रुपये कर का तिगुना होगा।

"कर निर्धारित करने के लिए व्यक्तिगत उपभोग का खर्च साल के शुरू में कर दाता के कुल दायित्व और साल भर की सभी आयों के योग से वर्ष के अन्त के कुल दायित्व को घटाने से बची राशि के बराबर समझा जायगा। दूसरे शब्दों में साधारण आय जैसे उपहार (gift) बिकने योग्य सम्पत्ति आदि के अतिरिक्त दूसरी आयों से होने वाले खर्चों पर भी कर लगेगा। किसी कार्य में जो पूँजी लगेगी (investment outlay) वह कर-मुक्त रहेगी। इसके अतिरिक्त कारोबार का वास्तविक खर्च, एक निश्चित रकम के ऊपर दूसरों को दिया गया उपहार जिसके अन्तर्गत दहेज आदि भी है, और उपभोग की कुछ वस्तुएँ, जिन्हें आवश्यक कहा जा सकता है, कर-मुक्त रहेंगे। आवश्यक वस्तुओं के अन्तर्गत एक निश्चित रकम तक अन्त्येष्टिक्रिया तथा जन्म, दवा का खर्च, अग्निकांड, चोरी आदि के कारण होने वाला खर्च सम्मिलित है। फर्नीचर, मोटर कार आदि ज्यादा दिनों तक चलने वाली उपभोग की वस्तुओं का खर्च कर लगाने के लिए कई वर्षों में फैलाया जा सकता है"।

इस कर के समर्थन में कहा गया है कि (१) कर देने की क्षमता जानने के लिए आय सही कसौटी नहीं है क्योंकि यद्यपि किसी की आय कम हो सकती है लेकिन वह पुरानी बचत, पूँजी लाभ, उत्तराधिकार, उपहार, पुरस्कार, विरासत, आदि के फलस्वरूप अनेक वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग कर सकता है। व्यय-कर व्यक्ति के रहन-सहन के स्तर पर आधारित है और इस प्रकार उसकी कर देने की क्षमता जानने का अधिक उचित साधन है। (२) व्यय कर से बचत पर कर नहीं लगता और इस प्रकार यह बचत को प्रोत्साहन देता है। चूँकि भारत के आर्थिक विकास के लिए अधिक बचत की आवश्यकता है इसलिए यह द्वितीय योजना के हित में है; और (३) "आगे चल कर आय-कर की ऊँची दरों के कारण लोग व्यापक रूप से कर को बचाने लगते हैं जिसका फल यह होता है कि इस कर से आय कम होती है। व्यय कर लगाने और आयकर की ऊपर की दरों को घटाने से सफलता मिलेगी क्योंकि इससे कर की चोरी रुकेगी और साथ ही चोरी करना अधिक कठिन कार्य सिद्ध होगा।"

सम्पदा कर (Wealth Tax)—"यह किसी व्यक्ति की सम्पदा पर कर

है और हर वर्ष उसकी कुल असली सम्पत्ति के मूल्य पर निर्धारित किया जायगा। यह कर विस्तृत होगा अर्थात यह कृषि सम्पत्ति, सभी प्रकार की असली मिल्कियत, स्टाक तथा शेयर, बाजार में बिक्री योग्य सभी वस्तुओं और बैंक में जमा पूँजी, जवाहरात तथा कीमती वस्तुओं आदि सभी व्यक्तिगत सम्पत्तियों पर लागू होगा। बैंक में जमाधन तथा घरेलू फर्नीचर और कपड़े जैसी व्यक्तिगत वस्तुएँ एक सीमा तक कर मुक्त रखी जा सकती हैं।" १,००,००० रुपये से कम की सम्पत्ति को कर मुक्त रखने के बाद प्रस्तावित कर की दरें निम्नलिखित होंगी।—

सम्पत्ति की कीमत	प्रतिशत दर
१,००,००० रुपये से नीचे	०
१,००,००० रु० और ४,००,००० रु० के बीच	$\frac{1}{3}$
४,००,००० रु० और ७,००,००० रु० के बीच	$\frac{1}{2}$
७,००,००० रु० और १०,००,००० रु० के बीच	$\frac{3}{4}$
१०,००,००० रु० और १५,००,००० रु० के बीच	१
१५,००,००० रुपये से ऊपर	१$\frac{1}{2}$

इस कर के पक्ष में यह तर्क है कि (१) आय कर की अपेक्षा इस से किसी की कर देने की क्षमता का ज्यादा अच्छा पता चलता है क्योंकि किसी व्यक्ति के पास सिर्फ आय के द्वारा ही नहीं बल्कि सम्पदा के द्वारा भी वस्तुएँ आ सकती हैं; (२) "वर्तमान आयों की अपेक्षा पूँजी स्वामित्व (Capital Ownership) पर आधारित कर को प्रशासनात्मक दृष्टिकोण से निर्धारित करने में और आय के निम्नतर खंडों में वसूल करने में अधिक आसानी होगी"; और (३) एक अधिक क्रमिक आय-कर से खतरनाक पूँजी विनियोग (investments) के विरुद्ध पक्षपात होता है। "चूँकि आय की वृद्धि के साथ आय कर की दरों में वृद्धि होती है इसीलिए खतरनाक पूँजी विनियोग के जरिये लम्बी आय करने की प्रवृत्ति घटती है। दूसरी ओर क्रमिक वृद्धि होने के बावजूद सम्पत्ति पर लगा कर इस तरह का असर नहीं डालता। यह सम्पत्ति की कीमत पर लगेगा और ऐसी सम्पत्ति से होने वाली आय से भिन्न नहीं होगा। इसका भार दोनों सन्देहजनक तथा सुरक्षित सम्पत्ति पर समान रूप से पड़ेगा।

पूँजी लाभ कर (Capital Gains Tax)—काल्डॉर रिपोर्ट ने सिफारिश की कि "सभी प्राप्त पूँजी-लाभों पर जिन पर इस समय आय के अर्थ के अन्दर न आने के कारण आय-कर नहीं लगता आय-कर लगना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि संयुक्त आय (समस्त पूँजी-लाभों के सहित) २५,००० रुपये से ज्यादा होने पर मोटी दर से ७ आने प्रति रुपया कर लगेगा"।

"कम्पनियों के पूँजी लाभ पर उसी प्रकार कर लगाना चाहिये जिस तरह व्यापारिक मुनाफे पर लगेगा। दूसरे शब्दों में सभी लाभदायक आयों पर चाहे वे व्यापारिक लाभ, साधारण आय, कम्पनी आय अथवा पूँजी-लाभ हों, २५,००० रुपये के ऊपर ७ आना प्रति रुपये की एक सी दर से कर लगेगा"।

पूँजी लाभ कर के पक्ष में यह तर्क उपस्थित किया गया है कि (१) पूँजी लाभ कर से व्यक्ति की कर देने की क्षमता बढ़ती है इसलिए कर लगायी जाने वाली आय में इसको सम्मिलित रहना चाहिए; और (२) "किसी व्यक्ति के लिए ऐसे अवसर सदा रहते हैं कि वह अपने हिसाब-किताब इस तरह से बनाये कि उसकी सम्पत्ति का लाभ कर लगने वाली आय की जगह पूँजी-वृद्धि (Capital appreciation) का रूप ले ले। उदाहरण स्वरूप सुपर टैक्स देने वाले के लिए कम डिविडेन्ड वाली लेकिन भारी मात्रा में अनुमानित पूँजी वृद्धि (Capital appreciation) वाली प्रतिभूतियों में पूँजी लगाने अथवा डिस्काउन्ट वाले बांडों को खरीदने में लाभ है"। आय पर लगने वाले कर की दर से पूँजी लाभ पर कर लगाने से इस प्रकार की कर चोरी रुक जायगी।

उपहार कर (Gift Tax)—"वर्तमान सम्पत्तिकर (Estate Duty) के स्थान में यह कर लगाने की सिफारिश की गयी है। यह कर सभी उपहारों पर लगेगा। इसके अन्तर्गत जीवित व्यक्तियों को दिये गये उपहार तथा उत्तराधिकार में मिले उपहार भी शामिल हैं। सम्पत्ति-कर के लिए जो प्रणाली अपनायी गई है उसके प्रतिकूल यह करदाता की सम्पत्ति पर नहीं बल्कि पाने वाले की सम्पत्ति पर निर्धारित किया जायगा। एक अकेले प्राप्त करने वाले के लिए १०,००० रुपये तक छूट देने का सुझाव दिया गया है। इसके ऊपर उपहार पर अगर पाने वाले की असली सम्पत्ति १,००,००० रुपये से नीचे की है तो १० प्रतिशत की दर से कर लगेगा। १,००,००० रुपये और १,५०,००० रुपये के बीच १५ प्रतिशतकी दर से, १,५०,००० रुपये और २,००,००० रुपये के बीच २० प्रतिशत की दर से कर लगेगा। और यदि पाने वाले की कुल सम्पत्ति (उपहार समेत) २०,००,००० रुपये से ज्यादा बढ़ जाती है तो ८० प्रतिशत की दर से कर लगेगा। दूसरे शब्दों में १,००,००० रुपये से ऊपर के खंडों के लिए वर्तमान सम्पत्ति कर की दरों को दूनी दरें प्रस्तावित की गयी है,"।

"यह सुझाव दिया गया है कि एक बार वार्षिक सम्पदा कर लागू हो जाने और वार्षिक असली सम्पदा का पर्याप्त ब्यौरा मिल जाने पर वर्तमान सम्पत्ति कर की जगह उपहार कर पूरी तौर से लागू कर दिया जाय। उत्तराधिकार कर का असली भार उत्तराधिकार पाने वाले र पड़ता है, मृत व्यक्ति पर नहीं। दूसरे

जीवित व्यक्तियों के बीच के उपहारों और वसीयत में मिलने वाली सम्पत्तियों के बीच अन्तर करने में कोई औचित्य नहीं इसलिए सम्पत्ति कर के स्थान में एक क्रमिक उपहार कर लगाया जाय"।

"उपहार कर के औचित्य के प्रति तर्क उसकी आवश्यकता तथा प्रशासनात्मक सरलता है। कहा जाता है कि उत्तराधिकार पर कर लगाने का वास्तविक औचित्य यह है कि अपनी सम्पत्ति अपने उत्तराधिकारी को देने की व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित करने का अधिकार समाज को है। लेकिन अगर ऐसा है तो उपहारों द्वारा सम्पत्ति देने और वसीयत द्वारा सम्पत्ति पाने में अन्तर करने का कोई कारण नहीं"।

इन नये करों का सुझाव देते हुए काल्डॉर रिपोर्ट में बहुत ही साफ तौर से सिफारिश की गयी है कि (१) व्यक्तियों, कम्पनियों आदि पर आय कर तथा सुपर टैक्स की ऊपर के खंड की दर मिला कर २५,००० रुपये से ऊपर की आयों पर ७ आना प्रति रुपया से ज्यादा नहीं होनी चाहिए। २५,००० रुपये तक की आयों पर कर की क्रमिक दरें लगेंगी और इसके ऊपर ७ आना प्रति रुपये की मोटी दर लागू होगी। इस प्रकार यह सिफारिश की गयी कि आय कर और सुपर-टैक्स की संयुक्त दर तत्कालीन ६२ प्रतिशत की दर से घटा कर ४५ प्रतिशत कर दी जाय; और (२) जहाँ तक कम्पनियों का सवाल है वर्तमान जटिल कर प्रणाली की जगह वर्तमान टूट-फूट छूट तथा विकास छूट को मान कर कम्पनियों की पूरी आय पर ७ आना प्रति रुपये की दर का एक कर लगाया जाय।

काल्डॉर रिपोर्ट के अनुसार व्यक्तिगत करों के फलस्वरूप नये करों से कुल असली आय निम्नलिखित होगी :—

व्यक्तिगत कर	अनुमानित वार्षिक आय
१. व्यय कर	१० करोड़ रुपये से १५ करोड़ रुपये तक
२. सम्पदा कर	१५ करोड़ रुपये से २५ करोड़ रुपये तक
३. पूँजी लाभ कर	२५ करोड़ रुपये से ४० करोड़ रुपये तक
४. उपहार कर	३० करोड़ रुपया
योग	८० करोड़ रुपये से ११० करोड़ रुपये तक
३ आना प्रति रुपये के ऊपर सुपर-टैक्स खत्म करने से होने वाली कमी	१८ करोड़ रुपया
असली आय	६२ करोड़ रुपये से ९२ करोड़ रुपये तक

आलोचना—कर प्रणाली के सुधार के रूप में प्रोफेसर काल्डॉर का अत्यधिक बुनियादी सुझाव व्यय-कर के रूप में है। प्रोफेसर काल्डॉर का तर्क यह है कि जितनी सही परिभाषा व्यय की दी जा सकती है उतनी आय की नहीं और व्यय-कर देने वाले और कर वसूल करने वाली सरकार दोनों के लिये न्यायपूर्ण है। कॉल्डार रिपोर्ट के अनुसार असमानता की जाँच करने के लिये, जिसको दूर करना कर प्रणाली का उद्देश्य होता है, उपभोग की असमानता, आय अथवा सम्पदा की असमानता की कसौटी से ज्यादा उपयुक्त है। जहाँ तक व्यय-कर का प्रश्न है जितना कोई व्यक्ति राष्ट्र की वस्तुओं और सेवाओं की धारा से अपने लिए निकाल लेता है उसी के अनुसार उस पर कर लगता है और जहाँ तक आय-कर का प्रश्न है वह जो कुछ इस धारा में लगाता है उस पर कर लगता है। विभिन्न लोगों की समानता की जाँच उस आधार पर नहीं होनी चाहिए जितना वे लगाते हैं बल्कि उस आधार पर होनी चाहिए जितना वे लेते हैं। व्यय कर के लिये कुछ सैद्धान्तिक औचित्य है लेकिन यह कर बुरा इस अर्थ में है कि यह अजेय व्यवहारिक कठिनाइयाँ पैदा करता है। पिछली शताब्दी के मध्य में इस कर को लगाने का सुझाव दिया गया था लेकिन कुछ ही देशों को छोड़ कर किसी देश ने इन्हीं व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण लागू नहीं किया। कुछ विशेष कठिनाइयां के कारण जो हमारे सामने हैं भारत के लिये यह और अनुपयुक्त है। हमारे यहाँ अब भी संयुक्त परिवार की प्रणाली है और सीमित आयों वाले लम्बे परिवारों के लिए यह अनुचित होगा। प्रोफेसर काल्डॉर ने इस कठिनाई को दूर करने की कोशिश की है। उन्होंने सुझाव दिया कि यह प्रति व्यक्ति आधार पर लगाया जाय अर्थात् कर निर्धारण में परिवार के लोगों की संख्या का ध्यान रक्खा जाय। लेकिन भारत में काफी लोगों को ऐसे व्यक्तियों की मदद करनी पड़ती है जिन्हें किसी भी परिभाषा के अन्तर्गत उनके परिवारों के अन्तर्गत नहीं समझा जा सकता। और उनके कुल खर्च में ऐसे बाहरी व्यक्तियों पर होने वाला भी खर्च शामिल रहता है। ऐसी स्थिति में व्यय-कर अनुचित होगा तथा उक्त सहायता को रोकेगा और इस प्रकार यह समाज विरोधी होगा।

दूसरे, जब तक कीमतें स्थिर रहेंगी व्यय कर न्यायपूर्ण रहेगा लेकिन जब कीमतें बढ़ेगी अथवा घटेंगी यह न्याय पूर्ण नहीं रह जायगा। कीमतें बढ़ने पर, जैसे कि भारत में हुआ है और द्वितीय तथा बाद की योजनाओं को देखते हुए भविष्य में भी हो सकता है, उपभोक्ता को हानि होगी क्योंकि वस्तुओं और सेवाओं के उपयोग के लिए उसको ऊँची कीमतें चुकानी पड़ेंगी। इसके अतिरिक्त यदि वह उतनी ही वस्तुओं और सेवाओं का उपभोग करना

चाहता है जितनी का उपभोग वह पहले करता था तो उसको लम्बा व्यय-कर देना पड़ेगा क्योंकि ऊँची कीमतों के कारण उसकी बचत घट जायगी। सिर्फ इसको छोड़ कर उसके व्यय का पता लगाने के लिए और कोई व्यावहारिक उपाय नहीं है कि पहले उसकी आय का अनुमान लगाया जाय और तब पता लगाया जाय कि इसमें से कितना बचा है।

अन्त में, भारत में सब से बड़ी कठिनाई कर चोरी की है। कर की चोरी उस सीमा तक और बढ़ जायगी जिस सीमा तक लोग पहले साल छिपा कर रखे गये नकद रुपये से और उन लोगों से उधार लिये गये रुपये से अपने वर्तमान उपभोग का काम चलायेंगे जिनकी आय पर प्रत्यक्ष रूप से कर नहीं लगता तथा जिन्हें आयकर अधिकारियों के सामने अपनी आय का ब्योरा नहीं पेश करना पड़ता। इसके अतिरिक्त बीमारी, विवाह, ज्यादा दिनों तक चलने वाली उपभोगता वस्तुओं आदि पर हुये खर्च से अनेक कठिनाइयाँ पैदा होंगी। भारत में छोटे व्यापारी निजी हिसाब तथा व्यापार का हिसाब साथ रखते हैं और ऐसी स्थिति में निजी व्यय को व्यापार के हिसाब में दिखा के कर की चोरी के मामलों को पकड़ना सरल न होगा। बड़े कारोबार में अधिकारियों को कारोबार से सम्बन्धित खर्च में जो छूट मिली है उससे भी कठिनाइयाँ पैदा होंगी। प्रोफेसर ए० आर० प्रेस्ट (Prof. A. R. Prest) ने सही कहा है कि "प्रोफेसर काल्डॉर का मानसिक चित्र यह है कि लोगों का एक छोटा समुदाय विरासत में मिले धन को विलास की वस्तुओं में लुटा रहा है। दूसरा चित्र यह हो सकता है कि सभी आय वर्गों के भारी संख्या में नाम मात्र की अपनी आर्थिक आयों को विभिन्न स्तरों में, जिन्सों और विभिन्न रूपों और मात्राओं में खर्च भत्तों से पूरा करते हैं"। इसके मामले में व्यय-कर जितनी समस्याएँ हल नहीं करता उतनी पैदा करता है। इसलिए हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि यह भारत के लिए उपयुक्त नहीं है।

पूँजी लाभ कर, उपहार कर और सम्पदा कर में यह गम्भीर दोष है कि बचत करने का उत्साह बुरी तरह घट जायगा और पूँजी निर्माण रुक जायगा जब कि ये भारत की अर्थ व्यवस्था को ठीक ढंग से चलाने के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे उन्नत देश में ऐसे करों से अधिक हानि सम्भव नहीं क्योंकि वहाँ पहले से ही सम्पदा का 'अत्यधिक' संग्रह है लेकिन भारत ऐसे आर्थिक दृष्टि से पिछड़े देश में पूंजी निर्माण और धन संग्रह को प्रोत्साहन देना विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त 'कर लगाने में मितव्ययिता' (economy in taxation) का शास्त्रीय सिद्धान्त जितना पहले महत्वपूर्ण था

उतना ही आज भी है। अगले कुछ वर्षों में इन करों से जो छोटी आय होगी और सरकार को इनके वसूल करने में जितना समय और धन खर्च करना पड़ेगा उससे इनका औचित्य नहीं सिद्ध होता। काल्डॉर रिपोर्ट में अतिशयोक्ति से काम लिया गया है कि सरकार को पूँजी लाभ कर से २५ करोड़ रुपये से ४० करोड़ रुपये तक, उपहार कर से ३० करोड़ रुपये और वार्षिक सम्पदा कर से १५ करोड़ रुपये से २५ करोड़ रुपये तक की आय होगी। पर्याप्त आंकड़ों के अभाव में इन करों की सम्भावित आय का अनुमान लगाने का कोई साधन नहीं लेकिन सम्भावना इस बात की है कि अगले कुछ वर्षों में इन करों की कुल आय छोटी सी होगी। हमारे पास प्रशिक्षित आय-कर अधिकारियों की कमी है और यदि हमारे पास किसी तरह प्रशिक्षित आय कर अधिकारी हो जाते हैं तो उन्हें पहले कर की चोरी रोकने में लगाना चाहिए जिससे सरकार के पास प्रोफेसर काल्डॉर द्वारा प्रस्तावित कल्पनाशील करों की अपेक्षा ज्यादा राजस्व आये।

अपने सुझावों के औचित्य के पक्ष में प्रोफेसर काल्डॉर का सबसे बड़ा तर्क यह है कि इनसे भारत में करों की चोरी रुकेगी क्योंकि "अगर इन करों का निर्धारण एक ही समय, एक ही अधिकारी द्वारा और कर-दाता द्वारा प्रस्तुत हिसाब-किताब एक ही पूर्ण ब्योरे (साल की समस्त आयें, कर मुक्त सभी खर्च, और अपनी समस्त सम्पत्ति का नकशा) के आधार पर किया जाय तो कर की चोरी अधिक कठिन हो जायगी, केवल इसीलिए नहीं कि कर-दाता के लिए विशेष आयें अथवा सम्पत्ति के हिस्से लगातार छिपाने में कठिनाई होगी बल्कि इस वजह से कि एक कर-दाता (खुद अपनी देने की जिम्मेदारी को कम करने के हित में) द्वारा प्रस्तुत विवरण दूसरों के द्वारा प्रस्तुत विवरण पर प्रत्यक्ष रोक थाम का काम करता है"। काल्डॉर रिपोर्ट में इस सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण बातों पर ध्यान नहीं दिया गया। अनुभव से हम जानते हैं कि करों की चोरी करने वाले भारतीय कर-दाता आय-कर अधिकारियों की अपेक्षा ज्यादा चालाक निकले हैं और फर्जी ब्योरा देने के बावजूद उनके लिए अपने आय-कर विवरण में एकरूपता बनाये रखना कठिन न होगा। कर की चोरी पकड़ने के लिए हम उनके आय-कर विवरण की संभावित अंश गति पर निर्भर नहीं कर सकते। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि आय-करदाताओं के सभी सौदे सिर्फ दूसरे आय कर दाताओं के साथ नहीं होते इसलिए एक द्वारा प्रस्तुत विवरण दूसरों पर रोक-थाम का काम करके करों की चोरी नहीं रोक सकता। यह बहुत सम्भव है कि एक आय-करदाता उस मद को फर्जी रूप में पेश करे जिस पर वह आय-कर न देने वालों के साथ सौदा करने के सम्बन्ध में कर की चोरी

करता है। केवल इस सम्भावना पर कि शायद आगे चल कर कुछ रोक-थाम हो लम्बा खर्च और तकलीफ उठाना ठीक नहीं।

भारत में करों की चोरी के बारे में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि केवल कर-दाता ही कर की चोरी नहीं करते बल्कि काफी संख्या में ऐसे लोग हैं जिनकी आय छूट की न्यूनतम सीमा को पार करती है लेकिन वे आय-कर अधिकारी की पकड़ में नहीं आते क्योंकि प्रशिक्षित आय-कर अधिकारियों की कमी है। यदि हमारे पास प्रशिक्षित अधिकारी अधिक हों तो वे उन लोगों को पकड़ सकते हैं जिनकी आय छूट की न्यूनतम सीमा से अधिक है लेकिन इस समय नहीं पकड़े जा रहे हैं क्योंकि उनको पकड़ने के लिए कोई खाली ही नहीं है। भारत में हमने अब तक करों की बड़ी चोरी करने वालों पर ही अपना ध्यान दिया है लेकिन छोटी आय वालों द्वारा भी करों की चोरी होने से सरकार को एक लम्बी रकम नहीं मिल पाती।

भारतीय अर्थ व्यवस्था पर प्रभाव—भारत सरकार ने पूँजी लाभ कर, सम्पदा कर, व्यय कर तथा उपहार कर के संबंध में काल्डॉर रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं। यद्यपि ये कर काल्डॉर रिपोर्ट में प्रस्तावित दरों से कम दरों पर लागू किये गये हैं लेकिन सरकार ने व्यक्तिगत आयों पर आय-कर तथा सुपर-टैक्स की संयुक्त उच्चतम दर को ७ आना प्रति रुपया तक नहीं घटाया और कम्पनियों के मामले में करों की अनेकता को हटा कर ७ आना प्रति रुपया दर वाला एक कर नहीं लागू किया। इसका परिणाम यह हुआ है कि सभी वर्गों के लोगों पर कर-भार अधिक बढ़ गया है और कर-प्रणाली सुधार के प्रस्तावित उद्देश्य के अनुसार भारतीय कर-प्रणाली अधिक न्यायपूर्ण, संतुलित और वैज्ञानिक नहीं हो पायी।

स्पष्ट रूप से द्वितीय योजना के लिए अधिक साधन जुटाने के लिए १९५६-५७ और १९५८-५९ के बीच तीन वर्षों में नये कर लगाये गये हैं और वर्तमान कर बढ़ाये गये। लेकिन जैसा कि योजना आयोग ने अपने "द्वितीय योजना का मूल्यांकन तथा सम्भावनाएँ" में स्वीकार किया है कि "इस कर-संग्रह ने योजना के लिए साधन नहीं जुटाये, इसका एक बड़ा हिस्सा दूसरी मांगों (प्रतिरक्षा, गैर विकास व्यय तथा योजना से बाहर विकास व्यय) पर हुआ।" जैसी कि आशा थी, करों से आय बढ़ाने पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने और भी लापरवाही से और योजना की आवश्यकताओं पर ध्यान दिये बिना रुपया खर्च किया। इस प्रकार जनता ने बेकार इतनी बड़ी मुश्किलें झेली हैं।

अन्त में इतनी ऊँची दरों पर अतिरिक्त कर लगाने से उद्योगों के उत्पादन

करोड़ रु०, और १५६.६ करोड़ रु० का घाटा ही हुआ। इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की वित्त व्यवस्था में प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में लगभग ३६६ करोड़ रुपये का घाटा रहा। १९५२-५३ और १९५३-५४ में घाटे का प्रबन्ध मुख्यतः कोष में रोकड़ की मात्रा घटा कर किया गया परन्तु मार्च १९५४ के अन्त तक कोष में रोकड़ की मात्रा घटकर केवल ३७ करोड़ रुपया रह गई और अगले वर्ष घट कर ३२ करोड़ रुपया हो गई। इस कारण १९५४-५५ से बराबर घाटे का अर्थ प्रबन्ध प्रायः पूर्णतया ट्रेजरी ऋण पत्रों के विस्तार द्वारा किया जा रहा है। इधर हाल में केन्द्रीय बजटों में और अधिक घाटा रहा है और १९५६-५७, १९५७-५८, १९५८-५९ और १९५९-६० में यह क्रमशः १८४.७५ करोड़ रुपया, ४५८.५८ करोड़ रुपया (संशोधित), २५६-६६ करोड़ रुपया तथा २२१.४४ करोड़ रुपया (बजट) था।

घाटे का बजट बनाने के पक्ष और विपक्ष में काफी कहा गया है। इसके समर्थन में यह कहा गया है कि : (१) कोई भी सरकार अपनी वर्तमान आय की रकम में से पंचवर्षीय योजना जैसी बड़ी योजना में निहित विकास कार्यों की वित्तीय आवश्यकता पूरी नहीं कर सकती है। इसलिए घाटे के बजट की नीति अपनानी पड़ती है। यदि ऐसा नहीं किया गया तो देश के साधनों का पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकेगा और देश निर्धन ही बना रहेगा; (२) सरकार के आय-व्यय की अवधि को १२ महीनों तक ही सीमित रखना आवश्यक नहीं है और इस बात का भी कोई कारण नहीं कि बजट को प्रतिवर्ष सन्तुलित किया जाय। यह सम्भव है कि सरकार अगले ५ या १० वर्षों के लिए बजट-व्यवस्था करे जिनमें से कुछ वर्षों में घाटा हो और अन्य में लाभ हो और दीर्घकाल में सरकार की वित्त स्थिति सन्तुलित हो जाय; और (३) केन्स के सिद्धान्त के अनुसार ऐसी आर्थिक व्यवस्था में जिसमें कुल माँग और कुल पूर्ति में अन्तर (gap) होता है देश के साधनों का पूरा उपयोग नहीं किया जा सकता है। साधनों के पूर्ण उपयोग के लिये कुल माँग के स्तर को कुल पूर्ति के स्तर तक ऊँचा उठाने के लिए माँग और पूर्ति के बीच के अन्तर को राज्य ऋण इत्यादि (created money) के विनियोग द्वारा पूरा करता है। इससे राज्य के साधनों का पूर्ण उपयोग हो सकता है और राष्ट्रीय आय में अधिक से अधिक वृद्धि होती है। इस विधि का स्वाभाविक परिणाम घाटे के बजट की व्यवस्था है। घाटे के बजट की व्यवस्था न होने पर राष्ट्रीय आय को यथासंगत उच्च स्तर तक नहीं पहुँचाया जा सकता है।

इसमें कुछ संदेह नहीं है कि घाटे की बजट व्यवस्था से कुछ लाभ हैं। देश के आर्थिक कारोबार में सक्रियता लाने के लिये यह अचूक उपाय है और इससे राष्ट्रीय लाभांश में भी अधिक से अधिक वृद्धि हो सकती है। परन्तु जहाँ तक

भारत का सम्बन्ध है इस व्यवस्था का प्रभाव प्रतिकूल ही पड़ा है : (१) घाटे के बजट की व्यवस्था में यह मान लिया जाता है कि देश की आर्थिक व्यवस्था मुद्रास्फीति से ग्रस्त नहीं है और देश में ऐसे साधन हैं जिनका पूर्ण उपयोग नहीं किया गया है परन्तु जिनका पूर्ण उपयोग इस व्यवस्था के माध्यम से किया जा सकता है। भारत में युद्ध के कारण अत्यधिक मुद्रास्फीति फैल गई जो अब तक फैली है। यद्यपि भारत में कुछ ऐसे साधन हैं जिनका पूर्ण उपयोग नहीं किया जा सकता है, जैसे अकुशल मजदूर, परन्तु इसके साथ ही अन्य साधनों, जैसे मशीन, कच्चा माल, रासायनिकों इत्यादि का भी अभाव है जबकि ये साधन देश के औद्योगिक कार्यक्रम को तेजी से बढ़ाने के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। घाटे की बजट व्यवस्था ने उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति को बढ़ा दिया है जिससे देश की वर्तमान मुद्रास्फीति की स्थिति और भी बिगड़ गई, वस्तुओं के भावों में और वृद्धि हो गई और जनता की कठिनाइयाँ भी बढ़ गईं; (२) चूँकि पंचवर्षीय योजना की अधिकांश योजनाएँ दीर्घकालिक हैं इसलिए घाटे की बजट व्यवस्था को शीघ्र उत्पादन बढ़ाने में सफलता भी नहीं मिली है जिसका परिणाम यह हुआ है कि अनेक वस्तुओं की पूर्ति आवश्यकता से बहुत कम है। इससे वस्तुओं के भाव बढ़ते जा रहे हैं। यदि पंचवर्षीय योजना में अल्पकालिक योजनाओं पर जोर दिया जाता जिससे शीघ्र पर्याप्त मात्रा में उत्पादन बढ़ता तो उपभोक्ता की क्रय शक्ति के बढ़ते हुए भी वस्तुओं की कीमतें गिर जातीं; (३) मजदूरी अधिक होने से, कच्चे माल की कीमत बढ़ने से और अधिक कर लगने से भारतीय उद्योगों का उत्पादन व्यय बढ़ गया है जिसके फलस्वरूप उत्पादित माल की कीमतें भी बढ़ गईं। इससे बहुत कुछ घाटे की बजट व्यवस्था का उद्देश्य ही व्यर्थ हो गया; और (४) भारतीय पूँजी बाजार से आवश्यकता से बहुत कम रुपया प्राप्त होता है और घाटे की बजट व्यवस्था को सफल बनाने के लिए आवश्यक विदेशी पूँजी भी बहुत कम उपलब्ध है। सरकार अपने घाटे की पूर्ति या तो देश के द्रव्य बाजार से ऋण लेकर, या विदेशों से ऋण लेकर, या अपने नकद कोष में से, या कुछ सीमा तक पौण्ड पावने में से कुछ रकम लेकर करती है। सरकार द्रव्य बाजार से आवश्यक मात्रा में ऋण प्राप्त नहीं कर सकी है और उसका नकद कोष तो प्रायः खाली हो चुका है जिसके फलस्वरूप घाटे की बजट व्यवस्था से सरकारी वित्त व्यवस्था पर काफी भार पड़ा है।

कर-व्यवस्था—युद्ध के पहले भारतीय कर-व्यवस्था प्रतिगामी (regressive) थी और यदि केन्द्रीय और राज्य वित्त व्यवस्था पर एक साथ विचार किया जाय तो पता चलेगा कि भारत में अप्रत्यक्ष करों (indirect taxes) का

प्रभुत्व रहा। राज्य सरकारों द्वारा लगाये गये अधिकतर कर अप्रत्यक्ष कर हैं। १६३८-३६ में केन्द्रीय सरकार की कुल आय ८४'४७ करोड़ रुपये थी जिसमें से ४०'५ करोड़ रुपया आयात-निर्यात कर से, ८'६६ करोड़ रुपया केन्द्रीय उत्पादन कर से और १७'२८ करोड़ रुपया आयकर से (जिसमें कार्पोरेशन-कर भी शामिल है) प्राप्त हुआ। इस प्रकार, जहाँ तक केन्द्रीय वित्त व्यवस्था का सम्बन्ध है आय कर कुल करों की आय का केवल २२'६ प्रतिशत था। यदि हम कुल आय पर विचार करें तो पता चलेगा कि १६३८-३६ में आयकर और कार्पोरेशन-कर कुल के १८'६७ प्रतिशत थे, आयात-निर्यात कर और केन्द्रीय उत्पादन कर ५८'१७ प्रतिशत और रेल, डाक, करेन्सी इत्यादि (Commercial Services) से आय केवल २'५३ प्रतिशत थी।

युद्ध काल में कर की व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन किया गया और १६४३-४४ में आय-कर (जिसमें कार्पोरेशन कर शामिल है) से आय कुल १२६ करोड़ रुपया थी, केन्द्रीय उत्पादन कर से २७.४२ करोड़ रुपया और आयात-निर्यात कर से आय २६'२२ करोड़ रुपया थी जब कि कुल करों की आय १६३ करोड़ रुपया थी। १६४३-४४ में आय-कर करों की कुल आय का ६६'८ प्रतिशत था और १६४४-४५ में ६८'१ प्रतिशत था। यदि कुल आय पर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि आयकर और कार्पोरेशन कर कुल का ४१'४ प्रतिशत थे, आयात-निर्यात कर और केन्द्रीय उत्पादन कर ३२'२ प्रतिशत और रेल, डाक, करेन्सी इत्यादि (Commercial Services) से आय १६'६६ प्रतिशत थी। इस प्रकार युद्ध काल में : (१) केन्द्रीय सरकार की आय में आयकर जिसका अब तक द्वितीय स्थान था क्रमशः प्रथम स्थान लेने लगा; (२) केन्द्रीय उत्पादन कर से आय बढ़ी और आयात-निर्यात कर से आय घटी परन्तु दोनों की आय लगभग बराबर रही; और (३) रेल, डाक, करेन्सी इत्यादि (Commercial Services) से आय १६३८-३६ में कुल आय की केवल २½ प्रतिशत थी परन्तु १६४५-४६ में यह बढ़ कर १६½ प्रतिशत हो गई। इस प्रकार सरकार की आय के साधनों में इनका महत्व बढ़ा।

युद्ध काल में प्रत्यक्ष कर (Direct Taxes) की आय सर्वोच्च स्तर तक पहुँच गई थी परन्तु युद्धोत्तर काल में यह स्थिति बनी न रह सकी और प्रत्यक्ष कर व्यवस्था का स्तर घटाना पड़ा और अप्रत्यक्ष कर व्यवस्था का स्तर ऊँचा उठाना पड़ा। इस बीच केवल १६४७-४८ में, जब लियाकत अली खाँ वित्त मंत्री थे, प्रत्यक्ष कर व्यवस्था का स्तर ऊँचा उठाया गया। १६४४-४५ में आय-कर करों की कुल आय का ६८'१ प्रतिशत था परन्तु १६४५-४६ में गिरकर ५७'२ प्रतिशत,

१९४८-४९ में ५०·२ प्रतिशत, १९५०-५१ में ४२·८ प्रतिशत,१९५५-५६ में २७·५ प्रतिशत तथा १९५८-५९ (बजट) में २४·९ प्रतिशत हो गया बावजूद इसके कि पिछले दो बजटों में प्रत्यक्ष करों में काफी वृद्धि की गई थी। १९५८-५९ में ६८५·०२ करोड़ रुपया की कुल आय में से करों से प्राप्त आय ५७२·३४ करोड़ रुपया है। ५७२·३४ करोड़ रुपया की कुल कर-आय में से आय और व्यय पर लगे करों से प्राप्त आय १४३·०३ करोड़ रुपया; वस्तुओं तथा सेवाओं से प्राप्त आय ४१०·१५ करोड़ रुपया, सम्पत्ति तथा पूँजी सम्बन्धी लेन-देन पर लगे करों से प्राप्त आय १९·१६ करोड़ रुपया थी।

अप्रत्यक्ष करों में वृद्धि होने तथा प्रत्यक्ष करों के अनुपात में कमी होने से भारतीय कर-व्यवस्था युद्ध काल की अपेक्षा कम प्रगतिशील हो गई है। यह प्रतीत होगा कि ऐसी स्थिति विकास की दृष्टि से उचित नहीं है परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। प्रतिगामी कर-व्यवस्था को पसन्द किया जाता है परन्तु यह संभव है कि कर-व्यवस्था अत्यन्त प्रगतिशील हो सकती है, जैसे कि भारत में हुआ है, जिससे (१) साहसी उद्योगपति नये उद्योगों में रुपया लगाने के लिए आगे नहीं आते हैं और (२) इससे बचत कम हो जाती है और पूँजी निर्माण का कार्य मन्द पड़ जाता है जो देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त घातक है। भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ अधिकतर लोगों की आय बहुत कम है यह आवश्यक है कि प्रत्यक्ष करों से अप्रत्यक्ष करों की अपेक्षा कम आय हो। जैसे-जैसे भारत का राष्ट्रीय लाभांश बढ़ेगा और जनता धनवान बनती जायगी, जैसे ब्रिटेन, अमरीका तथा अन्य देशों में हुआ है, वैसे-वैसे बिना प्रतिकूल प्रभाव के प्रत्यक्ष कर व्यवस्था को ऊचा उठाया जा सकता है।

१९५६-५७ से बजटों की विशेष महत्ता है क्योंकि इनसे सरकार की आय को यथासम्भव बढ़ाने का संकल्प लक्षित होता है। इसे पूर्णतया समझने के लिये हमें यह जान लेना आवश्यक है कि प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में केन्द्रीय क्षेत्र में ही करों की वृद्धि की गई थी, विशेष कर १९५१-५२, १९५४-५५ और १९५५-५६ के वर्षों में जब कि उनसे आय क्रमशः ३२ करोड़ रुपया, ११ करोड़ रुपया और ७ करोड़ रुपया हुई थी। बाद में जो निर्यात कर में १९५५-५६ में परिवर्तन किया गया उससे ११ करोड़ रुपये का घाटा ही हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि पांच वर्षों में लगभग ६९० करोड़ रुपये की मात्रा का अतिरिक्त कर आरोपित किया गया। १९५५-५६ में करों में वृद्धि कर जाँच आयोग की सिफारिशों के अनुसार ही की गई थी। यह क्रम तब से जारी है।

"द्वितीय पंचवर्षीय योजना के प्रारम्भ से कर नीति का उद्देश्य कर व्यवस्था

को नियोजन के अनुकूल बनाना है। १९५६-५७ में केन्द्र ने कर जाँच आयोग द्वारा प्रस्तावित कर-सम्बन्धी अनेक परिवर्तन किये। करारोपण के अन्य उपायों की घोषणा सितम्बर व नवम्बर १९५६ में की गई। १९५६-५७ के वर्ष में करों से प्राप्त आय ५५ करोड़ रु० के लगभग अनुमान की गई थी तथा उसके अनन्तर पूर्ण वर्ष के लिये ८१ करोड़ रु० की। १९५७-५८ के केन्द्रीय बजट में कर आधार को और प्रशस्त और गहरी करने का लक्ष्य सामने रखा गया था। उस वर्ष अतिरिक्त करारोपण से अनुमानित आय ९३ करोड़ रु० थी तथा पूर्ण वर्ष में इससे प्राप्त आय १०७ करोड़ रु० अनुमानित थी। बाद में दी हुई रियायतों तथा इस बात को ध्यान में रखते हुये कि सम्पत्ति-कर तथा रेलवे यात्री कर से अनुमानित आय प्रारम्भ में अनुमानित राशि से कम हुई थी, अतिरिक्त करारोपण से प्राप्त आय लगभग ७३ करोड़ रु० थी तथा पूर्ण वर्ष की आय ८५ करोड़ रु० थी। १९५८-५९ के बजट में प्रस्तावित कर सम्बन्धी परिवर्तनों से कोई विशेष अन्तर नहीं हुआ। उपहार कर, मृत्यु कर तथा सीमेन्ट पर बढ़े हुये उत्पादन कर आदि से हुई प्राप्ति सूती वस्त्रों के उत्पादन कर में की गई कमी से लुप्त हो गई। १९५९-६० की स्थिति भी बहुत कुछ इसी समान है और कर-प्रस्तावों से केवल २६·०७ करोड़ रुपयों की प्राप्ति आँकी जाती है; राज्यों को उत्पादन करों में मिलने वाले हिस्से को छोड़कर केन्द्रीय बजट से २३.२५ करोड़ रुपये प्राप्त होंगे"।

पाँच वर्षों के समय में केन्द्र द्वारा प्रस्तावित अतिरिक्त करारोपण से कुल आय का अनुमान लगभग ७२५ करोड़ रु० है। योजना में प्रारम्भ में प्रस्तावित लक्ष्य (२२५ करोड़ रु०) की तुलना में यह राशि ५०० करोड़ रु० अधिक है। यह आय संगठित-कर-व्यवस्था (integrated tax structure) द्वारा प्राप्त की जायगी जिसके अन्तर्गत (i) अनेक नये कर (उदाहरणार्थ सम्पत्ति कर तथा व्यय कर लगाये गये हैं), (ii) वर्तमान करों की दरें बढ़ा दी गई हैं, (iii) भूतकाल की अपेक्षा अप्रत्यक्ष करों से, जो स्वभावतः ही प्रतिगामी होते हैं, अधिक आय प्राप्त की गई है। इस प्रकार योजना के अर्थ प्रबन्धन के लिये यथासम्भव आय प्राप्त करने के हेतु प्रगामी तथा प्रतिगामी दोनों ही प्रकार के कर लगाये गये हैं।

नये-कर

पूँजी-लाभ कर (Capital Gains Tax)—३० नवम्बर, १९५६ के तत्कालीन वित्त मंत्री श्री टी० टी० कृष्णमाचारी ने लोक-सभा में पूँजी लाभ कर को पुनः लागू करने की घोषणा की। यह कर उन लाभों पर लगेगा जो पहली अप्रैल,

१६५६ को या उसके बाद प्राप्त हुये हों। छूट की सीमा ५,००० रु० निर्धारित की गई है किन्तु यह भी व्यवस्था है कि "यदि कुल योग, पूँजी लाभ को सम्मिलित करते हुये, १०,००० रु० से अधिक न हो तो पूँजी-लाभ कर नहीं लगेगा"। कर वसूल करने की दर इस प्रकार निकाली जाती है कि पूंजी-लाभ-कर का एक-तिहाई अन्य आय में जोड़ दिया जाता है तथा उस समय चालू आय-कर की दर वसूली जाती है।

यह नया कर उस पूँजी लाभ कर से बिल्कुल भिन्न है जो पहली अप्रैल, १६४६ से ३१ मार्च १६४८ तक लागू था। (i) पुराने कर में छूट की सीमा १५,००० रु० थी जबकि नये कर में सिर्फ ५,००० रु० है; (ii) पुराने कर में कुछ छूट की व्यवस्था थी, लेकिन नये कर में इनको हटा कर क्षेत्र बढ़ा दिया गया है; (iii) पुराने कर में दर खण्ड प्रणाली पर थी और एक रुपये में एक आना से पाँच आना तक थी जब कि नये कर में ऊँची दर लागू की गई है क्योंकि पूँजी लाभ पर भी वही दर है जो कि करदाता की अन्य आय पर है।

इस कर के समर्थन में यह कहा जाता है कि (अ) सरकार को विकास कार्य और अन्य कार्यों के लिए अधिक राजस्व की आवश्यकता है और इसके लिए सब साधनों का प्रयोग करना चाहिये, तथा (ब) जैसा कि काल्डॉर रिपोर्ट ने कहा है, आय का सही विचार वह है जो कि सभी प्राप्त लाभ को एक दृष्टि से देखे। इसलिए आय में पूंजी लाभ को भी शामिल करना चाहिये।

लेकिन इसके विपक्ष में यह कहा जाता है कि (१) यह कर विनियोग तथा कम्पनी के हिस्सों में तथा अन्य सम्पत्ति के स्वतन्त्र विक्रय में बाधा डालता है, जो कि पूँजीवाद की सुचारु गति के लिए आवश्यक है। इस प्रकार का कर पूँजी-सम्पत्ति के व्यापार में व्याकर्षण (distortion) लाता है क्योंकि पूँजी लाभ के समय में उन्हें बेचने में हिचक होगी और हानि होने पर इन्हें बेचने के लिये प्रेरणा मिलेगी। (२) कर-जाँच आयोग ने ठीक ही बताया है कि इस कर के लागू करने से कर से बचने की प्रवृत्ति को बल मिलेगा तथा लोग अन्यथा कर देय आय को पूँजी लाभ के रूप में दिखाने की कोशिश करेंगे। (३) इस कर से प्राप्त राजस्व इतना कम है कि यह कर उत्पन्न जटिलताओं का समर्थन नहीं करता।

सम्पदा-कर (Estate Duty)—यह सन् १६५३ में भारत में लागू किया गया था। सम्पदा कर उत्परिवर्तन (mutation) कर है जो कि सम्पत्ति के मूल्य के अनुसार उस समय लगाया जाता है जब सम्पत्ति एक व्यक्ति की मृत्यु पर दूसरे के हाथ में जाती है। इसमें इस बात पर विचार नहीं किया जाता कि सम्पत्ति किस व्यक्ति के हाथ में जा रही है। १५ अक्टूबर, १६५३ को सम्पदा कर

सम्पूर्ण सम्पत्ति पर, चाहे वह वास्तविक हो या वैयक्तिक, व्यवस्थापित हो या अव्यवस्थापित, जो किसी व्यक्ति की मृत्यु पर एक हाथ से दूसरे हाथ में जाती है, लगाया जायेगा। अधिनियम में सम्पत्ति की विस्तृत परिभाषा दी गई है और कुछ अपवाद स्वीकार किए गए हैं : (१) सार्वजनिक धर्मार्थ उपहार जो कि मृत्यु से ६ महीने के अन्दर दिये गये हों और जब २५०० रुपये तक के हों। (२) या अन्य उपहार जो दो वर्ष के अन्दर दिया गया हो और १५०० रुपये तक का हो। (३) बीमा आय जो कि सम्पदा कर देने के लिए हो और सरकार के नाम कर दी गई हो, परन्तु यह ५०,००० रु० से अधिक न होनी चाहिये। (४) मरने वाले व्यक्ति की बीमा से ५००० रु० तक की आय।

कुछ शर्तों के पूरे होने पर मृत्यु से ६ महीने के पहले किए गए सार्वजनिक धर्मार्थ उपहार और दो वर्ष से पहले दिये गये अन्य उपहार, कर से मुक्त हैं। यह कर केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों के लाभ के लिए लगाया जाता है और उसकी वास्तविक आय राज्यों में बाँट दी जाती है। कृषि सम्पत्ति पर यदि उचित अधिनियम पास हो चुका हो तो राज्यों में यह कर लगाया जा सकता है। कर की दर ५ प्रतिशत से (५०,००० रुपये के प्रथम खण्ड पर जो कोई कर नहीं देता) ४० प्रतिशत तक है। यह दर संयुक्त हिन्दू परिवार के लिये है जो मिताक्षर, मरुमकट्टयम या अलीयासन्तना के नियम से संचालित हैं। अन्य परिवारों के लिये यह दर ७½% प्रतिशत से (एक लाख के प्रथम खण्ड जिस पर पर कोई कर नहीं है) ४० प्रतिशत तक है। ४० प्रतिशत की अधिकतम दर दोनों ही स्थितियों में सम्पत्ति के ५०,००,००० रु० से अधिक होने पर पहुँचती है। शीघ्र क्रम में मृत्यु होने पर अधिनियम छूट भी देता है। सम्पदा कर से कुल आय १९५४-५५ में ८१ लाख रुपये, १९५५-५६ में १·८१ करोड़ रुपये, १९५६-५७ में २·११ करोड़ रुपये, १९५७-५८ में २·३१ करोड़ रुपये, १९५८-५९ (संशोधित) में २·५ करोड़ रु० और १९५९-६० (बजट) में २·८५ करोड़ रुपये बहुत ही कम है।

यह कर इन कारणों से लगाया गया था कि (अ) कर देयता आय पर ही नहीं वरन् व्यक्ति के धन और सम्पत्ति पर भी निर्भर है जो मृत्यु होने से अनायास प्राप्त होती है। अतएव उस पर कर लगाना चाहिये। (ब) यह कर आय और सम्पत्ति की असमानताओं को दूर करता है जो कल्याणकारी राज्य (welfare state) में आवश्यक है। (स) सरकार को विकास कार्यों के लिए अतिरिक्त राजस्व की आवश्यकता है।

सम्पदा कर के निम्न दोष हैं : (१) यह बचत और पूँजी संचय को कम

करता है। (२) जीवित व्यक्तियों से दिये गये उपहार द्वारा कर से बचने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देता है। इन कमियों को पूरा करने के लिए और इससे प्राप्त आय को अधिक करने के लिए १९५८-५९ के बजट में सुझाव दिया गया था कि (अ) कर मुक्त सीमा एक लाख रुपये से घटाकर ५० हजार रुपये कर देनी चाहिए, (ब) अप्रैल, १९५८ के बाद में होने वाली मृत्यु के सम्बन्ध में समय (अवधि) दो साल से पाँच साल कर देना चाहिए ताकि मृत्यु के पाँच वर्ष पूर्व तक जीवित व्यक्तियों को दिये गये उपहारों पर सम्पदा कर लगाया जा सके। यदि संसद ने इन सुझावों को मान लिया तो सम्पदा कर से आय बढ़ जायगी।

उपहार कर—यह कर भारत में पहली अप्रैल, १९५८ से लागू किया गया। सम्पत्ति का उपहारों द्वारा अपने निकट सम्बन्धी के लिए या परिचित के लिए हस्तान्तरण सम्पदा-कर, आय-कर, सम्पत्ति-कर और व्यय कर से बचने का अत्यधिक सामान्य रूप है। इसे प्रभावपूर्ण ढंग से केवल उपहारों पर कर लगा कर ही रोका जा सकता है। इस कर को लगाने का मुख्य उद्देश्य भारतीय कर-प्रणाली के छिद्रों को बन्द करना है। उपहार कर डा० कॉल्डार के प्रस्ताव से कुछ भिन्न रूप में लागू किया गया है।

उपहार कर व्यक्तियों से, संयुक्त हिन्दू परिवारों से, कम्पनियों, फर्म या व्यक्तियों के संगठन से पिछले वर्ष में कर-देय उपहारों पर लगाया जाता है। अधिनियम के अंतर्गत प्रथम कर निर्धारण में अर्थात १९५८-५९ के लिए उपहार कर उन उपहारों पर लागू होगा जो पहली अप्रैल, १९५७ या उसके बाद दिये गए हैं। कर-देय उपहार का मूल्य पता लगाने के लिये पिछले वर्ष में दिये गए कुल उपहारों के मूल्य से कर मुक्त उपहारों के मूल्य को, जिनकी सूची सेक्शन ५ (१) में दी गई है, घटा दिया जाता है। यदि पिछले वर्ष में घटाने पर शेष दस हजार से अधिक हो, तो इस अधिक राशि पर उपहार देने वाले को कर देना पड़ेगा। कर की दर ५०,००० रु० के प्रथम खण्ड पर ४ प्रतिशत है तथा पचास लाख रुपये से अधिक के उपहारों पर ४० प्रतिशत है। उपहार कर की आय १९५८-५९ में (संशोधित) में १·२० करोड़ रुपया और १९५९-६० (बजट) में भी उतनी ही होने की आशा है।

सम्पत्ति कर (Wealth Tax)—सम्पत्ति कर व्यक्तियों पर, अविभाजित हिन्दू परिवार और कम्पनियों पर उनकी 'वास्तविक' सम्पत्ति पर एक अप्रैल, १९५७ से लागू किया गया। अधिनियम की परिभाषा के अनुसार वास्तविक सम्पत्ति मूल्यन तिथि पर ऋण भार के अतिरिक्त शेष सम्पत्ति का मूल्य है। निम्न वस्तुयें कर-मुक्त हैं : (अ) करदाता का निजी मकान; (ब) लकड़ी का सामान, घरेलू बर्तन,

पहनने वाले कपड़े और अन्य निजी सामान; (स) करदाता के २५ हजार रु० तक के जेवरात। बैंकिंग, बीमा, विनियोग तथा कुछ कम्पनियाँ इस कर से मुक्त हैं।

सम्पत्ति कर की दर (१) व्यक्तियों के लिये दस लाख रु० के द्वितीय खण्ड पर ½ प्रतिशत से लेकर (जबकि प्रथम २ लाख रुपये के खण्ड पर छूट है) २२ लाख रुपये की वास्तविक सम्पत्ति पर १½ प्रतिशत है; (२) हिन्दू अविभाजित परिवार के लिये यह दर वास्तविक सम्पत्ति के ६ लाख के दूसरे खण्ड पर ½ प्रतिशत (पहले ४ लाख के खण्ड पर कोई कर नहीं है) तथा वास्तविक सम्पत्ति के २३ लाख से अधिक होने पर १½ प्रतिशत है; (३) कम्पनियों पर ½ प्रतिशत जब वास्तविक सम्पत्ति ५ लाख से अधिक हो (५ लाख के प्रथम खण्ड पर कोई कर नहीं है)। इस कर से १९५७-५८ में ७·०४ करोड़ रुपये की आय थी, १९५८-५९ (संशोधित) में दस करोड़ रुपए की आय होने की आशा है, और १९५९-६० (बजट) में १३ करोड़ रु० की।

सम्पत्ति कर के पक्ष में तर्क है कि (अ) सम्पत्ति व्यक्ति की करदेयता को बढ़ाती है और यह उचित ही है कि सम्पत्ति पर कर लगाया जाये, (ब) कल्याणकार्य राज्य में सम्पत्ति सम्बन्धी असमानताओं को दूर करने का उद्देश्य होना चाहिए और यह कर इस कार्य के लिये बहुत उपयुक्त है, (स) सरकार को द्वितीय योजना के लिये धन की आवश्यकता है और इसके लिए प्रत्येक साधन का उपयोग करना चाहिये।

सम्पत्ति कर के विपक्ष में यह कहा जाता है कि (क) यह बचत और पूँजी संचय को कम करता है जो कि देश के औद्योगीकरण में बाधा डालता है और यह आर्थिक दृष्टि से भारत जैसे अविकसित देश के लिये बहुत बुरा है। (ख) यह करदाता और आय-कर अधिकारियों में इन्टरप्रेटेशन की कठिनाई और बहुत से अन्तर उत्पन्न कर इतना अधिक असन्तोष और उत्पीड़न बढ़ाता है और इससे इतना कम राजस्व मिलता है कि इसको छोड़ देना ही उचित है। (ग) कम्पनियों से आधा (½) प्रतिशत कर की दर होते हुए और नई कम्पनियों को पाँच साल तक छूट देने पर भी सम्पत्ति-कर सफल सम्पत्ति (assets) के भी उचित नियोजन तथा संयुक्त पूँजी कम्पनियों द्वारा नई कम्पनियाँ के बनाने में बाधक है। यह भारत को औद्योगिक उन्नति से रोकता है और इस प्रकार द्वितीय पंचवर्षीय योजना के एक बहुत ही मुख्य उद्देश्य का हनन करता है।

व्यय-कर—व्यय कर अधिनियम १९५६, जम्मू और काश्मीर को छोड़कर सारे भारत में पहली अप्रैल, १९५८ से लागू हुआ। इसलिये कर वसूल करने का पहला वर्ष १९५८-५९ था। व्यय-कर केवल व्यक्तियों और हिन्दू अविभाजित परिवारों पर लगेगा। अन्य, जैसे कम्पनियाँ, फर्म या व्यक्तियों के संघ आदि जो कि

आय कर देते हैं उन पर यह कर नहीं लगेगा। व्यक्ति या हिन्दू अविभाजित परिवारों को भी आय-कर देने के पश्चात किसी वर्ष में व्यय-योग्य आय के ३६००० रु० से अधिक होने पर ही कर देना पड़ेगा।

कर योग्य व्यय में कुछ अपवाद भी हैं जो कि व्यय-कर अधिनियम के वर्ग ५ में वर्णित हैं जिसमें व्यापारिक खर्च, सम्पत्ति पर खर्च, विनियोग के भुगतान, उपहार, बीमा प्रव्याजि आदि आदि सम्मिलित हैं। छूट रहित व्यय में से भी कुछ रकम घटाई जायेगी जो कि वर्ग ६ में वर्णित है जिसमें सबसे मुख्य ३०,००० रु० का आधारभूत अधिदेय तथा अविभाजित हिन्दू परिवार में (परिवार के कर्ता को छोड़कर) प्रत्येक साझेदार के लिये ३००० रु० की अतिरिक्त अधिदेय है। अन्य घटाई जाने वाली रकमों में निम्न आती हैं : दिये हुये कर, प्रत्येक आश्रित के विवाह में अधिक से अधिक ५००० रु० का व्यय, माता-पिता के लिये ४००० रु० का भरण-पोषण अधिदेय, ५००० रु० तक का डाक्टर खर्चे का अधिकतम अधिदेय, विदेशी शिक्षा पर अधिक से अधिक ८००० रु० का अधिदेय, आदि आदि। व्यय-कर अधिनियम के अन्तर्गत वर्ग ५ में दी गई छूटों को न गिन कर और वर्ग ६ में घटाई जाने वाली रकमों को घटा कर ही करदेय व्यय का पता लगाया जा सकता है। इस करदेय पर ही व्यय-कर लगाया जायेगा। अधिनियम के अनुसार कर की दर प्रथम १०,००० रु० करदेय व्यय पर १० प्रतिशत से लेकर ५०,००० रुपये से अधिक करदेय व्यय पर शत प्रतिशत है।

इस कर के पक्ष में निम्न तर्क हैं : (१) जैसा कि प्रोफेसर कॉल्डार ने बताया है, कर में समता निर्धारण करने के लिये आय या सम्पत्ति की असमानता की तुलना में, जिस पर आय-कर तथा सुपर-टैक्स आधारित हैं, व्यय-कर अधिक उपयुक्त है क्योंकि यह उपभोग की असमानताओं को दृष्टि में रखता है। (२) यह बचत को बढ़ाता है क्योंकि जो व्यय किया जाता है उसी पर कर देना पड़ता है, इसलिये यह कर भारत के औद्योगिक विकास में सहायता पहुँचायेगा। (३) यह कर अपवंचन या धोखे से कर से बचने की प्रवृत्ति को रोकेगा क्योंकि कर-प्रणाली अधिक संगठित हो जायगी और कर अधिकारियों का अधिक विस्तृत क्षेत्र पर जाल सा फैल जायेगा।

जिस रूप में व्यय-कर भारत में लगाया गया है, उसके रूप में उसके विपक्ष में निम्न बातें हैं : (i) आय-कर देने वाली जनसंख्या में से थोड़े से ही लोगों द्वारा व्यय-कर दिया जायेगा। सरकार ने आय-कर तथा सुपर-टैक्स की अधिकतम दर को सात आना प्रति रुपया नहीं किया अर्थात ४५% से कम नहीं किया जैसा कि डॉक्टर कॉल्डार ने सुझाव दिया था। अनर्जित आय पर अधिकतम दर ८४%

तथा अर्जित आय पर ७७% है। अप्रत्यक्ष करों (जैसे कि उत्पादन-कर, आयात कर, बिक्री कर आदि) को भी कम नहीं किया है। ऐसी दशा में व्यय-कर देने वाले सीमित वर्ग पर बहुत अधिक भार हो जायेगा। इसलिये यह कर अनुचित है। (ii) यदि यह मान लिया जाय कि व्यय-कर बचत को बढ़ावा देता है, तो यह बढ़ावा धनी वर्ग के ही लिये होगा, निर्धनों के लिये नहीं और जैसा कि प्रोफेसर कॉल्डार ने बताया है, यह बड़े लोगों की धन-राशि के संचय में ही वृद्धि करता है। यह कल्याणकारी राज्य के उद्देश्यों के अनुकूल नहीं है। (iii) यह कर उन लोगों को, जिनको कि कर-अधिकारियों को सन्तुष्ट रखने के लिए सही हिसाब रखना पड़ेगा, बड़ी कठिनाइयाँ उत्पन्न करेगा तथा इससे शासन सम्बन्धी बहुत सी समस्यायें उत्पन्न होंगी। यह कर अधिक असन्तोष उत्पन्न करेगा। इससे उपलब्ध अतिरिक्त राजस्व—१६५८-५६ (संशोधित) में एक करोड़ रुपए और १६५६-६० (बजट) में भी वही रकम—इस कष्ट को न्याय-संगत सिद्ध नहीं करता।

आय (Revenues)

केन्द्रीय सरकार की आय के प्रमुख साधन आय-कर, आयात-निर्यात कर, केन्द्रीय उत्पादन कर तथा व्यापारिक सेवायें हैं। इनमें से कुछ केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूले जाते हैं तथा संघ और राज्यों के बीच में बाँट दिये जाते हैं। भूतकाल में आय-कर तथा जूट-निर्यात-कर संघ और राज्यों के बीच बाँटे जाते थे किन्तु अब आय-कर तथा कुछ केन्द्रीय उत्पादन-कर बाँटे जाते हैं। व्यापारिक सेवाओं से केन्द्रीय सरकार को रेलवे, डाक-तार विभाग तथा रिजर्व बैंक के लाभ के रूप में आय प्राप्त होती है।

आय-कर—आय-कर केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाया और वसूला जाता है तथा भारतीय कर-व्यवस्था में इसका विशेष महत्त्व है। केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये अन्य कर अधिकांशतः अप्रत्यक्ष हैं तथा गरीबों पर अधिक पड़ते हैं किन्तु आय-कर का भार धनी वर्ग पर अधिक पड़ता है। यह कर-देय क्षमता के आधार पर लगाया जाता है। इसका अर्थ यह है कि यह कर भार-वहन करने योग्य कन्धों पर पड़ता है। आयात-निर्यात तथा केन्द्रीय उत्पादन-कर जैसे अप्रत्यक्ष कर उपभोग के अनुसार देने पड़ते हैं अतएव इसका भार धनी वर्ग पर डालना उतना सरल नहीं है। इसके विपरीत आय-कर प्रगामी बनाया जा सकता है। आय की एक निम्नतम सीमा को कर से छूट दी जा सकती है तथा शेष आय पर कर प्रगामी दर से लगाया जा सकता है तथा एक सीमा के बाद अधिकर (supertax) लगाया जा सकता है।

इस प्रकार सर्वाधिक आय वाले व्यक्तियों की आय का अधिकांश केन्द्रीय सरकार स्वयं ले लेती है और अर्जन करने वाले के पास उपभोग के लिए अपेक्षाकृत कम अंश बचा रहता है। आय-कर राजस्व का लचीला साधन है क्योंकि जनता की आय में वृद्धि होने के साथ ही सरकार की आय में भी वृद्धि होती है और जनता की आय में कमी होने के साथ ही सरकार की आय में भी कमी हो जाती है। आर्थिक समृद्धि के समय सरकार की आय-कर से आमदनी बढ़ती है और मंदी के समय यह आमदनी स्वयं गिर जाती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, आय-कर की आमदनी केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों में बाँटी जाती है और इसका उपयोग सन्तुलन स्थापित करने वाले साधन के रूप में किया जाता है।

आवश्यकतानुसार आय-कर को कम या अधिक प्रगतिशील बनाने के लिये आय-कर और सुपर-टैक्स की दर में परिवर्तन किया जा सकता है, और आय-खण्डों का भी पुनर्संगठन किया जा सकता है। एक निश्चित न्यूनतम आय पर कर नहीं लगाया जाता। यह न्यूनतम सीमा समय-समय पर बदली गई है और साथ ही व्यक्तियों तथा कम्पनियों पर लागू आय-कर और सुपर टैक्स की संयुक्त दर में भी परिवर्तन किये गये हैं।

विवाहित व्यक्ति जिसकी कुल आय २०,००० रु० से अधिक न हो

	जब कि व्यक्ति पर पूर्णतः या अंशतः निर्भर कोई बच्चा न हो	जब कि व्यक्ति पर पूर्णतः या अंशतः निर्भर एक बच्चा हो	जब कि व्यक्ति पर पूर्णतः या अंशतः एक से अधिक बच्चा निर्भर हो	कर की दर
	रु०	रु०	रु०	
पहले	३,०००	३,३००	३,६००	—
दूसरे	२,०००	१,७००	१,४००	३%
तीसरे	२,५००	२,५००	२,५००	६%
चौथे	२,५००	२,५००	२,५००	६%
पाँचवें	२,५००	२,५००	२,५००	११%
छठें	२,५००	२,५००	२,५००	१४%
सातवें	५,०००	५,०००	५,०००	१८%

आयकर पर अधिभार—यदि कुल आय ७५०० रु० से अधिक न हो तो कोई अधिभार नहीं लगता। जब आय ७,५०० रु० से अधिक हो, तो ऊपर बताई हुई दरों के अनुसार जितना भी आय-कर हो, उस पर ५% के हिसाब से अधिभार

लगेगा। यह अधिभार केन्द्र के लिये होगा। कुल आय ७५०० रु० से जितनी अधिक होगी, अधिभार उसके आधे से अधिक नहीं होगा।

अधि-कर (Super·Tax)—२०,००० रु० से अधिक की आय पर ही अधि-कर लगता है।

अविवाहित व्यक्ति जिसकी आय २०,००० रु० से अधिक न हो

पहले	रु० १,०००	—
दूसरे	रु० ४,०००	३%
तीसरे	रु० २,५००	६%
चौथे	रु० २,५००	९%
पाँचवें	रु० २,५००	११%
छठें	रु० २,५००	१४%
सातवें	रु० ५,०००	१८%

३००० रु० से आय जितनी अधिक होगी, कर उसके आधे से अधिक नहीं होगा।

आयकर पर अधिभार—यदि आय ७५०० रु० से अधिक न हो तो कोई अधिभार नहीं लगता। जब आय ७५०० रु० से अधिक हो तो ऊपर बताई हुई दरों के अनुसार, जितना भी आयकर हो, उस पर ५% के हिसाब से अधिभार लगेगा। यह अधिभार केन्द्र के लिये होगा। कुल आय ७५०० रु० से जितनी अधिक होगी, अधिभार उसके आधे से अधिक नहीं होगा।

अधिकर—२०,००० रु० से अधिक की आय पर कोई अधिकर नहीं लगेगा।

वे व्यक्ति जिनकी आय २०,००० रु० से अधिक है (चाहे विवाहित हों या अविवाहित, चाहे सन्तान वाले हों या निःसन्तान)

आयकर की दर

पहले	१,००० रु० पर	—
दूसरे	४,००० रु० पर	३%
तीसरे	२,५०० रु० पर	६%
चौथे	२,५०० रु० पर	९%
पाँचवें	२,५०० रु० पर	११%
छठें	२,५०० रु० पर	१४%
सातवें	५,००० रु० पर	१८%
२०,००० रु० से अधिक अंश पर		२५%

आय कर पर अधिभार—संघ के लिये आय-कर की राशि पर ५% की दर से अधिभार लगेगा। १ लाख से अधिक आय होने पर केन्द्र के लिये एक और अधिभार लगेगा जो कुल आय पर लगे आय-कर तथा १ लाख रु० पर लगे आय-कर के अन्तर के ५% के बराबर होगा।

अधि-कर की दरें

पहले	२०,००० रु० पर	—
दूसरे	५,००० रु० पर	५%
तीसरे	५,००० रु० पर	१५%
चौथे	१०,००० रु० पर	२०%
पाँचवें	१०,००० रु० पर	३०%
छठें	१०,००० रु० पर	३५%
सातवें	१०,००० रु० पर	४०%
७०,००० रु० से अधिक आय पर		४५%

अधिकर पर अधिभार—अधिभार निम्न के कुल जोड़ के बराबर लगाया जायेगा :

(१) अधि-कर का ५ प्रतिशत।

(२) कुल आय के अधिकर तथा १ लाख रु० की आय के अधिकर के अन्तर का ५%। यह अधिभार संघ के लिये होगा।

उपर्युक्त दशाओं में, बीमें की किस्त पर दी गई छूट, कर्मचारी द्वारा प्राविडेन्ट-फन्ड के लिए दिये गये अंश-दान पर आय कर के लिये औसत दर से कर लगेगा। यह कर वेतन के चौथाई भाग अथवा ८,००० रु० पर में जो भी कम हो, लगेगा। विवाहित व्यक्तियों तथा आश्रितों के लिये दी गई छूट पूरे वर्ष के लिये दी जा सकती है बशर्ते कि यह दशा वर्ष के अन्तिम दिन लागू हो।

कम्पनियों के लिये १९५७-५८ के बजट में आय-कर की दर कुल आय के लिये २५% से बढ़कर ३०% कर दी गई तथा निगम कर (अधिकर) की दर १७ से २० प्रतिशत कर दी गई।

१९५७-५८ के बजट में आय-कर की छूट की सीमा व्यक्तियों के लिये ४२०० रु० प्रति वर्ष से घटा कर ३००० रु० तथा अविभाजित हिन्दू परिवारों के लिये ८४०० रुपया प्रति वर्ष से घटा कर ६००० रुपया कर दी गई। अब बच्चों के लिये रियायत की जाती है, अतएव उस विवाहित व्यक्ति के लिये जिसके एक

सन्तान हो आय कर से मुक्त आय की सीमा ३३०० रुपया प्रति वर्ष, तथा एक से अधिक सन्तान वाले व्यक्ति के लिये ३६०० रु० प्रति वर्ष है।

१००० रु० के प्रथम खण्ड पर कर की निम्नतम दर ३% है तथा अर्जित तथा अनर्जित आय पर आयकर व अधिकर (१ लाख रु० से अधिक आय पर अधिकर भी सम्मिलित है) की सम्मिलित अधिकतम दर क्रमशः ७७% व ८४% है। १९५६-५७ तक अर्जित आय पर छूट दी जाती थी जो वेतन का २०% या अधिक से अधिक ४००० रु० होती थी। यह छूट अब नहीं दी जाती है और अर्जित तथा अनर्जित आय पर कर की एक ही दर लागू है। किन्तु अनर्जित आय पर अब भी अधिक दर से कर लगता है क्योंकि उस पर १५% का विशेष अधिभार देना पड़ता है।

पिछले कुछ वर्षों में भारतीय आयकर व्यवस्था में अनेक परिवर्तन हुए हैं परन्तु सबसे महत्वपूर्ण परिवर्तन १ अप्रैल, १९३९ में हुआ जबकि आयकर निर्धारित करने के लिये आय को निश्चित खण्डों में विभाजित कर दिया गया और प्रत्येक खण्ड के लिये आयकर की दर निर्धारित कर दी गई। पहली प्रणाली (step system) के अनुसार एक निश्चित न्यूनतम रकम को आयकर से छूट दी गई थी परन्तु इस सीमा से अधिक आय होने पर पूरी आय पर आयकर की ऊँची दर लागू कर दी जाती थी। इस प्रणाली के अनुसार उदाहरण के रूप में ५,००० रुपये की आय पर आयकर की तब की दर के अनुसार ३·४ प्रतिशत कर देना पड़ता था परन्तु ५,३३३ रुपया आय पर पूरी आय का ५·१ प्रतिशत आयकर देना पड़ता था। इसी प्रकार १०,००० रुपया आय पर ५·१ प्रतिशत की दर से आयकर दिया जाता था परन्तु १०,६०० रुपया आय पर कुल आय का ६·८ प्रतिशत आयकर चुकाना पड़ता था। इससे स्पष्ट है कि आयकर की दर में वृद्धि क्रमशः न होकर एकदम हो जाती थी। यदि किसी व्यक्ति की आय पहली श्रेणी की आय से कुछ भी अधिक बढ़ी तो अपनी कुल आय पर दूसरी श्रेणी की कर की अधिकतम दर के हिसाब से उसे कर देना पड़ता था। यह बहुत अनुचित व्यवहार था। इसके साथ ही इस प्रणाली से कुछ भ्रष्टाचार भी फैला। करदाता निम्न आय की श्रेणी के अन्तर्गत रहने के लिये प्रायः अधिक हानि तथा वसूल न होनेवाले ऋण (bad debt) बताया करते थे और आयकर अधिकारी उन्हें निम्न आय की श्रेणी से दूसरी श्रेणी में लाने के लिए प्रयत्न करते थे। इस प्रणाली से उन लोगों को भारी क्षति उठानी पड़ती थी जिनकी आय दो श्रेणियों के लगभग मध्य में होती थी। नई खण्ड प्रणाली (Slab System) के अन्तर्गत यह दोष दूर कर दिये गये और ५,००० रुपये आय पर कर की तब की दर के अनुसार ३·३ प्रतिशत आयकर

होता है जबकि ५,३३३ रुपया आय पर ३.६ प्रतिशत आय कर होता है। इसी प्रकार १०,००० रुपये की आय पर ५.६ प्रतिशत आयकर होता है जबकि १०,६०० रुपये की आय पर आय की दर ६ प्रतिशत होगी। इससे आयकर प्रणाली अधिक न्यायसंगत हो गयी है और आयकर की दर में अकस्मात परिवर्तन होने का दोष समाप्त हो गया है।

युद्ध काल में आयकर में वृद्धि की गई। नवम्बर, १९४० से सभी आयकरों पर जिनमें कार्पोरेशन कर भी शामिल है २५ प्रतिशत सरचार्ज लागू किया गया। यह सरचार्ज क्रमशः ६६⅔ प्रतिशत तक बढ़ा दिया गया। इसके अतिरिक्त १९४० में अतिरिक्त लाभ कर (Excess Profits Tax) लागू किया गया। यह कर पहली नवम्बर, १९३९ के बाद ३६,००० रुपये से अधिक अतिरिक्त लाभ पर ५० प्रतिशत की दर से लगाया गया। यह दर क्रमशः ६६⅔ प्रतिशत तक बढ़ा दी गई। इसके परिणामस्वरूप आयकर और कार्पोरेशन कर की आय १९४४-४५ में १९१½ करोड़ तक बढ़ गई जबकि १९३८-३९ में यह केवल १७½ करोड़ थी। कर की दर में वृद्धि होने से कुल आय में विशेष वृद्धि नहीं हुई। इस वृद्धि का वास्तविक कारण अतिरिक्त लाभकर की आय थी। कुल १९१½ करोड़ रुपये की आय में ९२ करोड़ रुपया अतिरिक्त लाभ कर की आय का था। इतना अधिक कर और विशेषकर अतिरिक्त लाभ कर उद्योगों की कर भार वहन करने की क्षमता से अधिक था। इसके बाद के वर्षों में सरकार का सदा यह प्रयत्न रहा है कि प्रत्यक्ष-कर उस सीमा तक कम किया जाय जो उद्योगों को भार वहन करने की क्षमता से अधिक न हो। इसके परिणाम स्वरूप १९४४-४५ में आयकर करों की कुल आय का ६८.१ प्रतिशत था जो १९४८-४९ में गिरकर ५१.५ प्रतिशत और १९५३-५४ में ३९.२ प्रतिशत हो गया।

१९४६-४७ में ३½ लाख रुपये से अधिक की अनर्जित आय (unearned income) पर और ५ लाख से अधिक अर्जित आय (earned income) पर कर तथा सुपर टैक्स की संयुक्त दर १५⅜ आना प्रति रुपया थी। १९४७-४८ के लियाकत अली खाँ बजट में आय के उन खण्डों का पुनःसंगठन किया गया जिन पर सुपर टैक्स लगाने का विचार था जिससे सुपर टैक्स अधिक प्रगतिशील हो जाय। १९४६-४७ की १५⅜ आना प्रति रुपया संयुक्त दर ३½ लाख रुपया अनर्जित आय और ५ लाख रुपया अर्जित आय पर वसूल की जाती थी जो १९४७-४८ के बजट में क्रमशः १.२ लाख रुपये और १.५ लाख रुपये की आय पर वसूल की गई। अतिरिक्त लाभ कर पहली अप्रैल, १९४७ से रद्द कर दिया गया। लियाकत अली खाँ के बजट में इसके स्थान पर व्यापार-लाभ कर (Business Profits

Tax) लागू किया गया। यह व्यवस्था की गई कि एक लाख से अधिक व्यापार लाभ पर या कुल लगी पूँजी के ६ प्रतिशत के बराबर या इन दोनों में जो अधिक रकम हो उस पर व्यापार-लाभ कर १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत की दर से लगाया जाय। इसके अतिरिक्त इमारतों तथा शेयरों इत्यादि की कीमतों में १५,००० से अधिक वृद्धि (capital gains) होने पर भी कर (Capital Gains Tax) लागू किया गया। पिछले वर्षों में भारत सरकार ने प्रयत्न करों को क्रमशः कम करने की नीति अपना रखी थी परन्तु प्रत्यक्ष करों का स्तर बढ़ा देने से सारी व्यवस्था उलट गई। इससे उद्योगों को भारी क्षति पहुँची और बचत तथा विनियोग भी कम हो गया। परन्तु सौभाग्य से यह स्थिति अल्पकालिक रही और १९४८-४९ के बजट में सुपर टैक्स लागू करने के लिये आय-खण्डों को पुनःसंगठित किया गया जिससे १$\frac{1}{2}$ लाख रुपये की अर्जित और अनर्जित आय पर आय कर की अधिकतम संयुक्त दर १५$\frac{1}{2}$ आना प्रति रुपया कर दी गयी। व्यापार लाभ कर १६$\frac{2}{3}$ प्रतिशत से घटाकर १० प्रतिशत कर दिया गया और एक लाख रुपये की आय की अपेक्षा अब २ लाख रुपये की आय तक व्यापार लाभ कर से छूट दे दी गई। उद्योगों को अनेक रियायतें भी दी गई और प्रयत्न करों को कम करने की नीति फिर से लागू की गई। व्यापार लाभ कर को १९४९-५० में रद्द कर दिया गया। आय-कर और सुपर-टैक्स के लिए आय के खण्डों का पुनर्संगठन किया गया और सुपर-टैक्स लागू करने के लिए अर्जित और अनर्जित आय का अन्तर समाप्त कर दिया। इसके परिणाम स्वरूप प्रतिवर्ष डेढ़ लाख रुपये से अधिक आय पर अधिकतम संयुक्त कर की दर १२$\frac{1}{2}$ आना प्रति रुपये तक घटा दी गई। इसके पश्चात् स्थिति में विशेष परिवर्तन नहीं किया गया, केवल १९५१-५२ के बजट में आयकर तथा सुपर टैक्स पर ५ प्रतिशत अधिभार लागू किया गया। इसमें कार्पोरेशन कर शामिल नहीं था। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, १९५६-५७ तथा बाद के बजटों में आय-कर के सम्बन्ध में विशेष परिवर्तन हुये।

कर से बचने की प्रवृत्ति—भारत में आय छिपाने की समस्या बहुत गंभीर है। यह अनुमान लगाया गया है कि यदि करदाता पूरा आयकर चुकता कर दे तो उससे सरकार को कुल जितनी आमदनी हो सकती है इस समय उसका केवल ५० प्रतिशत भाग ही वसूल किया जाता है क्योंकि करदाता अपनी असली आय नहीं बताते हैं। इससे सरकार की आय को भारी क्षति पहुँचती है। कर से बचने के कारण यह है कि (१) अधिकतर मनुष्यों की यह तीव्र इच्छा होती है कि सरकार को कर न दिया जाय और अपनी वास्तविक आय न बतायी जाय, (२) जनता कर न देने वालों का विरोध नहीं करती है क्योंकि वह इस प्रश्न के प्रति

सजग नहीं है। आय छिपाना कोई भारी अपराध नहीं समझा जाता है। प्रायः कर्मचारियों को धोखा देने में सफलता की प्रशंसा की जाती है, और (३) आयकर विभाग में पर्याप्त कर्मचारी नहीं हैं और वह उचित रीति से इस समस्या को हल नहीं कर सकते हैं। कर्मचारियों की संख्या बढ़ाने से विभाग का खर्च भी अवश्य बढ़ेगा परन्तु कर की वार्षिक आय में इस खर्च की अपेक्षा कहीं अधिक वृद्धि होगी। यदि आयकर विभाग का प्रसार किया जाय, कर छिपाने वालों के विरुद्ध जनमत संगठित किया जाय और कर छिपाने वाले अपराधियों को उचित दण्ड दिया जाय, तो यह बुराई क्रमशः दूर की जा सकती है।

भारत सरकार ने १९४७ में आयकर जाँच समिति नियुक्त की जिसने १९५३ के अंत तक आय छिपाने वालों के १०३१ मामलों पर विचार किया और अपनी जाँच में लगभग ४६ करोड़ रुपयों से अधिक छिपी आय का पता लगाया। इस छिपी आय पर कर लगाया गया है और इस प्रकार आय छिपाने वालों को दण्डित करके अच्छा उदाहरण दिया गया है। आयोग के काम पर बहुत अधिक व्यय नहीं करना पड़ा है क्योंकि इस जाँच में जितनी कर की रकम वसूल हुई व्यय उससे कम हुआ है। १९४९ में यह व्यय आयोग द्वारा वसूल किये गये आयकर का केवल २·८ प्रतिशत था परन्तु १९५० में घटकर १·७ और १९५१ में ०·६ हो गया। आयकर जाँच आयोग के आलोचकों का कहना है कि इससे उन व्यापारियों को बहुत कठिनाई का सामना करना पड़ा है जिनके मामलों पर आयोग ५ वर्ष से अधिक समय से विचार कर रहा है। व्यापारियों को सभी कागजात और हिसाब-किताब सुरक्षित रखने पड़ते हैं। परन्तु वास्तविक आय छिपाने वाले व्यापारियों के लिए यह उचित ही है और उनकी कठिनाइयों के प्रति कुछ सहानुभूति प्रकट नहीं की जा सकती है। कुछ आलोचकों का मत है कि आयोग के कार्य से उद्योग क्षेत्र में दुविधा फैली है जो देश के उचित औद्योगिक विकास के लिए उपयुक्त नहीं है। परन्तु फिर भी आलोचकों का यह मत उचित नहीं है क्योंकि इस दुविधा और भय का कारण जाँच आयोग नहीं बल्कि स्वयं व्यापारी लोग हैं। आलोचकों का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं है। इसका अर्थ यह है कि कोई न्यायालय नहीं होना चाहिए क्योंकि इससे चोर को भय और दुविधा बनी रहती है। आरम्भ में आयोग ने बड़े-बड़े मामलों पर विचार किया और इनकी समाप्ति के बाद छोटे मामलों पर विचार किया जायगा। जाँच आयोग का कार्य-काल और आगे बढ़ा दिया गया है।

आयात-निर्यात कर और उत्पादन कर—केन्द्रीय सरकार के बजट में आयात-निर्यात कर और केन्द्रीय उत्पादन कर दो प्रमुख अप्रत्यक्ष कर हैं। युद्ध पूर्व

काल में आयात-निर्यात कर की प्रधानता रही है परन्तु युद्ध काल में आयात-निर्यात पर अनेक प्रतिबन्ध लगने के कारण आयात-निर्यात कर का महत्व घट गया और केन्द्रीय उत्पादन कर का महत्त्व बढ़ा। १९४३-४४ में आयात-निर्यात कर से और केन्द्रीय उत्पादन कर से क्रमशः २६·२ और २७·४२ करोड़ रुपये की आय हुई और १९४४-४५ में क्रमशः ३९·७६ और ३८·१४ करोड़ रुपये की आमदनी हुई जबकि १९३८-३९ में केवल ४०·५१ करोड़ और ८·६६ करोड़ रुपये की आमदनी हुई थी। इस प्रकार युद्ध काल में आयात-निर्यात कर और उत्पादन कर का महत्व बराबर हो गया। इसका कारण यह है कि उत्पादन कर की दर में वृद्धि कर दी गई थी और अनेक अतिरिक्त उत्पादन कर लागू किये गये थे। १९४५-४६ में और इसके बाद आयात-निर्यात कर ने फिर से प्रथम स्थान ले लिया। इसका कारण यह है कि इस बीच विदेशी-व्यापार को पुनःसंगठित किया गया है और आयात-निर्यात कर की दर भी बढ़ा दी गई है। आयात-निर्यात कर १९५१-५२ तक निरन्तर बढ़ता गया। १९५१-५२ में इससे २३१·६९ करोड़ रुपये की आमदनी हुई, परन्तु बाद के दो वर्षों से आयात-निर्यात कर से आदमनी गिरी है। १९५१-५२ में उत्पादन कर से ८५·७८ करोड़ रुपये की आमदनी हुई जो १९५३-५४ में बढ़कर ९३·५५ करोड़ रुपया हो गई।

१९५१-५२ में आयात-निर्यात कर से २३२ करोड़ रुपये की आय हुई जब कि १९५०-५१ में केवल १५७ करोड़ रुपये की आय हुई थी। इस वृद्धि का कारण यह है कि आयात किये गये माल की कीमत में वृद्धि हुई और साथ ही निर्यात करों से भी अधिक आमदनी हुई है। १९५३-५४ में आयात-निर्यात कर से केवल १५८$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये प्राप्त हुये क्योंकि निर्यात करों में और विशेषकर जूट के माल पर निर्यात कर में कमी कर दी गई थी। १९५२-५३ में आयात-निर्यात कर से केवल १७३$\frac{3}{4}$ करोड़ रुपये की आमदनी हुई क्योंकि मूँगफली के तेल, कार्डीसीड, निगार सीड और ऊन पर से निर्यात कर हटा दिया गया और इसके साथ ही कपास और जूट के माल पर निर्यात कर में कमी कर दी गई और आयात करों में भी कमी कर दी गई थी। इधर हाल के वर्षों में आयात-निर्यात कर से आय बढ़कर १९५६-५७ में १७३$\frac{3}{4}$ करोड़ रु०, १९५७-५८ (संशोधित) में १८३ करोड़ रु०, १९५८-५९ (बजट) में १७० करोड़ रु० हो गई। अंशतः इसका कारण कुछ करों में वृद्धि, कुछ नये करों का लगना तथा व्यापार के आकार में वृद्धि है। विविध मदों पर से निर्यात कर हटा लेने या कम करने और विदेशी विनिमय संकट के फलस्वरूप आयात पर प्रतिबन्ध लगने के कारण १९५९-६० में आयात-निर्यात राजस्व कम होकर १३२·७७ करोड़ रुपये हो जाने की सम्भावना है।

उत्पादन कर से आय बढ़ी है। इसका कारण यह है कि औद्योगिक उत्पादन में और साथ ही कर की दर में भी वृद्धि हुई है। १९५२-५३ की अपेक्षा १९५३-५४ में केन्द्रीय उत्पादन कर में १० करोड़ रुपये की वृद्धि हुई है। इसका कारण यह है कि सूती कपड़े पर अधिक उत्पादन कर लगाया गया। उत्पादन करों में इधर हाल के सभी बजटों में वृद्धि की गई है। वस्तुतः अप्रत्यक्ष-करों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार की नीति का मुख्य सहारा उत्पादन-कर ही रहे हैं। इनसे प्राप्त आय में लगातार वृद्धि हुई है जो इस प्रकार है: १९५३-५४ में ९५ करोड़ रु०, १९५६-५७ में १९०½ करोड़ रु०, १९५७-५८ (संशोधित) में २६४½ करोड़ रु०, १९५८-५९ (बजट) में ३०४½ करोड़ रु० और १९५९-६० (बजट) में ३२७½ करोड़ रुपये से अधिक। केन्द्रीय सरकार की राजस्व व्यवस्था में केन्द्रीय उत्पादन कर का महत्त्व आशातीत बढ़ गया है। हाल ही में वित्त आयोग की सिफारिश पर केन्द्रीय उत्पादन कर की कुल आय में से राज्य सरकारें भी भाग पाती हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि युद्ध काल में प्रत्यक्ष कर बहुत अधिक बढ़ गये थे और युद्धोत्तर काल में इस कर का स्तर कम करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया गया। इससे यह आवश्यक हो गया कि अप्रत्यक्ष करों को बढ़ाया जाय जिससे भारत सरकार आवश्यक राजस्व प्राप्त कर सके। भारत सरकार को केवल चालू खर्च चलाने के लिए ही नहीं बल्कि विकास योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये भी राजस्व की आवश्यकता होती है और इस आवश्यकता की पूर्ति के लिये अप्रत्यक्ष करों द्वारा अतिरिक्त राजस्व संगृहीत किया गया है। इसके साथ ही मुद्रास्फीति रोकने के लिए आयात-निर्यात कर और केन्द्रीय उत्पादन करों से भी अतिरिक्त राजस्व वसूल किया जाता है। इन करों से यद्यपि जनता की क्रय-शक्ति कम हो गई है परन्तु इससे उद्योगों का उत्पादन व्यय भी बढ़ा है और फलस्वरूप वस्तुओं की कीमतें भी बढ़ी हैं।

वाणिज्यिक सेवायें (Commercial Services)—रेलवे, डाक और तार, मुद्रा, टकसाल और रिजर्व बैंक सरकार की आय के महत्वपूर्ण साधन हैं। १९३८-३९ में इन साधनों से केन्द्रीय सरकार को २ करोड़ रुपयों की आमदनी हुई और १९४५-४६ में ६० करोड़ रुपयों की आमदनी हुई। इस वृद्धि का कारण यह था कि (१) युद्ध काल में रेलवे यातायात बढ़ा था और (२) रेल तथा डाक-तार का भाड़ा भी बढ़ गया था। परन्तु इधर कुछ वर्षों से इन कार्यों से होने वाली आय कम हो गई है और प्रायः २० करोड़ रुपयों के लगभग ही सीमित रह गई है क्योंकि मजदूरी बढ़ जाने से और कच्चे माल का भाव अधिक होने से उत्पादन व्यय बढ़ गया है। यद्यपि कर की दरें बढ़ा दी गई हैं परन्तु वह इतनी नहीं हैं

जिनसे उत्पादन व्यय की वृद्धि का घाटा पूरा किया जा सके। १९५४-५५ की २७ करोड़ रु० की आय की तुलना में १९५५-५६ में इन साधनों से आय बढ़कर २९ करोड़ रुपये हो गई। इसका कारण टकसाल से प्राप्त आय में वृद्धि तथा डाक महसूल तथा रेलवे की दरों और किराये का बढ़ना था। १९५६-५७, १९५७-५८ (संशोधित), १९५८-५९ (बजट) तथा १९५९-६० (बजट) में वाणिज्यिक सेवाओं से प्राप्त आय ३१$\frac{3}{4}$ करोड़ रु०, ३७$\frac{1}{2}$ करोड़ रु०, ३३$\frac{1}{2}$ करोड़ रु० तथा ५४$\frac{1}{2}$ करोड़ रु० से कुछ अधिक थी। यह कहना अनुचित न होगा कि भविष्य में इन साधनों से होने वाली वास्तविक आय में वृद्धि होगी।

व्यय (Expenditure)

भारत सरकार का व्यय तीन भागों में विभक्त है—प्रतिरक्षा, नागरिक प्रशासन और पूँजी-व्यय (Capital expenditure)। नागरिक प्रशासन के अन्तर्गत असैनिक प्रशासन, ऋण के साधन, शरणार्थियों का पुनर्वास, खाद्यान्न व्यवस्था इत्यादि शामिल हैं। प्रतिरक्षा के अन्तर्गत स्थल सेना, जल सेना, वायु सेना, पूर्ति और स्टोर इत्यादि भी शामिल हैं। इस वर्ग में प्रतिरक्षा विभाग द्वारा दी जाने वाली पेन्शनें इत्यादि भी आती हैं। तीसरे प्रकार के व्यय का उद्देश्य उद्योगों का विकास, रेलवे, विमान, डाक-तार और योजना इत्यादि को कार्यान्वित करना है। १९३८-३९ में केवल ८५.११ करोड़ रुपया व्यय किया गया था जबकि १९५९-६० (बजट) में ७४९.०९ करोड़ रुपया हो गया। इस अवधि में प्रतिरक्षा की तुलना में नागरिक प्रशासन पर बहुत अधिक व्यय हुआ है। पूँजी व्यय, जिसका बजट (Capital budget) पृथक रूप से तैयार किया जाता है, १९५०-५१ में ७१.०३ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५९-६० (बजट) में ४७७.५३ करोड़ रुपये हो गया।

प्रतिरक्षा व्यय—१९५९-६० के बजट में प्रतिरक्षा व्यय २७५.४२ करोड़ रुपया (२४२.६८ करोड़ राजस्व के मद तथा ३२ करोड़ रुपए पूँजी के मद में) है जो भारत सरकार के कुल व्यय का २५% प्रतिशत है। १९३८-३९ में यह व्यय ५४% प्रतिशत था। इससे प्रकट होता है कि प्रतिरक्षा में व्यय कम कर दिया गया है परन्तु फिर भी यह बहुत अधिक है और निरंतर यह माँग की जा रही है कि प्रतिरक्षा पर व्यय कम किया जाय। भारत जैसा निर्धन देश प्रतिरक्षा पर इतना अधिक व्यय नहीं कर सकता है। परन्तु यह व्यय करना अनिवार्य है क्योंकि किसी संभावित आक्रमण से देश की रक्षा करने और देश के अन्दर शांति तथा व्यवस्था बनाये रखने के लिये सरकार का उत्तरदायित्व बहुत गम्भीर है। प्रतिरक्षा व्यय में

कुछ कमी हो सकना संभव भी था। परन्तु कोरियाई युद्ध, काश्मीर की समस्या और पड़ोस के देशों में, विशेष कर पाकिस्तान में, अनिश्चित राजनीतिक स्थिति होने के कारण भारत सरकार के लिये प्रतिरक्षा व्यय घटाना असम्भव हो गया है।

प्रतिरक्षा व्यय का लगभग तीन-चौथाइ सेना पर ही होता है और जल सेना तथा वायु सेना पर इसके अनुपात में कम क्योंकि ये विभाग अभी अपनी शैशवावस्था में ही हैं। भविष्य में इन पर व्यय कम होने के स्थान पर बढ़ाया ही जायगा। 'अपरिवर्तनशील' व्यय प्रायः पेन्शन आदि देने के सम्बन्ध में किए जाते हैं जो कि सरकार का निश्चित उत्तरदायित्व है। व्यय घटाने की थोड़ी बहुत संभावना केवल सेना में है। यह कमी (१) सेना की शक्ति घटाकर, (२) सारा प्रशासन कार्य आमूल पुनःसंगठित करके और बरबादी तथा अकुशलता दूर करके, और (३) स्टोरों की खरीद में बचत कर के की जा सकती है। इमें भारत की स्वतंत्रता और सुरक्षा को संकट में डालकर प्रतिरक्षा व्यय में कमी नहीं करनी चाहिए। परन्तु यदि स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन न हो और क्रमशः प्रतिरक्षा व्यय में कमी की जा सके तो इससे समाज सेवा कार्यों और विकास योजनाओं को शीघ्र कार्यान्वित किय जा सकेगा।

नागरिक प्रशासन व्यय—नागरिक प्रशासन व्यय के अन्तर्गत (१) नागरिक प्रशासन, ऋण के साधन, राजस्व वसूली में खर्च, विस्थापितों का पुनर्वास, (२) खाद्यान्न को खरीदे हुये भाव से कम भाव पर बेचकर उपभोक्ता को सहायता (Food subsidies), राज्य सरकारों को अधिक अन्न उपजाओ अनुदान, और (३) विकास योजनाओं पर व्यय इत्यादि शामिल हैं। इनमें से कुछ मदों को कम नहीं किया जा सकता है क्योंकि पञ्च-वर्षीय योजना की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये और अन्न का उत्पादन बढ़ाने के लिये जरूरी हैं। यदि आर्थिक बचत की ओर अधिक ध्यान दिया जाय तो अवश्य ही इन मदों में भी बचत की जा सकती है।

नागरिक प्रशासन में व्यय बढ़ने का कारण यह है कि केन्द्रीय सरकार के मन्त्रालयों का प्रसार किया गया है, वेतन समिति की रिपोर्ट के अनुसार वेतन तथा महंगाई भत्ते में वृद्धि हुई है और यात्रा के भत्ते के रूप में तथा अन्य प्रकार के कार्यों में अतिरिक्त व्यय भी बढ़ा है। विभिन्न मंत्रालयों ने बिना इस बात का विचार किये हुए कि भारत सरकार की वित्त स्थिति पर क्या प्रभाव पड़ेगा अपने व्यय को बढ़ा दिया है। भारत सरकार की आर्थिक बचत समिति (Economy Committee) ने सिफारिश की कि कार्यालयों के व्यय में ३½ करोड़ रुपये की वास्तविक बचत की जाय और अन्य मदों पर २·५ करोड़ रुपये की बचत की जाय

परन्तु विभिन्न मंत्रालयों द्वारा विरोध करने के कारण ये सिफारिशें लागू नहीं की जा सकीं। इसका एक कारण यह भी है कि मंत्रालय व्यय कम करने का महत्व नहीं समझे।

पूँजी-व्यय (Capital expenditure)—भारत सरकार का कुल पूँजी-विनियोग १९५०-५१ में ७१·०३ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५९-६० (बजट) में ४७७·५३ करोड़ रुपया हो गया। दीर्घकालिक व्यय की इन मदों का सरकार के चालू बजट पर विशेष भार नहीं पड़ता है। इन मदों पर किया जाने वाला व्यय ऋण तथा भारत सरकार के अन्य कोषों से पूरा किया जाता है। चूँकि देश के आर्थिक साधनों का विकास करने के हित में विभिन्न योजनाओं पर व्यय करना पड़ता है इसलिये यह अच्छा है कि व्यय चालू बजट की अपेक्षा पूँजी बजट से किया जाय। परन्तु १९४८-४९ से भारत सरकार ने मुद्रास्फीति निरोधक उपाय के रूप में पूंजी व्यय की पूर्ति चालू बजट से करने की नीति अपना रखी है। इससे करदाताओं पर अतिरिक्त भार पड़ा है जिससे बचत और पूँजी निर्माण में बहुत रुकावट पैदा हो गई है। यदि वित्त मंत्री ने ऐसा न किया होता और पूँजी व्यय केवल पूंजी बजट के अन्तर्गत ही सीमित रखा जाता तो इसका परिणाम देश के लिए इतना गम्भीर न होता।

केन्द्रीय सरकार के पूंजी बजट में केवल पूंजी व्यय की मदें ही शामिल नहीं हैं वरन् उसमें वे सब व्यय जो इस प्रकृति के हैं सम्मिलित हैं। सारी स्थिति पर विचार करने के पश्चात यह प्रकट होता है कि पूँजी बजट में १९५१-५२ में १२४·३९ करोड़ रुपये का घाटा हुआ जो १९५३-५४ में घट कर ८९.५० करोड़ रुपये हो गया। १९५७-५८ में यह बढ़कर ५४५.४५ करोड़ रु० हो गया पर यह १९५९-६० (बजट) में कम होकर १६४·०१ करोड़ रु० हो गया।

अध्याय ५८

राज्यों की वित्त व्यवस्था

अतीत में राज्यों[1] के बजट की मुख्य विशेषता यह थी कि वह अपेक्षाकृत-अपरिवर्तनशील होते थे, उनके आय के साधन पर्याप्त नहीं थे और समाज कल्याण कार्य में प्रति व्यक्ति बहुत कम व्यय किया जाता था। राज्य के बजटों में बचत दिखाई जाती थी परन्तु इसका तात्पर्य केवल यह था कि आवश्यक कार्यों पर पर्याप्त व्यय नहीं किया गया और सरकारों ने अपनी सीमित आय नागरिक प्रशासन, कानून और व्यवस्था और कुछ सामाजिक कार्य जैसे शिक्षा, जन-स्वास्थ्य इत्यादि में व्यय किया। पिछले कुछ वर्षों से स्थिति बदल गई है। बिक्री इत्यादि कर लगा देने से राज्य की आय अधिक परिवर्तनशील हो गई है। इसका एक कारण यह भी है कि राज्यों को केन्द्रीय सरकार से ऋण तथा सहायता अनुदानों के अतिरिक्त केन्द्रीय आय में भी पहले की अपेक्षा अधिक भाग मिलने लगा है। राष्ट्र निर्माण कार्य के लिए राज्य ही वास्तविक केन्द्र होते हैं परन्तु उनकी आय के साधन आवश्यकता पूर्ति के लिये पर्याप्त नहीं हैं। यदि राज्यों की आय अधिक होती, तो वह अपने राष्ट्र-निर्माण के कार्य को अच्छी तरह संगठित कर सकते थे।

सभी राज्यों के राजस्व व बजटों को मिलाकर देखने से पता लगता है कि १२.७ करोड़ रुपये, ३.१ करोड़ रुपये तथा ५.५ करोड़ रुपये की बचत क्रमशः १९५१-५२, १९५२-५३ और १९५३-५४ में हुई। इसके बाद से घाटा रहा है। १९५६-५७ में ७७.४ करोड़ रुपये का अधिकतम घाटा रहा। इसके बाद से स्थिति सुधरी और १९५८-५९ (बजट) में केवल ३.७ करोड़ रुपये का घाटा रहा। १९५८-५९ (संशोधित) में १८ करोड़ रुपये की बचत हुई और १९५९-६० (बजट) में ४ करोड़ रुपये की बचत हुई। अगर राजस्व तथा पूंजी बजट समेत पूरी स्थिति

---

१. १ नवम्बर, १९५६ के राज्य पुनर्गठन के पहले देश में 'क' 'ख' और 'ग' श्रेणी के राज्य थे। अब कुल १४ राज्य हैं। दिल्ली और हिमाचल प्रदेश अब केन्द्रीय क्षेत्र प्रदेश हैं। इनको सर्वोत्तिरण में नहीं शामिल किया गया। कच्छ बम्बई का भाग हो गया है। जम्मू तथा कश्मीर की रकमें योग में शामिल नहीं। उनको अलग दिखाया गया है क्योंकि "बिल्कुल हाल तक वहाँ के बजट पेश होने का तरीका दूसरे राज्यों से बहुत भिन्न था।"

पर विचार किया जाय तो १९५५-५६ में ५७ करोड़ रुपये, १९५६-५७ में १०४.७ करोड़ रुपये, १९५८-५९ (संशोधित) में ७.२ करोड़ रुपये तथा १९५९-६० (बजट) में ५०.९ करोड़ रुपये का घाटा रहा। १९५७-५८ के संशोधित बजट अनुमान में यह घटा कर ४३.७ करोड़ रुपया कर दिया गया जबकि बजट में १११·२ करोड़ रुपये का घाटे था। इसका कारण यह था कि द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार राज्य सरकारों को अतिरिक्त धनराशि हस्तान्तरित कर दी गयी थी। फलस्वरूप १९५८-५९ (संशोधित) में कुल राज्यों के संयुक्त राजस्व बजट में १८ करोड़ रुपये की बचत हुई और राजस्व तथा पूँजी बजट दोनों को मिलाकर देखने पर कुल मिला कर ७.२ करोड़ रुपये का घाटा निकला। इस संबंध में विभिन्न राज्यों के बीच काफी अन्तर है। जैसा कि तालिका १ के ब्यौरे से ज्ञात होगा, जहाँ तक राजस्व बजट का प्रश्न है, उत्तरप्रदेश, पश्चिम बंगाल, पंजाब, बम्बई, राजस्थान, केरल और आंध्र प्रदेश में घाटा आया। दूसरे राज्यों में बचत निकली। लेकिन जहाँ तक राजस्व तथा पूँजी बजटों को एक साथ लेकर पूरी स्थिति का प्रश्न है आसाम, मद्रास, पंजाब तथा पश्चिम बंगाल में बचत निकली जब कि दूसरे राज्यों में घाटा। इन घाटों का कारण अंशतः योजना में अतिरिक्त व्यय है और अंशतः कुछ राज्यों में अकाल और खाद्याभाव पर व्यय। कुछ राज्यों में कुल मिलाकर घाटे छोटे निकले हैं क्योंकि उन पर विकास व्यय योजना में निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कम पड़ा है और अंशतः इस कारण से कि केन्द्रीय आर्थिक सहायता से उनको काफी हद तक लाभ हुआ है। चूँकि राज्य सरकारों के पास नकद रुपया नहीं रह गया और सुरक्षित कोष खत्म हो चुका है इसलिये इनको भविष्य में अपना राजस्व या ऋण अधिक बढ़ाना पड़ेगा या फिर अपना व्यय घटाना पड़ेगा।

आय

राज्य सरकारों की आय के मुख्य साधन (१) कुछ केन्द्रीय करों की आय से प्राप्त अंश, केन्द्रीय सहायता अनुदान, (२) उत्पादन कर, बिक्री कर इत्यादि, तथा (३) अन्य उपायों (non-tax revenues) से प्राप्त की गई आय है। अब मृत्यु कर (Estate Duty) भी लगाया गया है। यह कर राज्यों के लिये केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किया जायगा। विभिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न करों का महत्व भी भिन्न है परन्तु फिर भी सारी स्थिति पर विचार करने से एक निश्चित प्रवृत्ति दिखाई देती है। १९३८-३९ में खण्ड 'क' राज्यों की आय के प्रमुख साधन क्रमशः मालगुजारी, उत्पादन कर और स्टाम्प

तालिका १

१९५९-६० (बजट) में राज्य सरकारों का कुल राजस्व तथा व्यय

(करोड़ रुपयों में)

राज्य	कुल राजस्व	कुल राजस्व व्यय	बचत या घाटा	राजस्व तथा पूँजी बजट मिलाने पर बचत या घाटा
आन्ध्र प्रदेश	६९'९०	७०'२७	—०'३७	—७.१०
आसाम	३३'०९	२९ ६८	+३'४०	+०.७४
बिहार	७०'७४	६५'२१	+५'५३	—०'३२
बम्बई	१३४'५३	१३५'५१	—०'९८	—२७'२६
केरल	३७'२९	३८'०७	—०'७८	—१'०३
मध्य प्रदेश	५६'४९	५५'५६	+०'९३	—१'९०
मद्रास	७२'४६	७१'०७	+१'३९	+१'३५
मैसूर	५३'३९	५२'९१	+०'४८	—६'४७
उड़ीसा	२९'८१	२९'७५	+०'०६	+०'१७
पंजाब	५०'५१	५०'८३	—०'३२	—५'७६
राजस्थान	३८'४२	३८'२९	—०'५८	—०'५७
उत्तर प्रदेश	१०९'२८	१११'१४	—१'८६	—३'८६
पश्चिम बंगाल	७७'९७	८१'६०	—३'६३	+०'४८
कुल जोड़	८३३'८८	८२९'८९	+३'९९	—५०'९५
जम्मू तथा कश्मीर	१२'२५	१०'०६	+२'१९	—०'२६

कर थे। केन्द्रीय आयकर और आयात-निर्यात कर की आय में से राज्यों को बहुत कम अंश मिलता था और बिक्री कर लागू नहीं था। तब से स्थिति बिल्कुल बदल गई। जैसा कि तालिका २ में दिखाया गया है १९५९-६० में ५३१ करोड़ रुपये के कुल कर राजस्व में से १००'८० करोड़ रुपया, १००'५ करोड़ रुपया, ७७'३३ करोड़ रुपया, और ७२'७५ करोड़ रुपया क्रमशः आम बिक्री कर, भूमि के लगान, आय कर के हिस्से, और केन्द्रीय उत्पादन कर के हिस्से से आयेगा। उम्मीद है कि सम्पत्ति कर और रेल भाड़ा कर से, जो पहले नहीं थे, १९५९-६० में क्रमशः २.५२ करोड़ रुपये और १०'८७ करोड़ रुपये की आय होगी। गैर कर वाला राजस्व (Non-tax Revenue) जैसे राजकीय यातायात, बिजली की योजनाओं, सिंचाई, वन, उद्योग, केन्द्रीय सहायता अनुदान और राजस्व कोष से हस्तान्तरित रकमों से १९५९-६० में ३०२'८६ करोड़ रुपये की आय होगी। इस

प्रकार १९५९-६० में कर राजस्व कुल राजस्व का ६४ प्रतिशत से कुछ कम था जब कि १९५१-५२ में ६६ प्रतिशत था।

मालगुजारी—भारत के राज्य प्रचीन समय से मालगुजारी वसूल करते आये हैं। यह कर कृषि के वास्तविक उत्पादन पर लगाया जाता है। १८५५ के सहारनपुर कानून के अनुसार कुल उत्पादन के ५० प्रतिशत से अधिक मालगुजारी नहीं वसूल की जा सकती थी। पश्चिम बंगाल, मद्रास, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश, आसाम और अजमेर के उन क्षेत्रों में जहाँ इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू है मालगुजारी की दरें निश्चित हमेशा के लिये कर दी गयी थीं। देश के अन्य क्षेत्रों में जहाँ इस्तमरारी बन्दोबस्त लागू नहीं है वहाँ पूरी जाँच-पड़ताल के पश्चात मालगुजारी निर्धारित की जाती है। यह पैमायश तथा निर्धारण ३० से ४० वर्ष के बीच कराई जाती है। इस अवधि में मालगुजारी की दर में कुछ परिवर्तन नहीं होता है। इस प्रणाली के परिणाम-स्वरूप कीमत बढ़ने पर मालगुजारी का भार कम हो जाता है और कीमतें गिरने पर यह भार बढ़ जाता है।

चूँकि मालगुजारी वास्तविक उत्पादन पर वसूल की जाती है इसलिए यह एक प्रकार से भूमि-कर है। इसका भार भूमि के मालिक पर पड़ता है। यदि इस का उन्मूलन कर दिया जाय तो इससे लगभग सभी भूमि के मालिकों को लाभ पहुँचेगा। वर्तमान रूप में यह कर वैषम्यपूर्ण है क्योंकि यह कर वास्तविक उत्पादन पर लगाया जाता है इसलिये भूमि की उत्पादन शक्ति के साथ-साथ इस कर की दर में भी परिवर्तन होना अनिवार्य है। इस नियम में इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं दिया गया है कि भूमि पर विभिन्न फसलें पैदा की जा सकती हैं जिनकी उत्पादन मात्रा भी भिन्न हो सकती है। इसके साथ ही यह कर सभी पर समान रूप से लागू होता है, बड़े जमींदार और छोटे किसान में भेद नहीं किया जाता है और दोनों को समान मोटी दर से कर चुकाना पड़ता है। इसलिए कर की विषमता को समाप्त करने के लिये मालगुजारी व्यवस्था में सुधार करना आवश्यक है।

मालगुजारी अब राज्य सरकारें वसूल करती हैं। अतीत में यह आय का महत्वपूर्ण साधन रहा है। १९ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में कुल सरकारी आय का ७० प्रतिशत मालगुजारी से वसूल होता था। इसके पश्चात से इसका महत्व घटा। परन्तु पंचवर्षीय योजनाएँ चालू होने के साथ-साथ अधिक आय की आवश्यकता हुई और भारतीय किसान की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। इससे मालगुजारी से आय बढ़ी। यह १९५९-६० में १००.४१ करोड़ रुपये होगी जब कि १९५८-५९ में ९५.०९ करोड़ रुपये, १९५५-५६ में ८०.३३ करोड़ रुपये और १९५१-५२ में ४७.६६ करोड़ रुपये थी।

तालिका २

राज्यों का राजस्व तथा राजस्व व्यय

(करोड़ रुपयों में)

	१९५१-५२ (वास्तविक)	१९५५-५६ (संशोधित)	१९५६-५७ (बजट)	१९५८-५९ (बजट)	१९५९-६० (बजट)
राजस्व के साधन :—					
[आय पर कर]	५७·०५	६१·१२	५९·३३	८३·८४	८५·७८
(१) आय कर का भाग	५२·६५	५५·२७	५३·५१	७५·५१	७७·३९
(२) कृषि आय कर	४·३३	५·७४	५·७३	८·०५	८·११
(३) पेशा कर	०·०७	०·११	०·०९	०·२८	०·२८
[सम्पत्ति तथा पूँजी के सौदों पर कर]	७५·४०	११२·३९	१२६·८८	१३१·१९	१३९·९०
(१) मृत्यु कर	......	१·९४	२·३८	२·४२	२·५२
(२) मालगुजारी	४७·९९	८०·३३	९२·६६	९५·०९	१००·४५
(३) स्टाम्प और रजिस्ट्रेशन	२५·५६	२८·११	२९·९०	३१·४५	३४·६१
(४) शहरी अचल सम्पत्ति कर	१·८५	२·०१	१·९४	२·२३	२·३२

[वस्तुओं तथा सेवाओं पर कर]	१४८·६०	१७६·०२	१८०·५२	२६१·६५	३०५·३४
(१) केन्द्रीय उत्पादन कर का भाग	०·७०	१६·६०	१७·०४	६७·४०	७२·७२
(२) राज्य उत्पादन कर	४९·४१	४३·४९	४२·७६	४२·५६	४३·८२
(३) सामान्य विक्री कर	५४·४०	६८·२८	७०·६६	७५·३८	१००·८४
(४) मोटर-स्प्रिट तथा विक्री कर	४·५३	८·३०	८·७३	११·३२	१२·५१
(५) मनोरंजन कर	६·३९	६·५०	६·५३	८·३८	९·६६
(६) बिजली कर	३·१९	५·६३	५·८१	७·५३	९·३९
(७) मोटर गाड़ी कर	१०·०९	१४·३९	१४·९८	१९·६०	२४·५५
(८) रेल भाड़ा कर	......	......	......	९·६१	१०·८७
(९) अन्य कर तथा शुल्क	१९·६९	१२·८३	१४·०१	१९·८७	२०·९८
कुल कर राजस्व	२८१·०५	३४९·५३	३६६·७३	४७६·६८	५३१·०२
कुल राजस्व	४०५·४१	५६०·१३	५७६·९८	७४२·०५	८३३·८८

राज्य उत्पादन कर—संविधान के अनुसार (१) अल्कोहल की शराबों और (२) अफीम, भाँग तथा अन्य नशीली वस्तुओं पर उत्पादनकर लगाने और वसूल करने का अधिकार राज्यों को दिया गया है। इनके अन्य वस्तुओं पर उत्पादन कर लगाने और वसूल करने का अधिकार केन्द्रीय सरकार को है परन्तु यदि संसदीय कानून में व्यवस्था की जाय तो इस कर की आय में से केन्द्रीय सरकार राज्यों को भी कुछ भाग दे सकती है। राज्य सरकारों का उत्पादन कर लगाने का उद्देश्य आंशिक रूप से इन वस्तुओं के उत्पादन पर नियंत्रण रखना और आंशिक रूप से आय संग्रहीत करना रहा है। महात्मा गाँधी के नेतृत्व में काँग्रेस ने मद्यनिषेध नीति स्वीकार की। गाँधी जी का मत था कि राज्य की आय के लिए किसी बुरी चीज से लाभ नहीं उठाना चाहिये। फलस्वरूप जब प्रान्तीय स्वायत्तता आरम्भ होने पर काँग्रेस ने १९३७ में प्रान्तों में अपनी सरकारें बनाईं, तो उन्होंने मद्यनिषेध की योजना लागू की। परन्तु काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल द्वारा इस्तीफा दे देने पर मद्यनिषेध आन्दोलन बन्द कर दिया गया और सलाहकार-शासन ने इसे प्रायः समाप्त हो कर दिया। काँग्रेस ने १९४६ में जब पुनः शासन-सत्ता ग्रहण की तब सभी राज्यों में मद्यनिषेध की नीति को लागू किया गया। संविधान के एक निर्देशक सिद्धान्त के अन्तर्गत मद्यनिषेध की नीति लागू करने का उत्तरदायित्व राज्यों पर ही है। वित्तीय अभाव के कारण केन्द्रीय सरकार ने राज्य सरकारों को १९४८ में सलाह दी कि मद्यनिषेध की नीति लागू करने में कुछ धीमी गति से बढ़ना चाहिये। सरकार की मुद्रास्फीति निरोधक नीति में इससे सहायता मिल सकती थी। कुछ राज्यों, जैसे उड़ीसा, उत्तर प्रदेश और बिहार, ने केन्द्रीय सरकार की सलाह मान ली परन्तु अन्य राज्यों, जैसे मद्रास और बम्बई, ने अपनी पूर्ण मद्यनिषेध नीति को तेजी से आगे बढ़ाया। यह योजना इन दो राज्यों में क्रमशः १९४८ और १९५० में लागू की गई थी। मद्यनिषेध की नीति अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल रही है। इससे राज्य की आय कम हो गई और बिना किसी लाभ से इस नीति को लागू करने में व्यय की मात्रा बढ़ी है। शराब पीने की आदत छुड़ाई नहीं जा सकती है। इसके विपरीत गैर कानूनी तौर पर शराब बनने लगी है और अन्य स्थानों से निषेध-क्षेत्रों में चोरी से शराब पहुँचने लगी है। मद्यनिषेध को भंग करने के अपराधों की संख्या बढ़ी है। काँग्रेस सरकार ने कानून बनाकर समाज सुधार लागू करने के लिए अपनी आय का बलिदान किया है। इस बलिदान के कारण राज्य सरकारों को विवश होकर अपनी विकास योजनाओं पर व्यय घटाना पड़ा है जो राष्ट्रीय हित में नहीं कहा जा सकता।

१९५१-५२ और १९५५-५६ के बीच राज्य उत्पादन करों से होने

वाली आय ४५ करोड़ रुपये के आस-पास रही है। लेकिन बाद में यह घटी और १९५६-५७ (बजट) में यह ४२.७६ करोड़ रुपये, १९५७-५८ (बजट) में ४१.७८ करोड़ रुपये हो गयी और १९५९-६० के बजट में इसमें ४३.८२ करोड़ रुपये हो जाने का अनुमान है। वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार अब राज्यों को कुछ केन्द्रीय उत्पादन करों से हिस्सा मिल रहा है और जो १४ दिसम्बर १९५७ में चीनी, तम्बाकू और सूती कपड़ों पर बिक्री कर हटा देने से और बढ़ गया है। राज्य सरकारों को १९५९-६० में केन्द्रीय उत्पादन करों के हिस्से के रूप में ७२.७२ करोड़ रुपया (देखिये तालिका २) मिलेगा जबकि १९५८-५९ में ६७.४० करोड़ रुपया, १९५७-५८ (संशोधित) में ३७.४२ करोड़ रुपया, १९५५-५६ में १६.६० करोड़ रुपया और १९५१-५२ में ०.७० करोड़ रुपया था।

विक्री कर—किसी वस्तु के विक्रय और क्रय पर राज्य सरकारें कर लगा सकती हैं। मद्यनिषेद नीति लागू करने से आय में जो कमी हो गई उसकी पूर्ति करने के लिये और साथ ही विकास योजनाओं की वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति के लिये बिक्री कर लगाया गया। मद्रास ने सबसे पहले १९३९ में बिक्री कर लगाया। वर्तमान समय में बाकी सभी राज्यों में यह कर लागू है। बिक्री कर राज्यों की आय का मुख्य साधन हो गया है।

विक्री कर दो प्रकार से लागू होता है। प्रथम प्रणाली 'एक बिन्दु' (Single Point) के अन्तर्गत उत्पादक से उपभोक्ता तक माल पहुँचने की सारी प्रक्रिया में केवल एक बार बिक्री कर लगाया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत कर या तो आरम्भ में उत्पादक से उत्पादित माल बेचते ही वसूल कर लिया जाता है या अन्त में फुटकर विक्रेता से उपभोक्ता को माल बेचते समय वसूल किया जाता है। दूसरी प्रणाली 'बहुबिन्दु' (Multiple Point) के अन्तर्गत बिक्री कर बिक्री की हर श्रेणी पर लागू होता है। इस प्रकार उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुँचने की सारी प्रक्रिया में माल पर अनेक बार कर वसूल किया जाता है। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत कर की दर प्रथम प्रणाली की दर से कम रहती है। दूसरी प्रणाली के अन्तर्गत कर कम चुराया जा सकता है क्योंकि उत्पादक से उपभोक्ता तक माल पहुँचने की प्रक्रिया में कर का चुराया जा सकना संभव नहीं है। प्रथम प्रणाली के अन्तर्गत जिन वस्तुओं पर कर लगाया जाता है उनकी बिक्री का हिसाब पृथक-पृथक रखा जाता है और जिन वस्तुओं पर कर नहीं लगाया जाता हैं उनके विक्रेता तथा उत्पादकों की रजिस्ट्री कर ली जाती है। भारत में दोनों प्रणालियों के अनुसार कार्य होता है। दूसरी प्रणाली मद्रास, बम्बई (इसमें

पहले प्रथम प्रणाली लागू थी), हैदराबाद और मैसूर में और प्रथम प्रणाली पश्चिमी बंगाल, पंजाब, मध्य भारत और दिल्ली में लागू है। उत्तर प्रदेश में कुछ वस्तुओं पर प्रथम प्रणाली के अनुसार और अन्य पर दूसरी प्रणाली के अनुसार कर लगाया जाता है।

भारतीय संविधान में अनुच्छेद २८६ के अन्तर्गत राज्यों के बिक्री कर लगाने के अधिकारों पर प्रतिबन्ध लगाया गया है। राज्य माल के आयात होने की प्रक्रिया में बिक्री कर नहीं लगा सकते हैं और न ही भारत से बाहर के देशों को निर्यात करने की प्रक्रिया में ऐसा कर सकते हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में पूर्ण केन्द्रीय नियंत्रण रहता है। राज्यों में परस्पर स्वतंत्र व्यापार के हित में राज्य अन्य राज्यों में बिकने वाली वस्तुओं पर भी कर नहीं लगा सकते हैं या अन्तर-राज्य-व्यापार की प्रक्रिया में भी कर नहीं लगा सकते हैं। संसद द्वारा निर्मित कानून के अनुसार जिन वस्तुओं को आवश्यक घोषित किया गया है राज्य उन वस्तुओं पर भी कर नहीं लगा सकते हैं। भारत सरकार ने १९५२ में आवश्यक वस्तु कानून (क्रय-विक्रय पर कर लगाना और नियंत्रण) बनाया जिसमें संविधान के अनुच्छेद २८६ के अन्तर्गत अनेक वस्तुओं को आवश्यक घोषित कर दिया गया। चूँकि केन्द्रीय सरकार का कानून पिछली अवधि से लागू न होकर घोषणा के समय से ही लागू होता है इसलिये अधिकांश राज्य इन आवश्यक वस्तुओं में से अनेक पर कर वसूल करते रहे हैं। १४ दिसम्बर, १९५७ से तम्बाकू, चीनी और सूती कपड़ों से बिक्री कर हटा कर अतिरिक्त केन्द्रीय उत्पादन कर लगाया गया। फलस्वरूप सामान्य बिक्री कर की आय १९५७-५८ (एकाउन्ट्स) में १०७.३७ करोड़ रुपये से घट कर १९५८-५९ के बजट अनुमान में ७५.४६ करोड़ रुपये रह गयी परन्तु १९५९-६० में इसकी १००.८४ करोड़ रुपये तक बढ़ने की आशा है। राज्यों के राजस्व में बिक्री कर का एक ऊँचा स्थान है।

कृषि आय कर—भारत की केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किये जाने वाले आय-कर कृषि-आय पर लागू नहीं होते हैं। भारत सरकार के १९३५ के कानून के अनुसार राज्य सरकारों को कृषि आय पर कर लगाने का अधिकार मिला। इस प्रकार का कर सबसे पहले बिहार ने १९३८ में लागू किया। वर्तमान समय में बम्बई और पंजाब को छोड़ कर सभी राज्यों में यह कर लागू है। सामान्यतः आय की एक न्यूनतम रकम निर्धारित की गई है जिस पर कर नहीं लगाया जाता है। उत्तर प्रदेश में यह न्यूनतम रकत ३,००० रुपया है और राजस्थान में ६,००० रुपया है। बिहार और राजस्थान को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में कृषि आय कर आय खण्डों पर (Slab System) लागू होता है। इस कर से आय १९५१-५२ में

४.३३ करोड़ रुपये से बढ़ कर १६५५-५६ में ५.७४ करोड़ रुपये और १६५६-६० के बजट अनुमान में ८.११ करोड़ रुपये हो गयी।

कृषि आय पर केन्द्रीय सरकार के आयकर लागू नही होते हैं। यह एक एतिहासिक विषमता है जो भारत सरकार के १६३५ के कानून से स्थाई रूप धारण कर चुकी है। भारतीय संविधान में भी इसको सम्मिलित कर लिया गया है।[1] इसका उद्देश्य शायद यह है कि राज्यों को भूमि पर कर लगाने और भूमि से होने वाली आय पर कर लगाने का एक मात्र अधिकार मिल जाय। भारतीय संविधान में इस त्रुटि को दूर कर देना चाहिये था। भूमि अथवा कृषि आय तथा अन्य साधनों से प्राप्त आय में किसी प्रकार का आधारभूत अंतर नहीं है।

मृत्यु कर (Death Duties)—उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई सम्पत्ति पर उत्तराधिकार कर प्रायः सभी देशों में लागू है। भारत में यह कर १५ अक्टूबर १६५३ से लागू किया गया है। संविधान के अनुसार उत्तराधिकार कर कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार की सम्पत्ति पर केन्द्रीय सरकार द्वारा लागू किया जायगा और वसूला जायगा और उससे प्राप्त आय राज्यों में बाँट दी जायगी। कृषि भूमि पर भी उत्तराधिकार कर राज्यों द्वारा लागू किया जा सकता है परन्तु राज्यों ने केन्द्रीय सरकार को इस कर के लागू करने का अधिकार दे दिया है जिसकी आय राज्यों में बाँट ली जायगी।

उत्तराधिकार कानून के अनुसार मरे हुये व्यक्ति की सम्पूर्ण सम्पत्ति पर कर लागू किया जा सकता है। यह कर सम्पत्ति की मात्रा के खण्डों पर लागू किया जाता है। व्यक्तियों के सम्बन्ध में प्रथम ५० हजार रुपया की सम्पत्ति और संयुक्त हिन्दू परिवार में हिस्से के सम्बन्ध में ५०,००० रुपया की सम्पत्ति को बिल्कुल छूट दी गई है। कर की दर ५% से धीरे-धीरे बढ़ कर ५० लाख रुपये की सम्पत्ति पर ४० प्रतिशत हो जाती है। इस कानून में अनेक छूट दी गई हैं। यदि मृत्यु के दो वर्ष पहिले दान दे दी जाय (जनता के हित के लिये केवल ६ महीने पहिले ही यदि दान में दी जाय) तो उस सम्पत्ति पर कर नहीं लगाता। अन्य छूटें निम्नलिखित हैं—(१) गृहस्थी के सामान २,५०० रुपये तक के मूल्य वाले; (२) ऐसी पुस्तकें जो बिक्री के लिये नही संग्रहीत की गई हैं; (३) बीमा की रकम अथवा उत्तराधिकार कर देने के लिये सरकार में जमा ५०,००० रुपया तक की रकम; (४) जीवन बीमा की ५,००० रुपया तक की रकम; (५) मृत्यु संस्कार के लिये जमा की हुई १,००० रुपया तक की रकम, और (६) लड़कियों के विवाह के लिये प्रति

---

१ इस विषमता को दूर करने को सरकार कमेटी ने सिफारिश की थी। १६५५ में कर जांच आयोग ने भी ऐसी ही सिफारिश की थी।

कन्या ५,००० रुपया की निश्चित की हुई रकम, इत्यादि। जल्दी-जल्दी उत्तराधिकार बदलने के सम्बन्ध में भी ५०, ४०, ३०, २० और १० प्रतिशत क्रमशः उत्तराधिकार कर का छोड़ा जा सकता है यदि दूसरे व्यक्ति की मृत्यु प्रथम व्यक्ति की मृत्यु के एक, दो, तीन, चार और पाँच वर्ष के भीतर हो।

उत्तराधिकार कर से राज्यों की आय १९५४-५५ में ०.५२ करोड़ रुपये से बढ़ कर १९५९-६० के बजट अनुमान में २.५२ करोड़ रुपया हो गई। इस कर से कुल आय केन्द्रीय वित्त मन्त्री की आशा से बहुत कम हुई है।

मनोरंजन कर—सभी राज्यों में मनोरंजन कर वसूल किया जाता है। साधारणतः कम कीमत के टिकट पर कर की दर कम रहती और टिकट की कीमत में वृद्धि होने के साथ ही कर की दर भी बढ़ती है। मनोरंजन कर से आय १९५१-५२ में ६.३९ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५५-५६ में ६.५० करोड़ रुपये और १९५९-६० (बजट अनुमान) में ९.६६ करोड़ रुपये हो गयी। लेकिन देखा गया है कि कर की ऊँची दरें न केवल सिनेमा उद्योग की प्रगति को रोक रही हैं बल्कि आय वृद्धि भी रोक रही हैं। उत्तर प्रदेश ऐसे कुछ राज्य दरों को घटाने के प्रश्न पर विचार कर रहे हैं। स्थानीय वित्त जाँच समिति (१९४९-५०) ने सिफारिश की कि मनोरंजन कर आय स्थानीय निगमों को दी जानी चाहिये जिससे उन्हें अपना कार्य कुशलतापूर्वक सम्पन्न कर सकने में किसी प्रकार की कठिनाई न उठानी पड़े। अधिकांश राज्य सरकारों ने इस सिफारिश को स्वीकार नहीं किया। मद्रास में कर वसूली का व्यय काटकर शेष आय उन स्थानीय निगमों में जिनके क्षेत्र से कर वसूल किया जाता है बाँट दी जाती है। मैसूर में कुल आय का ८७ ½ प्रतिशत स्थानीय निगमों में बाँट दिया जाता है।

केन्द्र से सहायता—राज्य सरकारों को आयकर के हिस्से के रूप में, उत्पादन करों से प्राप्त आय के हिस्से के रूप में, ऋण तथा अनुदानों के रूप में केन्द्रीय सरकार से बहुत सहायता मिलती है। वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार राज्य सरकारों को वास्तविक आयकर का एक बड़ा हिस्सा मिलता है और १९५२-५३ से कुछ केन्द्रीय उत्पादन करों में से भी हिस्सा मिलने लगा है। राज्यों का राजस्व और पूँजी व्यय विशेष रूप से १९५४-५५ से बढ़ गया है और तभी से केन्द्र द्वारा व्यय में सहायता की मात्रा भी बढ़ गई है। १९५४-५५ के पहिले केन्द्रीय सहायता ३०% और ४०% के बीच रहा करती थी परन्तु इस वर्ष के बाद से ४०% और ५०% के बीच हो गई। करों के हिस्से, अनुदान तथा ऋणों के रूप में राज्यों को केन्द्र से जो धन मिलता है वह १९५१-५२ में १६० करोड़ रुपये से बढ़कर १९५९-६० (बजट) में ६५५.९ करोड़ रुपया हो गया

तालिका ३

केन्द्र द्वारा राज्यों के लिए सुलभ किये गये साधन

(करोड़ रुपयों में)

	केन्द्र द्वारा सुलभ किये गये साधन[1]				राज्यों का व्यय			कुल व्यय के लिए सुलभ किये गये साधनों का प्रतिशत
	करों का हिस्सा	अनुदान	ऋण	योग	राजस्व खाता	पूँजी खाता[2]	योग	
१९५१-५२	५२·९	३३·९	७३·३	१६०·१	३९२·७	१५१·३	५४४·०	२९·४%
१९५२-५३	७३·८	३६·०	१११·८	२२१·६	४१७·०	१५५·५	५७२·५	३८·७%
१९५३-५४	७२·८	४५·३	१५४·७	२७२·८	४४८·२	१७६·८	६२५·०	४३·६%
१९५४-५५	७१·६	५१·४	२२०·७	३४३·७	४९५·६	२०५·९	७०१·५	४९·०%
१९५५-५६ (संशोधित)	७३·६	६७·७	२९१·७	४३३·०	६०५·१	३४२·३	९४७·४	४५·७%
१९५६-५७ (बजट)	७४·५	१२२·०	२८३·१	४७९·६	६३०·७	४१०·०	१०४०·७	४६·१%
१९५७-५८ (एकाउन्टस)	१२०·९	११४·४	२८३·६	५१८·९	६८४·४	३४७·२	१०३१·६	५०·३%
१९५८-५९ (संशोधित)	१६२·१	१५०·२	३२६·५	६३८·८	७७९·६	४०६·१	११८५·७	५३·९%
१९५९-६० (बजट)	१६४·६	१७८·६	३१२·७	६५५·९	८४०·०	४२८·८	१२६८·८	५१·७%

१. संख्याएँ केन्द्रीय बजटों के अनुसार हैं।

२. आकस्मिक निधि तथा अन्य कोष, राज्य व्यापार के सौदे, राज्यों के ऋण तथा पेशगी के अलावा समस्त ऋण तथा जमा रकमें इसमें शामिल नहीं है।

राज्यों के कुल व्यय के अनुपात में यह १९५१-५२ में २६ प्रतिशत से बढ़कर १९५९-६० में लगभग ५१३ प्रतिशत हो गया। रेल भाड़ा कर शुरू होने, चीनी, तम्बाकू सूती कपड़े पर राज्यों से बिक्री कर के स्थान में अतिरिक्त केन्द्रीय उत्पादन कर लगने (वसूली राज्यों को दे दी गयी है), और द्वितीय वित्त आयोग की सिफारिश के अनुसार साधनों के अतिरिक्त हस्तान्तरण से हाल में इसमें वृद्धि हुई है। संक्षेप में कमीशन की सिफारिश में प्रति वर्ष १४० करोड़ रुपये के (१५ करोड़ रुपये के रेल भाड़ा कर को छोड़कर) वितरण की व्यवस्था है जब कि प्रथम वित्त आयोग की रिपोर्ट में औसतन ९३ करोड़ रुपये की व्यवस्था थी। अनुदानों के अन्तर्गत इच्छा पर निर्भर (discretionary) अनुदान अब अनुच्छेद २७३ के कानूनी अनुदानों से कहीं ज्यादा महत्त्वपूर्ण हैं और अनुच्छेद २७५ (१) के अन्तर्गत अनुदान की रकम केवल ३९.४ करोड़ रुपये होती जब कि कुल अनुदान १४६.१ करोड़ रुपये हैं।

इससे यह पता लगता है कि केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वित्तीय आवश्यकताओं तथा उनके व्यय के बीच पहिले से अब अधिक उचित सामंजस्य है। केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की आय राज्यों की वित्त व्यवस्था के सम्बन्ध में विशिष्ट रूप से एक हो जाती है और आय की लोच का प्रभाव राज्यों की आय पर भी पर्याप्त मात्रा में पड़ता है। इसका कुछ प्रभाव केन्द्रीय वित्त-व्यवस्था की योजना पर होगा विशेष कर जबकि केन्द्रीय सरकार के कुल अनुदानों में अपनी इच्छा से दिये हुये अनुदानों और व्यय में हाथ बटाने के रूप में सहायता का अंश अधिक है।

व्यय

राज्य सरकारें अपनी आय नागरिक प्रशासन में व्यय करती हैं। नागरिक प्रशासन के अन्तर्गत सामान्य प्रशासन, न्याय, पुलिस इत्यादि, सार्वजनिक निर्माण कार्य और विकास योजनाएँ सम्मिलित हैं। विकास योजनाओं पर राजस्व तथा पूँजी खातों से व्यय किया जाता है। इधर कुछ वर्षों से राज्यों का व्यय बढ़ा है परन्तु अधिकांश व्यय सार्वजनिक निर्माण कार्यों और विकास योजनाओं पर हुआ है।

राजस्व व्यय (Revenue Expenditure)—समस्त राज्यों को मिलाकर राजस्व खाते का व्यय १९५१-५२ में ३६२.६८ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५९-६० में ८२९.८९ करोड़ रुपया हो गया (तालिका ४)। लेकिन विकास-व्यय (१६६·२१ करोड़ रुपये से बढ़कर ४८०.९६ करोड़ रुपये) में गैर विकास व्यय (१९६.४७ करोड़ रुपये से बढ़कर ३४८.९३ करोड़ रुपये) की अपेक्षा ज्यादा वृद्धि हुई है।

तालिका ४

राज्य सरकारों के राजस्व खाते का विकास व्यय

(करोड़ रुपयों में)

व्यय की मदें	१९५१-५२ (वास्तविक)	१९५५-५६ (संशोधित)	१९५६-५७ (बजट)	१९५८-५९ (बजट)	१९५९-६० (बजट)
१. शिक्षा	६०·३०	१०५·०४	११९·९३	१४२·७८	१५८·३३
२. चिकित्सा तथा जन-स्वास्थ्य	२९·२२	४८·८३	५४·२७	६०·६४	७०·९८
३. कृषि, पशुपालन तथा सहकारिता	२५·९०	४२·३१	४६·६६	५६·२९	६३·८४
४. सिंचाई...	१७·६२	२५·०२	२२·९३	२३·२१	२६·४३
५. बिजली योजनाएँ...	४·६१	७·१०	९·१४	७·८२	४·७४
६. ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ ...	०·८२	३०·५१	३२·९७	३६·९१	३७·६६
७. नागरिक निर्माण कार्य	४०·९३	७०·६७	५९·९२	५०·३४	५८·५७
८. उद्योग तथा पूर्ति...	५·८१	१०·६७	१९·७७	२२·१०	२२·७५
९. अन्य विकास मद[1]	११·००	१६·३१	२१·५६	३४·१६	३७·६६
कुल विकास व्यय	१९६·२१	३५६·४६	३८७·१५	४३४·२५	४८०·९६
कुल गैर विकास व्यय	१९६·४७	२६९·९७	२६७·२४	३११·५१	३४८·९३
कुल राजस्व व्यय	३९२·६८	६२६·४३	६५४·३९	७४५·७५	८२९·८९

१· इसमें मुतफर्रिक तथा वैज्ञानिक विभागों, उड्डयन, बन्दरगाह और पायलट की फीस का व्यय शामिल है।

लेकिन (क) गैर विकास व्यय की इस वृद्धि ने भी एक हद तक द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत व्यय के लक्ष्यों की पूर्ति करने में राज्यों की क्षमता घटा दी है और इस प्रकार जनता को मिलने वाले लाभ को घटा दिया है, (ख) विकास खर्च में जितनी किफायतशारी सम्भव थी उतनी राज्य सरकारों ने नहीं की, और (ग) नागरिक प्रशासन सेवाओं तथा ऐसी ही मदों में गैर विकास खर्च अकाल में होने वाले व्यय से कहीं ज्यादा बढ़ गया है। १९५१-५२ और १९५९-६० के बीच जहाँ तक विकास व्यय का प्रश्न है सब से ज्यादा शिक्षा में बढ़ा। इसके बाद ग्रामीण तथा सामुदायिक विकास योजनाएँ, चिकित्सा तथा जन-स्वास्थ्य, कृषि, पशुपालन तथा सहकारिता आते हैं। उद्योग तथा पूर्ति, सिंचाई तथा बिजली में कम विकास व्यय हुआ। इस परिणाम पर पहुँचना ठीक होगा कि राज्यों में जनता के लिए सुविधाएँ बढ़ी हैं और राज्यों के विकास व्यय के फलस्वरूप देश का काफी आर्थिक विकास हुआ है।

पूँजी व्यय (Capital Expenditure)—राज्य सरकारों का विकास तथा गैर विकास मदों का कुल पूँजी व्यय १९५१-५२ में १२७·५७ करोड़ रुपये से बढ़कर १९५५-५६ में २३१·५६ करोड़ रुपये और १९५९-६० में २७९·७६ करोड़ रुपया हो गया। जिन मदों में पूँजी व्यय हुआ है वे बहु-धन्धी नदी घाटी योजनाएँ, सड़क यातायात, औद्योगिक योजनाएँ और राज्य व्यापार हैं। अगर हम पूँजी व्यय की पूरी स्थिति सामने रखें, जिसमें राज्य सरकारों द्वारा दिये गये ऋण और पेशगियाँ, स्थायी ऋण की अदायगी, केन्द्रीय ऋणों की अदायगी आदि है, तो पता चलेगा कि कुल पूँजी व्यय १९५१-५२ में १८८·७२ करोड़ रुपये से बढ़ कर १९५५-५६ में ३६९·७५ करोड़ रुपये और १९५९-६० (बजट अनुमान) में ४९५·३१ करोड़ रुपये हो गया।

राज्यों की वित्त व्यवस्था तथा योजना—इसके बावजूद कि राज्य सरकारों ने नये कर लगाये हैं और वर्तमान करों की दरें बढ़ा दी हैं, वे द्वितीय योजना के लिए १७३ करोड़ रुपये से ज्यादा संग्रह नहीं कर सकते जब कि योजना के लिए २.२५ करोड़ रुपये का लक्ष्य है।

जहाँ तक बिजली कर तथा शुल्क, मोटरगाड़ी कर और राज्य उत्पादन करों का प्रश्न है राज्य सरकारों ने आशा से अधिक आय की है। कमी मालगुजारी तथा सिंचाई कर, विकास कर, सामान्य बिक्री कर और मोटर स्पिट तथा डीजल आयल कर में रही है। "राज्यों में अतिरिक्त कर लगाने तथा वर्तमान करों में वृद्धि करने के फलस्वरूप पाँच वर्षों में १७३ करोड़ रुपये की आय का अनुमान है। इस प्रकार उनकी योजना के मूल लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ५२ करोड़ रुपया

और जुटाना है। महत्व की बात यह नहीं है कि करों द्वारा वे कितना संग्रह करते हैं बल्कि यह है कि उन्हें योजना के लिए पूंजी जुटाने में राजस्व से कितना मिलता है। राज्यों से आशा की गयी थी कि वे इस स्रोत से कुल २७० करोड़ रुपया इकट्ठा करेंगे। पहले तीन वर्षों में उनका अंश दान करीब १३५ करोड़ रुपया होगा और पाँच वर्षों की अवधि में वर्तमान कर-दर के आधार पर यह करीब २६५ करोड़ रुपया होगा। दूसरे शब्दों में, अतिरिक्त करों की पाँच वर्षों की अवधि की १७३ करोड़ रुपये की सम्भावित आय से, जो राज्यों के अंश-दान के रूप में है, मूल लक्ष्य की प्राप्ति होने की सम्भावना नहीं है। यह कमी है बावजूद इसके कि वित्त आयोग के निर्णय के फलस्वरूप १६० करोड़ रुपये का लाभ हुआ है और कुछ केन्द्रीय करों के हिस्से के रूप में आय में वृद्धि हुई है"।

सितम्बर, १९५८ में योजना में व्यय के पुनः मूल्यांकन के अनुसार, जिससे योजना के मुख्य कार्यक्रमों (खंड क) का व्यय ४,५०० करोड़ रुपये से बढ़ कर ४,६५० करोड़ रुपये हो गया है, राज्य सरकारों से कहा गया है कि वे द्वितीय योजना के शेष दो वर्षों में १४० करोड़ रुपये तक के अतिरिक्त साधन जुटायें यानी ६० करोड़ रुपये अतिरिक्त करों से, ५० करोड़ रुपये ऋणों तथा अल्प बंचतों से, और ३० करोड़ रुपया गैर-योजना खर्च में किफायत करके संग्रह करें। इसकी आशा करना बेकार है कि राज्य अतिरिक्त करों से ६० करोड़ रुपया यहाँ तक कि इसका आधा ही इकट्ठा कर पायेंगे क्योंकि (१) बिक्री कर तथा आय कर के हिस्से से कुछ करों को छोड़कर जिनसे अतिरिक्त आय पहले ही आ चुकी है ऐसे कर नहीं हैं जिन्हें लगा कर राज्य सरकारें अधिक अतिरिक्त आय कर सकें, (२) 'संयुक्त कर प्रणाली' लागू करने के फलस्वरूप केन्द्रीय सरकार द्वारा लगाये गये कर पहले ही बहुत बढ़ चुके हैं और चूँकि केन्द्रीय तथा राज्य करों का भार उन्हीं लोगों पर पड़ता है जो राज्य सरकार को अतिरिक्त कर देने में समर्थ हो सकते थे, राज्य सरकारों के कर राजस्व को बढ़ाने की अधिक संभावना नहीं है। कर देने की क्षमता जैसी भी कोई चीज है और यह दिखता है कि पिछले कुछ वर्षों में केन्द्र द्वारा कर बढ़ाये जाने के फलस्वरूप वह खतम हो गयी है, और (३) विकास कर और सिंचाई आदि के प्रश्न पर राजनीतिक कठिनाई है क्योंकि इनका भार उन्हीं लोगों पर पड़ेगा जिनके समर्थन पर सत्तारूढ़ पार्टी निर्भर करती है। ऐसी स्थिति में यह आशा करना तर्कसंगत नहीं कि राज्य सरकारें द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिए धन जुटाने के लिए अधिक अतिरिक्त राजस्व संग्रह कर सकेंगी।

स्थानीय वित्त व्यवस्था

भारत में महत्वशाली स्थानीय निकायों, नगरपालिकायें और जिला बोर्ड

हैं। नगरपालिकायें नगरों में और जिला बोर्ड ग्रामीण क्षेत्रों में होते हैं। स्थानीय वित्त जाँच समिति (१९४९-५०) ने अनुमान लगाया था कि १९४६-४७ में भारत में कुल नगरपालिकायें जिनमें तीन नगर निगम भी सम्मिलित हैं लगभग २·७ करोड़ जनसंख्या की सेवा कर रही थीं। उनकी कुल स्रोतों से आय २७·५ करोड़ रुपया थी जिसमें १९·३ करोड़ रुपया अथवा लगभग ७०% करों से प्राप्त आय थी। जिला बोर्डों की संख्या १७६ थी जो २०·५ करोड़ जन-संख्या की सेवा करते थे। उनकी कुल स्रोतों से आय १५·६ करोड़ रुपया थी जिसमें से ५.२ करोड़ रुपया अथवा ३४% कर से प्राप्त आय थी। यह बड़े खेद की बात है कि बाद के स्थानीय संस्थाओं की आय और व्यय के सम्मिलित आंकड़े प्राप्त नहीं हैं और प्रत्येक स्थानीय संस्थाओं के बजटों से आंकड़े इकट्ठे करना बहुत ही दुस्सह कार्य है। जो आंकड़े प्राप्त हैं उनसे ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्थानीय निकायों के आय के स्रोत बहुत क्षीण हैं। यदि उन्हें अपना कर्त्तव्य संतोषप्रद ढंग से करना है तो उन्हें अधिक धन की प्राप्ति होनी अत्यन्त आवश्यक है। अधिक व्यय शीर्षों को स्थानीय निकायों से लेकर राज्य सरकारों पर स्थानान्तरित करना एक विपरीत रीति होगी। ये स्थानीय निकाय प्रजातंत्र शासन प्रणाली के सिद्धान्तों की शिक्षा देने के लिये बहुत ही उपयुक्त क्षेत्र हैं और स्थानीय कार्यों, जैसे सफाई, पानी की सुविधा इत्यादि के करने के लिये बहुत ही उपयुक्त अधिकारी भी हैं।

स्थानीय निकायों के पास अपर्याप्त आय स्रोतों के न होने का कारण संघीय अर्थ प्रबन्धन के अन्तर्गत स्वाभाविक केन्द्रीय और राज्य सरकारों की पारस्परिक स्रोतों को अपने अपने अधिकारों में कर लेने की प्रतिद्वन्द्विता है जिसके कारण लोचवाले आय के कोई भी स्रोत स्थानीय निकायों के कार्य में लाने के लिये नहीं बचे हैं। इसके अतिरिक्त स्थानीय निर्वाचित निकाय जो कुछ भी थोड़े आय के स्रोत उनके अधिकार में हैं, उनका पूर्ण प्रयोग करने में संकोच करती हैं क्योंकि ये निकाय स्थानीय जनता के मतदान अधिकार पर आधारित हैं इसलिए अधिकांश निकायों ने उन करों का पूर्ण प्रयोग आय बढ़ाने के लिए नहीं किया जिनके आरोप का अधिकार उन्हें प्राप्त है। बहुधा आय की एक बड़ी मात्रा बिना वसूली पड़ी रह जाती है। किसी सीमा तक कर वसूल करने वाले कर्मचारियों की अक्षमता और किसी सीमा तक सम्बन्धित लोगों के व्यक्तिगत प्रभाव के कारण ऐसा होता है। इसलिए यह आवश्यक है कि इस ओर सुधार होना चाहिए। यदि आवश्यक समझा जाय तो राज्य सरकारों द्वारा इस सम्बन्ध में देख-रेख की जा सकती है।

"भारत में स्थानीय राजस्व को अलग करने का सिद्धान्त सर्व प्रथम

१६१६ के भारत सरकार कानून में शामिल किया गया था और अनुसूचित-कर-नियम के अन्तर्गत कुछ कर सिर्फ स्थानीय निकायों के लिये अलग से सुरक्षित कर दिये गये थे। भारत के नये संविधान में स्थानीय करों की कोई सूची अलग से नहीं रखी गयी । इसलिए इस बात की बार-बार माँग हुई है कि संविधान में संशोधन किया जाय जिससे संविधान की सातवीं अनुसूची में कानूनी अधिकारों की एक पृथक स्थानीय सूची शामिल कर ली जाय और स्थानीय राजस्व की पृथक व्यवस्था की जाय; लेकिन १६४६ में नियुक्त स्थानीय वित्त जाँच समिति ने इस माँग को नहीं स्वीकार किया। इसने सिफारिश की कि कर राजस्व के निश्चित स्रोत अलग कर लिए जायँ, और यह सुझाव दिया कि यह काम एक समझौते द्वारा हो। उसने सिफारिश की कि एक कर (माल और मुसाफिरों पर सीमा कर) केन्द्रीय सूची से और बारह कर[1] राज्य सूची में से निकाल कर सुरक्षित कर दिये जायँ। कर जाँच आयोग (१६५३-५४) ने भी संविधान में संशोधन करने की माँग स्वीकार न की लेकिन उसने इस बात की जोरदार सिफारिश की कि कुछ विशेष कर स्थानीय निकाय ही लगायें या उनके लिए लगाये जाँय और अगर इस समय राज्य सरकारें अपने लिए इनमें से किसी कर को वसूल कर रही हों, तो वे धीरे-धीरे उसे छोड़ दें और इस बीच उसकी आय सम्बद्ध स्थानीय निकायों के नाम कर दें"।

स्थानीय वित्त जाँच समिति ने यह भी सिफारिश की कि स्थानीय निकायों को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की सम्पत्ति पर भी कर लगाने का अधिकार होना चाहिए या उसके बदले उनको अंशदान मिलना चहिए।

आर्थिक कठिनाइयों तथा विकास योजनाओं के विस्तार के कारण राज्य सरकारों ने स्थानीय वित्त जाँच सिमित की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया है।

---

(१) रेल,वायु अथवा समुद्र द्वारा लाये व्यक्तियों और वस्तुओं पर सीमा कर (Terminal tax) ; (२) भूमि और भवनों पर कर ; (३) खान खोदने के अधिकार पर कर ; (४) वस्तुओं के स्थानीय क्षेत्र में प्रवेश करते ही कर चाहे वे उपयोग के लिये हों अथवा किसी और काम के लिए या बेचने के लिए हों ; (५) बिजली की बिक्री पर कर ; (६) विज्ञापन पर कर ; (७) वस्तुओं अथवा व्यक्तियों के सड़कों अथवा नदियों द्वारा लाये जाने पर कर ; (८) उन यानों पर कर जो यंत्रों से नहीं चलाये जाते; (६) जानवरों और नावों पर कर ; (१०) प्रवेश कर (Toll tax); (११) व्यवसायों, व्यापारों, तथा कारोबारों पर कर ; (१२) प्रति व्यक्ति पर कर (Capitation tax), और (१३) मनोरञ्जन कर।

केवल मद्रास में मनोरञ्जन कर से प्राप्त आय स्थानीय निकायों को बाँट दी जाती है।

जिला बोर्डों के आय का मुख्य स्रोत मालगुजारी पर लागू उपकर है जो कि राज्य सरकार मालगुजारी के साथ उनके लिए वसूल करती है। इस उपकर की दर ६¼% से १२½% तक बदलती रहती है और यही इस उपकर की कानून द्वारा निर्धारित न्यूनतम और अधिकतम सीमा भी है।

नगरपालिकायें निम्न कर लागू करती हैं; (१) चुङ्गी अथवा सीमा कर; (२) सम्पत्ति कर; (३) पेशा कर; (४) यात्रियों, घरेलू नौकरों, कुत्तों, साइकिलों आदि पर कर; और (५) लाइसेन्स कर। कुछ नगरपालिकाओं को जलवायु, बिजली अथवा गैस की सप्लाई, नगर बस अथवा रेल सर्विस से आय प्राप्त होती है। इस प्रकार की जनता के हित की सेवाओं से दुहरा लाभ हो सकता है। उनसे जनता को भी लाभ होता है और स्थानीय निकायों को वित्तीय सहायता भी पहुँचती है।

स्थानीय निकायों को राज्य सरकारों से सहायता अनुदान भी प्राप्त होते हैं। ये अनुदान बहुधा किसी विशेष कार्य के लिए या विशेष शर्तों पर दिये जाते हैं।

अध्याय ५६

प्रथम पंचवर्षीय योजना

नियोजन का तात्पर्य यह है कि देश के उपलब्ध साधनों का नियमबद्ध रूप से उपयोग किया जाय और इस दिशा में प्रगतिशील दृष्टिकोण अपनाया जाय जिससे उत्पादन बढ़े, राष्ट्रीय लाभांश बढ़े, रोजगार और सामाजिक कल्याण में वृद्धि हो। इसके लिये यह आवश्यक है कि उपलब्ध साधनों की सावधानी से जाँच परख की जाय और राष्ट्रीय उत्पादन और आय में निर्धारित वृद्धि करने के लिये इन साधनों के उपयोग की गति को भी नियोजित किया जाय। भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना १९५१-५२ में लागू हुई और १९५५-५६ तक पूरी हो गई। इस योजना पर ५ वर्ष में २,०६९ करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई थी। व्यय की मात्रा निर्धारित करने में योजना आयोग ने इन बातों पर विचार किया कि (१) विकास की एक ऐसी प्रक्रिया का समारंभ किया जाय जिसके आधार पर भविष्य में और बड़ी योजनाओं को कार्यान्वित किया जा सके; (२) विकास कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिए देश को कुल कितने साधन उपलब्ध हो सकते हैं; (३) विकास की गति और निजी तथा सरकारी क्षेत्र के अन्तर्गत साधनों की आवश्यकता के बीच निकट सम्बन्ध स्थापित हो, (४) योजना लागू होने के पूर्व केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा आरम्भ की गई विकास योजनाओं को पूरा किया जाय और (५) युद्ध तथा देश विभाजन से देश की अव्यवस्थित आर्थिक व्यवस्था को सुनियोजित आधार प्रदान किया जाय।

भारत की आर्थिक स्थिति में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि जनसंख्या में प्रतिवर्ष १¼ प्रतिशत की वृद्धि होती है। इस तथ्य पर और देश के सभी उपलब्ध साधनों पर विचार करने के पश्चात् योजना आयोग ने यह व्यवस्था की है कि १९७७ तक वर्षों में प्रति व्यक्ति की आय दूनी हो जाय। भारत की अपेक्षा अधिक विकसित देश में प्रति व्यक्ति की आय दूनी करने में कम समय लगेगा परन्तु भारत जैसे पिछड़े देश में इसमें अनिवार्यतः अधिक समय लगेगा क्योंकि देश में साधनों की कमी है, टेकनिकल कुशलता का अभाव है और संगठन की स्थिति कमजोर है। भारत में प्रति व्यक्ति आय दूनी करने के लिए अनेक पंचवर्षीय योजनाओं की आवश्यकता पड़ेगी। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत सरकार ने इस दिशा में कार्य आरम्भ कर दिया है। समय के साथ कार्य की गति भी जोर पकड़ती जायगी।

पूंजी निर्माण की गति—योजना आयोग ने यह माना है कि आधारभूत वर्ष १९५०-५१ में भारत की राष्ट्रीय आय ९,००० करोड़ रुपया थी और कुल राष्ट्रीय आय का औसतन ५ प्रतिशत बचत की जाती थी। इसका तात्पर्य यह है कि १९५०-५१ में सारी जनता की कुल बचत ४५० करोड़ रुपया थी। यदि १९५१-५२ और १९५५-५६ के बीच प्रति वर्ष २० प्रतिशत अतिरिक्त आय पूँजी निर्माण में लगा दी जाय, अर्थात मशीन इत्यादि और काफी समय तक चलने वाले सामानों पर रुपया लगाया जाय तो पंचवर्षीय योजना के अंत तक भारत की राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और बचत की दर भी ६३ प्रतिशत वार्षिक हो जायगी। १९५५-५६ में इस प्रकार कुल ६७५ करोड़ रुपया राष्ट्रीय बचत होगी। योजना आयोग ने बताया है कि इसके बाद १९६७-६८ में समाप्त होने वाले १२ वर्षों में केवल २० प्रतिशत नहीं बल्कि ५० प्रतिशत अतिरिक्त राष्ट्रीय आय प्रतिवर्ष पूँजी निर्माण में लगाई जानी चाहिये। यदि यह प्रक्रिया जारी रहती है तो १९७७ तक प्रति व्यक्ति की आय (Per capita income) दो गुनी हो जायगी।

प्राथमिकता का क्रम—राष्ट्रीय आय में उक्त-लिखित वृद्धि करने के लिए प्रतिव्यक्ति की आय दोगुनी करने के लिए संशोधित योजना में २,३५६ करोड़ रुपया विकास योजनाओं में व्यय करने का निश्चय किया गया। योजना में भारतीय आर्थिक व्यवस्था को सरकारी तथा निजी उद्योग क्षेत्र में विभाजित किया गया है। सरकारी क्षेत्र में वह उद्योग सम्मिलित हैं जिनका मालिक स्वयं सरकार है, जिन पर केन्द्रीय या राज्य सरकार अथवा इन सरकारों के आधीन अधिकारियों का नियंत्रण है। निजी उद्योग क्षेत्र में वह उद्योग, वाणिज्य और व्यापार शामिल हैं जिनके मालिक उद्योगपति हैं, जिन पर उनका नियंत्रण है और जिनका संचालन स्वयं इन्हीं उद्योगपतियों द्वारा होता है। इन दोनों उद्योग क्षेत्रों की समस्याएँ प्रायः समान हैं और दोनों को श्रेणियों में स्पष्ट विशेषताओं के आधार पर विभक्त नहीं किया जा सकता है। परन्तु सुविधा की दृष्टि से पंचवर्षीय योजना में इन दोनों उद्योग क्षेत्रों पर पृथक रूप से विचार किया गया है। सरकारी उद्योग क्षेत्र के लिए कुल लागत की मात्रा निर्धारित कर ली गई है और इस क्षेत्र की वित्तीय आवश्यकता सरकार पूरी करती है परन्तु निजी उद्योग क्षेत्र के निर्धारित लक्ष्य के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ न कह कर केवल सामान्य लक्ष्य बता दिया गया और इस लक्ष्य की पूर्ति तथा आवश्यक वित्त जुटाने के लिए भी उद्योग क्षेत्र को स्वतंत्र छोड़ दिया गया। सरकारी उद्योग क्षेत्र में लक्ष्य की पूर्ति सरकार का प्रत्यक्ष उत्तरदायित्व है परन्तु यही बात निजी उद्योग क्षेत्र में लागू नहीं होती

है क्योंकि निजी उद्योग क्षेत्र में सरकार अप्रत्यक्ष रूप से सहायता प्रदान करती और कारोबार के परिणामों का निरीक्षण करती रहती है। इसके मूल में यह विचार निहित है कि यदि निजी उद्योग क्षेत्र निर्धारित लक्ष्यों की पूर्ति नहीं कर पाता है और उसकी प्रगति अपेक्षित गति नहीं हो पाती है तो सरकारी उद्योग का कार्य क्षेत्र बढ़ जायगा और सरकार इन निजी उद्योग क्षेत्र की विभिन्न इकाइयों का कार्य भार धीरे-धीरे स्वयं ग्रहण कर लेगी। कुछ समय तक सरकारी और निजी क्षेत्र दोनों ही रहेंगे।

पंचवर्षीय योजना के प्रारूप में जो जुलाई १९५१ में प्रकाशित किया गया था और स्वयं पंचवर्षीय योजना में जो दिसम्बर १९५२ में संसद के सामने प्रस्तुत की गई थी कृषि विकास को प्राथमिकता दी गई है और इसके बाद यातायात तथा संचार, समाज सेवा कार्य और उद्योग को रखा गया है। पंचवर्षीय योजना की यदि योजना के प्रारूप से तुलना की जाय तो पता चलेगा कि योजना के अंतिम रूप में उद्योग के महत्व को कुछ अधिक बढ़ा दिया गया है पर इससे योजना का प्राथमिकता क्रम नहीं बदलता है। योजना के अंतिम रूप में कृषि, सिंचाई और बिजली की लागत कुल लागत का ४३·२ प्रतिशत रखी गई, याता-यात तथा संचार की लागत २३·६ प्रतिशत, समाज सेवा कार्यों पर व्यय की लागत २२·६ प्रतिशत और उद्योग की लागत केवल ७·६ प्रतिशत रखी गई थी। योजना आयोग ने कृषि को अधिक महत्व प्रदान करने के कारणों पर प्रकाश डाला है। आयोग का मत है कि खाद्यान्न और कच्चे माल के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि न होने से उद्योगों के तीव्र विकास की संभावना नहीं है। सबसे पहले यह आवश्यक है कि आर्थिक स्थिति के मूल को दृढ़ किया जाय, कृषि क्षेत्र में पर्याप्त अतिरिक्त खाद्यान्न तथा कच्चा माल पैदा किया जाय और अन्य क्षेत्रों का कार्य आगे बढ़ाने में उसका उपयोग किया जाय। इसी उद्देश्य के कारण कृषि को प्राथमिकता प्रदान की गई है। संशोधित योजना में यद्यपि कुल व्यय बढ़ाकर २३५६ करोड़ रुपया कर दिया गया फिर भी प्राथमिकता के क्रम में कोई विशेष परिवर्तित नहीं किया गया है।

जहाँ तक औद्योगिक क्षेत्र का सम्बन्ध है प्राथमिकता निर्धारित करते समय इन बातों पर विचार किया गया है कि (१) जूट और प्लाईवुड जैसे उद्योगों (Producer goods industries) की वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय और उपभोग की वस्तुओं का उत्पादन करनेवाले उद्योगों, जैसे सूती कपड़ा, चीनी, साबुन और वनस्पति उद्योगों की भी वर्तमान उत्पादन शक्ति का पूरा उपयोग किया जाय, (२) लोहा और इस्पात, एल्यूमोनियम,

सिमेंट रसायनिक खाद, भारी रसायनिक, मशीनों के औजारों इत्यादि उद्योगों की उत्पादन शक्ति बढ़ाई जाय, (३) उन औद्योगिक इकाइयों का निर्माण कार्य पूरा किया जाय जिन पर काफी पूँजी लगाई जा चुकी है और (४) जिप्सम से गन्धक, विशेष प्रकार के रेशम का उत्पादन करने के लिए आवश्यक सामग्री, और अलौह धातुओं के टुकड़ों का उत्पादन करने के लिये नये कारखाने स्थापित किये जायँ जिससे बड़े और अत्यन्त महत्व के उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल की पूर्ति की जा सके। प्राथमिकता का यह क्रम यह प्रकट करता है कि उपलब्ध साधनों का पूरा उपयोग किया जायगा और किसी भी उद्योग के प्रति उदासीनता नहीं अपनायी जायगी। राज्य अनेक कारखाने स्थापित कर सकते हैं परन्तु कृषि के विपरीत उद्योगों का विकास पूर्णतया निजी उद्योग क्षेत्र के हाथों में छोड़ दिया गया है। कृषि तो सरकारी उद्योग क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। पंचवर्षीय योजना में ४२ उद्योगों के लक्ष्य निर्धारित किये गये थे और यह अनुमान लगाया गया था कि इन लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए पाँच वर्ष में कुल २३३ करोड़ रुपया व्यय करना पड़ेगा। इसके साथ ही कारखानों के आधुनिकीकरण में और मशीनों को बदलने में १५० करोड़ रुपया और व्यय होगा। यदि इसमें चालू पूँजी की रकम भी जोड़ दी जाय तो पता चलेगा कि पाँच वर्ष में केवल उद्योग ही की वित्तीय आवश्यकता ७०७ करोड़ रुपये के बराबर होगी। इस वित्तीय आवश्यकता की पूर्ति सरकार नहीं करेगी। इसके लिए निजी उद्योगों को स्वयं प्रयत्न करना पड़ेगा।

वित्त—योजना को सफल बनाने के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वित्तीय आवश्यकता पूरी करने में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। कृषि तथा औद्योगिक साधनों का विकास करने के लिए बहुत बड़ी मात्रा में पूँजी लगाने की आवश्यकता है। यदि यह पूँजी देश के अन्दर ही प्राप्त नहीं होती तो इसके लिए हमें विदेशी स्रोतों की सहायता लेनी पड़ेगी। भारत की पंचवर्षीय योजना केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों की वर्तमान आय में से बचत, भारतीय रेलवे की आय में से बचत, ऋण तथा जनता की बचत और विदेशी पूँजी पर निर्भर करती है। योजना के व्यय की पूर्ति करने के लिए भारत के पौण्ड पावने, विदेशी सहायता और ऋण पर भी पूरा विचार कर लिया गया है। इन सारे साधनों का उपयोग कर लेने के बाद भी कुछ कमी रह जाती है जिसकी पूर्ति के लिए यह आशा की जाती है कि अतिरिक्त कर लगाकर या स्वदेशी बाजार से अधिक मात्रा में ऋण लेकर इस कमी को पूरा किया जायगा परन्तु यदि ऐसा संभव न हो सका तो पंचवर्षीय योजना की लागत में इतनी रकम की कमी कर दी जायगी।

योजना की कुल लागत २,०६६ करोड़ रुपया थी ; सरकारी तथा निजी बचत से पाँच वर्ष में १,२५८ करोड़ रुपया प्राप्त होगा जबकि इन्हीं स्रोतों से योजना के मूल वर्ष १९५०-५१ में २२२ करोड़ रुपया प्राप्त हुआ। १,२५८ करोड़ रुपये की उपलब्ध राशि में से ७४० करोड़ रुपये केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों और रेलवे बजट की अतिरिक्त आय से प्राप्त होंगे और ५१८ करोड़ रुपया निजी बचत से। संशोधित योजना में बजट से प्राप्त आय में और व्यक्तिगत बचत में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ है जो कि आशा की जाती है कि ७४३ और ५१८ करोड़ रुपये क्रमशः होगी। बढ़ी हुई लागत अधिकांश घाटे के अर्थ प्रबन्धन द्वारा पूरी की जायगी जैसा कि कमी की मात्रा में ९८८·४ करोड़ रुपया बढ़कर हो जाने से प्रतीत होता है। यह आशा की जाती है कि पौण्ड पावने से प्राप्ति को विचाराधीन रखते हुये यह कमी ७०१ करोड़ रुपये की रह जायगी।

योजना को अंतिम रूप देने के पहले भारत को विदेशों से सहायता और ऋण के १५६ करोड़ रुपया मिला था। योजना आयोग ने इसे भी सम्मिलित कर लिया। योजना में यह व्यवस्था भी की गई थी कि घाटे का बजट बढ़ाकर २९० करोड़ रुपयों की और पूर्ति की जाय। इसके बाद भी ३६५ करोड़ रुपयों की पूर्ति शेष रह जाती है। यह बहुत संभव है कि यह कमी और अधिक हो यदि राज्य तथा निजी बचत की स्थिति आशा के अनुकूल न रही।

यदि सारी स्थिति पर दृष्टि डाली जाय तो पता चलेगा कि सरकारी क्षेत्र में जो कुल २,०६६ करोड़ रुपये की लागत रखी गई है उसमें से दीर्घकालिक व्यय (Capital expenditure) केवल १,६०० से १,७०० करोड़ रुपये के बीच में होगा। यदि इसमें निजी उद्योग क्षेत्र में लगायी गयी पूँजी को भी मिला लिया जाय (जिसमें उद्योग, वाणिज्य और व्यापार में लगी पूँजी भी सम्मिलित है) तो पाँच वर्ष में स्वदेशी स्रोतों से ही दीर्घकालिक व्यय की २,७०० से २,८०० करोड़ रुपये की राशि पूरी करनी पड़ेगी। यदि इसमें इसी अवधि में पौण्ड पावने की मद में से मिलने वाले २९० करोड़ रुपये (जो भारत में घाटे की बजट व्यवस्था का आधार हैं) और अन्तर्राष्ट्रीय बैंक, अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड इत्यादि से प्राप्त १५६ करोड़ रुपया जोड़ा जाय तो कुछ साधन ३,१५० से ३,२५ करोड़ रुपयों के बीच हो जाते हैं। संशोधित रूप में यह धनराशि ३३३०-३४३० करोड़ रुपया हो जायगी।

आलोचना—पंचवर्षीय योजना में भारत के कृषि तथा औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में बड़ा आशावादी दृष्टिकोण अपनाया गया। आँकड़ों के अभाव और साधन की कमी के कारण इससे अच्छी योजना तैयार करना संभव नहीं था।

योजना पूर्ण होने पर राष्ट्रीय उत्पादन बढ़ेगी, आय बढ़ेगा और जनता अधिक धनवान और प्रसन्न हो सकेगी, भारत के आर्थिक विकास में जो कमियाँ हैं उन्हें दूर किया जा सकेगा, खाद्यान्न में देश निरन्तर स्वावलम्बी बनता जायगा और कुछ कच्चे मालों का जिनके लिये देश आयात पर निर्भर है, उत्पादन बढ़ेगा। योजना में वैज्ञानिक प्रगति और टेकनिकल शिक्षण की आवश्यकता को भी महत्व दिया गया है। इन पर उद्योग और कृषि की सफलता निर्भर करती है। वैज्ञानिक जाँच-परख, टेकनिकल शिक्षण इत्यादि के लिये भी योजना में विशेष व्यवस्था की गई है। कुछ समय बाद इसका प्रभाव प्रकट होगा।

यह आलोचना की गई है कि पाँच वर्षों में योजना को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक वित्त के सम्बन्ध में पंचवर्षीय योजना ने बहुत आशावादी दृष्टिकोण अपनाया है और जनता से बहुत आशा की है। इस सम्बन्ध में यह कहा गया है कि (क) योजना आयोग ने अनुमान लगाया है कि ५ वर्षों में केन्द्रीय सरकार के बजट, राज्य सरकारों के बजट और रेलवे से क्रमशः १६० करोड़ रुपया, ४०८ करोड़ रुपया और १७० करोड़ रुपया अतिरिक्त प्राप्त होगा परन्तु इस मात्रा में अतिरिक्त आय होना संभव नहीं है। जनता में अब और अधिक कर देने की क्षमता नहीं है और रेलवे तथा सरकारों की आय भी उतनी अधिक होना संभव नहीं है जितनी की योजना में अपेक्षा की गई है। इसका तात्पर्य यह है कि पंचवर्षीय योजना अपने मूलरूप में कार्यान्वित नहीं हो पायेगी और उसमें काट छाँट करनी पड़ेगी। (ख) योजना में यह माना है कि १९५१ और १९५६ के बीच प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत पूँजी निर्माण में लगाया जायगा और १९५६ से १९६८ तक अतिरिक्त आय का ५० प्रतिशत इसमें लगाया जायगा। भारत जैसे निर्धन देश में जहाँ की अधिकतर जनता की आय अपने जीवन निर्वाह के लिए ही पर्याप्त नहीं है अतिरिक्त आय का इतना अधिक अंश पूँजी निर्माण में लगा सकने की आशा करना वास्तविक स्थिति के अनुकूल नहीं है। यदि जनता की आय बढ़ती है तो वह उसको विनियोग में लगाने की अपेक्षा उपयोग में व्यय करना अधिक पसन्द करेगी। यदि ऐसा होता है तो योजना आयोग की यह आशा कि १९५६ तक कुल राष्ट्रीय आय १०,००० करोड़ रुपये तक बढ़ जायगी और १९७७ तक प्रति व्यक्ति की आय दूनी हो जायगी, पूरी नहीं हो सकती है।

इन आलोचनाओं में कुछ सत्य अवश्य है परन्तु यह योजना का आधार भूत दोष नहीं हैं। किसी भी योजना की आलोचना में यह तर्क दिये जा सकते हैं। नियोजन के लिए यह आवश्यकीय है कि जनता त्याग करे। भारत

की प्रथम पंचवर्षीय योजना में संवभतः अन्य योजनाओं की अपेक्षा कुछ अधिक त्याग करने की माँग की गई है। परन्तु इस विषय में विभिन्न मत हो सकते हैं कि भारतीय जनता से किस सीमा तक त्याग करने की अपेक्षा की जाय और वह कितना त्याग कर सकने में समर्थ है। योजना में यह व्यवस्था की गई है कि १९५१-५६ के बीच प्रति वर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत विनियोग में लगाया जाय जबकि १९५०-५१ में, जो योजना का प्रथम वर्ष था, केवल ५ प्रतिशत के विनियोग की व्यवस्था की गई थी। इसके बाद की योजनाओं में प्रतिवर्ष अतिरिक्त आय का २० प्रतिशत विनियोग में लगाने की आशा की जायगी। जहाँ तक इस पक्ष का सम्बन्ध है योजना अभी पहला प्रयोग मात्र है। यदि जनता योजना में निर्धारित अनुपात में रुपया नहीं लगा सकी तो कम मात्रा में लगायेगी परिणाम स्वरूप प्रगति की गति भी धीमी हो जायगी। यही बात अतिरिक्त आय के सम्बन्ध में भी लागू होती है। बिना सही सूचना के इस क्षेत्र में उपयुक्त अनुपात निर्धारित करना संभव नहीं है। जैसे-जैसे योजना लागू की जायगी और नए अनुभव प्राप्त होंगे उसी के साथ साथ योजना में आवश्यक परिवर्तन किए जायँगे।

पंचवर्षीय योजना के आलोचकों ने कुछ गंभीर तर्क भी दिये हैं। उनका कहना है कि: (१) योजना में उद्योग की अपेक्षा कृषि को अधिक महत्व दिया गया है। इसका कारण यह बताया गया है कि जो योजनाएँ वर्तमान में कार्यान्वित की जा रही हैं उन्हें पूरा किया जाय और भविष्य में देश के औद्योगिक विकास के लिए सुदृढ़ आधार स्थापित किया जाय। इस तर्क का मूल विचार यह है कि भारत का वर्तमान औद्योगिक विकास कृषि विकास के अनुरूप हुआ है। परन्तु वास्तव में स्थिति ऐसी नहीं है। भारतीय स्थिति का ज्ञान रखने वाला कोई भी व्यक्ति यह जानता है कि भारत में कच्चे माल और बिजली इत्यादि का वर्तमान में जितना उत्पादन होता है उससे देश का बहुत अधिक औद्योगिक विकास किया जा सकता है। योजना आयोग ने एक और बात की ओर ध्यान दिया। यह बहुत संभव है कि जब तक हम भारत के भावी औद्योगिक विकास के लिए सुदृढ़ आधार स्थापित करेंगे तब तक विश्व स्थिति में ऐसा परिवर्तन हो सकता है जिससे भारत का औद्योगिक विकास आज की अपेक्षा अधिक कठिन हो जायगा। ऐसी स्थिति में कृषि के विकास का क्या उपयोग किया जा सकेगा? अंत में इस सम्बन्ध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि योजना का उद्देश्य भारत की आर्थिक व्यवस्था की त्रुटियों को दूर करके देश का अधिक सन्तुलित विकास करना है। इस दिशा में सबसे बड़ी कमी यह है कि भारत में मशीनों के निर्माण करने वाले

उद्योग नहीं है, विद्युत, इंजीनियरिंग, केमिकल इत्यादि के उद्योग का अच्छी तरह विकास नहीं हो सका है इसलिए अधिक सन्तुलित व्यवस्था बनाने के लिए योजना को इस दिशा की ओर अधिक ध्यान देना चाहिए था और इन उद्योगों का विकास करने की व्यवस्था करनी चाहिए थी।

(२) योजना के अनुसार देश का औद्योगिक विकास निजी उद्योगपतियों के हाथों में सौंपा गया है। इसमें किसी प्रकार की हानि नहीं है क्योंकि अतीत में निजी उद्योगपतियों ने भारतीय उद्योगों का कुशलता पूर्वक विकास किया। परन्तु योजना के आलोचकों का मत है कि औद्योगिक विकास अधिकांश रूप से निजी उद्योगपतियों के हाथों में सौंपने और उत्पादन के लक्ष्य निर्धारित करने के साथ निजी उद्योग के पूर्ण उपयोग के लिए पर्याप्त साधनों की व्यवस्था नहीं की गई है। भारतीय उद्योगपतियों का मत है कि योजना में २३३ करोड़ रुपये की पूँजी का विनियोग करने की और १५० करोड़ रुपये की पूँजी टूट-फूट इत्यादि के लिए रखने की व्यवस्था की गई है। परन्तु यह पूँजी उत्पादन के निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के लिए बिल्कुल अपर्याप्त है। इसके साथ ही यह बात ध्यान देने योग्य है कि उद्योग केवल वित्त की ही आवश्यकता नहीं होती है बल्कि इसके अतिरिक्त अनेक सुविधाओं की भी आवश्यकता होती है, जैसे कर सम्बन्धी, छूट टूट-फूट इत्यादि के लिए अधिक पूँजी और कुछ परिस्थितियों में नकद आर्थिक सहायता। यह खेद की बात है कि पंचवर्षीय योजना में इसके लिए कुछ व्यवस्था नहीं की गई है। इसके अभाव में निजी उद्योग देश के औद्योगिक विकास के प्रति अपने कर्तव्य का पूर्ण रूप से निर्वाह नहीं कर सकता है।

(३) प्रथम योजना का एक और गंभीर दोष यह है कि इसमें दीर्घकालीन योजनाओं पर विशेष जोर दिया गया है। इसमें कुछ सन्देह नहीं है कि सुनियोजित आर्थिक व्यवस्था में दीर्घकालिक योजनाओं पर विशेष जोर देना चाहिये। कुछ विदेशी राष्ट्रों में, जिसका सबसे उत्तम उदाहरण सोवियत रूस है, दीर्घकालिक योजनाओं को ही नियोजन का आधार बनाया गया। परन्तु भारत की स्थिति उससे भिन्न है। भारत में दीर्घकालिक योजनाएँ अधिक होनी चाहिये परन्तु साथ ही अल्पकालिक योजनाओं पर विशेष जोर देना चाहिये था। इससे प्रति एकड़ उत्पादन में शीघ्र वृद्धि की जा सकती थी और खाद्यान्न के सम्बन्ध में देश शीघ्र स्वावलम्बी बनाया जा सकता था। इससे बहुत सीमा तक भारत की बेरोजगारी की समस्या भी हल की जा सकती थी।

दीर्घकालिक योजनाओं पर अधिक जोर देने में एक और हानि यह है कि वस्तुओं के उत्पादन में दीर्घकाल के बाद वृद्धि होगी जबकि जनता की क्रय शक्ति

शीघ्र ही बढ़ेगी। इससे मुद्रास्फीति का जोर और बढ़ जायगा। सुनियोजित व्यवस्था में कुछ अंश तक मुद्रास्फीति और परिणामस्वरूप अधिक कीमतें होना अनिवार्य है परन्तु यदि नियोजन के द्वारा वस्तुओं की पूर्ति बढ़ती है तो उससे मुद्रास्फीति का प्रभाव कम हो जाता है यदि पंचवर्षीय योजना में अल्पकालिक योजनाओं पर अधिक जोर दिया जाता तो ऐसा होना संभव था। इसके अभाव में योजना के लागू होने से मुद्रास्फीति का जोर बढ़ा है जिससे उपभोक्ताओं को हानि हुई है।

(४) योजना की सफलता विशेष कर उस संगठन की कार्यक्षमता पर निर्भर करती है जिस पर उसके कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व है। भारतीय प्रथम पंचवर्षीय योजना की यह सबसे बड़ी कमी थी कि इसमें योजना को लागू करने के लिए किसी विशेष संगठन की व्यवस्था नहीं की गई। कुछ औद्योगिक और नदी घाटी योजनाओं को कार्यान्वित करने का कार्य स्वतन्त्र कार्पोरेशनों को सौंपा गया है। इन कार्पोरेशनों पर सरकार अपना नियंत्रण रख सकने में विशेष समर्थ सिद्ध नहीं हुई है जिसके परिणाम स्वरूप जनता का बहुत सा रुपया नष्ट हो गया है, योजनाओं में प्रायः संशोधन किया गया है और आशानुकूल उत्पादन भी नहीं बढ़ा है। अन्य बहुत सी योजनाएँ राज्य सरकारों के अधिकार क्षेत्रों में रखी गई हैं और राज्य सरकारें इनको लागू करने का कार्य जिला अधिकारियों को सौंप देती हैं। यह प्रबन्ध सन्तोषजनक सिद्ध नहीं हो सका है। जिला अधिकारी अन्य कार्यों में व्यस्त रहने के कारण विकास योजनाओं के प्रति पर्याप्त ध्यान नहीं दे पाते हैं। कुछ राज्य सरकारों द्वारा नियोजन अधिकारियों का कार्य विशेष सन्तोषजनक नहीं रहा है। इसका परिणाम यह हुआ है कि योजना को उचित रीति से लागू नहीं किया गया है और उससे जितनी आशा की जाती थी उतना लाभ नहीं हो सका। इसके विपरीत जो कुछ प्रगति हुई है वह केवल कागजों तक ही सीमित है। यदि भारत सरकार आई० ए० एस० की तरह 'भारतीय आर्थिक प्रशासन' (Indian Economic Service) के अन्तर्गत उपयुक्त कर्मचारी नियुक्त करती और इस प्रकार योजना को कार्यान्वित करने के लिये विशेष संगठन को जन्म दिया जाता तो इस दिशा मे अधिक प्रगति की जा सकती थी। इससे कार्यालयों इत्यादि पर सरकारी व्यय में अवश्य वृद्धि होती परन्तु वह व्यय व्यर्थ नहीं जाता उससे पंचवर्षीय योजना की उपयोगिता बढ़ सकती थी।

इन दोषों के होते हुये भी इसमें सन्देह नहीं कि भारत की प्रथम पंचवर्षीय योजना देश के आर्थिक विकास के सम्बन्ध में एक प्रशंसनीय प्रयत्न था। आरम्भ में तो अवश्य ही योजना की सफलता कम होती। परन्तु यह देश के कृषि उद्योग, उत्पादन तथा प्रति व्यक्ति आय की वृद्धि करने के प्रयत्न का आरम्भ ही था।

सफलता की प्रगति

योजना आयोग द्वारा मई १९५७ में प्रकाशित प्रथम पंचवर्षीय योजना के पुनर्वीक्षण के अनुसार सम्पूर्ण पाँच वर्षों में किया गया व्यय २०१२४ करोड़ रु० हुआ (जबकि संशोधित लक्ष्य २३७७.७ करोड़ रु० था)। इसमें से १२७७.३ करोड़ रु० बजट से प्राप्त आय थी तथा २०३.२ करोड़ रु० विदेशी सहायता से प्राप्त हुये। इस प्रकार लगभग ३६६ करोड़ रु० कम व्यय हुये। पहले पाँच वर्षों में राज्य सरकारों ने ८९७.५ करोड़ रु० तथा केन्द्रीय सरकार ने १११४.९ करोड़ रु० का व्यय किया।

चूँकि १९५५-५६ की वास्तविक संख्यायें पता नहीं है अतएव यह सम्भव है कि योजना का कुल व्यय २०१३ करोड़ रु० के बजाय १९६० करोड़ रु० हो जाय। प्रारम्भ में २९० करोड़ रु० के छोटे के अर्थ प्रबन्धन की व्यवस्था थी। वास्तव में यह ४२० करोड़ रु० हुआ। इसके फलस्वरूप भारतीय अर्थ व्यवस्था पर काफी भार पड़ा।

योजना में राष्ट्रीय आय के ५% के विनियोग को बढ़ा कर ७% तक करने का उद्देश्य था तथा पाँच वर्षों में ३५००-३६०० करोड़ रु० के विनियोग का लक्ष्य था। सरकारी क्षेत्र में लगभग १५०१ करोड़ रु० का विनियोग हुआ जब-कि निजी क्षेत्र में १६०० करोड़ रु० का विनियोग हुआ। इस प्रकार पाँच वर्ष की अवधि में ३,०० करोड़ रु० विनियोग हुआ। १९५०-५१ की तुलना में योजना के अन्त तक विनियोग का स्तर लगभग दूना हो चुका था।

कुछ कार्यों में प्रथम योजना की प्रगति और सफलता निस्सन्देह आश्चर्य-जनक रही है। खाद्यान्न इंजन और सूती कपड़ों के सम्बन्ध में १९५५-५६ में उत्पादन सोचे हुये १९५५-५६ के ध्येय से कहीं आगे बढ़ गया। अमोनियम सल्फेट, तटीय जलयात्रा और सीमेण्ट के सम्बन्ध में यद्यपि उत्पादन १९५५-५६ के अनुमानित ध्येय से कम ही रहा फिर भी काफी वृद्धि हुई है। कुछ ही कार्य ऐसे रहे हैं जिनमें आशा के विपरीत बहुत कम वृद्धि हुई है और उनमें १९५५-५६ तक भी सोचे हुये ध्येय तक वृद्धि न हो। इसलिये इस निर्णय पर पहुँचना कि पंचवर्षीय योजना ने अर्थ व्यवस्था पर अनावश्यक भार डाले बिना संतोषप्रद प्रगति की है, युक्ति संगत होगा।

अध्याय ६०

द्वितीय पंचवर्षीय योजना

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की अवधि १६५६-५७ से १६६०-६१ तक है। प्रथम पंचवर्षीय योजना की अपेक्षाकृत इसकी धारणा (Conception) अधिक व्यापक और सुदृढ़ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना की सफलता और विकास की गति से प्रोत्साहित होकर योजना आयोग ने द्वितीय पंचवर्षीय योजना को अधिक ऊँचे लक्ष्यों के साथ सामने रखा। द्वितीय योजना के प्रमुख उद्देश्य यह है कि (अ) राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, जिसके फलस्वरूप देशवासियों के रहन-सहन का स्तर ऊँचा किया जा सके; (ब) अत्यन्त शीघ्रता से औद्योगीकरण हो, जिसके अन्तर्गत आधारभूत उद्योगों के विकास पर अधिक बल दिया जाय; (स) रोजगारी में वृद्धि हो; और (द) सामाजिक न्याय की व्यवस्था की जाय। यह उद्देश्य प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्देश्यों के अनुकूल ही हैं, अन्तर केवल इतना है कि द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास को पहली योजना की अपेक्षा अधिक महत्व दिया गया है। इसके अतिरिक्त एक अन्तर और भी है। भारत-सरकार ने 'समाजवादी ढाँचे पर आधारित समाज' (socialistic pattern of society) का आदर्श स्वीकार कर लिया है और इसी के फलस्वरूप द्वितीय पंचवर्षीय योजना में सामाजिक न्याय पर इतना जोर दिया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि नियोजन के द्वारा कृषि व औद्योगिक उत्पादन और कुल राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने की उस समय तक कोई सार्थकता नहीं जब तक कि उस वृद्धि के साथ-साथ वितरण में सुधार न हो क्योंकि इसी वितरण के द्वारा निर्धन व्यक्तियों का जीवन पहले की अपेक्षाकृत अधिक उत्तम हो जाता है।

पूँजी निर्माण की गति—प्रथम योजना ने आगामी २७ वर्षों के लिए प्रगति का एक आदर्श सामने रखा। उस आदर्श या लक्ष्य के अनुसार यह अनुमान है कि २२ वर्षों में राष्ट्रीय आय और २७ वर्षों में प्रति व्यक्ति आय दोगुनी हो जायगी। इसके अतिरिक्त २५ वर्ष से कुछ अधिक समय में (१६५०-५१ और १६७७ के बीच) प्रति व्यक्ति उपभोग की मात्रा में लगभग ७०% वृद्धि हो जायगी। द्वितीय पंचवर्षीय योजना इस आदर्श के अनुरूप ही है।

सबसे कठिन समस्या जो योजना बनाने वालों के सम्मुख उपस्थित है वह विनियोग की उस दर का अनुमान है जिसको बिना किसी आशंका के कार्यान्वित किया जा सकता है और राष्ट्रीय आय की वृद्धि पर उसका प्रभाव है। योजना

बनाने वालों को अब प्रथम योजना का अनुभव भी प्राप्त है जिसके सहारे वे अपने कार्य में आगे बढ़ सकते हैं। १९५०-५१ में विनियोग राष्ट्रीय आय का ४'९% था परन्तु १९५१-५२ में बढ़कर ७% हो गया। इस वृद्धि का कुछ अंश तो माल का बिना बिके जमा रहने के कारण था जिसके परिणाम स्वरूप आयात में बाहुल्य हो गया था। अगले दो वर्षों में विनियोग की दर घट कर राष्ट्रीय आय की ५% हो गई, १९५४-५५ में पुनः बढ़कर ६% या ६'५% हुई और बढ़ते बढ़ते योजना काल के अन्तिम वर्ष में ७'३% हो गई। यदि योजना काल की पूरी अवधि में विनियोग की दर का राष्ट्रीय आय के सम्बन्ध में प्रतिशत औसत लगाया जाय तो लगभग ६% होता है जो कोई विशेष आकर्षक नहीं है। इस विनियोग के परिणाम स्वरूप भारत की राष्ट्रीय आय लगभग १८% बढ़ी अर्थात् ९,११० करोड़ रुपयों से जितनी कि १९५०-५१ में थी बढ़कर १९५५-५६ में १०,८०० करोड़ रुपये हो गई।

तालिका १

आय और विनियोग में वृद्धि जिसकी आशा की जाती थी

१९५०-५१ से १९७१-७६ तक

(१९५२-५३ के मूल्य स्तर के आधार पर)

	प्रथम योजना १९५१-५६	द्वितीय योजना १९५६-६१	तृतीय योजना १९६१-६६	चतुर्थ योजना १९६६-७१	पचम योजना १९७१-७६
अवधि के अन्त में राष्ट्रीय आय (करोड़ रुपयों में)	१०८००	१३४८०	१७२६०	२१६८०	२७२७०
कुल वास्तविक विनियोग (करोड़ रुपयों में)	३१००	६२००	९९००	१४८००	२०७००
अवधि के अन्त में विनियोग का कुल राष्ट्रीय आय से प्रतिशत अनुपात	७'३	१०'७	१३'७	१६'०	१७'०
अवधि के अन्त में जन संख्या (१० लाख)	३८४	४०८	४३४	४६५	५०
वृद्धि की मात्रा का पूँजी और उत्पादन अनुपात	१'८८:२	२'३०:१	२'६२:१	३'३६:१	३'७०:१
प्रति व्यक्ति वार्षिक आय अवधि के अन्त में (रुपयों में)	२८१	३३१	३९६	४६६	५४६

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह मान लिया गया है कि राष्ट्रीय बचत तथा विनियोग में वृद्धि के कारण १९५५-५६ की राष्ट्रीय आय के ७·३% से १९६०-६१ में १०·७% बढ़ जाने से, राष्ट्रीय आय में लगभग २५% की वृद्धि हो जायगी अर्थात् १९५५-५६ के १०,८०० करोड़ रुपयों से १९६०-६१ में बढ़कर १३,४८० करोड़ रुपया हो जायगी। सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न इस सम्बन्ध में यह है कि क्या भारत इतने अधिक विनियोग का भार वहन कर सकता है? योजना आयोग के अनुसार वहन कर सकता है जैसा कि प्रथम योजना का अनुभव तथा अन्य देशों का अनुभव बतलाता है :

"प्रथम योजना रिपोर्ट में १९५६-५७ से ५०% बचत करने की सीमान्त दर मान ली गई थी और इसके आधार पर यह अनुमान लगाया गया था कि १९६८-६९ तक देश की आर्थिक व्यवस्था में राष्ट्रीय आय का २०% विनियोग किया जायगा और आगे चलकर इसी स्तर पर स्थायी हो जायगा। अब ऐसा आभास होता है कि यह अनुमान अत्यधिक है। जिन प्रक्षयों (projections) का अनुगणन किया गया है उनके आधार पर विनियोग का गुणक (Coefficient) ७% से जो कि १९५५-५६ में था बढ़कर १९६०-६१ में ११% हो जायगा; १९६५-६६ तक गुणक के १४% और १९७०-७१ तक १६% तक बढ़ जाने का अनुमान है। उसके पश्चात् गुणक स्थिर रहेगा और १९७५-७६ तक १७% तक बढ़ जायगा (तालिका नं० १ के अनुसार)। १६% या १७% राष्ट्रीय आय का विनियोग निस्संदेह ऊँची दर है पर पहुँच के बाहर नहीं है। पाश्चात्य देशों में जिन्होंने अपना औद्योगिक विकास पहिले आरम्भ किया था पूँजी निर्माण की दर १० और १५ प्रतिशत के बीच रही है। जापान में विनियोग की दर का १९१३-१९३९ के बीच औसत १६ और २० के बीच था। रूस में १५ और २० प्रतिशत की दर निरन्तर स्थिर रही है। उन देशों के आंकड़ों से जो ई० सी० ए० एफ० ई० (ecafe) क्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं यह पता लगता है कि १९५० से कुल पूँजी का निर्माण बर्मा में १० से २० प्रतिशत के बीच, जापान में २४ से ३० प्रतिशत के बीच, लंका में १० से १३ प्रतिशत के बीच और फिलीपाइन्स में ७ से ८·५ प्रतिशत के बीच रहा है। भारत के सम्बन्ध में तुलनात्मक आँकड़े १० से ११ प्रतिशत हैं। कुछ लैटिन अमरीकी देशों में इस सम्बन्ध के आँकड़े १५ और २९ प्रतिशत के बीच प्रायः रहे हैं। कभी कभी स्तर कुछ ऊँचा भी हुआ है। पूर्वी योरुप के कुछ देशों में जैसे जैकोस्लोवेकिया और पोलैण्ड में पूँजी निर्माण की दर २० और २५ प्रतिशत के बीच रही है। नये विकासोन्मुख देशों में विनियोग की दर वर्तमान स्तर से निश्चय ही बढ़ाई जा सकती है—यदि उपयुक्त विनियोग नीति का अनुसरण किया जाय

और यदि राज्य द्वारा विकास कार्यक्रम आरम्भ किये जायँ। इसलिये भारत के सम्बन्ध में यह धारणा बनाना कि प्रयत्न करने से विनियोग की दर ऊपर बताये गये स्तर तक बढ़ाई जा सकती है असंगत नहीं हो सकता"।

प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य था कि देश में जीवन की आधारभूत वस्तुओं के उपभोग को पुनः उस स्तर पर ले आया जाय जिस पर वह महायुद्ध के पूर्व था। द्वितीय पंचवर्षीय योजना इस सम्बन्ध में एक पग आगे है और उसका लक्ष्य यह है कि योजना काल के अन्तर्गत कुल उपभोग की मात्रा में लगभग २०% और व्यक्ति उपभोग की मात्रा में १२ से १३ प्रतिशत की वृद्धि हो। कुछ विशेष वस्तुओं के प्रति व्यक्ति उपभोग के आँकड़ों से इस बात का आभास मिलता है कि कितनी अधिक प्रगति का अनुमान लगाया गया है। पौष्टिक सलाहकार समिति (Nutrition Advisory Committee) ने यह अनुमान लगाया था कि एक वयस्क के प्रतिदिन के सन्तुलित आहार में कम से कम १४ औंस अन्न होना चाहिये। १६५०-५१ में प्रत्येक वयस्क प्रतिदिन १३ औंस अन्न का औसत उपभोग करता था। किन्तु प्रथम पंचवर्षीय योजना के परिणाम स्वरूप १६५३-५४ में प्रतिव्यस्क प्रतिदिन अन्न के उपभोग की मात्रा बढ़कर १५ औंस हो गई। परन्तु चने और दालों का उपभोग अभी भी निम्नतम आवश्यकताओं से कम है। यह अनुमान लगाया गया है कि प्रति व्यस्क को प्रतिदिन २½ से ३ औंस तक चने और दालों का उपभोग करना चाहिये। किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या और प्रति व्यक्ति की आय में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप अन्न के उपभोग में वृद्धि होगी अतएव द्वितीय पंचवर्षीव योजना में देश के भीतर खाद्यान्न का उत्पादन बढ़ाने के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिये। "दूध, घी, मास, मछली, अंडे, चर्बी, फल, तरकारियाँ और चीनी के उपभोग का वर्तमान स्तर निम्नतम आवश्यकताओं से बहुत कम है। द्वितीय योजना में रहन-सहन के अधिक ऊँचे स्तर की व्यवस्था करने के लिये पशु-पालन, मछली-उद्योग, मुर्गी पालन, तरकारियों की खेती और अन्य प्रकार की खाद्य सामग्री के उत्पादन पर विशेष ध्यान देना चाहिए"। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व भारत में प्रति व्यस्क प्रति वर्ष के हिसाब से १५ गज सूती कपड़े का उपभोग करता था और प्रथम पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने पर कपड़े के औसत उपभोग का वही स्तर पुनः प्राप्त कर लिया गया है। सूती कपड़े की जाँच समिति की सिफारिश को मानकर द्वितीय पंचवर्षीय योजना में १६६० तक प्रति व्यक्ति सूती कपड़े के औसत उपभोग को १८ गज करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है।

प्राथमिकता का क्रम—प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि, सिंचाई

और बिजली की शक्ति के विकास को प्रमुख महत्व दिया गया था और इन मदों पर योजना की कुल लागत की ४३·२% रकम व्यय करने का अनुमान था। इसके विपरीत द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने उद्योगों को प्राथमिकता दी है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत उद्योगों पर कुल लागत की ७·६% रकम व्यय के लिये निर्धारित थी जबकि इस दूसरी योजना में (जैसा कि तालिका २ में दिखाया गया है) कुल लागत का १८·५% व्यय होने का अनुमान लगाया गया है। प्राथमिकता के क्रम में परिवर्तन करने के दो कारण हैं: (अ) कृषि, सिंचाई और शक्ति (विद्युत) के विकास पर प्रथम पंचवर्षीय योजना में पहले ही से पर्याप्त ध्यान दिया गया है, और विकास की वर्तमान गति के द्वारा भी उन्हें पूर्ण रूप में विकसित किया जाना संभव है, अतएव उन पर कोई विशेष ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है, और (ब) अब यह अनुमान किया जाने लगा है कि देश के आधार भूत उद्योगों को बगैर विकसित किए हुए यह संभव नहीं है कि भारत की राष्ट्रीय आय में एक ऊँचे स्तर तक वृद्धि की जा सके अथवा बेरोजगारी की समस्या का ही कोई हल खोजा जा सके।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना का यह उद्देश्य है कि देश की राष्ट्रीय आय में प्रति

तालिका २

सरकारी क्षेत्र में प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना पर कुल लागत के तुलनात्मक आंकड़े

	प्रथम योजना		द्वितीय योजना	
	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत	कुल लागत (करोड़ रुपयों में)	कुल का प्रतिशत
१. कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५·१	५६८	११·८
२. सिंचाई और शक्ति (बिजली)	६६१	२८·१	९१३	१९·०
३. परिवहन और संचार	५५७	२३·६	१३८५	२८·९
४. उद्योग और खनिज	१७९	७·६	८९०	१८·५
५. निर्माण कार्य और सामाजिक सेवायें	५३३	२२·६	९४५	१९·७
६. विविध	६९	३·०	९९	२·१
कुल	२३५६	१००%	४८००	१००%

वर्ष लगभग ५% की वृद्धि हो और इस लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये पाँच वर्ष की अवधि में कुल ६२०० करोड़ रुपये का वास्तविक विनियोग (Net Investment) करने की आवश्यकता होगी, जबकि प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत मूल रूप में वास्तविक विनियोग की रकम ३१०० करोड़ रुपये थी। अनुमान है कि इसमें से ३८०० करोड़ रुपये की रकम का विनियोग सरकारी क्षेत्र पर होगा, जिसकी व्यवस्था सरकार अपने वित्तीय साधनों से करेगी और शेष २,४०० करोड़ रुपये निजी क्षेत्र पर व्यय होंगे, जो निजी विनियोग द्वारा उपलब्ध होंगे। विकास सम्बन्धी व्यय में ४८०० करोड़ रुपयों की कमी जो कि प्रस्तावित वास्तविक विनियोग के कारण सरकारी क्षेत्र में आवश्यक होगा तालिका नं २ में दिया हुआ है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की 'आधारभूत नीति' यह है कि (अ) इस्पात, यन्त्र-निर्माण, खनिज-पदार्थ आदि के प्रमुख और आधारभूत उद्योगों पर यथासंभव अधिक से अधिक धन विनियोग किया जाय और इसके विपरीत सामान्य उपभोग में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं के उद्योगों पर यथासंभव कम से कम धन व्यय किया जाय; और (ब) छोटे पैमाने के व घरेलू उद्योग-धंधों के विकास को प्रोत्साहन दिया जाय, चाहे इस प्रयास में बड़े पैमाने के उद्योगों की हानि ही क्यों न हो।

उद्योगों और खनिज पर प्रस्तावित ८९० करोड़ रुपयों के व्यय में से ६१७ करोड़ रुपयों के लगभग बड़े और मध्य वर्ग के उद्योगों पर, ७३ करोड़ रुपये खनिज के विकास पर और २०० करोड़ रुपये ग्राम्य तथा छोटे उद्योगों पर व्यय किया जायगा। उद्योगों में से लोहे और इस्पात उद्योग को सबसे अधिक भाग मिलेगा। प्रमुख विशेषता द्वितीय योजना की छोटे और कुटीर उद्योगों को प्राथमिकता देने की है, जिस पर २०० करोड़ रुपया व्यय करने के लिए नियत किया गया है।

यद्यपि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में उद्योगों और खनिज पदार्थों को प्रमुख रूप से प्राथमिकता दी गई है, किन्तु कृषि, परिवहन और सामाजिक सेवाओं की उपेक्षा नहीं की गई है। अनुमान है कि १९५५-५६ से १९६०-६१ तक द्वितीय योजना के अन्तर्गत खाद्यान्न का उत्पादन ६५० लाख से ७५० लाख टन, रुई का ४२ लाख से ५५ लाख गाँठ, गन्ने का ५०·८ लाख टन से ७०·१ लाख टन, तिलहन का ५५ लाख से ७० लाख टन, चाय का ६४·४ करोड़ से ७० करोड़ पौंड हो जायगा। सिंचाई की जाने वाली भूमि का क्षेत्रफल ६·७ करोड़ एकड़ हो जायगा। इसी प्रकार राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं और सामुदायिक योजनाओं के मण्डलों की संख्या ५०० से ३८०० और ६२२ से ११२० क्रमशः हो जायगी। द्वितीय योजना की विशेषता यह है कि इसमें अनेकों कृषि उत्पत्ति की वस्तुयें जैसे

नारियल, सुपाड़ी, लाख, कालीमिर्च और वृक्षफल आदि, जिनकी ओर प्रथम योजना में ध्यान नहीं दिया गया था, इसमें सम्मिलित कर ली गई हैं और उनके विकास का ध्येय निश्चित कर दिया गया है। द्वितीय योजना में कृषि का विकास अधिक विस्तृत ढंग पर होगा।

जहाँ तक परिवहन से सम्बन्ध है भारतीय रेलों की यात्रियों तथा माल ले जाने की शक्ति बढ़ा दी जायगी। रेलपथ १० करोड़ ८० लाख मील से बढ़ाकर १२ करोड़ ४० लाख मील और माल की ढुलाई १२ करोड़ से १६ करोड़ २० लाख हो जायगी। इसी काल में राष्ट्रीय सड़कें १२,६०० मील से १३,८०० मील और कच्ची सड़कें १०७,००० मील से १२५,००० मील बढ़कर हो जायँगी। तटीय व्यापार में जलयानों द्वारा टनेज ३'२ लाख जी० आर० टी० से बढ़कर ४'७ लाख जी० आर० टी० हो जायगा। भारतीय बन्दरगाहों की माल चढ़ाने और उतारने की शक्ति २ करोड़ ५० लाख टन से बढ़कर ३ करोड़ २५ लाख टन हो जायगी।

तालिका २ से प्रकट होता है कि द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत (अ) हाथ के करघे और शक्तिचालित करघे से तैयार किये गए कपड़े, रासायनिक खादों, लोहे व इस्पात, एल्यूमीनियम और कोयले के उत्पादन में सब से अधिक वृद्धि होगी; (ब) भारी रसायनों, धातु के सामान, अभ्रक, मैंगनीज, साइकिलों, सीने की मशीनों और बिजली के उत्पादन में अपेक्षाकृत कम वृद्धि की जायगी; और (स) मिल में तैयार होने वाले सूती कपड़ों, ऊनी सामान, चीनी, साबुन, जूतों और वनस्पति तेलों के उत्पादन में और भी कम वृद्धि होगी। इस प्रयास में यह ध्यान रखा गया है कि आधारभूत और प्रमुख उद्योगों का यथासम्भव अधिक से अधिक विकास किया जाय और जहाँ तक अन्य उद्योगों का सम्बन्ध है, उनके उत्पादन के द्वारा आत्मनिर्भरता के अधिक से अधिक निकट पहुँचा जाय।

रोजगार उपलब्ध कराने की क्षमता (Employment potential)—द्वितीय पंचवर्षीय योजना का एक मूलभूत उद्देश्य यह भी है कि रोजगारी के पर्याप्त अवसर उत्पन्न किए जायें। भारतीय अर्थ-व्यवस्था की इसी आवश्यकता के फलस्वरूप कृषि की अपेक्षाकृत उद्योगों पर अधिक बल दिया गया है। इस योजना को इतना अधिक विस्तृत बनाने का आंशिक कारण यह है कि बेकारी की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाय। द्वितीय योजना काल में नये काम करने वालों की संख्या जो वर्तमान संख्या में जुड़ जायगी लगभग १ करोड़ के अनुमान की गई है। यदि उसमें से ३८ लाख व्यक्तियों को, जो नगर की मजदूर संख्या में वृद्धि अनुमानित है, पृथक कर लें तो जितने मजदूर देहातों के क्षेत्र में बढ़ेंगे उनकी

संख्या ६२ लाख के लगभग आती है। यदि एक करोड़ नये श्रमिकों की संख्या में ५३ लाख पहले के बेकारों की संख्या (२५ लाख नगरों की और २८ लाख ग्राम्य क्षेत्र में) जोड़ दी जाय तो कुल बेकारों की संख्या १९५६-६१ में लगभग १·५३ करोड़ हो जायगी। इतने नये व्यक्तियों को काम करने का अवसर प्राप्त करवाना सम्भव नहीं है। कदाचित ८० लाख व्यक्तियों के लिये द्वितीय योजना में काम के नये अवसर दिये जा सकते हैं। किंतु रोजगारी के अतिरिक्त अवसरों की केवल योजना-मात्र गढ़ लेने से तो समस्या हल नहीं की जा सकती। व्यापार और उद्योगों का प्रसार मात्र करके यह आशा करना कि उनके द्वारा अब अधिक व्यक्तियों की खपत अपने आप होने लगेगी व्यर्थ है। इस समय ऐसे अनेक व्यवसाय हैं जिनमें आवश्यकता से अधिक लोगों को खपा लिया गया है। इसका परिणाम यह होगा कि जैसे-जैसे उन व्यवसायों में काम की वृद्धि होगी, वैसे-वैसे पहले से ही अधिक संख्या में काम करने वाले व्यक्तियों पर काम का बोझ अधिक होता जायगा और इस प्रकार उन व्यवसायों में रोजगार के अवसरों में वृद्धि नहीं हो सकेगी। कुछ उद्योगों और व्यापारिक संस्थाओं में अभिनवीकरण की योजनाएँ लागू किये जाने की भी सम्भावना है, जिसका फल यह होगा कि प्रसार किये गये उन उद्योगों में रोजगार के लिये और भी अधिक कम संख्या में लोगों की खपत की जा सकेगी। योजना आयोग इन कठिनाइयों से भली भाँति परिचित है। "रोजगारी में अनुमानित वृद्धि लाने के लिए वित्त और उपयुक्त नीति का अनुसरण करने की आवश्यकता तो होगी ही, उसके साथ-साथ सुगठित संगठन की भी व्यवस्था करनी पड़ेगी। बेकारी दूर करने के लिये छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों को विकसित करने पर अधिक बल दिया गया है, किन्तु यह स्पष्ट है कि सुव्यवस्थित प्रयत्नों के अभाव में इनका उस सीमा तक विकास और प्रसार नहीं हो सकता। काम करने के अवसर प्रदान करने का अर्थ केवल नौकरियों की जगहें बढ़ा देना मात्र नहीं है। यह जगहों के बढ़ा देने के प्रति जनता की प्रतिक्रिया पर निर्भर करता है। रोजगारी की व्यवस्था करने का यह भी अर्थ है कि भिन्न-भिन्न कर्मचारियों के लिए जितने प्रशिक्षण की आवश्यकता है उसे प्रदान करने की सुविधाओं का प्रबन्ध किया जाय। यह अनुमान लगाया गया है कि अनेक क्षेत्रों में उत्पादन वृद्धि होने के फलस्वरूप उसी अनुपात में थोड़ी या बहुत मात्रा में रोजगारी में भी वृद्धि होगी। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि अत्यधिक अभिनवीकरण पर नियंत्रण किया जाय। साथ ही यह भी देखने की आवश्यकता है कि कहीं पहले से रोजगार प्राप्त लोगों की मजदूरी बढ़ जाने से उस वस्तु की माँग में कमी न आ जाय और इस प्रकार बेकार लोगों की स्थिति और भी न बिगड़ जाय।"

वित्त व्यवस्था—योजना की सफ़लता वित्त की प्राप्ति पर निर्भर है। भारत में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि राष्ट्रीय बचत का स्तर राष्ट्रीय आय के अनुपात में बहुत कम है। इसलिये विदेशी वित्तीय सहायता पर निर्भर रहना आवश्यक हो जाता है। द्वितीय योजना के अनुसार विकास सम्बन्धी ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय का प्रबन्ध तालिका नं० ३ में जैसा दिखाया गया है किया जायगा। उसमें से ८०० करोड़ रुपया केन्द्रीय और राज्य सरकारों की अतिरिक्त आय से, १२०० करोड़ रुपया सरकारी ऋण से, ४०० करोड़ रुपया अन्य बजट में व्यक्त आय स्रोतों से, ८०० करोड़ रुपया विदेशी सहायता से और १२०० करोड़ रुपया घाटे के बजट से प्राप्त किया जायगा। इससे ४०० करोड़ रुपयों की कमी पड़ेगी जिसका प्रबन्ध या तो नये करों से प्राप्त आय द्वारा अथवा अधिक घाटे के अर्थ प्रबन्ध द्वारा या अधिक विदेशी सहायता द्वारा या द्वितीय योजना के विस्तार को कम करके किया जायगा।

सरकारी क्षेत्र में विकास योजनाओं का अर्थ प्रबन्ध एक दूसरे दृष्टिकोण से भी देखा जा सकता है। पाँच वर्षों की अवधि में ४८०० करोड़ रुपयों के व्यय में से लगभग १००० करोड़ रुपयों का व्यय तो शिक्षा, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक अन्वेषण और राष्ट्रीय विकास आदि पर चालू व्यय के रूप में होगा। इस प्रकार के व्यय से पूँजी का प्रत्यक्ष रूप से निर्माण नहीं होता और इसलिये विनियोजित व्यय नहीं माना जाता। ऐसे क्षेत्रों पर व्यय चालू आय स्रोतों से पूरा किया जाता है। इसलिये वास्तविक विनियोग ३८०० करोड़ रुपयों का है और इसका प्रबन्ध ऋण द्वारा किया जा सकता है। विकासोन्मुख अर्थव्यवस्था में जहाँ पर पूँजी निर्माण सम्बन्धी व्यय उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है, वहाँ यह वांछनीय होगा कि उसके एक अंश का प्रबन्ध कर से प्राप्त अतिरिक्त आय में से किया जाय। इस सिद्धान्त पर प्रथम योजना की रिपोर्ट में जोर दिया गया था और इस पर फिर जोर देना चाहिये। योजना के अर्थ प्रबन्ध की व्यवस्था में चालू आय में से केवल ८०० करोड़ रुपयों के प्रबन्ध की व्यवस्था की गई है जब कि चालू व्यय के अनुसार १००० करोड़ रुपयों की आवश्यकता है। रेलवे से प्राप्त १५० करोड़ रुपयों की आय को चालू आय का भाग समझना चाहिये। इसका अर्थ यह है कि कुल चालू आय से योजना के लिये प्राप्त वित्त ६५० करोड़ रुपयों का हुआ जब कि चालू व्यय की मात्रा १००० करोड़ रुपया अनुमान की गई है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सरकारी आय में कुछ भी बचत नहीं है जिसका प्रयोग ३८०० करोड़ रुपये के विनियोग के लिए किया जाय, वास्तव में ५० करोड़ रुपयों का घाटा है। दूसरे शब्दों में कुल ३८०० करोड़ पूँजी निर्माण का अर्थ-प्रबन्ध व्यक्तिगत बचत द्वारा

ही करना सम्भव होगा। यदि ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी वित्तीय सहायता को अलग कर दिया जाय क्योंकि यह विदेशों की बचत पर निर्भर है और २०० करोड़ रुपयों की सहायता पौण्ड पावने की बची हुई रूप से प्राप्त की जाय, तो देश की आर्थिक व्यवस्था के अन्तर्गत चालू बचत की मात्रा जो कि सरकारी योजनाओं में विनियोजित की जायगी, २८५० करोड़ रुपयों के बराबर ठहरती है। यदि यह मान लिया जाय कि ४०० करोड़ रुपयों की कमी सरकारी बचत द्वारा पूरी करली जायगी तो व्यक्तिगत बचत की मात्रा जो सरकारी क्षेत्र में स्थानान्तरित की जायगी वह २४५० करोड़ रुपयों की होगी।

तालिका नं० ३

सरकारी क्षेत्र के लिये वित्त के स्रोत

(करोड़ रुपयों में)

१. चालू आय के अतिरिक्त से	८००
(i) १९५५-५६ में प्रचलित कर की दर से	३५०
(ii) अतिरिक्त कर से	४५०
२. जनता से प्राप्त ऋण से	१२००
(i) बाजार ऋण (Market loans)	७००
(ii) छोटी बचत	५००
३. बजट के अन्य आय स्रोतों से	४००
(i) रेल का विकास कार्यक्रम में योगदान	१५०
(ii) प्रॉविडेन्ट फण्ड तथा अन्य शीर्षों के अन्तर्गत जमा धन से	२५०
४. विदेशों के स्रोतों से	८००
५. घाटे के अर्थ प्रवन्ध से	१२००
६. कमी—देशीय अतिरिक्त स्रोतों से पूरी की जायगी	४००
कुल	४८००

"क्या यह मान लेना युक्तिसंगत न होगा कि २४५० करोड़ रुपयों तक की व्यक्तिगत बचत की रकम सरकार को विनियोग के लिये प्राप्त हो जायगी? इस संबंध में बाजार में ऋण लेने, छोटी मात्रा की बचत और घाटे के अर्थ प्रवन्ध में अन्तर बहुत साधारण महत्व की बात है। ये सब व्यक्तिगत बचत को अपनी ओर से अथवा मूल्य की वृद्धि द्वारा बरबश राजकीय कोष में पहुँचाने के ढङ्ग हैं। व्यक्तिगत बचत की मात्रा राजकीय कोष में कितनी और किस ढङ्ग से पहुँचती है जनता की अपनी सम्पत्ति को रोकड़, सरकारी ऋण पत्रों, तथा छोटी मात्रा वाले सेविंग

सर्टीफिकेट के रूप में या जमा धन के रूप में रखने की इच्छा पर निर्भर रहता है। जब तक कुल बचत जो सरकारी कोष में पहुँचती है पर्याप्त मात्रा में रहती है तब तक इस बात से लोग उदासीन रहते हैं कि बचत की रकम ऋण पत्र, छोटी मात्रा के सेविंग सर्टीफ़िकेट अथवा सरकारी नोट के रूप में है। ऐसी स्थिति में सबसे प्रमुख महत्ता की बात यह जानने में है कि क्या जनता की व्यक्तिगत बचत की मात्रा को हम व्यक्तिगत क्षेत्र की आवश्यकता से उतनी अधिक होने की आशा कर सकते हैं जितनी कि सरकारी क्षेत्र की आवश्यकता है। व्यक्तिगत बचत इस दृष्टिकोण से पर्याप्त तभी हो सकती है जब कि उपभोग पर आवश्यक नियंत्रण लगाया जाय। दूसरे शब्दों में इसका अर्थ है कि प्रत्यक्ष रूप से जितने ही कम अनुपात में जनता की बचत सरकार को अतिरिक्त करों की आय के रूप में अथवा सरकारी अनुक्रमों के लाभांश के रूप में होगी उतनी ही अधिक आवश्यकता ऐसे उपायों के प्रयोग में लाने की बढ़ती जायगी जिनसे उपभोग आवश्यक सीमा से आगे न बढ़े"।

"केन्द्र और राज्यों के बजट स्रोतों से जो आय करों, ऋण, तथा अन्य उपायों से प्राप्त की जा सकती है वह लगभग २४०० करोड़ रुपये की है। घाटे के अर्थ प्रबन्ध द्वारा लगभग १२०० करोड़ रुपयों की और आय बढ़ाई जा सकती है। इस मात्रा में यदि ८०० करोड़ रुपयों की विदेशी वित्तीय सहायता और जोड़ दी जाय तो कुल आय जो सरकारी क्षेत्र में योजना के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने के लिये प्राप्त होगी वह ४४०० करोड़ रुपया होती है। इससे ४०० करोड़ रुपयों की कमी रह जाती है जिसके प्राप्त करने के विस्तृत उपायों को बाद में ढूँढ़ा जायगा। यह तो मान लिया गया है कि यह कमी देश के स्रोतों में वृद्धि द्वारा ही पूरी की जायगी। घाटे के अर्थ प्रबन्ध की सीमा को विचाराधीन रखते हुये जिसके बारे में ऊपर संकेत किया जा चुका है तथा इस बात को भी विचाराधीन रखते हुए कि जिस अर्थ प्रबन्ध की योजना की रूपरेखा यहाँ बताई गई है उसमें ऋण पर आवश्यकता से अधिक भरोसा किया गया है, इस कमी को पूरा करने का एक ही उपाय जिस पर निर्भर रहा जा सकता है वह करों का आरोग्य, तथा सम्भावित सीमा तक सरकारी उपक्रमों का लाभांश है।"

द्वितीय योजना को इस बात का पूरा ज्ञान है कि १२०० करोड़ रुपयों के घाटे के अर्थ प्रबन्ध किये जाने से मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो जायगी। योजना बनाने वालों ने ऐसी स्थिति से बचाव के लिये अनेक प्रतिबन्धों का निर्देश दिया है। उनके विचारानुसार :—

"सबसे प्रमुख संरक्षण का उपाय बहुत बड़ी मात्रा में खाद्यान्न एकत्रित करके

रख लेना होगा जिससे जब जब मुद्रास्फीति का प्रभाव जोर पकड़े तो उसका निराकरण किया जा सके। जहाँ की आर्थिक व्यवस्था में तीव्रगति से विकास का प्रयत्न किया जा रहा है वहाँ चाहे कितनी ही समझदारी से अर्थ प्रबन्ध क्यों न किया जाय मुद्रास्फीति का भय पूर्णतया मिटाया नहीं जा सकता। मुद्रास्फीति से सबसे उत्तम बचाव का ढंग मुद्रास्फीति न होने देना है परन्तु ऐसी नीति जिसमें मुद्रास्फीति तो हो पर उसके दुष्प्रभावों से बच निकलें कभी सफल नहीं हो सकती। इस सम्बन्ध में कुछ जोखिम तो उठानी ही पड़ेगी। इस जोखिम से बचने का सबसे अधिक सफल उपाय खाद्यान्नों के और अन्य आवश्यक वस्तुओं के भण्डार पर अधिकार रखना है ताकि जब इनकी कमी पड़े तो बाजार में इनकी पूर्ति बढ़ा दी जाय। भारतीय आर्थिक व्यवस्था में अन्न और वस्त्र के मूल्यों का विशेष महत्व है और इनमें अधिक वृद्धि हर प्रकार से रोकना अत्यन्त आवश्यक है। जब तक इन वस्तुओं के मूल्य को युक्ति-संगत स्तर पर रक्खा जा सकेगा तब तक देश की अधिकांश जनसंख्या के जीवनस्तर की लागत नियंत्रण में रहेगी। अन्य वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि अपेक्षाकृत कम महत्ता की बात होगी यद्यपि व्यवस्था में किसी भी वस्तु के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि होने से द्रव्य के अपेक्षाकृत कम-आवश्यक उपयोग की वस्तुओं पर व्यय किये जाने का भय है। यदि ऐसा हो जाय तब उसे ठीक करने का प्रयत्न करना आवश्यक होगा। मुद्रास्फीति के प्रभावों से बचने का दूसरा उपाय विवेचनात्मक (discriminating) परन्तु तुरन्त ही करारोप के उपाय का अनुसरण कुछ वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उपयोग होने से बचाने के लिये और अत्यधिक लाभांश तथा अनायास प्राप्त हुये लाभांश को रोक देने के लिये (जिनका कि घाटे के अर्थ प्रबन्ध में उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक ही है) अत्यन्त आवश्यक होगा। अन्त में, कन्ट्रोल के उपाय का जिसमें राशनिंग तथा मात्रा नियत करना आदि सम्मिलित होंगे उपभोग के उचित सीमा से आगे जाने से रोकने के लिये तथा दुर्लभ वस्तुओं और कच्चे माल आदि के प्रयोग में मितव्यता लाने के लिये प्रयोग करना आवश्यक होगा। परन्तु अतीत का अनुभव बताता है कि आवश्यक प्रयोग की वस्तुओं पर कन्ट्रोल लम्बी समयावधि के लिये विश्वस्त उपाय सिद्ध नहीं होंगे। इस कारण यह अनिवार्य हो जाता है कि इसके अतिरिक्त अन्य बचाव के उपायों का प्रयोग पूर्ण रूप से किया जाय क्योंकि योजना के कार्य-क्रम में कमी करने की सम्भावना तो अत्यन्त कठिनाई में पड़ने पर ही करना उचित होगा।"

आलोचना—द्वितीय पंचवर्षीय योजना की धारणा प्रथम योजना की अपेक्षा अधिक व्यापक और सुदृढ़ है। जब यह योजना समाप्त होगी तो प्रति

व्यक्ति की वास्तविक आय में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि होगी और लोगों की आर्थिक स्थिति में निश्चित रूप से सुधार होगा। द्वितीय योजना की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं :

(१) इसके अन्तर्गत भौतिक (physical) नियोजन पर बल दिया गया है, न कि वित्तीय (financial) नियोजन पर। इसका अर्थ यह है कि लक्ष्य भौतिक उत्पादन के रूप में निर्धारित किये गये हैं जैसे इतने लाख टन इस्पात, कोयला, सीमेन्ट आदि और फिर इन भिन्न-भिन्न वस्तुओं के लक्ष्यों के लिये वित्त को निर्धारण किया गया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत पर्याप्त दर से व्यय नहीं किया जा सका और वास्तविक रूप में विकास का क्रम भी नहीं जारी रह सका, क्योंकि वह वित्तीय नियोजन पर आधारित थी। भौतिक नियोजन में इस बात पर बल नहीं दिया जाता है कि अमुक योजना पर कितनी मात्रा में धन व्यय किया गया है, वरन् उसमें महत्त्वपूर्ण बात यह रहती है कि उस वस्तु के उत्पादन में कितनी सफलता प्राप्त हुई है। इसका परिणाम यह होता है कि नियोजन में अधिक वास्तविकता आ जाती है। किन्तु भौतिक और वित्तीय लक्ष्यों में समन्वय स्थापित करने के लिये यह आवश्यक है कि निम्न विषयों पर विस्तृत और यथार्थ सूचना प्राप्त की जाय : (अ) भिन्न भिन्न वस्तुओं की प्रत्येक इकाई का उत्पादन करने में कितनी मात्रा में कच्चे माल, शक्ति, श्रम आदि की आवश्यकता होती है, और (ब) भविष्य में इन विभिन्न कच्चे मालों व श्रम आदि का क्या-क्या मूल्य होगा। अभाग्यवश भारत में इनसे सम्बन्धित सही-सही और विश्वसनीय सूचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं और इसीलिए यह आशंका उत्पन्न होती है कि भौतिक नियोजन से समस्या हल होने के स्थान पर कहीं और जटिल न हो जाय। "लोकतान्त्रिक नियोजन के अन्तर्गत आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुये एक ऐसे देश में जहाँ का शासन-यंत्र आर्थिक नियोजन की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकता और जहाँ का प्रत्येक विभाग और प्रत्येक मन्त्रालय अपनी चलाई हुई योजनाओं पर यथासंभव अधिकतम धन व्यय करने का प्रयत्न करता है, वित्तीय नियोजन के स्थान पर भौतिक नियोजन पर बल देने का अनिवार्य परिणाम यह होगा कि (क) अत्यधिक धन का अपव्यय होगा और (ख) अधिक मात्रा में सरकारी व्यय के कारण मुद्रास्फीति की प्रवृत्तियों के उत्पन्न होने की संभावना है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत वित्त मन्त्रालय ने यह सिद्धांत सामने रखा कि विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर अन्य स्थितियों में किसी को भी निर्धारित रकम से अधिक व्यय करने की स्वीकृति नहीं दी जानी चाहिये और इस प्रकार सरकारी व्यय पर कड़ा नियंत्रण स्थापित किया गया। किन्तु जहाँ तक भौतिक नियोजन का सम्बन्ध

है, यह तर्क बिल्कुल निरर्थक है। चूँकि द्वितीय पंचवर्षीय योजना का मूलभूत उद्देश्य है कि निर्धारित किये गये भौतिक लक्ष्यों (physical targets) की पूर्ति की जाय, अतएव भिन्न-भिन्न विभागों और मन्त्रालयों को अपने निर्धारित वित्त से कुछ अधिक व्यय कर सकने की छूट प्राप्त होगी। सरकारी व्यय में कमी करना अथवा योजना-काल के अन्तर्गत अनुमानित रकम का विनियोग न कर सकना योजना का एक दोष है। किन्तु उससे भी बड़ा दोष यह है कि धन का अपव्यय किया जाय और उसके फलस्वरूप सरकारी धन की हानि तो हो ही साथ ही साथ अनियन्त्रित मुद्रास्फीति के दुष्परिणामों का भी सामना करना पड़े[1]।" इससे यह प्रकट होता है कि वित्तीय नियोजन से सम्बद्ध खतरों और भूलों से बचने के लिये अत्यधिक सावधानी की आवश्यकता है। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वित्तीय नियोजन के स्थान पर भौतिक नियोजन पर बल दिये जाने से द्वितीय पंचवर्षीय योजना में अधिक वास्तविकता आ गई है।

(२) द्वितीय योजना ने प्रमुख रूप से औद्योगिक विकास पर बल दिया है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत कृषि और शक्ति (बिजली) के विकास को प्राथमिकता दी गई थी। इस प्रकार द्वितीय योजना से देश का आर्थिक विकास अधिक सन्तुलित हो जायगा। औद्योगीकरण पर इसलिए जोर दिया गया है कि (अ) प्रथम योजना के अन्तर्गत कृषि और सिंचाई में पहले ही से काफी प्रगति हो चुकी है और इसीलिए उद्योगों पर अधिक ध्यान देना आवश्यक हो गया है, क्योंकि प्रथम योजना के अन्तर्गत उद्योगों की उपेक्षा की गई थी; (ब) यदि हम प्रमुख रूप से केवल कृषि पर ही अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं तो यह संभव नहीं है कि तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ-साथ बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या को हल किया जा सके। औद्योगिक विकास को प्राथमिकता देने का यह उद्देश्य है कि बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या को हल करने में सहायता मिले; और (स) पहले की अपेक्षाकृत यह अधिक स्पष्ट रूप से अनुभव किया जाने लगा है कि देश की आर्थिक सम्पन्नता अन्ततः औद्योगीकरण से सम्बन्ध रखती है।

(३) प्रथम पंचवर्षीय योजना की अपेक्षाकृत द्वितीय योजना के अन्तर्गत 'सामाजिक न्याय' पर अधिक ध्यान दिया गया है। प्रथम योजना का उद्देश्य यह था कि देश में महायुद्ध के पूर्व दैनिक उपयोग की वस्तुओं की जिस मात्रा में खपत

---

1. *Vide* the Author's article on "Some Basic Considerations about the Second Five-year Plan" in the *Commerce*, dated July 2, 1955, page 15.

होती थी, उसी स्तर को फिर से ले आया जाय। द्वितीय योजना एक पग और आगे बढ़ गई और उसका लक्ष्य यह है कि उसके समाप्त होने पर देश के कुल उपभोग में लगभग २०% और प्रति व्यक्ति के उपभोग में १२-१३ प्रतिशत की वृद्धि हो। यह संभव होगा या नहीं, किन्तु द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समाप्त होने तक राष्ट्रीय आय की १०% राशि करों के रूप में ली जायगी, जबकि अभी तक करों के रूप में ली जाने वाली राशि इसकी ७% है और गृह निर्माण, सामाजिक कल्याण आदि पर अधिक रकम व्यय करने की व्यवस्था की गई है क्योंकि इनके द्वारा धनिकों की अपेक्षा निर्धनों को अधिक लाभ होता है। इसी कारण द्वितीय पंचवर्षीय योजना को प्रगतिशील कहा जा सकता है।

निःसंदेह द्वितीय पंचवर्षीय योजना में ऐसे अनेक दोष हैं जो इसे एकाङ्गी और अति-आकांक्षी (over-ambitious) बना देते हैं। सबसे पहले तो यही तर्क रखा जाता है कि वर्तमान परिस्थितियों में द्वितीय योजना के लिए यह संभव नहीं है कि वह पाँच वर्ष की अवधि में कुल ६,२०० करोड़ रुपए के वास्तविक विनियोग (net investment) का प्रबन्ध कर सके, या दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि १९५५-५६ में राष्ट्रीय आय की जो ७'३% राष्ट्रीय बचत होगी, उसे १९६०-६१ तक राष्ट्रीय आय की १०'७% कर देना संभव नहीं होगा। इस धारणा का समर्थन कुछ ऐसे विदेशी राष्ट्रों के अनुभवों के दृष्टान्त देकर किया गया है जहाँ पर लोकतान्त्रिक आधार पर नियोजन हुआ है या हो रहा है। प्रो० बी० आर० शिनोय की यह धारणा है कि "अपने पिछले वर्षों के और दूसरे जनतान्त्रिक देशों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि अभी कुछ समय तक यह आशा करना व्यर्थ है कि विकास कार्य-क्रम के लिए इतने अधिक वित्तीय साधन उपलब्ध होंगे, जिनसे राष्ट्रीय आय में होने वाली वृद्धि की दर दुगुनी हो जायगी। इस समय हमारे देश में राष्ट्रीय बचत की दर राष्ट्रीय आय की ७% या इससे भी कुछ कम है। पिछले पाँच वर्षों के अन्तर्गत इसमें लगभग १% वृद्धि हुई है। यह अनुमान करना कि भावी पाँच वर्षों में वृद्धि की दर बहुत अधिक तेज हो जायगी, केवल दुराशा-मात्र है। सरकार ने यह नीति घोषित की है कि आय वितरण की असमानताओं को यथासंभव कम किया जायगा, जिसका परिणाम यह होगा कि सम्पूर्ण बचत की रकम में घटती हो जायगी। चूँकि हमारे देश के अधिकांश लोग जिस मात्रा में खाद्यान्न का उपयोग करते हैं, वह राष्ट्रीय औसत और पौष्टिक भोजन के निम्नतर स्तर से कम है, इसलिए यह अनुमान है कि दैनिक उपयोग के व्यय में जो वृद्धि होगी उसका ५०% तो खाद्यान्न पर ही व्यय कर दिया जायगा। परम्परा के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यद्यपि इधर कई वर्षों में पैदावार

अच्छी अवश्य हुई है, किन्तु फिर भी संभावना है कि आगामी वर्षों में फसलें बिल्कुल ही खराब होंगी या उनसे कम पैदावार होगी। इन परिस्थितियों में यह अनुमान करना कि भावी पाँच वर्षों में बचत की दर ८ प्रतिशत से अधिक होगी उचित नहीं है। किन्तु इसके साथ ही बचत की दर में अनुमान से अधिक वृद्धि होना भी बिल्कुल असंभव नहीं है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि बचत की उक्त दर से जिस मात्रा में वित्तीय साधन वास्तव में उपलब्ध होंगे, उन्हीं के अनुरूप योजना के आकार को बनाने के लिए उसमें संशोधन किए जायं और राष्ट्रीय आय की अनुमानित वृद्धि के अनुसार ही विनियोग की रकम निर्धारित की जाय"।[1]

यह तर्क दिया जा सकता है कि किसी भी योजना के अन्तर्गत अनुमानित व्यय की रकम स्वभावतः ही प्रयोगिक (Tentative) रूप में निर्धारित की जाती है और यदि अनुमानित साधन उपलब्ध न हों तो योजना की लागत को उसी के अनुसार घटाया जा सकता है। किन्तु इस तर्क के विरोध में यह कहा जा सकता है कि (अ) "इस प्रकार संशोधन करने से नियोजन में गड़बड़ी आ जाती है। सबसे बड़ा दोष तो यह है कि अनुमानित विनियोग और उत्पादन के स्तर में बहुत अधिक कमी कर देने से सामान्य जनता में योजना के प्रति निराशा उत्पन्न हो जाने की संभावना रहती है। यदि सरकार कृत्रिम रूप से विनियोग की दर को लादने का प्रयास करती है, तो उसके फलस्वरूप निश्चित रूप से भीषण मुद्रास्फीति का उदय होगा। आर्थिक नियम अत्यन्त कठोर होते हैं और उनके लागू होने में साँख्यिकों (Statisticians), अर्थ-शास्त्रियों या राजनीतिज्ञों की सुविधा-असुविधा पर कोई ध्यान नहीं दिया जाता। यदि कोई भूल की जाती है, तो उसके दुष्परिणाम हमें निश्चित रूप से भुगतने पड़ेंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि अधिक से अधिक यथार्थवादी होकर अधिकतम सावधानी बरतने की आवश्यकता है", और (ब) "वास्तव में जितने साधन उपलब्ध हैं, उनकी क्षमता से अधिक विकास कार्य-क्रम को बलपूर्वक गतिशील बनाने का अनिवार्य रूप से यह परिणाम होगा कि अनियंत्रित मुद्रास्फीति उत्पन्न होगी। एक ऐसे जनतान्त्रिक देश में, जहाँ की अधिकांश जनता के पास जीविका-निर्वाह के केवल निम्नतम साधन हैं, वहाँ मुद्रास्फीति के परिणाम अत्यन्त भयंकर होंगे और संभव है कि उनसे समाज का वर्तमान ढाँचा भी जर्जर हो जाये। यदि मुद्रास्फीति को रोकने के लिए साम्यवादी

---

1. Prof. B. R. Shenoy, "A Note of Dissent on the Memorandum of the Economists' Panel", p.4. Also see for a summary of this note *Commerce*, dated May 28, 1955, p. 15.

अर्थ-व्यवस्था के समान भौतिक साधनों का सहारा लिया गया तो योजना की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शासन-सम्बन्धी या अन्य वैधानिक उपायों के द्वारा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक संस्थाओं का (धीरे धीरे या तेजी से) लोप हो जायगा। अतएव अतिआकांक्षी योजना के भयंकर दुष्परिणामों के प्रति हमें सचेत रहने की आवश्यकता है"।[1]

द्वितीय पंचवर्षीय योजना की आलोचना का दूसरा आधार यह है कि उसके अन्तर्गत उपभोक्ता की क्रय शक्ति पर उचित ध्यान नहीं दिया गया है। जब किसी विकास कार्य-क्रम पर धन व्यय किया जाता है तो वह श्रमिकों, कच्चे माल की पूर्ति करने वालों और अन्य व्यक्तियों को प्राप्त होता है, जो स्वयं उस धन को उत्पादित वस्तुओं पर व्यय करते हैं। वस्तुतः आर्थिक विकास की यही प्रक्रिया है। यदि सभी दृष्टिकोणों से विचार करें तो ज्ञात होगा कि धन-उपार्जन करने वालों के द्वारा उसका व्यय किया जाना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसी के फलस्वरूप उत्पादित वस्तुओं को बेचने का अवसर प्राप्त होता है जिसका परिणाम यह होता है कि उन बिकी हुई वस्तुओं के फलस्वरूप फिर नई वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है। उत्पादन की प्रक्रिया को बराबर जारी रखने के लिए आवश्यक है कि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति (purchasing power) में वृद्धि हो। जब तक कि सभी साधनों का पूर्ण उपभोग नहीं हो जाता है, यह प्रक्रिया चलती रहती है। यदि किन्हीं कारणों से लोग उत्पादित वस्तुओं का उपभोग नहीं कर पाते तो आर्थिक विकास की प्रक्रिया का क्षेत्र संकुचित हो जाता है। द्वितीय योजना में यह निर्देश किया गया है कि योजना की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए देश में राष्ट्रीय आय पर कर की ७ प्रतिशत दर को बढ़ाकर १९६०-६१ तक ९ या १० प्रतिशत किया जायगा। यही नहीं, कर की दर में १२ प्रतिशत तक वृद्धि करने की आवश्यकता पड़ सकती है। भारत में कर की दर पहले ही से ऊँची है और इसीलिए योजना आयोग की यह धारणा है कि "करों के वर्तमान स्तर—राष्ट्रीय आय का ७%—को भी बनाए रखने के लिये उसमें कुछ न कुछ संशोधन अवश्य करने होंगे"। यदि करों में अब तनिक भी वृद्धि हुई, तो उससे लोगों को अत्यधिक कष्टों का सामना करना पड़ेगा और व्यापार व उद्योगों के सामने भी अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जायेंगी। यदि करों की किसी भी विधि से लोगों की क्रयशक्ति क्षीण होगी अथवा वस्तुओं में वृद्धि होगी, तो यह निश्चित है कि द्वितीय योजना के कार्य-क्रम में बाधा पहुँचायेगी। जैसे-जैसे राष्ट्रीय आय में वृद्धि

[1] *Vide* the Author's article, *loc cit.*, p.15.

होगी और औद्योगिक व व्यवसायिक कार्यों का क्षेत्र विस्तृत होता जायगा, वैसे-वैसे करों से प्राप्त होने वाले सरकारी राजस्व में निश्चित रूप से वृद्धि होती जायगी। किन्तु यदि उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति को क्षीण बनाते हुए करों में वृद्धि करने का प्रयास किया जायगा तो यह निश्चय है कि योजना के कार्यान्वित होने में बाधा पड़ेगी और राष्ट्रीय आय में अनुमानित वृद्धि भी नहीं आ सकेगी। इसका परिणाम यह होगा कि बाजार में तथा कारखानों के गोदामों में बगैर बिकी हुई वस्तुओं का ढेर लग जायगा और इस प्रकार उसका उत्पादन या तो घट जायगा या बिल्कुल ही बन्द हो जायगा। इस अव्यवस्था के फलस्वरूप योजना की प्रगति को गहरा धक्का लगेगा।

यदि लोगों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाता है कि वे अपना उपभोग कम और बचत अधिक करें, तो ठीक वैसे ही दुष्परिणाम उत्पन्न होंगे। कुछ समय पूर्व यह धारणा प्रचलित थी कि अधिक बचतों से उसी अनुपात में आर्थिक विकास भी अधिक होता है। किन्तु अर्थशास्त्र के आधुनिक सिद्धान्त इस धारणा के बिल्कुल विरोधी निष्कर्षों पर पहुँचे हैं। उनके अनुसार जितना ही अधिक उपभोग किया जायगा उतना ही अधिक आर्थिक विकास होगा। यदि कृत्रिम राशि का विनियोग करने के फलस्वरूप उत्पादन में वृद्धि हो और उसकी खपत हो जाने पर पहले की अपेक्षाकृत अधिक उत्पादन हो और यह सम्पूर्ण आर्थिक प्रक्रिया निर्विघ्न रूप से चलती रहे, तो बचतों के सम्बन्ध में कठिनाई उठाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि होने के फलस्वरूप बचत की कुल रकम में भी वृद्धि होती है और अन्त में बचतों के द्वारा विनियोग सन्तुलित हो जाता है। किन्तु यदि बहुत शीघ्रता से बचत की रकम में वृद्धि करने का प्रयास किया जाय तो आर्थिक विकास का क्षेत्र संकुचित हो जायगा। यदि सरकार की कर नीति अथवा अन्य नीतियों से वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि हो और उपभोक्ताओं की क्रय-शक्ति घट जाय, तो इसका परिणाम यह होगा कि कपड़े, चीनी, खाद्यान्न और अन्य वस्तुओं की प्रति-व्यक्ति खपत (*Per capita* consumption) में अनुमानित वृद्धि नहीं होगी और न रहन-सहन का स्तर ही ऊँचा उठेगा, चाहे किसी प्रकार उन वस्तुओं का उत्पादन बढ़ा ही क्यों न लिया जाय।

तीसरी बात यह है कि योजना के अन्तर्गत अनुमानित घाटे के बजट की १,२०० करोड़ रुपये की रकम (जो देश की वर्तमान द्रव्य-पूर्ति का ५०-६०% है) से अत्यधिक मुद्रास्फीति उत्पन्न हो जाने की संभावना है। किसी भी ऐसे देश में, जहाँ व्यवस्थित रूप से आर्थिक विकास किया जा रहा है, मुद्रास्फीति का उदय

होना अवश्यम्भावी है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मुद्रास्फीति पर कड़ा नियंत्रण रखा जाय जिससे कि अधिक हानि न होने पाये। प्रोफेसर शिनोय की यह धारणा ठीक ही है कि "यदि यह मान भी लिया जाय कि राष्ट्रीय आय में वृद्धि की दर दुगुनी हो जायगी, तो भी अतिरिक्त रोकड़ वाकी (cash balances) के लिए इतनी अधिक माँग नहीं हो सकती कि कुल द्रव्य-पूर्ति (money supply) की ५०-६०% रकम की व्यवस्था घाटे के बजट के रूप में करने की आवश्यकता पड़े। यदि केन्द्रीय बैंक (Central bank) का एक-तिहाई अनुमानित द्रव्य घाटे के बजट के द्वारा चलन में आकर व्यवसायिक बैंकों (Commercial banks) के सुरक्षित कोषों में वृद्धि करता है और उसके आधार पर वे व्यवसायिक बैंक ६-७ गुनी साख का निर्माण कर लेते हैं, तो योजना-काल के उपरान्त कुल द्रव्य की पूर्ति योजना प्रारंभ करने के समय की द्रव्य-पूर्ति से दुगुनी या उससे भी अधिक हो सकती है। इसके फलस्वरूप मुद्रास्फीति को निश्चित रूप से जन्म मिलेगा"।[1]

---

[1] पर्याप्त सूचनायें न होने के कारण यह बताना कि किस सीमा तक घाटे का अर्थ प्रबन्ध भारतीय अर्थ व्यवस्था बिना हानि पहुँचाये सहन कर सकती है असम्भव है। प्रो० शिनोय ने अनुमान लगाने का साहस किया है। "इस शीर्षक के अन्तर्गत घाटे के अर्थ प्रबन्ध की मात्रा में पौण्ड पावने की मात्रा जो सरकारी क्षेत्र की आर्थिक आवश्यकता के लिये काम में लाई गई है जोड़ देने पर जो मात्रा आवे उसे ही घाटे के अर्थ प्रबन्ध करने की वह सीमा समझा जा सकता है जिस तक किसी हानि की आशंका नहीं की जा सकती। पाँच वर्षों के भीतर पौंड पावने की मात्रा १०० से लगाकर १५० करोड़ रुपये तक योजना के अन्तर्गत मानी गई है। इसके एक अंश को व्यक्तिगत क्षेत्र के लिये नियत करना पड़ेगा और उसकी मात्रा के बराबर बैंकों द्वारा साख उत्पन्न करनी पड़ेगी। यदि हम रोकड़ बचत तथा पौंड पावने की रकमों को सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों में २:१ के अनुपात में क्रमशः बाँटें तो कुल घाटे का अर्थ प्रबन्ध १८० से लगाकर २२० करोड़ रुपये तक पाँच वर्षों की अवधि में ठहरेगा, अर्थात् ३५ से ४४ करोड़ रुपये प्रति वर्ष की दर के हिसाब से होगा।" इस मात्रा को घाटे के अर्थ प्रबन्ध की उचित सीमा चाहे हम मानें या न मानें पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि २०० करोड़ रुपयों का घाटे का प्रति वर्ष औसत अर्थ प्रबन्ध जो कि द्वितीय योजना में किया जाने वाला है बहुत अधिक है। इससे ऐसी मुद्रास्फीति शक्तियाँ उत्पन्न हो सकती हैं कि योजना ही नष्ट-भ्रष्ट हो जाय।

अंतिम बात यह है कि यद्यपि द्वितीय योजना द्वारा प्रथम योजना की एक भूल का सुधार किया गया है और औद्योगिक विकास पर पर्याप्त ध्यान दिया गया है, किन्तु फिर भी संभव है कि एक दोषपूर्ण औद्योगिक ढाँचे का ही निर्माण हो, क्योंकि उसमें दैनिक उपयोग में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुओं का उत्पादन करने वाले कारखानों के उद्योगों की उपेक्षा की गई है। "यदि योजना आयोग की बड़े पैमाने वाले उद्योगों के स्थान पर छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग-धंधों को विकसित करने की योजना सफल हो जाती है, तो इसका परिणाम यह होगा कि बड़े-बड़े उद्योगों का ह्रास होने लगेगा और उनके द्वारा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में प्रयुक्त होने वाली मशीनें, इस्पात और अन्य आधारभूत सामग्री की मांग बढ़ने के स्थान पर और भी घट जायगी"। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "यदि संरक्षण, संगठन और आर्थिक सहायता के द्वारा जितना ही अधिक घरेलू उद्योग-धंधों का विकास होगा और कारखानों के क्षेत्र में आधुनिकीकरण व प्रसार करने का कार्य जितने ही अधिक समय के लिए स्थगित किया जायगा, तो उक्त समस्याओं को हल करने की कठिनाई भी बढ़ती ही जायगी। यदि ऐसा विकास कार्य-क्रम अपनाया गया, जिसमें छोटे-छोटे उद्योगों का प्रसार करके औद्योगिक नीति बिल्कुल परिवर्तन कर दी जायगी और मशीनों व बिजली की शक्ति की पूर्ति भी इन्हीं घरेलू उद्योग-धंधों के लिए की जायगी, तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह कार्य आर्थिक दृष्टि से नितान्त अनुचित होगा"।[1]

---

१ इस सम्बन्ध में इस बात पर जोर देना उचित होगा कि "छोटे और ग्राम्य उद्योगों को संगठित करने के लिये बहुत अधिक प्रयत्न करना आवश्यक होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रवृत्ति सुसंगठित फेक्ट्रियों की स्थापना के साथ ग्राम्य उद्योगों के बहिष्कार करने की रही है। यह बहिष्कार जहाँ कहीं भी हुआ है प्रशासन की आज्ञानुसार नहीं हुआ है। यह तो अधिक कुशल उत्पादन की प्रणाली के प्रति पक्षपात जो कि आर्थिक विकास का तर्कयुक्त परिणाम है उसके कारण हुआ। इसलिये स्वभावतः नष्टप्राय ग्राम्य उद्योगों का पुनरुद्धार करने के लिये हमें विकास-क्रम के ऐतिहासिक प्रवाह के विरुद्ध चलना पड़ेगा और उपयोग की वस्तुओं का उत्पादन करने वाले फेक्ट्री की व्यवस्था वाले उद्योगों के विस्तार के विरुद्ध कृत्रिम बाधायें उपस्थित करनी पड़ेंगी, और इस सम्बन्ध में मुद्रास्फीति की ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी पड़ेगी कि जो आगे चलकर सम्भवतः हमारे नियंत्रण के बाहर हो जाँय अथवा हमारी आर्थिक व्यवस्था को सदा के लिये स्थिर कर दें। यदि परम्परागत ढङ्ग के छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को विकसित किया जाय तो खर्चीली व्यवस्था का प्रबन्ध करना

इस सम्बन्ध में एक दूसरा दृष्टिकोण यह है कि भावी औद्योगीकरण सरकार और निजी उद्योगों के सम्मिलित प्रयास पर आधारित होगा। यद्यपि द्वितीय पंचवर्षीय योजना में निजी क्षेत्र के अन्तर्गत २४०० करोड़ रुपए के व्यय की रकम निर्धारित की गई है किन्तु उसमें यह उल्लेख नहीं किया गया है कि इतनी अधिक राशि किन साधनों से उपलब्ध होगी। योजना के अनुसार, "निजी उद्योगों के निर्माण-कार्य के लिए बचत की रकम प्राप्त करने के क्या साधन होंगे, यह निर्देश करना कठिन है। इसके अतिरिक्त यह भी दावे के साथ नहीं कहा जा सकता है कि निर्माण-कार्य में अनुमानित वृद्धि की पूर्ति होगी ही। कुल बचत के अपर्याप्त होने पर कमी कहाँ से पूरी की जायगी, इसका पता नहीं"। चूँकि सरकारी क्षेत्र को सभी साधन उपलब्ध होने की कदाचित् अधिक संभावना है, इसीलिये बहुत कुछ संभव है कि निजी क्षेत्र को अनुमानित साधन न प्राप्त हो सकें। इस परिस्थिति का फल यह होगा कि इधर सरकारी क्षेत्र के अंतर्गत औद्योगिक विकास होगा और उधर निजी क्षेत्र में औद्योगिक प्रगति न होने के कारण सम्पूर्ण औद्योगिक विकास की स्थिति बहुत कुछ सीमा तक वैसी ही रह जायगी। अतएव द्वितीय योजना के अन्तर्गत जितना औद्योगिक विकास होने का अनुमान किया गया है वह नहीं हो सकेगा।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना ने बेरोजगारी की समस्या को हल करने पर बहुत जोर दिया है। वास्तव में छोटे पैमाने के और घरेलू उद्योग-धन्धों के विकास को प्रोत्साहित करने का प्रमुख कारण भी यही है। किन्तु यन्त्र तैयार करने वाले उद्योगों का नियोजन इंगलैंड, अमरीका और रूस के आधार पर किया जा रहा है। योजना आयोग को चाहिये था कि हमारी विशिष्ट आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर इस प्रकार के नये यन्त्र तैयार करने की व्यवस्था करता, जो इतने कार्यक्षम होते कि उनके द्वारा प्रति इकाई के उत्पादन की उतनी ही लागत पड़ती जितनी कि विश्व के अन्य औद्योगिक दृष्टि से विकसित देशों में तैयार की गई 'श्रम की बचत करने वाली' (Labour-saving) और अपने आप चलने वाली मशीनों के द्वारा पड़ती है, किन्तु उनके (भारत की विशेष आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनने वाली मशीनों) द्वारा पूँजी-विनियोग की प्रति इकाई में अधिक श्रमिकों की खपत होती। यदि उचित ध्यान दिया जाय तो इस प्रकार

आवश्यक होगा। ऐसा करने पर सफलता तो सीमित मात्रा में ही प्राप्त होगी पर यदि असफल हुये तो परिणाम भयावह होगा।" (Federation of Indian Chambers of Commerce and Industry's "Second Five-Year Plan, *A Comparative Study of the Objectives and Techniques of the Tentative Plan-frame*", *pp. 78*)

के यन्त्रों का निर्माण होना पूर्णरूप से सम्भव है। केवल पूँजी की बचत करने वाले (Capital-saving) ऐसे यन्त्रों का निर्माण करने का महत्व इसलिए भी बहुत अधिक है कि केवल इन्हीं के द्वारा भारत की बेरोजगारी और आंशिक रोजगारी की समस्या स्थायी रूप से हल की जा सकती है। ऐसी व्यवस्था की कमी द्वितीय पंचवर्षीय योजना का एक बहुत गम्भीर दोष है।

योजना का पुनर्मूल्यन

द्वितीय पंचवर्षीय योजना को प्रारम्भ से ही असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। (अ) आयात की हुई मशीनों, कच्चे माल तथा अन्य माल का मूल्य स्वेज़-संकट के कारण बढ़ गया। विदेशों में भी मूल्य बढ़ गये। देश में विनियोग की अत्यधिक देर के कारण मुद्रास्फीति की दशा उत्पन्न हो गई जिसके परिणाम स्वरूप मूल्यों में वृद्धि हुई। परिणाम यह हुआ कि योजना के अंतर्गत विभिन्न योजनाओं की लागत बढ़ गयी तथा प्रारम्भ में निर्धारित वित्त से भौतिक लक्ष्यों (physical targets) की प्राप्ति असम्भव हो गई। (ब) योजना के लिये अत्यधिक कर लगाने तथा अन्य उपाय करने पर भी साधनों की कमी पड़ गयी और विदेशी विनिमय का संकट उपस्थित हो गया। (स) द्वितीय योजना का भार जनता की वहन शक्ति के लिये अधिक साबित हुआ। योजना में सदैव ही कुछ त्याग करना होता है किन्तु द्वितीय योजना में अपेक्षित त्याग बहुत अधिक हो गया। अतएव योजना आयोग तथा भारत सरकार को यह सुझाव दिया गया कि योजना में कटौती की जाय तथा विनियोग की दर कम की जाय। योजना आयोग, राष्ट्रीय विकास परिषद तथा भारत सरकार ने विचार-विमर्श के बाद योजना में कटौती करने के बजाय उसे दो भागों में बाँट दिया। (१) भाग अ जिसके अन्तर्गत कृषि उत्पत्ति की वृद्धि से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित योजनायें, मुख्य (core) योजनायें (रेलवे, बड़े बन्दरगाह, स्टील, कोयला तथा अन्य शक्ति योजनायें) जो काफी आगे बढ़ गयी हैं तथा अन्य योजनायें जिन पर कुल ४५०० करोड़ रु० के व्यय का अनुमान है, तथा (२) भाग ब जिसमें ३०० करोड़ रुपये की शेष योजनायें सम्मिलित हैं।

जैसा कि 'द्वितीय पंचवर्षीय योजना : पुनर्मूल्यन व सम्भावनायें' (मई १९५८) से प्रकट है योजना आयोग इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि योजना पर प्रारम्भिक अनुमान की तुलना में ५४० करोड़ रु० कम अर्थात् ४२६० करोड़ रु० व्यय होगा।

मई १९५८ में योजना आयोग ने घोषणा की कि यथार्थ उपलब्ध साधन ४२६० करोड़ रु० ही है, फिर भी भाग अ के अर्थ प्रबन्धन का पूरा प्रयत्न किया

द्वितीय योजना के सरकारी क्षेत्र में विभिन्न मदों के बीच वित्त का निर्धारण (करोड़ रु० में)

	योजना के मूल लक्ष्य	अधिक लागत के कारण पुनर्निश्चित लक्ष्य (४८०० करोड़ रु० के भीतर)	अब प्रस्तावित व्यय (योजना का भाग अ)
कृषि और सामुदायिक विकास	५६८	५६८	५१०
सिंचाई और शक्ति	९१३	८६०	८२०
ग्रामीण तथा छोटे उद्योग	२००	२००	१६०
उद्योग तथा खनिज	६९०	८८०	७९०
परिवहन और संचार	१,३८५	१,३४५	१,३४०
सामाजिक सेवायें	९४५	८६३	८१०
विविध	९९	८४	७०
कुल योग	४८००	४८००	४५००

सेवाओं' के अन्तर्गत हुई है ताकि कुल व्यय ४५०० करोड़ रु० हो सकें। विभिन्न योजनाओं के लिये निर्धारित वित्त में परिवर्तन युक्तिपूर्वक नहीं किये गये हैं अतएव ये गलत भी हो सकते हैं।

"योजना में ७९ लाख व्यक्ति कृषि के बाहर तथा १६ लाख कृषि में काम पायेंगे, ऐसी आशा की जाती है। विभिन्न योजनाओं की लागत बढ़ जाने के कारण ऐसा अनुमान किया गया है कि कृषि के बाहर ७० लाख व्यक्तियों को काम मिलेगा। यह अनुमान ४८०० करोड़ रु० के व्यय तथा निजी क्षेत्र के व्यय में कोई परिवर्तन न मानने पर आधारित है। ४५०० करोड़ रु० के व्यय के अनुमान पर ६५ लाख व्यक्तियों को काम मिलने की आशा है"।

अध्याय ६१

तृतीय पंचवर्षीय योजना की रूपरेखा

भारत की तृतीय योजना की तैय्यारी की जा रही है और सबसे अधिक गंभीर प्रश्न जो योजना आयोग तथा सरकार के समक्ष है वह योजना के रूप और आकार के सम्बन्ध में है। तृतीय योजना के आरम्भ न करने का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। यद्यपि द्वितीय योजना के कुछ ध्येयों की पूर्ति होना सम्भव नहीं है और देश का आर्थिक विकास हमारी आशा से कहीं कम हुआ है, फिर भी प्रथम और द्वितीय योजनाओं ने राष्ट्रीय उत्पत्ति तथा आय, कार्य के अवसरों तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को प्रभावशाली ढंग से बढ़ाया है। यह सिल-सिला चलता रहना चाहिये और इसके लिये अधिक विस्तृत और महत्वाकांक्षी तृतीय योजना की आवश्यकता है। इसके भी ध्येयों को लगभग प्रथम और द्वितीय योजना के समान ही होना चाहिये, अर्थात् देश में प्राप्त वस्तुओं के साधनों का सर्वोत्कृष्ट ढंग से उपयोग, औद्योगिक तथा कृषि सम्बन्धी उत्पत्ति को अधिक से अधिक बढ़ाना ताकि काम करने के अवसरों की वृद्धि तथा जनता के रहन-सहन के स्तर को वास्तविक रूप से ऊँचा उठाया जा सके, होना चाहिये। सारांश यह कि भारत में वास्तव रूप से कल्याणकारी सरकार की स्थापना हो सके। यह तो प्रत्यक्ष है कि इन आदर्शों को पूरा कर लेने के लिये लोगों को कुछ वस्तुओं के अपने वर्तमान उपभोग को अधिक कर (tax) देकर त्यागना पड़ेगा और अपनी बचत की मात्रा को पूँजी की वृद्धि करने के लिये बढ़ाना पड़ेगा।

अभी तक तृतीय योजना के सम्बन्ध में मतभेद उसके आकार पर ही केन्द्रित रहा है। सरकारी मतानुसार तृतीय योजना का ध्येय १०,००० करोड़ रुपयों के विनियोग का ५ वर्ष की अवधि में होना चाहिये जबकि द्वितीय योजना में प्रस्ता-वित मात्रा केवल ६२०० करोड़ रुपया ही थी। इस नीति के विरोधकों का कहना है कि इतनी मात्रा का विनियोग अत्यधिक होगा और उन्होंने यह सुझाव उप-स्थित किया है कि तृतीय योजना में विनियोग का स्तर लगभग वही होना चाहिये जितना कि द्वितीय योजना में था। परन्तु तृतीय योजना के आकार के सम्बन्ध में मतभेद बिना उसके रूप के समझे असंगत और निरर्थक है।

इस सम्बन्ध में सबसे अधिक गम्भीर बात विनिमय की मात्रा में सरकारी और व्यक्तिगत क्षेत्रों के भाग की है। प्रथम योजना में औद्योगिक विकास के सम्बन्ध में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग कुल विनियोग में आधा था परन्तु द्वितीय

योजना में वह घटाकर एक-तिहाई कर दिया गया था। ऐसा स्पष्ट रूप से लक्षित हो रहा है कि तृतीय योजना में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग और भी अधिक घटा दिया जायगा। इसका अर्थ यह है कि द्वितीय योजना में केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा विकास सम्बन्धी विनियोग जो कि ४८०० करोड़ रुपया था (और जो बाद में घटाकर ४५०० करोड़ रुपया कर दिया गया था) उसे ७५०० करोड़ रुपया करना पड़ेगा यदि योजना का कुल व्यय १०००० करोड़ रुपया रक्खा गया। यदि ऐसा हुआ तो १०००० करोड़ रुपयों के आकार की योजना देश की शक्ति के बाहर होगी और यदि लादी गई तो देश में बड़ी कठिनाई तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी। ४५०० करोड़ रुपयों की विकास योजना की वित्त व्यवस्था करने में केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों ने बहुत से नये करों का आरोप किया है और पहिले से आरोपित करों में वृद्धि की है जिनसे ५ वर्षों में ६०० करोड़ रुपयों की कुल अतिरिक्त आय की आशा की जाती है। इन करों के अतिरिक्त सरकार ने बहुत बड़ी मात्रा में घाटे की अर्थ-व्यवस्था भी की है जो कि द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में ६५० करोड़ रुपये की मात्रा के लगभग होगी यद्यपि संघ के वित्त मंत्री ने १९५९-६० तक उसका २२२ करोड़ रुपये ही अनुमान लगाया है। चूँकि यह सर्व विदित है कि द्वितीय योजना की ५ वर्ष की पूरी अवधि में १५०० करोड़ रुपयों से अधिक का घाटे का अर्थ प्रबन्धन होगा इसलिये हम यह परिणाम निकाल सकते हैं कि वित्तमंत्री द्वारा अनुमानित मात्रा कम है। यदि सरकार अपनी विकास योजनाओं पर कर-आय अथवा जनता से लिये गये ऋण का व्यय करती है तो मुद्रास्फीति उसका परिणाम नहीं होना चाहिये और उसके फलस्वरूप मूल्य स्तर में वृद्धि भी न होनी चाहिये। ऐसा इसलिये होगा कि जनता की द्राव्यिक आय, जिसमें से वह कर देती है अथवा सरकारी ऋणों में जिसका विनियोग करती है समान मात्रा की सेवाओं तथा वस्तुओं द्वारा संतुलित हो जाती है। यदि जनता अपनी आय का व्यय करती है तो वह इन सेवाओं और वस्तुओं का उपभोग स्वयं कर लेती है और यदि वह कर (tax) देती है अथवा सरकारी ऋण में विनियोग करती है तो दूसरे शब्दों में वह इस प्रकार सरकार को उसी मात्रा की सेवाओं और वस्तुओं के उपभोग का अधिकार प्रदान कर देती है। यदि सरकारी विकास योजनाओं की वित्त व्यवस्था कर-आय तथा ऋण द्वारा प्राप्त धन से की जाती है तो देश में ऐसी वस्तुयें और सेवायें प्राप्त होंगी जिन पर यह द्रव्य व्यय किया जा सकता है और कुछ ही समय में ऐसी समायोजना स्वयं हो जायगी कि ऐसे व्यय के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि न हो। लगभग ऐसी ही स्थिति उस समय भी होती है जब कि विकास योजनाओं की वित्त व्यवस्था विदेशी अनुदानों अथवा

देश के विदेशी विनिमय निधियों से की जाती है क्योंकि यह धन भारत के वस्तुओं के आयात से ही प्राप्त होता है और इस प्रकार जो कुछ भी व्यय सरकार योजना पर करती है उससे संतुलित हो जाता है। यथार्थ में ये आयात की हुई वस्तुयें यही नहीं कि मूल्य स्तर की वृद्धि में ही रोकथाम करें वरन् ये वास्तव में मूल्य स्तर को नीचे गिराने में सहायक होती हैं और इसलिये इन्हें हम मुद्रा संकुचन उत्पन्न करने का कारण कह सकते हैं। परन्तु ऐसा घाटे का अर्थ प्रबन्धन जिसका अर्थ ऐसी स्थिति है जिसमें सरकार अपनी चालू कर-आय, ऋण से प्राप्त धन, जमा धन और निधियाँ इत्यादि से जो कि उसके पास हैं अधिक व्यय करती है, मुद्रास्फीति उत्पन्न करने का कारण है और यदि इसकी कुल मात्रा अधिक हुई तो यह मुद्रास्फीति का बहुत अधिक प्रभावशाली कारण बन सकती है, क्योंकि द्रव्य के व्यय का वस्तु की पूर्ति द्वारा इस स्थिति में संतुलन नहीं होता।

तात्पर्य यह है कि अपने देश में करारोप अपनी अधिकतम सीमा पर पहुँच चुका है और जनता बिना असह्य कष्ट उठाये अब और अधिक कर देने में असमर्थ है; और घाटे का अर्थ प्रबन्ध भयावह सीमा तक पहुँच चुका है और उसका परिणाम मुद्रास्फीति जन्य मूल्य स्तर में वृद्धि हो चुकी है। इसलिये सरकार के लिये अब और अधिक घाटे के अर्थ प्रबन्धन का विचार करना अनुचित होगा। परन्तु यदि हमारी तृतीय योजना अधिक विस्तृत और महत्वाकांक्षी है और सरकारी क्षेत्र अधिक विस्तृत है तो करों तथा घाटे के अर्थ प्रबन्धन के स्तर को पर्याप्त मात्रा में बढ़ाना पड़ेगा क्योंकि सरकार के लिये महत्वाकांक्षी योजना को पूरा करने का कोई अन्य उपाय नहीं है। यदि कुल व्यय में सरकारी क्षेत्र का भाग और अधिक बढ़ाना है और सरकार को उसकी व्यवस्था करने के लिये धन कहीं से ढूँढ़ निकालना है तो हमें समझना चाहिये कि अधिक विस्तृत योजना को पूरा करना हमारी सामर्थ्य के बाहर है चाहे हमारी कितनी ही अधिक अवश्यकता क्यों न हो।

परन्तु यदि तृतीय योजना के अन्तर्गत कुल व्यय में व्यक्तिगत क्षेत्र का भाग बढ़ा दिया जाता है और यदि सरकार की आर्थिक, औद्योगिक तथा अन्य नीतियों को आवश्यकतानुसार परिवर्तित करके उचित वातावरण का सृजन किया जा सकता है तो यह सम्भव हो सकता है कि हम अपनी तृतीय योजना को बिना कठिनाइयों तथा मुद्रा-स्फीति की दशा उत्पन्न किये हुये ही अधिक विस्तृत तथा महत्वाकांक्षी बनाएँ। यह इसलिये सम्भव है कि व्यक्तिगत क्षेत्र में विनियोग का प्रबन्ध प्रायः बचत की मात्रा और कुछ थोड़ा सा विदेशी पूँजी से किया जाता है और यह व्यय वस्तुओं की पूर्ति द्वारा देश की आर्थिक व्यवस्था में संतुलित हो

जाता है। जहाँ तक बैंक द्वारा लिये हुये ऋण से इसकी व्यवस्था होती है उस सीमा तक वस्तु की पूर्ति द्वारा संतुलन नहीं होता और मुद्रास्फीति उत्पन्न करने का कारण बन सकता है। परन्तु भारत में व्यक्तिगत क्षेत्र के कुल विनियोग के बहुत थोड़े से अंश की व्यवस्था इस ढंग से होती है इसलिये व्यक्तिगत क्षेत्र द्वारा विकास-योजना में विनियोग से मुद्रास्फीति के प्रोत्साहित होने की सम्भावना नहीं है। यही कारण है कि तृतीय योजना की रूपरेखा उसके आकार को प्रभावित करती है।

इसमें संदेह नहीं कि द्वितीय योजना में आरम्भ किये हुये विकास कार्यों को उनकी शाखा-प्रशाखाओं सहित तृतीय योजना में पूर्ण करना है इसलिये विनियोग की मात्रा द्वितीय योजना से अधिक अवश्य होगी। यह भी सत्य ही है कि यदि जनसंख्या के अधिक अंश को काम देना है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारतवर्ष में जनता को काम करने के अधिक अवसर प्रदान किये जाने चाहियें। भारत की जनसंख्या में २% की प्रतिवर्ष वृद्धि को विचाराधीन रखते हुये लोगों को वृद्धिमान रहन-सहन का स्तर प्रदान करने के लिये अधिक तीव्र गति से आर्थिक विकास की आवश्यकता है।

परन्तु यदि सरकारी क्षेत्र के विस्तार को बढ़ा दिया जाय तो यह सब सम्भव न हो सकेगा। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में राष्ट्रीय आय लगभग २% प्रतिवर्ष की औसत दर से बढ़ी है और लगभग २७ लाख ५० हजार व्यक्तियों को काम करने के अतिरिक्त अवसर प्रदान किये गये हैं जब कि द्वितीय योजना का ध्येय ५% प्रतिवर्ष की वृद्धि राष्ट्रीय आय में और ८० लाख व्यक्तियों को अतिरिक्त काम देना निश्चित किया गया था। वृद्धि की इस दर ने जनता पर ऊँचे करों, जीवन-यापन के ऊँचे मूल्यों, और नीचे गिरे हुये रहन-सहन के दर्जे के रूप में बहुत कठिनाइयाँ लादी हैं। ताकि इन कठिनाइयों को बिना अधिक मात्रा में बढ़ाये तृतीय योजना का विस्तार बढ़ाया जा सके इसलिये योजना आयोग और सरकार को यह निश्चय करना पड़ेगा कि किसी विचारादर्श के प्रति अपनी आस्था प्रदर्शित करने के लिये उसी पर अड़े रहना, अथवा अधिक तीव्र गति से देश का आर्थिक विकास करना देश के लिये कहाँ तक हितकर होगा। चूँकि पूँजीवादी व्यवस्था का स्थान समाजवादी व्यवस्था द्वारा धीरे-धीरे लिये जाने का कार्य आरम्भ हो चुका है इसलिये वह तो अपना पूरा समय लेगा, परन्तु यदि उसके स्वाभाविक विकास को जल्दी लाने का प्रयत्न किया गया तो इसका अर्थ आर्थिक उन्नति और देश की सम्पन्नता की प्रगति में बाधा डालना होगा।

तृतीय योजना की रूपरेखा का जानना उसके आकार को निश्चित

करने के लिये ही आवश्यक नहीं है वरन् देश को विकास योजनाओं से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिये भी आवश्यक है। व्यक्तिगत क्षेत्र को उसका उचित अंश देने के बाद दूसरा आवश्यक प्रश्न योजना के अन्तर्गत आये हुये विकास कार्यों का क्रम है। क्या तृतीय योजना के विकास कार्यक्रम में कृषि को वही स्थान दिया जाना चाहिये जो कि उद्योग को दिया जाय? द्वितीय योजना के अनुभव के आधार पर जिसमें कृषि को औद्योगिक विकास की तुलना में कम महत्व का स्थान दिया गया था हम कह सकते है कि कृषि का स्थान अधिक महत्व का होना चाहिये। द्वितीय योजना में सर्वप्रथम १०० लाख टन खाद्यान्न के उत्पादन का लक्ष्य बनाया गया था जो कि बाद में बढ़ाकर १'७५ लाख टन कर दिया गया। द्वितीय योजना के प्रथम तीन वर्षों में इस लक्ष्य का आधे से अधिक पूरा न किया जा सकेगा। कृषि के प्रति उदासीनता के परिणाम स्वरूप खाद्यान्न में कमी तथा उनके निरन्तर बढ़ते जाने वाले मूल्य देश के समक्ष आये। ऐसी अर्थ व्यवस्था में जहाँ खाद्यान्न के मूल्य का सबसे अधिक महत्वशाली स्थान है वहाँ अन्न के मूल्य के बढ़ने के साथ ही साथ अन्य वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ने लगते हैं। और इस प्रकार मुद्रास्फीति की स्थिति के कारण उत्पन्न हो जाते हैं। इन सब बातों को उत्पन्न न होने देने के लिये तृतीय योजना में कृषि उत्पत्ति के अधिक बढ़ाने की व्यवस्था की जानी चाहिये। इसमें संदेह नहीं कि देश की कुल आय तथा उत्पत्ति औद्योगिक विकास के फलस्वरूप कृषि के विकास की तुलना में अधिक तीव्र गति से बढ़ जायगी। यही बात काम के अवसरों, निर्यात तथा जनता के रहन-सहन के दर्जे के बढ़ाने के सम्बन्ध में भी सत्य है। परन्तु प्रश्न तो यह है कि ऐसी आर्थिक उन्नति का क्या प्रयोजन जब जनता को भर पेट भोजन मिलना ही दुष्कर हो जाय। कृषि के विकास के प्रति विशेष ध्यान देने का अर्थ चाहे आर्थिक विकास में कमी करना ही क्यों न हो यह जोखिम उठाने योग्य है क्योंकि इससे अन्न की उपज तथा अन्य कृषि उत्पत्ति के बढ़ जाने के कारण औद्योगिक विकास के लिये दृढ़ आधार प्राप्त हो जाता है।

औद्योगिक विकास में वास्तविक कठिनाई विभिन्न हितों के समायोजित करने की है जैसे : (१) छोटे स्तर के घरेलू उद्योग-धन्धे और ज्वाइंट स्टाक कम्पनी व्यवस्था वाले बड़े स्तर के उद्योग, और (२) बड़ी मशीनों के निर्माण करने वाले उद्योग तथा उपभोक्ता की वस्तुओं तथा अन्य छोटी-छोटी वस्तुओं का उत्पादन करने वाले उद्योग। भारतीय आर्थिक तथा उद्योग व्यवस्था में छोटे स्तर पर उत्पादन करने वाले घरेलू उद्योग-धन्धों का एक विशेष स्थान है और इसलिये उन्हें पूर्ण रूप से प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि बड़े स्तर

पर उत्पादन करने वाले उद्योगों का अहित करके ऐसा किया जाय। द्वितीय योजना में एक महान भूल बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों की चिन्ता न करके छोटी मात्रा में उत्पादन करने वाले तथा घरेलू उद्योग धन्धों को बढ़ाने की की गई थी। इसके मूल में योजना के अन्तर्गत काम करने के अवसरों को बढ़ाने की भावना थी। इसका उदाहरण सूती कपड़ा उत्पादन करने वाले उद्योग थे। यह नीति काम के अवसरों के बढ़ाने में सफल नहीं हुई वरन् उसने बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को घाटा पहुँचाया। यह भूल तृतीय योजना में बचाई जानी चाहिये और केवल उन्हीं घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये जिनका विकास बिना बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों को हानि पहुँचाये किया जा सकता है और केवल ऐसे ही ढंगों का प्रयोग किया जाना चाहिये जिनसे घरेलू उद्योगों की तो सहायता प्रभावशाली ढंग से हो पर बड़े उद्योगों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचे। जैसे-जैसे बड़ी मात्रा में उत्पादन करने वाले उद्योगों का विकास होता चलेगा अधिकाधिक काम करने के अवसर जनसंख्या को मिलते जायंगे और इस बीच में इस बात का प्रयत्न होना चाहिये कि श्रम-बचाव के ढंग का प्रयोग न हो वरन् नये कारखानों में तथा उन पुराने कारखानों में जहाँ मशीनें बदली जाने वाली हैं अधिक कुशलता से काम लेने वाली मशीनों का प्रयोग हो।

तृतीय योजना में अधिक व्यय होने के कारण ज्यों-ज्यों लोगों की आय बढ़ेगी त्यों-त्यों उन्हें अधिक उपभोग की वस्तुओं की आवश्यकता होगी। भूत काल में ऐसी वस्तुयें अंशतः विदेशों में अपने विदेशी विनिमय निधियों के और अंशतः भुगतान संतुलन के अतिरेक के आधार पर आयात की जा सकती थीं। अब उपभोक्ता की वस्तुओं की पूर्ति देश में ही बढ़ानी है। परन्तु यदि इन्हीं उद्योगों पर अधिक विनिमय कर दिया गया तो मशीनों के निर्माण, भारी रासायनिक द्रव, इन्जीनियरिंग तथा अन्य इस प्रकार के उद्योगों पर जो कि अभी भारत में पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुये हैं, और जिनके विकास को औद्योगिक आधार प्रदान करने के लिये आवश्यकता है, व्यय करने के लिये पर्याप्त मात्रा से धन न बचेगा। इन उद्योगों के सम्बन्ध में योजना के दृष्टिकोण से कठिनाई यही है कि निकटस्थ भविष्य में ये उद्योग लोगों को इतने काम के अवसर न प्रदान कर सकेंगे जितने कि उपभोग की वस्तुओं के उत्पादन वाले उद्योगों के विकसित करने से मिलते। इसके अतिरिक्त उनका उत्पादन बाजार में बिक्री के लिये अधिक दिनों के पश्चात् आवेगा और बढ़ी हुई क्रय-शक्ति अधिक विनियोग होने के कारण बाजार में माल पहुँचने के पहिले पहुँच जायगी जिससे मुद्रास्फीति की स्थिति उत्पन्न हो जायगी।

परन्तु इन सब कठिनाइयों के होते हुये भी भारत की तृतीय योजना के अन्तर्गत भूत काल की अपेक्षा अधिक मात्रा में व्यय बड़ी मशीनों के निर्माण करने वाले कारखानों के लिये नियत करना आवश्यक होगा।

चूँकि अपने देश में साधन का अभाव है इसलिये महत्व में प्रथम वस्तु को प्रथम स्थान दिया जाना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि तृतीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये विकास से असम्बन्धित समस्त व्यय तथा तृतीय योजना के बाहर विकास सम्बन्धी व्यय को न्यूनतम स्तर पर रखना चाहिये और भारत के सरकारी व्यय में जितनी भी मितव्ययता सम्भव हो, की जानी चाहिये। इस बात पर बारम्बार योजना आयोग ने तथा सरकार ने जोर दिया है परन्तु अभी तक केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा इसे कोई प्रयोगात्मक रूप नहीं दिया गया है। प्राप्त साधनों का सर्वोत्तम प्रयोग करने के लिये भी यह आवश्यक है कि तृतीय योजना के बाहर के व्यय को न्यूनतम करने के लिये कोई प्रयोगात्मक उपाय ढूँढ़ निकाला जाय।